सम्यग्-वाक्-७

भारतीय तन्त्रशास्त्र

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द २५३९ खीस्ताब्द १९९५

SAMYAG-VĀK SERIES VII

BHĀRATĪYA TANTRAŚĀSTRA

Editors

Hindi
Vrajavallabh Dwivedi
Janardan Pandey

English
S. S. Bahulkar

RARE BUDDHIST TEXTS RESEARCH PROJECT
Central Institute of Higher Tibetan Studies
Sarnath, Varanasi

B.E. 2539 C.E. 1995

SAMYAG-VĀK SERIES VII

Chief Editor: *Prof. S. Rinpoche*

First Edition: 550 Copies, 1995

Price: Hardback: Rs. 380.00
Paperback: Rs. 220.00

Publisher:
Central Institute of Higher Tibetan Studies,
Sarnath, Varanasi-221 007

Printed at Shivam Printers, C. 27/273, Indian Press Colony, Maldahia, Varanasi.

सम्यग्-वाक्-७

भारतीय तन्त्रशास्त्र

सम्पादक

हिन्दी
व्रजवल्लभ द्विवेदी
जनार्दन पाण्डेय

अंग्रेजी
एस० एस० बहुलकर

दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

बुद्धाब्द—२५३९

खीस्ताब्द—१९९५

प्रकाशकीय

सन् १९९२ में केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) सारनाथ, वाराणसी के तत्त्वावधान में संचालित दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की तरफ से भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सप्तदिवसीय (६-१२ फरवरी) कार्यशाला का समायोजन हुआ था । इसमें प्रथम पाँच दिन क्रमशः बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त तन्त्रों पर निबन्धों का वाचन तथा उन पर विद्वानों में विचारों का आदान-प्रदान हुआ । तन्त्रशास्त्र के प्रायोगिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष का एवं उसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष का विवेचन छठे दिन पूर्वाह्ण और अपराह्ण के सत्रों में हुआ और सातवें दिन समापन सत्र समायोजित हुआ । अन्तिम दो दिनों के लिये कोई निबन्ध नहीं लिखवाया गया था । उक्त विषयों की सामूहिक समीक्षा उनका प्रधान लक्ष्य था । यहाँ ऐतिहासिक पक्ष के प्रधान वक्ता डॉ० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, दार्शनिक पक्ष के डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी और सांस्कृतिक पक्ष के डॉ० युगेश्वर थे । सूफी मत पर प्रधानतः डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय ने विशेष प्रकाश डाला ।

इस सप्तदिवसीय कार्यशाला के प्रथम पांच दिनों में कुल अठारह निबन्धों का वाचन हुआ । इनमें बौद्ध तन्त्र पर पाँच, जैन तन्त्र पर चार, शैव तन्त्र पर चार, वैष्णव तन्त्र पर तीन तथा स्मार्त तन्त्र पर दो निबन्ध प्रस्तुत किये गये । शैव-शाक्त तन्त्र की कौल और क्रम शाखा पर भी निबन्ध लिखवाने का विचार था, किन्तु वह सफल न हो सका। निबन्ध-वाचन के बाद हुए विद्वानों के विचार-विनिमय को टेप कर लिया गया था । सोलह कैसेटों में संगृहीत इस पूरी सामग्री को परिष्कृत कर निबन्धों के साथ विज्ञ पाठकों के समक्ष "भारतीय तन्त्रशास्त्र" के नाम से प्रस्तुत करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है । इस तरह का हमारा यह दूसरा प्रयास है । इसके पहले सन् १९८८ में सम्पन्न हुई सप्तदिवसीय कार्यशाला का विवरण इसी पद्धति से हम "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" शीर्षक से सन् १९९० में विज्ञ पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर चुके हैं ।

कार्यशाला की अधिकृत भाषा हिन्दी और अंग्रेजी थी । सभी निबन्ध हमें इन दो भाषाओं में ही मिले, किन्तु विचार-विनिमय के समय संस्कृत भाषा का भी विनियोग हुआ, क्योंकि इस कार्यशाला के

उद्घाटन और समापन सत्रों के अध्यक्ष प्रो0 एन0 आर0 भट्ट हिन्दी से स्वल्प परिचित थे । उनके साथ विचार–विनिमय मे प्रयुक्त संस्कृत भाषा के प्रसंगों को यहाँ हिन्दी भाषा में परिवर्तित कर दिया गया है । निबन्धों और उन पर हुए विचार–विनिमय को यहां अलग–अलग टाइपों में मुद्रित किया गया है और विभिन्न तन्त्रों का विवरण प्रस्तुत करते हुए प्रारम्भ मे निबन्धों के लेखकों, वाचकों तथा विचार–विनिमय में भाग लेने वाले विद्वानों का उल्लेख कर दिया गया है ।

कार्यशाला में समागत विद्वानों ने यह विचार व्यक्त किया था कि तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं पर अब तक कोई कार्यशाला या विद्वद्गोष्ठी नहीं हुई । किन्तु बात ऐसी नहीं है । इस युग मे तन्त्रशास्त्र के प्रतिष्ठापक पद्मविभूषण म0 म0 गोपीनाथ कविराज जी की देखरेख और प्रो0 जगन्नाथ उपाध्याय जी के संयोजकत्व में सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में एक तन्त्र सम्मेलन हुआ था और उस समय प्रो0 उपाध्याय जी के अथक प्रयास से एक प्रदर्शनी भी आयोजित हुई थी । इस कार्यशाला के अवसर पर भी इस तरह का लघुप्रयास किया गया । इसके लिये हम प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी, भिक्षु लोसंग नोर्बू शास्त्री तथा उनके सहयोगियों को धन्यवाद देना चाहते हैं । इस प्रदर्शनी में प्रो0 पी0 पी0 आपटे ने अपने मंडल सम्बन्धी चित्रों को प्रस्तुत किया । हम इनके आभारी हैं ।

समागत विद्वानों ने समापन सत्र में पूरी कार्यशाला में सम्पन्न हुए कार्यक्रमों पर सन्तोष व्यक्त किया । उन्होंने अपने कुछ बहुमूल्य सुझाव भी दिये । तदनुसार कुछ संशोधनों के साथ यह पूरी सामग्री यहां प्रस्तुत की गई है । उनकी सन्तुष्टि पर ही इस कार्य की सफलता निर्भर है । विचार–विनिमय मे भाग लेने वाले अधिकाश विद्वानों ने हमारी प्रार्थना पर अपने–अपने वक्तव्यों को सावधानी पूर्वक देखने की कृपा की है । हम उन सबके आभारी हैं । इस पूरी कार्यशाला पर एक समीक्षात्मक पर्यवेक्षण प्रस्तुत करने का हमारा विचार है । इस कार्य मे प्रो0 नथमल टाटिया जी ने सहयोग करने का हमे आश्वासन दिया है । हमें आशा है कि प्रस्तुत विवरण के प्रकाशन के बाद यह भी सम्पन्न हो सकेगा ।

कैसेटों मे टेप की गई हिन्दी की पूरी सामग्री को बहुत धैर्य के साथ लिपिबद्ध किया है, दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के विद्वान् सदस्य डॉ0 ठाकुरसेन नेगी एव श्री विजयराज वज्राचार्य ने । अंग्रेजी

सामग्री को लिपिबद्ध करने में हमें इस संस्थान के पुनरुद्धार अनुभाग के विद्वान् सदस्य श्री पेन्पा दोर्जे जी का सहयोग मिला है । अंग्रेजी भाषा के संशोधन एवं सम्पादन में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोधना के निदेशक प्रो० एस० एस० बहुलकर ने तथा उनकी अनुपस्थिति में इस संस्थान के संस्कृत विभाग के वरिष्ठ विद्वान् प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र ने तथा हिन्दी भाषा की सामग्री के सम्पादन एव संशोधन में प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, पण्डित जनार्दन पाण्डेय, डॉ० बनारसीलाल तथा श्री ठिनलेराम शाशनी ने अथक परिश्रम किया है । कार्यशाला की पूरी कार्यवाही का विवरण अंकित करने में इस संस्थान के हिन्दी विभाग के प्राध्यापक डॉ० बाबूराम त्रिपाठी, डॉ० रामजी सिंह, श्री पेमा तेन्जिन आदि को नियुक्त किया गया था । इनके प्रस्तुत किये गये विवरण के आधार पर इस पूरी सामग्री को क्रमबद्ध किया जा सका है । कम्प्यूटर के माध्यम से सुरुचिपूर्ण पद्धति से इस पूरी सामग्री को प्रस्तुत किया है श्री एम० एल० सिंह ने । इन सबके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं, इन सबको धन्यवाद देते हैं ।

निबन्ध लेखकों और विचार-विनिमय में भाग लेने वाले सभी विद्वानों का भी हम आदरपूर्वक आभार मानते हैं । ध्वनियन्त्र में दूर की आवाज के अंकित न हो पाने अथवा कैसेट के बदलते समय विद्वान् वक्ताओं के कुछ वाक्यों के छूट जाने से हम उनके प्रति क्षमा-प्रार्थी हैं । अन्त में हम दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के सभी सदस्यों को धन्यवाद देते हुए इस कथ्य को समाप्त करते हैं ।

सारनाथ
१७ दिसम्बर, १९९५

एस० रिनपोछे
निदेशक

PUBLISHER'S NOTE

In 1992, the Rare Buddhist Texts Research Project of Central Institute of Higher Tibetan Studies (Deemed University) organised a seven day (6-12 Feb.) workshop on "Bhāratīya Tantraśāstra" (Indian Tantric Treatise). The first five days included reading of the papers and discussions among the participants on Buddhist, Jain, Śaiva, Vaiṣṇava and Śākta tantras. The discussions of the Tantric texts regarding its historical, practical, social, cultural and philosophical impact were carried out in the morning and afternoon sessions of the 6th day. The closing session of the workshop was concluded on the seventh day. During the last two days no papers were invited from the participants, the main objective being to concentrate on group discussions. The principal speakers were : Prof. G. C. Pande on historical background, Dr. Kamlesh Dutta Tripathi on philosophical side and Dr. Yugeshwer on cultural impact. Dr. Nagendra Nath Upadhyaya highlighted his views particularly on the Sufi traditions.

In this seven-day workshop a total of 18 papers were presented; on the first five days there were five articles on Buddhist Tantra, four on Jain Tantra, four on Śaiva Tantra, three on Vaiṣṇava Tantra and two on Smārta Tantra. It was intended to invite papers on Kaul and Krama branches of Śaiva and Śākta Tantra also, but this could not materialise. The papers presented by various scholars and the discussions there on have been recorded. We have great pleasure in announcing that the proceedings of this workshop have been processed into 16 cassettes along with the articles under the title "Bhāratīya Tantraśāstra" (Indian Tantric Treatises) for the benefit of connoisseurs of scholarly reading.

This is our second endeavor of this kind. Prior to this, on a similar pattern, a seven day workshop was organised in 1988, the proceedings were published by the Institute in 1990 under the title "Sampādana Ke Siddhānta Aur Upādāna" for the perusal of eminent readers.

The authorised medium of languages in the workshop were Hindi and English. All the articles received were in either of the two languages, but during discussions Sanskrit was also frequently used because Prof. N.R. Bhatt who inaugurated and concluded the workshop, was not quite familiar with Hindi. His presentations during the discussions in Sanskrit have been translated into Hindi. The articles and discussions have been printed in different type settings.

In the beginning, short introductions have been given about the authors presenting their papers and the scholars who participated in the discussion on various tantric traditions.

The scholars who participated in this workshop were of the opinion that so far no such workshop or seminar was held on different branches of Tantra. But that is not so. In our time under the guidance of the Padma Vibhūṣaṇa and eminent scholar on Tantra M.M. Pandita Gopinath Kaviraja and Prof. Jagannath Upadhyay, a seminar was organised under the auspices of the Sampurnananda Sanskrit University, Varanasi. Besides, due to the untiring efforts of Pt. Jagannath Upadhyay an exhibition was also held on that occasion. During this workshop also an attempt was made on similar lines. We gratefully acknowledge the help and support received from Prof. Ram Shankar Tripathi, Ven. Losang Norbu Shastri and his colleagues for organising this exhibition. We are also indebted to Prof. P.P. Apte for presenting the maṇḍalas and other related pictures displayed in the exhibition.

All the scholars who participated in this workshop expressed their appreciation of the proceedings of the workshop in the concluding session. They also gave invaluable suggestions. Accordingly the proceedings are presented here duly revised. The success of the workshop depends on their satisfaction. Almost all the scholars who participated in the discussions were kind enough to go through the proofs of their presentations on our request. We are grateful to them all . We are hoping to bring out a critical review of this workshop. In this direction Prof. Nathmala Tatia has kindly

consented to lend his helping hand. We hope that after the publication of these proceeding we will be able to publish a critical review also.

Dr. Thakur Sain Negi and Shri Vijay Raj Vajracharya, member scholars of Rare Buddhist Texts Research Project have transcribed from tapes all the material in Hindi with utmost care. For transcribing the English section, we were assisted by Shri Penpa Dorjee of Restoration Unit. Prof. S.S. Bahulkar, Director RBTRP and during his absence Prof. K.N. Mishra, Senior Professor of Sanskrit department have kindly revised and edited the English section. The revision and Editing of the Hindi material was carried out by Prof. V.V. Dwivedi, Pt. Janardan Pandey, Dr. Banarsi Lal and Shri Thinlay Ram Shashni with great care and thoroughness. Dr. Babu Ram Tripathi, lecturer in Hindi Department, Dr. Ramji Singh, Sri Pema Tenzin and others were deputed for recording the proceedings of the workshop and accordingly on the basis of their report a systematic sequence of the proceedings could be worked out. Shri M.L. Singh has computerised all the material of the proceedings in a very presentable form. We acknowledge their services and thank them.

We also acknowledge our profound regards for the scholar participants who presented the articles and those who participated in the group discussions. We regret our inability for not being able to record some of the proceedings either due to the speakers being too far away from the microphones or in the process of changing the cassettes. Lastly, I conclude by thanking all the members of Rare Buddhist Texts Research Project.

Sarnath
17th December, 1995

S. Rinpoche
Director

विषय-सूची

•

उद्घाटन सत्र

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, वाराणसी के तत्त्वावधान में संचालित दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना की तरफ से सप्तदिवसीय (६ फरवरी से १२ फरवरी, सन् १९९२) कार्यशाला आयोजित की गई थी । ६ फरवरी को प्रातः १० बजे अतिश सभागार मे सिद्धान्त शैवागम के विश्वप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० एन० आर० भट्ट की अध्यक्षता में उद्घाटन सत्र प्रारंभ हुआ । मंगलाचरण और माल्यार्पण के बाद समागत विद्वानों का स्वागत करते हुए इस संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) के निदेशक प्रो० एस० रिनपोछे ने भारतीय तन्त्र-परम्परा के भोट देश मे प्रवेश का इतिहास प्रस्तुत करते हुए बताया कि भोट देश के परम्परागत विद्यार्थी तन्त्रविद्या को किस दृष्टि से देखते है ? किस दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं ? या किस दृष्टि से उसका अनुशीलन करते हैं ? तन्त्रविद्या साधनाप्रधान शास्त्र है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि हमें साधना की गहराई और इस विषय के वैचारिक अध्ययन—इन दोनों की सीमाए स्पष्ट रूप से निर्धारित कर लेनी चाहिये । कार्यशाला के संयोजक प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने सप्तदिवसीय कार्यशाला के लिये निर्धारित विषय भारतीय तन्त्रशास्त्र की विविध शाखाओं का परिचय देते हुए इनके प्रायोगिक और दार्शनिक पक्ष पर भी प्रकाश डाला । कार्यशाला का उद्घाटन भारतीय दर्शन और जैन विद्या के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० नथमल टाटिया जी ने किया । आपने बताया कि तन्त्रविद्या का क्षेत्र भारतवर्ष तक ही सीमित नही है । इसका सभी देशो मे प्रचार है । ऐसा कोई देश नही है, जहा तन्त्र न हो । प्रो० एस० रिनपोछे के विचारो का समर्थन करते हुए आपने कहा कि यह खाली वैचारिक फसल न हो जाय । इसकी प्रेरणा हमारी जीवनप्रणाली को मिले यह आवश्यक है । अपने अध्यक्षीय भाषण मे विद्वान् वक्ता ने भारतीय तन्त्रशास्त्र की परिधि और स्वरूप को स्पष्ट करते हुए बताया कि पूरे भारत वर्ष के सन्तो पर इसकी गहरी छाप पड़ी है और आज भी आध्यात्मिक, दार्शनिक और सामाजिक समस्याओं के समाधान मे इसका महनीय योगदान हो सकता है । इस उद्घाटन सत्र का संचालन प्रो० रामशंकर त्रिपाठी ने किया ।

उद्घाटन सत्र के इस संक्षिप्त विवरण के साथ यहां क्रमशः स्वागत भाषण, विषय-उपस्थापन और उद्घाटन भाषण दिये जा रहे है ।

स्वागत भाषण

–प्रो० एस० रिनपोछे–

परमादरणीय अध्यक्ष जी, श्रद्धेय टाटिया जी, दिव्यवज्र वज्राचार्य जी, पण्डित व्रजवल्लभ द्विवेदी जी, उपनिदेशक, दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना, योजना परामर्शक पण्डित जनार्दन पाण्डेय जी, विद्वद्वृन्द, भिक्षुसघ एव विद्यार्थी वृन्द ! अतिथियों का स्वागत करने का पवित्र

कर्तव्य सम्पन्न करने का दायित्व मुझे सौंपा गया है । आज मै स्वय अपने को अतिथि जैसा अनुभव कर रहा हूँ, क्योंकि अतिथि लोग मुझसे पहले यहाँ आ चुके थे और मै अभी अभी चला आ रहा हूँ । संस्था की ओर से, अध्यापक सहयोगियो की ओर से और समस्त छात्रों की ओर से मै इस कार्यशाला मे सम्मिलित होने के लिये सुदूर प्रदेशों से आये सभी आयुवृद्ध, विद्यावृद्ध विद्वानों का विनम्रतापूर्वक हार्दिक स्वागत करता हूँ । आप लोग हमारी शोधयोजना की ओर से निमन्त्रण को स्वीकार कर अनेक असुविधाओं की परवाह किये बिना इस कार्यशाला को सफल बनाने हेतु यहाँ पधारे हैं । इसलिये हम आप सब लोगो के आभारी है । मै पुनः पुनः आप लोगों का स्वागत करता हूँ ।

भारतीय तन्त्र-परम्परा पर कार्यशाला का आयोजन करना हम लोगो के लिये एक हर्ष का विषय तो है ही, उसके साथ-साथ आश्चर्य का विषय भी रहा है । परम्परागत विद्यार्थी के लिये यह स्वीकार करना बहुत सरल नही प्रतीत होता कि तन्त्र के विषयो की एक सार्वजनिक विद्वानों की सभा मे चर्चा की जा सकती है या विचार-विमर्श किया जा सकता है । यह एक प्रकार का नया परिवर्तन है । सम्भवतः इस परिवर्तन को आधुनिक शब्दो मे प्रगति कहना सामयिक होगा । आजकल विद्याध्ययन और विद्याभ्यास की प्रणाली प्राचीन भारतीय पद्धति से सर्वथा भिन्न हो गई है और उस पद्धति के अन्तर्गत हम लोग इस प्रकार की कार्यशाला अथवा परिसंवाद गोष्ठी आदि किया करते है, जिसके प्रयोजन निःसन्देह महान् और प्रासगिक होगे । इसमे कोई प्रश्न चिह्न लगाने का मेरा आशय नही है । बौद्ध धर्म के साथ-साथ तिब्बत में, भोट देश मे सातवीं शताब्दी मे जब बौद्ध विनय की स्थापना हुई, उसके साथ-साथ भारतीय तन्त्र-परम्परा की भी स्थापना हुई और तब से आज तक वह परम्परा अक्षुण्ण रूप से निर्विवाद रूप से वहाँ चल रही है । आज भी उसकी जो सन्तति है, भारत आदि स्वतन्त्र देशो मे अल्प सख्या मे रहने वाले तिब्बती शरणार्थी उस परम्परा को निभा रहे है और उसके सरक्षण के लिये कार्य कर रहे हैं ।

आचार्यपाद शान्तरक्षित ने बौद्ध विनय की और बौद्ध सघ की स्थापना तिब्बत में करनी चाही, तो उस समय अनेक प्रकार के विरोध और बाधाएँ थी, जिनको शान्त करने के लिये तन्त्र का अध्ययन और तन्त्र की साधना का अभ्यास उपयोगी समझा गया । जिसके कारण

सिद्धगुरु आचार्य पद्मसम्भव को तिब्बत में आमन्त्रित करने का परामर्श सम्राट् को दिया गया । तदनुसार पद्मसम्भव का आगमन तिब्बत में हुआ । इन्होंने 25 विशेष भद्र शिष्यों को अभिषिक्त कर के महागुह्य वज्रयान की स्थापना तिब्बत भूमि में की और इस तरह से तन्त्रविद्या के अध्ययन–अध्यापन की परम्परा, साधना और अभ्यास सम्यक् रूप से वहाँ पर विकसित हुए । इस पवित्र परम्परा को सम्पूर्ण अवयवों सहित जीवित रखने में और संरक्षित रखने में आधुनिक शिक्षा और आर्थिक दृष्टि से नितान्त अविकसित यह लघु प्रदेश तिब्बत समर्थ हो सका । स्वयं कभी–कभी मुझे ऐसा लगता है कि इस तन्त्रविद्या के चमत्कार से यह संभव रहा होगा । परन्तु हम इस विद्या का मात्र बुद्धत्व प्राप्त करने के साधन के रूप में अध्ययन करते हैं, साधना करते हैं । एक विशुद्ध शास्त्रीय अध्ययन के विषय के रूप में इसे तिब्बत में किसी ने ग्रहण नहीं किया । जिसको साधना नहीं करना है, वे इस विद्या को नहीं सीखते । इस विद्या को ग्रहण करने के लिये, हृदयंगम करने के लिये और इसकी भावना करने के लिये अनेक पूर्वगामी शर्तों को पूरा करना पड़ता है और पूर्वगामी अभ्यासों को एवं साधनाओं को सम्पन्न करना पड़ता है । तत्पश्चात् अभिषेक और अभिषेक के उपरान्त इस विद्या के श्रवण और चिन्तन करने का अधिकार प्राप्त होता है । मात्र तन्त्रविद्या का ही नहीं, अपितु समस्त विद्याओं का वे इस दृष्टि से अध्ययन करते हैं कि उसमें जीना है, उससे जीवन को सार्थक बनाना है और जीवन में वह प्रासंगिक है ।

ऐसी विद्या को मात्र चर्चा का विषय बना कर, या लेखन का विषय बना कर, या उसको जीविका का साधन बना कर सीखने की परम्परा मेरी दृष्टि से नितान्त पश्चात् प्रदत्त प्रभाव है । वस्तुनिष्ठ शोध के नाम पर स्वयं को विद्या से दूर रख कर या उसका अपने जीवन पर प्रभाव न पड़े, ऐसी चेष्टा करके देखने की पद्धति भारतीय तन्त्र–परम्परा में कभी नहीं रही । तन्त्र ही क्यों, किसी भी विद्या की परम्परा में यह पद्धति यहाँ कभी नहीं रही । आज सम्पूर्ण भारतवर्ष में, चाहे वह आध्यात्मिक क्षेत्र में हो, चाहे सामान्य विद्या के क्षेत्र में हो, अध्ययन के विषय को जीवन से भिन्न रखने की एक दृष्टि व्याप्त हो चुकी है, विशेष रूप से विद्या–संस्थानों में । चाहे विश्वविद्यालय हों, चाहे शोधसंस्थान हों, वहाँ पर अनेक विद्याओं पर शोध होता है, उनका अध्ययन होता है और प्रबन्ध और निबन्ध लिखे जाते हैं । इन शैक्षणिक गतिविधियों का मानव जीवन से साक्षात् रूप

से अथवा परोक्ष रूप से कोई सम्बन्ध नही रहता । यदि कोई सम्बन्ध रहता है, तो मात्र इतना रहता है कि यह अमुक विषय के विशेषज्ञ है, इन्होंने अमुक विषय पर इतने ग्रन्थ लिखे है, जिससे इनको इतनी रायल्टी मिलती है या इनको ये ये पद प्राप्त हुए है ।

आज के विद्याजिज्ञासु लोगो मे एक विषय को जानने की और उसको वैज्ञानिक पद्धति से समझने की बहुत प्रबल मनोकामना रहती है । उस पर वे शोध भी करते हैं, परन्तु अपने जीवन को, अपने दृष्टिकोण को, अपनी दैनिक चर्या को, अपने कायिक, वाचिक या मानसिक कार्यो को उस विद्या के अनुकूल ढालने की चेष्टा नही करते । वे मात्र उस विद्या को जानने की और जानने के बाद उसको बताने की चिन्ता मे संलग्न रहते है । इस पद्धति से कम से कम तन्त्रविद्या को नहीं जाना जा सकता, ऐसा विश्वास परम्परागत विद्यार्थियो में बराबर रहा है और वह आज भी है । हो सकता है इसे दकियानूसी और अविकसित विचारधारा समझा जाय, हो सकता है यही विचार सही हो । चाहे जो भी हो, ये दो प्रकार के दृष्टिकोण आज हम लोगो के सामने हैं । एक संस्था स्थापित हो जाती है, जिसमे विद्या के अध्ययन व अध्यापन का कार्य प्रमुख रूप से चलता है और उसमे यह उद्देश्य बताया जाता है कि इस संस्था के कर्तव्यो की सूची मे अमुक–अमुक विद्याओ का अध्ययन–अध्यापन, शोध–प्रकाशन प्रमुख विषय रहेगा । इससे इन विद्याओ की सुरक्षा, संवर्धन और प्रसार का कार्य सम्पन्न होता है । इन सामान्य उद्देश्यो के अन्तर्गत इस संस्थान मे भी तन्त्र के विषय पर दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के अन्तर्गत हम लोग कुछ शोध, कुछ प्रकाशन, कुछ सम्पादन यह सब कार्य करते है । आज हम बैठ कर एक कार्यशाला का भी आयोजन कर रहे हैं ।

इस सम्बन्ध में मै यह निवेदन करना चाहता हूँ कि भोट देश के परम्परागत विद्यार्थी तन्त्र को किस दृष्टि से देखते हैं, किस दृष्टि से उसका अध्ययन करते है या किस दृष्टि से उसका अनुशीलन करते हैं ? मानव जीवन दुर्लभ माना जाता है और मानव जीवन से अधिक दुर्लभ ऐसा शासन है, जिस शासन के द्वारा व्यक्ति दुःख–सागर से तर सके । समस्त प्राणी दुःखी है, वे दुःखसत्य मे जीते हैं, क्योकि उन्होने दुःखसमुदय का प्रहाण नही किया है, त्याग नही किया है । दुःख–समुदय से निरन्तर घिरे होने के कारण वे पुनः पुनः बराबर जीवन और मृत्यु के चक्कर मे फसे रहते है । उससे मुक्त होना

सर्वोपरि पुरुषार्थ है, सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ है, जिसको मात्र मानव जीवन मे ही प्राप्त किया जा सकता है । अर्थ और काम को साधने के लिये मानव जीवन की आवश्यकता नही होती, पशुयोनि मे भी इन दोनो को प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के लिये मानव-जीवन की आवश्यकता है ।

मानव-जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना सर्वमान्य है और वह मोक्ष भी विभिन्न प्रकार की श्रेणियो मे विभक्त है । मात्र क्लेशावरण से मुक्त होकर कर्म और क्लेश की पराधीनता से मुक्त होना, यह बौद्ध परिभाषा मे अर्हन्त और प्रत्येकबुद्ध के पद को प्राप्त करना है । यह भी एक प्रकार का मोक्ष है । यह निरोध, यह मोक्ष किस लिये प्राप्त किया जाता है ? यह स्वय को दुःख से मुक्त करने के उद्देश्य से प्राप्त किया जाता है और इस लक्ष्य के प्राप्त होने पर हम अपने लक्ष्य को सम्पन्न मान लेते हैं । बोधिसत्त्व मात्र क्लेशावरण से मुक्त होकर अपने कर्तव्य की इतिश्री नही मानता । प्राणी मात्र का हित-सम्पादन करने के लिये और उनको दुःखसागर से पार करने के लिये करुणा और उपाय, प्रज्ञा और उपाय दोनों की प्रारम्भिक शक्ति चाहिये और समस्त विषयों का ज्ञान (सर्वज्ञता) चाहिये, जिसके बिना सम्पूर्ण सत्त्वो का हितकार्य नही किया जा सकता । आर्य अर्हन्त भी ज्ञेयावरण से मुक्त न होने के कारण अनेक विषयो को नहीं जानते, सुदूर देश की वस्तुओ को नही जनते, दीर्घकालीन बीते हुए विषयों को नही जानते, अतिसूक्ष्म तत्त्वों को नही जानते और विभिन्न प्रकार के सत्त्वो के कुशलमूल को नही जानते । इन सब चीजों की जानकारी के बिना वे सत्त्वों का हित सम्पादन नही कर सकते ।

यह सारी जानकारी तभी प्राप्त हो सकती है, जब बुद्धत्व प्राप्त हो । यहाँ बुद्धत्व की प्राप्ति लक्ष्य कभी नही रहता, वह साधन रहता है । बोधिसत्त्व यदि लक्ष्य के रूप मे बुद्धत्व प्राप्त करना चाहे, तो वह बोधिचित्त को प्राप्त नही कर सकेगा । स्वार्थसिद्धि के लिये बुद्धत्व प्राप्त करने की कामना रखना बोधिचित्त नही है । समस्त सत्त्वों के हित के लिये बुद्धत्व एक साधन है और इस साधन को सम्पन्न करने की कामना का जो उत्पाद होता है, उसको बोधिचित्त-उत्पाद कहते है । इसके बाद वह एकदम करुणा से आन्दोलित रहता है । वह शीघ्र-अतिशीघ्र बुद्धत्व को प्राप्त करना चाहता है, परन्तु उसकी करुणा इतने दीर्घ समय तक साधनारत रहने की अनुमति नही देती । उतने दीर्घ समय तक साधनारत रहेंगे, तो

सत्त्वों का हित-कार्य कैसे सम्पन्न होगा ? वे दुःखी हैं, त्रस्त हैं, शीघ्रातिशीघ्र बुद्धत्व प्राप्त करने के मार्ग को ढूँढ़ना चाहते हैं । इनके लिये वज्रयान की आवश्यकता प्रतीत होती है । पारमितायान की साधना के अनुसार तो तीन असंख्य कल्प तक बोधिसत्त्व को पारमिताओं की साधना में लगे रहना पड़ेगा ।

जिसने बोधिचित्त का उत्पाद कर लिया है और साधारण बोधिचित्त नहीं, तीक्ष्ण बुद्धि वाले बोधिसत्त्वों की महाकरुणा के साथ, प्रबल महाकरुणा के साथ, अतिप्रबल महाकरुणा के साथ जिसने बोधिचित्त का उत्पाद किया है और वह शीघ्र, अतिशीघ्र बुद्धत्व प्राप्त करने का आकांक्षी है, ऐसे पात्र के लिये वज्रयान की देशना हुई है । उस वज्रयान की साधना में नितान्त अल्प समय में बुद्धत्व प्राप्त करने का जो मार्ग दिखाया गया है, वह तन्त्रयान है, अर्थात् जो बोधिचित्त से सम्पन्न है और जिसने शून्यता के तत्त्व का साक्षात्कार करके सम्यक् दृष्टि प्राप्त की है, ऐसे साधकों के लिये तन्त्र मार्ग में प्रवेश कर अध्ययन करना और अध्ययन के साथ साधना के माध्यम से तत्त्व का साक्षात्कार करना अपेक्षित रहता है । ऐसी गुह्य विद्याओं को वैचारिक दृष्टि से देखने की अपनी कुछ सीमाएं हैं । जब तक एक विशेष भूमि के स्तर तक साधक नहीं पहुँचता, उसके आगे आने वाली स्थितिं को अनुमान के आधार पर अभिव्यक्ति देना एक प्रकार से अर्थहीन होता है । मन्त्रों के उच्चारण के विषय में, उनके आश्रय की शुद्धता के विषय में अनेक प्रकार की शंकाएं उठ सकती हैं, उनके समाधान का हम प्रयत्न कर सकते हैं । तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाएं-प्रशाखाएं हैं । इन सबमें हम प्रवेश कर सकते हैं और करना भी चाहिये । यह सब हम लोग कर रहे हैं और इन विषयों को लेकर हम आज इस कार्यशाला का आयोजन भी कर रहे हैं ।

सभी परम्परागत विद्वानों को, जो बिहारों में रहते हैं, हम लोगों ने आमन्त्रित किया था । अनेक लोगों ने निषेध कर दिया और कुछ लोगों ने उत्तर ही नहीं दिया और आज मैं देख रहा हूँ कि उनमें से कोई भी उपस्थित नहीं हैं । उसका कारण मैं जान सकता हूँ कि वे क्यों उपस्थित नहीं है ? उनको ये सब आशंकाएं हैं कि वहाँ जाकर हम क्या बोलेंगे, क्या नहीं बोलेंगे ? कितना हम बोल सकते हैं, कितना नहीं बोल सकते ? कौन किसका पात्र होगा, किसका पात्र नहीं होगा ? आदि आदि । इस तरह की अनेक आशंकाओं के कारण वे इस प्रकार की कार्यशालाओं में या सम्मेलनों

में सम्मिलित होने में संकोच का अनुभव करते हैं । मैं बहुत स्पष्ट रूप से अपने सहयोगियों से यह कह सकता हूँ कि साधना की गहराई और अपने विषय का वैचारिक अध्ययन—इन दोनों की सीमाएं हम लोगों को साफ रूप से देखनी चाहिये, जान लेनी चाहिये और जो विषय विद्या के क्षेत्र में आते हैं, जिन पर हम वाद-विवाद और परिसंवाद कर सकते हैं, उसे खुलकर करना चाहिये, उसमें संकोच नहीं करना चाहिये । उसके साथ-साथ हमारे अनेक सहयोगी ऐसे हैं, जो अभिषेक विधि से अपने को गुजार चुके हैं, वे साधक हैं । उनके साथ अनेक गहराइयों पर भी जा कर हम परिचर्चा कर सकते हैं ।

ये कुछ बाते हैं, जिनको कहने के लिये मैं यहाँ आपके सामने उपस्थित हुआ हूँ । अगर इसमें कोई त्रुटि हुई हो, तो मैं क्षमाप्रार्थी हूँ । यह यहाँ कहने का विषय नहीं था, मुझे तो मात्र स्वागत करना था । लेकिन स्वागत के साथ-साथ यह बात मेरे मन में आई, तो मैं समझता हूँ कि यह कहना कोई अस्वागत तो नहीं होगा । इसलिये मैंने यह कहने की धृष्टता की है । इसके लिये मुझे क्षमा करेंगे ।

मैं आशा करता हूँ कि यह सप्तदिवसीय कार्यशाला कुशलता से सम्पन्न होगी । इसके साथ-साथ दुर्लभ ग्रन्थ शोध योजना अनुभाग के उपनिदेशक को और उस योजना के विद्वान् कार्यकर्ताओं को साधुवाद देता हूँ कि पूरे परिश्रम के साथ उन्होंने बहुत सुन्दर ढंग से इस कार्यशाला का आयोजन किया है । मुझे खेद है कि मैं सातों दिन अपने को उपस्थित नहीं रख पाऊँगा । फिर भी इस कार्यशाला के जो भी निष्कर्ष हों, उससे मुझे नितान्त लाभ होगा, ऐसा मैं विश्वास करता हूँ । इस विश्वास के साथ पुनः दूर-दूर से आये हुए विद्वान् लोगों का मैं स्वागत करता हूँ और यहाँ पर आप लोगों को जो असुविधाएं होंगी, उनके लिये क्षमा भी मांगता हूँ । इन शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ । धन्यवाद ॥

•

विषय-उपस्थापन

-प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी-

अध्यक्ष महोदय, समादरणीय टाटिया जी, श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य जी, निदेशक महोदय, अन्य समागत विद्वान् और भिक्षुगण एव छात्र-बन्धुओं ! मैं विषयोपस्थापन करने से पहले कल्याणमित्र प्रो0 जगन्नाथ उपाध्याय जी को याद करना चाहता हूँ । उनकी और निदेशक महोदय जी की कल्पना से इस विभाग का सृजन हुआ था और यह इस विभाग का दुर्भाग्य रहा कि श्री उपाध्याय जी बहुत कम समय तक ही इसका सचालन कर सके । उन्होने एक रूपरेखा तैयार की थी । उसमें कार्यशाला के आयोजन की भी व्यवस्था थी । तदनुसार यह दूसरी कार्यशाला आयोजित है । पहली कार्यशाला में सम्पादन के सिद्धान्तो का निर्धारण किया गया था और उसमें विद्वानो के जो निबन्ध आये थे, विद्वानो ने जो अपने विचार प्रकट किये थे, उन सबका "सम्पादन के सिद्धान्त और उपादान" ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन हो चुका है ।

भारतीय तन्त्रशास्त्र के विषय मे मै दो शब्द कहना चाहता हूँ । अभी निदेशक महोदय ने इसके साधना पक्ष को रखा है । किन्तु मै समझता हूँ कि तन्त्रशास्त्र ने भारतीय धर्मो मे एक सामजस्य स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया था । वह प्रयास अभी भी तन्त्रशास्त्र के माध्यम से ही आगे बढ़ाया जा सकता है कि सारे विश्व के धर्मो को एक सामंजस्य दृष्टि दी जाय । इसी अभिप्राय से इस कार्यशाला का आयोजन किया गया है और मैं इसी पृष्ठभूमि मे अब इस कार्यशाला के विषय की उपस्थापना कर रहा हूँ ।

पूरे भारतीय वाङ्मय को हम आगम और निगम विभाग मे इस आधार पर बाँट सकते है कि आगमशास्त्र के अनुसार समस्त प्राणी मोक्ष के अधिकारी है, जब कि निगमधारा मे केवल त्रैवर्णिक ही इसके अधिकारी माने गये हैं । इस परिभाषा के अनुसार हम वैदिक और स्मार्त वाङ्मय का निगम विभाग में और इससे भिन्न पूरे भारतीय वाङ्मय का, बौद्ध और जैन वाङ्मय के साथ समस्त आगमिक, तान्त्रिक और पौराणिक वाङ्मय का भी आगम विभाग मे समावेश कर सकते है । इस परिभाषा की पृष्ठभूमि मे हम आगमशास्त्र की इन सभी शाखाओ के सिद्धान्तो और विधि-विधानो पर एक विहगम दृष्टि डालना चाहते है ।

ईसा पूर्व पाँचवी-छठी शताब्दी में भगवान् बुद्ध और महावीर के प्रादुर्भाव से पूर्व के साहित्य में पांचरात्रों, पाशुपतों और आजीवकों आदि के मतवादों के साथ सांख्य और योग का भी उल्लेख मिलता है । वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों और प्राचीन उपनिषदों में पांचरात्र और पाशुपत मत के साथ सांख्य और योग का और बौद्ध एव जैन वाङ्मय में इनके साथ आजीवकों का भी स्पष्ट उल्लेख देखा जा सकता है । डॉ० आर० जी० भाण्डारकर के ग्रन्थ "वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड अदर माइनर रिलीजियस सिस्टम्स" में, डॉ० हेमचन्द्र रायचौधरी के ग्रन्थ "अर्ली हिस्ट्री आफ द वैष्णव सेक्ट" में और डॉ० ए० एल० वाशम के ग्रन्थ "हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ द आजीवकाज्" में इस विषय को विस्तार से देखा जा सकता है ।

महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीयोपाख्यान (३४९.६४) में वेद के साथ सांख्य, योग, पांचरात्र और पाशुपत मत का समावेश कर कृतान्तपंचक की परिकल्पना देखने को मिलती है, जब कि हम श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी की दृष्टि के अनुसार महाभारत मे बौद्ध दृष्टि के अलावा जैन दृष्टिकोण की भी खोज कर सकते है । महाभारत ही नहीं, पुराणों की भी यही स्थिति है और इसकी स्पष्ट उद्घोषणा वायुपुराण (१०४.१६,८२) में जाकर हुई है, जहाँ कि बौद्ध और जैन दर्शन का भी छः दर्शनों में समावेश किया गया है ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य और तत्कालीन शिलालेखों में पांचरात्र और पाशुपत सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है । भगवद्गीता को तो पांचरात्रों का ही ग्रन्थ माना जाता है । यों छान्दोग्य उपनिषत् (३.१७) में भी देवकीपुत्र कृष्ण को घोर आंगिरस के द्वारा दिये गये उपदेश में इनका अतिसंक्षिप्त उल्लेख मिलता है । भगवान् बुद्ध और महावीर पर सांख्य और योग की दृष्टि का कितना प्रभाव था और योगसूत्र तथा सांख्यकारिका की रचना के समय तक इन पर बुद्ध और महावीर के सिद्धान्तों की कितनी छाया पड़ी, इसको हमें देखना है । अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि पांच सार्वभौम महाव्रतों की इदम्प्रथमतया प्रतिष्ठा भगवान् महावीर ने की या इनसे भी पहले इनका यह स्वरूप निश्चित हो गया था, यह भी एक परीक्षा का विषय है । यों छान्दोग्य उपनिषत् (३.१७.४) के उक्त प्रकरण में अहिंसा का उल्लेख मिलता है और नारायणभक्त वसु उपरिचर के महाभारत (शान्ति. ३३५-३३६ अ.) निर्दिष्ट आख्यान में भी अहिंसा की महिमा गाई गई है ।

मैत्रायणी संहिता (२.९.१, १0) में पशुपति के उन पाँच मन्त्रों का वही स्वरूप मिलता है, जिनकी व्याख्या आगे चल कर लकुलीश द्वारा अपने पाशुपतसूत्र के पाँच अध्यायों में की गई है । ये पाँच मन्त्र बाद के आगम-तन्त्र साहित्य में पंचब्रह्म के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं । कालचक्र नामक बौद्ध तन्त्र के टीकाकार पुण्डरीक ने भी अपनी विमलप्रभा टीका (४.६९) में इनका उल्लेख किया है और कहा है कि ईश्वर के पंचब्रह्मलक्षण पाँच वक्त्र सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान क्रमशः वैरोचन, अमिताभ, रत्नसंभव, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य हैं । अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३७.१४-१५) में पाशुपत मत की दो धाराओं का उल्लेख किया है । उनमें से एक श्रीकण्ठ द्वारा और दूसरी लकुलीश द्वारा प्रवर्तित हुई थी । महाभारत (३४९.६५-६८) के उक्त नारायणीय प्रकरण में श्रीकण्ठ को ही पाशुपत मत का प्रवर्तक माना गया है । श्रीकण्ठ ऐतिहासिक पुरुष थे, इस पर विद्वानों में परस्पर विवाद है, किन्तु लकुलीश की ऐतिहासिकता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाया जा सकता, हाँ, इनको दो-चार शताब्दी इधर-उधर अवश्य ढकेला गया है ।

श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्तित पाशुपत मत का स्वरूप क्या था ? इसको खोज निकालना एक दुरूह कार्य है । श्वेत से लकुलीश पर्यन्त २८ शैव योगाचार्यो और उनमें से प्रत्येक के चार-चार शिष्यों की नामावली अनेक पुराणों मे मिलती है । इस नामावली में न्याय और वैशेषिक दर्शन के प्रवर्तक आचार्य गौतम और कणाद मुनि के भी नाम है । इस नामावली को हम कोरी पौराणिक कल्पना मान कर छोड़ भी सकते हैं और श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत की तह तक पहुँचने के लिये इसकी परीक्षा भी कर सकते हैं । शैव विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य श्रीकण्ठ अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य के मंगलाचरण (श्लोक ४) में इस नामावली के प्रथम शैवाचार्य, अनेक आगमों के रचयिता श्वेत के प्रति अपनी प्रणति समर्पित करते हैं ।

इस प्रसंग में हम पूरे पौराणिक साहित्य के साथ बौद्ध और जैन वाङ्मय का भी परिशीलन कर सकते हैं। कुछ परवर्ती जैन आचार्यो ने पाशुपत और शैव मत के साथ न्याय और वैशेषिक दर्शन को जोड़ा भी है । न्यायवार्त्तिककार उद्योतकर और भूषणकार भासर्वज्ञ स्वयं अपने को पाशुपत मत का अनुयायी मानते हैं और हम जानते हैं कि प्रशस्तपादभाष्य की व्योमवती टीका के रचयिता व्योमशिवाचार्य शैवाचार्यो की परम्परा के एक उज्ज्वल रत्न थे ।

लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपत आचार्यों की नामावली जैनाचार्य गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका और राजशेखर सूरिकृत षड्दर्शनसमुच्चय में मिलती है । इनमें प्रथम आचार्य लकुलीश पंचाध्यायी पाशुपतसूत्रों के तथा १७वें आचार्य राशीकर (कौण्डिन्य) पंचाध्यायीभाष्य के रचयिता हैं । सौभाग्य से पाशुपत मत के अन्य ग्रन्थ भी हमें उपलब्ध होते हैं । इनसे प्रतीत होता है कि कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त नामक पांच पदार्थों का यहाँ निरूपण हुआ है । रामानुजाचार्य के परमगुरु यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य में इनका स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार बताया गया है—

उपादानं निमित्तं च व्याख्यातं कारणं द्विधा ।
निमित्तकारणं रुद्रस्तत्कला कारणान्तरम् ॥

महान्तं महदादि कार्यमुदितं तद्वद् विधिर्गीयते
गूढाचारमुखश्मशानभसितस्नानावसानः परः ।
योगो धारणमुच्यते हृदि धियामोङ्कारपूर्वं तथा
दुःखान्तो हि मतोऽपवर्ग इति ते पञ्चापि संकेतिताः ॥

पंचब्रह्म मन्त्रों की पहले चर्चा आ चुकी है । पाशुपतसूत्र के पाँच अध्यायों में इन पाँच मन्त्रों के साथ इन पाँच पदार्थों की भी व्याख्या की गई है और कौण्डिन्य के पंचाध्यायीभाष्य में इनका विशद विवेचन मिलता है । यहाँ प्रत्येक अध्याय में क्रमशः एक-एक विषय का निरूपण किया गया है । हमारे लिये अवधेय विषय यह भी है कि न्यायवैशेषिक दर्शन के समान यहाँ भी दुःखान्त को ही मोक्ष माना गया है और भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट चार आर्यसत्य भी हमें इसी तथ्य की ओर ले जाते हैं ।

सर्वदर्शनसंग्रह स्थित लकुलीश पाशुपत दर्शन में गणकारिका को उद्धृत करते हुए नौ गणों का उल्लेख किया गया है । इनमें से प्रथम आठ गणों में से प्रत्येक के पाँच-पाँच और नवम गण के तीन भेद किये गये हैं । जैसे कि—

पञ्चकास्त्वष्ट विज्ञेया गणश्चैकस्त्रिकात्मकः ।......
लाभा मला उपायाश्च देशावस्थाविशुद्धयः ।
दीक्षाकारि बलान्यष्टौ पञ्चकास्त्रीणि वृत्तयः ॥

इन सब विषयों की विशद विवेचना हम भासर्वज्ञ की 'गणकारिकाव्याख्या' और डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के ग्रन्थ 'शैवदर्शनबिन्दु'

में देख सकते हैं । अपनी कृति 'आगममीमांसा' में हमने भी इस सम्बन्ध में कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं ।

शैव (सिद्धान्त), पाशुपत, कालामुख और कापालिक नामक चार शैव सम्प्रदायों का निरूपण अनेक ग्रन्थों में हुआ है । इनमें से सिद्धान्त शैवमत आजकल दक्षिण भारत के साथ जुड़ा हुआ है । कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय पर डॉ० डेविड एन० लोरेंजन की पुस्तक 'दि कापालिक्स एण्ड कालामुख्स' अच्छा प्रकाश डालती है । इस ग्रन्थ के प्रारंभ में उक्त चार शैव सम्प्रदायों और उनके विविध नामों पर विशद विचार प्रस्तुत किया गया है । इतना सब होते हुए भी पूरी प्रामाणिकता के साथ लकुलीश पाशुपतमत और सिद्धान्त शैवमत के समान शेष दोनों मतों का इतिहास प्रस्तुत कर पाना साहित्य की उपलब्धि के अभाव में अतिदुष्कर है ।

स्वच्छन्दतन्त्र (११.७१-७२) में लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चतुर्विध पाशुपतों का उल्लेख मिलता है । स्वच्छन्दोद्योतकार क्षेमराज (११.७१) के अनुसार मुसुलेन्द्र लकुलीश के शिष्य माने गये हैं और इनका जन्म भी लकुलीश की जन्मस्थली कायावरोहण में ही हुआ है । अभिनवगुप्त के अनुसार "सर्वदेवमयः कायः" (तन्त्रा. १५.६०४) इस सिद्धान्त का उद्घोष करने वाले आचार्य लकुलीश ही थे । इन शैव योगाचार्यों पर अपने पूर्ववर्ती आजीवक, बौद्ध, जैन आदि योगाचार्यों के प्रभाव की तथा अन्य तीन शैव मतों के विकास में लकुलीश के मौसुल आदि शिष्यों की कितनी छाया पड़ी, इसकी हमें समीक्षा करनी होगी ।

कापालिकों का उल्लेख मैत्र्युपनिषत्, याज्ञवल्क्यस्मृति, ललितविस्तर और गाथासप्तशती जैसे प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य में कापालिक मत का निरूपण इस प्रकार हुआ है—

मुद्रिकाषट्कविज्ञानात् पुनस्तस्यैव धारणात् ।
अपवर्गफलप्राप्तिर्न ब्रह्मावगमादिति ॥
कर्णिका रुचकं चैव कुण्डलं च शिखामणिम् ।
भस्म यज्ञोपवीतं च मुद्राषट्कं प्रचक्षते ॥
कपालमथ खट्वाङ्गमुपमुद्रे प्रकीर्तिते ।
आभिर्मुद्रितदेहस्तु न भूय इह जायते ॥

आगमप्रामाण्य में कापालिकों के साथ जुड़ी हुई छः मुद्राएं इसी रूप में बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध हैं । पंचमुद्रा पक्ष में यज्ञोपवीत

को हटा दिया गया है । कौल तन्त्रों में वर्णित पंचरत्न और द्वादश द्रव्यों के ही समान बौद्ध तन्त्रों में भी पंचप्रदीप और पंचामृत जैसे पूजोपकरण वर्णित हैं । यह सारी प्रक्रिया कापालिकों में भी पाई जाती है । इसके आधार पर हम कह सकते हैं कि तन्त्रशास्त्र में त्रिविध पूजा वर्णित है—१. बाह्य द्रव्यों से सम्पन्न होने वाली, २. आन्तर द्रव्यों से सम्पन्न होने वाली तथा ३. भावनात्मक । इनमें से किसी भी विधा पर हम विदेशी प्रभाव की कल्पना नहीं कर सकते ।

शतरत्नसंग्रहकार उमापति शिवाचार्य ने शैव सिद्धान्त की दृष्टि से शास्त्रों के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, मान्त्रिक और अतिमार्ग नामक विभाग करके इनमें से प्रत्येक के पुनः पाँच-पाँच भेद किये हैं । यहाँ केवल मान्त्रिक वाङ्मय के पाँच भेदों का ही परिगणन किया गया है । शैवागम की निःश्वासतत्त्वसंहिता में भी संभवतः इस विभाग का उल्लेख है । यह एक प्राचीन आगम ग्रन्थ है । वराहपुराण में ही नहीं, पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में भी कालोत्तर के साथ इसका उल्लेख मिलता है । प्रज्ञापारमिताशास्त्र के ग्रन्थ-परिमाण के आधार पर जैसे अनेक संस्करण हैं, उसी तरह से कालोत्तर के भी अनेक संस्करण मिलते हैं । इनमें से सार्धत्रिशतिकालोत्तर का रामकण्ठ की टीका के साथ अब पांडिचेरी से प्रकाशन भी हो चुका है ।

इसी पृष्ठभूमि में हमें भारतीय तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं के विकासक्रम को देखना चाहिये और भारतीय वाङ्मय में स्वतः विद्यमान विभागों को छोड़ कर स्वमनःप्रसूत आस्तिक-नास्तिक आदि विभागों की कल्पना से बचना चाहिये । यही स्थिति तथाकथित नास्तिक तन्त्रों पर विदेशी प्रभाव के सिद्धान्त पर तथा खड्ग, अंजन, पादुका आदि अष्टविध सिद्धियों को तन्त्र की किसी एक शाखा से संबद्ध कर देने जैसे विचारों पर भी लागू होती हैं । वास्तव में सभी प्रकार के तन्त्रों के उद्भव और विकास की सारी सामग्री हमें भारतीय वाङ्मय में ही मिल जाती है और इन सिद्धियों का उल्लेख तन्त्रशास्त्र की प्रायः सभी शाखाओं में उपलब्ध है । अतः हमें बाहरी प्रभाव की काल्पनिक उड़ान से दूर हट कर भारतीय साहित्य में ही उसको खोज लेने की प्रक्रिया पर पूरी सावधानी से आगे बढ़ना चाहिये ।

कौल, क्रम और त्रिक तन्त्रों के उद्भव और विकास पर डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ "अभिनव गुप्त : एन हिस्टोरिकल एण्ड फिलासफिकल स्टडीज" में और उनके शिष्य डॉ० नवजीवन रस्तोगी ने "दि क्रम तान्त्रिसिज्म आफ कश्मीर" में पर्याप्त

प्रकाश डाला है । डॉ0 पाण्डेय पाँचवीं-छठी शताब्दी में कौल तन्त्रों का उद्भव-काल मानते हैं, जो कि तथ्यों से बहुत दूर जाता हो, ऐसा नहीं लगता । अभिनवगुप्त अपने तन्त्रालोक के आरंभ में सकल कुल-कौल शास्त्रों के अवतारक के रूप में मच्छन्दविभु की स्तुति करते हैं । अघोर शिवाचार्य ने बताया है कि हिरण्यगर्भ, कपिल और मत्स्येन्द्र क्रमशः वेद, सांख्य और कौल शास्त्रों के अवतारक माने गये हैं । "जाग मछिन्दर गोरख आया" जैसी उक्तियों के आधार पर मत्स्येन्द्र के साथ गोरक्ष को जोड़ने की प्रवृत्ति की हम समालोचना कर चुके हैं । महार्थमंजरी के रचयिता महेश्वरानन्द को उनकी ही उक्ति (गोरक्षो लोकधिया) के आधार पर गोरक्षनाथ (नाथ-योगी) मान लेना कितना हास्यास्पद है, इस पर भी हम प्रकाश डाल चुके हैं । इधर सुभाषितसंग्रह के परिशिष्ट में यह बताया गया है कि प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि के कर्ता (नूतन) अनंग वज्रपाद गोरक्ष के नाम से प्रसिद्ध थे । संस्कृत विश्वविद्यालय से प्रकाशित गोरक्षसंहिता वस्तुतः मतोत्तर तन्त्र है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विभिन्न कालों में विद्यमान यह नाम किसी एक ही व्यक्ति का नहीं हो सकता ।

गोरक्षनाथ का सिद्धान्त बौद्ध सिद्धों से और अपने गुरु मत्स्येन्द्र के सिद्धान्त से भी भिन्न था, यह सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया गया है, किन्तु हम देखते हैं कि बौद्ध तन्त्रों में सेक की सहज पद्धति और हठयोग के नाम से जो अन्य योगपद्धति वर्णित है, उनमें से नाथ-योगी द्वितीय पद्धति का अनुसरण करते हैं । "मरणं बिन्दुपातेन" वाले सिद्धान्त की स्थापना बौद्ध तन्त्रों में बहुत पहले हो चुकी थी । इस प्रसंग में सेकोद्देशटीका (पृ. २५) में उद्धृत मूलतन्त्र के ये वचन अवधेय हैं— "बोधिचित्तं न चोत्सृजेत् । ...... अनेन रक्षितेनैव बुद्धत्वमिह जन्मनि" । फलतः नाथ-योगी गोरक्ष का स्थिति-काल हमें मत्स्येन्द्र के शिष्यों की और बौद्ध सिद्धों की लम्बी परम्परा के बाद ही मानना पड़ेगा ।

इस पूरे विवरण के आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि लकुलीश की और कापालिकों की परम्परा में से ही कौल मत का आविर्भाव हुआ और परवर्ती काल में बौद्ध तन्त्रों के साथ शैव और शाक्त तन्त्रों के विकास पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा । कुल, क्रम, मत, त्रिक आदि नामों से प्रसिद्ध तान्त्रिक मत-मतान्तरों पर, त्रिपुरा, काली, तारा आदि महाविद्याओं की उपासना पद्धति पर और बौद्ध तन्त्रों की योग, अनुत्तर (पितृ-मातृ-अद्वय) आदि शाखाओं की

प्रक्रिया पर भी इसका स्पष्ट और अप्रतिहत प्रभाव देखा जा सकता है । नाथों, सिद्धों, सूफी सन्तों और कबीर की वाणियों में इसकी गूंज सुनाई देती है । हाँ, परवर्ती काल में इनमें से अनेक ने कापालिक प्रभाव से अपने को बहुत कुछ मुक्त कर लिया था ।

यामुनाचार्य के आगमप्रामाण्य में कालामुख सम्प्रदाय का जो परिचय दिया गया है, उसको देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि इस सम्प्रदाय पर भी कापालिक और कौल मत का प्रभाव था । ईसा की १०वीं शताब्दी के आसपास इस सम्प्रदाय का कर्णाटक राज्य में एक प्रकार का पूर्ण वर्चस्व था । तत्कालीन उपलब्ध शिलालेखों से यह बात सप्रमाण सिद्ध हो जाती है । रेणुका (येलम्मा) मन्दिर से अनतिदूर विद्यमान 'हुली' नामक स्थान एक समय इस सम्प्रदाय का बहुत बड़ा केन्द्र था । आज कालामुख सम्प्रदाय के स्थान पर कर्णाटक में वीरशैव (लिंगायत) सम्प्रदाय पूरी तरह से प्रतिष्ठित हो चुका है । रामानुज सम्प्रदाय की तरह वीरशैव मत में भी आगमशास्त्र और वेद को समान रूप से प्रमाण माना गया है । अन्तर इतना ही है कि रामानुज मत में वैष्णवागम (पांचरात्र) का प्रामाण्य अभिप्रेत है, तो वीरशैव सम्प्रदाय में सिद्धान्त शैवागमों का । इस प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना है कि कर्णाटक में कभी जैन धर्म का भी विशेष प्रचार था ।

अब हमें प्रसंगवश वैष्णवागम और सिद्धान्त शैवागमों पर एक दृष्टि डालनी है । पांचरात्र आगम की हमने ऊपर चर्चा की है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य और प्राचीन शिलालेखों में पांचरात्र मत अथवा भागवत धर्म का उल्लेख मिलता है । ईसापूर्व द्वितीय-तृतीय शताब्दी के घोसुण्डी शिलालेख में परिखा- प्राकार वेष्टित वाटिका के वासुदेव-संकर्षण को समर्पित करने का उल्लेख है और सात्वतसंहिता (२५.३६६-३६७) में हमें इसका विधान भी उपलब्ध होता है । वैष्णवागमो के तीन मोटे विभाग मिलते हैं— वैखानस, भागव्रत और पांचरात्र । इनमें से वैखानस और पांचरात्र मत का साहित्य ही नही, दक्षिण भारत के आन्ध्रप्रदेश और तमिलनाडु राज्यों में आज भी इन मतों के अनुयायियों का अस्तित्व विद्यमान है । तिरुपति-तिरुमले बालाजी (वेंकटेश्वर) की अर्चना वैखानस आगमों की पद्धति से और त्रिचनापल्ली में भगवान् श्रीरंगनायक की उपासना पांचरात्र पद्धति से होती है । सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह मे रामानुज और माध्व मत की समानता की चर्चा करते हुए बताया गया है कि पांचरात्र आगम

के प्रामाण्य को दोनों ही मत स्वीकार करते हैं। हम यह भी कह सकते हैं कि आजकल के सभी वैष्णव सम्प्रदायों को पांचरात्र का प्रामाण्य अभिप्रेत है। महाकवि बाण ने हर्षचरित (पृ. २३६-२३७) में पांचरात्रों से भागवतो की पृथक् चर्चा की है। हयशीर्ष पांचरात्र (आदि. २.२-९) में पांचरात्रों की पचीस तथा भागवतों की नौ संहिताओं का उल्लेख किया गया है। अग्निपुराण (३९.२-५) में केवल पचीस पांचरात्र संहिताओं की ही गणना की गई है, नौ भागवत संहिताओं का वहाँ उल्लेख नहीं है। इस प्रसंग मे जर्मन विद्वान् डॉ० श्राडर की कुछ त्रुटियों का उल्लेख हमने आगममीमांसा (पृ. ९) और सात्वतसंहिता के उपोद्घात (पृ. ५-६) मे किया है। नौ भागवत संहिताओं मे से एक है— तन्त्रभागवत। माध्व-सम्प्रदाय के ग्रन्थों में यह प्रमाण रूप मे उद्धृत है। श्रीमद्भागवत महापुराण से यह अवश्य ही भिन्न है।

स्वर्गीय प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय जी ने सागर विश्वविद्यालय में दिये गये अपने प्रवचनों में भागवत धर्म और भक्ति सम्प्रदाय पर पड़े बौद्ध महायान धर्म के प्रभाव की तार्किक समीक्षा प्रस्तुत की थी। पहले संस्कृत की शोधपत्रिका 'सागरिका' में इनका प्रकाशन हुआ है और अब इनके निबन्ध-संग्रह में पुनः ये प्रकाशित हो रहे हैं। जयाख्यसंहिता और अहिर्बुध्न्यसंहिता को विद्वानों ने पांचवीं-छठी शताब्दी की रचना माना है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में बताया गया है कि यहां ३९ विभवावतारों का वर्णन सात्वतसंहिता के आधार पर किया गया है। सात्वतसंहिता, जयाख्यसंहिता और पौष्करसंहिता पांचरात्र आगम में त्रिरत्न के नाम से प्रसिद्ध हैं। यह नाम और इनमें वर्णित विभवावतारों में भगवान् बुद्ध का समावेश (लोकनाथस्तु शान्तात्मा) श्री उपाध्याय जी के मत के समर्थक तत्त्व हैं, यद्यपि मूल ग्रन्थ के अन्यथा लापन का भी प्रयत्न किया गया है।

हमने 'आगममीमांसा' में वैखानस और भागवत सम्प्रदाय का संक्षेप में उल्लेख कर पांचरात्र मत का विस्तार से परिचय दिया है। स्पन्दप्रदीपिका के आधार पर पांचरात्र सम्प्रदाय के कुछ ग्रन्थों के भी वहां नाम गिनाये गये हैं। इनका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु उनमें से धातुसमीक्षा अथवा षड्धातुसमीक्षा भर्तृहरि का अद्यावधि अनुपलब्ध व्याकरण का ग्रन्थ है, पांचरात्र सम्प्रदाय का नहीं। पांचरात्र साहित्य का अन्यत्र भी पर्याप्त परिचय दिया गया है। डॉ० एफ० ओटो श्राडर, प्रो० एस० एन० दासगुप्त आदि के ग्रन्थों के अतिरिक्त

इधर डॉ० राघवप्रसाद चौधरी का ग्रन्थ 'पांचरात्रागम' बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से प्रकाशित हुआ है ।

ऊपर के विवरण से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पाशुपत और शैवमत के साथ आगमोत्तर जैनमत की तथा पांचरात्र मत के साथ बौद्ध महायान मत की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत कर हम कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावना कर सकते हैं । पांचरात्र मत का दक्षिण के वैष्णव सन्त आलवारों की विचारधारा पर और रामानुज आदि के वैष्णव मतों पर अक्षुण्ण प्रभाव है । इसी तरह से शैव आगमों का दक्षिण के शैव सन्तों और वीरशैव मत पर यह प्रभाव देखा जा सकता है । जैन वाङ्मय में ६३ शलाकापुरुष परिगणित हैं और दक्षिण के शैवाचार्यों (नायनारों) की भी संख्या यही है । जैन साहित्य में ३६३ मतवादों का उल्लेख मिलता है और स्वच्छन्दतन्त्र (१०.६८०-६८१) में भी इनकी संख्या यही बताई गई है ।

हम यह भी देखते हैं कि निःश्वाससंहिता, कालोत्तर जैसे शैवागम के ग्रन्थ पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में उद्धृत हैं और मातृ-तन्त्र, पितृ-तन्त्र जैसा ही विभाग योगिनी-कौल और सिद्ध-कौल के रूप में सिद्धान्तशैव शाखा के मृगेन्द्रागम (चर्या. १.४०-४१) में भी मिलता है । ८४ सिद्धों की परम्परा भी हमें इन्हीं दृष्टियों का अनुसरण करती हुई मिलती है ।

द्वैतवादी शैवमत का दक्षिण में बाद में 'शिवज्ञानबोधम्' नामक एक लघुकाय ग्रन्थ के आधार पर विकास हुआ । दक्षिण का शैव दर्शन हम इसी शाखा को मान सकते हैं । शैवागमों के आधार पर विकसित हुआ द्वैतवादी वाङ्मय हमें प्रथमतः कश्मीर और मध्यदेश में तथा तदुपरान्त दक्षिण में मिलता है । आगमों में की गई उत्तम, मध्यम और अधम देशों की गणना के आधार पर यह मानना पड़ेगा कि शैवागमों का भी आविर्भाव आर्यावर्त में ही हुआ । बाद में विभिन्न मठों के शैवाचार्यों के द्वारा इनका प्रचार पूरे भारत में किया गया । कश्मीर, कर्णाटक आदि भारतीय प्रदेशों में ही नहीं, समुद्र पार की बस्तियों में भी इनका विस्तार हुआ ।

कश्मीरी आचार्य अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक (३७.३८) में कहा है कि मध्यदेश सारी विद्याओं का खजाना है । उसी ने आमर्दक, शंख और त्र्यम्बक (तेरंबी) मठिकाओं का उल्लेख किया है । इनके अतिरिक्त शैव मठों की कदम्बगुहा, मत्तमयूर आदि विभिन्न शाखाओं का उल्लेख

मध्यकालीन शिलालेखों और साहित्य में भी मिलता है । इन शाखाओं का विस्तार मध्यदेश और गुजरात में ही नहीं, कर्णाटक तक हुआ । मध्यकाल में इन मठों के माध्यम से विपुल साहित्य रचा गया । उसमें से अभी कुछ ही ग्रन्थ प्रकाशित हो पाये हैं । वैरोचन कृत प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय, सोमशम्भुपद्धति (कर्मकाण्डक्रमावली), ईशानशिवगुरुदेव-पद्धति, तत्त्वप्रकाश की कुमारदेवकृत टीका आदि से इसका जो स्वरूप ज्ञात होता है, वह द्वैतवादी सिद्धान्तशैव दर्शन से कुछ भिन्न प्रकार का प्रतीत होता है । इसी परम्परा में प्रपंचसार, शारदातिलक जैसे ग्रन्थों का निर्माण हुआ ।

इस पूरी परम्परा को हम स्मार्त तन्त्रों के अन्तर्गत ला सकते हैं । इस परम्परा के विकास का सही मूल्यांकन न हो पाने के कारण ही प्रो० कृष्णकान्त हांडीकी तथा प्रो० एस० एन० दासगुप्त द्वारा प्रस्तुत इस शाखा का विवरण त्रुटिपूर्ण हो गया है, इस विषय का उल्लेख हमने अपने अष्टप्रकरण के उपोद्घात (पृ. १९-२०) में किया है । तन्त्रशास्त्र की इस स्मार्त परम्परा का अध्ययन अभी नहीं के बराबर हुआ है । ईशानशिवगुरुदेवपद्धति मे स्मार्त पंचायतन पूजा का ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों में वर्णित वसुधारा की पूजापद्धति का और कृष्णयमारितन्त्र के कुछ वचनों का भी उल्लेख मिलता है । हमने ऊपर बताया है कि वायुपुराण में छः दर्शनों में बौद्ध और जैन दर्शन का भी समावेश किया गया है । फलतः तन्त्रों में वर्णित अनेक परम्पराएं कब से चली आ रही हैं, इस पर विद्वानों को बाहरी प्रभाव की काल्पनिक उड़ान से दूर हट कर भारतीय साहित्य मे ही खोजने की प्रक्रिया पर गंभीरता से विचार करना चाहिये ।

मध्यदेश में विकसित हुए इस साहित्य को, इसकी मत्तमयूर आदि शाखाओं को कुछ विद्वानों ने अतिमार्ग से जोड़ने की चेष्टा की है । वास्तव में यह प्रयास पूरी तरह से निराधार है, क्योंकि जैसी कि हमने ऊपर चर्चा की है अतिमार्ग शब्द पर हम अभी तक प्रामाणिक रूप से कुछ भी कहने में असमर्थ हैं । इसके उपलब्ध साहित्य में हमें कौल अथवा कापालिक उपादान दृष्टिगोचर भी नहीं होते । उदाहरण के रूप में हम मत्तमयूर वंश के आचार्य वैरोचन के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय को देख सकते हैं ।

तन्त्रशास्त्र का अतिविशाल वाङ्मय है, जिसमें सभी ज्ञान-विज्ञान समाहित हैं । सम्प्रदायों के भेद से तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाएं और उपशाखाएं हैं । यहाँ हमें केवल बौद्ध, जैन, वैष्णव, शैव और शाक्त

शाखाओं तक ही सीमित रहना है, क्योंकि सभी शाखाओं और उनमें प्रतिपादित सभी विषयों पर हम एक कार्यशाला में विचार नहीं कर सकते । अतः अभी इन पाँच शाखाओं की तुलनात्मक समीक्षा कर किसी निश्चित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये प्रारंभ में हमें कुछ मुख्य विषयों तक ही सीमित रहना होगा । विद्वानों के परामर्श के अनुसार प्रस्तुत कार्यशाला को हमने दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मातृका, मुद्रा, पीठ, न्यास, बाह्य और आन्तर पूजा, षडंग योग, कुण्डलिनी (चण्डाली) योग, वज्रदेह और प्राणापान व्यापार तक ही सीमित रखा है ।

दीक्षा या अभिषेक के उपरान्त ही तान्त्रिक साधना आरम्भ होती है । कुछ शाखाओं ने पूरी मानवजाति को इसका अधिकारी माना है, कुछ ने नहीं । दीक्षा या अभिषेक की पूर्व रात्रि (अधिवास) के स्वप्न और मण्डल में पुष्पपात आदि के सहारे आगे की विधि निश्चित होती है । नामकरण, मन्त्रोपदेश आदि कृत्यों के संपादन के बाद गुरु शिष्य को मुद्रा, न्यास आदि की विधि बताता है । तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में इन विषयों का अपनी-अपनी पद्धति से निरूपण हुआ है । स्वरव्यंजनात्मक वर्णमाला का मातृका, मालिनी, आलिकालि अथवा भूतलिपि के रूप में और पूजा का आन्तर और बाह्य वरिवस्या के अथवा सप्तविध अनुत्तर पूजा के रूप में प्रतिपादन मिलता है । तन्त्रशास्त्र की कुछ शाखाओं में बाह्य और आन्तर पीठों का अपना महत्त्व है । इसी प्रकार कुण्डलिनी अथवा चण्डाली योग के प्रसंग में नाड़ी, चक्र, वायु, आधार आदि का तथा वज्रदेह की प्राप्ति का भी निरूपण हुआ है । षडंग योग का और प्राणापान व्यापार के रूप में अजपाजप अथवा हंसगायत्री का वर्णन अनेक शाखाओं में मिलता है ।

यह आवश्यक नहीं है कि इन सभी विषयों का निरूपण उक्त सभी शाखाओं में हुआ हो, किन्तु जहाँ भी जिस विषय का जिस किसी रूप में प्रतिपादन हुआ है, उसका स्पष्ट स्वरूप निखर कर हमारे सामने आ सके, यही इस कार्यशाला का उद्देश्य है । प्रथम पांच दिनों में एक-एक दिन हमें क्रमशः बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव, शाक्त शाखाओं के दृष्टिकोणों पर विचार करना है ।

तन्त्रशास्त्र के सही अध्ययन में उपस्थित होने वाली कुछ बाधाओं की भी यहाँ चर्चा कर देना आवश्यक है । मन्त्रों और बीजाक्षरों के उद्धार की तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा की अपनी-अपनी पद्धति है । इस प्रक्रिया से संबद्ध कुछ कोशग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, किन्तु इनमें परस्पर-विरुद्ध अनेक संकेत मिलते हैं । यदि प्रपचसार

आदि की तरह किसी ग्रन्थ में अपनी परिभाषा नहीं दी गई है, तो इन कोशों में से किसको कहाँ प्रमाण माना जाय, इसको जानने का हमारे पास कोई उपाय नही है । बीजाक्षरों और विशेष कर पिण्ड-मन्त्रों के लिखने की पद्धति भी अलग-अलग है । हस्तलेखों में स्वभावतः अनेक पाठान्तर मिलते हैं। ऐसी स्थिति में इनके सही स्वरूप को जानने की क्या पद्धति हो सकती है ?

शाक्त तन्त्रों मे चक्रों और वैष्णव तन्त्रों में मण्डलों का विशेष विस्तार मिलता है । बौद्ध तन्त्रों में ये दोनों ही स्वरूप उपलब्ध हैं । इन मण्डलों और चक्रों के निर्माण की प्रक्रिया के प्रसंग में अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं । सामान्य मुद्राओं और नृत्य मुद्राओं की एवं पाद-विन्यास की विभिन्न स्थितियों के निरूपण के प्रसंग में भी इसी प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं । कभी-कभी नाम की एकता होने पर भी इनके स्वरूप में अन्तर मिलता है । इसको जानने का सही उपाय तो गुरु-परम्परा ही है, किन्तु तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाओं की यह परम्परा लुप्त हो चुकी है । ऐसी स्थिति में हम क्या करें ? तन्त्रशास्त्र के अध्ययन की यह एक ज्वलन्त समस्या है । जालन्धर, ओड्याण, पूर्णगिरि आदि पीठों की बाह्य स्थिति से भी हम बहुत कुछ अनभिज्ञ हो गये हैं । इस प्रकार की विषयगत समस्याओं के समाधान के साथ तन्त्रशास्त्र के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवदान के रूप में कायपूजा, एक ही जन्म में मुक्ति, रागादि क्लेशों का मार्गीकरण, प्रातिभ ज्ञान (स्वानुभव) की वरीयता, प्रभास्वर चित्त, समता, पाशाष्टक जैसे विषयों पर भी हम विहंगम दृष्टि डाल सकते हैं ।

ऊपर बताई गई सभी बाधाओं के परिहार का प्रयत्न किया जा सके, इसके लिये कार्यशाला का छठा दिन निर्धारित किया गया है ।

श्रद्धेय कविराज जी का कहना था कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भारतीय दर्शन का चूडान्त उत्कर्ष देखने को मिलता है । इसी तरह से बौद्ध मन्त्रनय की दृष्टि में भी अनुत्तर तन्त्र की श्रेष्ठता प्रतिपादित है । वहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन की पद्धति से हम चित्त के मल का पूरी तरह से प्रहाण नहीं कर सकते । चित्त की प्रभास्वरता तो मन्त्रनय की दृष्टि से ही सरलता से प्राप्त की जा सकती है । इन कथनों की हमें परीक्षा करनी होगी ।

कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन में परम तत्त्व को प्रकाश-विमर्शात्मक माना गया है । प्रत्येक जिज्ञासु को अपने प्रकाश-विमर्शात्मक स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा (पहिचान) करा देना ही इस दर्शन का प्रमुख प्रयोजन है । "अहं ब्रह्मास्मि" इस औपनिषद वाक्य की "शिवोऽहम्" पर्यन्त यह अद्भुत यात्रा सांख्य के पुरुष, योग की चितिशक्ति, बौद्धों की चित्तमात्रता और प्राभाकर मीमांसकों की संवित् को समेटते हुए कैसे पूरी हुई, इसका ऐतिहासिक और तुलनात्मक निरीक्षण अपेक्षित है । सूफियों के 'अनलहक' वाक्य की शांकर वेदान्त की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञा दर्शन ही बोधगम्य और तर्कसंगत व्याख्या प्रस्तुत करता है ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी में अभिनवगुप्त का कहना है कि सांख्य, जैमिनीय, चिरन्तन वैशेषिक और बौद्धों के मत में भी आत्मा चित्स्वभाव है (भा० २, पृ० ४३४) । वेदान्त में आत्मा को सत्, चित् और आनन्द स्वभाव माना गया है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भा० १, पृ० २६६) में अभिनवगुप्त कहते हैं कि बौद्ध दर्शन में भी अध्यवसाय-सापेक्ष प्रकाश का प्रामाण्य स्वीकृत है । ईश्वरप्रत्यभिज्ञा–विवृतिविमर्शिनी (भा० १, पृ० २१९) में वे प्राभाकर मीमांसकों की अपने मत से समानता प्रदर्शित करते हैं । भट्ट कुमारिल का श्लोकवार्त्तिक (१.१०) में कहना है कि कुछ आचार्यों ने मीमांसा को लोकायत पक्ष में निक्षिप्त कर दिया था । टीकाकार इस प्रसंग में भर्तृमित्र का नाम लेते हैं । भर्तृप्रपंच और भर्तृहरि भी भारतीय दर्शन के विशिष्ट नाम हैं । परवर्ती दर्शनों पर इनके प्रभाव की समीक्षा अपेक्षित है ।

अभिनवगुप्त का कहना है कि शैवागमों से द्वैतवाद को हटा कर, ब्रह्मवाद में स्वीकृत अविद्या को मायाशक्ति के रूप में स्वीकार कर और बौद्धों के विज्ञानाद्वयवाद की आत्मेश्वरवाद के रूप में व्याख्या कर हम प्रकाशविमर्शात्मक अद्वय तत्त्व का साक्षात्कार कर सकते हैं । यह अद्वय तत्त्व अपनी आत्मा से भिन्न नहीं है । प्रत्यभिज्ञा दर्शन का ही सहारा लेकर विकसित हुए त्रिपुरा दर्शन का उद्घोष है— "स्वात्मैव देवता" । कामकलाविलास में रक्त और शुक्ल बिन्दुओं से जिस प्रकार की सृष्टि का विकास बताया गया है, उसमें तत्त्वोपप्लवसिंह में वर्णित लोकायत मत की भूमिका को भी खोजा जा सकता है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन प्रतिबिम्बवाद, स्वातन्त्र्यवाद और आभासवाद पर आधृत है । शांकर वेदान्त में सुरेश्वराचार्य आभासवादी माने गये हैं । नैयायिकों, मीमांसकों और बौद्ध दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित प्रतिबिम्बवाद की अभिनवगुप्त ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ तन्त्रालोक के तृतीय आह्निक के

प्रारम्भ में विस्तृत समालोचना की है । प्रत्यभिज्ञा दर्शनसंमत आभासवाद की सुरेश्वराचार्य संमत आभासवाद से भी अपनी विशेषता है । दृष्टिसृष्टिवाद आदि की पृष्ठभूमि में इन सब वादों की ऐतिहासिक क्रम से तुलनात्मक समीक्षा की जा सकती है और यह देखा जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन की तरह मन्त्रनय के दर्शन पर इन पूर्ववर्ती दर्शनों का क्या प्रभाव पड़ा है ? अभी हाल में प्रकाशित कम्बलपाद की आलोकमाला की पृष्ठभूमि में हम इस प्रभाव की परीक्षा कर सकते हैं ।

इस दार्शनिक विकास-क्रम पर विहंगम दृष्टि डाली जाय, इसके लिये कार्यशाला के सातवें दिन के पूर्वाह्ण का समय निश्चित किया गया है ।

•

उद्घाटन भाषण

–प्रो0 नथमल टाटिया–

अध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वद्वृन्द एवं भिक्षुवृन्द ! मैं यह अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मैं यहाँ आ सका । मेरा मुख्य आकर्षण था परमश्रद्धेय एस0 रिनपोछे जी का दर्शन करना और सबेरे मुझे द्विवेदी जी ने कहा आपको उद्घाटन भाषण देना है । मैं इस भाषण के लिये तैयार नहीं था । लेकिन दो बड़े भाषण मैंने सुन लिये । एक परमश्रद्धेय रिनपोछे जी का और दूसरा गुरुभाई द्विवेदी जी का । उससे मुझे कुछ प्रेरणा मिली । उस प्रेरणा के आधार पर मैं कुछ बोलना चाहूँगा ।

उद्घाटन का कार्य तो रिनपोछे जी ने सम्पन्न कर लिया, उन्होंने दिग्दर्शन कर दिया और इस कार्यशाला में जो कुछ चिन्तन करना है, उसका निर्देशन पण्डित द्विवेदी जी ने कर दिया । मेरे लिये तो सिर्फ उद्घाटन शब्द रहा है । कुछ बातें मैं कहना चाहूँगा कि तन्त्रशास्त्र का सभी देशों में प्रचार है । ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ तन्त्र न हो । मेरे मन में था शायद चीन में नहीं होगा । वहाँ कन्फूशियस थे । वे तो पॉजिटिव चिन्तक थे । वे परलोक में विश्वास नहीं करते थे । वे इस लोक में विश्वास करते थे, मानवता में विश्वास करते थे, मानवता के विकास में विश्वास करते थे । लेकिन

मेरे पास ताइवानी चायनीज विद्यार्थी आये । उन्होंने कहा कि ऐसा नहीं है । कन्फूशियस पर भी तन्त्र का प्रभाव था । कैसे था ? हेक्साग्राम क्या है ? उनका हेक्साग्राम कन्फूशियस से भी प्राचीन है । वह है रेखाओं का ग्राफ । छः रेखाएं हैं । कभी अधकटी रेखाएं, कभी पूरी रेखाएं । 64 उसके पक्ष के सर होते है । वे सब समाजशास्त्र, नीतिशास्त्र, राजनीतिशास्त्र के द्योतक है । वह एक यन्त्र है । मैंने देखा कि कन्फूशियस में इसका बहुत असर था, प्रभाव था । इस तरह से मैंने देखा कि तन्त्र से कोई भी अछूता नहीं रहा । सिन्तोइज़म को मैंने देखा । तन्त्र से भरा हुआ है । तन्त्र ही तन्त्र उसमें है । कोई ऐसा देश नहीं है, जहाँ तन्त्र न हो, जहाँ मन्त्र न हो, जहाँ यन्त्र न हो । हमारे गुरुभाई द्विवेदी जी ने कहा कि हम बाहर न देखें । बाहर हमें देखना है । हमने यहाँ तन्त्र का विकास किया । अपने ढंग से किया । लेकिन विदेशों में ऐसा कोई देश नहीं है, जहाँ तन्त्र नहीं है । इन तन्त्रों के परिप्रेक्ष्य में भी हम लोगों को अपना तन्त्र देखना है । तन्त्र जीवन की एक साधना है । क्या ऐसा कोई देश हो सकता है ? ऐसी कोई संस्कृति हो सकती है ? जिसमें साधना के जीवन को साबित करने की पद्धति न हो। वही तो तन्त्र है ।

तन्त्र का अर्थ बहुत विस्तृत है । मैं खोज रहा था पातंजल योग में तन्त्र है या नहीं । वहाँ तो भरा हुआ है । चौथे पाद में पतंजलि कहते हैं—"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" । विभूतियाँ पाँच निमित्तों से आती हैं । जन्म से ही कभी-कभी हमारा सारा शरीरतन्त्र ऐसा बना होता है कि तन्त्र से भरा हुआ रहता है, जन्म से ही तन्त्रसिद्धि होती है । सिद्धि जन्म से होती है, मन्त्रों से सिद्धि होती है, औषधियों से सिद्धि होती है, तपस्या से सिद्धि होती है, समाधि से सिद्धि होती है । जब हम औषधि, मन्त्र, तप इन तीनों को देखते हैं, तो लगता है अरे यह तो तन्त्र है । पतंजलि ने अपने ढंग से पातंजल योग में कह दिया— "जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" । कहाँ तन्त्र नहीं है ? हाँ तन्त्र के सब प्रकार नहीं हैं, लेकिन यहाँ उसका एक प्रकार है । जैनों में भी तन्त्र है । भगवान् महावीर ने त्राटक की साधना की थी । बुद्ध ने भी त्राटक सिद्ध किया था । हमारे मित्र श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी ने अपने एक निबन्ध में बताया है कि बुद्ध ने भी तन्त्र की साधना की थी । तन्त्र की कुछ बातें उनमें भी हैं, जो बुद्ध के बोधि प्राप्त होने से पहले की बातें हैं ।

हम अनुसन्धान करें, तो हमें मिलेगा कि कोई ऐसा धर्म नहीं है, जहां तन्त्र न हो । वह चाहे जैन हो, बौद्ध हो, चाहे हिन्दू हो । हिन्दू धर्म तन्त्र से भरा हुआ है, बौद्ध धर्म तन्त्र से भरा हुआ है । जहाँ जहाँ बौद्ध धर्म गया, वहाँ तन्त्र का प्रचार हुआ । लेकिन सबसे अधिक तन्त्र का विकास तिब्बत में हुआ और यह स्थान जहाँ पर तन्त्रविषयक अन्वेषण हो रहा है, होना भी चाहिये, पण्डित जगन्नाथ जी ने प्रारम्भ किया । द्विवेदी जी इसको आगे बढ़ा रहे हैं। बहुत ही अच्छी बात है ।

अपने उद्घाटन भाषण में कुछ बातें निदेशक महोदय ने कहीं, उन पर मैं कुछ कहना चाहूँगा । सन्त परम्परा की साधना में तन्त्र का विकास भारत में भी हुआ और दूसरे देशों में भी । एक महत्त्वपूर्ण बात निदेशक महोदय ने कही कि वह खाली वैचारिक फसल न हो जाय । इसकी प्रेरणा हमारी जीवनप्रणाली को मिले, यह आवश्यक है । हम बहुत से शास्त्र पढ़ लें, तन्त्र पढ़ लें और हमारे जीवन से यदि उसका कोई सम्बन्ध न हो, तो यह एक खाली गाल बजाने वाली बात हो जायगी, जिसका जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है । जिस विद्या का जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है, सिर्फ पोथियों में है, या कागज में है, दिमागों में है, हमारे जीवन में नहीं है, उसकी कोई उपयोगिता नहीं है और वह चीज समझ में भी नहीं आवेगी, क्योंकि किसी विद्या को समझना है, तो उसे अपने जीवन में उतारना पड़ता है । यदि हम इसे उतार नहीं सके, उतारने का प्रयत्न नहीं किया, तो हम उसे समझा नहीं सकेंगे, खाली लिखेंगे, बिना समझे । ऐसा भी मैंने देखा है कि कई ऐसे ऐसे ग्रन्थ सम्पादित करके सम्पादक समझते हैं कि मैंने समझ लिया । यदि हम कोई बात पूंछते हैं, तो कहते हैं कि मैंने तो समझा ही नहीं, बिना समझे ही सम्पादन कर दिया । ग्रन्थ को बिना समझे सम्पादन करने की एक कला है । ग्रन्थ को समझना तो बहुत ही कठिन है । निदेशक महोदय जी ने कहा है कि ऐसा न हो । खाली सम्पादन हो, बिना समझे सम्पादन हो, तो उसका कोई महत्त्व नहीं है । कार्यशाला में विद्वानों को बुलाया जाता है । वह किस लिये ? जीवन से उस विद्या का क्या सम्बन्ध है, यह जानने के लिये । आज हमारे गुरुभाई द्विवेदी जी ने निबन्ध पढ़ा । उसने तो सारी कार्यशाला का पथप्रदर्शन कर दिया । अब तक उन्होंने जितने-जितने विषय बताये, उन पर तो हम सात दिन में विचार नहीं कर सकेंगे और द्विवेदी जी को विद्वानों

को बुला–बुला कर पढ़ाना पड़ेगा । आपने सैकड़ों ग्रन्थों का उल्लेख किया है । यह इतनी बड़ी विद्या है और यह ऐसा संस्थान है, जहाँ इस विद्या का अध्ययन, अध्यापन, साधन, मनन हो सकता है । पुनः पुनः निदेशक महोदय ने कहा कि साधन नहीं हुआ तो क्या हुआ ? यह कोई काल्पनिक विषय नहीं है । अर्थ और काम की चर्चा करना तो सरल है, किन्तु असली बात धर्म और मोक्ष की है । अर्थ और काम मुख्य नहीं है । प्रोफेसरों के लिये अर्थ मुख्य हो जाय, हम वेतन लेंगे, पढ़ायेंगे नहीं । आजकल के विश्वविद्यालयों के लिये यह दुःख की बात है ।

मुझे पूरा विश्वास है कि यह सप्त दिवसीय कार्यशाला सम्पूर्ण रूप से सफल होगी एवं तन्त्रशास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण पहलू हमारे समक्ष आवेंगे । इस अवसर पर मैं परमपूज्य एस० रिनपोछे जी, श्रीमान् द्विवेदी जी एवं श्रोतृगण के प्रति पुनः अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करना अपना पावन कर्तव्य समझता हूँ ।

●

बौद्ध तन्त्र

उद्घाटन सत्र के अतिरिक्त कार्यशाला के सप्तदिवसीय कार्यक्रम के सभी आयोजन संस्थान के शान्तरक्षित पुस्तकालय स्थित व्याख्यान कक्ष में पूर्वाह्ण १० बजे से १ बजे तक तथा अपराह्ण में ३ से ६ बजे तक सम्पन्न हुए । इस कार्यशाला के प्रथम पांच दिन क्रमशः बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त तन्त्रों से संबद्ध निबन्ध पढ़े गये और उन पर विचार-विमर्श हुआ । इस कार्यक्रम के संचालन के लिये कोई अध्यक्ष निर्वाचित नहीं किया गया था । निबन्धों के लेखक विद्वानों ने समवेत विद्वानों के साथ खुल कर विचार-विनिमय में भाग लिया । कार्यशाला का संचालन इसके संयोजक प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी कर रहे थे ।

बौद्ध तन्त्रों को प्रधानतः क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर विभागों में और अनुत्तर विभाग को पुनः पितृ, मातृ और अद्वय विभागों में विभक्त किया गया था । इन सभी शाखाओं पर यहाँ निबन्ध पढ़े गये । क्रिया-चर्या तन्त्रों पर प्रो० सेम्पा दोर्जे का, योगतन्त्र पर प्रो० सुनीति कुमार पाठक का, पितृतन्त्र पर डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी का, मातृतन्त्र पर डॉ० ठाकुरसेन नेगी का और अद्वयतन्त्र पर डॉ० बनारसीलाल का निबन्ध प्राप्त हुआ । सर्वप्रथम दि० ६-२-९२ को पूर्वाह्ण के प्रथम सत्र में प्रो० सेम्पा दोर्जे ने क्रिया और चर्या तन्त्र से संबद्ध और अपराह्ण के द्वितीय सत्र में डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी ने अपना अपना निबन्ध पढ़ा और उस पर विद्वानों का गहन विचार-विनिमय हुआ । दि० ७-२-९२ को पूर्वाह्ण में डॉ० ठाकुरसेन नेगी ने पितृतन्त्र संबन्धी और डॉ० बनारसीलाल ने अद्वयतन्त्र सम्बन्धी अपने अपने निबन्ध पढ़े और उसके बाद इन दोनों निबन्धों पर एक साथ विद्वानों ने अपने बहुमूल्य विचार प्रस्तुत किये । योगतन्त्र संबन्धी निबन्ध के लेखक डॉ० सुनीतिकुमार पाठक कार्यशाला के प्रथम तीन दिन विशेष कारणवश उपस्थित नहीं हो सके थे । अतः इनका योगतन्त्र संबन्धी निबन्ध दि० ९-२-९२ को अपराह्ण के सत्र में पढ़ा गया और फिर उसी समय उस पर गंभीर विचार-विनिमय भी हुआ ।

इस प्रकार इस कार्यशाला में बौद्ध तन्त्रों की विभिन्न शाखाओं से संबद्ध पाँच महत्त्वपूर्ण निबन्ध पढ़े गये और उन पर खुल कर विचार हुआ । निबन्ध-लेखकों के अतिरिक्त विचार-विनिमय में प्रो० एन० आर० भट्ट, प्रो० नथमल टाटिया, पं० श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, प्रो० येशे थपख्ये, डॉ० एस० बहुलकर, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, प्रो० पी० वी० आपटे, श्री उर्ग्येन तेनजिन और श्री ग्यलछन नमडोल ने भाग लिया ।

क्रिया और चर्यातन्त्र

-प्रो० सेम्पा दोर्जे-

तन्त्र एक ऐसी चीज है, जो बहुत साफ भी नहीं है और अभावात्मक भी नहीं है । वह एक गुह्य चीज है । वह जीवन के साथ, काल के साथ

और देश के साथ इतनी अनुस्यूत है कि परिवेश विशेष में भाषा विशेष के माध्यम से हम उसको प्रकट करें, तो यह प्रयोग बहुत सफल नहीं होगा । उसका संकेत मात्र कर सकते हैं । फिर भी संस्थान के क्रिया-कलापों में जो तन्त्र सम्बन्धी अध्ययन या शोध और उसमें भी विशेषकर ग्रन्थ सम्बन्धी शोध-योजना चल रही है, इस सन्दर्भ को लेकर हमारे संयोजक महोदय ने इस कार्यशाला को रखा है । हम तन्त्र के उन मुद्दों को छोड़कर, जो सर्वव्यापक हैं या सर्वसामान्य हैं या अत्यन्त असाधारण हैं या अत्यन्त गुह्य है, केवल शास्त्रगत वाङ्मय में जो प्राप्त है, उसी विषय को लेकर क्रिया और चर्या तन्त्रों के विषय में एक निबन्ध आप लोगों के समक्ष रखना चाहते हैं ।

जीव मात्र की यही आशा रहती है कि सुख की प्राप्ति हो और दुःख से मुक्ति । यही उनकी जिजीविषा है । इसी की साधना में उनके समस्त क्रिया-कलापों एवं सांसारिक विधि-विधानों का सिलसिला चलता है । राग, द्वेष जैसे क्लेश, अविद्या जैसे अज्ञान, जो प्राणी मात्र के स्वभाव में सुलभ हैं, सत्त्वों की उक्त साधना के मार्ग में हमेशा बाधा-विघ्न डालते रहते हैं, जिसके कारण जीव अनादि काल से अनवरत गति के साथ दिग्भ्रान्त यात्री के समान इस संसार में संसरण करते रहे हैं । इस गति को सही दिशा देने के लिये विभिन्न युगों में नाना प्रकार की योनियों में विविध रूपों में अनेक-अनेक शास्ताओं का प्रादुर्भाव हुआ है, जो सभी प्रकार की योनियों में जन्में हर प्रकार के पात्रों के आशय और अध्याशय के अनुरूप नाना प्रकार की देशनाएँ देते हैं । जैसे किसी को रागनिवृत्ति की देशना दी है, तो किसी को प्रवृत्ति की, किसी को द्वेषनिवृत्ति की, तो किसी को प्रवृत्ति की, कहीं सर्वास्ति, तो कहीं नास्ति, किसी को सर्वसंन्यास की बात कही, तो किसी को सर्वसम्भोग की । इन विभिन्न देशनाओं के संकलित वाङ्मय को ही "तन्त्रशास्त्र" कहा जाता है ।

तान्त्रिक देशना देने वाले शास्ताओं में भी एकरूपता नहीं होती । वह कभी सम्यक्सम्बुद्ध शाक्यमुनि के रूप में है, तो कभी वज्रधर के रूप में, कभी हेरुक के रूप में है, तो कभी वज्रपाणि के रूप में, कभी इन्द्र के रूप में है, तो कभी महेश्वर के रूप में । इसी प्रकार कभी विष्णु के रूप में, कभी पद्मपाणि के रूप में, कभी तारा के रूप में, कभी वज्रयोगिनी के रूप में, कभी रुद्र के रूप में, कभी यमान्तक के रूप मे, कभी बोधिसत्त्व आर्य अवलोकितेश्वर के रूप में, तो कभी आर्यमञ्जुश्री के रूप में । इस प्रकार इन तन्त्र-उपदेशकों की विविधता का कोई अन्त नहीं होता ।

साथ ही उपदिष्ट तन्त्रशास्त्र एवं तान्त्रिक साधना से सम्बद्ध विनेयजनों की विविधता भी अनन्त ही होती है[१] ।

दूसरी ओर तन्त्र की शिक्षा, दीक्षा और शास्त्रों के उपदेश देने के स्थान भी नियत नहीं है । विभिन्न तन्त्रों की देशना यमलोक, त्रायस्त्रिंशत्, परनिर्माणवशवर्ती, वैकुण्ठ, अकनिष्ठ आदि देवभूमियों, सुमेरु पर्वत, हिमवन्त पर्वत, मलय पर्वत आदि पर्वतशिखरों, लंकापुरी, नागराज के स्थानों, गुह्याधिपति के राज्य शिखावती भूमि, खेचर भूमि, मन्दर पर्वत के दक्षिणी भाग के प्रदेशों जैसे अमानुषी प्रदेश तथा धान्यकटक, ओडियान आदि मनुष्य लोक के अनेक स्थानों में देव, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, राक्षस, नाग, भूत, प्रेत, विद्याधर, मनुष्य आदि अनेक विनेय लोगों के आशय एवं पात्रता के अनुरूप तन्त्रों की देशना हुई है । इस प्रकार तन्त्र एवं तन्त्रशास्त्र काल एवं देशविशेष से अवच्छिन्न नहीं होते । दोनों ही दृष्टियों से ये अनादि और अनन्त हैं । इसके स्वरूप, आकार, प्रकार और विषय भी हमारे जैसे मानव-बुद्धि का विषय नहीं है । फिर भी ऐतिहासिक क्रम में सांस्कृतिक धरोहर के रूप में प्राप्त तन्त्रों की रूपरेखा पर कुछ विचार किया जा सकता है ।

तन्त्रों के भेद : यों तन्त्र शब्द द्वारा अभिहित तन्त्र छः प्रकार के होते हैं— वस्तुतन्त्र, मार्गतन्त्र, फलतन्त्र, मनोगततन्त्र, शब्दमयतन्त्र और शास्त्र या ग्रन्थ के रूप में उपनिबद्ध तन्त्र[२] । इनमें से यहां शास्त्र के रूप में उपनिबद्ध तन्त्र की ही चर्चा करना अपेक्षित है । तदनुसार तन्त्रों का भेद अनेक प्रकार से किया जाता है । जैसे साध्य इष्टदेव के आधार पर तारा तन्त्र, यमान्तक तन्त्र, वज्रपाणि तन्त्र, वैष्णव तन्त्र, शैव तन्त्र, हयग्रीव तन्त्र इत्यादि । विषय की दृष्टि से जैसे- दुर्गतिपरिशोधनतन्त्र, गुह्यसमाजतन्त्र आदि । इस प्रकार भेदों के आधार पर तन्त्रों का कोई सुनिश्चित वर्गीकरण नहीं हो पाता । हिन्दू तन्त्र, बौद्ध तन्त्र, वैदिक तन्त्र जैसे सम्प्रदायों के आधार पर भी तन्त्रों का वर्गीकरण बहुत स्पष्ट नहीं होता, क्योंकि बहुत से तन्त्र दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से विद्यमान हैं । जैसे तारातन्त्र, देवतीतन्त्र, कालीतन्त्र, कापालिक आदि । इन तन्त्रो के साथ

---

१. (क) द्रष्टव्य-सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र = तन्त्र० 'व' पुट, का-ग्युर । तो० सं० ८०५, (व ११८a-१४०b) ।
(ख) 'योन्तन ज़ोद् की व्याख्या'-योन्तन ग्याछो-सुङ् 'हूँ' पुट, भाग-2

२. योन्तन ज़ोद् (गुणरत्न कोश), भाग-२, पृ० २९, व्याख्या, पृ० ४०

जो सांप्रदायिक कहानियां जोड़ दी गई हैं, वे सब सम्प्रदाय वालों की अपनी चीजें है । उन तन्त्रों से इन कहानियों का खास संबन्ध नहीं होता ।

सामान्यतया तन्त्रों को हम चार भागों में बांट सकते हैं, जैसे समाधि, वायु, बिन्दु आदि आन्तरिक क्रिया-कलापों एवं भावनाओं की अपेक्षा स्नान, होम आदि बाह्य कर्मकाण्ड की प्रधानता वाले तन्त्र, दोनों ही प्रकार के क्रियाकलापों में बराबर बल देने वाले तन्त्र, बाह्य होम आदि कर्मकाण्ड की अपेक्षा आन्तरिक योगाभ्यास पर अधिक जोर देने वाले तन्त्र और बाह्य कर्मकाण्ड को त्याग कर विभिन्न आध्यात्मिक क्रियाओं के आधार पर ही परम पद की प्राप्ति पर विशेष बल देने वाले तन्त्र । इस प्रकार की भेदक रेखाओं की चर्चा यद्यपि बौद्ध तन्त्रों में ही मिलती है, पर उक्त प्रकार के भेदक धर्म बौद्ध एवं हिन्दू या बौद्धेतर दोनों में ही पाये जाते हैं ।

तन्त्रों का भेद या वर्गीकरण साम्प्रदायिक संस्करणों के आधार पर भी देखा जा सकता है । जैसे जिन तन्त्रों की साधनानुष्ठान आदि व्यवस्था में हिन्दू या जैन संस्करण स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, उसे हिन्दू तन्त्र या जैन तन्त्र कहा जा सकता है । इसी प्रकार जिन तन्त्रों में बौद्ध संस्करण दृष्टिगत होता है, उसे बौद्ध तन्त्र । तदनुसार सूफी तन्त्र, विश्मिल्ला तन्त्र आदि । सांस्कृतिक दृष्टि से उपर्युक्त सभी तन्त्र किसी न किसी रूप में भारतीय संस्कृति से जन्में तन्त्र प्रतीत होते हैं । सूफी तन्त्र भी प्राचीन बौद्ध तन्त्रों की एक प्रशाखा औडियान के आचार्य कम्बलपाद की परम्परा का संस्करण प्रतीत होता है । इन तन्त्रों के ऐतिहासिक पक्ष अभी बहुत स्पष्ट नहीं हैं और इनकी चर्चा करना यहां अपेक्षित भी नहीं है । यहां बौद्ध तन्त्र माने जाने वाले शास्त्रों के एक दो बिन्दुओं पर ही संक्षिप्त चर्चा करनी है ।

बौद्ध तन्त्र : सामान्यतः मानव संस्कृति के दो पहलू होते हैं— ज्ञान पक्ष एवं व्यवहार पक्ष । इन्हीं दो पहलुओं के प्रमुख तत्त्वों को एक आदर्श रूप देकर अलग-अलग युगों में नये-नये धर्मों और दर्शनों का जन्म हुआ करता है । तदनुरूप बौद्ध धर्म भी उत्तर वैदिक कालीन भारतीय संस्कृति से उपजा एक धर्म था । इसका जन्म धार्मिक कर्मकाण्डों के रूप में न होकर एक सुचिन्तित सांस्कृतिक क्रान्ति के रूप में हुआ है । समय के साथ तात्कालिक

भारतीय तान्त्रिक संस्कृति भी, जो व्यापक रूप से जनजीवन में अनुस्यूत थी, उक्त क्रान्ति से अछूती नहीं रह पाई । लगभग सभी भारतीय तन्त्र भगवान् बुद्ध के उपदेशों से संस्कृत होकर बौद्ध वाङ्मय में आ पहुँचे हैं ।

बुद्ध ने विनेयजनों के आशय एवं अध्याशय के अनुसार नाना प्रकार की देशनाएं दी हैं । उनकी समस्त देशनाएं यान की दृष्टि से दो ही भागों में संगृहीत होती है— हीनयान और महायान या श्रावकयान और बोधिसत्त्वयान । बोधिसत्त्वयान के भी आभ्यन्तर दो भेद हैं— पारमितायान एवं तन्त्रयान या मन्त्रयान । जैसे अनुत्तरतन्त्रावतार में कहा है— "बोधिसत्त्वयान दो प्रकार का है, भूमि एवं पारमिताओं का यान और फलगत मन्त्रयान" ।

तन्त्र और तन्त्रयान : तन्त्र का शाब्दिक अर्थ तन्तु या अविच्छिन्न परम्परा है, अर्थात् अनेक चीजों को एक साथ पिरोकर एक निश्चित परिणाम तक पहुँचाना या पहुँची अवस्था को तन्त्र कहा जाता है । इसी अर्थ को विशिष्ट करके एक सुनिश्चित विधि के अनुसार नाना प्रकार की साधना-प्रक्रियाओं को एक साथ पिरोकर विनेयजन या साधक की स्कन्धसन्तति को एक सुनिश्चित अवस्था तक पहुँचाने की मन्त्र आदि क्रिया-परम्पराओं या पहुँची अवस्था को यहां "तन्त्र" कहा गया है । इन प्रक्रियाओं को सही दिशा देकर अपने गन्तव्य स्थान या अवस्था तक पहुँचाने वाले बोधिचित्त को "तन्त्रयान" कहा जाता है । यद्यपि बौद्धेतर सम्प्रदायों में भी अनेकानेक तान्त्रिक साधनाएं विद्यमान है, पर उनमें यान की व्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती । तन्त्र के साथ "यान" की व्यवस्था संभवतः बौद्धों का अपना ही संस्करण है ।

यहाँ तन्त्रयान, मन्त्रयान, वज्रयान, गुह्ययान, फलयान आदि सब पर्यायवाची शब्द[१] हैं । मन्त्र का अर्थ मन का त्राण करना है । यहां "मन्" से तात्पर्य रागादि क्लेशों (मलों) से कलुषित एवं पीड़ित मन है । उसको विभिन्न प्रकार की तान्त्रिक क्रियाओ एवं विधिविधानों के आधार पर उक्त रागादि क्लेशों की पीड़ा से मुक्त करना और

१. (क) द्रष्टव्य—श्रद्धाकर वर्मा का अनुत्तरतन्त्रार्थ अवतार, पृ० १०६, तन्युर 'चु' पुट ।
(ख) सन्धिनिर्मोचनसूत्र, वहीं उद्धृत ।

कराना यहाँ "त्र" (त्राण) का अभिप्रेत अर्थ है । इस प्रकार के उपायों से युक्त मार्ग या ज्ञान मन्त्रयान है । "मन्" का दूसरा अर्थ सहज सुख से सम्पन्न तत्त्वज्ञान है । "त्र" का अभिप्रेत अर्थ सभी सत्त्वों (=जीवों) को सांसारिक दुःखों से त्राण चाहने वाली महाकरुणा है । इन दोनों के युगल मार्ग को तन्त्रशास्त्रों में मन्त्रयान कहा गया है । मन्त्र का तीसरा अर्थ गोपनीय मन्त्रणा भी है । तान्त्रिक साधना एवं शिक्षा-दीक्षा सुयोग्य पात्र या अधिकारी को ही दी जाती है । इसके अलावा दृष्टि एवं चरित्र से भ्रष्ट साधारण लोगों के लिये ये गोपनीय होते हैं और ये उनसे गुप्त रखी जाती है । साथ ही गोपनीय विधि के अनुसार साधना करने पर ही उससे फल या सिद्धि का लाभ होता है, अन्यथा कदापि नहीं होता । इसी अर्थ में इसे मन्त्रयान और गुह्ययान कहा गया है । इसे "वज्रयान" भी कहा जाता है । इस सम्बन्ध में पुष्पांजलि नामक तन्त्रशास्त्र में कहा है —

"समस्त पारमिताओं का संगृहीत रूप दानादि छः पारमिताएं हैं । छः पारमिताओं का भी और संक्षेप करें तो प्रज्ञा एवं उपाय इन दो ही में संगृहीत होते हैं । इन दोनों का एक ही रस में समावेश करने से बने स्वभाव वाले ज्ञान को तन्त्रशास्त्रों में "बोधिचित्त" कहा गया है और इसी को "वज्रसत्त्वसमाधि" भी कहा है । अप्रतिभेद्य ज्ञान होने से इसे "वज्र" कहा है और यह ज्ञान सम्बद्ध साधक को अपने प्राप्तव्य पद तक ले जाने वाले यान का भी काम करता है, इसलिये इसे "वज्रयान" कहा जाता है[१] ।

इस यान को प्रकारान्तर से फलयान भी कहते हैं, क्योंकि इस यान की साधना के अनुष्ठान में प्राप्तव्य फल रूपकाय एवं धर्मकाय दोनों के सारूप्यहेतु विद्यमान रहते हैं । यद्यपि धर्मकाय के सारूप्यहेतु तत्त्वज्ञान की भावना पारमितायान में भी रहती है, पर वह ज्ञान उपेक्षावेदना से सम्प्रयुक्त होने के कारण साधक के मन को नियन्त्रित करने में उतना सक्षम नहीं होता । तन्त्रयान में प्राप्तव्य रूपकाय के सारूप्यहेतु अपने शरीर को इष्टदेवता के रूप में परिणत कर उसमें विहित रतिक्रियाओं की सहायता से जनित सुख-संवेदनाओं से सम्प्रयुक्त तत्त्वज्ञान की भावना का प्रावधान होता है । यह भावनामय ज्ञान साधक के मन को नियन्त्रित करने में अत्यन्त सक्षम होता है । इसी

---

१. पुष्पांजलि, उद्धृत ङग् रिम०, पृ० १२-१३, 'ग' पुट, चोङ्खा० ।

विशेषता के कारण यह "ज्ञान" पारमितायान में निर्दिष्ट ज्ञान से अत्यन्त भिन्न हो जाता है । इसी ज्ञान से युक्त दिव्य शरीर की भावना या इन दोनों की युगलभावना को फलानुरूप मार्ग या फलानुरूप साधनानुष्ठान कहा गया है । इसे फलयान नाम से भी जाना जाता है ।

वज्रयान की देशना : यह तो कहा जा चुका है कि बुद्ध ने विनेयजनों की योग्यता के अनुरूप ही देशनाएं दी है । जो लोग सांसारिक दुःखों से अत्यन्त भयभीत होकर शीघ्रातिशीघ्र इस संसार से छुटकारा चाहते हैं, उन लोगों के लिये उन्होंने श्रावकयान की देशना दी है । जो लोग स्वयं सांसारिक दुःखों से दुःखी होने की अपेक्षा दूसरों के दुःख से अत्यधिक दुःखी होकर उन दुःखी लोगो के दुःख को दूर करने के इच्छुक करुणार्द्रहृदय बोधिसत्त्व स्वरूप हैं, जो सांसारिक दुःखों से नहीं डरते, उन लोगों के लिये उन्होंने पारमितायान की देशना दी है । उन बोधिसत्त्वों में से बहुत सारे बोधिसत्त्व ऐसे भी होते हैं, जो सांसारिक दुःखों से तो नहीं ही डरते, साथ ही सांसारिक दोषों एवं दुःखों के कारणभूत रागादि क्लेशों का भी अपने मार्गानुष्ठान के रूप में उपयोग कर अतिशीघ्र जगत् के महानायक बुद्धत्व पद को पाना चाहते हैं, उन लोगों के लिये उन्होंने वज्रयान या तन्त्रयान की देशना दी है ।

बौद्ध तन्त्रों के आभ्यन्तर भेद : बुद्ध या वज्रधर आदि के द्वारा उपदिष्ट बौद्ध वाङ्मय में समाविष्ट तन्त्रों को चार भागों में विभक्त माना गया है, क्योंकि शास्ता ने चार प्रकार के अधिकारियों के अनुरूप तन्त्रों की देशना चार मुद्दों के आधार पर दी है । जैसे अनुत्तरतन्त्रार्थावतार में कहा है—

"सामान्यतः गुह्यतन्त्र या फलगत वज्रयान में अवतरण के चार द्वार हैं— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र"[१] । इसी प्रकार सम्पुटतन्त्र के छठे पटल के तृतीय परिच्छेद में भी कहा गया है— "परिहास, पाणिग्रहण, युगलपरिरम्भ और कीटक न्याय से तन्त्र चार ही प्रकार के होते हैं"[२] । यही बात वज्रपंजरतन्त्र[३],

१. योन्तन ज़ोद्० टीका, पृ० ७, ख्येन-चे ल्हा-'ख' पुट ।
२. तो० स० ३८१ (य ७३-१५८) ।
३. तो० स० ४१९ (ङ ३०-६५) ।

वज्रगर्भालंकारतन्त्र[१] आदि में भी कही गयी है । उक्त भेदों का वर्णन "तन्त्र" शब्द के द्वारा अभिहित चारों तन्त्रों को लेकर किया गया है, अर्थात् यहां चार तन्त्रों से तात्पर्य वस्तुतन्त्र, मार्गतन्त्र, फलतन्त्र और शास्त्रतन्त्र से है । इन्हीं चारो को तन्त्रों में तन्त्र शब्द द्वारा अभिहित किया जाता है । इन चारों शास्त्रों का वर्गीकरण उक्त क्रिया आदि चार भागों में ही किया जाता है । भोटदेशीय ञिङ्मा परम्परा के अनुसार उक्त क्रिया आदि चारों के साथ अनुयोग, महायोग और अतियोग— इन तीन तन्त्रों को समाविष्ट कर तन्त्रों के विशेष वर्गीकरण की भी पद्धतियाँ हैं[२], पर उक्त तीनों तन्त्रों के अनुत्तर तन्त्र के अवान्तर भेद होने से तन्त्रों के वर्गीकरण में चार से अधिक भेद होने का दोष नहीं आता । अन्य तन्त्रों की चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है । यहाँ अब क्रिया एवं चर्या तन्त्रो का ही संक्षेप मे विवरण दिया जा रहा है ।

क्रियातन्त्र

यहां क्रिया से तात्पर्य स्नान, होम आदि बाह्य क्रिया अनुष्ठान है । यह इस प्रकार है— जिस साधक के लिये समाधि द्वारा निर्मित देवियों के हास्य-व्यंग्य आदि रतिभावों एवं उद्दीपक रूपों को देखने से उत्पन्न सुखों से संयुक्त एवं सम्प्रयुक्त तत्त्वज्ञान के साथ अपने साधन के लिये सात्त्विक भोजन, दानादि कार्य, व्रतादि अनुष्ठान, यज्ञादि कर्मकाण्ड, तीनों कालों में अलग-अलग तीन शारीरिक शुद्ध वस्त्र, आचरण शील का शुद्ध वस्त्र और चित्त का शुद्ध वस्त्र समाधि बराबर धारण करते हुए उन सभी की शुद्धता पर विशेष ध्यान देना, मन्त्राधिष्ठित जल से समय पर स्नान करना, कौल देवमुद्राओं के द्वारा अपने मस्तक आदि मर्म-स्थानों को अधिष्ठित करना आदि बाह्य आचरण सम्बन्धी नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं का अनुष्ठान अनिवार्य रूप से करने का निर्देश जिन तन्त्रों मे होता है, उसे क्रियातन्त्र कहा जाता है ।

क्रियातन्त्र के अवान्तरभेद : क्रियातन्त्र मे दो प्रकार के कुलों का उल्लेख मिलता है— तथागत आदि तीन अलग-अलग कुल एव

---

१. तो० सं० ४५१ (छ ३६a-५८b) ।

२. "मनङग्-तठेङ्"-पृ० ३-६, पद्मसम्भव कृत । यह ग्रन्थ रोङ् सोम छोस् ज़ङ् का बुम में प्राप्त है ।

तीनों का एक सामान्य कुल । इनमें से पहला तथागत कुल आठ प्रकार का होता है— १. तथागत-प्रमुखकुल, २. तथागत-अधिपतिकुल, ३. तथागत-मातृकुल, ४. तथागत-उष्णीषकुल, ५. तथागत-क्रोधगणकुल, ६. तथागत-कौलिक आज्ञाकारी दूतगण, ७. तथागत-कौलबोधिसत्त्वगण, ८. तथागत-कौलनाग एवं यक्षगण ।

तथागत कुल : तथागत आदि तीन अलग-अलग कुलों में तथागत कुल, पद्म कुल और वज्र कुल तीन प्रकार के होते हैं। इनमें से पहला तथागत कुल आठ प्रकार का होता है, यह कहा जा चुका है ।

पहले तथागत-प्रमुखकुलतन्त्र के प्रधान मण्डलेश्वर शाक्यमुनि हैं । उन्होंने मण्डल के परिवारों के बिना अनुरोध के अक्षरशतक एवं उसकी अनुशंसा की देशना दी है । तत्पश्चात् परिवारों के अनुरोध पर मण्डल-निर्देश के साथ "त्रिसमयव्यूहराजतन्त्र" की देशना दी जाती है । बृहत्, मध्य एवं लघु तीन प्रकार के सुवर्णप्रभास नामक शास्त्र भी उसी तन्त्र के अनुगत तन्त्र माने जाते हैं ।

दूसरे तथागतकुलाधिपति तन्त्र के प्रधान आर्यमञ्जुश्री हैं । इन्होंने बृहत् मञ्जुश्रीमूलकल्प (मूल संस्कृत में प्राप्त ग्रन्थ में ५५ पटल हैं और भोटभाषा में अनूदित ग्रन्थ छत्तीस पटलात्मक हैं), तथा चार पटलात्मक मञ्जुश्री-एकवीर तन्त्र का उपदेश किया है । इस तन्त्र के चार पटलों में क्रमशः बुद्ध-बोधिसत्त्वों पर आधृत स्वप्नकल्प, वज्रपात से रक्षाहेतु कर्मप्रयोग, नौ माण्डलिक परिवार वाले जम्भल की साधना-विधि का निर्देश, तारा एवं कुरुकुल्ला के आधार पर वशीकरण का विधान और यक्ष एवं यक्षिणीचक्र से सम्बद्ध रक्षाचक्र-सम्पुटित करने वाली विधियों का निर्देश है । दो भैषज्य साधन-विधियों को भी इस तन्त्र के अन्तर्गत माना जाता है ।

तीसरे तथागत मातृकुल की प्रमुख देवियां हैं— मारीचिका एवं पंच धारणी विद्याएं । मारीचिका से सम्बद्ध धारणी एवं उसकी साधनाविधियों की परम्परा प्रचलित है । मारीचिका से सम्बद्ध "मायानुकारक" नाम का एक तन्त्र भी मिलता है, पर उसमें नाडी, वायु, बिन्दु, उत्पत्तिक्रम और सम्पन्नक्रम जैसे अनुत्तर योगतन्त्र के तत्त्वों का विवरण उल्लिखित है । इसलिये विज्ञ जन इसे क्रियातन्त्र के अन्तर्गत नहीं मानते । पंचधारणी विद्याओं में से महाप्रतिसारिणी, महामायूरी, शीतवनी (=खण्डवनी), मन्त्रानुग्राहिणी और महासहस्रप्रमर्दनी

आती है । इन नामों से जाने गये धारणी तन्त्रों के साथ तदधिष्ठात्री देवियों या विद्याओं को भी इन्हीं नामों से जाना जाता है । इन धारणी-तन्त्रों पर आचार्य रत्नाकरशान्ति कृत साधनाविधि एवं सम्बन्धित टिप्पणियाँ उपलब्ध हैं[१] । आचार्य जितारिकृत अलग-अलग धारणियों की साधना-विधियाँ भी प्राप्त हैं[२] ।

चौथे तथागतकुल उष्णीषतन्त्र में उष्णीषविजय, उष्णीषश्वेतध्वज, उष्णीषविमला, उष्णीषज्वाला आती हैं । इनकी देशना देवेन्द्र शक्र के निवेदन पर भगवान् ने त्रायस्त्रिंशत् लोक मे दी है । उष्णीष श्वेतध्वज के अन्तर्गत अपराजित, परमसिद्धि और देवभूमि से लाये गये बिना उदान वाले उष्णीषतन्त्र— ये तीन तन्त्र आते हैं । इन उष्णीष कौल तन्त्रों पर आचार्य शूरंगम वर्मा आदि भारतीय आचार्यो की बहुत सी कृतियां विद्यमान हैं[३] । इनमे से उष्णीषज्वाला को, जो मञ्जुश्रीमूलकल्प के प्रथम पटल से सम्बद्ध माना जाता है, छोड़कर शेष सभी ग्रन्थों का मूल संस्कृत प्राप्त नही है । भोट अनुवाद मात्र उपलब्ध है ।

पाँचवें तथागतकुलक्रोध-क्रोधी वर्ग में मुख्य रूप से त्रिलोकविजयरहस्यकल्प, संचोदिनीदेवीधारणी (चुन्दाधारणी), ये दो तन्त्र आते हैं । छठे तथागतकुल के आज्ञाकारीदूत वर्ग मे (=दूतगण) पर्णशबरी धारणी, शबर पर्णवसन कल्पतन्त्र आदि आते है । सातवे तथागतकौल बोधिसत्त्व गण में मुख्यतया आर्य अवलोकितेश्वरनामशतक आदि तन्त्र आते है । आठवे तथागतकुल के नाग एव यक्षो के गण में वासुदत्ततन्त्र, अमृतसम्भवतन्त्र आदि मुख्य है ।

पद्मकुल : कौलों के क्रम में तथागत कुलों के बाद पद्मकुल आता है । इसमें भी १. पद्मकुलप्रधान, २. पद्मकुलाधिपति, ३. पद्मकुलमातृ, ४. पद्मकौल क्रोधक्रोधीगण और ५. पद्मकुल के आज्ञाकारी दूतवर्ग, ये पांच विभाग है ।

पहले पद्मकुल का प्रधान अमितायु है । अमितायुतन्त्र के अन्तर्गत इस समय तीन तन्त्र मिलते है । इनमे से दो की देशना देवलोक में, अर्थात् त्रायस्त्रिशत् लोक मे हुई है और तीसरे की देशना

१-३. तन्युर, तन्त्र वर्ग । विस्तृत जानकारी के लिये द्रष्टव्य—पञ्छेन सोद्-डग-कृत सामान्य तन्त्रव्याख्या ।

सुखावती लोक में दी गई है, जिसको अमृतदुन्दुभिघोष तन्त्र कहा जाता है ।

दूसरे पद्मकुल के कुलाधिपति आर्यावलोकितेश्वर हैं । इनसे सम्बद्ध तन्त्रों में प्रमुख आर्यावलोकितेश्वरपद्मजालतन्त्र आता है । यह तन्त्र बारह हजार श्लोक परिमाण का था, पर इस तन्त्र के तीन परिच्छेदों का भोट अनुवाद नहीं हुआ । इस बृहत् तन्त्र से संकलित एक लघुतन्त्र भी है, जो एक हजार श्लोक परिमाण का है । इसकी विशेषता यह है कि इसमें आर्य लोकेश्वर को प्रमुख मण्डलेश्वर बनाकर एक हजार दो सौ सत्ताईस (१२२७) अलग-अलग मण्डल एव देवपरिवार वाली साधना, मण्डल साधना, अभिषेक, पूजा, जाप, होम, समाधि आदि के विधानों का विस्तृत निर्देश है । उनके अतिरिक्त लोकेश्वरसिंहनाद धारणी के बृहत् एवं लघु दो तन्त्र, लोकेश्वर एकादशमुखी कल्पतन्त्र, जिसका आंशिक रूप से भोट अनुवाद हुआ है, इस पद्मकौल तन्त्र में समावेश है ।

तीसरे पद्मकुल की मातृतन्त्र की प्रमुख देवी आर्यतारा है । तारातन्त्रों में पंचत्रिंशत् तन्त्र अर्थात् पैतीस परिच्छेद वाला तन्त्र प्रमुख है । इसमें एक सौ आठ अलग-अलग मण्डलों का निर्देश है । वर्तमान एकविंशतितारास्तोत्र, जो सम्यक् सम्बुद्ध वैरोचन द्वारा उपदिष्ट है, संस्कृत में उपलब्ध है[१] और यह उक्त बृहत् तन्त्र का तीसरा परिच्छेद है ।

चौथे पद्मकौलक्रोध-क्रोधी वर्ग में प्रमुख देव हयग्रीव है । इससे संबद्ध हयग्रीव बृहत् तन्त्र का भोट अनुवाद प्राप्त नही है और न इसका मूल सस्कृत ही । इस तन्त्र के होने का मात्र विवरण मिलता है । इस समय भोट अनुवाद के रूप मे प्राप्त जो हयग्रीव तन्त्र है, वह हयग्रीव लघुतन्त्र है, ऐसा माना जाता है ।

पाँचवे पद्मकौलआज्ञाकारी दूत वर्ग मे प्रमुख देवी महालक्ष्मी आती है । इससे सम्बद्ध तन्त्र महालक्ष्मीतन्त्र है । कभी इसे महाश्रीतन्त्र भी कहा जाता है । इस कौल तन्त्र मे यही मूल तन्त्र है ।

---

१. यह स्तोत्र 'धीः' अङ्क २, पृ० १-३ मे प्रकाशित है । इसका भोट अनुवाद हिन्दी अनुवाद के साथ 'विद्याभारती' के आठवे अक मे प्रकाशित है ।

वज्रकुल : पद्मकुल के बाद तीसरे में वज्रकुल आता है । इसमें भी वज्रकुलप्रधान, वज्रकुलाधिपति आदि पांच प्रकार के कौल तन्त्र आते हैं । इनमें सबसे पहले वज्रकुलप्रधान के प्रमुख मण्डलेश्वर के रूप में तथागत अक्षोभ्य आते हैं । अक्षोभ्य तन्त्रों में दुर्गतिपरिशोधन-मण्डल निर्देशतन्त्र प्रमुख है । दूसरे वज्राधिपति कुल के प्रमुख वज्रपाणि हैं । वज्रपाणितन्त्रों मे वज्रपाणिमूलतन्त्र, भाष्यतन्त्र और वज्रपाणि उत्तरतन्त्र प्रमुख हैं । वज्रपाणिभूतप्रमर्दनी तन्त्र, वज्रविमर्दन तन्त्र भी इसी कौल तन्त्र में आते हैं । आचार्य बुद्धगुह्य के अनुसार वज्रविमर्दन तन्त्र की देशना वज्रासन (बुद्धगया) में, जो लोग मानते हैं, न होकर यह सुमेरु पर्वत के दक्षिण-पूर्वी भाग वज्रगिरि के आन्तरिक स्थान विद्याधरों के प्रदेश में हुई है । प्राप्त वज्रविमर्दन तन्त्र एक लघुतन्त्र है । इसका बृहत् तन्त्र एक सौ आठ पटल परिमाण का है, ऐसा विवरण मिलता है ।

तीसरे वज्रकुल की मातृदेवियों की प्रमुख अग्निशिखा-प्रज्वालिनी है । इस नाम से एक ही तन्त्र मिलता है । चौथे वज्रकुल के क्रोध-क्रोधी गणो के प्रमुख महाक्रोधामृतोपाय योग है । अमृतोपाययोगतन्त्र इसी कुल का मुख्य तन्त्र है ।

पाँचवें वज्रकुल के आज्ञाकारी दूतगण की प्रमुख "महाबला" है । महाबलतन्त्र, तीक्ष्णवज्रतुण्डतन्त्र, वज्र-अंकुश तन्त्र, वज्रगरुडपर्णतन्त्र आदि भी इस कौल तन्त्र के अन्तर्गत आते हैं ।

सामान्य कुल : तथागत कुल आदि तीनों कुलों के अलग-अलग तन्त्रों के बाद तीनों प्रकार के कुलों के सर्वसामान्यविषयक तन्त्रो का भी एक समूह मिलता है । इनमें संसिद्धितन्त्र, सर्वसामान्यगुह्यतन्त्र, सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तरतन्त्र मुख्य है । विशेष कर सर्वसामान्यगुह्यतन्त्र (गुह्यसर्वसामान्यतन्त्र) में भूमिशोधन विधि से लेकर अभिषेक पर्यन्त सभी तन्त्रों के सर्वसामान्य मण्डलों का विधान और उपर्युक्त तथागत आदि तीनों कौल तन्त्रों से सम्बद्ध तीन हजार पाँच सौ (३५००) मण्डलों की विविध विधियों का निर्देश मिलता है ।

संसिद्धियोगतन्त्र में महाक्रोधसंसिद्धि की साधना और उपासना से सम्बद्ध कर्मकाण्डों का निर्देश है । सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र में उपर्युक्त विभिन्न मण्डलों के देवताओं के मन्त्र, जाप, जाप की नियत सख्या, शमीकरण, वशीकरण आदि कर्मप्रसर की साधना, उनकी विधि जैसी

विविध क्रियाओं का निर्देश है । तीसरे ध्यानोत्तरतन्त्र में चतुरंगी ध्यान की बात कही गयी है । ये है— जाप ध्यान, अग्निस्थित ध्यान, नादस्थित ध्यान, नादान्त मोक्षदायिनी ध्यान । इसके अतिरिक्त इसमे उक्त चतुरंगी ध्यानों के पूर्व और पश्चात् की जाने वाली विधि-निषेध क्रियाओं के विधानों का उल्लेख है । साथ ही इसमें सिद्धिलाभ के हेतु की जाने वाली यज्ञ, व्रत आदि क्रियाओ और साधना-विशेष के लिये निर्दिष्ट पीठों का भी वर्णन है ।

चर्यातन्त्र

तन्त्रों की देशना के क्रम में क्रियातन्त्र के बाद चर्यातन्त्र आता है । यहाँ चर्या से तात्पर्य विधिबिहित तान्त्रिक चर्या है । चर्या अथवा चारिका दो प्रकार की होती है— व्रत, स्नान, जाप आदि बाह्य शारीरिक चर्या और दूसरी छः प्रकार के इष्ट देवताओं का ध्यान तथा नाना प्रकार के निमित्तों, अर्थात् आलम्बनों पर केन्द्रित एकाग्र समाधि जैसी ध्यान-भावना की चारिका । चर्यातन्त्र के अनुसार इसके अधिकारी साधक को उक्त दोनों प्रकार की चर्याओ का समान रूप से अनुष्ठान करना होता है । अतः जिस तन्त्र में बाह्य क्रिया— जैसे स्नान, पूजा, मण्डल, होम, व्रत, जाप आदि विभिन्न समयों से सम्बद्ध कार्यों के साथ-साथ मैत्री, करुणा, शून्यता अदि की भावना भी समान रूप से करने का निर्देश हो और विशेष रूप से जिस तन्त्र में दिव्य ज्ञानमुद्राओं के साथ हास, व्यंग, पाणिग्रहण आदि रतिक्रियाओं की सहायता से जनित सुख संवित्ति से सम्प्रयुक्त अपने तत्त्वज्ञान को एक दिव्य शरीर वाले इष्टदेव के रूप में परिणत कर तदनुरूप नित्य-नैमित्तिक चर्या में प्रवृत्त होने का विधान हो, उसे चर्यातन्त्र कहा जाता है ।

चर्यातन्त्र के भेद : क्रियातन्त्र के ही समान चर्यातन्त्र भी तीन प्रकार के होते हैं । इनमें भी कुलों की दृष्टि से तीन कुल आते हैं— तथागतकुल, पद्मकुल एवं वज्रकुल । चर्यातन्त्रों के तथागतकुल तन्त्रों में प्रमुख वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र आता है । इस तन्त्र का मूल संस्कृत प्राप्त नहीं है, पर भोट अनुवाद प्राप्त है । इस तन्त्र की देशना बुद्ध ने वैरोचन बुद्ध के रूप मे प्रतिष्ठित होकर वैरोचन बुद्धक्षेत्र में, जिसका नाम "आश्रयसारविभूषणबुद्धक्षेत्र" भी है, दी है । इस बुद्धक्षेत्र को अन्यत्र कुसुमाश्रय सारालङ्कारव्यूह बुद्धक्षेत्र

भी कहा गया है[१] । अन्यत्र वैरोचनाभिसंबोधि तन्त्र की जो प्रति इस समय प्राप्त है, उसमें छब्बीस पटल हैं । इसका एक उत्तर तन्त्र भी है । इस बुद्धक्षेत्र को अन्यत्र "गुह्योत्तमक्रमविभग" नाम दिया गया है । इसके सात पटल हैं । यह अपूर्ण है । तीसरा तन्त्र अचलकल्प तन्त्र है । इसकी देशना "अकनिष्ठ क्षेत्र" में हुई है ।

चर्यातन्त्रों का दूसरा कौलतन्त्र पद्मकौल तन्त्र है । इस तन्त्र का प्रमुख ग्रन्थ 'बृहत् हयग्रीव महातन्त्र' है । इस तन्त्र का भोट अनुवाद नहीं हुआ है । इसका यदा कदा प्रासंगिक विवरण ही मिलता है । बुस्तोन ने इसके उपलब्ध न होने की सूचना दी है[२] ।

चर्यातन्त्र के तीसरे कौलतन्त्र विभाग में वज्रकुल के तन्त्र आते हैं । वज्रकुल के तन्त्रों में 'वज्रपाणि अभिषेक तन्त्र' प्रमुख है । इसकी देशना प्रथमतया कुसुमाश्रयसारालंकारव्यूह नामक बुद्धक्षेत्र में हुई है । तीसरे पटल से आगे अकनिष्ठ क्षेत्र में, जो शुद्धावास भूमियों की अन्तिम भूमि है, हुई है । दूसरा तन्त्र वज्रपाणि नीलाम्बर-वज्रपातालिक तन्त्र हैं । इसकी देशना "शिखावती क्षेत्र" में हुई है । एक दूसरे वज्रपालिक तन्त्र की, जो सात पटल वाला है, देशना भी सप्तम पाताल में ही हुई है । इसके पाँच पटल प्राप्त है । तीसरा तन्त्र 'त्रिभुवनचरी कल्प तन्त्र' है । इसमें पाँच पटल हैं । चौथा 'वज्रपाणि नीलाम्बर त्रिलोकमर्दनी तन्त्र' है । इसकी देशना शिखावती क्षेत्र में हुई है । इसमें भी पाच ही पटल हैं । अष्टदेवी धारणी नामक तन्त्र में प्रारम्भ का उदाहरण प्राप्त नहीं है । सम्भवतः यह तन्त्र वज्रपाणि अभिषेक तन्त्र की मातृसाधना का अंग है[३] ।

इस प्रकार चर्यातन्त्रों में वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र आदि आठ हजार तन्त्र हैं[४] । आचार्य श्रद्धाकर वर्मा के अनुसार इन तन्त्रों का संक्षेप आठ हजार श्लोक का माना जाता है । अन्यथा इन तन्त्रों का

---

१. बु-स्तोन, तन्त्रों का सामान्य भाष्य, पृ० ११६, 'व' पुट, वाल्यूम-१५

२. बु-स्तोन, तन्त्रों का सामान्य भाष्य, पृ० ११६, 'व' पुट, वाल्यूम-१५

३. द्रष्टव्य-बुस्तोन, तन्त्रों का सामान्य, भाष्य, पृ० १२२, 'व' पुट, वाल्यूम-१५

४. द्रष्टव्य-बुस्तोन, तन्त्रों का सामान्य, पृ० १२१, 'व' पुट, वाल्यूम-१५

विस्तार अपरिमित एवं अचिन्त्य है[१]। यहाँ उपलब्ध विवरणो के आधार पर चर्यातन्त्रों के संकलित ग्रन्थों की चर्चा की गई है। इन तन्त्रों की विषयगत विवेचना जैसे मुद्दों का इस लघुनिबन्ध में समावेश करना सम्भव नही है। उपर्युक्त तन्त्रो से सम्बद्ध साधना अनुष्ठान विधि, मण्डल विधि, अभिषेक विधि, कर्मानुष्ठान विधि, सिद्धि या वर साधना उपाय, यज्ञविधि, उत्पत्तिक्रम, सनिमित्तयोगसाधना, अनिमित्त-योगसाधना आदि विषयो से सम्बद्ध अनेकानेक भारतीय आचार्यो एव भोटदेशीय आचार्यो की कृतियाँ भी विद्यमान है। उक्त साधनानुष्ठानो की परम्परा भी येन-केन प्रकारेण आज तक भोटदेश में जीवित पायी जाती है।

क्रिया एवं चर्या-तन्त्रों का साधनानुष्ठान

सामान्यतया सभी तान्त्रिक साधनाए वज्रसत्त्व समाधि के अन्तर्गत या उसके ढांचे के अन्दर समाविष्ट होने के कारण यान की दृष्टि से सब समान ही होती है। इन तन्त्रो के मूल प्रयोजनों में भी कोई अन्तर नहीं होता है। अनुष्ठेय मार्गो की आभ्यन्तर विशेषताओं के आधार पर ही तन्त्रो का वर्गीकरण होता है। तदनुसार क्रियातन्त्र एव चर्यातन्त्रों के बीच एक खास भेदक रेखा आती है। वह यह है कि हास, परिरम्भण आदि रतिक्रियाओ को अनिमित्तादि ज्ञान यानी परमार्थ ज्ञान के द्वारा मुद्रित कर मार्ग के रूप मे उपयोग करना, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है। इसके अतिरिक्त अन्य साधनानुष्ठानों के ढाँचे में क्रियातन्त्र एव चर्यातन्त्रो मे विशेष अन्तर नही होता। अतः इन दोनों प्रकार के तन्त्रों से सम्बद्ध सामान्य साधनानुष्ठानों की यहां हम सक्षेप में चर्चा करेंगे।

उपर्युक्त तान्त्रिक साधकों को चार तथ्यों पर विशेष ध्यान देना होता है— १. पहला मार्गानुष्ठानों के लिये योग्यताहेतु अभिषेक, २. योग्य अधिकारी बन जाने के उपरान्त संवर एवं समय का संवरण एवं शुद्धीकरण, ३. संवर एवं समय में स्थिर होने पर साधना-उपासना मे प्रवृत्त होना, ४. इन उपायों के द्वारा काय, वाक् एवं चित्त की कर्मण्यता प्राप्त होने के उपरान्त सामान्य सिद्धि एवं परम सिद्धि आदि विभिन्न सिद्धियों के लाभहेतु किये जाने वाले कार्यो मे सलग्न हो जाना।

---

१. अनुत्तरतन्त्रार्थावतार, पृ० १०६, 'चु' पुट, देगे संस्करण, तन्ग्युर (तन्त्र)।

अभिषेक

उपर्युक्त दोनों तन्त्रों के अनुसार परीक्षित योग्य शिष्य को वांछित साधना में प्रवेश के लिये प्रथमतया मण्डल मे प्रवेश एव अभिषेक देना होता है । तदर्थ मण्डल निर्माण करना होता है । उसके लिये सबसे पहले भूमिशोधन कार्य आता है । उसके बाद क्रमशः मण्डल का निर्माण, मण्डल में प्रवेश का उपक्रम, विधिवत् मण्डल में प्रवेश का कार्य पूर्ण करना होता है । इन कार्यो को समानान्तर उपक्रम कहा जाता है । इन समानान्तर उपक्रमों के बाद मुख्य अभिषेक कार्य आता है । इसमें मण्डल मे प्रविष्ट शिष्य को क्रमशः पुष्पमाला–अभिषेक, कलश या जलाभिषेक, मुकुट–अभिषेक, वज्र एवं वज्रघण्टा–अभिषेक, नामकरण–अभिषेक— ये छः अभिषेक प्रदान किये जाते हैं । अन्त में समापन कार्य के रूप में— अनुज्ञा, व्याकरण एवं आश्वासन नामक अभिषेक प्रदान किये जाते हैं ।

वज्राचार्य अभिषेक

तान्त्रिक साधना में "वज्र" और "घण्टा" अत्यधिक महत्त्व रखते हैं । इन प्रतीकों की व्याख्या अलग–अलग तन्त्रों में अलग–अलग रूपों में मिलती है । वज्राचार्य इन्हीं दो तत्त्वों का सम्पुटित रूप होता है । अतः अभिषेक के उपक्रम में इनका एक अलग अभिषेक के रूप मे विधान होता है । क्रियातन्त्र एव चर्यातन्त्र के साधकों के लिये यह वज्राचार्य अभिषेक आवश्यक है या नही, इस सम्बन्ध में आचार्यो मे मतैक्य नही है । इन तन्त्रो के मर्मज्ञ आचार्यो मे आचार्य बुद्धगुह्य (=या बुद्धगुप्त) का नाम प्रथम पक्ति मे आता है । उनकी व्याख्या मे उक्त दोनो तान्त्रिक अभिषेकों के सन्दर्भ मे वज्राचार्य अभिषेक के होने का उल्लेख नही है । सिद्ध लावापा, आचार्य रत्नाकरशान्ति आदि भी उक्त तन्त्रों में निर्दिष्ट अभिषेको में वज्राचार्य अभिषेक की चर्चा नहीं करते और न ही वे स्वय ऐसा मानते हैं । परन्तु परवर्ती बगाल के महान् आचार्य जितारि ने क्रिया एव चर्यातन्त्र से सम्बद्ध अभिषेको में भी वज्राचार्य अभिषेक की बात कही है । इनकी कुछ परम्परा भी चली । फिर भी परवर्ती तान्त्रिक विशेषज्ञ उक्त आचार्य के वचनों को आभिप्रायिक ही मानते है और उसे शब्दशः ग्रहण नही करते ।

वास्तव में इन तन्त्रों के अभिषिञ्चन मे वज्राचार्य अभिषेक का समावेश नहीं होना चाहिये, क्योंकि इन तान्त्रिक साधनाओं में प्रज्ञोपाय की सम्पुटित रतिक्रियाओं को मार्गानुष्ठानों में प्रतिबद्ध करने का विधान नहीं है । यद्यपि यहा वज्राचार्य अभिषेक मानने वाले आचार्यो के मतानुसार प्रज्ञोपाय की युगल क्रियाओं मे आने वाली प्रज्ञा "कर्ममुद्रा" न होकर "ज्ञानमुद्रा" ही मानी जाती है, तथापि तज्जनित मानसिक आह्लाद से युक्त ज्ञान के मार्गीकरण का विधान इन तन्त्रों मे परिलक्षित नही होता । इसलिये इस मार्ग मे प्रवेश-हेतु वज्राचार्य अभिषेक यहां अपेक्षित नही है ।

मण्डल

यह तो कहा जा चुका है कि सम्बद्ध साधना की पात्रता या योग्यता प्राप्त करने के लिये अभिषेक लेना आवश्यक होता है । अभिषेक विधिवत् निर्मित मण्डल में ही होता है । इस मुद्दे को इंगित करने हेतु यहा मण्डलों के बारे मे कुछ संकेत कर देना आवश्यक है । यहां मण्डल से तात्पर्य देवमण्डल, अर्थात् इष्टदेव का मण्डल है । सामान्यतः मण्डलों का विचार आठ प्रकार के तथ्यों के आधार पर किया जाता है । यथा—स्वभाव, लक्षणभेद, निर्वचन, स्थापनाविधि, गुण, दोष, प्रतीकार्थ (अभिप्रेतार्थ) एव लक्षण ।

स्वभाव : मण्डलों के सम्बन्ध में सर्वप्रथम विचारणीय मुद्दा उसके स्वभाव का है । तात्त्विक दृष्टि से मण्डल का स्वभाव दो प्रकार का होता है— परमार्थ स्वभाव एवं सवृति स्वभाव । इस प्रकार मण्डल सत्यद्वयात्मक स्वभाव का होता है । मण्डलों के संस्थान, आकार, वर्ण, उसमें विभिन्न स्थानों मे विभिन्न प्रतीको का व्यूहन, मण्डलेश्वर, प्रमुख देवी-देवताओ का रूप, लीला, संवाद, वाद्ययन्त्र, पूजा-अर्चन, संगीत, भोगसामग्री आदि से, जो एक देवमण्डल के लिये अपेक्षित है, सजाया हुआ विमानगृह या प्रासादरूपी मण्डल का सांवृतिक स्वरूप है । यह देवप्रासाद या देवविमान रूपी मण्डल यद्यपि जड़ पदार्थों के द्वारा निर्मित प्रासाद की तरह से लगता है, पर तान्त्रिक साधकों के लिये यह जड़ पदार्थ न होकर ज्ञानात्मक या चित्तात्मक ही होता है । यह इसका दूसरे प्रकार का सावृतिक रूप है । इसी मण्डल के आधार पर साधक अपने कार्य-प्रसर विधियो को सम्पन्न करता है । मण्डल के रूप मे प्रतीयमान जिस ज्ञान की बात कही गई है, वह ज्ञान शून्यता या परमार्थ विषयक ज्ञान, अर्थात्

निःस्वभाव विषयक ज्ञान ही होता है । इस ज्ञान के प्रति मण्डल एक स्वभावशून्य धर्ममात्र होता है और यही उसकी धर्मता है । यही मण्डल का परमार्थिक स्वरूप है । इसका दूसरा स्वभाव परमार्थतः साध्य, साधक और साधनभाव से शून्य होता है । मण्डल का यह स्वरूप भी सत्यद्वयात्मक होता है ।

भेद : यद्यपि मण्डलों की संख्या एव अवान्तर भेद लाखों में नहीं, करोड़ों में माने जाते हैं, पर वर्गीकरण की दृष्टि से मण्डल तीन प्रकार के होते हैं—स्वभावगत मण्डल, समाधिगत मण्डल और रूपी मण्डल । इनमें से स्वभावगत मण्डल ज्ञानधर्मकाय आदि के स्वभावगत गुणव्यूह को कहते हैं । दूसरा समाधिगत मण्डल वह होता है, जो किसी अभिप्राय विशेष के कारण आचार्यो की समाधि के द्वारा निर्मित होता है । यह भावना द्वारा निर्मित मण्डल योगी के देह से बाहर भी हो सकता है, या देह के अन्दर भी । कभी-कभी योगी अपने देह के सभी अंग-प्रत्यंगों को भावना द्वारा मण्डल के विभिन्न अवयवों के रूप में परिणत करता है और उन अंगों-प्रत्यङ्गों से सम्बद्ध चित्त-चैतसिकों को मण्डलेश्वर एवं देवपरिवार आदि के रूप में प्रस्थापित कर अपने ही देह में सम्पूर्ण देवमण्डल उपस्थित कर देता है । रूपी मण्डलों की चर्चा ऊपर सांवृतिक मण्डल के सन्दर्भ में की जा चुकी है ।

निर्वचन : मण्डल शब्द का निर्वचन करते हुए शास्त्रों में कहा गया है कि मण्डं पातीति मण्डपः, अर्थात् "मन" से तात्पर्य मण्डप है । यद्यपि मंडप का सामान्य अर्थ वह स्थान है, जो चारों ओर छवाया हुआ होता है, पर यहां मण्डप शब्द एक विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त है । इसका शाब्दिक अर्थ है सम्पूर्ण मण्डल पर आधिपत्य प्राप्त करना । "डल" का शाब्दिक अर्थ है खंड या शाखा । इसका अभिप्रेत अर्थ है परिवार । दोनों शब्दों का संयुक्त अर्थ है— एक ही परिवृत जगह पर एक देवता को प्रधान बना कर उसी के चारों ओर विधिवत् बैठाया गया देवचक्रव्यूह । इसको तन्त्रशास्त्र में मण्डल कहा गया है । मण्डलों में नियुक्त देवी-देवताओं के स्वरूप में सिर-हस्त-पादादि से युक्त दिव्य शरीर वाले भी होते हैं, कभी खड्ग, कलश, खट्वांग, वज्र, गदा, पद्म आदि प्रतीकात्मक चीजें भी रखी जाती हैं । मण्डल शब्द का निरुक्तिगत अर्थ इस प्रकार है— इस शब्द में प्रयुक्त "मन" से तात्पर्य मण्डप यानी अखण्ड लोकातीत तत्त्व है । "डल" से तात्पर्य खंडित या लुंठित लोक होता है । इन दो

तत्त्वों के युगल उपयोग के आधार पर किये जाने वाले अनुष्ठानों के अधिष्ठान को "मण्डल" कहा जाता है ।

स्थापनाविधि : निर्वचन के उपरान्त मण्डलो की स्थापनाविधि का सन्दर्भ आता है । यह विधि अलग-अलग तन्त्रों में अलग-अलग होती है । केवल क्रियातन्त्रों में भी हम देखते हैं कि तथागत कौल तन्त्रो का मण्डल पद्म कौल तन्त्रों में निर्दिष्ट मण्डलों से 'बहुत भिन्न है । उसमें भी मण्डलेश्वरों की भिन्नता के कारण अनेकानेक भिन्न मण्डलों की निर्माण की विधियां आती हैं ।

गुण-दोषों की विवेचना : इनमें प्रस्थापित प्रतीकों का अभिप्राय और अभिप्रेत अर्थों की व्याख्या जैसे विषयों की विवेचना यहां विस्तार के भय से छोड़ी जा रही है । संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि साधकों की साधना की सफलता और विफलता उनकी साधना के आधारभूत मण्डलों की गुणवत्ता पर निर्भर करती है । यदि मण्डलों का कोई एक अग या एक छोटा सा अवयव या प्रतीक कहीं छूट जाता है या वह भ्रष्ट हो जाता है, तो साधक उस प्रतीक से सम्बद्ध "समय" से च्युत होकर उसके साधनापथ से भ्रष्ट हो जाता है और उस प्रतीक से सम्बद्ध सिद्धिलाभ की जगह वह महान् आपत्ति (पाप) का भागी होकर दुर्गति को पाता है । यदि मण्डलों की स्थापना सही ढंग से होती है, तो उसका पुण्य भी अपरिमित होता है । जहाँ तक प्रतीकों के अभिप्राय का प्रश्न है, मण्डलों के प्रत्येक अवयवों का अलग ही अभिप्राय होता है । जैसे मण्डल के चार द्वार होते है, वे चार ब्रह्मविहारों के प्रतीक होते हैं । उसकी चारों दिशाओं के अलग-अलग चार वर्ण होते है, वे आदर्श आदि चार ज्ञानों के प्रतीक होते हैं, इत्यादि । अभिप्रेत अर्थ साधक को उस मण्डल में प्रवेश लेकर अविद्या आदि अपने क्लेशों का आदर्श आदि संकेतित प्रतिपक्षी ज्ञानों के द्वारा प्रहाण करना होता है । अभिप्रेत अर्थ के बाद मण्डल का लक्षण आता है । मण्डल के लक्षण का तात्पर्य संक्षेप में यही है कि निर्मित या भाव्य मण्डल के स्वरूप को साधक की भावना में दिव्य भूमि या सुविशुद्ध भूमि के रूप में परिलक्षित करना । इन तत्त्वों की विस्तृत जानकारी के लिये आचार्य बुद्धगुह्य कृत धर्ममण्डलसूत्र[1], आचार्य

१. धर्ममण्डलसूत्र, पृ० १-१०, तन्युर, 'चु' पुट ।

चोङ्खा-पा कृत वज्रधरमार्गक्रम[१] आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिये ।

समय और संवर

क्रिया एवं चर्या तन्त्रों में निर्दिष्ट समय और संवर के प्रसंग में अन्य तन्त्रों के समान पंचकौलिक संवर एवं तत्सम्बद्ध समय का विधान प्राप्त नहीं होता । इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि इन तन्त्रों में निर्दिष्ट ज्ञानकायों में आदर्श आदि ज्ञानों की जो चर्चा की गई है, वे आदर्श आदि ज्ञान उन सहज ज्ञानों से प्रस्फुटित ज्ञान नहीं है, जिनका उत्पाद वज्राचार्य-अभिषेक के बाद सम्पुटित आह्लादमय ज्ञान से होता है । अतः इन तन्त्रों में निर्दिष्ट संवर का तात्पर्य बोधिसत्त्व संवर ही होता है । समय का तात्पर्य वज्रधर या किसी बुद्ध की आज्ञा-विशेष है, जिसका उल्लंघन करना किसी भी साधक के लिये सम्भव नहीं है । यदि उसका उल्लंघन हो जाता है, तो साधक सम्बद्ध साधना के फल को पाने की जगह अत्यन्त दुःख एवं दुर्गति को पाता है । उपर्युक्त तन्त्र से संबद्ध समय एवं संवर का विस्तृत वर्णन वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र[२], संसिद्धितन्त्र[३] आदि ग्रन्थों में मिलता है ।

साधना (उपासना) अनुष्ठान : क्रिया एवं चर्या से सम्बद्ध तान्त्रिक अनुष्ठानों को मुख्य रूप से दो भागों में बाँटा जाता है । यथा—सनिमित्त योग और अनिमित्त योग[४] । जो योग तत्त्वज्ञान या शून्यताज्ञान जैसी महामुद्राओं से मुद्रित नहीं होता, ऐसे योग को सनिमित्त योग कहा जाता है । इस योग के अन्तर्गत विभिन्न मण्डल, मण्डलेश्वर, नाना प्रकार के कुलदेवताओं की भावना, पूजा-अर्चना, मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, संवृति बोधिचित्त की भावना आदि ध्यानभावना, ऋद्धि प्रातिहार्य, वशिता आदि से सम्बद्ध समाधि आदि आते हैं । जो योग शून्यता ज्ञान, अनिमित्त ज्ञान आदि परमार्थ-विषय ज्ञान से संप्रयुक्त होता है, उसे अनिमित्त योग कहा जाता है । दूसरे शब्दों में शून्यता या अनिमित्त को आलम्बन बनाकर तत्समरस होकर

---

१. चोङ्खापा-सुङ्-बुम, 'ग' पुट ।
२. द्र०-भोटी अनु० का-ग्युर संकलन, तन्त्र वर्ग ।
३. द्र०-भोटी अनु० का-ग्युर, तन्त्र वर्ग ।
४. चोङ्खा-पा कृत-ङगस् रिम-छेनमो- 'ग' पुट ।

उदीयमान ज्ञान की प्रतीति को दिव्य-चक्रव्यूह के रूप में प्रस्थापित कर ध्यानभावना करना ही अनिमित्त योग कहलाता है ।

इन तन्त्रों की ध्यानभावनाओं में चतुरंग ध्यान आता है । इनमें से जाप ध्यान, अग्निस्थ ध्यान और नाद ध्यान ये तीनों ध्यान सनिमित्त योग में आते हैं । इनके बाद नादोत्तर मोक्षदायी ध्यान आता है । वह एक विशिष्ट प्रकार का अनिमित्त योग है । इन योगों से सम्बद्ध नाना प्रकार के उपक्रमों की विवेचना वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र एवं वज्रपाणि-अभिषेक तन्त्र में मिलती है । विशेष कर इस सम्बन्ध में आचार्य बुद्धगुह्य कृत वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र की व्याख्या सर्वमान्य है ।

योगानुष्ठान : अन्य तन्त्रों के समान क्रिया एवं चर्या तान्त्रिक प्रस्थानों में भी पूर्व उपक्रमों के पूर्ण होने के उपरान्त वास्तविक अनुष्ठानों के लिये दिव्य योग का अभ्यास करना आवश्यक होता है । सम्बद्ध तन्त्र-ग्रन्थों में दिव्य योग या देव योग छः प्रकार के बताये गये हैं, जैसे बृहद्वज्रविमर्दनतन्त्र[१] में कहा गया है— प्रथमतया साधक योगी को अधिष्ठित जल-साधनों से स्नान कर वज्रासन पर विधिवत् बैठना चाहिये । तदुपरान्त पूजा एवं अर्चना (प्रार्थना) आदि करनी चाहिये । तत्पश्चात् समाधिस्थ होकर साधक को षड्देवताओं की भावना करनी चाहिये । इस वचन के अनुसार साधकों को सनिमित्त उपचार ध्यान आदि के बाद परम सिद्धि के लिये अनिवार्य रूप से छः प्रकार के देवयोगों का अभ्यास करना होता है ।

षड्देवयोग : यहां देवयोग से तात्पर्य देवता के नाम से निर्दिष्ट छः प्रकार के आलम्बनों पर समाधि लगाना है । देव के नाम से निर्दिष्ट छः आलम्बन इस प्रकार हैं— तात्त्विक-देवता, नाद-देवता, अक्षर-देवता, रूपी-देवता, मुद्रा-देवता और नैमित्तिक-देवता । इनमें से पहला तात्त्विक-देवता उसे कहते हैं, जो समाधिगत प्रक्रियाओं के द्वारा उत्पन्न भाव्य किसी इष्टदेव को सम्पूर्ण मण्डल परिवारों के साथ प्रस्थापित करने के उपरान्त पुनः उसे स्वभाव-शून्य आदि मन्त्रों के द्वारा शून्यता में विलीन कर साधक अपने पंचस्कन्धात्मक स्वरूप की शून्यता एवं उक्त इष्टदेव की शून्यता, दोनों

---

१. यह तन्त्र बहुत समय से प्राप्त नहीं है, पर उक्त तन्त्रवचन आचार्य बुद्धगुह्य की ध्यानोत्तर तन्त्र की व्याख्या में उद्धृत है । द्रष्टव्य—तन्ग्युर संग्रह (तन्त्र वर्ग) ।

की अभिन्न समरसता को आलम्बन बनाकर और उसे उत्पाद-निरोध आदि अन्तों से रहित प्रतिपादित कर देखता है । उसी को आलम्बन बनाकर ध्यान लगाना या उसी की भावना करना शून्यदेव-योग है । इसे अनिमित्त योग भी कहते हैं[1] । इसके बाद क्रमशः अक्षर-देवयोग आता है । इस योग का आलम्बन अक्षरदेव है । "अक्षर-देव" उसे कहते हैं, जो साधक उपर्युक्त शून्य आलम्बन की जगह अपने को चन्द्रमण्डल आदि पर साध्यकुल देवताओं के धारणी मन्त्र, हृदय मन्त्र, उपहृदय आदि मन्त्रों के पाठ्य अक्षरों के रूप में प्रस्थापित करता है । उन्हीं अक्षरों को आलम्बन बनाकर की जाने वाली भावना को अक्षरयोग कहते हैं । तीसरे देवयोग का आलम्बन "नाददेवता" है । उपर्युक्त चन्द्रमण्डलादि में स्थित मन्त्रमय अक्षरों से निकले घोष या नाद को ही नाददेवता कहते हैं । उसी नाद को आलम्बन बना कर एकाग्र चित्त के द्वारा की जाने वाली भावना को नाददेव-योग कहा जाता है । चौथा रूपीदेवतायोग है । इस योग का आलम्बन रूपीदेवता है, जो उक्त चन्द्रमण्डल आदि पर प्रस्थापित अक्षरमय मन्त्रों से पञ्चरंगी रश्मियां निकाल कर यावत् लोकधातुओं में स्थित बुद्ध-बोधिसत्त्वादि आर्यजनों की पूजा, अर्चना और सत्त्व कौल के हितार्थ सम्पादन कर पुनः संकुचन विधि से स्वयं को पूर्ण देवकाय प्रकाश पुंज के रूप में परिणत करता है । इसी रूपी काय को आलम्बन बना कर की जाने वाली भावना या समाधि को रूपी देवयोग कहते हैं ।

पांचवां देवयोग है मुद्रा देवयोग । इस योग का प्रमुख आलम्बन मुद्रादेवता ही होता है । देवकाय के रूप में प्रतिष्ठित साधक के अपने उष्णीष स्थल आदि शरीर के मर्मस्थलों में चन्द्रमण्डल आदि के आसनों पर प्रस्थापित मन्त्रमय कुलदेवता ही "मुद्रादेव" कहलाता है । इसमें तथागत कुलादि सभी कुलों के देवता आते हैं, जिन्हें कुलमुद्राओं[2] के द्वारा अधिष्ठित किया जाता है । छठा देवयोग है नैमित्तिक देवयोग । इस योग का आलम्बन नैमित्तिक देवता है । नैमित्तिक देव उसे कहते हैं, जो साधक के समक्ष

---

१. (क) चोंङ्खा-पा कृत वज्रधर मार्गक्रम-पृ० ८७-९५, 'ग' पुट ।
   (ख) द्र०-सामान्यतन्त्रव्याख्या-पन्छेन सोद्-डग्स, पृ० २२-२३; डेपुङ् संस्करण ।

२. यहां मुद्रा शब्द का तात्पर्य प्रज्ञा के नाम से अभिहित मुद्रा नहीं है । अपितु हाथ एवं उंगलियों की संकेतात्मक मुद्रा से है ।

ध्याननिमित्त के रूप में उपस्थित है । यह ध्याननिमित्त दो प्रकार का होता है— कायगत निमित्त एवं मन्त्रगत निमित्त । कायगत निमित्त वह है, जो बत्तीस लक्षण एवं अस्सी अनुव्यंजनों से सम्पन्न इष्टदेव के रूप में प्रकट होता है । साधक का इष्टदेव के हृदय आदि मन्त्र ही दूसरा मन्त्रगत निमित्त है । इन निमित्तों को आलम्बन बनाकर की जाने वाली भावना को नैमित्तिक देवयोग कहते हैं । क्रिया एवं चर्या दोनों तन्त्रों का यह मन्तव्य है कि इस प्रकार के साधना-अनुष्ठानों के द्वारा साधक अपने परम प्राप्तव्य तथागत पद को प्राप्त कर सकता है[१] ।

सिद्धियों की साधनाविधि : तन्त्रनय के साधकों द्वारा प्राप्त की जाने वाली सिद्धियां दो तरह की होती हैं— सामान्य सिद्धि और परम सिद्धि । इनमें से किसी भी सिद्धि के लिये पहले अपने में तीन तत्त्वों का सम्पादन करना आवश्यक होता है—१. स्पष्ट देवकाय, २. स्थिर समाधि और ३. शक्ति सम्पन्न मन्त्र । जब साधक उपर्युक्त चतुरंग योग एवं छः प्रकार के देवयोगों के अभ्यास से उक्त तत्त्वों को अपने में प्रकट होता देखता है, तब वह आवश्यकता के अनुसार यज्ञ आदि बाह्य कर्मकाण्डों एवं विशिष्ट प्रकार के द्रव्य (जिन्हें गुह्य-द्रव्य, समय-द्रव्य आदि अनेक नामों से जाना जाता है) आदि के सहारे मन्त्र एवं योग की सहायता से सिद्धियों की साधना करता है । इनमें से विद्याधरसिद्धि, खड्गसिद्धि, घटसिद्धि आयुसिद्धि, धारणीसिद्धि आदि श्रेष्ठ सिद्धियाँ मानी जाती हैं । अणिमा, लघिमा, वशीकरण आदि साधारण सिद्धियाँ होती हैं ।

सिद्धियों में से परम सिद्धि ही साधक का परम लक्ष्य होता है । परम सिद्धि से तात्पर्य यहां प्रज्ञा एवं करुणा की युगनद्ध मूर्ति बुद्धत्व की अवस्था है । इसी मूर्ति के दिव्य स्वरूप को इष्टदेव कहा जाता है । अन्य सिद्धियों की सहायता से भी साधक इसी पद को प्राप्त करता है । इन सिद्धियों की ओर संकेत करते हुए संसिद्धितन्त्र में कहा गया है—

---

१. बुस्तोन, तन्त्रों का सामान्य भाष्य, 'ब' पुट, वाल्यूम १५ । पन्छेन सोद् डग्स-सामान्यतन्त्र व्याख्या, पृ० २२-२३ ।

"अत्युत्तम कर्मो की सिद्धि विशिष्ट जापों के द्वारा होती है । पूर्व अभ्यस्त (मन्त्र) उपासना के द्वारा भी अधिकांश सिद्धियों का लाभ होता है"[१] ।

इसी प्रकार सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र में भी कहा गया है—

"प्रथमतया विधिवत् एक लाख (मन्त्र) जाप करें । ततः गुह्य मन्त्र की साधना में प्रवेश करे । तदुपरान्त शीघ्र सिद्धियों का लाभ होता है । गुह्य (मन्त्र) विधियों के कारण (साधक को) दीर्घकालीन क्लेश नहीं होता[२]" इत्यादि । इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धिलाभ के तीन मूल तत्त्वों की ओर इंगित करते हुए ध्यानोत्तर तन्त्र में भी कहा गया है—

"समस्त विद्यामन्त्रों का तत्त्व, आत्म(देवत्व) विधि के तत्त्व और उत्तम जाप तत्त्वों के ज्ञान से मनुष्य सिद्धियों का लाभ करता है[३]" ।

इन तन्त्र-वचनों की विस्तृत जानकारी के लिये सम्बद्ध व्याख्याओं का अवलोकन करना अपेक्षित है । साथ ही सिद्धियों को प्राप्त करने हेतु बहुत सारे विधि-विधानों का ज्ञान एवं अलग-अलग ग्रन्थो के अनुसार उनके व्यावहारिक हस्तग्राह्य अनुष्ठानों की जानकारी परम्परागत आचार्यों से ही लेनी होती है ।

उपसंहार

सामान्यतः तन्त्रविद्या की कोई आदि और अन्त सीमा दृष्टिगत नहीं होती । यह त्रैकालिक एवं सार्वभौम आध्यात्मिक विद्या है । इसकी साधनानुष्ठानो की परम्परा दो दिशाओं की ओर विकसित होती है— साम्प्रदायिक एव सम्प्रदायमुक्त परम्परा । सम्प्रदायमुक्त तान्त्रिक अनुष्ठानों की परम्परा देव, मनुष्य, यक्ष, राक्षस आदि में सर्वत्र पायी जाती है । तन्त्रशास्त्रों के अन्दर ऐसे विवरणों की कमी नहीं है । इस साधना की साम्प्रदायिक परम्परा केवल मनुष्यों .में ही दृष्टिगत होती है । इनमें हिन्दू, बौद्ध, जैन, सूफी आदि की परम्परा आती है ।

---

१. संसिद्धितन्त्र, भोट अनुवाद, कन्युर, तन्त्र वर्ग ।

२. सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र, भोट अनुवाद, का-ग्युर, तन्त्र वर्ग, 'व', तो० सं० ८०५, पृ० १३८a ।

३. ध्यानोत्तरतन्त्र, भोट अनु०, का-ग्युर, तन्त्र वर्ग 'ब', तो० सं० ८०८ ।

बौद्ध विचारों से अनुप्राणित तन्त्रों की मूल स्थिति अन्य तन्त्रों से बहुत कुछ भिन्न ही है । इन तन्त्रों में निहित समस्त क्रिया-कलाप, करुणा, मैत्री, बोधिचित्त, शून्यतादर्शन एवं शून्यता जैसे तत्त्वों से संस्कृत होते हैं । विशेषकर यहां ध्यान देने की बात यह है कि यहाँ जितने भी देव, इष्टदेव, देवी, इष्टदेवी, पूजा, प्रासाद, विमान, यजन, यजमान आदि हैं, वे सबके सब समाधि और मन्त्रविधि के द्वारा निर्मित होते हैं । यहां दिखाई पड़ने वाले कोई देव या देव-भूमि ऐसी नहीं है, जो नित्य, शाश्वत और स्वयंभू हो । ये सबके सब साधक के अपने कर्म एवं साधना द्वारा निर्मित होते हैं । अपने अनुष्ठान कार्यो के सम्पन्न होने के उपरान्त इन्हें शून्यता में विलीन कर दिया जाता है, जो अन्य सम्प्रदायों के तन्त्रों के लिये कदापि सम्भव नहीं है । यहां सब कुछ साधक को अपने पुरुषार्थ के रूप में प्राप्त करना होता है । इनके लिये अन्यत्र मात्र गुरु का सहयोग एवं अनुग्रह ही शरण होती है । इसी के आधार पर साधक अन्ततोगत्वा परम सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ॥

●

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रो० सेम्पा दोर्जे ने क्रियातन्त्र और चर्यातन्त्र से संबद्ध अपना सारगर्भ निबन्ध पढ़ा । इसके लिये हम उनको धन्यवाद देना चाहते है कि उन्होंने बौद्ध तन्त्र की इन दोनों शाखाओं से संक्षेप में हमें पूरा परिचय कराया । इस निबन्ध पर चर्चा प्रारंभ हो, इसके पहले मैं एक दो मुद्दे उठाना चाहता हूँ । पहला तो यह कि वैष्णव और शैव तन्त्रों में, विशेष रूप से शैव सिद्धान्त तन्त्रो में, जिनमें की निश्वाससहिता और कालोत्तरतन्त्र का पद्मवज्र की गुह्यसिद्धि में भी उल्लेख मिलता है, प्रत्येक आगम को विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चार पादों में बाँटा गया है । विद्यापाद में उस आगम के दर्शन का, क्रियापाद में प्रधानतः दीक्षा एवं मन्दिर-मूर्ति निर्माण आदि का, योगपाद में उस आगम की योगपद्धति का और चर्यापाद में दीक्षित व्यक्ति की चर्या के साथ उत्सव आदि के आयोजनों का प्रतिपादन किया गया है । इसके विपरीत बौद्ध तन्त्रों में क्रिया, चर्या और योग का वर्णन करने वाले अलग-अलग ग्रन्थ हैं । विद्यापाद का वहां उल्लेख नहीं है और अलग से अनुत्तर तन्त्रों का विधान है । इन अनुत्तर तन्त्रों को पितृ, मातृ और अद्वय तन्त्रों में विभक्त किया जाता है । इनकी तुलना हम योगिनी कौल, सिद्ध कौल और त्रिक तन्त्रों से कर सकते हैं । क्या ऐसा करना सही हो सकता है ?

दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या क्रिया, चर्या और योग के प्रतिपादक तन्त्रों में केवल एक ही विषय की चर्चा रहती है ? यदि ऐसा है, तो क्रिया, चर्या आदि पदों की क्या वहां कोई परिभाषा दी गई है कि क्रिया, चर्या आदि से संबद्ध इन-इन विषयों का निरूपण यहां किया गया है ? तुलनात्मक अनुशीलन का विकास करने के लिये हमारी दृष्टि में इन प्रश्नों पर विचार अपेक्षित है ।

प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी

प्रो0 सेम्पा दोर्जे का जो क्रिया और चर्या तन्त्र पर यह निबन्ध है, इससे कुछ प्रश्न उठते हैं और अभी प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने शैवागम के सन्दर्भ में उस प्रश्न को उठाया है । हम बौद्ध तन्त्र के सन्दर्भ में इस प्रश्न को उठाते है । यद्यपि जैसा आज उद्घाटन के समय प्रो0 रिनपोछे ने बताया कि हम लोगों की सीमाएं है, हम ठीक से यहाँ बोल नहीं सकते, क्योंकि तन्त्र का हमने अभिषेक लिया है और प्रतिज्ञा की है । अतः मैं सारी बातें नही कह सकता, किन्तु जो सामान्य बाते है, उन पर तो चर्चा हो सकती है । द्विवेदी जी के ही प्रश्न को मैं बौद्ध तन्त्र की दृष्टि से पूँछ रहा हूँ कि क्या बौद्ध तन्त्र की ये चार अवस्थाएं है या क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर यह चार अलग-अलग तन्त्र हैं और इनका एक दूसरे से वैसा सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि अवस्थाओं से सम्बन्ध होता है । जैसे एक योगी या तान्त्रिक पहले क्रिया करेगा या चर्या करेगा, फिर योग करेगा और अन्त में वह अनुत्तरयोग मे जायगा । ऐसी स्थिति है या ये चारों भिन्न-भिन्न हैं ।

दूसरा प्रश्न यह कि आपने कहा है कि इन विभिन्न देशनाओं के संकलित वाङ्मय को ही तन्त्रशास्त्र कहा जाता है, तो जो तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित बुद्धवचन है, जो सूत्र और अभिधर्म है, वह भी सब तन्त्र हो जायगा और उसको इस परिभाषा के द्वारा कैसे अलग करेंगे । ऐसे सामान्य अर्थ में तन्त्र शब्द की निष्पत्ति होती है, एक वर्गीकृत ज्ञान या जिसको हम अंग्रेजी में कहेंगे क्लैसीफाइड नालेज, वह तन्त्र है । लेकिन तन्त्र ने अपना वास्तविक अर्थ एक रूढ़ किया है । अनेक शब्दों के अर्थ रूढ हुए हैं, जैसे अंग्रेजी का वजट शब्द है । वजट शब्द का मूल अर्थ है भेड़ का चमड़ा और भेड़ के चमड़े से बना हुआ झोला । उसके बाद उसने नया अर्थ ग्रहण किया कि वे हिसाब के कागज, फाइनेंशियल पेपर, जो भेड़ के चमड़े के झोले में रखकर एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाये जाते थे और अन्त में यह आय-व्यय का द्योतक हो गया । इसको अंग्रेजी में लिंग्विस्टिक चेंज (अर्थ-परिवर्तन की प्रक्रिया) कहते हैं । वैसे ही तन्त्र शब्द का एक रूढ अर्थ हुआ और उस रूढ अर्थ में क्या हम इस परिभाषा को लगा सकते है ।

तीसरी बात यह है कि बौद्ध-तन्त्र बुद्धवचन कहा जाता है, क्योंकि बौद्ध तन्त्रों मे स्वयं ऐसा आया है कि वह बुद्धवचन है । अशोक की संगीति के बाद तृतीय संगीति हुई और उसमें मोग्गलिपुत्र तिस्स ने कथावत्थु की रचना की, तो बाद में यह प्रश्न उठा कि यह कथावत्थु कैसे बुद्धवचन है । इसकी रचना

तो मोग्गलिपुत्र तिस्स ने की है, तो उन्होंने कहा कि बुद्ध ने मातृका रूप से इसको कह दिया था और उसी वक्त भविष्यवाणी की थी कि मेरे परिनिर्वाण के २१८ वर्ष बाद मोग्गलिपुत्र तिस्स नाम का एक व्यक्ति होगा, जो मेरे संक्षिप्त कथन का विस्तार से अर्थ प्रतिपादित करेगा । तन्त्रों की देशना क्या इस प्रकार की है ? तन्त्रों में मिलता है कि भगवान् बुद्ध ने इसकी देशना की । वह बुद्धवचन के अन्य साक्ष्यों से नहीं प्रमाणित होता कि यह तन्त्र बुद्ध द्वारा प्रोक्त है । यद्यपि यह प्रमाणित होता है कि तान्त्रिक साधनाएं बुद्ध के समक्ष, शास्ता के समक्ष विद्यमान थीं । इसमें एक जगह आया है कि बुद्धगया में वज्रासन के नीचे उन्होंने इसका उपदेश दिया । बोधि के लाभ के बाद ही वह उपदेश दिया, जब कि वे ४५वें दिन की समाधि मे थे । सात सप्ताह उन्होंने समाधि में व्यतीत किये, उस समय की यह बात है या उनके उपदेशों में संक्षेप में यह पहले ही विद्यमान था और बाद में परम्परा रूप में आचार्यों और शिष्यों तक चलता रहा । अन्त में चतुर्थ शताब्दी में उनको ग्रन्थ का रूप दिया गया या एक वर्जित साधना का रूप दिया गया, इस पर भी विद्वानों को विचार करना चाहिये ।

अन्त में आपने सिद्धियों के प्रकार बताये है । सिद्धियों का वर्णन सर्वत्र मिलता है । ये सिद्धियां किस प्रकार की साधना से मिलती हैं ? विपश्यना भावना के पूर्व कैसे सिद्धियां आती हैं, इसका भी उल्लेख अन्य ग्रन्थों में होता है । लेकिन यहाँ सिद्धियों के नाम दूसरे प्रकार के है । अन्तिम बात हमें आप लोगों के समक्ष यह कहनी है कि इस निबन्ध में सम्प्रदाय शब्द का प्रयोग हुआ है । लेकिन सम्प्रदाय शब्द का सेक्ट के अर्थ में जो प्रचलन हुआ, भारतवर्ष में यह अंग्रेजों के आगमन के बाद की देन है । हमारे यहाँ सम्प्रदाय शब्द का अर्थ है— गुरु-शिष्य परम्परा । गुरु और शिष्य की परम्परा में अविच्छिन्न रूप से जो शास्त्र प्रवाहित होता है, वही सम्प्रदाय कहा जाता है । यह न्याय का सम्प्रदाय है, यह सांख्य का सम्प्रदाय है, उसी प्रकार तन्त्र का सम्प्रदाय है । यह सम्प्रदाय शब्द आधुनिक अर्थ में है ? या हमारे परम्परागत अर्थ में है, इस विषय पर आप लोगों के विचार मैं सुनना चाहूँगा ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

प्रो० द्विवेदी ने जो यह प्रश्न उपस्थित किया है कि शैव तन्त्र में उसके चार विभाजन होते है—दर्शन (विद्या) होता है, योग होता है, चर्या होती है, क्रिया होती है और यहाँ बौद्ध तन्त्र में भी क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरतन्त्र की व्यवस्था है । यह दोनों तरह का वर्णन एक जैसा ही है, इसमें कोई समानता है या नही ? इसके ऊपर विद्वानो को विचार करना चाहिये । मैं समझता हूँ, जैसा कि उन्होंने कहा है, यहाँ पर उभयविध, दोनों प्रकार की परम्पराओं के विद्वान् मौजूद है और यदि इस पर विचार हो, तो यह बड़ा उपयोगी होगा । मैं इस विषय पर प्रामाणिक रूप से तो नहीं, व्यक्तिगत रूप से कह सकता हूँ कि जो दोनों को ठीक से जानता हो, वही तुलना का योग्य अधिकारी हो सकता है । अधिकतर ऐसा होता है कि कोई एक परम्परा का विद्वान् होता है, कोई दूसरी परम्परा का विद्वान् होता है, लेकिन दोनों परम्पराओं

में उसकी समान रूप से पैठ नहीं होती । हमारे जैसा व्यक्ति जिसकी दोनों में पैठ नहीं है और बोलने के लिये तैयार हो गया, यह दुःसाहस है । आपने जिन चार विभाजनों क्रिया, चर्या, योग वगैरह की चर्चा की है, मेरा अपना ख्याल है कि यह क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग नामक चार तन्त्रों का विभाजन बौद्धों का है । हर एक में ये चारों हैं । क्रिया में भावना भी है, योग भी है, देवमण्डल भी है और चर्या भी है, चारों में चारों है, तो उनकी कैसे तुलना की जायगी ? उन चारों के साथ यह जो नाम क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर जुड़ा है, यह प्राधान्य की दृष्टि से है, अर्थात् किसमें किसकी प्रधानता है । लेकिन कोई योगविधि किसी चर्यातन्त्र में न हो, या योग का विधान क्रियातन्त्र में न हो, या योग का विधान योगतन्त्र में न हो, या योग का विधान अनुत्तरतन्त्र में न हो—ऐसा तो नहीं है । सभी में चारों हैं । प्रधानता किसी में चर्या की, किसी में आन्तरिक योग की और किसी में अनुत्तरयोग तन्त्र की है । मैं सोचता हूँ कि यहाँ जो प्रामाणिक विद्वान् हैं, जिन्होंने अपने जीवन का अधिकांश समय इन विद्याओं के अध्ययन में लगाया है, यदि वे इस पर प्रकाश डालें, तो हम जैसे लोगों का बड़ा लाभ होगा । विचार को एक मोड़ देने के लिये, इसको और उपयोगी बनाने के लिये यह जो द्विवेदी जी ने सुझाव रखा है, मैं इसका समर्थन करता हूँ । मैं कोई इसका उत्तर नहीं दे रहा, लेकिन उसी प्रश्न को और स्पष्ट करके रख देना चाहता हूँ ।

श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य

यहाँ पर अभी क्रिया, चर्या, योग, अनुत्तरतन्त्र के विषय में चर्चा हुई है । यह मन्त्रयान का विषय हो सकता है । मन्त्रयान, वज्रयान यह जो यहाँ व्याख्या हुई है, मेरे ख्याल में ऐसा नहीं है, क्योंकि कालचक्र तन्त्र की वज्रयानी प्रवृत्ति शब्द की व्याख्या करते हुए विमलप्रभा टीका में— "पारमितानयं मन्त्रनयं फलहेत्वात्मकम् एकीभूतम् एकलोलीभूतं तन्त्रं वज्रयानम्" ऐसा व्याख्यान किया है । इसका अर्थ यह होता है कि मन्त्रयान तथा पारमितानय का जो संयुक्त एकलोलीभूत स्वरूप हुआ है, अर्थात् पानी में पानी मिलाने से, शुद्ध दूध में दूध मिलाने से जब एक ही रूप लेता है, इसी तरह मन्त्रयान तथा पारमितानय दोनों जब एक होते है, तब वह होता है वज्रयान । विमलप्रभा के इस व्याख्यान को सुनते हुए हमें ऐसा लगता है कि मन्त्रयान दूसरी चीज है, वज्रयान दूसरी ही चीज है । मेरे ख्याल में जो अभी यह तन्त्र के विषय की बात चल रही है, वह सब मन्त्रयान का विषय होगा । पारमितानय के विषय में सच्चा कहूँ तो अभी जो भी तन्त्र है वज्रयान में, वह सब मन्त्रयान ही है, वज्रयान नहीं है । अगर मन्त्रयान की दृष्टि से देख लिया जाय, तो मन्त्रयान में प्रज्ञापारमिता की बात जब होगी, तब वही मन्त्रयान वज्रयान के रूप में बोलने लगता है । ऐसा प्रतीत होता है कि पहले पहल मन्त्रयान का बहुत प्रचार हुआ होगा । बाद में मन्त्रयान में जनता की रुचि कम हुई होगी । उसको विशुद्ध करने के लिये वज्रयान का प्रवर्तन हुआ होगा ।

आप लोगों ने चर्चा की है कि वज्रयान में विशेष विशेष तन्त्रों का प्रभावं पड़ा है । इसमें जो भी प्रभाव पड़ा है, वह विशेष कर धर्म का प्रभाव है । वज्रयान की दृष्टि धर्मसमन्वय करने के लिये हुई है, अर्थात् जो भी धर्म हो, उसका वज्रयानीकरण करना है । कालचक्र के विशेष विशेष स्थलों पर वर्णन आता है कि तीर्थिको के अवतरण के लिये ऐसा वाक्य बहुत सी जगहो पर दुहराया गया है ।

अन्य सब मत भी एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन करते है, उसमें कुछ भेद नही है । जैसे "येन येन हि भावेन" वह श्लोक तो मुझे कण्ठ नही है । उसका भाव यह है कि जिस जिस भाव से जिसका मन में वह विचार करते करते भावनामय हो जायगा, तब विश्वरूप मणि के समान वह चित्तमणि उसमें वही रूप देने के लिये तैयार हो जाती है । जैसे शिव की भावना किया, तो मन शिव का रूप धारण कर लेता है । वही मन कभी इन्द्र का रूप, ब्रह्मा का रूप, विष्णु का रूप धारण कर लेता है । वही मन विश्वरूप जैसे आइना में हम देखते है, जो आदमी देखता है, वही वही रूप धारण करता है । विश्व रूप का मतलब है कि कोई आइना जैसा मणि ऐसा ही रूप धारण कर लेता है, चित्तरूप मणि भी ऐसा ही रूप धारण कर लेता है । इसीलिये सब धर्म समान है । इसमें धर्म में भेद नहीं है । एक ही धर्म है । जो व्यक्ति भावनामय व्यावहारिक संवृति सत्य के रूप से साधना करने वाले होते है, उनके लिये सब धर्म एक समान है । इसी लिये वह संवृति सत्य की बात है, वह साधना करने की लौकिक बात है । इस लिये जो परमार्थशून्यता विषयक बात है, वह बौद्ध धर्म की विशेष बात है । आप लोग इस विषय पर भी विचार करें ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

वज्राचार्य जी ने जो कहा है, बहुत उत्तम कहा है । यदि कृपा कर वे इस विषय पर और प्रकाश डालेंगे तो अच्छा होगा । उन्होंने मन्त्रयान में और वज्रयान में फर्क कर दिया और पारमितायान के साथ एकलोलीभूत जो फलयान है, उसको वज्रयान कहा । पारमितायान और वज्रयान को कालचक्र की टीका में ठीक ही हेतुफलात्मक कहा है । उसमें जो प्रज्ञा का पक्ष है, वह हेतु है और जो बुद्ध का काय है, सुखात्मक बोधिचित्त है, वह उसका फल है । दोनों में हेतुफलात्मक जो विशेषण वहां लगा है, उस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है । प्रज्ञा वहाँ जो है, वह पारमितायान है, वह हेतु है और वज्रयान जो है, वह फल है । ये दोनों जब मिल जाते हैं, तो वह वज्रयान कहा जाता है । लेकिन मन्त्रयान को आपने कैसे उससे अलग कर दिया, यह मेरी समझ में नहीं आता । मन्त्र की व्युत्पत्ति में मन् का अर्थ प्रज्ञा, त्र का अर्थ उपाय और जिसमें प्रज्ञा-उपाय दोनों समान रूप से एकरस होते है, सम्मिलित होते हैं, वह मन्त्रयान कहा जाता है, यह मैने पढ़ा है । जब कि आपने ऐसा कह दिया कि प्रज्ञा का संबन्ध जब मन्त्र से होता है, तब वह वज्रयान हो जाता है । आपके कथन से ऐसा लगता है, जैसे कि मन्त्रयान से प्रज्ञा का कोई सम्बन्ध ही न हो । क्या ऐसा है ?

श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य

मेरे ख्याल में जब भी तन्त्रशास्त्र का अध्ययन करना होता है, पुस्तक आगे रखकर दो–तीन अन्तरंग व्यक्ति ही इसकी चर्चा कर सकते हैं । ऐसी सभा में ऐसे विषयों की बहुत चर्चा करना मैं उतना उचित नहीं मानता । मैं मन्त्र शब्द के अर्थ की यहाँ चर्चा करूँगा । "मनसस्त्राणनान्मन्त्रः" ऐसा लिखा है । जगह–जगह उसकी विभिन्न व्याख्याएं और निरुक्तियाँ भी दी गई है । लेकिन मेरे ख्याल में मन का जो सन्त्राण करता है, वह मन्त्र है । मन्त्र मन का सन्त्राण तब करेगा, जब वह उसका विषय होगा । रूप–रसादि विषय है, भूतत्त्व हैं । वह नहीं होगा, तो मन भी खतम हो जायेगा । जब वह है, तो देखने से जागृत होता है, मन सन्त्राणित होता है । इसीलिये इसे मन्त्र कहा है । कालचक्र तन्त्र में इसीलिये कहा है कि सब वस्तु मन्त्र है, सब जगह वस्तु जो भी है, वह मन्त्र है । इसका आदि नाम बीजाक्षर होगा । वह प्रधान होगा । जैसे कि तारा, मामकी, पद्मिनी आदि देवियों के नाम हैं । इनको जब हम मन्त्र के रूप में लेते है, तो तां मां पं— यह बीजाक्षर के रूप में आता है । यह तो संवृति सत्य की बात है । जब हम व्यवहार की बात करते हैं, तो यह साधक के मन में ऐसा हो जाता है । साधक इसको ग्रहण करता है, उसको एकलोलीभूत करता है । मन उसको ऐसा बदल देता है कि वह शिव का रूप लेता है, तारा का रूप लेता है । वह मन सबको सब रूप में ले सकता है । इसीलिये आप जो ध्यान करेंगे, वह तो संवृति सत्य के व्यावहारिक साधन के लिये ही है। वह निर्वाण के लिये नहीं है । जब यह निर्वाण के लिये होता है, तो शून्यता की ही भावना करनी होती है, प्रज्ञा की ही भावना करनी होती है । मेरे ख्याल में ऐसा है । आप विचार करें इस विषय में ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं समझता हूँ कि विद्वानों को अपने विचारों को प्रकट करने का और अवसर मिलेगा । अभी जो चर्चा चल रही है— क्रिया तन्त्र, चर्या तन्त्र इत्यादि की, इसके बारे में मै भट्ट महोदय से निवेदन करूँगा कि वे दो शब्द कह कर हम लोगों का ज्ञानवर्धन करें ।

Prof. N. R. Bhatta

First of all I want to reply Mr. Dwivedi's remark. The Tantra Śāstra existed far before the Buddha. It did not arise after the Buddha, as I told in the morning. The *sampradāya* of Tantra existed atleast two centuries before the Buddha himself . So either the Buddha himself told the Tantra or his followers told Tantra later. They followed the previous Tantras and developed them. They did not create it. So, the question does not arise whether the Buddha knew the Tantra or not. He did know it, but he did not speak of it. It was not necessary for him. The second question is: In Tantra, there existed the four *Pādas*. The *Jñānapāda* is Philosophy; the *Kriyāpāda* is rituals, the *Yogapāda* speaks of Yoga

and the Caryāpāda is just a moral course. They existed in the beginning. But as I told, the *sampradāya* is conceived by the *guru-śiṣya-paramparā*. This *paramparā* did not continue like Vedas. In Vedas, at a certain time, there were some differences also. There were too many *śākhās* in *Vedas* also. At one time the Anukramaṇī came into existence and regulated the system of Vedas, so that there could be no change. But in the case of Tantras it is not so. In *guru-śiṣya-paramparā* itself, I think, each Guru imparts his knowledge to his Śiṣya by oral tradition in which some parts could have gone to the other parts. That is why you could see a part of Yoga in the other part and lots of Kriyā in other parts. This confusion has come because of the *sampradāya*-teaching not because of their existence in the beginning. That is why in architecture part, if you see in Āgamas, there is a lot of change. By about 7th century the architecture part has been changed by Guru according to his own times and interpolated it in the text to fit to the time. So the archaeologists say that the Tantras could not have been there before 7th century or something like that. The fact is, in the *sampradāya*, there was no restriction for the Guru and, as he was a great scholar, he could have tried to interpolate something into these parts or change the parts. So the regulation of four pādas did exist before. Secondly, various traditions e.g. *Karmamārga, Bhaktimārga, Yogamārga* and *Jñānamārga* influenced the Āgamas also and they also started telling that philosophy is Jñānamārga, Kriyā is *Karmamārga*, Yoga is Yogamārga and *Caryā* is *Dāsyamārga* or *Bhaktimārga*. So, such kinds of later developments did not hold good for the beginning. The real system of division is correct but later development, has changed it. In most of the Āgamas, you don't find all the pādas; they might have got mixed in one pāda itself, so we have no evidence which Guru has done like that and what time it has been done like this and what time it has been done like that. So, as I said, Sampradāya existed; but the Sampradāya was not regulated unlike the Vedas by Anukramaṇīs. In the case of Āgamas there is no control till today. Somebody was asking about Mantras. Mantra means Devatā itself. That is why it is called, *mananāt trāyate*. Deity is a *vācya* and the Mantra is *vācaka*. By repeating the mantras, you meditate on the devatā. So the mantra is devatā, *vācya*, and what you recite is *vācaka*. So do not differentiate between *vācya* and *vācaka*.

Prof. N. Tatia

In this paper, the word Tantra has been used in two senses. Firstly, Tantra as a philosophy in general. The author says that the Buddha gave many sermons to different people from different angles. He says that all these angles and visions taken together make one Tantra. Secondly, he has used the word Tantra in anothor sense, i.e. particular Tantras. The author speaks about Vajra and Prajñā, Vajra is a kind of Samādhi. Vajrasamādhi comes last of all which is

followed by Prajñā. You know in the Pāramitās, the fifth Pāramitā is meditation. And the sixth is Prajñā. Prajñā is the consolation of meditation. But at the same time, Prajñā lies at the root of meditation. In the six Pāramitās Prajñā comes last. But in Abhisamayālaṅkāra it has been made clear that Prajñā lies at the root of Dhamma. Also, Prajñā is the seed at the base of all Pāramitās. Prajñā is also a sprout of the fruit of all these Pāramitās. Please take into consideration this thing. So, Vajrasamādhi comes first which is followed by Prajñā. But without Prajñā, Samādhi is not possible. So this two-fold aspect of the Prajñā should be taken into consideration. And, generally speaking, Vajra is the cause of Prajñā. There is no controversy; there is difference of opinion on this point.

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अब मैं निबन्धक महोदय से निवेदन करूँगा कि वे अपने निबन्ध पर हुई चर्चा को आगे बढ़ाते हुए अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करें ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

प्रश्नकर्ताओ को मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ । क्रमशः मैं दो-दो तीन-तीन शब्द प्रत्येक प्रश्न पर कहना चाहूँगा । प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने कहा है कि तन्त्रों के चतुर्विध विभाजन की जो बात यहां बौद्ध तन्त्रों में दिखाई पड़ रही है, वही बात उधर शैव तन्त्रों में और अन्य जगहों में भी दिखाई पड़ रही है । यह क्या एक ही चीज की, पुनरावृत्ति है या उसमें खास तात्त्विक भेद है ? इस पर मेरा सोचना यह है कि इनमे तात्त्विक भेद है, क्योंकि यहां इस समय हम जिन शास्त्रों को लेकर अध्ययन कर रहे है, वह भारतीय परिवेश में पनपे शास्त्र हैं । ये सब जितने शास्त्र हैं, वे सब भारतीय भाषा में ही कहे गये हैं । कोई बौद्ध घट को घट ही कहेंगे, वैष्णव भी घट को घट ही कहेंगे, लेकिन उन दोनों के कहने में बहुत ज्यादा फर्क होता है । तान्त्रिक अभिषेक वाला भी घट को घट ही कहता है । सुराही से पानी पीने वाला भी घट को घट ही कहता है । उन दोनों में बहुत फर्क होता है । तान्त्रिक अभिषेक वाला घट शब्द एक पारिभाषिक शब्द है, वह घट समाधि द्वारा निर्मित है, दूसरा कुम्भकार द्वारा निर्मित है । इसलिये उसमें भी तात्त्विक भेद आते हैं, लेकिन शब्द एक ही होता है । इसलिये शैव तन्त्रों के विद्या, क्रिया, योग, चर्या आदि शब्दों पर हमें इसी दृष्टि से विचार करना होगा । विद्या शब्द का जहाँ तक प्रश्न है, वह यहाँ भी करीब-करीब वही, अर्थ प्रकट करता है, लेकिन विद्या की उत्पत्ति के लिये, जो अधिष्ठान या कारक तत्त्व है, उस पर विचार किया जाय, तो यह एक दम भिन्न हो जाता है । इसलिये दोनों तन्त्रों में थोड़ा बहुत शब्द-साम्य होने पर भी तात्त्विक भेद रहता है ।

मुझे प० हजारीप्रसाद द्विवेदी जी का एक व्यंग्य याद आता है । एक बार सिद्धों के बारे मे हम लोगों ने सारनाथ मे उनका भाषण सुना । ८४ सिद्ध है, इतना कह कर वे खूब हँसे । अरे भई यह ८४ क्या चीज है, यह ८४ बड़ी रहस्यमय सख्या है, बड़ी गलत संख्या है । व्रजभूमि की परिक्रमा ८४

योजन है, हिन्दू धर्मशास्त्र में ८४ लाख जन्म भी है । इस प्रकार उन्होंने दसों ८४ गिना दिये । इस संख्या में कुछ रहस्य है, तत्त्व में कोई रहस्य नहीं है । इसलिये भारतीय मानसिकता के अन्दर जो एक संख्या बैठी रहती है, उसमें साम्य निश्चित है । वह साम्य कहां से आया है, इसके बारे में लम्बा-चौड़ा भाषण देने का यहाँ अवसर नहीं है । लेकिन यह सब एक प्रकार की सांस्कृतिक उपज एवं शाब्दिक साम्य हैं । जैसे न्याय में सर्वत्र त्रिरूप लिंग पर ही जोर दे रहे है, सब जगह व्याप्ति पर ही जोर दे रहे है, तो इस तरह से न्याय वाले अपनी एक पद्धति बनाये हुए है । प्रक्रिया एक होने पर भी परम्परागत अर्थ भिन्न ही हुआ करता है । यहाँ पारिभाषिक विषय को लेना चाहिये, हमको शाब्दिक विषय को नही लेना चाहिये । इनमें परस्पर बहुत फर्क हो जाता है । आपने शैव तन्त्रों के चार विभागो की अपने प्रश्न में चर्चा की है । प्रस्तुत निबन्ध में हमने चर्यातन्त्र और क्रियातन्त्र के अनुष्ठान के बारे में आपको बताया । यहां भी चार ही विभाग हैं, चार मुद्दे है, वहां पर भी वही है । इसलिये दोनों तन्त्रों की साधना की प्रतिज्ञा में ये चार चीजे आती हैं । इसमें जो चार संख्या का साम्य है, वह हमारी संस्कृति की उपज हैं । लेकिन उसके अन्दर जो तत्त्व समाविष्ट हैं, वे सब अलग-अलग अपना-अपना अर्थ रखते है ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी जी ने जो दो तीन प्रश्न उठाये है, उसमें एक तो ऐतिहासिक प्रश्न है । यदि हम तन्त्र और सूत्र का वर्गीकरण करके उसका अध्ययन करते है, तो वह ऐतिहासिक अध्ययन है । उस परिप्रेक्ष्य में हमने अपने निबन्ध को प्रस्तुत नहीं किया था । यहाँ पर हमने शुरू में दो-चार वाक्य ऐसे बता दिये कि तन्त्रशास्त्र का जो उपदेश है, वह मनुष्य के जीवन के सन्दर्भ में दिया गया है । उसको हम इस तरह कह सकते है कि तन्त्र मनुष्य के एक सहज बोध का तन्त्र है, यह सहज बोध से ही निकलता है, सार्वभौम संस्कृति से निकलता है । इसके विपरीत इतिहास, दर्शन, या धर्म क्षेत्रीय संस्कृति के अन्दर से निकलता है, भौगोलिक संस्कृति के अन्दर से तन्त्र नही निकलता, यह उससे बंधा हुआ नहीं है । तन्त्र मनुष्य मात्र से, अर्थात् उसकी जो सार्वभौम संस्कृति होती है, उसी से निकलता है । इसीलिये यहां सारे शास्ताओं के वाङ्मय को इकट्ठा करके, मनुष्य की जिजीविषा के सामने जो समस्याएं आती है, उनका समाधान तन्त्रशास्त्र में किया गया है । इसके लिये प्रोफेसर होना जरूरी नहीं है । अनपढ़ मूर्ख व्यक्ति भी तन्त्र खूब जानते हैं । इस तन्त्र के लिये बहुत ज्यादा विद्वान् होने की जरूरत नहीं है । उस तरह के तन्त्र को अभिप्रेत कर या उसको लेकर ही हमने यहां लिखा है । इसीलिये हमने कहा है कि शास्त्र के रूप में ऐतिहासिक क्रम में सांस्कृतिक धरोहर के रूप में जो आजकल हमें प्राप्त है, उसके बिन्दुओ पर हम अलग-अलग विचार कर सकते है । इसीलिये यहां तन्त्र को अलग, सूत्र को अलग और बुद्ध की पारमिता को अलग रखकर उसका वर्गीकरण करके हमने इस निबन्ध में साफ-साफ बताया है । उसमें प्रश्न की ज्यादा गुंजाइश नहीं है ।

दूसरा प्रश्न उन्होंने यह उठाया है कि बोधगया में वज्रासन में तन्त्र का उपदेश दिया गया। यह कथन आचार्य बुद्धघोष का नहीं, बुद्धगुह्य का है। कुछ लोग मानते है कि बुद्ध ने तन्त्रशास्त्र का उपदेश बोधगया में दिया। लेकिन यह वहां नहीं दिया गया। वह तो सुमेरु पर्वत के दक्षिणी भाग में वज्रगिरिं के अन्दर विद्याधरों के प्रदेश में दिया गया था। इसीलिये मैंने यहां कहा है कि बुद्ध जिस तरह से थेरवादियों की नजर में है, जिस तरह से हम लोगों की नजर में है, या ऐतिहासिक क्रम वालों की नजर में है कि बुद्धगया में तन्त्र का उपदेश हुआ है। उसी क्रम मे यदि हम चलेंगे, तो यह निश्चित है कि बुद्ध ने कोई तन्त्र का उपदेश नहीं दिया। धान्यकटक में एक बार उन्होंने इसका उपदेश दिया था, किन्तु उसका भी कोई समय निश्चित नहीं है। लेकिन इस विषय को तन्त्र वाले उस नजर से नहीं देखते। तन्त्र वालों की नजर दूसरी है, उनका दृष्टिकोण दूसरा है, उनकी पृष्ठभूमि दूसरी है। योगतन्त्र के अनुसार बुद्ध बोधगया में समाधि में बैठे हुए है, मारविजय कर रहे हैं। उनका एक निर्माणकाय शुद्धावास में जाकर योगतन्त्र का उपदेश दे रहा है, उनका दूसरा निर्माणकाय सुमेरु पर्वत पर जाकर देवगिरि में यक्षगणों को तन्त्र का उपदेश दे रहा है। यहां इसी तरह की बात चलती है और उसी को हम प्रामाणिक मानते हैं। यहां समस्या यह है कि हमने एक बात कह दी कि सारा वाङ्मय बुद्ध के पहले से है, बाद मे भी है। बौद्ध तन्त्रों का बुद्ध के द्वारा निश्चित रूप से उपदेश हुआ है, लेकिन बुद्ध जो कह रहे है, वह बात पहले नहीं है, ऐसी बात नहीं है। जैसे सुधनकुमार और किन्नर मनोरी की कहानी है कि एक कल्प में उसका उदान हुआ। ये उदान कहां के है ? वे त्रेता युग के पहले के हैं। बुद्ध अभी कह रहे हैं कि श्रावस्ती में जाकर वे कह रहे हैं। यानी यह कथा बुद्ध अपने आप बना कर नहीं कह रहे हैं। वह पहले से प्रचलित है। जैसे तारास्तोत्र तन्त्र विषयक ग्रन्थ है। इसे पहले वैरोचन अभिसम्बुद्ध ने कहा था, वही शाक्यमुनि बुद्ध अब कह रहे है। लेकिन हम उसको भी बुद्ध का उपदेश मानते है, बुद्धवचन मानते है। बुद्धवचन होने का मतलब यह नहीं है कि बुद्ध ने अभी भी सबका सब बताया है, जैसे पाणिनि ने व्याकरण बनाकर के बताया था, वे उस तरह से बता रहे हों। तन्त्रशास्त्र में या तन्त्रों के विषय में हम लोग जिस ढंग से ग्रहण करते है, उस दृष्टिकोण में थोड़ा सा अन्तर रहना चाहिये, क्योंकि एक ऐतिहासिक दृष्टिकोण, एक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण, एक परम्परागत दृष्टिकोण और जो तत्काल हमको सम्पादन करना है, यह शुद्ध है, अशुद्ध है, उसका एक दृष्टिकोण है। इसलिये इस तरह का जो सिलसिला हो, उसी परिप्रेक्ष्य में हमें तन्त्र को समझना जरूरी है।

प्रो० तिवारी जी का अन्य प्रश्न है सम्प्रदाय की बाबत। हमने जो कहा उस सम्प्रदाय का अर्थ यहाँ 'मजहब' से नहीं है। आपने कुछ संकेत भी किया— "गुरुशिष्यपरम्परया सम्यगधीयत इति सम्प्रदायः" इसी परिप्रेक्ष्य में हम सम्प्रदाय कह रहे है।

प्रो० भट्ट ने कहा कि हमारी जितनी विद्याएं है, उन सबकी मौखिक परम्परा रही है। सब प्रायः बहुत बाद में लिपिबद्ध की गई है। दो–ढाई

हजार वर्ष से पुराना कोई ग्रन्थ नहीं है । हमारे लिपिबद्ध ग्रन्थ एक हजार, पाँच सौ, छः सौ, दस सौ उसी के अन्तर्गत है । पाँच हजार साल पहले लिपिबद्ध किये गये कोई ग्रन्थ हमारे पास नहीं हैं । वह सब मौखिक परम्परा से आ रहा था । उस समय बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट वचन भी उनके परिनिवृत्त हो जाने के दो–तीन सौ साल बाद लिपिबद्ध हुए । तब तक वे मौखिक ही चल रहे थे । ऐसी स्थिति में गुरुपरम्परा का प्रभाव रहना आवश्यक है, अनिवार्य है । जैसा कि ब्रह्मजाल सूत्र है । वह जैसे संस्कृत से अनूदित तिब्बती में है, दूसरा पालि में उपनिबद्ध पालि त्रिपिटक में है, उसमें अन्तर है । अन्तर कहाँ से पड़ गया । उपदेश देने वाला तो एक ही था । अन्तर इसलिये पड़ गया कि वह सिंहल में लिपिबद्ध किया गया । यह यहाँ मगध में किया गया, जो तिब्बत में चला गया । वह अन्तर कहाँ से आ गया ? सम्प्रदाय से आ गया, गुरुमुख से आ गया । इस तरह से बहुत से सूत्र ऐसे है, बहुत से तन्त्र ऐसे है, जो सम्प्रदाय के संस्करणों के आधार पर गुरु–शिष्य के जो संस्करण है, उसके आधार पर वह अलग–अलग हो जाते है । विषय के एक होने पर भी कभी–कभी बहुत सी चीजे अलग हो जाती है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी ने तो हमारी ही बात को स्पष्ट कर दिया है । उसमें शंका की कोई बात नहीं आयी है ।

वज्राचार्य जी ने जो प्रश्न उठाया है, उसके विषय में मुझे विनम्रतापूर्वक आपसे निवेदन करना है कि कालचक्र तन्त्र में जो वज्रयान की परिभाषा दी गई है, वह परिभाषा केवल कालचक्र वज्रयान के लिये दी गयी है । वहाँ वज्र से मतलब है कालचक्र तन्त्र में निर्दिष्ट वज्र । यह ज्ञानविशेष है । उसीको वज्र कह कर तब यान के द्वारा वज्रयान कहलाया है । हमने यहाँ कुसुमांजलितन्त्र का प्रमाण दे कर, अनुत्तरतन्त्र योगावतार का प्रमाण देकर और आचार्य बुद्धगुह्य की व्याख्या का प्रमाण देकर वज्रयान और मन्त्रयान को परिभाषित करने की चेष्टा की है । वह सार्वभौम है, सभी तन्त्रों पर लागू होती है, चारों तन्त्रों पर चलेगी, उसके अतिरिक्त कोई और तन्त्र हो, तो उस पर भी चलेगी । इस संदर्भ में हमें आचार्य चोंखापा जी का वचन याद आता है । उन्होंने कहा है कि कालचक्र में जो वज्रयान की परिभाषा दी गई है, वज्रयान की वैसी परिभाषा दूसरे तन्त्रों में नहीं मिलती । केवल कालचक्र में मिलती है । इसीलिये उसी तन्त्र को लक्ष्य करके वहाँ वज्रयान और काल की परिभाषा की गई है । काल की परिभाषा का वहाँ परिवर्तन होने वाले काल से सम्बन्ध नहीं था । वहाँ काल से मतलब एक संवित्ति से था, विशेष सम्प्रदाय की संवित्ति से था । उसी संवित्ति को दूसरे तन्त्रो में वसन्ततिलक भी कहते हैं । वसन्त का मतलब त्योहार वाला वसन्त नही है, यह दूसरा वसन्त है । वहाँ संपुटित युगल वसन्त के रूप में रहता है । उसमें से रस के रूप में परिनिर्वृत होकर अभिव्यक्त जो ज्ञानात्मा संवित्ति होती है, उसी को 'काल' कहा जाता है । हमारी घड़ी की टिक–टिक से जाने–जाने वाले काल से मतलब नहीं होता । इस तरह से वहाँ विशिष्ट प्रकार की परिभाषाएं आती है। आचार्य चोंखापा जी कहते हैं कि यह सभी तन्त्रों मे प्रयुक्त सभी वज्रयान की परिभाषाएं नहीं हैं। विशिष्ट परिभाषा है ।

इसलिये उन्होंने भी दो–चार परिभाषाएं देकर कुसुमाञ्जलि की परिभाषा को सर्वमान्य माना है । मैंने भी अपनी लघु चेष्टा के द्वारा यहाँ उसका समावेश करने की चेष्टा की है ।

आपने एक अच्छा प्रश्न उठाया है । उसके लिये हम आपके आभारी है । वज्रयान और मन्त्रयान के अलग–अलग होने की बात आपने कही है । यहाँ वज्रयान की भी दो–तीन परिभाषा दी गई हैं और मन्त्रयान की भी । मन्त्र की भी दो–चार परिभाषा दे रखी है । वह कालचक्र तन्त्र में भी है, गुह्यसमाज और हेवज्र में भी है । कुसुमाञ्जलि तन्त्र के अनुसार इन तीनों को हमने दिया है । तीनों का अभिप्राय अलग–अलग नहीं है, एक ही बात है । एक मन तो सहज ज्ञान को कहा जाता है । 'त्राण' उसको कर्ता के रूप में रख कर उसे मन्त्र कहा गया है । त्राण का विषय जगत् है । दूसरा मन उसको कहा है जो कलुषित है, जो गुह्यसमाज तन्त्र के अनुसार "अमनो मनस इति रूपादिविषयः" गुह्यसमाज के उत्तरतन्त्र में कहा गया है । वहाँ मन से मतलब कलुषित मन से है, रागादि से संपृक्त मन से है, रूपादि आकार वाले बाह्यमुखी मन से है । उसका त्राण करने वाली तान्त्रिक प्रक्रिया को त्राण करने वाला कहा गया है । इसलिये सभी को एक साथ नहीं मिलाना चाहिये । उसका सोच थोड़ा अलग है । एक मन जगत् के त्राणकर्ता के रूप में है, दूसरा मन जगत् के बीज के रूप में है, तो उन दोनों को अलग–अलग परिभाषित करके समझना चाहिये ।

एक जगह आचार्य चन्द्रकीर्ति ने कहा है कि तन्त्र में निहित शब्द सैकड़ों अर्थ बतलाता है, उसके सैकड़ों अर्थ होते हैं । उन्होंने कहीं एक जगह उदाहरण भी दिया है कि एक बैलगाड़ी चल रही है और दूसरा कवि चल रहा है, तीसरा भी कोई आदमी चल रहा था । रास्ते के किनारे एक ईंट का टुकड़ा पड़ा हुआ है । उस ईंट के टुकड़े से शकटिका वाला बच कर निकल जाता है । कवि उसे देख कर सामने से गुजरता हुआ कविता करने लगता है, अर्थात् वहाँ से कविता निकाल रहा है । वहाँ से शकटिका वाले को डर निकलता है, अर्थात् उससे गाड़ी टकरा गयी तो गाड़ी उलट जायेगी, इस प्रकार का डर निकल रहा है और कवि के लिए आनन्द निकल रहा है । तीसरे को क्या होता है, वह हमको ठीक से याद नही है । इस तरह वहाँ तीन भावनाओं की बात कही है । उस ईंट के टुकड़े से इस तरह से शब्द जो होता है, वह अपने में कोई सार्थक नहीं होता, वह विवक्षाधीन होता है । विवक्षा एक सोचने की दृष्टि होती है । तदनुसार उसमें से अलग–अलग अर्थ निकलता रहता है ।

●

पितृतन्त्र : परम्परा, दर्शन और साधना

-डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी-

तन्त्र देशना

बुद्ध द्वारा बोधि की प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण पर्यन्त उपदिष्ट वचनों में तन्त्र की देशना भी एक है, जो अध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था है । यह अत्यन्त गम्भीर और रहस्यपूर्ण है । अतः इसकी देशना, परम्परा तथा साधनाविधि आदि भी रहस्यात्मक ही हो, इसमें संदेह नहीं ।

तन्त्र का स्वरूप

गुह्यसमाज (१८.३३-३४) में तन्त्र को प्रबन्ध कहा है और अभिधेय की दृष्टि से उसके तीन भेद किये हैं— हेतु, उपाय और फल तन्त्र । अभिधान की दृष्टि से उक्त त्रिविध तन्त्रों के विषयों का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र तन्त्रशास्त्र कहलाता है ।

हेतु (आश्रय) तन्त्र

हेतु तन्त्र को अभिधेय की दृष्टि से देखें, तो सत्त्वों के चित्त का स्वभाव बुद्धस्वरूप होने के बावजूद आगन्तुक मलों से आवृत है । यह बीजसदृश है, जो प्रत्ययों के संसर्ग में आकर फल की प्राप्ति कराने में समर्थ है । कृत्रिम मल का नाश होने पर सत्त्वों का चित्त निर्मल होकर बुद्ध कहलाता है, अर्थात् सत्त्वों में आद्यन्तरहित सूक्ष्म प्राणचित्त की अविच्छिन्न संतति एवं साधक की मार्ग आदि प्रक्रियाओं की प्रवृत्ति या अवतारणा का आधार या आश्रय ही हेतु तन्त्र कहलाता है ।

उपाय तन्त्र

उपाय का अभिप्राय है हेतु को फल का रूप प्रदान करने वाली चित्तवृत्ति, अर्थात् फल को प्रकट करने में जो सहायक एवं प्रत्ययसदृश है, जो चित्त की निर्मलता में उपायभूत है, यह उपाय भी तन्त्र कहलायेगा । उपदेश और अभिषेक की अविच्छिन्न परम्परा और साधना में निरत साधक के अनुभव की परम्परा उपाय के रूप में निरन्तर विस्तार पाती रहती है ।

फल तन्त्र

फल तन्त्र का अभिप्राय है हेतु में असंहार्य रूप से स्थित फल का अभिमुखी भाव । चित्त की हेतु अवस्था में छिपी हुई निर्मल वृत्तियों को प्रकट करना फल तन्त्र है । जैसे वृक्ष के फूलों में फल असंहार्य रूप में स्थित है और कालक्रम से वह पक जाता है, उसी प्रकार उपाय तन्त्र के सहारे चित्त बोधि के रूप में परिष्कृत होकर फल तन्त्र कहलाता है । विभिन्न बौद्ध मतों में इसका गोत्र, सुगतगर्भ, बोधिचित्त और महामुद्रा आदि अनेक नामों से व्याख्यान हुआ है ।

तत्त्वदर्शन

बौद्ध वज्रयान दर्शन का अन्तिम उद्देश्य अद्वय ज्ञान की प्राप्ति एवं युगनद्धता को प्राप्त करना है । यही बुद्धवचनों का सार है । जैसा कि चर्यागीतिकोश की व्याख्या में कहा गया है—

चतुरशीतिसाहस्रे धर्मस्कन्धे महामुने ।
तत्त्वं तु ये न जानन्ति ते सर्वे निष्फलाय वै ॥ (पृ० २२)

अर्थात् चौरासी हजार धर्मस्कन्धों की देशना तत्त्वज्ञान के लिये ही हुई । तत्त्व क्या है ? कुद्दालपाद कहते हैं —

यस्य स्वभावो नोत्पत्तिर्विनाशो नैव दृश्यते ।
तज्ज्ञानमद्वयं नाम सर्वसंकल्पवर्जितम् ॥ (च. को., पृ० ७७)

वज्रयान में माध्यमिकों की निःस्वभावता और विज्ञानवादियों की चित्तमात्रता ही चतुष्कोटिविनिर्मुक्त निष्प्रपंच प्रज्ञोपायात्मक अद्वय तत्त्व है । इस स्थिति को वज्रयान के ग्रन्थों में आभासशून्यता, विद्याशून्यता, महासुखशून्यता आदि शब्दों से कहा गया है । प्रतिपत्तिसारशतक में आर्यदेव ने कहा है—

प्रज्ञाकरुणयोर्भेदः प्रदीपालोकयोरिव ।
प्रज्ञाकरुणयोरैक्यं प्रदीपालोकयोरिव ॥ (हस्तलिपि नेवारी)

अर्थात् प्रदीप और उसके आलोक की भाँति चित्त की प्रभास्वरता (आभास) और उसकी निष्प्रपञ्चता भिन्न भी है और अभिन्न भी । यही अद्वय तत्त्व है ।

महामायातन्त्र[१] की टीका गुणवती में भी रत्नाकरशान्तिपाद ने "चित्तमचित्तम्" कहकर अद्वय तत्त्व को त्रिकालिक, अजात और अनिरुद्ध माना है । यही वज्रयान का दार्शनिक पक्ष प्रतीत होता है ।

वज्रयान में साधना का स्वरूप

(क) वज्रयान के पर्याय : वज्रयान को मन्त्रयान, फलयान और उपाययान भी कहा जाता है । हेतु और फल, अर्थात् प्रज्ञा और उपाय की अभिन्नता ही वज्र है । जैसा कि अद्वयवज्र ने कहा है—

वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता ।
तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावता ॥

(अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २४)

अर्थात् वज्र या वज्रसत्त्व की प्राप्ति कराने वाला मार्ग एवं यान ही वज्रयान कहलाता है । बुस्तोन ने भी विमलप्रभा का उद्धरण देते हुए हेतु और फल की अभिन्नता को प्रतिपादित करने वाले शास्त्र को वज्रयान कहा है[२] । गुह्यसमाज में राग, द्वेष और मोह का परिशोधन करने वाले शास्त्र को वज्रयान कहा है । गुह्यसमाजोत्तर में भी कहा है—

कायवाक्चित्तवज्रेण भेद्याभेद्यस्वभावतः । (१८.३८)

अर्थात् काय, वाक् और चित्त की अभिन्नता को प्रतिपादित करने से यह वज्रयान कहलाता है ।

यह गुह्य-मन्त्रयान भी कहलाता है, अयोग्य पात्रों के लिये गुह्य रखा जाता है तथा योग्य साधक यहाँ उपदिष्ट मन्त्र और मुद्राओं के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करते हैं । विषयों के नाना प्रकार के गुण-दोषों में आसक्त होकर मन भवचक्र का कारण बनता है । उस मन की मन्त्रनय में उपदिष्ट मन्त्रों के द्वारा रक्षा की जाती है[३] । अथवा भाजनलोक विमान में, सत्त्व इष्टदेव में और सभी शब्द इष्टदेव के मन्त्र हैं । सभी कल्पनाएं या तर्क-वितर्क इष्टदेव की

---

१. महामायातन्त्र टीका गुणवती, पृ० १४
२. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-१४, पृ० ८९९
३. गुह्यसमाजतन्त्र १८.६९-७१

चित्तवृत्तियाँ हैं । ऐसे लोकोत्तर मार्ग का प्रतिपादन कर उस ओर ले जाने वाला यान ही वज्रयान है ।

यह फलयान भी कहलाता है, क्योंकि यह काय, उपभोग, देश, कर्म आदि फलावस्थाओं में जैसा उपलब्ध होता है, मार्ग अवस्था में भी तत्सदृश ही इसकी भावना करने की व्यवस्था है[1] । जैसे— त्रिध्यान (आदियोगध्यान, मण्डलराजाग्री तथा कर्मराजाग्री) की भावना विधि ।

यह उपाययान भी कहलाता है, क्योंकि इसमें पारमितानय की अपेक्षा अन्य अनेक उपाय और सुगम मार्गों का प्रतिपादन किया गया है । इससे त्वरित गति से वज्रधर पद की प्राप्ति होती है । विनयप्रदीप में आचार्य त्रिपिटककमल कहते हैं—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥

उपर्युक्त सेवनीय साधनापरक नाम-पर्यायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य यानों से भिन्न वज्रयान में धर्मकाय की प्राप्ति के उपादानकारक शून्यता की भावना ही नहीं, अपितु रूपकाय के उपादानकारक सूक्ष्म प्राणचित्त की भी व्यवस्था है, जो देवभावना का आधार बिन्दु है । इसी के आधार पर यह वज्रयान, फलयान, उपाययान आदि कहलाता है ।

(ख) संवर तथा समय : समय और संवर अभिषेक का प्राण है । स्वरूपगत समय सेवनीय है और संवर पालनीय । पालनीय चौदह मूलापत्तियाँ और आठ स्थूलापत्तियाँ संवर धर्म हैं तथा पञ्चतथागतसमय, समाधिसमय, चर्यासमय, भक्ष्यसमय और अपरित्याज्य द्रव्यसमय ये समय धर्म हैं । वज्रयान में संवर और समय का अभिप्राय अपने-अपने तन्त्रों में उपदिष्ट विशिष्ट नियमों और द्रव्यों के पालन तथा सेवन से है । इसका प्रयोजन अभिषेक की प्राप्ति के लिये शिष्य को परिपक्व बनाना है । इस तरह संवर की पूर्णता भी तभी मानी जायगी, जब अभिषेकप्राप्ति की प्रक्रिया पूरी हो जाय[2] ।

---

१. अनुत्तरयोगावतार, तो० सं० ३७१३, प० १०६

२. ज्ञेयकोश (शेस्-ब्या-कुन्-ख्यब्-म्जोद्) जिल्द-२, पृ० १३९, मी-रिगस्-द्पे-स्क्रुन-खङ्, पीकिंग, १९८२

तन्त्र के भेद से संवर में भी भेद हो जाता है । दीपंकर श्रीज्ञान ने समयसंग्रह में क्रिया तन्त्र की मूलापत्ति की संख्या तीस और शेष तीनों तन्त्रों में चौदह-चौदह बतायी है । संवर के द्वारा जहाँ बाह्याचरण में विशिष्ट नियमों का पालन करना पड़ता है, वहीं आन्तरिक तिलक (बिन्दु) की भी रक्षा करनी पड़ती है । तिब्बत के पण्डित धर्मश्री ने भी चारों तन्त्रों के संवर-स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि दर्शन, हास, पाण्याप्ति आदि किसी एक सुख का मार्गीकरण कर तत्सदृश राग के परिशोधनहेतु विशिष्ट प्रज्ञोपाय ज्ञान की भावना कर त्रिद्वार (काय, वाक्, चित्त) की वासना के निमित्त विकल्प को बाधित करने वाला सहेतुक चित्त, अर्थात् क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों के अभिषेक से प्राप्त होने वाला संवर या शील ही क्रिया आदि तन्त्रों के संवर का स्वरूप है[१] ।

(ग) अभिषेक : अभिषेक के अभाव में न तन्त्र में प्रवेश कर सकते है और न ही उसका श्रवण, चिन्तन और मनन । बिना अभिषेक प्राप्त किये साधना करें, तो न किसी प्रकार की लौकिक सिद्धि प्राप्त हो सकती है और न ही लोकोत्तर सिद्धि । इसका उल्लंघन करने से गुरु और शिष्य का नरकपतन होता है । अभिषेक के बिना सिद्धि की प्राप्ति वैसे ही है, जैसे बालू से तेल निकालना[२] । बुद्धकपालतन्त्र के ६-७ पटलों (देवोत्पत्ति और अभिषेक) में कहा है कि वीणा के सभी तन्तुओं के सम्पन्न हो जाने पर भी यदि उसको बजाने वाला विज्ञ न हो तो वह नहीं बजेगी । उसी प्रकार अभिषेक के बिना जप, ध्यान आदि करें तो अभीष्ट की प्राप्ति नहीं होगी[३] ।

तन्त्र का अधिकारी वही होगा, जो तन्त्र के नियमों का अनुपालन करने की योग्यता रखता हो । सामान्यतः अभिषेक का तात्पर्य है विधिवत् देना, सिञ्चित करना या विशिष्ट अधिकार की प्राप्ति कराना । हेवज्रतन्त्र में कहा है—

"सिच्यते स्नाप्यतेऽनेन सेकस्तेनाभिधीयते" (२.३.१२)

---

१. त्रिसंवरव्याख्या कल्पमञ्जरी, पृ० ३८४, ञिङ्मा विहार, देहरादून ।
२. महामुद्रातिलक, तो० सं० ४२०, प० ६६ ख ।
३. बुद्धकपाल, तो० सं० ४२४, प० १५७

अर्थात् जिससे सींचा जाता है, शुद्ध किया जाता है, उसे सेक कहते हैं । इसी प्रकार अद्वयवज्र ने भी कहा है कि कायवाक्चित्त आदि का आगन्तुक मलों से प्रक्षालन कर सिद्धि का भागी बनाना ही अभिषेक है । इस प्रकार अभिषेक का प्रयोजन है— अपने अखण्ड स्वरूप का बोध कर स्वामित्वप्राप्ति का अधिकारी होना ।

क्रिया, चर्या आदि तन्त्रों की उत्कृष्टता के आधार पर अभिषेक के चार भेद हैं— गुह्यसमाजोत्तरतन्त्र में मूलतः अभिषेक के चार प्रकार इस तरह से वर्णित हैं—

कलशाभिषेकं प्रथमं द्वितीयं गुह्याभिषेकतः ।
प्रज्ञाज्ञानं तृतीयं तु चतुर्थं तत्पुनस्तथा ॥ (पृ० १११-११२)

अर्थात् कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक तथा चतुर्थाभिषेक अथवा शब्दाभिषेक । कलशाभिषेक चारों तन्त्रों में उपलब्ध होता है, किन्तु शेष तीन अभिषेक मात्र अनुत्तर तन्त्र से सम्बद्ध हैं । कलशाभिषेक के भेद के सम्बन्ध में तन्त्रों में साम्य नहीं है । क्रियातन्त्र में कलशाभिषेक के भेदों में मात्र उदक और पट्ट अभिषेक ही दिया जाता है । चर्या तन्त्र में उक्त दो अभिषेकों के अतिरिक्त घण्टाभिषेक, वज्राभिषेक और नामाभिषेक तथा योगतन्त्र में इन पाँच शिष्य अभिषेकों के अतिरिक्त वज्राचार्याभिषेक (अवैवर्तिक) का भी विधान है । गुह्याभिषेक मण्डल में गुह्य रूप से प्रवेश कर मण्डल के दस तत्त्वों का और कर्म के क्रम का निदर्शन ही यहाँ गुह्याभिषेक है । अनुज्ञाभिषेक, व्याकरणाभिषेक, उच्छ्वास-अभिषेक और प्रशंसा-अभिषेक आदि भेद सहित कुल ग्यारह अभिषेकों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है[1] । इन सभी अभिषेकों के साथ कलश का व्यापार होने से ये सब कलशाभिषेक के नाम से जाने जाते हैं ।

अनुत्तर तन्त्र कलशाभिषेक के भेदो के सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं । आचार्य नागबोधि ने मण्डलोपायिकाविंशति में कलशाभिषेक के पुष्पमालाभिषेक, उदक, पट्ट (बुद्धाभिषेक), वज्र, घण्टा, आदर्श, नाम, आचार्य और अनुज्ञा अभिषेक, ये नौ भेद किये हैं[2] । भोटाचार्य ङोगलो ने पञ्चविद्याभिषेक, त्रिसमयाभिषेक, पञ्चकुलानुज्ञाभिषेक, व्याकरणाभिषेक, प्रशंसाभिषेक, उच्छ्वासाभिषेक, वज्राचार्याभिषेक और

---

१. ज्ञेयकोश, जिल्द-२, पृ० ६०३
२. तो० सं० १८१०, प० १३१-१४५

वज्रव्रताभिषेक आदि नामों से कलशाभिषेक के १८ भेद किये हैं[१] । प्रायः अनुत्तर तन्त्र के कलशाभिषेक में पांच शिष्याभिषेक और ६ आचार्याभिषेक सहित ११ अभिषेक ही प्रचलित हैं । शिष्याभिषेक के अन्तर्गत तोय, मुकुट, वज्र, घण्टा और नामाभिषेक तथा आचार्याभिषेक में प्रशंसा, व्याकरण, उच्छ्वास, वज्रव्रत, चर्याव्रत और अनुज्ञा नामक अभिषेक है । इन कलशाभिषेकों के निम्नलिखित प्रयोजन हैं—

१. अविद्यारूपी अन्धकार का प्रक्षालन करने की क्षमता प्राप्त करने हेतु उदकाभिषेक ।

२. उष्णीष आदि ३२ लक्षणों के प्रादुर्भाव हेतु मुकुटाभिषेक ।

३. अद्वयज्ञान का साक्षात्कार करने की क्षमता प्राप्त करने हेतु वज्राभिषेक ।

४. बुद्ध के वाक् लक्षणों (६0 घोषात्मक गुण) की प्राप्ति की क्षमता प्राप्त करने हेतु घण्टाभिषेक ।

५. जिस कुल (अक्षोभ्य आदि) से बुद्धत्व की प्राप्ति करनी हो, उस कुल के नाम से सम्बोधित करने हेतु संस्कार रखने के लिये नामाभिषेक ।

६. बोधिमार्ग से पतित न होने के लिए प्रशंसाभिषेक ।

७. बोधिप्राप्ति में वीर्य उत्पन्न करने हेतु उच्छ्वासाभिषेक ।

८. धर्मराज की प्राप्ति हेतु वज्राचार्याभिषेक इत्यादि ।

ये सभी अभिषेक उत्पत्तिक्रम से सम्बद्ध माने जाते हैं । गुह्याभिषेक आदि अन्य तीन अनुत्तराभिषेक निष्पन्नक्रम में परिपक्वता लाने हेतु दिये जाते है । गुह्याभिषेक के द्वारा गुरु (पितृ और मातृ का अद्वयरूप) द्वारा युगनद्ध समापत्ति से उद्भूत बोधिचित्त (अमृत) का पान कराने से शिष्य को विशेष महासुख की अनुभूति होती है, जिससे मन्त्रनय चर्या के प्रति संदेह के साथ मिथ्यादृष्टि का भी नाश होता है, श्रद्धा उत्पन्न होती है तथा सभी धर्मों की मायाकायस्वरूपता का बोध करने की क्षमता भी प्राप्त होती है । इसे द्रव्य का अभिषेक भी कह सकते हैं । प्रज्ञाज्ञानाभिषेक मे शिष्य भी मुद्रा के साथ समापत्ति अवस्था मे स्थित होता है और गुरु शिष्य को

---

१. ज्ञेयकोश, जिल्द–२, पृ० ६७३

चतुर्थाभिषेक की अवस्था में जिन चार आनन्दों का बोध कराता है, उन आनन्दों की भावना का अधिकारी बनाता है । यदि शिष्य भिक्षु हो तो चण्डाली की भावना से या ज्ञानमुद्रा के साथ समाहित होकर बोधिचित्त (बिन्दु) को स्रवित करता है । आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान ने बोधिपथप्रदीप में भिक्षु के लिये दर्शन मार्ग (तत्त्वज्ञान के बोध से पूर्व की प्राप्ति से पूर्व) गुह्यादि तीन अनुत्तर अभिषेकों का निषेध किया है[1] । यथा—

गुह्यप्रज्ञाभिषेकस्तु न ग्राह्यो ब्रह्मचारिणा ।

चतुर्थाभिषेक में प्रज्ञाज्ञानाभिषेक की अवस्था में उत्पन्न आनन्दों के सप्त अवयवयुक्त युगनद्ध संभोग सम्पन्न अवयव, एवं अद्वय, महासुख, निःस्वभाव, महाकरुणा, निरन्तरता और निरुद्ध अवयव (अद्वय) काय का गुरु शब्द के द्वारा शिष्य को इंगित करता है । तत्पश्चात् शिष्य युगनद्धकाय की प्राप्ति का अधिकारी हो जाता है[2] ।

(घ) अभिषेक का क्रम : युगनद्धकाय (परम पद) की प्राप्ति के लिये युगनद्धकाय की साधना का अधिकारी होना चाहिये, जिसे चतुर्थाभिषेक के द्वारा पूरा किया जाता है । युगनद्ध साधना के लिये प्रभास्वर ज्ञान का बोध अनिवार्य है, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक इसको अधिकारी बनाता है । प्रभास्वर ज्ञान के साक्षात्कार के लिये मायाकाय (काय-वाक्-चित्त विवेक) का ज्ञान होना अनिवार्य है, गुह्याभिषेक इसको अधिकारी बनाता है । मायाकाय की साधना हेतु उत्पत्तिक्रम का पूर्वाभ्यास अनिवार्य है, कलशाभिषेक इसको अधिकारी बनाता है । इस प्रकार अनुत्तर तन्त्रों में प्रायः इसी क्रम से अभिषेक दिया जाता है । गुह्यसमाज की अभिषेकविधि भी इसी का अनुकरण करती है[3] ।

तन्त्रों का वर्गीकरण

बौद्ध तन्त्र वाङ्मय के विद्वानों ने तन्त्रसाधना के स्वतन्त्र रूप से अनेक भेद किये हैं । किन्तु ये सब मुख्यतः क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग इन्हीं चार में समाहित हो जाते हैं । यहाँ संक्षेप में उनका विवरण दिया जा रहा है ।

---

१. बोधिपथप्रदीप, पृ०-६५, केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ, १९८४

२. ज्ञेयकोश, जिल्द-२, पृ० ६७७

३. तो० सं० १८१०, प० सं० १३१-१४५

सम्पुट तन्त्र की टीका आम्नायमंजरी मे अभयाकर गुप्त ने तन्त्र को बाह्य और आभ्यन्तर के भेद में विभक्त कर क्रिया और चर्या तन्त्र को बाह्य तन्त्र एवं योग और अनुत्तरयोग तन्त्र को आभ्यन्तर तन्त्र कहा है । भोट विद्वान् कोंटुल रिनपोछे ने प्रदीपोद्योतन के वचनों को उद्धृत कर उत्पन्नक्रम अथवा निष्पन्नक्रम का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों को आभ्यन्तर और मात्र उत्पत्तिक्रम का प्रतिपादन करने वाले तन्त्रो को बाह्य तन्त्र कहा है । सम्पुट तन्त्र में राग के चार प्रस्थानों के अनुसार तन्त्र के चार भेद किये हैं—

हासदर्शनपाण्याप्तिः स तु तन्त्रे व्यवस्थितः ।
रागश्चैव विरागश्च चर्बयित्वा घुणः स्थितः ॥ (६.३.४९)

श्रद्धाकर वर्मा ने अनुत्तरयोगावतार[१] मे योगतन्त्र की आभ्यन्तर समाधि और बाह्य चर्या के भेद से तन्त्र के क्रिया, चर्या, उभय, योग और अनुत्तरयोग नामक पाँच भेद कहे हैं । शान्तिपाद ने त्रियानव्यवस्था[२] में इनको क्रिया, चर्या, योग, महायोग और अनुत्तरमहायोग नामक पाँच भागों में विभक्त किया है । डाकार्णव तन्त्र[३] में भी इनकी संख्या क्रिया, चर्या योग, महायोग और महा अनुत्तरयोग के आधार पर पाँच कही गई है । वज्रज्ञानसमुच्चयतन्त्र[४] में भी इनकी संख्या पाँच ही बताई गई है । यथा— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, उभयतन्त्र, कल्पतन्त्र और योगतन्त्र । काण्हपाद ने योगरत्न माला[५] में— "सर्वमन्त्रनयमिति पञ्चविधम्, क्रिया-चर्या-योग-योगोत्तर-योगनिरुत्तरभेदेन" कह कर पांच भेद बताये है । पण्डित अलंकलश[६] ने कहा है कि भगवान् बुद्ध द्वारा निदर्शित सभी तन्त्र पांच भागों में विभक्त होते हैं । वे हैं— क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरतन्त्र और अनुत्तर- मातृयोगतन्त्र । त्रिपिटककमल[७] ने इनको क्रिया, मूल,

---

१. अनुत्तरयोगावतार, तो० सं० ३७१३, प० १०४-११५
२. त्रियानव्यवस्था, तो० सं० ३७१२, प० १०३
३. तो० सं० ३७२, प० २१९
४. तो० सं० ४४७, प० २८४ख
५. योगरत्नमाला, हेवज्रतन्त्र, भाग-२, पृ० १५६, सम्पा०-डी० स्नेल-ग्रोव ।
६. तो० सं० १७९५, प० ३
७. नयत्रयप्रदीप, तो० सं० ३७०७, प० २१ख-२६

चर्या, योग, योगगुरु और अनुत्तरयोग नाम के ६ भागों में बांटा है । दीपंकर श्रीज्ञान ने बोधिपथप्रदीप की स्ववृत्ति[१] में क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, कल्पतन्त्र, उभयतन्त्र, योगतन्त्र, अनुत्तरयोगतन्त्र में इनको बाँटा है । बुस्तोन ने क्रिया, चर्या, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र के अलावा अन्तिम तन्त्र के पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र नामक तीन भेद कर सम्पूर्ण तन्त्र ग्रन्थों को सात भागों में विभक्त किया है[२] ।

अनुत्तरतन्त्र के भेद

भोट देश के आचार्यो ने जिस प्रकार स्पष्ट रूप से पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या की है, ऐसा भारतीय आचार्यों के ग्रन्थों में बहुत कम देखने को मिलता है । जैसे चर्या कृष्णपाद ने गुह्यतत्त्वप्रकाश[३] में उत्पत्तिक्रम प्रधान पितृतन्त्र और निष्पन्नक्रम प्रधान मातृतन्त्र कहा है । अनुत्तरतन्त्रार्थसंग्रह में श्रद्धाकर वर्मा अनुत्तर तन्त्र के दो भेद करते हैं— उपाय योगतन्त्र और प्रज्ञा योगतन्त्र । वे कहते हैं कि जिसमें उदार तत्त्वों का प्रमुखता से निर्देश हुआ हो, वह उपायतन्त्र और जिसमें गम्भीरार्थ की प्रधानता रहती है, वह प्रज्ञातन्त्र[४] कहलाता है। जिसमें स्कन्ध, आयतन और धातु की परिशुद्धि द्वारा देवभावना की प्रक्रिया प्रतिपादित हो, वह उपाय तन्त्र है और जिसमें बोधिचित्त का विशुद्ध होकर देवरूप में प्रकट होना निर्दिष्ट हो, वह प्रज्ञातन्त्र कहलाता है ।

बुस्तोन पितृतन्त्र और मातृतन्त्र का स्वरूपगत भेद इस प्रकार बताते हैं[५]— समान आनन-भुजाओं वाला युगनद्धकाय उपाय एवं पितृतन्त्र का देव कहलाता है, जिसमें मातृ और पितृ देवों की आनन और भुजायें भिन्न रहकर युगनद्धकाय रूप हो, वे मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं । वज्रपञ्जर को उद्धृत कर वे कहते हैं कि जिसमें तथागत वज्रडाकिनी के रूप में उत्थित और पार्षदों में मातृदेवियों की प्रधानता रहे, वह मातृतन्त्र कहलाता है । जहाँ देव पञ्चतथागत कुलों

---

१. बोधिपथप्रदीप स्ववृति, पृ० २१३, धर्मशाला, हि० प्र०, १९६९
२. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-२४, पृ० ९७५-९९०
३. तो० सं० १४५०, प० ३४९ख
४. तो० सं० ३७१३, प० १०६ख
५. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-४, पृ० ४४-४८

में प्रकट हों और अनुचरों में पितृदेवों की प्रधानता रहे, वह पितृतन्त्र है । जिसके आसन और सिंहासन रत्ननिर्मित हों और उसके ऊपर रत्नालङ्कार तथा चक्रादि से विभूषित, क्रोध से भरे वामपाद प्रत्यालीढ़ मुद्रा में प्रकट हो, वे देव उपाय तन्त्र के देव कहलाते हैं । शवासन, कपाल और अस्थि आभूषणों से अलंकृत हाथ में कर्त्री, कपाल, खड्ग और डमरु आदि धारण किये व्याघ्र और गज चर्मों का परिधान पहने या निर्वस्त्र नग्न देव प्रज्ञा मातृतन्त्र के देव कहलाते हैं । प्रतिपादन की दृष्टि से नाड़ी और तिलक का जिसमें प्रधान रूप से निरूपण हुआ हो, वह मातृतन्त्र और जिसमें वायु का प्रधान रूप से प्रतिपादन हुआ हो, वह पितृतन्त्र कहलाता है । जिसमें साधक के पञ्चस्कन्धविशुद्ध पञ्चतथागतों में परिणत होने की प्रक्रिया उपदिष्ट हो, वह पितृतन्त्र और जहाँ पांच धातुओं को परिशुद्ध कर पांच देवियों में निरूपण करने की प्रक्रिया हो, वह मातृतन्त्र कहलाता है ।

अन्य भोटाचार्य पद्मा करपो[१] निष्पन्नक्रम की साधना के भेद के आधार पर अनुत्तरतन्त्र का भेद करते हैं । यथा—पञ्चक्रम की प्रक्रिया से जिसमें निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है, वह पितृतन्त्र और जिसमें चार मुद्राओं द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना हो, वह मातृतन्त्र तथा प्रत्याहार, समाधि आदि षडङ्ग योग के द्वारा निष्पन्नक्रम की साधना हो, वह अद्वयतन्त्र है । सिद्ध गोद्छंग[२] ने भी चक्रसंवर की व्याख्या में इसी बात को कहा है ।

अनुत्तरतन्त्र के इन भेदों के सम्बन्ध में आगमों में भी कई संदर्भों में वर्णन आया है । यथा— बुद्धकपाल तन्त्र[३] में योगतन्त्रों की सख्या ६ करोड़ और योगिनीतन्त्रों की संख्या १६ करोड़ बताई है । वज्रपञ्जर के अनुसार महामुद्रासाधनोपाय जिस तन्त्र में उपदिष्ट हो, वह योगिनीतन्त्र कहलाता है । वज्रगर्भालङ्कारतन्त्र[४] में गुह्यसमाज और डाकिनीतन्त्र, पितृतन्त्र के नाम से व्याख्यात है । वज्रपञ्जर के तेरहवें पटल में हेवज्र, गुह्यकोश, वज्रामृतोद्भव, चक्रसंवर, स्वयं वज्रपञ्जर और

---

१. पद्मा-करपो संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-१०, प० ३८, टशीजोङ्, पालमपुर (हि० प्र०) ।
२. चक्रसंवरव्याख्या, प० ८, दिल्ली संस्करण ।
३. तो० सं० ४२४, प० १४३
४. तो० सं० ४१९, प० ५४ख

संवरोदयतन्त्र इन ६ तन्त्रों को योगिनीतन्त्र कहा है[1] । ऐसा प्रतीत होता है कि अनुत्तरतन्त्र के इन आगम शास्त्रों में वर्णित योग और योगिनीतन्त्रों के भेद के आधार पर ही मातृ और पितृ तन्त्रों को परिभाषित किया गया है । यह विषय विद्वानों के समक्ष विचारणीय है ।

यद्यपि ये तीनों तन्त्र अद्वय तत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं, भाव की निष्पत्ति भी सब में समान है, यथा—

प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते ।
योनिः स्वभावतः प्रज्ञा उपायो भावलक्षणम् ॥ (गु. स., १८.३२)
हेकारेण महाकरुणा वज्रं प्रज्ञा च भण्यते ।
प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं तन्त्रे निगदितं शृणु ॥ (हे. त., १.१.५)

लेकिन साधना-विधि में सूक्ष्म प्राणवायु और तिलकयोग की प्रधानता एवं प्रभास्वर मायाकाय और महासुखस्वरूप मायाकाय की साधना के भेद से इन तन्त्रों और साधनाओं में सूक्ष्म अन्तर देखने को मिलता है । यहाँ गुह्यसमाज में निर्दिष्ट पितृतन्त्र की साधनाविधि पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जायगा ।

पितृतन्त्र का अभ्युदय

विनेय जनों के आधार पर पितृतन्त्र के तीन भेद हैं । रागप्रधान के लिये गुह्यसमाज, द्वेषप्रधान के लिये यमारितन्त्र और मोहप्रधान के लिये नामसंगीतितन्त्र की देशना हुई है[2] । कुछ विद्वान् नामसंगीतितन्त्र के स्थान पर वज्र-अरल्लि को मानते हैं[3] । गुह्यसमाज पितृ तन्त्र का मुख्य ग्रन्थ है । विस्तृत मूल तन्त्र २५ हजार श्लोकप्रमाण और संग्रह मूल तन्त्र १८00 श्लोकप्रमाण का माना जाता है[4], जो सत्रह परिच्छेदों मे प्रबन्धित है । संग्रह तन्त्र ही मूल तन्त्र कहलाता है, क्योंकि इसके अठारहवें परिच्छेद उत्तर तन्त्र मे संग्रह मूल तन्त्र से प्रश्नो को उठा कर उसकी व्याख्या की गई है । १८वें परिच्छेद के उत्तर तन्त्र होने के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसकी देशना मूल तन्त्र के उसी विमानमण्डल और

---

१. तो0 स0 ४१९, प0 ३७
२. ज्ञेयकोश, जिल्द-१, पृ0 ४६६
३. साभान्यतन्त्र-पन्छेन सोद्नम डगपा, पृ0 ३६
४. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-१५, पृ0 ३२९

अनुचर देवों के मध्य में की गई है । गुह्यसमाज को सही ढंग से तभी समझा जा सकता है, जब इसके उत्तर तन्त्र और व्याख्यातन्त्र का सम्यक् रूप से अध्ययन हो । इसके वज्रमाला[१], सन्धिव्याकरण[२], वज्रज्ञानसमुच्चय[३], चतुर्देवीपरिपृच्छा[४], वज्रहृदयालङ्कार[५] और देवेन्द्रपरिपृच्छा[६] ये ६ व्याख्यातन्त्र हैं । देवेन्द्रपरिपृच्छा भोट भाषा में अनुपलब्ध है । कुछ विद्वान् आर्य-अद्वयसमताविजयाख्य कल्पमहाराजतन्त्र को भी इसका व्याख्यातन्त्र मानते हैं । सर्वरहस्यतन्त्र को भी कुछ विद्वान् गुह्यसमाज का ही व्याख्यातन्त्र मानते हैं । लेकिन शान्तिपाद ने इसकी व्याख्या योगतन्त्र में की है, ऐसा बुस्तोन का कथन है । गुह्यसमाज का अष्टादश पटल उत्तरतन्त्र है । यह मैत्रेय आदि बोधिसत्त्वों के द्वारा तथागत से प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में उपदिष्ट है । इसमें सिद्ध थगनपाद, आचार्य भव्यकीर्ति और आचार्य विश्वमित्र के अनुसार क्रमशः ५४, ७२ और ५६ प्रश्नों के उत्तर हैं, जिनमें बोधिसत्त्वों के सन्देह का निराकरण है[७] ।

गुह्यसमाज की परम्परा

परवर्ती भोट आचार्य एवं इतिहासकार जमगोन अमस जबस् ने गुह्यसमाज की परम्परा नामक ग्रन्थ में[८] आर्यदेश में गुह्यसमाज की सात परम्पराओं को गिना है, यथा— १. आर्य आम्नाय, २. आचार्य ज्ञानपाद आम्नाय, ३. शान्तिपाद आम्नाय, ४. आचार्य ललितवज्र परम्परा, ५. पण्डित स्मृतिपाद आम्नाय, ६. कालचक्र के अनुसार व्याख्या परम्परा, ७. आनन्दगर्भ की परम्परा ।

१. आर्य आम्नाय

ज्ञानडाकिनी द्वारा सिद्ध सरहपाद को उपदिष्ट परम्परा का नागार्जुन, आर्यदेव और चन्द्रकीर्ति ने प्रचार किया । आचार्य नागार्जुन

---

१. तो० सं० ४४५, प० २०८-२७७
२. तो० सं० ४४४, प० १५८-२०७
३. तो० सं० ४४७, प० २८२-२८६
४. तो० सं० ४४६, प० २७७-२८१
५. वज्रगर्भालङ्कार, तो० सं० ४५१, प० ३६-५८
६. देवेन्द्रपरिपृच्छा, प्रदीपोद्योतन गुह्यसमाजतन्त्र टीका में उद्धृत ।
७. बुस्तोन संग्रह ग्रन्थ, जिल्द-१५, प० ३०-३२
८. गुह्यसमाज की परम्परा का इतिहास, प० २४-४४, दिल्ली से प्रकाशित ।

ने गुह्यसमाज के मूल तन्त्र में आये उत्पत्तिक्रम से सम्बद्ध सभी तथ्यों को लेकर पिण्डीकृत साधनोपायिका की रचना की । इसमें गुह्यसमाज के ३२ देवमण्डलों की भावना त्रिध्यान द्वारा की जाती है । पिण्डीकृत में अपूर्ण प्रभास्वर में विलीन कर पुनः उत्पन्न करने की विधि को गुह्यसमाजयोगतन्त्रोत्पादक्रमसाधनासूत्रमेलाप द्वारा पूरा किया । निष्पन्नक्रम के सम्बन्ध में पंचक्रम और बोधिचित्त विवरण तथा साधक की परिपक्वता के लिये अभिषेक और मण्डल से सम्बद्ध विंशतिविधि की रचना की, लेकिन यह तंजुर में नागबोधि के नाम से उपलब्ध होती है । नागार्जुन के शिष्यों में आर्यदेव अग्रणी हैं । इन्होंने गुह्यसमाज के निष्पन्नक्रम से सम्बद्ध चर्यामेलापकनामक ११ परिच्छेदों वाले अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की । इसके अतिरिक्त चित्तविवेक से उत्तरित चित्तविशुद्धिप्रकरण, मायाकाय से उत्तरित स्वाधिष्ठानक्रम तथा प्रभास्वर से उत्तरित अभिसंबोधिक्रमोपदेश नामक ग्रन्थो की रचना की । सिद्ध नागबोधि ने पिण्डीकृत साधना को परिशोध्य (जन्म, मृत्यु और अन्तराभव) के साथ जोड़ कर देव की आधि-इच्छा द्वारा प्रभास्वर में प्रवेश की विधि, कायमण्डल मण्डलराजाग्र के अस्पष्ट अंगों को स्पष्ट करने हेतु गुह्यसमाजव्यवस्थावली और निष्पन्नक्रम के प्रतिपादन हेतु कर्मान्तविभग की रचना की । आचार्य राहुलधरश्रीमित्र ने युगलानन्दप्रकाशनाम सेकप्रक्रिया की रचना की, जो आर्य आम्नाय की मण्डल और अभिषेक विधि का प्रामाणिक एवं सम्पूर्ण ग्रन्थ है । आचार्य शाक्यमित्र के नाम से गुह्यसमाज पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, लेकिन नागार्जुन रचित पंचक्रम के द्वितीय क्रम में इनका नाम प्राप्त होता है । इस विषय पर भोट देश के विद्वानों में कुछ मतभेद है । ब्ल्यू एनल्स के रचयिता गोस्लो जोन नु पल् द्वितीय क्रम के प्रारम्भ के ४७ श्लोकों को नागार्जुन की रचना और शेष को शाक्यमित्र की रचना मानते हैं । लक्ष्मींकरा रचित पचक्रमवृत्तार्थवैरोचन मे शाक्यमित्र नागार्जुन के शिष्यों में अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि के थे । अतः प्रसन्नतावश इन्होने अपने ग्रन्थ के द्वितीय क्रम मे अपने शिष्य का नाम लिख दिया । कुछ विद्वानों के अनुसार शाक्यमित्र नागार्जुन का ही नामान्तर है । वज्रासनपाद ने इन्हें ८४ सिद्धो के क्रम मे ६४वे स्थान पर रखा है और उन्हें महायानी नागार्जुन का शिष्य (लकड़हारा) कहा है ।

इन पाँच आचार्यों के विचारों को चन्द्रकीर्ति ने उत्पत्ति और उत्पन्नक्रम की षट्कोटि और चार-नय की विधि से अलंकृत कर गुह्यसमाज पर प्रदीपोद्योतन टीकाग्रन्थ की रचना की । इसी क्रम में (आर्य आम्नाय) अभयाकर गुप्त ने पंचक्रममतिटीका चन्द्रप्रभा, वीर्यभद्र ने पंचक्रमपंजिका परमार्थ, भव्यकीर्ति ने पंचक्रमपंजिका, लीलावज्र ने पंचक्रम विवरण, समयवज्र ने पंचक्रमपंजिका, मुनिश्री ने पंचक्रमार्थ योगी मनोहर टिप्पणी की रचना की । इसी आम्नाय में अनेक सिद्धाचार्यों ने होम, पूजा आदि के परिवार-ग्रन्थों की रचना की है । सारांश में गुह्यसमाज की अनेक परम्पराओं में यह (आर्य आम्नाय) अन्यतम है । इसमें उत्पत्तिक्रम, त्रिध्यान और निष्पन्नक्रम पंचक्रम की भावना की जाती है ।

२. आचार्य ज्ञानपाद आम्नाय

इस परम्परा में गुह्यसमाज के १७ परिच्छेदों की मूलतन्त्र और अठारहवें परिच्छेद (उत्तरतन्त्र) एवं वज्रगर्भालंकार की व्याख्यातन्त्र के रूप में मान्यता है । आचार्य ज्ञानपाद ने मंजुश्री से भविष्यवाणी सुनकर गुह्यसमाज पर १४ ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना कर विस्तृत व्याख्या की है । यही ज्ञानपाद आम्नाय है । इनके मुख्य ग्रन्थों में द्विक्रमतत्त्वभावना, समन्तभद्रनामसाधना, चतुरंगसाधना समन्तभद्र, मुक्तितिलक और आत्मसाधनावतार प्रमुख हैं । इनके शिष्यों में दीपंकरभद्र, प्रशान्तमित्र, राहुलधरभद्र और वज्रमहासुख आदि प्रमुख है । द ब्ल्यू एनल्स में इसकी परम्परा इस प्रकार गिनाई गई है— मंजुश्री, ज्ञानपाद, दीपंकरभद्र, आनन्दगर्भ, थगनपाद, शान्तिपाद, श्रद्धाकर, पद्माकर और तिब्बत के महान् अनुवादक रत्नभद्र । बुस्तोन के मत में आचार्यों का क्रम इस प्रकार है—मंजुघोष, अवधूतिपाद, बुद्धश्रीज्ञान, दीपंकर, आनन्दगर्भ, जपवज्रशान्तिपाद, श्रद्धाकर, पद्माकर और तिब्बत के रत्नभद्र । इस आम्नाय में उत्पत्तिक्रम की भावना चार सेवा अंगों द्वारा और निष्पन्नक्रम की साधना चार नाडीचक्रों में चार बिन्दुओं की भावना कर चार आनन्दों की उत्पत्ति के रूप में की जाती है । इस आम्नाय के पितृप्रधान होने पर भी साधनापद्धति और अभिषेकविधि मातृतन्त्र सदृश है ।

३. शान्तिपाद आम्नाय

रत्नाकर शान्तिपाद ने मूल तन्त्र और उत्तर तन्त्र को मिलाकर कुसुममञ्जरी-गुह्यसमाज निबन्ध नामक ग्रन्थ की रचना कर गुह्यसमाज

की एक स्वतन्त्र पद्धति की व्याख्या की है । इन्होंने आर्य आम्नाय के जिनपुत्र भूमिमिश्र से और ज्ञानपाद आम्नाय के भैषज्य से गुह्यसमाज का अध्ययन किया । लेकिन इन्होंने दोनों आम्नायों से भिन्न अक्षोभ्य प्रधान २५ कुलमण्डलों की परम्परा की स्थापना की है ।

४. आचार्य ललितवज्र परम्परा

इस परम्परा के अनुसार गुह्यसमाज के निदान परिवर्त की मातृतन्त्र के अनुसार व्याख्या की जाती है । इस प्रकार यह भी एक स्वतन्त्र परम्परा के रूप में मान्य है ।

५. पण्डित स्मृतिज्ञान आम्नाय

इन्होंने गुह्यसमाज का अध्ययन गुरु भद्रपाद से किया । इन्होंने भी अन्य परम्पराओं से भिन्न स्वतन्त्र व्याख्या और साधना पद्धति की स्थापना की । ये तिब्बत में भी गये थे तथा इन्होंने स्वयं षडंग योग व्याख्या आदि का अनुवाद भी किया ।

६. कालचक्रव्याख्यानुसार गुह्यसमाज की परम्परा

शान्तिपाद आदि छः द्वारपालों के आने के पश्चात् शम्भल से कालचक्र का आर्यदेश में आगमन हुआ था । तत्पश्चात् प्रायः सभी अनुत्तर तन्त्रों की व्याख्या कालचक्र के अनुसार प्रारम्भ हो गई थी । इसी के अन्तर्गत गुह्यसमाज की भी व्याख्या होने लगी, जो एक स्वतन्त्र प्रणाली के रूप में विकसित हुई । इसमें गुह्यसमाज की ९, १३, १९, २५, ३२ और ३४ देवमण्डलों की स्थापना विधि है । इनमें प्रथम और अन्तिम कालचक्रसदृश मण्डल स्थापना विधि कहलाती है ।

७. योगतन्त्रव्याख्यानुसार गुह्यसमाज की परम्परा

वज्रसत्त्व स्वरूप जहोर (जगद्दल) के राजा प्रकाशचन्द्र से आनन्दगर्भ ने अष्टादश तन्त्र का अध्ययन किया था । ये तारा द्वारा अधिष्ठित थे । ये गुह्यसमाज मूलतन्त्र, वैरोचन मायाजाल मूलतन्त्र और व्याख्या तन्त्रों को योगतन्त्र के तत्त्वसंग्रह के प्रथम धर्मधातु भाग से जोड़कर गुह्यसमाज की व्याख्या भी योगतन्त्र में करते हैं । जमगोन अमस् जबस का मत है कि आर्यदेश में तन्त्रव्याख्या की दो प्रमुख धाराएं थीं । मध्यदेशीय विद्वान् तन्त्रों को क्रिया आदि चार भागों में

विभक्त कर व्याख्या करते है, लेकिन ज़होर की परम्परा में आनन्दगर्भ आदि इसकी व्याख्या योगतन्त्र में करते हैं । कोङट्रुल रिनपोछे ने ज्ञेयकोश में गुह्यसमाज की २४ परम्पराओ के होने की बात कही है[१], जिनमे पद्मवज्र, अनगवज्र, नागार्जुन, लीलावज्र, वज्रहास, त्रिकण्ठेश्वर, सुघोषरक्षित, बुद्धज्ञान, रत्नाकरशान्तिपाद और आनन्दगर्भ आदि की परम्परा को प्रमुख माना है । तिब्बत में इन परम्पराओं में नागार्जुन, ज्ञानपाद, शान्तिपाद, वज्रहास, पद्मवज्र और आनन्दगर्भ की परम्परा थी, लेकिन उनमें आर्य आम्नाय और ज्ञानपाद की परम्परा प्रमुख रही ।

गुह्यसमाज के व्याख्यातन्त्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है— वज्रमालातन्त्र निष्पन्न क्रम के अगों पर प्रकाश डालने वाला महत्त्वपूर्ण और बृहद् ग्रन्थ है । वज्रपाणि द्वारा भगवान् से प्रश्न करने पर उत्तर के रूप में ६८ परिच्छेदों में विभक्त कर इस तन्त्र की देशना हुई है । इसमें तन्त्र का परिशोध्य आधार (मृत्यु, जन्म और अन्तराभव), नाड़ी, वायु, तिलक और अभिषेक विधि के २० प्रबन्ध, उत्पत्तिक्रम के त्रिध्यान, चार योग, ४९ तत्त्वों और ३२ देवों की, अ आदि ४० अक्षरों की व्याख्या और निदान परिवर्त के द्वारा तन्त्र के सम्पूर्ण अङ्गों को सगृहीत कर उनकी स्पष्ट व्याख्या की है । सन्धिव्याकरणनिर्देशतन्त्र गुह्यसमाज में आये वज्रजाप और उत्पन्नक्रम के नेयार्थो के अभिप्रायों को स्पष्ट करते हुए १२ पटलों में सम्पन्न होता है । चतुर्देवीपरिपृच्छातन्त्र लोचनादि चार देवियो द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर में प्राणायाम, बोधिचित्त (तिलक) कायोत्पत्ति की विधि, मण्डल इत्यादि रहस्यों का खुलासा करते हुए ४ परिच्छेदों में पूर्ण होता है । वज्रज्ञानसमुच्चय गुह्यसमाज के अभिधेय, सप्तालङ्कार, षट्कोटिव्याख्या और मायाकाय की साधनाविधि का स्पष्ट निर्देश करता है । बुस्तोन का कहना है कि यह बृहद् ज्ञानवज्रसमुच्चय का एक अंगमात्र है, अर्थात् पूरा अप्राप्त है । श्रीवज्रहृदयालङ्कार १६ परिच्छेदों में निबद्ध है । इसमे मण्डलप्रवेश विधि, चार अभिषेकों की विधि और उनके गुण, मण्डल अभिसमय निर्देश, तथागत कुलों का समय, मूलापत्ति, स्थूलापत्ति, समय और सवर इत्यादि विषयों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है । बुस्तोन के अनुसार यह व्याख्यातन्त्र है, क्योंकि इसमें मन्त्र और ज्ञान से काय की उत्पत्ति पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है ।

---

१. ज्ञेयकोश, जिल्द–२, पृ० ४६६, तिब्बत से प्रकाशित, १९८४

वज्रदेह

अनुत्तर तन्त्र के पितृतन्त्र, मातृतन्त्र तथा अद्वयतन्त्र के निष्पन्नक्रम की भावनाविधियों में यद्यपि समानता नहीं है, तथापि युगनद्धकाय की प्राप्ति तथा उसके आधार वज्रदेह, नाड़ी, वायु और तिलक में समानता है । वज्रदेह से तात्पर्य ३६ स्कन्धों या ६ धातुओं के समूह से है । अनुत्तरतन्त्र का साधक कामधातु का सत्त्व ही हो सकता है, क्योंकि रूप तथा अरूप धातुओं में आकाश, वायु आदि कुछ ही धातु होते हैं, अर्थात् वज्रदेह के लिये आवश्यक स्कन्ध तथा धातु का अभाव रहता है । ६ धातुओं को स्पष्ट करते हुए सवरोदय तन्त्र में कहा है—

त्वङ् मांसकं च रक्तं च मातृजा इति कथ्यते ।
स्नायु मज्जा च शुक्रं च पितृजा इति कथ्यते ।
एव षाट्कौशिकं पिण्ड वज्रसत्त्ववचो यथा ॥ (२.२८-२९)

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मज्जा और शुक्र इन ६ धातुओं से सम्पन्न यह काय ही निष्पन्नक्रम का परिशोध्य है । इसे समल निर्माणकाय[1] भी कहते हैं । इसी प्रकार ३६ स्कन्धों का वर्णन निम्नलिखित है—

(क) षट्स्कन्ध—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान तथा ज्ञान ।
(ख) षड्धातु—क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश और विज्ञान ।
(ग) षडिन्द्रिय—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मन ।
(घ) षड्विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म ।
(ङ) षट्कर्मेन्द्रिय—मुख, हाथ, पैर, लिंग, विष्टा और शुक्र ।
(च) षट्कृत्येन्द्रिय—बोलना, लेना, जाना, मूत्र, मल और शुक्र का संक्रमण ।

नाड़ी एवं चक्र

सवरोदय तन्त्र के अनुसार मनुष्य के शरीर में ७२ हजार नाड़ियाँ है । इनमें से प्रमुख १२० नाड़ियों का विभाजन इस प्रकार है— उष्णीष चक्र मे ३२, कण्ठचक्र में १६, हृदय चक्र में ८ और नाभिचक्र मे ६४ ।

---

१. ज्ञेयकोश, जिल्द-२, पृ० ६३३

इनमें से भी प्रधान तीन नाड़ियाँ इस प्रकार हैं— ललना, रसना तथा अवधूती (मध्यमा) । हेवज्रतन्त्र में कहा भी है—

तिस्रो नाड्यः प्रधानाः ललना, रसना, अवधूती चेति ।

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।
प्रज्ञाचन्द्रवहा ख्याताऽवधूती सा प्रकीर्तिता ॥

अवधूती को मध्यमा, राहु, शंखिनी इत्यादि अनेक पर्यायों से कहा जाता है । अवधूती नाड़ी के सम्बन्ध में आचार्यों में एकमत नहीं है । कुछ इसे काल्पनिक तो कुछ अतिसूक्ष्म (अश्वकेशसदृश) मानते हैं । अन्यत्र अवधूती को सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त माना जाता है, तो अन्य आचार्यों के अनुसार घ्राण से होते हुए, उष्णीष से लेकर रीढ की हड्डी के साथ होते हुए नाभिक्षेत्र से चार अंगुल नीचे तक इसकी व्याप्ति है । कही गुह्येन्द्रिय के अग्र भाग तक अथवा कहीं पादतल तक अवधूती के होने की चर्चा मिलती है[१] । इसी प्रकार नाडी-चक्रों की संख्या में भी ऐकमत्य नहीं है । विभिन्न ग्रन्थों में ४, ६ अथवा १८ चक्रों का वर्णन आता है । आचार्य रङ्जुङ् दोर्जे का मत है कि जैसे ज्ञान का मूल मध्यमा (निष्प्रपंच) है, उसी प्रकार भाव का मूल भी महाप्राण नाड़ी है । वे कहते हैं कि २४००० चन्द्र एवं शुक्रवाहिनी नाड़ी ललना है, २४००० सूर्य एवं शोणितवाहिनी नाड़ी रसना है । २४००० वायुवाहिनी नाड़ी मध्यमा है[२] ।

अवधूती की दाहिनी ओर रसना तथा वायीं ओर ललना ये दो प्रधान नाड़ियाँ नाभि से चार अंगुल नीचे विश्लिष्ट होकर नाभिप्रदेश में गुर्दे की महानाड़ी से सम्बद्ध होती हैं । संक्षेप में ललना शुक्रवाहिनी और रसना रक्तवाहिनी है । ललना और रसना उष्णीष चक्र से लेकर गुह्येन्द्रिय चक्र तक अवधूती से आलिंगित रहती है ।

वायु

गुह्यसमाज के व्याख्यातन्त्र वज्रमाला के १२वें पटल में १०८ वायुओं का वर्णन है । उनमें प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान

---

१. जम्-पल्-पाओ विरचित नडपादषडङ्गयोगभावना, भूटान संस्करण ।
२. रङ्-जुङ् दोर्जे विरचित गम्भीराभ्यन्तरार्थ, रुमतेग, सिक्किम संस्करण ।

वायु प्रमुख है तथा नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय इनके अंग है । कालचक्र में इन दस वायुओं का और उनके कृत्यों का वर्णन मिलता है[1] । हमारे शरीर में उपस्थित महाप्राण वायु ही सभी अन्य वायुओं का मूल एवं आधार है । इसके बिना प्राणी जीवित नहीं रह सकता । यह हृदय कमल में स्थित है ।

तिलक

तिलक का अर्थ है महासुख या उसका हेतु । इसके तीन भेद है—१. निष्प्रपञ्च तिलक, २. अविद्या तिलक, ३. द्रव्य तिलक । सहज ज्ञान ही मूल निष्प्रपञ्च तिलक है, अर्थात् आद्यन्त रहित त्रिकायात्मक स्वचित्त ही मूल निष्प्रपञ्च तिलक है । यह कर्मवश शुक्र और शोणित के संसर्ग से ग्राहक और ग्राह्य के रूप में उत्पन्न होकर विषय-विषयी भाव ग्रहण करता है, जो भ्रान्त एवं अविद्याजनित होता है । इसे ही अविद्या तिलक कहते हैं । सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों में व्याप्त तिलक ही द्रव्य तिलक कहलाता है । संक्षेप में मध्यमा नाड़ी, अनाहत वायु, निष्प्रपञ्च तिलक एक ही तत्त्व है । यह सभी निजचित्त, सहजज्ञान तथा प्रभास्वर ही है, जो आद्यन्तरहित हैं । इसे नाड़ी तब कहा जाता है, जब प्राणियों के महाप्राण का आश्रय बनता है । इसके अभाव में मध्यमा, ललना और रसना का प्रादुर्भाव ही असंभव है । यह अनाहत वायु भी है, जो चित्त के साथ अनादि काल से अभिन्न है । इसे तन्त्रशास्त्र में पञ्च प्रभामय वायु कहा गया है । इससे क्रमशः स्थूल रूप अग्नि इत्यादि का सृजन होता है । यह निष्प्रपञ्च तिलक ही कर्मवश शुक्रशोणित के संसर्ग के कारण अविद्या तिलक कहलाता है, जो कालान्तर में जन्म ग्रहण कर स्थूल काय में द्रव्य तिलक के रूप में प्रकट होता है । नाड़ी, वायु और तिलक मात्र यह अवस्था भेद है । संक्षेप में यही वज्रदेह का स्वरूप है ।

मण्डल

तन्त्रशास्त्र में गुरु के द्वारा शिष्य को जिस स्थान पर अभिषेक दिया जाता है, वह मण्डल कहलाता है । इसके सात भेद हैं—

---

१. कालचक्र तन्त्र, २.४२-४४

१-४. कलशाभिषेक से सम्बद्ध चार मण्डल हैं— रजोमण्डल, पटमण्डल, समाधिमण्डल तथा कायमण्डल ।

५. गुह्याभिषेक से सम्बद्ध संवृतिबोधिचित्त मण्डल ।

६. प्रज्ञाज्ञानाभिषेक से सम्बद्ध भगमण्डल ।

७. चतुर्थाभिषेक से सम्बद्ध परमार्थ बोधिचित्त मण्डल ।

कलशाभिषेक के मण्डल को स्वरूपगत आश्रय विमानमण्डल तथा आश्रित देवसमूहमण्डल के भेद से दो भागों में विभक्त कर सकते हैं । तन्त्रों की उत्कृष्टता और तन्त्र के समान होने पर भी देवों की शान्त, क्रोध, पुष्ट आदि के भेद से आश्रय-आश्रित देवमण्डलों की विभिन्नता भी देखने को मिलती है । यदि गुरु तत्त्वज्ञ हो और शिष्य भी तीक्ष्णेन्द्रिय हो, तो समाधिमण्डल में भी अभिषिक्त करने का विधान है[1] । गुह्याभिषेक का मण्डल संवृति बोधिचित्त मण्डल है, अर्थात् गुरु (पितृ-मातृ) युगनद्ध समापत्ति में स्थित उत्पन्न महासुख का मण्डल है । इस युगनद्ध-समापत्ति से प्राप्त द्रव्य का शिष्य सेवन कर महासुख का अनुभव करता है । यही गुह्यमण्डल कहलाता है । प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का मण्डल भग है, जिसमें स्थित होकर शिष्य चतुरानन्दों का साक्षात्कार करता है । यही प्रज्ञाज्ञानाभिषेक का मण्डल है । हेवज्र में कहा है—

मण्डलं सारमित्युक्तं बोधिचित्तं महासुखम् ।
आदानं तत् करोतीति मण्डलं मलनं मतम् ॥ (हे. त., २.३.२७)

चतुर्थाभिषेक का मण्डल परमार्थ मण्डल है । प्रदीपोद्योतन में कहा है—

मण्डं सारं परमार्थसत्यम्, तं लाति गृह्णातीति मण्डलम् ।
(गु. स. प्र., पृ० ४५)

वहीं व्याख्यातन्त्र को उद्धृत कर कहा है—

सर्वाङ्गभावनातीतं कल्पनाकल्पवर्जितम् ।
मात्राबिन्दुसमातीतम् एतन्मण्डलमुत्तमम् ॥ (गु. स. प्र., पृ० ४५)

---

१. अभिषेकार्थतत्त्वप्रकाश, पृ० २, धर्मशाला (हि० प्र०) संस्करण ।

उक्त सभी क्रियाएं स्वकाय को इष्टदेव में परिणत कर सम्पन्न की जाती हैं, अतः काय को भी मण्डल कहा जाता है । गुह्यसमाज उत्तरतन्त्र में कहा भी है—

भगं मण्डलमाख्यातं बोधिचित्तं च मण्डलम् ।
देहं मण्डलमित्युक्तं त्रिषु मण्डलकल्पना ॥ (गु. स., १८.९९)

यह भग, बोधिचित्त और परमार्थ मण्डल निष्पन्नक्रम का मण्डल कहलाता है ।

कायमण्डल का प्रयोग उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम दोनों में होता है । उत्पत्तिक्रम के मण्डलों में से गुह्यसमाज के मण्डल को नागार्जुन रचित पिण्डीक्रम के आधार पर यहाँ रेखाङ्कित कर यथासभव दर्शाया जा रहा है । यद्यपि ऊपर कहा जा चुका है कि आश्रय (विमानमण्डल) और आश्रित (इष्टदेव मण्डल) के भेद से इसके दो भेद हैं, तथापि इन दोनों मण्डलों के संयोग से ही मण्डल की पूर्णता सिद्ध होती है । इसी मण्डल में शिष्य को अभिषिक्त किया जाता है ।

विमान मण्डल की बाह्य रूपरेखा को स्पष्ट करते हुए नागार्जुन ने पिण्डीक्रम में कहा है— "भावयेत् परमार्थेन निःस्वभावभवत्रयम्" (पि० क्र० १.१६), अर्थात् सर्वप्रथम त्रिभुवन की निष्प्रपञ्च-शून्यता में भावना करे, तत्पश्चात् "आकाशधातुमध्यस्थं भावयेद् वायुमण्डलम्" (पि० क्र० १.१६) के अनुसार वायुमण्डल, अग्निमण्डल, जलमण्डल, भूमिमण्डल और फिर उस पर कूटागार (विमानमण्डल) की भावना करे । आश्रित इष्टदेवो की न्यासविधि को भी पिण्डीक्रम मे ही स्पष्ट किया गया है ।

यहाँ साधक के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि आश्रय-आश्रित उभयमण्डल स्वचित्त ही है । तन्त्रों में मण्डल-निर्माण-विधि का तरीका भिन्न-भिन्न है । वे सभी अपने मे प्रमाण हैं । प्रयोजनवश विभिन्न मण्डल-निर्माण-विधियो का वर्णन हुआ है ।

मुद्रा

मुद्रा शब्द सूत्र और तन्त्र दोनो नयो में उपलब्ध होता है । बौद्धों का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि सभी धर्म अनित्य, अनात्म और दुःखस्वरूप है तथा निर्वाण परम शान्त है । यह अनतिक्रम्य

है । अतः इसे ही चतुराज्ञाप्रज्ञप्तदर्शनमुद्रा कहते हैं । पारमितानय में चतुष्कोटिविनिर्मुक्त निष्प्रपञ्च शून्यता को ही मुद्रा कहा जाता है । जैसे सागरमतिपरिपृच्छासूत्र में कहा है— हे सागरमति ! सभी धर्म विमुक्ति मुद्रा से मुद्रित है । अहंकार की परिशुद्धि विमल मुद्रा है, इत्यादि । बीस मुद्राओं की गिनती भी वहीं पर की गई है । मैत्रेयपरिपृच्छा[१] में भी सभी धर्मो की स्वरूपशून्यता वर्णित है । उसी को मुद्रा भी कहा गया है ।

मञ्जुश्रीमूलकल्प में पूजादि के समय प्रयोग में लाने वाली हस्तमुद्राओं को भी मुद्रा कहा है, यथा—

मध्यमाङ्गुलिसंश्लिष्टा भवेदेकशिखा ध्रुवम् ।
एषा मुद्रा महामुद्रा सबुद्धैस्तु प्रकाशिता ॥ (पृ० २७९)

मुद्रा के चार अन्य भेद इस प्रकार है—महामुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा । योगतन्त्र में स्वयं को इष्टदेव में परिणत कर तत्सदृश भावना करने को महामुद्रा कहा है । काय, वाक्, चित्त और कर्म (क्रिया-कलाप) के आधार पर मुद्रा के परिशोध्य धर्म भी चार हैं । काय को महामुद्रा से, वाक् को धर्ममुद्रा से, चित्त को समयमुद्रा से तथा कर्म को कर्ममुद्रा से परिशोधित किया जाता है । सर्वतथागततत्त्वसग्रह मे महामुद्रा का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

यथा राज्ञा स्वमुद्राभिः मुद्रयते राजशासनम् ।
महात्मना स्वमुद्राभिरामुद्रयन्ते तथा जनाः ॥
कायवाक्चित्तवज्राणा प्रतिबिम्बप्रयोगतः ।
महात्मना महामुद्रा इति विज्ञाय सिद्ध्यति ॥ (पृ० १८९)

अनुत्तरतन्त्र मे भी, जहा सामान्य पूजापाठ से सम्बद्ध अनेक साकेतिक हस्तमुद्राओ का वर्णन आता है, वहीं उत्पत्तिक्रम की साधना मे इष्टदेव की भावना करना कर्ममुद्रा, अक्षर का न्यास करना धर्ममुद्रा, बीजाक्षरों से रश्मि का स्फुरण तथा सहरण समयमुद्रा और देव को आश्रय-आभास-शून्यता की भावना ही महामुद्रा है ।

निष्पन्नक्रम की साधना मे मुद्रा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए हेवज्र मे कहा है—"वज्रम् अभेद्य ज्ञानम्, तेनानेन मुद्रयते, मुद

१. मैत्रेयप्रस्थानसूत्र, तो० १९८, पृ० २८०

हर्षो महासुख जायते, तेन हेतुना मुद्रेत्युच्यते" (हे. त. टी., प० १८ख) । इसके भी चार भेद हैं—कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और महामुद्रा । कर्म से उत्पन्न स्त्री ही कर्ममुद्रा है । अवधूती नाड़ी धर्ममुद्रा है, जो वायुयोग के द्वारा सहजानन्द आदि चार आनन्दों का साक्षात्कार कराती है । महासुख-शून्य अद्वयज्ञान महामुद्रा है, क्योंकि यह अनुत्तर बोधिचित्त महासुखस्वरूपिणी है । प्रभास्वर और मायाकाय का अभिन्न रूप (इष्टदेव) समयमुद्रा है । फलावस्था में निर्माणकाय समयमुद्रा है, महासुखकाय महामुद्रा, धर्मकाय धर्ममुद्रा तथा संभोगकाय कर्ममुद्रा है । संक्षेप में यही मुद्रा का सामान्य रूप प्रतीत होता है ।

क्रमद्वय की व्यवस्था

पारमितानय में परमार्थसत्य संवृतिसत्य को और संवृतिसत्य परमार्थसत्य को पुष्ट करता है, क्योंकि संवृतिसत्य उच्छेद का और परमार्थसत्य शाश्वत का निषेध करता है, अर्थात् परमार्थसत्य स्वभावसत्ता का निषेध कर सापेक्षता अथवा संवृतिसत्य का बोध कराता है और संवृतिसत्य के आश्रय से ही परमार्थसत्य का बोध होता है । पारमितानय में जो स्थान सत्यद्वय का है, वही वज्रयान में क्रमद्वय का है । समाजोत्तरतन्त्र में कहा है—

क्रमद्वयमुपाश्रित्य वज्रिणा तन्त्रदेशना ।
क्रममौत्पत्तिकं चैव क्रममौत्पन्नकं तथा ॥ (गु. स. १८.८३)

हेवज्रतन्त्र मे भी कहा है—

क्रमद्वय समाश्रित्य वज्रिणा धर्मदेशना ।
उत्पत्तिमात्र कथितमुत्पन्न कथयाम्यहम् ॥ (१.८.२५)

भोट आचार्य मगलध्वज ने मणिप्रभा में क्रमद्वय को इस प्रकार स्पष्ट किया है—सत्त्वों के उत्पत्तिसदृश सूर्यासन, आयुध, बीजाक्षर आदि की परिणति से देवमण्डल की भावना को उत्पत्तिक्रम तथा मृत्युकाल में भूतों के सहारक्रमसदृश उत्पत्तिक्रम के देवों के वर्ण, संस्थान आदि को बिन्दु मे परिवर्तित कर तथा बिन्दु को नाद में और नाद को निष्प्रपञ्च गगनसदृश अद्वय में परिवर्तित करने को ही निष्पन्नक्रम कहा गया है[1] । गुह्यसमाज की टीका प्रदीपोद्योतन मे भी उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम का नेयार्थ और नीतार्थ, अर्थात् कल्पित और निष्पन्न

१. मणिरश्मि, पृ० ३४, दिल्ली सस्करण ।

(नीतार्थ) की साधना कहा है । यथा— "विद्याभिषेकं दत्त्वा नेय-नीतार्थभेदेन कल्पितनिष्पन्न-क्रमसाधनं प्रतिपादितवान्" । क्रमद्वय को स्पष्ट करते हुए आचार्य चोंखापा ने महामन्त्रक्रम नामक ग्रन्थ में कहा है कि यद्यपि दोनों साधनाएं अपने-अपने उपायक्रम के आश्रय से देवकाय में निष्पन्न होती है, लेकिन उत्पत्तिक्रम में साधक स्वर, व्यञ्जन, अक्षर, सूर्य, चन्द्र और आयुध आदि को परिणत कर स्वय को इष्टदेव में कल्पित करता है । लेकिन निष्पन्नक्रम में ललना और रसना में बहने वाली वायु को अवधूती नाड़ी में प्रवेश करा कर आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि और प्रभास्वर इन चार ज्ञानों के क्रमशः प्रकट होने पर सूक्ष्म प्राणचित्त से साधक मायाकाय में उत्थापित होता है, जो कल्पित न होकर अकृत्रिम देवकाय में निष्पन्न होता है[1] । इस प्रकार कल्पित और अकल्पित के भेद से देवकाय के भी दो भेद होते हैं । इसी तथ्य को आचार्य सेरतोगपा ने भी वज्रयानभूमिफलव्यवस्था में कहा है कि जो साधक भावनाबल से वायु को मध्यमा नाड़ी में प्रवेश नही करा पाता तथा निष्पन्नक्रम की सन्तति को परिपक्व करने के लिये जन्म, मृत्यु और अन्तराभवसदृश बुद्धि (विकल्प) के द्वारा कल्पित कर भावना करता है, वह उत्पत्तिक्रम है । कृत्रिम योग, विकल्पित योग, प्रथम योग, परिपक्व योग आदि इसके नामान्तर है । भावना-बल से वायु के मध्यमा में प्रवेश, स्थिति और विलीन होने से उद्भूत शैक्ष सन्तति योग निष्पन्नक्रम योग कहलाता है । अकृत्रिम योग, अविकल्पित योग, द्वितीय क्रमयोग और मुक्ति योग इसके पर्याय है[2] । जिस प्रकार संवृतिसत्य का आश्रय लिये बिना परमार्थसत्य का साक्षात्कार नहीं हो सकता, उसी प्रकार उत्पत्तिक्रम की साधना के बिना निष्पन्नक्रम का बोध भी सम्भव नहीं है । पंचक्रम में कहा भी है—

> उत्पत्तिक्रमसंस्थाना निष्प्रन्नक्रमकाङ्क्षिणाम् ।
> उपायश्चैष संबुद्धैः सोपानमिव निर्मितः ॥ (१.२)

उत्पत्तिक्रम

गुह्यसमाज में उत्पत्तिक्रम की भावना चार सेवा-विधियों द्वारा की जाती है । ये इस प्रकार है—

---

१. महामन्त्रक्रम, पृ० ३२१, धर्मशाला सस्करण ।

२. वज्रयानभूमिमार्गव्यवस्था, पृ० ५८, धर्मशाला संस्करण ।

सेवाविधान प्रथम द्वितीयमुपसाधनम् ।
साधनं तु तृतीयं वै महासाधनं चतुर्थकम् ॥ (१८.३५)

सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन— क्रमशः ये उत्पत्तिक्रम के चार भेद हैं । गुह्यसमाज आदि में इनका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

सेवा

सेवा को स्पष्ट करते हुए चन्द्रकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन में कहा है—"सेव्यते आलम्ब्यत इति सेवा, सैव समयो भूभागानां संयोजनं निष्पादनं सेवासमयसंयोगः प्रथममङ्गम्... ।" इसी को भव्यकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन की टीका में कहा है कि शून्यता की भावना, ज्ञानभूमि, अर्थात् परमार्थमण्डल की भावना सेवा है । आचार्य चोंखापा भी बोधिश्रेष्ठ के वचनों को उद्धृत करते हुए कहते हैं[1] कि बोधिचित्त-शून्यता में आलम्बन करना सेवा है । तत्त्व बोधि है और उसकी भावना करना सेवा । विमानभावना आदि सेवा के अंग हैं ।

उपसाधन

गुह्यसमाज में उपसाधन को इस प्रकार कहा है— "उपसाधनसिद्ध्यग्रे वज्रायतनविचारणम्" (१२.६२) । शून्यता की भावना करते हुए सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और बीजाक्षर आदि का क्रमशः न्यास कर महामुद्रा काय में परिणत कर निष्पन्न करना उपसाधन है । कृष्णयमारितन्त्र आदि में आये उत्पत्तिक्रम के चार योगों में से तीसरे अतियोग की साधना तक का उपसाधन मे संग्रह हो जाता है । अन्य अनुत्तरतन्त्र के ग्रन्थो मे प्रतिपादित पंचाभिसंबोधि से लेकर आयतन अधिष्ठान तक की साधना भी उपसाधन में संगृहीत हो जाती है । आयतन अधिष्ठान का अभिप्राय कायमण्डल में बीजाक्षर या गुह्यसमाज में आये ३२ देवों का न्यास करने से है ।

साधन

साधन के सम्बन्ध मे गुह्यसमाज में कहा है—"साधने चोदनं प्रोक्तं मन्त्राधिपतिभावनम्" (१२.६२) । ॐकार आदि द्वारा काय, वाक्, चित्त रूपी त्रि-द्वार को अधिष्ठित करने हेतु त्रिवज्र को प्रचोदित कर

---

१. महामन्त्रक्रम, पृ० ३३९, धर्मशाला संस्करण ।

अपने साथ अभिन्न चर्यासमय में स्थित होना साधन है । त्रि–द्वार और त्रि–वज्र की अभिन्नता तथा समाधिसत्त्व, ज्ञानसत्त्व और मन्त्राधिपति तीनो की सिद्धि होने से यह साधन है ।

महासाधन

गुह्यसमाज में कहा है—"महासाधनकालेषु बिम्बं स्वमन्त्रवज्रिणः । मुकुटेऽधिपतिं ध्यात्वा सिद्ध्यते ज्ञानवज्रिणः ॥" (१२.६३) मन्त्रवज्री, अर्थात् भावित स्वकायमण्डल के ३२ देवों के अधिदेव वज्रपद्माभिसमापत्ति वज्रधृक् द्वारा अभिषिक्त कर महामुद्रा–काय की सिद्धि हुई, ऐसी भावना करना ही महासाधन कहलाता है ।

सक्षेप मे सभी धर्मो को शून्यता मे परिवर्तित करने से लेकर विमान और आसन तक की भावनाविधि सेवा योग है । प्रधान देव की भावना से आयतन अधिष्ठान तक का क्रम उपसाधन योग, काय–वाक्–चित्त त्रिवज्र से अभिन्न चर्यासमय मे अधिष्ठित करने तक साधन योग तथा अभिषेक और स्तुति आदि महासाधन है[1] ।

निष्पन्नक्रम

गुह्यसमाज की निष्पन्नक्रम की भावना नागार्जुनरचित पञ्चक्रम तथा गुह्यसमाज में उक्त षडङ्ग योग द्वारा सम्पन्न होती है । स्वरूपगत षडङ्ग योग भी पचक्रम मे ही संगृहीत हो जाते हैं । यथा— कायविवेक में प्रत्याहार और ध्यान, वाग्विवेक मे प्राणायाम, प्रभास्वर में धारणा तथा युगनद्ध मे अनुस्मृति और समाधि ।

काय–विवेक

"काय" समूहबोधक शब्द है । यह देह, मांस, रुधिर आदि अनेक धर्मो का समूह है और चित्त अनेक क्षणो का । यही काय कहलाता है । इन कायों के तत्त्वो का गुह्यसमाज में इस प्रकार वर्णन है—

पञ्चस्कन्धाः समासेन पञ्चबुद्धाः प्रकीर्तिताः । (१७.५०)
पृथिवी लोचना ख्याता अब्धातुर्मामकी स्मृता ।
पाण्डराख्या भवेत् तेजो वायुस्तारा प्रकीर्तिता ॥ (१७.५१)

---

१. आर्यदेवविरचित चर्यामेलाप, पृ० ५१ख

समाहित अवस्था में ललना और रसना में बहने वाली सभी वायुओं को अवधूती के अधोभाग में संगृहीत किया जाता है और परिणामस्वरूप पृष्ठलब्ध अवस्था में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देवसमूह में प्रकट करना होता है । इससे सामान्य आभास (घट, पट आदि) और उनके प्रति अभिनिवेश का क्षय होता है । संक्षेप में यही काय-विवेक कहलाता है । काय-विवेक और वाक्-विवेक का साधक वैरोचन सप्त धर्मासन लगा कर बैठता है, अर्थात् पैर वज्रासन मुद्रा मे, हाथ समाहित मुद्रा मे, रीढ़ की हड्डी सीधी, छाती फैली हुई तथा भुजायें सीधी, कण्ठ कुछ झुकी हुई, जिह्वा तालु को स्पर्श करती हुई तथा होठ कुछ खुले हुए और चक्षु को नासिकाग्र में स्थित करना ये सात आसन हैं । वज्रासन से अपान वायु वश मे रहती है । समाहित मुद्रा में स्थित होने से नाभि पर दबाव पड़ता है, जिससे अग्नि शान्त रहती है । रीढ़ की हड्डी सीधी रखने से व्यान वायु, भुजायें सीधी तथा छाती फैली रहने से प्राण वायु और कण्ठ के झुके रहने तथा जिह्वा का तालु मे स्पर्श होने से उदान वायु बद्ध हो जाते है और नासाग्र में दृष्टि रखने से सभी वायु शान्त रहते हैं । वज्रासन लगा कर चित्त को अवधूती के अधोभाग में स्थित ललना और रसना के मिलनस्थल के मध्य सूक्ष्म तिलक में एकाग्र करने से वायु और चित्त का प्रवेश समान हो जाता है तथा अभिन्नतावश सभी वायु अवधूती मे प्रवेश कर जाते है । इसके प्रवेश होने पर लक्षण के रूप मे दोनो नासिकाग्र से वायु समान रूप से बहने लगती है । वायु के मध्यमा में स्थित हो जाने पर श्वास-प्रश्वास बन्द हो जाते है तथा इनके लीन हो जाने पर बाह्य मरीचि आदि तथा आभ्यन्तर आलोक आदि ज्ञान प्रकट होते है । वायु के मध्यमा में प्रवेश होने से हृदय चक्र के ऊर्ध्व और अधोभाग की सभी नाड़ियाँ भी शिथिल हो जाती हैं ।

वाक्-विवेक

प्राणायाम (वज्रजाप) का आश्रय लेकर वायु और मन्त्र (ॐ आः हूँ) के अभिन्न योग द्वारा ग्राह्य-ग्राहक विकल्प का नाश करने वाले शैक्ष सन्तति का योग ही वाक्-विवेक है । इसकी भावना पञ्चज्ञानमय श्वासों को हृदय से नासिकाग्र मे स्थित कर प्राणायाम द्वारा की जाती है । इसकी सहायता से ललना और रसना मे बहने वाले सभी कर्म-वायु मध्यमा मे प्रवेश पाते है । इसको गुह्यसमाज मे इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

पञ्चज्ञानमयं श्वासं पञ्चभूतस्वभावकम् ।
निश्चार्य पिण्डरूपेण नासिकाग्रे तु कल्पयेत् ॥
पञ्चवर्णं महारत्नं प्राणायाममिति स्मृतम् ॥ (१८.१४)

हृदय के अनाहत बिन्दु पर चित्त के स्थित होने से क्षिति, जल, अग्नि आदि धातुएँ क्रमशः विलीन हो जाती हैं । परिणामस्वरूप बाह्य मरीचि, धूप, दीपक की लौ आदि का आभास होगा और आभ्यन्तर में आलोक, आलोकाभास आदि ज्ञान प्रकट होंगे ।

चित्त-विवेक

बाह्य मुद्रा और आभ्यन्तर प्राणायाम के द्वारा मूल वायु सहित सभी वायुओं को हृदय में स्थित अनाहत बिन्दु में विलीन कर तिलक में दृढ़ता प्राप्त करना या महासुख मे स्थित होना चित्त-विवेक कहलाता है ।

मायाकाय

चित्त-विवेक की पर्यन्तावस्था में प्रभास्वर प्रकट होता है, जिसका सहकारी प्रत्यय सूक्ष्म प्राणवायु तथा उपादान कारक (प्रत्यय) चित्त है, जो लक्षण और अनुव्यजनों से विभूषित देवकाय में उत्थापित होता है । वही मायाकाय कहलाता है । स्वरूपगत काय के तीन भेद है— (१) कुशल और अकुशल के विपाक से उत्पन्न सुख-दुःख को झेलने वाला विपाककाय, (२) विभिन्न संस्कार तथा वासनाओं से प्रभावित होकर प्रतिभासित होने वाला स्वप्नकाय, (३) मार्ग मे अशुद्ध अवस्था में मनोमय मायाकाय और शुद्ध अवस्था में प्रभास्वर से अभिन्न मायाकाय । मायाकाय का उपादान कारक विपाक नही हो सकता, क्योंकि यह प्राणी के जन्म लेने पर उत्पन्न होता है और मृत्यु अवस्था में नष्ट हो जाता है । स्वप्नकाय भी साधना का आश्रय नही हो सकता, क्योंकि यह भी पूर्ववत् कालिक है । अतः निजचित्त, अर्थात् सूक्ष्म प्राणचित्त ही मायाकाय का आश्रय है । इसका बाह्य स्थूल काय गृहसदृश है । सूक्ष्म प्राणवायु मूल पाच वायुओं में से प्राणवायु है । प्राणवायु भी सूक्ष्म और स्थूल के भेद से दो हो जाते हैं । स्थूल प्राणवायु से तात्पर्य है, जो मृत्युकाल मे समाप्त हो जाता है और सूक्ष्म प्राणवायु वह होता है, जो इन्द्रियों का आश्रय न होकर मनोविज्ञान का आश्रय होता है । यह अनादि काल से निरन्तर चित्त के साथ प्रवहमान रहता है । मृत्यु के पश्चात् भी अन्तराभव

मे उत्पन्न होता है । साधना के बल से यही मायाकाय के रूप में उत्थापित होता है । इसकी भावना भी चित्तविवेक की ही भाँति हृदय में स्थित अनाहत बिन्दु में क्षिति, जल आदि धातुओं का क्रमशः संहार करते हुए आलोक, आलोकाभास, आलोकोपलब्धि तथा प्रभास्वर ज्ञान के पश्चात् मायाकाय में की जाती है, यही मायाकाय की साधनाविधि है ।

प्रभास्वर

सहज महासुख ही परमार्थ प्रभास्वर है । इसके अभिमुख होने पर संवृति, अर्थात् अशेष आभास प्रपञ्च का अन्त हो जाता है । चित्त की प्रकृति, जो प्रभास्वर तथा सभी धर्मों का स्वरूप है, वही आश्रय प्रभास्वर है । चित्त स्वसंवेद्य है । स्वसंवेद्य महासुख है । महासुख शून्यता से अभिन्न है । इसका साक्षात्कार वायुयोग प्रकृति में स्थित होकर तथा पिण्ड और अनुभेदन योग के द्वारा होता है, विचारमन्थन से नहीं । जैसे पीलिया रोग से ग्रस्त व्यक्ति को लाख बार शंख के श्वेत होने का व्याख्यान करने पर भी वह सफेद नहीं दिखता, अथवा जैसे काष्ठ से अग्नि दो लकड़ियों के रगड़ने से ही उत्पन्न होती है, सूक्ष्म टुकड़े करने पर नहीं, वैसे ही प्रभास्वर ज्ञान का भी ललना और रसना के रेचक, पूरक और कुम्भक योग का, अर्थात् वायु योग के द्वारा जिसे वाक्-विवेक तथा चित्त-विवेक में कहा गया है, अनुसरण करने से क्रमशः आलोक, आलोकाभास तथा आलोकोपलब्धि ज्ञान के बाद प्रभास्वर ज्ञान का साक्षात्कार होता है । प्रकृति में स्थित होकर प्रभास्वर का साक्षात्कार करने की विधि सहजिया विधि है तथा पिण्ड और अनुभेदन योग का वर्णन पञ्चक्रम में मिलता है[१] ।

युगनद्ध काय

परमार्थ प्रभास्वर के प्रतिलोम मे आलोकोपलब्धि के प्रकट होने पर चतुर्थ परमार्थ प्रभास्वर से युगनद्ध में प्रकट देवकाय ही युगनद्ध काय है । अनास्रव वज्रकाय और परमार्थ प्रभास्वर नामक सत्यद्वय का अभिन्न रूप अथवा शैक्ष सन्तति का पर्यन्त योग ही युगनद्ध काय का लक्षण है । यह परमार्थ प्रभास्वर और संवृति मायाकाय का

१. वज्रयानभूमिमार्गव्यवस्था, प० २२३, धर्मशाला संस्करण ।

युगनद्ध रूप है । अतः युगनद्ध कहलाता है । पंचक्रम में कहा भी है—

संवृतिं परमार्थं च पृथग् ज्ञात्वा विभागतः ।
सम्मीलनं भवेद् यत्र युगनद्धं तदुच्यते ॥ (६.१३)

इस तरह यहाँ संक्षेप में पितृतन्त्र को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है । तन्त्र जैसे अतिगुह्य विषय पर लिखना दुःसाहस करना है । अतः इस निबन्ध में दोष होना स्वाभाविक है । हम धर्मपालों से ऐसे दोषों के लिये क्षमाप्रार्थी हैं ॥

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अभी हमने अनुत्तर तन्त्रों के अन्तर्गत आने वाले पितृतन्त्रों से सबद्ध डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी जी का भावगंभीर और शास्त्रीय प्रमाणों से भरा हुआ यह निबन्ध सुना । आप इस तिब्बती संस्थान में ही मूलशास्त्र (भोट) के प्राध्यापक हैं और बौद्ध तन्त्रशास्त्र की भारतीय और भोट परम्परा के निष्णात विद्वान् हैं । अब हमे इस निबन्ध पर परस्पर विचार-विनिमय करना है । इस प्रसंग मे मै एक प्रश्न उपस्थित करना चाहता हूँ । प्रसिद्ध शैव आचार्य अभिनवगुप्त के शिष्य क्षेमराज ने दीक्षा सम्बन्धी सौगत पक्ष का निराकरण किया है । स्वच्छन्दतन्त्र की व्याख्या मे इस विषय को उठाते हुए वे प्रमाणवार्त्तिक मे प्रस्तुत धर्मकीर्ति के मन्तव्य को भी उद्धृत करते हैं । हम यह भी देखते है कि बौद्ध तन्त्रो मे दीक्षा के स्थान पर अभिषेक शब्द अधिक प्रचलित है । प्रश्न यहा यह उठता है कि क्या दीक्षा सबन्धी दोषो की प्रवृत्ति अभिषेक के प्रसग मे उपस्थित नही होगी ? इसी प्रसग मे यह भी द्रष्टव्य है कि शैव, शाक्त आदि तन्त्रो मे दीक्षा और अभिषेक शब्दो की प्रवृत्ति अलग-अलग स्थितियों मे होती है । समयी, पुत्रक और साधक दीक्षा के बाद आचार्य दीक्षा होती है और तभी व्यक्ति अभिषेक का अधिकारी होता है । आचार्य पद पर अभिषिक्त देशिक को ही दूसरे को दीक्षा देने का अधिकार मिलता है । दूसरी तरफ वैष्णव तन्त्रो में उक्त चारो स्थितियो मे अभिषेक देने का विधान है । सात्वतसंहिता के भाष्यकार ने जयाख्यसंहिता को उद्धृत करते हुए कहा है कि समय दीक्षा से सम्पन्न व्यक्ति का अभिषेक सेनापति के समान, पुत्रक का महामन्त्री के समान, साधक का युवराज के समान और आचार्य (गुरु) का अभिषेक राजोपचार पद्धति से करना चाहिये । इस प्रकार यहा स्पष्ट है कि दीक्षा और अभिषेक ये दो शब्द इन तन्त्रो मे अलग-अलग स्थितियो को बताते है । हम बौद्ध तन्त्रो की पृष्ठभूमि म दीक्षा और अभिषेक विषयक

इस दृष्टिभेद पर विद्वानो के विचार सुनना चाहते हैं कि इनमें कितनी समानता अथवा असमानता है ?

डॉ० एस० एस० बहुलकर

मुझे बहुत संतोष है, पितृतन्त्र विषय पर आपने बहुत अच्छा निबन्ध लिखा है । द्विवेदी जी ने मुझे आज्ञा दी थी कि इस विषय पर मैं निबन्ध लिखूँ । लेकिन समय के अभाव के कारण, सामग्री के अभाव के कारण और पर्याप्त जानकारी के अभाव के कारण मैने निबन्ध लिखने में अपनी असमर्थता व्यक्त कर दी । उसका यह लाभ हुआ कि डॉ० वङ्छुग् दोर्जे जी ने निबन्ध लिखा । जिस परम्परा में इस विषय पर बहुत कुछ व्याख्यामय विवरण उपलब्ध है, उस परम्परा के अनुसार यह निबन्ध अतीव प्रामाणिक है, ऐसा मुझे प्रतीत होता है, क्योंकि इस विषय पर जो सामग्री उपलब्ध है, वह बहुत कुछ तिब्बती परम्परा में है और संस्कृत में पितृतन्त्र के विषय मे एक प्रधान ग्रन्थ गुह्यसमाज को छोड़कर और अभी-अभी जो उसकी व्याख्या प्रदीपोद्योतन प्रकाशित हो चुकी है, उसको और कुछ अन्य ग्रन्थों को छोड़कर ज्यादा सामग्री उपलब्ध नहीं है । इसीलिये इस विषय पर संस्कृत के आधार पर लिखना बहुत ही मुश्किल है । इस विषय मे कुछ अधिक खण्डन-मण्डन करने का मैं अधिकारी नहीं हूँ । जो कुछ मैं लिखना चाहता था, वह मुख्यतः गुह्यसमाज की व्याख्या प्रदीपोद्योतन, जिसके विषय में मुझे बहुत रुचि है और कुछ साल से मै उस पर काम करने का यत्न भी कर रहा हूँ, कार्य कर रहा हूँ ऐसा मै कह नही सकता, उसके आधार पर विद्वान् बहुत कुछ लिख सकते हैं, ऐसा मेरा मत है ।

इस विषय में तीन बातें मुझे कहनी है । एक तो मातृतन्त्र, पितृतन्त्र और अद्वयतन्त्र ऐसा जो वर्गीकरण किया है, उस वर्गीकरण का आधार मुझे संस्कृत ग्रन्थो की जो उपलब्ध परम्परा है, वहाँ कहीं मिल नहीं रहा है । मैंने द्विवेदी जी से पूछा कि यह वर्गीकरण संस्कृत ग्रन्थों मे कहीं दिखाई देता है या नहीं । मुझे अभी तक मिला नहीं है और इस निबन्ध में जो दूसरा वर्गीकरण है, हेतुतन्त्र और उपायतन्त्र और फलतन्त्र, वह तो गुह्यसमाज मे है । उसका सन्दर्भ अलग है । मेरे मत से यह वर्गीकरण तिब्बती परम्परा में है और वह वर्गीकरण किस दृष्टि से किया है, उसका बहुत कुछ विवेचन चोंखापा जी के शिष्य खेडुब जे ने अपने ग्रन्थों में, जिसका अंग्रेजी अनुवाद लेसिंग एवं एलेक्स वेमेन ने प्रकाशित किया है, उसमें विस्तारपूर्वक इसका वर्णन किया है । उसमें की गई बातो मे से एक बात यह है कि पितृतन्त्र का प्रारम्भ "एव मया श्रुतम्" इस वाक्य से होता है । मुझे इस समय याद नहीं है कि क्या यह एक वर्गीकरण का प्रकार है ? यदि है तो इस निबन्ध में इसका समावेश आप करें तो बहुत अच्छा रहेगा ।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात मै यह कहना चाहूँगा कि गुह्यसमाज के प्रथम पटल पर चन्द्रकीर्ति की जो व्याख्या है (प्रदीपोद्योतन अथवा षट्कोटिव्याख्या), उसके प्रारम्भ मे जो विस्तार से विवेचन किया गया है, उसका आधार लेना बहुत अच्छा होगा । गुह्यसमाज की १७ पटल की रचना कैसी है ? यह किस लिये

की गई ? जैसे प्रश्नों का समाधान केवल हमें गुह्यसमाज को पढ़ने से नही मिलता । प्रथम पटल, द्वितीय और तृतीय तक कोई सा भी पटल पढ़ें, तो इस समाधि को उस समाधि तक, उस समाधि को उस समाधि तक ऐसा जो विवेचन है, उसका कोई सन्दर्भ ध्यान मे आता नही है । चन्द्रकीर्ति के विवरण में उन पटलों की जो आनुपूर्वी बतायी गई है, उनकी जो संगीति बतायी गई है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसमें छः कोटियाँ प्रदर्शित है । वे है—सन्ध्या भाषा, न सन्ध्या भाषा, नीतार्थ, नेयार्थ, यथार्थ और नयथार्थ । किस प्रकार के सत्त्व के लिये किस प्रकार की भाषा उचित है, इस पर ध्यान देकर भगवान् ने गुह्यसमाज में विवरण दिया है, ऐसा उन्होंने यहाँ से वहाँ तक उसका सन्दर्भ भी दिया है । उन्होंने यह भी बताया है कि व्याख्यान चार प्रकार का है—अक्षरार्थ, समस्ताङ्ग, गर्भी और कौलिक । दूसरे प्रकार का वर्गीकरण वहाँ सत्र-व्याख्यान और शिष्य-व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया है । सम्पूर्ण गुह्यसमाज की रचना और आन्तरिक संगति के विषय में चन्द्रकीर्ति का यह विवेचन बहुत महत्त्वपूर्ण होगा, जिस विवेचन को उन्होंने सात प्रकारों (सप्तालङ्कार) में विभक्त किया है । प्रस्तुत निबन्ध में इसका समावेश हो तो महत्त्वपूर्ण रहेगा ।

तीसरी बात को मै अपनी जिज्ञासा के रूप मे प्रस्तुत करता हूँ । मण्डल के विषय में शायद यहाँ संभवतः किसी सत्र मे विशेष चर्चा हो कि गुह्यसमाज में मण्डल कैसे रहता है ? इसकी विधि कैसी है ? और निष्पन्नयोगावली मे प्रारम्भ में जो मञ्जुवज्रमण्डल और गुह्यसमाजमण्डल है, उनका और गुह्यसमाज तन्त्र का क्या सम्बन्ध है ? उसका आधार क्या है ? इसका विवेचन होगा तो वह अच्छा रहेगा । निष्पन्नयोगावली मे लेख्य मण्डल और भाव्य मण्डल के विषय में प्रारम्भ में ही विवेचन है, उसका विस्तार भी महत्त्वपूर्ण होगा । वहाँ "यथा बाह्य तथा अध्यात्मम्" ऐसा एक विधान है । इसका आशय क्या है ? इस पर भी विद्वान् प्रकाश डाले तो अच्छा रहेगा । प्रस्तुत निबन्ध में इन सब विषयों का समावेश हो, तो यह निबन्ध महत्त्वपूर्ण होगा, पाठकों के लिये, विद्वानों के लिये बहुत उपयुक्त होगा ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

मेरा कोई प्रश्न नहीं है । आपका निबन्ध तो इतना गहन और इतना कसा हुआ है कि दो-तीन बार बिना पढ़े पूरा विषय समझ में आने लायक नहीं है । यहाँ बहुत सूचनाएं हैं । तन्त्रों में हम जब बहुत सी किताबें पढ़ते है, तो उसमें चार आनन्दों की चर्चा आती है । आपके इस निबन्ध मे चार आनन्दो की बात नही आयी । तो क्या वह पितृतन्त्र से सम्बद्ध नही है ? या उसका सम्बन्ध मातृतन्त्र से है, इसलिये आपने नही किया है, या इसमें आ गई है और स्पष्टता से नही कह पाये हैं आप । क्या बात है ? क्योंकि तन्त्रो में नाड़ी और वायु की शुद्धि एवं अवधूती के प्रज्वलन के बाद चक्रभेदन की प्रक्रिया में ये सब आनन्द प्रकट होते हैं । प्रस्तुत निबन्ध मे अन्य सब बातें तो है, लेकिन चार आनन्दो की चर्चा क्यों नही है ? यह मै जानना चाहता हूँ ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

मुझे भी कोई प्रश्न नही करना है । बहुत अच्छे निबन्ध के लिये धन्यवाद है, साधुवाद है । डॉ० बहुलकर जी ने प्रश्न किया है कि क्या पितृतन्त्र का आरम्भ "एव मया श्रुतम्" से होता है ? तो "एवं मया श्रुतम्" से केवल पितृतन्त्र ही नहीं, सभी तन्त्र शुरू होते हैं । हेरुक तन्त्र के शुरू में भी यही है और गुह्यसमाज मे भी । वह एक तान्त्रिक व्याख्या करने की, उनकी एक भूमिका बाँधने की प्रक्रिया है । जैसे कि न्यायप्रवेश के प्रारंभ में पूरे शास्त्र का दो श्लोकों में संग्रह कर दिया । ठीक उसी तरह से तन्त्रशास्त्र की शैली में सारे तन्त्र का जो सारांश है, जो तत्त्व है, उसे "एवं मया श्रुतम्" में बता दिया जाता है । इस वाक्य की गुह्यसमाज के आरंभ में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने प्रदीपोद्योतन टीका में व्याख्या कर दी है । इसका मतलब यह नहीं है कि यह पितृतन्त्र की वजह से होता है ।

द्विवेदी जी ने जो दीक्षा की बात कही है, यह बड़ी महत्त्वपूर्ण है । यह सब जगह मिलती है । जहाँ तक हमारे अध्ययन का क्षेत्र है, सब जगह दीक्षा का विशद विवेचन मिलता है । जैसा आपने कहा कि दीक्षा शब्द का प्रयोग कही नही है । लेकिन दीक्षा शब्द का सीधा प्रयोग यहां नहीं मिलता । यहाँ संवर शब्द मिलता है । मैने अपने निबन्ध में संवर की बात कही है । संवर दिया जाता है । तन्त्र की शिक्षा जिसको दी जाती है, उसको अभिषेक देने से पहले संवर दिया जाता है । वही दीक्षा है । दीक्षा का जैसा विधान है, उसमे शैव, खास करके वैष्णव तन्त्रों में दीक्षा की बात आती है । ठीक उसी प्रकार की प्रक्रिया है । यहाँ करीब-करीब विधि भी एक ही जैसी है । यह गुरुवचन के साथ एक तरह से शपथ दिलाना जैसा है । वह यहाँ संवर का विधान कहा जाता है । वही दीक्षा है । वह अभिषेक के पूर्व अनुक्रम या पूर्व उपक्रम के रूप मे दिया जाता है । वही दीक्षा है । इसमें मै शत-प्रतिशत तो कह नही सकता, प्रायः समानता है, उसमें ज्यादा फर्क नहीं है । दीक्षा के सम्बन्ध मे धर्मकीर्ति के मत की बात आपने कही है । जैसे दीक्षा से कुछ पैदा होता है । वह वैसा होता है । वहाँ धर्मकीर्ति की आपत्ति शब्द के द्वारा जो विधान किया जाता है, उस वचन मे है, शब्द में है । उसी दृष्टि से धर्मकीर्ति ने खण्डन किया है । वहाँ पर दीक्षा का खण्डन नही किया गया ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

शैव तन्त्रों मे दीक्षा के चार भेद किये गये है । उनके नाम है— समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य । जो आप समय के लिये कहते है या संवर के लिये कहते है, वह समयी दीक्षा सर्वप्रथम दी जाती है । शिष्य जब उसका पालन करता है, तो आचार्य पुत्रक दीक्षा देता है, अर्थात् उसको स्वीकार कर लेता है । उसके बाद उसको साधक की दीक्षा दी जाती है और अन्त मे आचार्य दीक्षा । आचार्य दीक्षा प्राप्त व्यक्ति को ही अन्य व्यक्तियों को दीक्षा देने का अधिकार होगा । अभिषिक्त होने पर ही उसे यह अधिकार मिलेगा । इस

प्रकार यहाँ दीक्षा और अभिषेक दोनों को एक प्रकार से अलग-अलग कर दिया गया है । अभिषिक्त व्यक्ति ही दूसरे को दीक्षा देने का अधिकारी है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

एक स्पष्टीकरण मै और देना चाहूँगा । संवर देने के भी चार क्रम कहे गये हैं । पहले प्रातिमोक्ष संवर दी जाती है । दूसरी बोधिसत्त्व संवर दी जाती है । प्रतिज्ञा ली जाती है । तीसरी तन्त्र की पञ्चकौल प्रतिज्ञा ली जाती है और चौथे क्रम में वज्राचार्य का अभिषेक दिया जाता है । इस प्रकार यहाँ भी वज्राचार्य ही दूसरे को दीक्षा देने का और तन्त्र के अध्ययन-अध्यापन का अधिकारी बनता है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

वज्राचार्य तो अभिषेक है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

सामान्यतः चार अभिषेक होते है, उनके अन्तर्गत ११ अभिषेक होते है । उनमे से चार अभिषेकों में सबसे पहले वज्राचार्य अभिषेक आता है, तो वह दीक्षा के सन्दर्भ मे आता है, अभी अभिषेक नही हुआ उनको । कलशाभिषेक तो बाद में होता है ।

प्रो० नथमल टाटिया

देखिए बार-बार प्रश्न आता है दीक्षा का और गुरु के अभिषेक का । जैन दर्शन में कहते हैं कि तत्त्वार्थ श्रद्धान, अर्थात् सम्यग् दर्शन दो तरह से होता है—"निसर्गाद् अधिगमात् वा सम्यग् दर्शनम्" जैन अभिषेक उसी को कहते है । वह निसर्ग से होता है । "अस्तित्वात् केवली" बिना सुने, गुरु के उपदेश के बिना, गुरु को वरण किये बिना, वह केवली हो सकता है, सर्वज्ञ हो सकता है, निर्वाण प्राप्त कर सकता है । इसको कहते है निसर्ग से अधिगम, यानी गुरु से न सीख कर भी उसकी दीक्षा हो जायगी । गुरु की आवश्यकता नहीं है और यह जैनों की खास बात है कि बिना गुरु के भी सम्यग् दृष्टि उत्पन्न हो जाती है । संवर की जो बात आयी है । संवर गुरु देते है । कभी-कभी अभिषेक नहीं हुआ, उसको सम्यक् दृष्टि नहीं मिली, गुरु ने संवर दे दिया, उसको निर्वाण नही होगा, वह अमुक स्थिति तक जाकर गिर जायगा । यदि सम्यक् दृष्टि नही हुई है, निसर्ग से या गुरु के उपदेश से, किसी भी प्रकार से यदि सम्यक् दृष्टि नहीं हुई है, तो वह संवर का अधिकारी नहीं है । संवर देगे तो गिर जायगा । सवर उसको नहीं मिलेगी । सवर भी आवश्यक है और सम्यक् दृष्टि भी । यदि संवर नही मिली तो वह आगे नही बढ़ेगा ।' लेकिन अभिषेक जो है, यह स्वतः हो जाता है । आप जो बात कह रहे है, वह क्या है ? हम जानना चाहते है ।

Prof. N. R. Bhatt

Abhiṣeka is given by the Buddha, but the Dīkṣā is given to get Mokṣa-Nirvāṇa. It can be given when fitness comes.

Prof. N. Tatiya

In Jainism Guru does not come at any stage. It is impossible. Then the soul itself becomes Guru.

प्रत्येकबुद्ध भी तो है, अस्तित्व केवली है । उसके गुरु नहीं है । तीन तरह के अर्हत् होते हैं ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

ऐसा है कि केवल प्रत्यभिज्ञा दर्शन में ही नहीं, योगवासिष्ठ में भी बताया गया है—"गुरुतः शास्त्रत स्वतः" । गुरु से भी दीक्षा मिलेगी । शास्त्र के अध्ययन करते-करते कभी स्वप्न में उसको दीक्षा हो गई । एक है स्वतः, वहाँ कहा गया है कि वह "संविद्देवीभिः स्वयमभिषिच्यते" । उसकी जो संविद्देवियाँ, अर्थात् इन्द्रियो की शक्ति जब उपबृंहित होकर देवकाय, जिसको बौद्धदर्शन में निष्पन्नकाय कहा गया है, ठीक उसी तरह का वह हो जाता है । उस समय उसको किसी गुरु की अपेक्षा नही रहती । तब वह अपने आप ही सम्यक् ज्ञान से सम्पन्न हो जाता है ।

प्रो0 नथमल टाटिया

तब एक बात और कहिये । अपने आप जो सम्यक् दृष्टि होती है, उसका सुप्त ज्ञान होता है । उसका सुप्त ज्ञान क्या है ? वह पाँच सवित्ति और तीन गुप्ति होती है । इन आठ पदार्थो तक उसका ज्ञान सीमित है और ज्ञान उसको नही है, लेकिन वह सर्वज्ञ भी हो जायगा । एक अजीब चीज जैन दर्शन मे है । यह मै जानना चाहता हूँ । जरूर कहीं न कही बौद्ध तन्त्रों मे होगी और सनातन परम्परा मे जरूर होगी, क्योंकि जैन भी तो सनातन परम्परा से जुड़े हुए है । भगवान् बुद्ध ने भी तो सनातन परम्परा से लिया है । नही मानते है आप !

प्रो0 रामशकर त्रिपाठी

जरूर मानते है । किन्तु यह पारिभाषिक सनातन धर्म नही । हम तो इसे चली आ रही परम्परा मानते हैं ।

प्रो0 नथमल टाटिया

मै आपसे जानना चाहता हूँ, यह मान्यता बौद्धो की दृष्टि से भी होनी चाहिये और सनातनी की तो होनी ही चाहिये ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

मेरी एक जिज्ञासा है । हमारे यहाँ शाक्त दर्शन में शाक्त दीक्षा होती है, तो उसमें क्रम बना हुआ है कि प्रारम्भ में कौन सा मन्त्र दिया जाय ? उसके प्रकार है—एक तो कुण्डलिनी मन्त्र का सर्वप्रथम जाप कराया जाता है, उसकी दीक्षा दी जाती है और उसके बाद में जो श्रीविद्या के क्रम में जाना चाहता है, उसे बाला की दीक्षा दी जाती है । उस दीक्षा में भी एक विशिष्ट क्रम है कि एक-एक वर्ण की दीक्षा दी जाती है । यही पद्धति हमारे यहाँ यज्ञोपवीत में गायत्री मन्त्र की जो दीक्षा दी जाती है, उसकी भी पहले पाद-दीक्षा दी जाती थी, किन्तु आजकल वह लुप्तप्रायः है । सम्पूर्ण मन्त्र एक ही साथ सुना देते है । किन्तु वैसे तीन दिन तक उसको एक-एक पद देकर उसका जाप करवाना और उसके बाद फिर उसको द्वितीय पद देना, इस प्रकार की पद्धति है । दूसरा कथन है कि बाला के बाद मे षडक्षरी बाला, नवाक्षरी बाला देकर के उसको एक प्रकार से आगे बढ़ाया जाता है और पञ्चदशी, षोडषी एव महाषोडशी तक पहुँचता है । एक यह सामान्य क्रम दीक्षा का है, किन्तु नेपाल की तरफ बृहद् वडवानल तन्त्र मिलता है । उसका दीक्षाक्रम बहुत लम्बा है, क्योकि उसमें प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकाल के अलग-अलग मन्त्रों का भैरव मन्त्रो सहित उपदेश होता है । यह शास्त्रों मे लिखा गया है कि जो शाक्त मन्त्र है, उन मन्त्रों के भैरव का दशांश जप नही किया जाता है, तो मन्त्र के फल को भैरव ग्रसित कर लेते हैं । इसलिये प्रातःकाल का अलग, मध्याह्न का अलग और सायंकाल का अलग, इस तरह से त्रिक्रम के अन्दर करीब-करीब सात पुरश्चरण होते है । उनका अलग-अलग क्रम बना हुआ है, जो बहुत लम्बा है । इसके अतिरिक्त एक और वहाँ विशेषता है कि मन्त्र को अनुलोम-विलोम अथवा प्रातःकाल के मन्त्र एक दो तीन के क्रम से, मध्याह्न के मन्त्र का दो तीन एक के क्रम से, सायंकाल के मन्त्र का तीन दो एक के क्रम से जप करना पड़ता है । तब जा कर वह उससे आगे बढ़ने का अधिकारी होता है । क्या बौद्ध तन्त्रों में भी इस तरह क्या कोई विधान है ? अथवा इस प्रक्रिया से भी जप करने की सूचना प्राप्त होती है ?

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

पहले तो मै एक प्रश्न करना चाहता हूँ । प्रश्न यह है कि दीक्षा और अभिषेक को एक माने या अलग मानें ? अभी तक के विचार से तो ऐसा प्रतीत होता है कि दीक्षा अलग है और अभिषेक अलग । तन्त्र ग्रन्थो मे यह कहा गया है कि अभिषेक के बिना अगर कोई तन्त्र की साधना करता है, तो वह गुरु और शिष्य नरक मे पतित होगा । उसके अभीष्ट की पूर्ति नही होगी । ऐसी स्थिति में दीक्षा का क्या प्रयोजन रहा ? मात्र दीक्षा लेने से, तन्त्र की दीक्षा लेने से, वह व्यक्ति तान्त्रिक कहलायेगा या नही ? जिस प्रकार भिक्षु का सवर लेने से व्यक्ति भिक्षु कहलायेगा, उसी प्रकार तन्त्र की दीक्षा लेने से वह तान्त्रिक कहलाये, तो उसको अभिषेक की आवश्यकता नही है, क्योकि तन्त्र का आचरण करने वाला हो गया, तो दीक्षामात्र से क्या वह तन्त्र का

आचरण कर सकता है ? अगर यह है तो अभिषेक के बिना तन्त्र की साधना करने वाला नरक में पतित हो जाता है, उसकी व्याख्या कैसे होगी ? यह एक प्रश्न है ।

दूसरी बात जैसे कि क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र या अनुत्तरतन्त्र है । क्रियातन्त्र में अपने क्रोध देव है । उसकी अभिषेक की विधि अलग है । पुष्पदेव हैं, उसकी अलग है । क्रिया देने में भी समानताएँ नहीं है । देवों की विभिन्नता के कारण अभिषेक विधि में भिन्नताएं है । क्रियातन्त्रों का भी एक अभिषेक नहीं है । मञ्जुश्री की अभिषेक विधि एक है, अवलोकितेश्वर की अभिषेक विधि एक है, हयग्रीव की अभिषेक विधि एक है । अब उन सबके आगे दीक्षा की आवश्यकता हो, तो क्या दीक्षा में भी भिन्नता होगी । अवलोकितेश्वर का अभिषेक लेना हो तो क्या उसकी दीक्षा दूसरी होगी, मञ्जुश्री का अभिषेक लेना हो तो उसकी दीक्षा दूसरी होगी । अनुत्तर और क्रियातन्त्र की दीक्षा में भेद होगा या एक ही होगी । इस प्रकार से तो तन्त्र की भी अनेक दीक्षाए और अनेक अभिषेक हो जाते है । जहाँ तक बौद्ध मत की बात है, वहाँ दीक्षा एक ही है, एक ही जैसी लगती है । तन्त्र में दीक्षित होने के बाद एक ही दीक्षा है । उसके बाद अलग से दीक्षा नहीं देनी पड़ती । जैसे क्रियातन्त्र से सम्बद्ध अवलोकितेश्वर का अगर अभिषेक प्राप्त कर लिया हो या दीक्षा मिल जाय, तो उसके बाद पुनः मञ्जुश्री का अभिषेक लेते समय दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती । लेकिन समय में भिन्नता आवेगी, दीक्षा एक ही होगी । समय में तो जैसे कि दीपङ्कर श्रीज्ञान ने समय की १४-१४ और ३० की अलग-अलग से गिनती की है । संवर का प्रयोजन तब सार्थक होता है, जब अभिषेक को ले । मात्र दीक्षा लेने से कुछ नहीं होता है । दीक्षा की पूर्ति अभिषेक के बाद माननी चाहिये । मेरा आप लोगों से निवेदन यह है कि दीक्षा अनेक है या एक है और दीक्षा लेने का प्रयोजन क्या है ? दीक्षा मात्र से तन्त्र की साधना कर सकता है या नहीं कर सकता ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

आप अभिषेक के लिये कह रहे हैं कि अभिषेक के बिना वह अधिकारी नहीं होता और बिना अभिषेक के यदि कोई कार्य करेगा तो नरक का भागी होगा, वही यहाँ दीक्षा के लिये है । बिना दीक्षा के जो मन्त्र-जप करेगा या कोई अनुष्ठान करेगा, तो वह पाप का भागी होगा । यहाँ दीक्षा और अभिषेक में अन्तर इतना ही है कि जिसकी दीक्षा होगी, वह दूसरे को दीक्षा नहीं दे सकता । दीक्षा से उसको स्वयं साधन का अधिकार मिलेगा, दूसरे को दीक्षित करने का अधिकार नहीं मिलेगा । जब गुरु ने उसको अभिषिक्त कर दिया, यानी आचार्य पद पर प्रतिष्ठित कर दिया, जैसे राजा का अभिषेक होने पर वह राज्यसिंहासन का अधिकारी हो जाता है, ठीक उसी तरह जिसका गुरु ने अभिषेक कर दिया, वही दूसरे को दीक्षा देने का अधिकारी होगा । यहाँ दीक्षा और अभिषेक में इतना ही अन्तर है । शैव-शाक्त तन्त्रों में इस बात को भी स्पष्ट किया गया है कि जिसने एक देवता की दीक्षा ले ली, उसको दूसरे

देवता की दीक्षा बिना गुरु की अनुमति के नहीं लेनी चाहिये । गुरु यदि अनुमति दे दे कि तुम अब दूसरे सम्प्रदाय मे, बौद्ध तन्त्रों में जिसे कुल कहते है, दीक्षित हो सकते हो, तो वह ऐसा कर सकता है । गुरु यदि अनुमति नहीं देगा, तो वह अन्य दीक्षा नहीं ले सकता । यों दीक्षा लेने का वह अधिकारी है । क्रमभेद से तो दीक्षाएं हैं ही । फिर क्रियावती दीक्षा है, ज्ञानवती है, इस तरह के अनेक भेद तो यहाँ है ही । गुरु किस प्रकार की दीक्षा उसको देगा, यह तो शिष्य की योग्यता को देख कर गुरु निश्चित करता है । यहाँ क्रियातन्त्र में आपने बतलाया मण्डल में क्रियाओं की प्रधानता है । इसी तरह से यहाँ क्रियावती दीक्षा मे भी मण्डलप्रवेश आदि विहित है । स्वप्न दर्शन है, पुष्पपात है । यह सब क्रियादीक्षा में आते है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

अभिषेक में होता यह है कि सामान्यतः मन्त्र की जिस परम्परा में वह आया है, उसी से उसका अभिषेक किया जाता है । किन्तु जो आम्नाय-परम्परा मे मन्त्र आते है, उन सबका भी यदि पूर्णाभिषेक के समय गुरु श्रवण करा देता है, तो उसको यह अधिकार भी प्राप्त हो जाता है कि वह उस कुल के जितने भी पुरुष-देवता या स्त्री-देवता हों, उन सबके मन्त्रों का उपदेश कर सकता है, क्योंकि वह सर्वाम्नायी हो जाता है । ऐसी परम्परा आपके यहाँ भी है या नहीं, हम यह जानना चाहते है ।

श्री उर्ग्येन तेनजिन

थोड़ा सा मुझे भी यह कहना है कि अभी तक जो चर्चा चल रही है, हम लोगो के पास इतना ज्ञान तो नहीं है, मगर हमको ऐसा लग रहा है कि शैव या वैष्णव जहाँ भी जो हो, दीक्षा शब्द का पारिभाषिक प्रयोग कर रहे हैं, वह करीब-करीब बौद्धों मे अभिषेक के जैसे लग रहा है । दीक्षा और अभिषेक के विषय में शैव-वैष्णव तन्त्रों में जो भेद बताया गया है कि पहले दीक्षा दी जाती है, आचार्याभिषेक बाद में होता है और अभिषिक्त आचार्य ही दूसरे को दीक्षा दे सकता है । बौद्धों में भी तो ऐसी ही स्थिति है । अभिषेक मिलते ही वह किसी को अभिषिक्त नहीं कर सकता । उसको साधना करनी पड़ेगी । साधना के बाद खुद परिपक्व होकर ही दूसरों को अभिषेक दे सकेगा । मेरी समझ में इतर तन्त्रों में दीक्षा शब्द से जिस विधि-विधान का वर्णन मिलता है, बौद्ध तन्त्रों में उसी के लिये अभिषेक शब्द प्रयुक्त है ।

प्रो० येशे थपख्ये

अभिषेक और दीक्षा ये एकदम अलग है । तन्त्र की दीक्षा अलग से दी जाती है और उसमें जो चार जाति का देव होता है, उसका थोड़ा बहुत अलग-अलग होता है । अभिषेक का मतलब क्या है ? अभिषेक लेने के बाद दूसरों को तन्त्र का उपदेश दे सकना । अपने आध्यात्मिक पद पर अधिष्ठान कर सकना । लेकिन दूसरों को अभिषेक करने से पहले उसको उपासना करनी पड़ती है । फिर बाद में दूसरों को भी अभिषेक दे सकता है । प्रमाणवार्त्तिक में धर्मकीर्ति द्वारा अभिषेक के साक्षात् मुक्ति-मार्ग होने का खण्डन किया है,

अभिषेक का खण्डन वहाँ नहीं किया गया है । उसमें कारण यह है कि अभिषेक होने पर ही मुक्ति-मार्ग में, आध्यात्मिक-मार्ग में प्रवेश करने की अनुमति मिलती है । अभिषेक स्वयं मुक्ति-मार्ग नहीं है, उसके लिये तो साधना करनी पड़ती है । इसी तरह से मन्त्रयान और तन्त्रयान दोनों एक ही हैं । मन्त्र शब्द का अर्थ है मन को बचाना । किससे बचाना है ? हमारा जो साधारण आभास है, अभिनिवेश है, उससे बचाना है । देवमण्डल का आभास हो, अपने में देवता-देवी का अभिनिवेश हो, शुद्ध का आभास हो, अभिनिवेश हो, ऐसा जिसमें होता है, उस यान को मन्त्रयान कहा जाता है । वज्रयान शब्द में वज्र का अर्थ है अभिन्न । यहाँ दो नही किया जा सकता । क्या दो नहीं किया जा सकता ? देवमण्डल का आभास और शून्यता का ज्ञान, इनको अलग नहीं किया जा सकता है । इसी यान को वज्रयान कहा जाता है । इस तरह से वज्रयान और तन्त्रयान में कोई अन्तर नहीं है ।

डॉ० वङछुग् दोर्जे नेगी

एक बात मैं यह पूछना चाहता हूँ मन्त्र और वज्रयान के सम्बन्ध में । तिब्बत में जितने भी आचार्य हैं, उन लोगों ने फलयान, मन्त्रयान, वज्रयान शब्दों की नाम-पर्याय करके ही व्याख्या की है, लेकिन मन्त्रयान और वज्रयान में सूक्ष्म अन्तर अवश्य है । अनुत्तर तन्त्र में निष्पन्नक्रम की साधना है, क्रियातन्त्र में बिल्कुल नहीं है, चर्या मे नही है, योगतन्त्र में नही है । निष्पन्नक्रम की साधना, नाडी आदि के माध्यम से तिलक की साधना, जो वज्रदेह को कर्मण्य करने की साधना है, वह अनुत्तर तन्त्र की विशेषता है । उसको अगर वज्र के अर्थ मे लेकर, तिलक के अर्थ में लेकर, इनके अभिन्न रूप को लेकर वज्रयान और मन्त्रयान को अलग करना होगा, क्योंकि उसकी विशेषता है । अगर सामान्य अर्थ मे ले, तब तो एक ही है ।

प्रो० येशे थपख्ये

कुछ विद्वानों का मत है कि वज्रयान से शून्यता और महासुख को अलग नही किया जा सकता । उनके अनुसार तो अनुत्तर तन्त्र की बात हो जाती है और अब दूसरे से नीचे के जो तीन तन्त्र हैं वे, वज्रयान नहीं हो पावेंगे । इसीलिये वह अर्थ नही है । यहाँ वज्रयान का तात्पर्य है शून्यता का ज्ञान और देवता का योग जो है भिन्न न हो । एक रूप में, एक ज्ञान के द्वारा दोनों हो जाय इसको वज्रयान कहा गया है । वैसे आप जो कह रहे हैं, उसको भी कहा जा सकता है, लेकिन सामान्य रूप से वज्रयान जो अभी आप कह रहे है, उसके अनुसार तो वज्रयान और उत्तर तन्त्रयान एक हो जाते हैं ।

प्रो० नथमल टाटिया

जैन दर्शन में समय के बारे में कहा गया है । समय और संवर दोनों चाहिये । तब तक समय नहीं आवेगा, अभिषेक भी नही होगा । अभिषेक के लिये समय भी चाहिये, संवर भी चाहिये । जैन लोग समय शब्द का किस अर्थ में प्रयोग करते है ? वह अर्थ करते हैं कि एक समय आने पर आपमें योग्यता

आवेगी, उसके पहले नहीं आवेगी । आप कितना ही प्रयत्न कर लीजिये, आपको सफलता नहीं मिलेगी । समय आने पर अभिषेक अपने आप हो जायगा या गुरु करायेंगे, यह जैनों की मान्यता है ।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

आपका यह समय शब्द तो काल का बोधक है । लेकिन समय और संवर एक सिक्के के दो पहलू हैं । समय सेवनीय है । एक विधि के रूप में समय का सेवन करना पड़ता है । जैसे कि यदि मैंने अवलोकितेश्वर का अभिषेक लिया है, तो मेरे लिये कुछ पालनीय धर्म हैं । जैसा मन्त्रजाप करना है, या कुछ घण्टा सम्भालना है, या कुछ द्रव्य सम्भालना है । वह सेवनीय है । दीक्षा लेने के पश्चात् संवर जो होगा मूलापत्ति और स्थूलापत्ति, वह निषेधात्मक संवर होगा । पालनीय जो है समय होगा । वह एक सिक्के के दो पहलू हैं । एक के अभाव में एक नहीं है । समय कभी आवेगा ऐसा नहीं है, संवर कभी होगा ऐसा नहीं है । डॉ० बहुलकर जी ने जिस वाक्य की चर्चा की है "एवं मया श्रुतम्", इसी बात को बुसतोन् ने भी कहा है कि "एवं मया श्रुतम्" जिसमें होगा, वह पितृतन्त्र होगा । जिसमें नहीं होगा, वह मातृतन्त्र होगा (सङ् वा छोग की चिंग किलखोस) करके गुह्यमण्डल करके जिसमें शुरू होगा, गुह्यमण्डल इति करके वह जो मातृतन्त्र होगा और "एवं मया श्रुतम्" होगा, पितृतन्त्र होगा । जहां तक मैंने (अधिकांश) ग्रन्थों को देखा, प्रायः सब में "एवं मया श्रुतम्" ऐसा नहीं है । बुसतोन् ने जो गिनें हैं, पितृतन्त्र और मातृतन्त्र के भेद में, लेकिन उसमें भी "एवं मया श्रुतम्" तो और भी अवाप्त जैसा था, इसलिये उसको तो रख देने से भी कोई आपत्ति नहीं है । बुसतोन् ने भी रखा है तो ठीक है, उसको रखा जा सकता है ।

दूसरा आपने कहा कि लेखनीय और भावनीय मण्डल । लेखनीय का मतलब है, वही पटमण्डल, जिस तरह हम लिखते हैं, भाविक मण्डल है । समाधि मण्डल इसमें समाहित हुआ है । मण्डल जो है साथ में निहित हो भी जाता है । चार आनन्दों की भी चर्चा यहां हुई । इस सम्बन्ध में पद्मा-करपो ने कहा है कि मातृतन्त्र प्रधान रूप से आनन्दों का, मुद्राओं का सेवन करने और निष्पन्नक्रम की भावना करने का विधान बताता है । पंचक्रम की भावना, वायुप्रधान भावना पितृतन्त्र की विशेषता है । वैसे मातृतन्त्र में भी अद्वय की साधना तो है ही । उसका अनुपात कम ज्यादा हो सकता है, नहीं तो लगभग एक ही है ।

•

मातृतन्त्र वर्णित वज्रदेह

-डॉ० ठाकुरसेन नेगी-

साधारणतः भगवान् तथागत ने विनेयजनों की मति, गोत्र, पूर्व संस्कार तथा उनकी शक्ति के आधार पर धर्म की देशना की । जैसे श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान, महायान, मन्त्रयान आदि । सर्वप्रथम हमें यह जानना जरूरी हो जाता है कि तन्त्र क्या है ? इसकी व्याख्या करते हुए गुह्यसमाज में कहा है— तन्त्र एक अविच्छिन्न धारा है । सूत्रों में इसे तथागतगर्भ कहा गया है, जो प्राणीमात्र में अनादि काल से अविच्छिन्न रूप में व्याप्त है । हेवज्रतन्त्र में कहा है कि प्राणी (सत्त्व) में अनादि काल से ही बुद्धबीज है, लेकिन आगन्तुक आवरणों से ढका है । अतः आगन्तुक आवरणों के क्षय-हेतु तथा वास्तविकता की प्रत्यक्षता-हेतु तथागत ने अन्तिम यान की धर्मदेशना की । सम्प्रति यहां अन्तिम यान अनुत्तरतन्त्रगत मातृतन्त्र के कुछ विषयों पर विचार किया जा रहा है ।

त्रिविध अनुत्तरतन्त्र

अनुत्तरयोगतन्त्र को हम तीन भागों में बांट सकते हैं— पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र । जिसमें उपाय प्रधान हो वह पितृतन्त्र, प्रज्ञाप्रधान मातृतन्त्र तथा प्रज्ञोपाय-उभयप्रधान अद्वयतन्त्र कहलाता है । अपि च, उत्पत्तिक्रम प्रधान पितृतन्त्र, निष्पन्नक्रम प्रधान मातृतन्त्र और उभयप्रधान अद्वयतन्त्र कहलाता है । रत्नजटित सिंहासन पर अस्त्र-शस्त्रों से विभूषित रत्न से अलंकृत क्रोधमुख, खड़े तथा पैर दाईं और कुछ मुड़े हो और बाईं ओर सीधे हों, ऐसे देव पितृतन्त्र के कहलाते हैं । मृतशरीर, कपाल आदि हड्डियों के गहनों से विभूषित तथा हाथों में डमरु, खट्वांग आदि लिये हों और पैर दाईं ओर फैला कर तथा बाईं ओर कुछ झुके हों, ऐसे देवों की गिनती मातृतन्त्र में होती है । ये प्रायः नग्न भी होते हैं । मण्डंल में श्मशान का दृश्य होना पितृ और उसका अभाव मातृतन्त्र कहलाता है । यह अनुत्तरयोगतन्त्र के बाह्य लक्षण की पहचान है ।

हेवज्रतन्त्र में कहा है— उत्पन्नक्रम का साधक कृत्रिम भावना करता है और निष्पन्नक्रम का साधक कृत्रिम को स्वप्न स्वरूप में परिवर्तित कर फिर अकृत्रिम की भावना करता है । तन्त्रों में यह सर्वविदित है कि पैदा होना उत्पन्नक्रम का और मृत्यु निष्पन्नक्रम का

बोधक है । इससे ज्ञात होता है कि जिसमें विमान, इष्टदेव, मन्त्रावृत्ति आदि का प्रधानरूप से अभ्यास किया जाता है, वह उत्पन्नक्रम कहलावेगा और इसके विपरीत महाशून्यता, महामुद्रा आदि की भावना ही निष्पन्नक्रंम कहलाती है । यद्यपि मातृ तथा पितृ दोनों तन्त्रों में निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है, लेकिन मुख्य विशेषता यह है कि मातृतन्त्र निष्पन्नक्रम पर अधिक जोर देता है । हेवज्रतन्त्र के मतानुसार मातृतन्त्र में चार मुद्राओं के द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना की जाती है । इस तरह मातृतन्त्र हो या पितृतन्त्र, सर्वप्रथम नाडी, वायु तथा बिन्दु योग की भावना करना जरूरी है, जिसमें नाडियों की संख्या ७२००० है । इसमें भी ललना, रसना और अवधूती तीन प्रमुख्र नाडियाँ हैं । वायु में भी प्राण वायु आदि पाँच मूल वायु तथा पाँच अंग वायु कुल १० मुख्य वायु हैं । बिन्दु भी स्थूल और सूक्ष्म दो भागों में विभक्त होता है । इस प्रकार नाडी, वायु और बिन्दु पर नियन्त्रण प्राप्त कर महासुख की प्राप्ति करना ही निष्पन्नक्रम का लक्षण है । इनका यथास्थान आगे वर्णन किया जायगा ।

अभिषेक

तन्त्र में प्रवेश हेतु दो अंगों का होना अनिवार्य है । परिपक्वता-हेतु अभिषेक और परिपूर्णता की प्राप्तिहेतु उपदेश के रहस्यो का खोलना । प्रथम की अनिवार्यता पर जोर देते हुए महामुद्रातिलक में कहा है— अभिषेक के अभाव में सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती, जैसे बालू से तेल नहीं निकलता । यदि कोई अहंकार के बल से अभिषेक के अभाव में तन्त्र की व्याख्या करता है, या आचरण करता है, तो वह मृत्यु के पश्चात् नरक को प्राप्त होगा । अतः परिपक्वता-हेतु अभिषेक अपरिहार्य है । विभिन्न तन्त्रों में भिन्न-भिन्न अभिषेक-विधियाँ निर्दिष्ट हैं । प्रायः सभी तन्त्र-ग्रन्थों में एक पटल अभिषेक से सम्बद्ध होता है । हेवज्र-तन्त्रराज में इसकी परिभाषा करते हुए कहा है— जिससे सींचा जाता है, शुद्ध किया जाता है, उसे सेक कहते हैं । हेवज्रपंजिका-योगरत्नमाला में इसके अर्थ को और स्पष्ट करते हुए कृष्णपाद ने कहा है कि भावना की परिनिष्पत्ति ही अभिषेक है । अभिषेक ज्ञान का सागर है, जिससे साधक के सभी मलों का प्रक्षालन होता है । क्रियातन्त्र में उदकाभिषेक और पटाभिषेक, चर्यातन्त्र में मुकुट, वज्र तथा घण्टाभिषेक आदि पांच हैं । योगतन्त्र में उसके ऊपर अनागामी वज्राचार्य अभिषेक, अनुत्तर-योगतन्त्र

में उपर्युक्त सभी अभिषेक और कलश, गुह्य, ज्ञान तथा तत्त्व ये चार अभिषेक भी होते हैं, ऐसा ज्ञानतिलक में कहा गया है ।

अज्ञानरूपी मल को धोकर अधिकार देना (१) उदकाभिषेक है । जैसे बोधिचित्त की उत्पत्ति के बाद बुद्धमार्ग में जन्म लेना माना जाता है, ठीक उसी प्रकार उदकाभिषेक के पश्चात् वह बुद्धगोत्रीय बन जाता है और क्रमशः उन्नयन और विशुद्धि की ओर अग्रसर होता हुआ बुद्ध बन जाता है । तब उष्णीषादि का आविर्भाव होता है । उसकी प्रसूतिहेतु (२) मुकुटाभिषेक होता है । शून्यता अर्थात् तत्त्वज्ञान की अद्वय स्थिति की प्राप्ति हेतु (३) वज्राभिषेक और शून्यता एवं करुणा की अद्वयसिद्धि हेतु (४) घण्टाभिषेक होता है । इसे उत्तराधिकारी अभिषेक भी कहते हैं । भविष्य में बुद्धत्व प्राप्ति कर बुद्ध के नाम से जानने के लिये (५) नामाभिषेक दिया जाता है । इन अभिषेकों के हो जाने पर शिष्य पर उनका संस्कार पड़ता है । इन पंचाभिषेकों के बल से पांच क्लेश विशुद्ध होकर तथा पांच अशुद्ध स्कन्ध परिवर्तित होकर पंचज्ञान में प्रसूत होते हैं ।

अभिषेक का शाब्दिक अर्थ पात्रता (योग्यता) हेतु जल को छीटने से है, अर्थात् कलश द्वारा जल गिराते हुए शिष्य को विशुद्ध करना ही अभिषेक है । कलशाभिषेक से काय के संचित पाप का क्षय होता है और वह वज्रदेह (वज्रकाय) की प्राप्ति के योग्य हो जाता है । गुह्याभिषेक से गुह्य द्रव्य के सेवन से माया प्रत्यक्ष होती है । महामुद्रातिलक में कहा है कि द्रव्य के सेवन से आन्तरिक ज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा महा आनन्द की भी प्राप्ति होती है । गुह्याभिषेक के द्वारा वाक् की विशुद्धि होती है और यह वाक्वज्र की प्राप्ति के योग्य हो जाता है । प्रज्ञाज्ञानाभिषेक सहजज्ञान के प्रदर्शन हेतु होता है । यह चण्डाली, अर्थात् मुद्रा के आश्रय तथा प्रयोग से होता है । योगी अवधूती आदि मुख्य त्रिनाडी के संगम-स्थान से ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित करके उष्णीष पर स्थित बिन्दु को पिघला कर अवतरित करके सम्पूर्ण नाडियों में व्याप्त कर सहज सुख की प्राप्ति करता है । यहाँ चित्त को अभिषिक्त किया जाता है । इस अभिषेक से चित्त की मलिनता दूर होती है और यह चित्तवज्र की प्राप्ति के योग्य हो जाता है । गुह्यसमाज में सभी पदार्थ, अर्थात् स्कन्ध, धातु, आयतन, गोत्रादि मूर्त-अमूर्त से रहित तथा स्वचित्त अनादि अनुत्पन्न महाशून्य स्वरूप प्रभास्वर हैं, ऐसा कहा गया है, अर्थात् चतुर्थाभिषेक को सप्त अवयव युक्त वज्रधर की स्थिति का बोध कराने वाला कहा

गया है । अभिषेक के अभाव में सिद्धि की प्राप्ति नहीं होती, अतः अभिषेक के लिये ऐसे गुरु के चरणों में जाना चाहिये, जो अविच्छिन्न अभिषेक परम्परा से युक्त हो, अभिषेक विधि में दक्ष हो तथा तन्त्र की व्याख्या करने में अद्वितीय हो । ऐसे गुरु से उपर्युक्त कलश आदि चार अभिषेकों को लेना चाहिये ।

वज्रयान में अनुत्तरयोगतन्त्र का साधक अपनी साधना में अपने देह को अत्यधिक महत्त्व देता है । अन्य बौद्ध तान्त्रिकों की तरह यह भी इस देह को सभी प्रकार की साधनाओं का आश्रय मानता है । तदनुसार सम्पूर्ण विश्व इस देह में विद्यमान है । यह संसार इससे भिन्न नहीं है । समस्त चराचर जगत् इसी देह के विभिन्न भागों में स्थित हैं । अतः परम लक्ष्य (बुद्धत्व) की प्राप्ति के लिये यह देह एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है । वज्रदेह अथवा देह से यहाँ मनुष्यदेह अथवा साधक का शरीर अभिप्रेत है । वज्रयानी साधक जब किसी साधना का, विशेषकर नाडी, वायु एवं बिन्दु-भावना का अभ्यास करता है, तो उसे अपने देह के बारे में सम्यक् जानकारी प्राप्त करना आवश्यक है, क्योंकि दैहिक क्रियाओं को बांधकर तदाश्रित चित्त की वस्तुस्थिति का साक्षात्करण वज्रयानी साधना-पद्धति की विशेषता है । यहां निष्पन्न देह की ही नहीं, प्रत्युत गर्भाधान से लेकर उसके विकासक्रम की विभिन्न अवस्थाओं की भी अपेक्षा रहती है । इसलिये वज्रदेह की निष्पत्ति का क्षेत्र गर्भाधान की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर देह की पूर्णरूपेण निष्पत्ति पर्यन्त समझना चाहिये ।

वज्रयानियों के अनुसार चित्त संसार एवं निर्वाण समस्त धर्मों का मूल कारण है । दूसरे शब्दों में चित्त वज्रयानी तत्त्वमीमांसा का केन्द्र-बिन्दु है । इसी से संसार, निर्वाण आदि समस्त धर्मों की व्यवस्था होती है । इस चित्त को तन्त्रागमों में अनादिनिधन, प्रपंचातीत, शाश्वत, उच्छेदान्त, अपतित, धर्मता, तथता आदि अनेक विशेषण पदों से विभूषित किया गया है ।

अनुत्तरयोगतन्त्र के मातृतन्त्र ग्रन्थों में चित्त के स्थान पर आलय[1] शब्द बहुधा देखने का मिलता है । चित्त अथवा आलय के

1. एताश्चैव समाख्याता मुदिताद्यास्तु भूमयः ।
आलयो बोधिसत्त्वानामिन्द्रियादिस्वरूपिणाम् ॥
आलयः सर्वबुद्धानां स्कन्धादीनां विशेषतः ।
बुद्धानां बोधिसत्त्वानां बुद्धत्वावाहिकाः पराः ॥

द्विविध अवान्तर भेद करते हुए वज्रयानी साधक सुविशुद्ध अंश को आलय-ज्ञान एवं सर्वबीजक अंश को आलय-विज्ञान के नाम से व्यवहृत करते हैं । उनके अनुसार तथागतगर्भ और दोहाकोश में उक्त चिन्तामणिसदृश चित्त, अभिधर्मसूत्र में उक्त अनादिकालिक धातु आदि आलय-ज्ञान के ही अपर नाम हैं । आलय-ज्ञान निर्वाण का सजातीय कारण तथा संसार का अधिपति कारण है ।

सांसारिक देह की सिद्धि

आलयविज्ञान एवं महाप्राण वायु से युक्त सत्त्व के त्रिधातु (त्रिभव) में उत्पन्न होने को वज्रयानी साधक वज्रदेह की सिद्धि मानते है । सत्त्व जितनी बार उत्पन्न होता है, उसी अनुपात में विभिन्न वासनाओं के बीज आलयविज्ञान से अभिसंबद्ध होते हैं । अभिसंस्कार से चंचल चित्त तृष्णा लक्षण से युक्त होने के कारण वासना-बीज से योग करता है । अनुत्तरयोगतन्त्र में इसे प्राणवायु कहा गया है । यही प्राणवायु सत्त्वों में प्रतिसन्धिग्रहण तथा चित्त को चंचल करता है । इस प्रकार विभिन्न वासनाओं से युक्त बीजों के आलयविज्ञान से युक्त होने पर सत्त्व त्रिधातु की चार योनियों में से किसी एक में उत्पन्न होता है । इस विषय को संवरोदयतन्त्र में देखा जा सकता है—

चतस्रो योनयो भूता नानाकर्मस्वभावतः ।
अण्डजाश्च जरायुश्च संस्वेदा उपपादुकाः ॥
हंसक्रौञ्चमयूराश्च शुकसर्पादयोऽण्डजाः ।
हस्त्यश्वगोमहिषाश्च खरमानुषा जरायुजाः ॥
कृमिकीटपतङ्गाश्च मशकादिस्तु स्वेदजाः ।
देवनरकसत्त्वाश्च अन्तराभव एव च ॥ (२.२-४)

द्वात्रिंशद्बोधिचित्तानि. यदा यान्तीह पूर्णताम् ।
इन्द्रियस्कन्धभूतानां बुद्धत्वं तदनन्तरम् ॥
स्वदेहे चैव बुद्धत्वं स्थितं नान्यत्र कुत्रचित् ।
देहादन्यत्र बुद्धत्वमज्ञानेनावृतैर्मतम् ॥ (व. ति. ४.७-१०)
स्वदेहस्थ महाज्ञान सर्वसकल्पवर्जितम् ।
व्यापकः सर्ववस्तूनां देहस्थोऽपि न देहजः ॥ (हे. त. १.१.१२)
यह वचन सम्पुट तथा वज्रवाराही तन्त्र में भी उपलब्ध है, जो कि अभी अप्रकाशित हैं ।

अनुत्तरयोगतन्त्र के साधकों के अनुसार पूर्वविदेह, दक्षिण जम्बूद्वीप एवं अपर गोदानीय, इन त्रिद्वीपों में उत्पन्न षड्धातुयुक्त सत्त्व अनुत्तरयोगतन्त्र एवं प्रातिमोक्ष के पात्र हैं। इसलिये ये वज्रयान के श्रेष्ठ आधार हैं। इन तीन द्वीपों में भी जम्बूद्वीप में उत्पन्न सत्त्व वज्रयान का सर्वश्रेष्ठ आधार है, क्योंकि यहां इस जन्म में कृत कर्म के फल का इसी जन्म में परिपाक होने से सत्त्व कोई भी प्रसिद्ध कार्य करने की क्षमता रखते हैं। इसलिये यहाँ उत्पन्न सत्त्व एक जन्म एवं एक ही शरीर में बुद्धत्व प्राप्त करने के उपदेश की पात्रता रखते हैं। संवरोदयतन्त्र में पुनः कहा है—

एत उपपादुकसत्त्वाः प्रथमकल्पिकादयः ।
पूर्वविदेहोऽपरगोदानिर् उत्तरकुरुर् एव च ॥
जम्बूद्वीपे सुजातस्य कर्मभूमिः प्रशस्यते ।
सुकृतं दुष्कृतं कर्म मध्यमाधममुत्तमम् ॥
पूर्वजन्मविपाकोऽत्र दृश्यते सर्वजन्तुषु ।
जम्बूद्वीपे वरकोष्ठो मध्यदेशोपपद्यते ॥
मृदुमध्यतीक्ष्णेन्द्रियो जन्मपूर्वकुशलमपेक्षितम् ।
मनुष्यजातं प्रथमं महाफलं
स्वगृहान् निष्क्रान्तिर्द्वितीयस्य लाभः ।
कुशले प्रवज्यासाधनं तृतीयं
एकाग्रमनसा लाभश्चतुर्थं तु उदाहृतम् ॥ (२.५-१०)

मनुष्य देह की उत्पत्ति

माता-पिता के शुक्र-शोणित एवं गन्धर्वचित्त तीनों का उपादान प्रत्यय होने के कारण मनुष्य के देह का, अर्थात् अस्थि, मज्जा इत्यादि धातुसमूह का उत्पाद होता है। ये सब जनयित्री मा के अन्नपान के षड्रस से प्रादुर्भूत होते हैं। कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा में भी कहा है कि यह गर्भधारण कर्म के आधिपत्य से चार या पाँच धातुओं में निश्चित होता है। मा की कुक्षि में प्रविष्ट विज्ञान एवं शुक्र-शोणित को बीज कहते हैं। इसी बीज को बाहर पतित न होने देने वाला मा का गर्भाशय १. पृथिवीधातु के स्वभाव से युक्त होने के कारण विज्ञान को गर्भ में ग्रहण करता है, २. अप्धातु के स्वभाव का होने से उसका स्थूल मे परिणमन होता है, ३. अग्निधातु के स्वभाव का होने से वह परिपक्व होता है, ४. वायुधातु के स्वभाव का होने से उसकी वृद्धि होती है, ५. आकाशधातु द्वारा वृद्धि

होने के अनन्तर उसका उन्मीलन होता है, ६. ज्ञानधातु स्वभाव होने से वह सबका स्वामी होता है । इसी के फलस्वरूप मनुष्य देह की उत्पत्ति होती है ।

शुक्र–शोणित का बाहर पतन न होने देकर दृढतया स्थिर करने वाला स्वभाव होने से पृथिवी, आर्द्रता स्वभाव होने से अप्, रक्त स्वभाव होने से अग्नि, स्फुरण स्वभाव होने से वायु, सुषिर स्वभाव होने से आकाश— ये पाँच गर्भधातु हैं । गर्भ में स्थित शुक्र, शोणित एवं चित्त तीनों मिश्रित रूप में रहते हैं । पिता के बोल तथा माता के कक्कोल के योग पर आश्रित दृढ भाग के प्रति आत्मग्रह होने से दृढ़ वासना पैदा होती है, इसलिये देह पृथिवी धातु पर आश्रित होकर उत्पन्न होता है । बोधिचित्त के शुक्रस्वभाव होने से आत्मग्रह होता है, इसलिये देह अप्धातु सापेक्ष उत्पन्न होता है । इन दोनों से प्रेरित भाग के प्रति आत्मग्रह होने के कारण रक्त की वृद्धि होती है । इसकी उष्णता से अग्निधातु उत्पन्न होता है । इनके स्फुरण के प्रति आत्मग्रह होने से वायुधातु उत्पन्न होती है । इसके सुख के प्रति आत्मग्रह होने से आकाश धातु उत्पन्न होती है ।

इस प्रकार विज्ञान को घेर कर उपर्युक्त पाँच धातुओं के वृद्धिंगत होने से अविद्या प्रत्यय से संस्कारादि के रूप में प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम द्वारा कायचित्त की सिद्धि होती है । इनके शुद्ध आधार, स्वभाव तथा देवविशुद्धि आदि का विस्तृत वर्णन हेवज्रतन्त्र एवं उसकी टीकाओं में देखने को मिलता है । हेवज्रतन्त्रराज में कहा है—

बोलकक्कोलयोगेन स्पर्शात् काठिन्यवासना ।
कठिनस्य मोहधर्मत्वान्मोहो वैरोचनो मतः ॥
बोधिचित्तं द्रवं यस्माद् द्रवमब्धातुकं मतम् ।
अपामक्षोभ्यरूपत्वाद् द्वेषो ह्यक्षोभ्यनायकः ॥
द्वयोर्घर्षणसंयोगात् तेजो हि जायते सदा ।
रागोऽमिताभवज्रः स्याद्रागस्तेजसि संभवेत् ॥
कक्कोलकेषु यच्चित्तं तत् समीकरणरूपकम् ।
ईर्ष्या ह्यमोघसिद्धिः स्यादमोघो वायुसंभवः ॥
सुखं रागं भवेद् रक्तं रक्तिराकाशलक्षणम् ।
आकाशः पिशुनवज्रः पिशुनमाकाशसंभवम् ॥

एकमेव महाचित्तं पञ्चरूपेण संस्थितम् ।
पञ्चकुलेषु संभवास्तत्रानेकसहस्रशः ॥ (२.२.५३-५८)

संक्षेप में अनुत्तरयोगतन्त्र में मातृतन्त्र के साधकों के अनुसार वज्रदेह की सिद्धि में शुक्र से मज्जा, अस्थि, स्नायु, रोम; रज से चर्म, रक्त एवं मांस सिद्ध होते हैं, जिसे तन्त्रशास्त्र में षट्कोश भी कहा गया है । संवरोदयतन्त्र में इनका इस तरह से वर्णन है—

अष्टधातुः पैतृको ज्ञेयस्तेजोधातुश्च मातृकः ।
त्वङ्मांसं च रक्तं च मातृजा इति कथ्यते ॥
स्नायुर्मज्जा च शुक्रं च पितृजा इति कथ्यते ।
एवं षाट्कौशिकं पिण्डं वज्रसत्त्ववचो यथा ॥
रूपवेदनासंज्ञासंस्कारा विज्ञानं एव च ।
पञ्चबुद्धस्वभावा तु स्कन्धोत्पत्तिर्विनिश्चिता ॥
जन्मोत्पत्तिक्रमं ज्ञात्वा सम्यग्बुद्धत्वमाप्नुयात् ।
एतत् स्कन्धपरिज्ञानं कथितं तत्त्ववादिना ॥ (२.२८-३१)

इस प्रकार उक्त स्कन्ध, धातु, आयतनादि के समूह को वज्रदेह कहते हैं । वज्रदेह स्थूल स्कन्ध, धातु, आयतन एवं सूक्ष्म स्कन्धादि नाडी, वायु एवं बिन्दु द्वारा सिद्ध प्रभास्वर समल चित्त द्वारा उत्पन्न होता है, बाहर के सूक्ष्म अणु इत्यादि से नहीं, क्योंकि सभी चित्त के अवभासमात्र हैं । इस प्रकार सिद्ध वज्रदेह का उत्पन्न होना मातृतन्त्र द्वारा उत्पन्न निर्माणकाय में नियत है । यह निर्माणकाय भी धर्मधातु से उत्पन्न हुआ है । अतः वर्तमान देह की स्थिति को अवभासमात्र जानकर सांसारिक देह, अर्थात् समल चित्त को रूपकाय के ज्ञान द्वारा विमल करने से उत्तम निर्माणकाय की सिद्धि होती है ।

वज्रदेह (वज्रकाय) की सिद्धि

वज्रदेहसाधना के विषय में यह जानना अत्यावश्यक है कि इसमें किसी भी तरह बिन्दु का अधःपतन न हो, अन्यथा मृत्यु अवश्यम्भावी है । योगियों ने कहा भी है— "मरण बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्" । इसी बिन्दु की ऊर्ध्व गति होने पर वज्रदेह की सिद्धि होती है । स्वभाव से बिन्दु मलयुक्त होता है, इसलिये यह अधोगतिसम्पन्न होता है । अशुद्ध बिन्दु से प्रज्ञा की शुद्धि भी नहीं हो सकती, बुद्धत्व-लाभ तो दूर की बात है । अतः सर्वप्रथम शोधन और निरोध शक्ति के द्वारा बिन्दु की अधोगति का रोध करना जरूरी

होता है । तत्पश्चात् कर्ममुद्रा से ऊर्ध्व स्रोत के खुलने पर अमरत्व का मार्ग सिद्ध होता है । यहाँ पर बुद्धत्व का उदय होता है । निर्माणचक्र में बिन्दु की गति और स्थिति के फलस्वरूप जिस काय का उदय होता है, उसका नाम निर्माणकाय है । बिन्दु के ऊर्ध्वगमन के साथ-साथ आनन्द का भी तारतम्य होता है। अवधूती नाड़ी का सहारा लेकर बोधिचित्त जब धर्मचक्र तक उठता है, तब आनन्द परमानन्द में परिणत होता है । निर्माणचक्र में जो कर्ममुद्रा है, वह धर्मचक्र में धर्ममुद्रा है । इस अवस्था में बोधिचित्त शिरोदेश में रहता है । इसके बाद उत्कर्ष लाभ होने पर संभोगचक्र में विरमानन्द का अनुभव होता है । इस समय की मुद्रा का नाम महामुद्रा है । परमानन्द और विरमानन्द क्रमशः भव और निर्वाण रूप हैं । इस समय समयमुद्रा कार्यकारी होती है, यहां क्लेशावरण और ज्ञेयावरण की निवृत्ति होती है तथा भव और निर्माण एकाकार हो जाते हैं । इसके ऊपर महासुखचक्र में सहजानन्द की उपलब्धि होती है तथा उस समय अहंबोध समाप्त हो जाता है ।

निर्माणकाय में जैसे बुद्ध के निर्माणकाय का आविर्भाव होता है, वैसे ही धर्मचक्र में धर्मकाय, संभोगचक्र में संभोगकाय तथा महासुखचक्र में महासुखकाय की अभिव्यक्ति होती है । यही वज्रदेह (दिव्यदेह) की सिद्धि (प्रकटन) है । इस स्थिति में दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र, सर्वज्ञत्व, विभुत्व आदि महागुणों का आविर्भाव होता है । सबसे अन्त में सम्यक्सम्बुद्ध रूप में बोधिचित्त की स्फूर्ति होती है ।

देहगत नाडीचक्र

अनुत्तरयोगतन्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थों में कायविज्ञान का विवेचन प्राप्त होता है, जिनमें वज्रदेह की सिद्धि, तदाश्रित नाडी, वायु एवं बिन्दु आदि का एक विशिष्ट विवेचन हमें देखने को मिलता है । श्रीवज्रमालातन्त्र में कहा भी है कि मनुष्य देह में एक ओर जहां रक्त, मज्जा, मांस आदि पदार्थ हैं, वहीं दूसरी ओर हजारों-हजार नाडियाँ भी विद्यमान हैं । फलतः तान्त्रिक साधना के लिये वज्रयानियों ने नाडी-संस्थान का विशेष परिज्ञान किया है । उपनाडियों को छोड़ देने पर भी ७२००० नाडियाँ परिगणित हैं । इसके परस्पर विविध योग से सूक्ष्म नाडियों की संख्या साढे तीन करोड़ (३,५०,००,०००) होती हैं । कालचक्र आदि तन्त्र-ग्रन्थों में रोमकूप पर्यन्त सूक्ष्म नाडियों का उल्लेख मिलता है । मानव देह में रोमकूप की संख्या

३,५०,००,००० आंकी गई है । तदनुसार सूक्ष्म नाडियों की संख्या भी उतनी ही मानी गई है । हेवज्रपिण्डार्थवज्रगर्भ–टीका में भी मानव देह में जितनी रोम· की संख्या है, उतनी ही संख्या सूक्ष्म नाडियों की मानी गई है । इनमें ३२ या २४ नाडियाँ मुख्य है । उनमें भी तीन नाडी सर्वप्रमुख हैं। संवरोदय तन्त्र में कहा भी है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि नाडीचक्रं यथाक्रमम् ।
द्वासप्ततिसहस्राणि नाडी देहानुगा भवेत् ॥
नाडीका उपनाडीनां तासां स्थानं समाश्रिताः ।
विंशोत्तरशतं नाम नाडी प्राधान्य उच्यते ॥
नाड़ीस्थानं च पीठं च चतुर्विंशत्प्रमाणतः ।
तेषां मध्ये त्रयो नाड्य आश्रयन्ति च सर्वगाः ॥ (७.१-३)

तीन प्रधान नाडियाँ

हेवज्र एवं सम्पुट तन्त्र में वज्रगर्भ की जिज्ञासा पर भगवान् ने स्पष्ट किया है कि वज्रदेह में ३२ बोधिचित्तवहा नाडियाँ महासुख स्थान की ओर प्रवाहित होती हैं । इनमें तीन— ललना, रसना एवं अवधूती प्रमुख नाडियाँ हैं ।

मध्य नाडी

स्थूल स्कन्ध, धातु, आयतन तथा सूक्ष्म नाडी आदि के समुदाय रूप में उत्पन्न वज्रदेह का आधार यह मध्य नाडी है । प्राण वायु से युक्त यह मध्य नाडी उष्णीषचक्र से लेकर गुह्यचक्र तक विद्यमान षट्चक्रों के मध्य में स्थित है । मध्यनाडी का ऊपरी शिखर अधोमुख 'हूँ' की आकृति वाला है । इसमें पिता से प्राप्त शुक्र (रस) राजिकामात्र परिमाण में स्थित है, जिसकी गति अवरुद्ध है । इसके नीचे का छोर ह्रस्व "अ" की आकृति वाला है । इसमें माता-पिता से प्राप्त शोणितस्वभाव बिन्दु या शोणित रस स्थित है । अहं इन दोनों छोरों के मध्य में आलयविज्ञान का आधारभूत महाप्रांण वायु स्थित है । यह नाडी वर्णविहीन आकाशसदृश है । नाभि के नीचे तीन नाडीसमूह से निर्मित चतुष्पथ में नीचे शंखिनी नाडी स्थित है तथा सभी नाडियों में श्वेत अंश का प्रवाह निरन्तर इसी स्थान में एकत्र रहता है । यहीं से उसका प्रपात होने पर सहजानन्द की उत्पत्ति होती है ।

संवरोदयतन्त्र, सम्पुटतन्त्र और वसन्ततिलक में मध्य नाडी का वर्णन समान रूप से उपलब्ध होता है । अष्टपत्र वाले हृत्कमल के मध्य में यह मध्य नाडी स्थित है और यह कदलीपुष्प के सदृश स्वच्छ है । श्वेतरक्त (शुक्रशोणित) रस का संचार न होने के कारण यह भीतर से शून्य होती है । इसके ऊर्ध्वभाग में "हूँ" अधोमुख अवलम्बित होकर नीचे की ओर देखता है तथा अधोभाग में ह्रस्व "अ" तैलदीपसदृश अलंकृत होता है । इस प्रकार यह नाडी अपने अधोभाग में स्थित सभी नाडियों में बोधिचित्त का सम्यक् वहन करती है । यही सहजानन्द देने वाली है । अतः इस नाडी को अवधूती जानना चाहिये । सम्पुटतन्त्र एवं वसन्ततिलक में कहा है—

स्वहृन्मध्यगतं पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
तस्य मध्यगता नाडी तैलवह्निस्वरूपिका ॥
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ।
तस्य मध्ये स्थितो वीरः सर्षपस्थूलमात्रकः ॥ (६.२-३)

संवरोदयमहातन्त्रराज में कहा है—

संवृतौ मध्यभागेन हृत्सरोरुहमध्यगा ।
कदलीपुष्पसंकाशा लम्बमाना त्वधोमुखी ॥
तैलवह्निशिखोद्दीप्ता बोधिचित्तसमावहा ।
साऽवधूती तु विज्ञेया सहजानन्ददायिका ॥ (७.१७-१८)

सम्पुटतन्त्र, वसन्ततिलक और संवरोदयतन्त्र से मालूम होता है कि ललना और रसना इन दोनों नाडियों के बीच में हृत्कमल से निकली हुई अवधूती नाडी से बोधिचित्त प्रवाहित होता है । यह अवधूतिका सहजानन्द-प्रदायिका है । हेवज्रतन्त्र और उसकी पंजिका मुक्तावली के अनुसार अवधूती ग्राह्य-ग्राहक वर्जित है । समस्त विकल्पों को अवधूत (नष्ट) कर देने से यह अवधूती कहलाती है । यह मध्यदेश में स्थित है । मध्यदेश का तात्पर्य शिरस्, कण्ठ, नाभि और योनि के मध्य में है ।

ललना-रसना नाडी

देह की दाहिनी ओर से रसना और बायीं ओर से ललना ये दो नाडियाँ नाभि की अधो दिशा में चार अंगुल विश्लिष्ट होकर नाभिप्रदेश में गुर्दे की महानाडी से सम्बद्ध होती हैं । इसके पश्चात् यहां से पुनः हृदय की दाहिनी दिशा में पिंगला (रसना) और वाम

दिशा में इडा (ललना) से सम्बद्ध होती हैं । तदनन्तर यह कक्षपुट के अधोभाग में हृदय की महानाडी से सम्पृक्त होकर कण्ठचक्र में सन्निपतित होती है और कृकाटिका नाडी से होकर कान के अधोभाग के छिद्र से होती हुई (Lzonśiñ) वृक्ष-नाडी के साथ मस्तक में होकर मूर्धा के ब्रह्मरन्ध्र से सम्बद्ध होती है। इस प्रकार ये दो नाडियाँ सभी इन्द्रियद्वारों में व्याप्त हैं । विशेष कर नाक के दोनों छिद्रों में इन दोनों नाडियों के ऊर्ध्व शिखर होते हैं । नीचे तीन नाडियों के मिलने से निर्मित चतुष्पथ से विश्लिष्ट होकर स्थित दक्षिण नाडी रसना के निचले शिखर द्वारा स्त्री गर्भाशय स्थित रक्त का स्राव तथा स्त्री-पुरुष दोनो के मल-संधारण एवं त्याग कृत्य सम्पन्न किये जाते हैं[१] । वाम नाड़ी ललना के निचले शिखर द्वारा स्त्री-पुरुष दोनों के मूत्र का संधारण एवं त्याग कृत्य किये जाते हैं । [२]ललना-रसना के शिखर में, जो नाभि के ऊर्ध्व भाग में स्थित है, चन्द्र-सूर्य वायु का संचार होता है । इसलिये नाभिप्रदेश में इन तीन नाडियों के एकलोलीभूत (एकीभाव) हो जाने से लग्न (मेष आदि) चौसठ (६४) नाडियों का या छत्तीस (३६) स्कन्ध और छत्तीस (३६) धातुओं का कुल बहत्तर (७२) नाडियों में संविभाग हो जाता है । उनमें वायु का संचार होने से बाहर के ऊर्ध्व एवं अधो द्वार इत्यादि और भीतर के महाप्राण वायु इत्यादि सब पोषित होकर उत्पन्न होते हैं ।

ललना से उत्पन्न होने वाली १४ नाडियाँ ये हैं—

१. अभेद्या— त्रिवज्र से अभेद्य होने के कारण यह अभेद्या नाडी है । यह सिर पर स्थित है ।

---

१. अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवाहिनी ।
(हेवज्रतन्त्र, १.१.१५)
अक्षोभ्यावहा ललना रसना रक्तवहा ख्याता ।
(हेवज्रपञ्जिकारत्नावली, प्रथम कल्प, प्रथम पटल)
ललना अतृप्ता च स्वभावेन वामपार्श्वेऽक्षोभ्यावहा ।
रसना सर्वरसं ददाति कवलयति वा दक्षिणपार्श्वे रक्तवहा ॥
(सम्पुटोद्भवतन्त्रटीका, प्रथम कल्प, द्वितीय प्रकरण)

२. तेषां मध्ये स्थिता नाडी ललना मूत्र(शुक्र)(प्र)वाहिनी ।
दक्षिणे रसना ख्याता नाडी रक्तप्रवाहिनी ॥ (हेरुकतन्त्र ७.१६)
कण्ठादारभ्य यावन्नाभिरत्रान्तरे वामेतरपार्श्वे नाड्यौ चन्द्रसूर्याख्ये नाभेरधस्त एवं योनिनाड्यौ ललनारसनाख्ये ॥ (हेवज्रपञ्जिकामुक्तावली, प्रथम पटल)

२. सूक्ष्मा— सूक्ष्म कल्पना करने से या अतिसूक्ष्म होने से या केश के अग्रभाग के सौवें, हजारवें भाग के बराबर होने से देह में यह सूक्ष्म रूप में उपलब्ध होती है । इसलिये यह सूक्ष्मा नाडी है । यह देह के उष्णीष से सम्बद्ध है ।

३. दिव्या— दिव्य या रमणीय होने से यह दिव्या नाडी है । यह देह के दक्षिण कर्ण पर स्थित है ।

४. वामा— वाम दिशा में आश्रित होने के कारण यह वामा नाडी है । यह देह के कृकाटिका भाग में स्थित है ।

५. वामिनी— वर्तुलाकार (वृत्ताकार) होने के कारण यह वामिनी नाडी है । यह देह के वाम कर्ण में स्थित है ।

६. कूर्मजा— कूर्म के सदृश इसका आकार होने से यह कूर्मजा नाडी है । यह देह में भृकुटि के मध्य में स्थित है ।

७. भावकी— भावना से युक्त होने के कारण यह भावकी नाडी है । यह देह में चक्षु के बाह्य प्रदेश में स्थित है ।

८. सेका— सेक प्रदान करने के कारण यह सेका नाडी कहलाती है । यह देह में दोनों बाहु में स्थित है ।

९. दोषा— क्लेशों से दूषित होने के कारण यह दोषा या यामिनी नाडी कहलाती है । यह देह के दोनों कक्षपुट में स्थित है ।

१०. विष्टा— देह त्राण करने के कारण यह विष्टा या महाविष्टा नाडी है । यह देह में पयोधर में स्थित है ।

११. मातरा— उत्पाद करने के कारण यह मातरा नाडी है । यह देह में नाभिप्रदेश में स्थित है ।

१२. शर्वरी— सर्वत्र गमन करने के कारण यह शर्वरी नाडी है । यह देह में नासिका के शिखर पर चुभी हुई है ।

१३. शीतदा— शीतलता प्रदान करने से यह शीतदा नाडी है । यह देह में मुख के किनारे स्थित है ।

१४. ऊष्मा— उष्ण होने से यह ऊष्मा नाडी है । यह कण्ठ में स्थित है ।

इन १४ नाडियों से प्रज्ञास्वभाव चन्द्रधातु का प्रपात होता है, क्योंकि मुख्यतया ललना नाडी ही इन १४ नाडियों का आधार है । ये सब भावना में सहायक होने से प्रज्ञापक्षीय हैं और देह का साथ देने से उपायस्वभाव शुक्ल पक्ष के चन्द्रमा के सदृश विशुद्धाकार हैं ।

रसना से उत्पन्न होने वाली १० नाडियाँ ये हैं—

१. प्रवणा— चन्द्रमा के सदृश होने से यह प्रवणा नाडी है । यह हृदय के मध्य में स्थित है ।

२. कृष्णवर्णा— महा अन्धकार (घोर अन्धकार) मय होने से यह कृष्णवर्णा नाडी है । यह देह के मूत्राशय में स्थित है ।

३. सुरूपिणी— सूक्ष्म अणुओं द्वारा संचित होने के कारण यह सुरूपिणी नाडी देह में लिंग पर स्थित है ।

४. सामान्या— समभाव होने के कारण यह सामान्या नाडी है । यह देह के निचले द्वार में स्थित है ।

५. हेतुदायिका— समस्त हेतुओं को प्रदान करने के कारण यह हेतुदायिका नाडी है । यह देह में ऊरु प्रदेश में स्थित है ।

६. वियोगा— सभी दुःखों और उनके हेतु आदि का वियोग होने के कारण यह वियोगा नाडी है । यह देह के जंघा भाग में स्थित है ।

७. प्रेमणी— आनन्द संगृहीत होने के कारण यह प्रेमणी नाडी है । यह देह में पादाङ्गुलि से सम्बद्ध नाडी है ।

८. सिद्धा— सिद्धि प्रदान करने के कारण यह सिद्धा नाडी है । यह देह में पाद के पृष्ठ भाग में स्थित है ।

९. पावकी— क्लेशों को जलाने से यह पावकी नाडी है । यह देह के पादांगुष्ठ प्रदेश में स्थित है ।

१०. सुमना— प्रज्ञा की देवी होने के कारण यह सुमना नाडी है । यह देह के जानुद्वय में स्थित है ।

ये सब भावना का साथ देने से उपायस्वभाव एवं देह का साथ देने से प्रज्ञास्वभाव चन्द्रमा के सदृश विशुद्धाकार हैं । इस प्रकार ललना और रसना पर आश्रित ये २४ नाड़ियां विषयस्वभाव होने से वज्रदेह का आभ्यन्तर स्थान मानी जाती है ।

पांच गुह्य नाडियाँ ये हैं—

१. त्रिवृत्ता— तीन प्रकार से अनुप्रवेश करने के कारण यह त्रिवृत्ता नाडी है । यह हृदय के मध्य से होकर चक्षु से सम्बद्ध होती हुई वायु का संचार कर चक्षु में बिम्ब को प्राप्त करती है, जिससे बिम्ब दिखाई पड़ता है ।

२. कामिनी— सभी कामगुणों से युक्त होने के कारण यह कामिनी नाडी है । यह हृदय के मध्य से होकर कान से सम्बद्ध होती हुई वायुसंचार कर शब्द का प्रपात करती है, जिससे शब्द सुनाई देता है ।

३. गेहा— गृहाधिपति होने के कारण यह गेहा नाडी है । यह हृदय के मध्य से होकर नासिका से सम्बद्ध होती हुई वायुसंचार कर गन्ध का प्रपात करती है ।

४. चण्डिका— चण्ड कर्म करने के कारण यह चण्डिका नाडी है । यह हृदय के मध्य से होकर जिह्वा से सम्बद्ध होती हुई वायुसंचार कर रस का प्रपात करती है, अर्थात् इससे जिह्वा में रस ग्रहण होता है ।

५. मारदारिका— मार का उन्मूलन करने से यह मारदारिका नाडी है । इसका एक शिखर उपजिह्वा के मध्य में धंसा होने के कारण ऊर्ध्व में शुक्रधातु का प्रपात कराती है तथा दूसरा शिखर देह के ऊर्ध्व-अधः सर्वत्र व्याप्त होने के कारण यह एक देश द्वारा स्पर्श का अवबोध कराती है ।

तन्त्रशास्त्र में इन पांच गुह्य नाडियों के बारे में कहा गया है कि देह में हृदय के मध्य पाँच मुख्य नाडियां हैं, जो सम्यक् स्थित हैं, अर्थात् समधिष्ठित हैं । गुह्य का अर्थ हेरुक और हेवज्र दोनों में

अस्पष्ट होना बताया गया है । किन्तु कालचक्रतन्त्र में स्पष्टतया उल्लिखित है कि गुह्यकृत्य प्रमुख होने से इन्हें गुह्य कहा गया है ।

उपर्युक्त ३२ नाडियों का विस्तृत वर्णन हेवज्रतन्त्र, उसकी पंजिका रत्नावली एवं मुक्तावली, वसन्ततिलकटीका एवं सम्पुटोद्भवतन्त्र टीका में भी देखने को मिलता है । हेवज्रपंजिकामुक्तावली में कहा भी है—

"अभेद्या शिरसि स्थिता नखदन्तवहा, सूक्ष्मरूपा शिखायां केशरोमवहा, दिव्या दक्षिणकर्णे त्वङ्मलवहा, वामा पृष्ठवंशे पिशितवहा, वामनी वामकर्णे स्नायुवहा, कूर्मजा भ्रूमध्ये अस्थिमालावहा, भावकी चक्षुषोर्बुक्कवहा, सेका बाहुमूले हृदयवहा, दोषेति दोषावृता कक्षयोश्चक्षुर्वहा, विष्टेति महाविष्टा स्तनयोः पित्तवहा, मातरा नाभौ फुफ्फुसवहा, शर्वरी नासाग्रे अन्त्रमालावहा, शीतदा मुखे पार्श्वतन्तुवहा, ऊष्मा कण्ठे उदरवहा, ललना अवधूती रसनेति इमास्तिस्रः प्रागेव व्याख्याताः । प्रवणा हृदये विष्टावहा, हृष्टेति हृष्टवदना सा लिङ्गे सीमान्तमध्यगा, सुरूपिणी मेढ्रे श्लेष्मवहा, सामान्या गुदे पूयवहा, हेतुदायिका ऊर्वोः शोणितवहा, वियोगा जङ्घयोः प्रस्वेदवहा, प्रेमणी पादाङ्गुलीषु मेदोंवहा, सिद्धा पादपृष्ठेऽश्रुवहा, पावकी अङ्गुष्ठे खेटवहा, सुमना जानुद्वये बालसिङ्घानकावहा । हृत्कमलस्य कर्णिकादिग्दलेषु यथाक्रमं त्रिवृत्ता कामिनी गेहा चण्डिका मारदारिकाः" (प्रथमकल्प प्रथम पटल) ।

अपि च वसन्ततिलकारहस्यदीपिकाव्याख्या में कहा है—

"नखदन्तानामभेद्यानां प्रसवनादभेद्या शिरसि । केशरोम्णां सुसूक्ष्माणां वहनात् सूक्ष्मरूपा शिखायाम् । त्वङ्मलस्य बहिर्द्योतमानस्य वहनाद् दिव्या सव्यकर्णे । वामनस्यैव पूर्णस्य मांसस्य वहनाद् वामा पृष्ठे । तदुदये वा वामनाकारे सत्त्वधातूत्पादात् स्नायूनां वहनाद् वामनी, तदुदये वा भुक्तस्य वमनाद् वामकर्णे । कूर्मपृष्ठमिवाभेद्यमित्यस्थिमालावहनात् कूर्मजा भ्रूमध्ये । बुक्कं भावयतीति स्रवतीति भावकी चक्षुर्द्वये । सिञ्चति हृदयान् सुधारसेनेति सेका बाहुमूलद्वये ।

दुष्यते या स्वविषयेन(ण) विक्रियत इति दोषा चक्षुर्धातुवहा कक्षयोः, कक्षदर्शनान्मनोविकृतेः, ममेयमिति द्वेषोदयाच्च । द्वेषो दोष इति पर्यायौ । पित्ताख्यं विष्टं वहतीति विष्टा स्तनद्वये । विड्धातुः प्रेरणे । ऊर्ध्वं फुफ्फुसवहनान्मातेव मातरा, मातरं प्रत्यभिलाषजननाच्च जगज्जननाच्च नाभौ । अन्त्रमालासु महासुखस्य स्वापनाच्छर्वरी, रात्रिर्विकल्पजननाच्च

नासाग्रे । गुणवर्तिमेदोजालिकयाऽन्त्राणि परिवर्त्य तिष्ठति, तद्वाहिनी शीतदा, तस्यां शीतस्पर्शदायित्वान्मुखे । उदरे जठराग्नेस्तद्वाहित्वादूष्मा कण्ठे । पुरीषवाहित्वात् प्रवणा, वैरोचनप्रवाहिनी हृदये । सीमन्तो वरटकमध्य(स्)-तद्वाहित्वाद् हृष्टवन्दना करस्पर्शात् प्रज्ञोपाययोः सानन्दनन्दनत्वान्मेढ्रे ।

धातुसाम्यस्य श्लेष्मणो वहनात् सामान्या गुह्ये । प्रायेण मांसभक्षणाद् वियोगा विकल्पजननाद्वा गुदे । लोहितवहनाद्वासन्तपुष्पैः प्रेमोत्पादनात् प्रेमणी ऊर्वोः । स्वेदोत्पादः समापत्तौ सर्वत्र सिद्धः, तद्वाहित्वात् सिद्धा जङ्घयोः, सिद्धनिमित्तोत्पादनं प्रति वा तदधिकारात् । गात्रपुष्टौ मेद एव हेतुस्तद्वहनाद्धेतुदायिका पादाङ्गुलीषु । अश्रुणा मुखस्य शोकस्य वा ज्वलनात् पावकी पादपृष्ठे । खेटेन योगिनां सौमनस्यजननात् सुमनाः पादपृष्ठे । सिङ्घाणकस्यात्ययनाद्यावत् कात्यायनी जानुद्वय इति" (पृ0 ४४-४६) ।

चार अथवा छः चक्र

नाडीचक्र विपक्ष को काटने का कृत्य करता है और धर्मसमता के चक्र का प्रवर्तन भी करता है, इसलिये इसे चक्र कहते हैं । इनकी संख्या अधिकतर तन्त्रग्रन्थों में चार मानी गई है— १. नाभिचक्र, २. हृदयचक्र, ३. कण्ठचक्र, ४. ललाट (मूर्धा) चक्र । किन्तु कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा एवं वज्रमालातन्त्र में छः नाडीचक्र वर्णित हैं । उक्त चार चक्रों में उष्णीष और गुह्यचक्र को जोड़ने से छः चक्र होते हैं । इनमें महाग्रन्थि के १२ चक्रों को जोड़ने से चक्रों की संख्या १८ होती है । कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा में इनका वर्णन है— "धातुवशाच्छरीरे हस्तादिसन्धौ चक्रादीन्युच्यन्ते— उष्णीषमित्यादिना । अत्र आकाशधातोरुष्णीषकमलं चक्रं वा भवति । दलसंख्या वक्ष्यमाणे वक्तव्या । सुरनृणां ज्ञानधातोश्च गुह्यं भवति, गुह्यकमलमित्यर्थः । हृत्पद्मं वायुधातोर्भवति । प्रकटशिखिनः कण्ठचक्रं भवति । स्फुरत् (स्फुटम्), हिर्निश्चये, तोयधातौ भ्रूमध्यपद्मम् । वसुवसु चतुःषष्टिदलकं नाभिचक्रं (पद्मं) भूमिधातौ भवति । षट्सन्धिरिति बहुवचने एकवचनम् । पादपाण्योर्वामपादे तिस्रो भूमिधातोः सत्त्वरजस्तमोगुणानां भेदाद् भवन्ति । महीति ह्रस्वो भूपर्यायः । दक्षिणपादे तिस्र उदकधातोर्गुणत्रयभेदादिति, वामहस्ते तिस्रोऽग्निगुणत्रयभेदादिति, दक्षिणहस्ते तिस्रो वायुगुणत्रयभेदाद् मारुतेषु त्रिसंख्येति । द्वादशचक्राणि वक्ष्यमाणे वक्तव्यानीत्यष्टादश-चक्रनियमः । (२.१६९) ।

१. नाभिचक्र— यह नाभि प्रदेश की ओर सीधा स्थित है और यहीं से आविर्भूत होता है । (१) नाडी का आकार चक्रसदृश होने के कारण, (२) उसमें नाडियों के मर्माहत होने से जाग्रत् अवस्था में निर्माणकाय (निर्माणचक्र) का उदय होने के कारण (३) और त्यागने योग्य विपक्ष को काटने के कारण यह चक्र है । यह मध्य नाडी से संविभक्त होता है । अतः यह नाडीचक्र शून्यता-ज्ञान की चार धातुओं द्वारा संविभक्त होता हुआ ४×३ = १२ महासंक्रान्ति क्रम में संचरित होता है, जिसके कारण यह अल्प संक्रान्ति द्वारा १२ लग्नों के ५ वर्गों में संविभक्त होता है । इस प्रकार १२×५ = ६० नाडियाँ होती हैं । इनमें चार मूल नाडीदलों का योग करने पर नाभिचक्र में कुल ६४ नाड़ीदल होते हैं । हेवज्रतन्त्र में कहा है—"निर्माणचक्रे पद्मं चतुःषष्टिदलम्" । यँहाँ नाडीदल के ६० शिखरों में ६० दण्डस्वभाव वाले लग्न वायुओं का संचार होता है, तथा चार मूल नाडीदलों द्वारा शून्य ज्ञान के अंश का मध्य नाडी में संचार होता है । सम्पुटोद्भवतन्त्र में कहा है—

नाभिमध्ये स्थितं पद्मं चतुःषष्टिदलान्वितम् ।
चतुःषष्टिदले चैव निर्माणं परिकीर्तितम् ॥

हेवज्रपंजिका योगरत्नमाला में इसका वर्णन इस प्रकार है—

एकारः पृथिवी ज्ञेया कर्ममुद्रा तु लोचना ।
चतुःषष्टिदले नाभौ स्थिता निर्माणचक्रके ॥ (पृ० १०४)

२. हृदयचक्र— यह हृदय में स्थित होने के कारण मनोविज्ञान धर्मों को उत्पन्न कर उनकी वृद्धि करता है, इसलिये यह हृदयचक्र है । नाडी का आकार चक्रसदृश होता है, या उससे मर्माहत होने पर सुषुप्ति के समय प्रभास्वर धर्मकाय (धर्मचक्र) की अभिसन्धि में उदय होता है तथा हेययोग्य विपक्ष का विनाश करता है, अतः यह हृदयचक्र धर्मचक्र के सदृश है । इसमें कुल ८ नाडियाँ या नाडीदंल होते हैं । हेवज्रतन्त्र में कहा—"धर्मचक्रे अष्टदलम्" ।

हेवज्रपंजिका में योगरत्नमाला में कहा है—

वँकारस्तु जलं ज्ञेयं धर्ममुद्रा तु मामकी ।
संस्थिता धर्मचक्रे तु हृदि वाष्टदलाम्बुजे ॥ (पृ० १०४)

अपि च सम्पुटोद्भवतन्त्र में भी कहा है—

हृदये तु तथा चैव पद्ममष्टदलं स्मृतम् ।
अष्टदले महापद्मे धर्मकायः प्रवर्तते ॥

हृदयचक्र में मूल तथा अंग वायु, प्रत्येक का चार में विभेद होने के कारण कुल ८ दल होते हैं । इस प्रकार के विभेद के कारण हृदयचक्र की चार दिशा एवं विदिशा की नाडियों में ८ वायुओं का संचार होता है ।

३. कण्ठचक्र— यह देह के कण्ठ भाग में स्थित है । इसके द्वारा अन्न-पान का संभोग (परिभोग) होता है । नाडी का आकार चक्रसदृश होता है, उसके मर्माहत होने पर स्वप्नावस्था में यह संभोगकाय (संभोगचक्र) के रूप में उदित होता है, इसलिये हेययोग्य विपक्ष को नष्ट करने के कारण यह संभोगचक्र है । इसमें १६ नाडियाँ या नाडीदल होते हैं, जिनमें १६ संक्रान्ति वायुओं का संचार होता है । हेवज्रतन्त्र में कहा है—"संभोगचक्रे षोडशदलम्" ।

हेवज्रपंजिका योगरत्नमाला में कहा है—

मकारं वह्निरुद्दिष्टं महामुद्रा च पाण्डरा ।
स्थिता संभोगचक्रे तु कण्ठे द्व्यष्टदलाम्बुजे ॥ (पृ० १०४)

अपि च सम्पुटोद्भवतन्त्र में भी कहा है—

कण्ठमध्यगतं वापि पद्मं तु षोडशच्छदम् ।
षोडशारे तु संभोगः ... ... ॥

४. मूर्धा (ललाट) चक्र— यह मूर्धा (ललाट) में स्थित होकर महासुख के आधारबिन्दु से अवलम्बित होता है । इसका आकार चक्रसदृश है, मर्माहत होने पर यह समापत्ति (तुरीय) अवस्था में महासुखकाय (महासुखचक्र) की अभिसन्धि में उदित होता है तथा हेययोग्य विपक्ष को नष्ट करता है, अतः यह महासुखचक्र है । इसके स्थित होते समय १६ आभ्यन्तर एवं १६ बाह्य क्रमानुसार ललाटचक्र में ३२ नाडियां या नाडीदल होते हैं । हेवज्रतन्त्र में कहा है—"महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलम्" ।

हेवज्रपञ्जिका योगरत्नमाला में कहा है—

याकारो मारुतः प्रोक्तो मुद्रा समयतारिणी ।
स्थिता महासुखचक्रे द्वात्रिंशद्दलपङ्कजे ॥ (पृ० १०४)

सम्पुटोद्भवतन्त्र का भी कहना है—

द्वात्रिंशद्दलपङ्कजं मूर्ध्नि मध्ये व्यवस्थितम् ।
महासुखं तत्र ज्ञानं समन्तात् संव्यवस्थितम् ॥

इस प्रकार उक्त दो क्रम प्रज्ञोपायस्वभाव में स्थित हैं । प्रज्ञोपाय-युगनद्ध में योग होने पर या देह में स्थित होते समय बाह्य के १६ नाडीदलों में मुख्य रूप से रक्त का संचार होता है । आभ्यन्तर के १६ नाडीदलों में चन्द्रकलाओं की वृद्धि तथा अपचय के अनुसार वायुसंचार होता है और पाँच गुणों से अन्वित बिन्दु, अर्थात् बोधिचित्त का भी संचार होता है। इन चारों चक्रों का स्वरूप यहां हेवज्रतन्त्र, उसकी पंजिका टीका तथा सम्पुटोद्भवतन्त्र के आधार पर किया गया है ।

वज्रमालातन्त्र के अनुसार पूर्वोक्त चार नाडीचक्रों में उष्णीषगत वायुधातु के षड्दल वाला एक चक्र और उष्णीष कण्ठ में स्थित अग्निधातु के तीन दल वाला एक चक्र, इस प्रकार कुल छः चक्र माने गये हैं, जो बुद्धों के उष्णीष का उदय करने के स्वभाव वाले होते हैं तथा वर्तमान में उष्णीष पर स्थित होते हैं । इन दोनों चक्रों में कुल मिलाकर ६+३=९ नाडीदल हैं । कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा के मतानुसार पूर्वोक्त चार नाडीचक्रों में उष्णीषचक्र और गुह्यचक्र को जोड़ कर षट्चक्र वर्णित हैं । इन चक्रों का स्वरूप इस प्रकार है—

१. उष्णीषचक्र में ४ महायाम के स्वभाव वाले ४ नाडीदल हैं—
"उष्णीषेऽद्रिरिति चतुर्दलरूपिण्यस्ततोऽग्रे चतुःसन्ध्याप्रवर्तिन्यः" ।
(२.५७)

२. शिरश्चक्र में १६ तिथियों के स्वभाव वाले १६ नाडीदल हैं—
"शिरसि नृपतयः षोडशतिथिप्रवर्तिन्यो दन्तसंख्यानीति" ।

३. कण्ठचक्र में २८ नक्षत्र के स्वभाव वाले २८ नाडीदल हैं—
"कण्ठचक्रेऽष्टाविंशतिनक्षत्राणि, चत्वारि दण्डनक्षत्रप्रवर्तिन्यो द्वात्रिंशदिति" ।
(२.५७)

४. हृदयचक्र में ८ ग्रह के स्वभाव वाले ८ नाडीदल हैं—
"हृदयेऽष्टौ नाडचो रोहिण्यादयः समानाडीनामाधारभूताः प्रत्यहं प्रहरभेदेन वाराष्टकवाहिन्यः । अत्राधऊर्ध्वं द्विनाडचोराधेयो वायुरिति" । (२.५७)

५. नाभिचक्र में ६४ दण्ड के स्वभाव वाले ६४ नाडीदल हैं—
"नाभौ नाभिकमले राशिनाडिकाबाह्ये घटीनाडच्योऽष्टाभिरष्टगुणिताश्चतुः-षष्टिनाडचः षष्टिर्मण्डलवाहिन्यश्चतुःशून्यप्रवाहिन्यश्चतुषष्टिदलप्रवर्तिन्य इति" । (२.५७)

६. गुह्यचक्र में ३२ शुक्रधातु के स्वभाव वाले ३२ नाडीदल हैं—
"द्वात्रिंशद् गुह्यमध्ये गुह्यकमलनाडचः शुक्रादिद्वात्रिंशद्धातुप्रवर्तिन्य इति" । (२.५७)

इस प्रकार मातृतन्त्र का साधक भावना करते समय धातुओं को छत्र के सदृश उत्क्षिप्त कर षट्चक्र नाडियों की भावना करता है । यही मातृतन्त्र के श्रेष्ठ उपदेश का मर्म है । बुद्धत्व-प्राप्ति के समय रोमकूप के छिद्रों से षट्कोण रत्नसदृशाकार अवभासित होने से यह धातु कहलाती है । इस प्रकार साधक को नाडियों की वास्तविक अवस्था तथा लक्षणों का परिज्ञान होने पर अपना देह अनेक अवयवों के रूप में ज्ञात होता है तथा संवृति में वज्रदेह का ज्ञान भी हो जाता है । संवरोदयतन्त्र में कहा भी है—

येन येन प्रकारेण पिण्डातीतपदे स्थितः ।
तेन तन्मयतां प्राप्य योगी बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ (७.२५)

प्राण आदि पाँच मूल वायु

१. प्राणवायु— संसार और निर्वाण के सभी धर्मों का आधार महा अनाहत वायु है । यह वायु अभिहित (अभिलाप) करने पर प्राण है और यह ह्रस्व "अ" के स्वभाव में स्थित है । यही प्राण कहा जाता है । स्वर तथा व्यंजन आदि सभी अक्षर इससे उत्पन्न होते हैं, अतः यह अनभिलाप्य है तथा अनभिलाप्य होते हुए भी यह सभी अभिलाप का आश्रय है । आर्यमंजुश्रीनामसंगीति में कहा है—

तद्यथा भगवान् बुद्धः सम्बुद्धोऽकारसम्भवः ।
अकारः सर्ववर्णाग्र्यो महार्थः परमाक्षरः ॥
महाप्राणो ह्यनुत्पादो वागुदाहारवर्जितः ।
सर्बाभिलापहेत्वग्र्यः सर्ववाक्सु(प्र)भास्वरः ॥ (५.२८-२९)

अक्षरों पर वशीकृत्य से यह सभी स्वर तथा व्यंजन का मूल "अ" अक्षर है । वायुओं पर वशीकृत्य से यह सभी १० वायुओं का मूल प्राणवायु है, जो "अ" की आकृति वाला है । ज्ञान पर

वशीकृत्य से परमाक्षर महासुख को ही "अ" कह कर अभिहित किया गया है । सभी धर्मो का मूल या आधार होने के कारण इस वायु को प्राण वायु कहा गया है । अतः इसी से संसार-निर्वाण के सभी धर्मों का अवभास या प्रतिभास होता है ।

वज्रदेह के उत्पन्न होते समय प्रारम्भ में शुक्र-शोणित के मध्य स्थित होने के कारण तथा आलयविज्ञान के आसेवित होते समय अभिसंस्कार चित्त की चंचलता का आधार होने के कारण यह प्राण वायु कहा जाता है । सत्त्व या प्राणियों के देहाश्रय काल तथा विज्ञान और ऊष्मा के आधार काल में यह महाप्राण वायु होता है । पांच अक्षरों में ह्रस्व "अ" की आकृति वाला है तथा पांच धातुओं में यह आकाश धातु के स्वभाव वाला है । प्राणवायु रोम पर्यन्त, अर्थात् शरीर के ऊर्ध्व-अधः सभी भागों में व्याप्त होकर स्थित होता है तथा सभी नाडियों के मूल मध्य नाडी पर आश्रित होने के कारण १० वायुओं का मूल महाप्राण वायु है ।

मुख्य रूप से यह देह के मध्य में ऋजु स्थित होता है तथा आलय के आधार एवं आधेय से संबद्ध होने के कारण यह लग्न वायु से संसृष्ट रूप में संचरित होता है । यह मृत्युकाल पर्यन्त प्रत्येक दिन-रात में २१६०० वायु उत्पन्न करता हुआ संचरित होता है । यह प्राणवायु अक्षोभ्य-वैरोचन के स्वभाव में स्थित होता है । इस प्रकार इस वायु का मृत्युकाल में मध्य नाडी से बाहर की ओर सम्यक्रूप से संचार होता है । यद्यपि देह की जीवितावस्था में इस वायु का कृत्य अहं-मम-ग्रह (आत्मपरिग्रह) तथा विकल्पनात्मक सभी स्मृतियों का उत्पाद करना है, अतः इस वायु को आगमों में क्लिष्ट मनस् भी कहा गया है, तथापि इस वायु के मध्य से अन्य स्थानों में प्रवृत्त होने पर इससे मूर्छा, उन्माद एवं मृत्यु आदि का उत्पाद होता है । अन्तिम काल में यह विलीनक्रम आधार हृदय में परिनिवृत्त होने के कारण मृत्यु को प्राप्त कराता है तथा कर्मवायु और ज्ञानवायु के अप्रभास्वर (अपकर्षण) होने पर यह निर्विकल्प एवं संसृष्ट रूप में स्थित होता है । इस वायु का रंग बिना रंग वाले आकाश के सदृश है । इस प्रकार का वर्णन तन्त्र-टीकाओं में बहुलतया दृष्टिगत होता है ।

२. अपान वायु— यह वायु नाभि के अधोभाग में तीन नाडीसमूह द्वारा पिण्डीकृत रूप में स्थित है । इसलिये यह अधोभाग

में गमन करता है । इस वायु का कृत्य मल, मूत्र, शुक्र, शोणित आदि कषायरस धातुओं का निकास करना तथा संकलन करना है । मुख्य रूप से यह शंखिनी (नाडी) के आभ्यन्तर भाग में स्थित रहता है । इसका स्वरूप महासुख ज्ञानधातु है । अन्य स्थान में प्रवृत्त होने पर मूत्र आदि का निरोध होने के कारण यह प्रायः अधोभाग की व्याधियों का उत्पाद करता है । पाँच धातुओं में यह पृथिवी-धातुस्वभाव है तथा पाँच अक्षरों में 'लृ' अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा है—

"अपानो नाभ्यधो वहति" (२.४२) ।

३. समान वायु— यह वायु हृदय के सम्मुख भाग की रोहिणी नाडी द्वारा उत्पन्न होता है । इस नाडी का एक शिखर फुप्फुस में धंसा होता है । इस वायु का कृत्य अन्न-पान को पचाना, कषाय रसों को अलग करना तथा इन रसों को सभी नाडी-स्थानों में ले जाकर देह का पोषण करना है, जिससे देह में बल का उत्पाद होता है । इस वायु की अन्य स्थानों में प्रवृत्ति होने पर आभ्यन्तर भाग में सूजन तथा अतिसार आदि व्याधियाँ पैदा होती हैं । संवरोदयतन्त्र की पद्मिनीनामपञ्जिका में कहा है—

"अमोघसिद्ध्यात्मकः समानो नाभिस्थः" ।

अपि च, कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा में कहा है—

"समानः पूर्वदलेऽधिदेवो रोहिणीनाड्यां नयति सकलं समरसं तुल्यरसं यावत्काये समानो नाम वायुः" (२.४२) ।

४. उदान वायु— यह वायु हृदय की अग्नि सीमा दक्षिण स्तन के नाडी दल हस्तिजिह्वा से होते हुए कण्ठ स्थान में स्थित है । यह अन्नपान का अभ्यवहार आदि सभी कृत्य करता है । इस वायु के मुख्य कृत्य देह के हस्तपाद द्वारा विभिन्न चेष्टा करना, गमन करना तथा वाक् द्वारा संगीत करना है । इस प्रकार इस वायु के द्वारा नाटक आदि कृत्य सम्पन्न होते हैं । यदि यह वायु अन्य स्थानों में प्रवृत्त हो, तो सिर का चकराना, मिर्गी आदि ऊर्ध्व गति की व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । पांच धातुओं में यह अग्निधातुस्वभाव तथा पांच अक्षरों में "ऋ" अक्षर के आकार वाला है । संवरोदयतन्त्र पंजिका में कहा है—

"तदाऽमिताभो वायुरुदानः कण्ठदेशस्थः" ।

अपि च, विमलप्रभा भी कहती है—

"उदान आग्नेयदले हस्तिजिह्वानाड्याम् । सप्तधातुषु समरसं करोतीत्यर्थः । काये स्पन्दत्युदानो नाम वायुर्मुखकरचरणैर्गीतनाट्यं करोति । अत्र शरीरे स एवोदानो मुखेन गीतादिकं हास्यालापादिकं करोति, करचरणैर्नाट्यं करोति, गमनादिकं चेति" (२.१८०) ।

५. व्यान वायु— इस वायु का हृदय के दक्षिण भाग के नाडीदल रसना नाडी से संबद्ध होकर पिंगला नाडी के आभ्यन्तर से संचार होता है तथा देह की सभी ग्रन्थियों में व्याप्त होकर स्थित होता है । इस वायु के मुख्य कृत्य देह में बल का प्रसार करना, संकोच करना तथा प्रक्षेपण करना इत्यादि है । यदि यह वायु अन्य स्थानों में प्रवृत्त हो तो अंगलय, हर्ष तथा मृत्यु आदि व्याधियाँ पैदा होती हैं । पांच धातुओं में यह अप्धातुस्वभाव तथा पांच अक्षरों में "उ" अक्षर के आकार वाला है । इस प्रकार यह महाप्राण वायु सभी मूल वायुओं का आधार होने के कारण महाशून्य के पांच अक्षरों के स्वभाव में स्थित होता है तथा अन्य चार मूल वायु भी इसी के गुण से निःसृत होकर उत्पन्न होते हैं । संवरोदयतन्त्र पद्मिनीनामपंजिका में कहा है—

"वैरोचनात्मको व्यानस्तस्य समानमुक्तं वायुधातुस्वभावम्" ।

अपि च, चण्डमहारोषणतन्त्र में भी वर्णित है—

"व्यानः सर्वशरीरगः । एवं मध्यप्रधानोऽयं प्राणवायुर्हृदि स्थितः" । (२२वाँ पटल)

पांच अंग वायु

१. नाग वायु— यह वायु दक्षिण बाहुमूल के नाडीदल से होकर संचरित होती है । इस नाडी का एक शिखर चक्षु में धसा होता है । इस वायु का मुख्य कृत्य रूप-ग्रहण करना तथा देह को लावण्य आदि प्रदान करना है । पृथिवी धातु से उत्पन्न होने के कारण यह ज्ञानधातु-स्वभाव है तथा आकाश के दीर्घ "आ" अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा है—

"नाभौ नैर्ऋत्यदले पूषानाड्याम्, नागोऽप्युद्गारं करोत्येव" (भा० १, पृ० १८०) ।

२. कूर्म वायु— यह वायु हृदय के पृष्ठ भाग में स्थित जया नाडी–दल में संचरित होता है । इसका एक शिखर कर्ण में धंसा है । इस वायु का मुख्य कृत्य शब्द–ग्रहण करना तथा हाथ–पैर आदि का प्रस्फुरण आदि करना है । यह वायुधातु–स्वभाव है तथा यह "ए" अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा है—

"कूर्मो वारुण्यदले जयानाड्याम्, स्फुटकरचरणात् संकुचन् कूर्मवायुः" । (भा० १, पृ० १८०)

३. कृकर वायु— यह वायु वाम बाहुमूल के नाडीदल अलम्बुषा से संचरित होता है । इसका एक शिखर नासिका में धंसा रहता है । इस वायु का मुख्य कृत्य गन्ध ग्रहण करना, क्रुद्ध होना तथा क्षुब्ध होना है। यह अग्निधातु–स्वभाव है तथा यह "आर्" अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा है—

"कृकरो वायव्यदलेऽलम्बुषानाड्याम्, क्रोधं क्षोभं समस्तं च कृकरो वायुः । स इति क्रोधं क्षोभं समस्तं कृकरो वायुः करोति" । (भा० १, पृ० १८०)

४. देवदत्त वायु— यह वायु हृदय की वाम दिशा की इडा नाडी तथा मेष लग्न (नाडी) से संचरित होता है । इसका एक शिखर जिह्वा में धंसा होता है । इस वायु का मुख्य कृत्य रसग्रहण करना तथा जंभाई लेना है । यह अप्धातु–स्वभाव तथा "ओ" अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा है—

"देवदत्त उत्तरदले इडानाड्याम्; जृम्भिकां देवदत्तः करोति" । (भा० १, पृ० १८०)

५. धनञ्जय वायु— यह वायु वाम स्तन की कुहू नाडी में संचरित होता है । इस नाडी का शिखर उपजिह्वा के मध्य तथा रोम के सभी छिद्रों में धंसा होता है । इस वायु का मुख्य कृत्य एक देश से श्वेत अंश धातु को ऊर्ध्व में खींचना, एक देश से स्पर्श द्वारा मृदु, तीक्ष्ण इत्यादि का ग्रहण करना तथा एक देश से देहच्युति से लेकर जीवित अवस्था के मध्य में लिप्त होकर देह धातु का अनुत्सर्ग करना है । यह पृथिवीधातु–स्वभाव तथा "आल्" अक्षर के आकार वाला है । विमलप्रभा में कहा गया है—

"धनञ्जय ईशदले कुहानाड्याम्, सुषुम्नायां प्राणः, दिक्संख्या शङ्खिनी या स्रवति बोधिचित्तं तस्या अपानोऽधिदेवता । इत्येवं नाडीचक्रे

दशविधपवनाः संस्थिताः कर्मभेदैः । एषां प्राणादीनां सर्वेषां वा द्वासप्ततिनाडीसहस्रेषु व्याप्तिः" । (भा० १, पृ० १८०)

वायुओं का त्रिविध संचार

यहाँ वायु का बाह्य संचार सूक्ष्म रोमों के द्वारों से तथा सभी इन्द्रिय द्वारों से होता है । किन्तु विशेष रूप से संक्रान्ति (लग्न) वायु में अन्तर्भूत सभी वायुओं के गमन का महाद्वार नाभिचक्र से रसना और ललना, इन दो महानाडियों से सम्बद्ध है । इसी कारण नासिका के दोनों छिद्रों से वायु का निःसरण होता है । गतिभेद से इसके तीन भेद हो जाते हैं । उनके नाम हैं— सूर्य, चन्द्र और राहु ।

१. सूर्य वायु— दक्षिण नासिका छिद्र से संचरण करने वाला या सूर्य वायु के बल के क्षीणक्रम द्वारा संचरित होने वाला होने के कारण आगमों में इसे "विष वायु" भी कहा गया है । इसके उपायस्वभाव होने पर भी देह के प्रज्ञा स्वभाव होने से यह वाक्वज्र के स्वभाव का है ।

२. चन्द्र वायु— वाम नासिका छिद्र से संचार करने वाला यह चन्द्र वायु वृद्धिक्रम द्वारा संचार करता है, अतः यह अमृत (पीयूष) कहा गया है, जो प्रज्ञास्वभाव होने पर भी देह के उपायस्वभाव होने से कायवज्र के स्वरूप में स्थित है । इस प्रकार प्रत्येक रात में दक्षिण-वाम दिशा में इन दोनों वायुओं का संचार १०४६१½ की संख्या में होता है । इसलिये क्रमशः इन्हें चन्द्र-सूर्य वायु कहा गया है । इन दोनों का संकलन करने पर इन वायुओं की कुल संख्या १०४६१½ + १०४६१½ = २०९२३ हो जाती है ।

३. राहु वायु— नासिका के दोनों छिद्रों के मध्य से समान रूप में संचार होने वाली ६७५ वायुएं हैं । बाहर के राहु वायु के बलान्वित होने के कारण राहु वायु तथा आकाशसदृश होने से आकाश वायु तथा मध्य में गमन (प्रवेश) होने से इसे ज्ञान वायु भी कहा गया है । इसका स्वभाव उपाय प्रज्ञा का अद्वय रूप होता है, अतः यह चित्तवज्र के स्वभाव में स्थित होता है ।

स्कन्ध, धातु एवं आयतन आदि बाह्याभ्यन्तर सभी धर्मों के अनुकूल कृत्य होने पर अपने-अपने अचिन्त्य बल के अनुसार उपर्युक्त १० वायुओं एवं ग्रहों के बल के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद के वश से जिस प्रकार चुम्बक दूरस्थ लौह धातु को आकर्षित करता है, उसी

प्रकार सभी कृत्य सम्पन्न होते हैं । आकाश वायु तथा उसके ग्रह द्वारा मारण एवं अभिचार कृत्य होते हैं तथा उसी के द्वारा पुनः स्थापन के अन्य सभी कृत्य सिद्ध होते हैं । वायु के तथा उसके ग्रह के द्वारा साध्य-सिद्धि के क्रम में उच्चाटन तथा मारण आदि कृत्य सिद्ध होते हैं । वशीकरण तथा आकर्षण कृत्य अग्नि वायु एवं उसके ग्रह के द्वारा सिद्ध होते हैं । अप्वायु एवं उसके ग्रह के द्वारा व्याधिहरण आदि शान्त कृत्य होने के कारण आयु तथा पुण्य की वृद्धि होती है । स्तम्भन तथा संमोहन कृत्य पृथिवी वायु तथा उसके ग्रह के द्वारा सम्पन्न होते हैं । ज्ञान वायु द्वारा मारण के सभी कृत्य सम्पन्न होते हैं, ऐसा आगमों में उक्त है ।

इस प्रकार देवों के नाना कुल (जाति), रंग, समाधि (ध्यान), नानाविध जप तथा प्राणायाम के योग द्वारा युगपत् भावना करने पर शान्ति, वृद्धि (धन-सम्पत्ति की वृद्धि), वशीकरण, आकर्षण, मारण, उच्चाटन, स्तम्भन, सम्मोहन ये आठ महाकर्म (महाकृत्य) सिद्ध होते हैं । इसके ऊपर निर्वाप्य, वशीकरण, ज्वर (व्याधि), एवं अभिनिर्माण— इन चार कृत्यों का संकलन करने पर १२ महाकर्म होते हैं । पुनःस्थापन (पुनःपोषण) एवं अन्तर्धान इन दो का योग करने पर १४ महाकर्म सिद्ध होते हैं ।

वज्रजाप का देश तथा प्रकार

वायु के चतुर्थ मण्डल में योगी के नित्य समाहित अवस्था में वज्रजाप करने पर उसे अमरत्व की प्राप्ति होती है, अर्थात् वज्रदेह की सिद्धि होती है । इस प्रकार अल्पभूत के पाँच मण्डलों और चार चक्रों के नासिका शिखर में या प्रत्येक चक्र, अर्थात् नाभिचक्र आदि में पाँच रंगों की विभावना द्वारा वायु का निःसरण, प्रवेश एवं स्थिति रेचक, पूरक, कुंभक कहलाते हैं । इन तीनों के सामरस्य से महासुख के मन्त्र का अहोरात्र नित्य जाप करने का तन्त्रागमों में निर्देश किया गया है । हेवज्रपञ्जिका योगरत्नमाला में कहा है—

"नासया निश्चरन् रेचकः, वायुः प्रविशन् पूरकः, पूरिताभ्यन्तरः कुम्भकः, प्रविश्य निश्चलीभूतः प्रशान्तः" (२.२-३) ।

यहाँ चार चक्रों में चार वज्रजाप (काय, वाक्, चित्त एवं ज्ञानवज्र) का योग करने पर ललाट, कण्ठ एवं हृदय चक्र में क्रमशः काय, वाक् एवं चित्तवज्र की तथा नाभि में ज्ञानवज्र की स्थिति मानी

गई है । इस प्रकार के योग के साथ वज्रजाप करना आगमों मे निर्दिष्ट है । अनुत्तरयोगतन्त्र में इसी वज्रजाप को प्राणायाम कहते है । हेवज्रपञ्जिका योगरत्नमाला में कहा है—

"आलिकाल्योर्वामदक्षिणपुटनाडीभ्यो गतागतनिरीक्षणं तयोरेव गुरूपदेशतो विधारणं च जापः, स एव वज्रजापशब्देनोच्यते" । (पृ० २० a-b)

अपि च, सेकोद्देशटीका भी कहती है—

"प्राणायाम इति वज्रजाप इति च मध्यमाभिन्नाङ्गत्वेन जप्तव्यः" (पृ० ३३) ।

कुंम्भक वायु के ऊर्ध्व प्राणायाम द्वारा बन्धन करने का स्थान नाभि है । इसलिये यह ऊर्ध्व वायुक्रम है । अपान वायु के अधः बन्धन करने का स्थान गुह्य होने से अधोवायु अपनी ओर खींचता है । मध्य में दोनों वायुओं के समरस होने का स्थान, नाभि का अधोभाग, अग्नि होता है । इसलिये मध्य वायु के पूर्ण होकर तीनों से अन्वित होने पर सिंहविमुक्ति मुद्रा की भावना करने से वायु के समस्त कर्म सम्पन्न हो जाते हैं । इस प्रकार चतुर्थ योग से अन्वित कुम्भक की भावना करने की अनुशंसा तन्त्रपिटक में विस्तार से व्याख्यात है । इस प्रकार वायु ग्रहण करने के इन सभी उपायों द्वारा मूल वायुओं का ग्रहण होता है तथा सिंहविमुक्ति द्वारा पांच अंग वायुओं के बन्धनक्रम में आश्रित होने के कारण इन वायुओं के आधिपत्य से शान्ति आदि कर्म सिद्ध होते हैं ।

सभी वायुओं का संक्षिप्तीकरण करने पर ये सभी ज्ञानवायु एवं विज्ञानवायु इन दो में समायुक्त होते हैं । इनमें से विज्ञान वायु तो कल्पना से अभिन्न, अर्थात् कल्पनात्मक होती है । इसलिये इस वायु का चंचल (कम्पित) होना, सूक्ष्म में प्रवेश करना, अन्य से अन्य में प्रस्फुरित होना, इस प्रकार तीन लक्षण होते हैं, अर्थात् यह त्रिलक्षणयुक्त है । वायु द्वारा बाहर की वस्तुओं को कम्पित (चंचल) करना, अतिसूक्ष्म वस्तुओं में प्रवेश करना, बाहर की वस्तुओं का अन्य से अन्य में प्रस्फुरित होने के सदृश है । इसी प्रकार कल्पना के विषयों पर चंचल होना, सूक्ष्म विषय में प्रवेश करना तथा स्थित होने के स्थान पर अस्थित होना या हेय (त्याज्य) प्रतिपक्ष की सभी अवस्थाओं का अन्य से अन्य में प्रस्फुरित होना, इत्यादि क्रियाएं होती हैं । संसार-निर्वाण के जितने भी धर्म हैं, सभी असद्भूत (अभूत) हैं, क्योंकि सभी के कल्पना द्वारा बद्ध (आबद्ध) होने के कारण उनकी

चित्त के मात्र प्रतिभासांश रूप में निष्पत्ति होती है । अतः वायु तत्त्व कल्पना है, ऐसा सिद्ध होने से संसार-निर्वाण के सभी धर्म भी उसी के स्वभाव में ज्ञात होते हैं ।

महावायु

संसार-निर्वाण सभी का आधार प्रभास्वर चित्त होने के कारण वह अविकल्प धर्मधातुस्वभाव से परिशुद्ध (प्रभास्वर) होता है तथा उसका स्वभाव वायुसदृश होने के कारण इसे ज्ञान की महावायु कहा जाता है । परिशोधन के आधार को वायु कहा जाता है । निष्यन्दफल एवं प्रतिपक्षमार्ग ज्ञान निष्यन्द महावायु है, क्योंकि बोधिधर्म तथा आनुलोमिक सभी सम्यक् कल्पनाओं द्वारा अभिसंस्कार होने के कारण इसे सानुचर मार्ग कहा गया है । इसके विशोधक को वायु कहा गया है, क्योंकि आलय सभी वासनाओं का आधार है, अतः इस पर आश्रित होकर स्थित क्लिष्ट मन द्वारा अहं और मम का ग्रहण करने के कारण चित्त पर अभिसंस्कार होने से मोह उत्पन्न करने वाला यह वायु है, ऐसा आगमों में कहा गया है ।

षड्विज्ञान से संबद्ध अभिसंस्कार तो चित्त के स्वप्रकाश ज्ञान के प्रतिभासांश से अन्य नहीं है, किन्तु फिर भी अन्य के रूप में कल्पना करके उनमें तृष्णा, उपादान एवं राग उत्पन्न होने के कारण सर्वत्र कम्पन होता है । इसलिये इसे राग उत्पन्न करने वाला वायु कहा गया है । विषय का यथार्थ स्वभाव अकल्पित होने पर भी हेयोपादेय के रूप में विचार (मीमांसा) करने से अमनोज्ञ विषय में द्वेष करने वाला वायु होने के कारण यह द्वेष उत्पन्न करने वाला वायु है । इस प्रकार त्रिविष के उत्पन्न होने के कारण त्रिधातु के सत्त्व भ्रान्त होकर संसार में चक्कर काटते रहते हैं । त्रिधातु के चित्त एवं चैतसिक (चित्तसम्भव) इस त्रिविष से सम्बद्ध होते हैं । उन पर आधिपत्य (वशीभाव) होने से यह महावायु कहा गया है ।

इस प्रकार त्रिधातु में प्रतिभासित होने वाले सभी धर्म वायु द्वारा अभिसंस्कृत होते हैं । राग-द्वेष तथा ग्रहण-धारण इत्यादि के दोष तथा उसके प्रतिपक्ष ज्ञान सभी को आगमों में वायु कहा गया है । निर्वाण की प्राप्ति के काल में सभी गुण जिस प्रकार वायु पर आश्रित होते हैं, ठीक उसी प्रकार अवबोध से सम्यक् मार्गक्रम मर्मबद्ध होते हैं । वज्रमालाभिधानमहायोगतन्त्र में कहा भी है कि वायु के प्रयोग या अनुयोग विधि का ज्ञान होने से योगी संसार के पार होकर

बुद्धत्व प्राप्त करता है, परन्तु वायु के कल्पना (वितर्क) स्वभाव से मुक्त न होने पर तथा उसी का अनुसरण करने पर संसार में चक्कर काटने से उस सत्त्व को दुःखानुभूति होती है । ज्ञान के मर्मबद्ध होने पर, कर्म वायु के ज्ञान वायु में विशुद्ध होने पर इस संसार के समुच्छेद का प्रतिपक्ष भी वायु द्वारा सिद्ध होता है । इस प्रकार बाह्याभ्यन्तर संचार होने वाले सभी वायुओं के नाम, स्वभाव, स्थान, उत्पत्ति, स्थिति एवं उनके कृत्य इत्यादि का वज्रधर द्वारा सभी सूत्र तथा तन्त्रपिटकों में विस्तृत वर्णन किया गया है । संवरोदयतन्त्र में इसे विशेष रूप से देखा जा सकता है । श्रीमहासंवरोदय तन्त्रराज में कहा है—

संसारे ऊर्ध्वगो वायुर्निर्वाणे स्यादधोगतः ।
अप्रतिष्ठितनिर्वाणं हृदयाम्भोरुहस्थितम् ॥
ऊर्ध्वाधोगतं वायुं संपुटीकृत्य मानसम् ।
तस्याभ्यासयोगेन स नित्यं पदमाप्नुयात् ॥
वायुयोगं न जानाति यो ज्ञात्वापि करोति न ।
स संसारस्य कीटः स्यान्नानादुःखैरुपद्रुतः ॥
गतागतं च यो वायुं लक्षयेत् स हि बुद्धिमान् ।
वायुनाधिष्ठितं सर्वं वायुः सर्वगतो भवेत् ॥ (५.६७-७०)
वायुतत्त्वं न जानाति कर्माकर्म न सिद्ध्यति ।
तार्किका न प्रजानन्ति वायुः सर्वगतो भवेत् ॥
वायुतत्त्वानुपूर्वेण मन्त्रतत्त्वं तु साधयेत् ।
प्राणभूतश्च सत्त्वानां वाय्वाख्यः सर्वकर्मकृत् ॥
विज्ञानवाहनं चैव बुद्धत्वपदमाप्नुयात् ।
रहस्यं सर्वतन्त्रस्य उपायो बोधिकारणात् ॥ (६.१०-१२)

वज्रदेह की प्राप्ति के लिये बिन्दु का अपना महत्त्व है । इसकी संक्षिप्त चर्चा पहले हो चुकी है । अब इसके स्वरूप पर भी विस्तार से विचार करने की अपेक्षा है ।

बिन्दु का स्वरूप

बिन्दुच्युति (संक्रान्ति) की वासना से भव (संसार) की निष्पत्ति होती है, किन्तु इसके बन्धन, अर्थात् बिन्दु को मर्माहत किये बिना "चित्तवज्र" सिद्ध नहीं होता । इसको मर्माहत कर मार्ग में उत्थापन के लिये उसकी स्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है ।

बाह्य और आभ्यन्तर बिन्दु

इन्द्रिय ज्ञान के विषय के रूप में प्रतिभासित होने वाले पांच अर्थ एवं रूप-स्कन्ध द्वारा संगृहीत शुक्र-शोणित पंचधातु के द्रव्य-बिन्दु है । द्रव्य-बिन्दु बाह्य भाजनलोक द्वारा संगृहीत होने से बाह्य बिन्दु तथा आभ्यन्तर में वज्रदेह द्वारा संगृहीत होने से आभ्यन्तर बिन्दु कहलाते हैं । आभ्यन्तर के अर्थ में प्रयुक्त बिन्दु से तात्पर्य सत्त्व के प्रथम गर्भ से प्रतिसन्धि-ग्रहण के समय ज्ञानस्वभाव अन्तराभव के उपस्थित होने से माता-पिता के द्वारा स्खलित शुक्र-शोणित रस के प्रति ममाग्रह रूपी हेतुप्रत्यय से यदि सत्त्व पुरुष के रूप में उत्पन्न होता है, तो इससे माता को आसक्ति होती है तथा पिता को मत्सर । इस प्रकार इस निवृत्ति अभिनिवेश द्वारा सत्त्व गर्भ में प्रवेश करता है तथा धातुक्रम द्वारा ३८ सप्ताह में कललादि रूप से वृद्धि को प्राप्त करता है । संवरोदय तन्त्रराज में इन अवस्थाओं का वर्णन इस प्रकार है—

शुक्रशोणितयोर्मध्ये बिन्दुरूपेण तिष्ठति ।
प्रथमं कललाकारमर्बुदं च द्वितीयकम् ॥
तृतीये पेशितो जातं चतुर्थं घनमेव च ।
वायुना प्रेर्यमाणं च मांसाकारवद् भवेत् ॥
पञ्चमासगतं बीजं षष्ठे स्फोटः प्रजायते ।
केशरोमनखाश्चिह्नं सप्तमासेन जायते ॥
इन्द्रियाणि च रूपाणि सृज्यन्तेऽष्टममासतः ।
सम्पूर्णं नवमासेन चेतना दशमासतः ॥ (२.१७-२०)

द्रव्यबिन्दु के शुक्रांश और शोणितांश करके दो विभेद किये गये हैं । शुक्रांश रस मध्य नाडी के ऊपर स्थित होता है तथा इसका आकार "हूँ" स्वभाव अधोविलोकित, परिमाण में सर्षप के तुल्य होता है । इसका रंग श्वेत, स्निग्ध, उज्ज्वल एवं महातेजसदृश होता है । यह प्रभास्वर आमलक के सदृश है । यह पिता से प्राप्त होता है । पिता का यह शुक्रांश सर्वश्रेष्ठ है । इस रसांश का स्वभाव हेरुक एवं महासुखोपाय है, जो अकनिष्ठपद के वेग से उत्पन्न होता है । शोणितांश (रक्तभाग) नाभि के अधोभाग की तीन नाडियों के संगम में स्थित है, इसका रंग लाल है । यह माता से प्राप्त होता है तथा यह अत्युष्ण होने से प्रभास्वर भी होता है । उदाहरणार्थ यह वडवानल के सदृश है । इस बिन्दु का आकार ह्रस्व "अ" के सदृश

है तथा इस शोणितांश का स्वभाव वज्रवाराही प्रज्ञा एवं शून्यता स्वरूप है । शुक्रांश रस के सुख में रमणीयता होने के कारण इसे वसन्त तथा शोणितांश के सुख में स्थैर्य होने के कारण तन्त्रशास्त्र में इसे बोधिचित्त, तिलक, बिन्दु आदि अनेक पर्याय दिये गये हैं ।

बिन्दुच्युति और अच्युति— त्रिविष (राग, द्वेष, मोह) सास्रव क्लेशों को उत्पन्न करते हैं तथा धातु-च्युति तक बिन्दु की वृद्धि करते हैं । सत्त्वों का हृदय सुखाभिलाषी होता है, अतः उसमें सर्वप्रथम राग उत्पन्न होता है । इसी राग के आधिपत्य से मोहित होकर सहज ज्ञान को न जानने के कारण मोह उत्पन्न होता है और इसी मोह के प्रसुत होने पर राग के अवगत होने से द्वेष-चित्त उत्पन्न होता है ।

इस प्रकार इन त्रिविषों के आधिपत्य में सत्त्व भवसागर में चक्र के सदृश भ्रमण करते हैं । फलतः यह सास्रव क्लेश ही च्युति का कृत्य, अर्थात् संसार को उत्पन्न करने का आधार है । बोधिचित्त की च्युति-संक्रान्ति होने से सत्त्व संसार में चक्कर काटता है, किन्तु उसकी अच्युति (असंक्रान्ति) व उसके अवबद्ध होने पर सहज ज्ञान के उदित होने से निर्वाण में गमन होता है । अतः अच्युति में बद्ध करने के उपायों का अनुष्ठान करना चाहिये । एतदर्थ जिन वज्रधर द्वारा विशिष्ट उपाय तन्त्रशास्त्रों में भाषित है ।

उदाहरणार्थ पारद का अग्नि के साथ संसर्ग होने पर वह उड़ जाता है, किन्तु किसी द्रव्य के साथ योग करने पर वह अग्नि द्वारा बद्ध होता है । इसी प्रकार इसे भी जानना चाहिये । जिस प्रकार वज्र का पद्म के साथ स्पर्श होने पर धातु का प्रस्रवण होता है, परन्तु विशेष उपाय करने पर स्पर्श द्वारा बद्ध होता है । जिस प्रकार पारद के बद्ध होने पर लोह धातु का सुवर्ण में परिवर्तन हो सकता है, ठीक उसी तरह धातु के बद्ध होने पर विशुद्ध रस (बिन्दु) के स्कन्ध, धातु एवं आयतनों का बुद्धकाय में परिवर्तन हो सकता है । वसन्ततिलक में इस स्थिति का इस तरह से वर्णन मिलता है—

हूँकारोऽनाहतं बीजं स्रवत्तुषारसन्निभम् ।
वसन्त इति विख्यातो देहिनां हृदिनन्दनः ॥

वडवानलरूपा तु वाराही तिलका स्मृता ।
कर्ममारुतनिर्धूता ज्वलन्ती नाभिमण्डले ॥

वसन्तं प्राप्य सन्तुष्टा समापत्त्या व्यवस्थिता ।
एष श्रीहेरुको वीरो वसन्ततिलका स्मृता ॥ (६.४-६)

प्राणायाम के विशुद्ध होने पर वज्रमणि में स्थित चार नाडियों की अच्युति के आधार पर बोधिचित्त का घन में परिवर्तन होने के कारण वह प्रस्रुत नहीं होता । इसलिये लग्न (मेषादि १२ लग्न) की एक वायु के निरुद्ध होने के कारण दर्शन मार्ग के विषय सत्यार्थ का साक्षात्कार होने से अधिमुक्ति चर्या में निष्ठा होती है । इससे योगी प्रथम आर्यभूमि दर्शनमार्ग को प्राप्त करता है ।

तत्पश्चात् भावनामार्ग के लक्षणों से युक्त अनुस्मृति अंग के विशुद्ध होने पर १० पारमिता, त्रिरत्न, बुद्धानुस्मृति आदि १६ अनुस्मृतियों तथा १६ आनन्दों का योग होने के कारण बिन्दु की अच्युति होती है । फलतः बिन्दु के स्खलित न होकर दृढीभूत होने से समाधि काल में योगी के स्वरस बोधिचित्त का ऊर्ध्व संचार होता है । इस प्रकार ऊर्ध्व संचारक्रम द्वारा क्रमशः १२ भूमियाँ पार करने पर वज्रमणि से ललाट चक्र तक २१६00 कर्मवायुओं में से प्रत्येक निरुद्ध हो जाती है । अतः परमाक्षर सुखानुभूति में क्षणों की जितनी संख्या होती है, उनमें प्रत्येक क्षण में वृद्धि होने से १२ भूमियों को पार कर के साधक बुद्ध हो जाता है ।

इस प्रकार यह द्रव्यबिन्दु पांच धातुओं से युक्त है । आधार काल में इस बिन्दु का सहज अविद्या एवं प्रतीत्यसमुत्पाद के साथ आधाराधेय सम्बन्ध होने के कारण सम्मिश्रित रूप से इन दोनों का ग्रहण होने से स्वसंवेदन अशुद्ध रूप में प्रस्तुत होता है । इसलिये इन्हें संसार (भव) के दोष उत्पन्न होने का आधार बताया गया है । जिसे बन्धन से बद्ध किया जाता है, उसको गुरु द्वारा उपदिष्ट विशेष उपाय द्वारा अधिगृहीत होने पर वह संसार के नाश का कारण बनता है । हेवज्रतन्त्रराज में कहा भी है—

येन येन हि बध्यन्ते जन्तवो रौद्रकर्मणा ।
सोपायेन तु तेनैव मुच्यन्ते भवबन्धनात् ॥ (२.२.५0)

मनुष्य अनादिकाल से, अर्थात् चिरकाल से महारागवश काम, रूप तथा अरूप इन त्रिभवों में अपने कर्म-क्लेशों द्वारा संसरण करता है । इसलिये काम (राग) हेतु और फल से सत्त्वों की चित्तसन्तति को विमुक्त करने के लिये तथागत बुद्ध द्वारा बौद्ध तन्त्रागमों में

शुक्र–शोणित धातु के द्रव्य–बिन्दु की भावना करने का क्रम प्रदर्शित किया गया है ।

इस प्रकार ऊपर निर्दिष्ट नाडी, वायु एवं बिन्दु, इन तीनों का नेयार्थ— नाडी में वायु का तथा वायु में बिन्दु का आश्रित होना है । नीतार्थ— चित्त के अवभासांश के रूप में उदय होने से अन्योन्य सापेक्ष या प्रतीत्यसमुत्पन्न के रूप में अवभास होना है । उसके सहज ज्ञान का आश्रय होने के कारण इसे वज्रदेह कहा गया है ।

इस प्रकार का वर्णन अनुत्तरयोगतन्त्र में मातृतन्त्र के अन्तर्गत विशेषतः हेवज्रतन्त्र के अनुसार किया गया है । हेवज्रतन्त्र में कहा भी है—

द्वात्रिंशल्लक्षणी शास्ता अशीतिव्यञ्जनी प्रभुः ।
योषिद्भगे सुखावत्यां शुक्रनाम्ना व्यवस्थितः ॥ (२.२.४१)

●

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

वरिष्ठ अनुसन्धान अधिकारी डॉ0 ठाकुरसेन नेगी ने मातृतन्त्र का स्वरूप वर्णित किया । इसके ऊपर विचार होना है । अद्वयतन्त्र के ऊपर भी एक निबन्ध है । इन दोनों निबन्धों के वाचन के बाद एक साथ ही यदि हम विचार करेंगे, तो दोनों निबन्धों के प्रति न्याय होगा । अन्यथा एक निबन्ध में बहुत ज्यादा समय लग जायगा और दूसरे निबन्ध के ऊपर उतना विचार नहीं हो पायगा । अतः मैं डॉ0 बनारसीलाल को अपना निबन्ध पढ़ने के लिये बुलाना चाहता हूँ ।

अद्वयतन्त्र : कालचक्रतन्त्र के परिप्रेक्ष्य में

–डॉ० बनारसी लाल–

भगवान् बुद्ध ने बोधि के अनन्तर वाराणसी के समीप ऋषिपत्तन मृगदाव में सर्वप्रथम पांच शिष्यों के समक्ष धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । इस धर्मचक्र प्रवर्तन के सम्बन्ध में विद्वानों का मानना है कि इसमें स्थविरवादी मत का प्रकाश हुआ । द्वितीय धर्मचक्र का प्रवर्तन राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर सम्पन्न हुआ, जिसमें महायानी सिद्धान्तों का प्रवर्तन किया गया । तृतीय धर्मचक्र का प्रवर्तन श्रीधान्यकटक में हुआ, जिसमें मन्त्रनय के सिद्धान्तों का प्रवर्तन हुआ । भोट परम्परा में ऐसी मान्यता है कि बोधि के प्रथम वर्ष में सारनाथ में स्थविरवादी मत का, तेहरवें वर्ष में गृध्रकूट पर्वत पर महायान का तथा सोलहवे वर्ष में मन्त्रनय का धान्यकटक में प्रवर्तन हुआ । कालचक्रतन्त्र के सम्बन्ध में यह मान्यता है कि इसका प्रवर्तन बुद्ध के निर्वाण के एक वर्ष पूर्व हुआ । विमलप्रभा के अनुसार बोधि के बारहवें मास में चैत्र पूर्णिमा के दिन धान्यकटक में इसकी देशना हुई[1] ।

यानभेद

इस प्रकार हम बुद्ध के उपदेशों को तीन यानों के अन्तर्गत संगृहीत करते हैं— हीनयान, महायान एवं मन्त्रयान । प्रायः यह प्रश्न उठता है कि बुद्ध सर्वज्ञ थे और वह दुःखरूपी संसार–समुद्र से सत्त्वों के उद्धार के लिये ही उपदेश देते थे । तब उपदेशों में भेद क्यों ? वस्तुतः यह भेद विनेयजनों के अध्याशय, रुचि और क्षमता के अनुसार हुआ । यह भेद तत्त्वज्ञान या दर्शन के भेद से नहीं, अपितु लक्ष्यभेद से हुआ । आर्य नागार्जुन कहते हैं—

धर्मधातोरसभेदाद् ध्यानभेदोऽस्ति न प्रभो ।
यानत्रियतमाख्यातं त्वया सत्त्वावतारतः ॥ (च. स्त. २.२१)

---

१. "इह आर्यविषये शाक्यमुनिर्भगवान् वैशाखपूर्णिमायामरुणोदयेऽभिसम्बुद्धः। शुक्ल-प्रतिपदादिपञ्चदशकलावसाने कृष्णप्रतिपत्प्रवेशे ततो धर्मचक्रं प्रवर्तयित्वा यानत्रयदेशनां कृत्वा द्वादशमे मासे चैत्रपूर्णिमायां श्रीधान्यकटके धर्मधातुवागीश्वरमण्डलं षोडश–कलाविभागलक्षणं तदुपरि श्रीमन्नक्षत्रमण्डलं षड्विभागिकमादिबुद्धं विस्फारितमिति ...." (वि. प्र., भा. २, पृ. ८) ।

वस्तुतः महायान, बोधिसत्त्वयान, प्रत्येकबुद्धयान, श्रावकयान सभी परमार्थ को जानने के उपाय हैं—

आदिकर्मिकसत्त्वस्य परमार्थावतारणे ।
उपायस्त्वयं सम्बुद्धैः सोपानमिव निर्मितः ॥ (अ. व. सं., पृ. २१)

भगवान् बुद्ध उपायकुशल भी थे । नाना सत्त्वों के आशय को जानते थे । इसीलिये तीन यानों में विभाजित कर उपदेश दिया । मूलतः यान एक ही है । सद्धर्मपुण्डरीक में कहा भी है—

उपायकौशल्यं ममैव रूपं
यत्त्रीणि यानान्युपदर्शयामि ।
एको हि यानश्च नयश्च एक
एका चेयं देशना नायकानाम् ॥ (२.८९)

जिस प्रकार एक कुशल वैद्य रोगी के रोग को पहचान कर उसके अनुसार चिकित्सा करता है, उसी प्रकार भगवान् बुद्ध ने भी विभिन्न सत्त्वों के आशय एवं पात्रता के आधार पर उपदेश दिया—

वैद्या यथातुरवशात् क्रियाभेदं प्रकुर्वते ।
न तु शास्त्रस्य भेदोऽस्ति दोषभेदात्तु भिद्यते ॥
तथाहं सत्त्वसन्तानं क्लेशदोषैः सुदूषितैः ।
इन्द्रियाणां बलं ज्ञात्वा नयं देशेमि प्राणिनाम् ॥
न क्लेशेन्द्रियभेदेन शासनं भिद्यते मम ।
एकमेव भवेद् यानं मार्गमष्टाङ्गिकं शिवम् ॥

पारमितानय और मन्त्रनय महायान का ही भेद है । मन्त्रनय पारमितानय से किन विशिष्टताओं के कारण पृथक् है, इसे दर्शाने के लिये अद्वयवज्र ने अतिसंक्षेप में चार विशेषताएं गिनायी हैं— असंमोह, उपायबहुलता, अदुष्करचर्या तथा तीक्ष्णेन्द्रियता—

एकार्थत्वेऽप्यसंमोहाद् बहूपायाददुष्करात् ।
तीक्ष्णेन्द्रियाधिकाराच्च मन्त्रशास्त्रं विशिष्यते ॥ (अ. व. सं., पृ. २१)

तन्त्रों की देशना

सामान्यतः विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि बौद्ध तन्त्रों का उद्भव बहुत परवर्ती काल का है । स्थविरवादी परम्परागत विद्वान् तो यह भी स्वीकार नहीं करते कि बुद्ध ने तन्त्रसम्बन्धी कोई उपदेश

दिया था, क्योंकि तन्त्रों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित हैं, वे मूल बुद्धवचन (पालि) से सर्वथा विपरीत हैं। उनका मानना है कि परवर्ती काल के आचार्यों ने इसे बौद्ध धर्म में प्रविष्ट करा दिया। इस प्रकार बौद्धों की दो धारायें बनी— पहली स्थविरवादी तथा दूसरी महायानी, जिसके अन्तर्गत मन्त्रयान भी अनुस्यूत है।

महायानी परम्परा के अनुसार तन्त्र का प्रवर्तन भगवान् बुद्ध ने ही किया। दीपंकर आदि अतीत के बुद्धों ने भी तन्त्र का प्रवर्तन किया, मैत्रेय आदि भविष्य के बुद्ध भी तन्त्र का प्रवचन करेंगे। नामसंगीति का प्रसिद्ध वचन है—

याऽतीतैर्भाषिता बुद्धैर्भाषिष्यन्ते ह्यनागताः।
प्रत्युत्पन्नाश्च सम्बुद्धा यां भाषन्ते पुनः पुनः ॥ (ना. सं. १.१२)

तन्त्र की देशना के प्रसंग में भोट परम्पराओं का उल्लेख करना प्रसंगानुकूल होगा। हमें ज्ञात है कि बौद्ध तन्त्र प्रधान रूप से चार भागों में विभक्त है— क्रिया, चर्या, योग तथा अनुत्तरयोगतन्त्र। इन चारों तन्त्रों की देशना भगवान् ने विभिन्न समयों में अकनिष्ठ, त्रायस्त्रिश आदि देवभूमियो तथा जम्बूद्वीप में विभिन्न पात्रों के समक्ष दी। बुस्तोन एवं आचार्य खस्-डुब-जे ने अपने-अपने 'सामान्यतन्त्रव्यवस्था' नामक ग्रन्थों में इनका विस्तार से विवरण दिया है। तदनुसार संक्षेप में क्रियातन्त्र की देशना के लिये, अपनी मां को धर्मोपदेश देने के लिये भगवान् बुद्ध श्रावस्ती से तीन मास के लिये त्रायस्त्रिंश लोक गये। वहीं से समय-समय पर सुमेरु पर्वत आदि स्थानों में जा कर तथा पुनः जम्बूद्वीप लौट कर मगध, श्रावस्ती आदि विभिन्न स्थानों में भी दी। इनमें मञ्जुश्री से सम्बद्ध तन्त्र शुद्धावास लोक में, अवलोकितेश्वर से सम्बद्ध तन्त्र पोतल पर्वत पर, अचल तन्त्र त्रायस्त्रिंश लोक में, वज्रपाणि से सम्बद्ध तन्त्र पाताल लोक में तथा गृध्रकूट पर्वत पर उष्णीष से सम्बद्ध तन्त्रों का प्रवर्तन हुआ। चर्यातन्त्रों में वज्रपातालतन्त्र की देशना सप्तपाताल क्रम में स्थित नागलोक में, नीलाम्बर त्रैलोक्यविजयतन्त्र की सुमेरु पर्वत पर, अचलमहाक्रोधराजतन्त्र की वायुमण्डल में स्थित विभिन्न अलंकारों से अलंकृत विमान में दी गई[१]। इसी प्रकार योगतन्त्र की देशना मूल, व्याख्या एवं सदृश तन्त्रों के आधार पर विभिन्न लोकों में दी गई।

---

१. इं. ता. बु. सि., पृ. २०५

इनमें मुख्य सर्वतथागततत्त्वसंग्रह[१] की देशना भगवान् ने संभोगकाय द्वारा देवलोक में दी । त्रैलोक्यविजयमहाकल्प की सुमेरु पर्वत पर, सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र[२] की कामधातु के परनिर्मितवशवर्ती प्रासाद में बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर, वज्रपाणि, मञ्जुश्री आदि के समक्ष दी गई[३] । अनुत्तरयोगतन्त्र की देशना भी विभिन्न स्थानों में दी गई । इसकी देशना के सम्बन्ध में भी अनेक प्रकार के मत हैं । जैसे गुह्यसमाजतन्त्र के सम्बन्ध में मान्यता है कि इसकी देशना भगवान् बुद्ध ने परनिर्मितवशवर्ती लोक में दी । हेवज्रतन्त्र के सम्बन्ध में कहा जाता है कि इसकी देशना तथागत ने जम्बूद्वीप में निवास करते समय मगध में बोधिसत्त्व वज्रगर्भ को दी तथा कालचक्रतन्त्र के सम्बन्ध विमलप्रभा एवं सेकोद्देशटीका में स्पष्ट ही मिलता है कि इसकी देशना धान्यकटक में हुई[४] ।

बौद्ध तन्त्रों का वर्गीकरण

बौद्ध तन्त्रों का विशाल साहित्य है । इसकी सूचना हमें भोट भाषा एवं चीनी में अनूदित साहित्य से मिलती है । सम्पूर्ण तन्त्र-साहित्य को चार वर्गों में विभाजित किया गया है । इस विभाजन में अर्थ, लक्षण आदि अनेक कारण हैं । यहाँ इनको संक्षेप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है ।

कामगुणों के मार्गीकरण का उपाय तथा देवतायोग जिन तन्त्रों में हो तथा इन दोनों को अभिमुख कर स्नान, शुचि आदि बाह्य क्रियाओं को बतलाने वाले तन्त्रों को क्रियातन्त्र के अन्तर्गत रखा गया है । जिन तन्त्रों में बाह्य क्रिया और आन्तर समाधि की साथ-साथ चर्या बताई गई है, उन्हें चर्यातन्त्र के अन्तर्गत, जिन तन्त्रों में बाह्य क्रिया गौण हो और आन्तर समाधि को प्रमुखता से बतलाया हो, उन्हें योगतन्त्र तथा जिस योग से श्रेष्ठ अन्य कोई योग न हो इस प्रकार के श्रेष्ठ योग को बतलाने वाले तन्त्रों को अनुत्तरयोगतन्त्र के अन्तर्गत

---

१. सर्वतथागततत्त्वसंग्रह, सं. डा. लोकेशचन्द्र, दिल्ली, १९८७
२. सर्वदुर्गतिपरिशोधनतन्त्र, सं. टी. स्कोरुप्स्की ।
३. इं. ता. बु. सि., पृ. २१४-२२७ तथा "तन्त्र का स्वरूप एवं आभ्यन्तर भेद" (धीः, अंक ११, पृ. १४७-१५४) ।
४. विमलप्रभा, भाग २, पृ. ८; से. टी., पृ. ३

विभाजित किया गया है[१] । चार प्रकार के विभाजन को दर्शाते हुए वसन्ततिलकटीका में सम्पुटतन्त्र के इस वचन को उद्धृत किया है—

हसितप्रेक्षिताभ्यां वा आलिङ्गद्वन्द्वकैस्तथा ।
तन्त्राणामपि चतुर्णां सन्ध्याभाषेण देशितम् ॥ (व. ति., पृ. ८४)

यहाँ साधक के राग के चार स्तरों पर मार्गीकरण के आधार पर तन्त्रों का विभाजन किया है । जिसमें साधक स्व भावनीय प्रज्ञा का दर्शन मात्र से मार्गीकरण करते हैं, परन्तु उससे अनुत्तर राग के मार्गीकरण में असमर्थ हैं, ऐसे साधक को उससे अनुत्तर राग का मार्गीकरण बतलाने वाला तन्त्र क्रियातन्त्र या ईषणतन्त्र कहलाता है । जो साधक दर्शन मात्र से ही नहीं, हास के द्वारा भी राग का मार्गीकरण करते हैं, परन्तु इससे अनुत्तर राग के मार्गीकरण में असमर्थ हैं, उन्हें उससे अनुत्तर राग का मार्गीकरण बतलाने वाला तन्त्र चर्यातन्त्र कहलाता है । जो साधक हास के अतिरिक्त पाण्याप्ति के द्वारा भी राग का मार्गीकरण करते हैं, परन्तु इससे श्रेष्ठ द्वीन्द्रिययोग के राग का मार्गीकरण बतलाने वाला तन्त्र योगतन्त्र कहलाता है । द्वीन्द्रिययोग के राग से अनुत्तर राग का मार्गीकरण बतलाने वाले तन्त्रों को अनुत्तरयोगतन्त्र कहा जाता है ।

इसके अतिरिक्त भी इस विभाजन के अनेक कारण हैं । जैसे सत्त्वों के आधार पर— हीन सत्त्व के लिये क्रियातन्त्र, मध्य सत्त्व के लिये चर्यातन्त्र, उत्तम सत्त्व के लिये योगतन्त्र तथा अति उत्तम सत्त्व के लिये अनुत्तरयोगतन्त्र । चार वर्णो के आधार पर यथा ब्राह्मण के लिये क्रियातन्त्र, वैश्य के लिये चर्यातन्त्र, क्षत्रियों के लिये योगतन्त्र तथा शूद्रों के लिये अनुत्तरयोगतन्त्र का विभाजन किया है । बौद्धों के चार दर्शन प्रस्थानों के आधार पर यथा— बाह्यार्थ की सत्ता और पुद्गलात्म की अनभिलाप्यता मानने वाले वैभाषिकों के लिये क्रियातन्त्र, प्रतिभासज्ञान स्वीकारते हुए भी ग्राह्यग्राहक की सत्ता स्वीकार करने वाले सौत्रान्तिकों के लिये चर्यातन्त्र, बाह्यार्थ की सत्ता सिद्ध न होते हुए भी ग्राह्यग्राहक को असत् मानने वाले और स्वसंवेदन मात्र की सत्ता स्वीकार करने वाले विज्ञानवादियों के लिये योगतन्त्र तथा सांवृतिक क्षेत्र में ग्राह्यग्राहक द्वैत प्रतिभास मानने वाले और परमार्थतः सर्वतः असत् मानने वाले माध्यमिकों के लिये अनुत्तरयोगतन्त्र । पुद्गल भेद के

---

१. Tantra in Tibet, p. 75-76.

आधार पर यथा— जो विनेयजन बाह्य क्रियाओं के प्रति अधिमुक्ति (रुचि) रखते हैं, उनके लिये क्रियातन्त्र, तत्त्व के प्रति रुचि रखने वालों और कर्मकाण्ड आदि बाह्य क्रियाओं को अधिक न चाहने वालों को चर्यातन्त्र, बाह्य क्रियाओं से सर्वथा विरत रहने वालों, तत्त्वभावना में एकान्ततः अधिमुक्ति रखने वालों के लिये योगतन्त्र तथा अद्वयज्ञान में ही अधिमुक्ति रखने वालों के लिये अनुत्तरतन्त्र ।

अभिषेकों के आधार पर भी चार तन्त्रों का वर्गीकरण किया गया है । जैसे उदक और मुकुट क्रियातन्त्र में, उदक, मुकुट, वज्रघण्टा तथा नामाभिषेक चर्यातन्त्र में, उपर्युक्त पांच अभिषेक तथा अवैवर्तिक और आचार्याभिषेक योगतन्त्र में तथा उपर्युक्त सात लौकिक अभिषेक तथा चार लोकोत्तर कलश, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान तथा चतुर्थ अभिषेक अनुत्तरयोगतन्त्र में ।

इसी प्रकार मार्गभेद के आधार पर भी इनको चार वर्गों में वर्गीकृत किया गया है । यथा— देवपूजा, भावना, जप, त्रिसमाधि द्वारा शमथ विपश्यना की निष्पत्ति करने वालों को क्रियातन्त्र, चार सनिमित्त अन्तःबाह्य जाप और अनिमित्त शमथ विपश्यना की निष्पत्ति करने वालों के लिये चर्यातन्त्र, तीन सनिमित्त समाधियों के द्वारा स्थूल देवतालम्बन और सूक्ष्म योग तथा अनिमित्त शमथ विपश्यना की युगनद्ध भावना करने वालों के लिये योगतन्त्र तथा उपसाधन आदि चार अंग, उत्पत्तिक्रम, स्वाधिष्ठानक्रम, निष्पन्नक्रम की भावना करने वालों के लिये अनुत्तरयोगतन्त्र ।

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि क्रियातन्त्र में मुख्यतः स्नान, शौच आदि बाह्य क्रियाओं का तथा त्रिकाल सन्ध्या, उपवास आदि का निर्देश रहता है । चर्यातन्त्र में बाह्य काय वाक् क्रिया और अन्तः चित्तसमाधि दोनों का समान रूप से आचरण तथा व्रत, ऋद्धि-सिद्धि आदि का मुख्यतः वर्णन रहता है । योगतन्त्र में अन्तः समाधि का मुख्य रूप से निर्देश रहता है । तथा उसमें मन्त्र, मुद्रा, मण्डल एवं अभिषेक आदि विषय रहते हैं । अनुत्तरयोगतन्त्र में प्रज्ञा, उपाय एवं प्रज्ञोपाय अद्वय योगतन्त्र का निर्देश रहता है ।

अनुत्तरयोगतन्त्र के भेद एवं आन्तर विभाजन

अनुत्तरयोगतन्त्र के मुख्य तीन भेद हैं— मातृतन्त्र, पितृतन्त्र तथा अद्वयतन्त्र । शब्द पर्याय से मातृतन्त्र तथा पितृतन्त्र को

योगिनीतन्त्र-योगतन्त्र, डाकिनीतन्त्र-डाकतन्त्र, प्रज्ञातन्त्र तथा उपायतन्त्र भी कहा जाता है। पितृतन्त्र में मुख्य रूप से देव एवं परिषद् पुरुष प्रधान तथा मातृतन्त्र में स्त्री प्रधान हैं। अद्वयतन्त्र में पुरुष एवं स्त्री की समान रूप से व्यवस्था रहती है। पितृतन्त्र में उपाय का निर्देश रहता है तथा मातृतन्त्र में सूक्ष्म प्रज्ञातत्त्व का। इसी प्रकार पितृतन्त्र में मुख्यतः उत्पत्तिक्रम का निर्देश पाया जाता है, जबकि मातृतन्त्र में निष्पन्नक्रम का और अद्वयतन्त्र में उत्पत्ति और निष्पत्तिक्रम दोनों का समान रूप से प्रतिपादन रहता है। पितृतन्त्र में तथागत पंचकुल के रूप में वर्णित होते हैं तथा परिषद् में पुरुष प्रधान होते हैं, जैसे गुह्यसमाजतन्त्र में, इसके मण्डल में नायक प्रधान है। मातृतन्त्र में तथागत डाकिनीकाय के रूप में वर्णित होते हैं और परिषद् स्त्री प्रधान होती है, जैसे चक्रसंवरतन्त्र के मण्डल में नायिका प्रधान है। अनुत्तरतन्त्र के आन्तर विभाजन में कुछ अन्य और भी कारण हैं। जैसे जिस तन्त्र में प्रज्ञा एवं उपाय (देव एवं देवी) के समान संख्या में मुख-कर हों, तो वह पितृतन्त्र और असमान हों तो मातृतन्त्र। इसी प्रकार यदि नायक और पार्षद दोनों बैठे हों तो वह पितृतन्त्र, यदि दोनों खड़े हों तो मातृतन्त्र तथा यदि नायक खड़ा हो और पार्षद बैठे हों, तो वह अद्वयतन्त्र में वर्गीकृत किया जाता है। अनुत्तरतन्त्र का यह विभाजन निर्विवाद हो, ऐसी बात नहीं। भोट आचार्यों में इस पर पर्याप्त मतभेद भी हैं। अनेक आचार्यों ने अद्वयतन्त्र का विभाजन न मान कर केवल मातृतन्त्र एवं पितृतन्त्र का भेद ही स्वीकार किया है। यहां उस विवाद को प्रस्तुत करना प्रसंग के अनुकूल नहीं होगा। चारों तन्त्रों के विभाजन एवं अनुत्तरतन्त्र के आन्तर विभाजन की युक्तायुक्तता पर आचार्य खस्-डुब-जे ने अपने ग्रन्थ "र्ग्युद-दे-स्प्यी-ही-नम-पर-जग-पा" में विस्तार से विवेचन किया है[1]।

अद्वयतत्त्व अर्थात् एवंकारयोग

प्रज्ञा एवं उपायतन्त्र से भिन्न अद्वयतन्त्र की पुष्टि कालचक्रतन्त्र एवं उसकी टीका से हो जाती है। टीकाकार के अनुसार कालचक्रतन्त्र निरन्वयतन्त्र है। तदनुसार प्रज्ञापक्ष एवं उपायपक्ष अन्वय है। जिस तन्त्र में इस अन्वय को निरस्त कर दिया गया है, वह

---

१. इं. ता. बु. सि., पृ. २५१-२६९

तन्त्र निरन्वयतन्त्र है[१] । अतः कालचक्र प्रज्ञोपायात्मक योगतन्त्र है । जिस तन्त्र में प्रज्ञोपायात्मक योग का अभाव होगा, उसमें अद्वयज्ञान का अभाव होगा । अद्वयज्ञान के अभाव में बुद्धत्व का एवं बुद्धत्व के अभाव में संसार के अभाव का प्रसंग हो जायगा । अतः जिस तन्त्र का प्रज्ञोपायात्मक योग अभिधेय होगा, वह न तो प्रज्ञातन्त्र होगा और न ही उपायतन्त्र होगा, परमार्थतः वह अद्वयतन्त्र निरन्वय कालचक्रतन्त्र ही होगा[२] ।

प्रज्ञा और उपाय की अभिन्नता ही प्रज्ञोपायात्मक अद्वययोग है । अद्वयविवरणप्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि में पद्मवज्र प्रज्ञा एवं उपाय के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि प्रज्ञा धर्मप्रविचयात्मक है और यह दो प्रकार की है— प्रत्यवेक्षणा तथा नैर्वेधिकी । उपाय चार प्रकार का है— सेवा, उपसाधन, साधन और महासाधन । प्रज्ञा निःस्वभावलक्षण और उपाय सस्वभावलक्षण है । वज्रपद, अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये दोनों का अभिन्न योग आवश्यक है[३], क्योंकि न प्रज्ञा मात्र से और न ही उपाय मात्र से मोक्ष सम्भव है । दोनो के युगनद्ध योग से ही भोग और मोक्ष सम्भव है[४] । इसीलिये विमलप्रभाकार प्रज्ञोपायात्मकयोग स्वरूप एवंकार को प्रणाम करते हैं[५] । एवंकार के अक्षरद्वय को तन्त्रों में इसीलिये गुह्य रखा गया है, क्योंकि यह प्रज्ञादेह से उत्पन्न है[६] । जिसने इस एवंकार के अद्वय तत्त्व को

---

१. "इहान्वयः प्रज्ञापक्ष उपायपक्षश्च । सोऽन्वयो भिन्नपक्षो निरस्तो यस्मात् तत् तन्त्रं निरन्वयम् । प्रज्ञोपायात्मकं योगतन्त्रमित्यद्वयमुच्यते जिनेनेति" (वि. प्र., भा. १, पृ. १८)

२. "अतो यस्मिन् तन्त्रे प्रज्ञोपायात्मकोऽभिधेयो भवति, तत् तन्त्रं न प्रज्ञातन्त्रं नोपायतन्त्रं .... तस्मात् प्रज्ञोपायात्मकं तन्त्रं योगतन्त्रं निरन्वयं कालचक्रं परमार्थसत्यत इति" (वि. प्र., भा. १, पृ. १८)

३. उभयोर्मीलनं यच्च सलिलक्षीरयोरिव ।
अद्वयाकारयोगेन प्रज्ञोपायं तदुच्यते ॥ (प्र. वि. सि. १.१७)

४. करुणा उणे विणु मुण्डहि लग्गो ।
णउ सो पावई उत्तिम मग्गो ॥
अहवा करुणा केवलि भावई ।
सो संसार मोक्ष न पावई ॥ (गु. अ., पृ. २२९)

५. प्रज्ञोपायात्मकं योगमेवंकारं प्रणम्य तम् । (वि. प्र., भा. १, पृ. २)

६. अतस्तत् कथ्यते गुप्तं तन्त्रादौ यद्व्यवस्थितम् ।
एवमित्यक्षरं शुद्धं वज्रयोषित्समुद्भवम् ॥ (गु. सि. २. ४७)

जान लिया है, उसने समस्त अशेष तत्त्व को जान लिया है[१] । एवंकार में एकार माता तथा वकार पिता है, मध्य मे योग स्वरूप बिन्दु है । एकार से पद्म तथा वकार से वज्र अभिप्रेत है, मध्य में बिन्दु बीज है । इसी से तीनों लोको की उत्पत्ति होती है । एकार प्रज्ञा है तथा वकार सुरताधिपति, मध्य में बिन्दु अनाहततत्त्व है[२] । विमलप्रभा में भी एकार से रहस्य, खधातु, भग, धर्मोदया इत्यादि और वंकार से वज्रभैरव, ईश्वर, हेरुक, कालचक्र, आदिबुद्ध आदि को बतलाया है[३] ।

अभिषेक

अभिषेक, मण्डल, मन्त्र, मुद्रा, पीठ, कुल आदि तन्त्र के अविभाज्य अंग हैं । वज्राचार्य शिष्य को तन्त्रसाधना के लिये उस तन्त्र के मण्डल में कुल निश्चित कर अभिषिक्त करता है । अभिषिक्त शिष्य ही तन्त्रसाधना का अधिकारी होता है । अभिषेक द्वारा शिष्य के काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान की विशुद्धि इष्ट है । इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसके द्वारा शुद्धि की जाती है, उसे सेक कहते हैं[४] । कालचक्रतन्त्र के अनुसार

---

१. एवंकार जे बुज्झिअ ते बुज्झिअ सअल असेस ।
धर्मकरण्डो सोहुरे णिअ-पहुधर वेस ॥ (दो. को., पृ. ४३)

२. धर्मस्कन्धसहस्राणां चतुरशीतिसंख्यया ।
सर्वाश्रयं पिता माता द्व्यक्षरं कथितं मया ॥
एकारस्तु भवेन्माता वकारस्तु पिता स्मृतः ।
बिन्दुस्तत्र भवेद्योगः संयोगः परमाद्भुतः ॥
एकारः पद्ममित्युक्तं वकारो वज्रमेव च ।
बिन्दुस्तत्र भवेद्बीजं तत्प्रसूतं जगत्त्रयम् ॥
एकारस्तु भवेत् प्रज्ञा वकारः सुरताधिपः ।
बिन्दुश्चानाहतं तत्त्वं तज्जातान्यक्षराणि च ॥
यो विजानाति तत्त्वज्ञो धर्ममुद्राक्षरद्वयम् ।
स भवेत् सर्वसत्त्वाना धर्मचक्रप्रवर्तकः ॥ (अमृतकणिका, पृ. ४१)

३. ए रहस्यं खधातौ वा भगे धर्मोदयेऽम्बुजे ।
सिंहासने स्थितो वज्री उक्त तन्त्रान्तरे मया ॥
वं वज्री वज्रसत्त्वश्च वज्रभैरव ईश्वरः ।
हेरुकः कालचक्रश्च आदिबुद्धादिनामभिः ॥ (वि. प्र., भा. १, पृ. ३९-४०)

४. सिच्यते स्नाप्यतेऽनेन सेकस्तेनाभिधीयते । (हे. त. २.१३.१२)
सिच्यते कायादिकं निर्मलं निरावरणं क्रियतेऽनेनेति सेकः । (से. टी., पृ. २३)

अभिषेक दो प्रकार का हैं— लौकिक तथा लोकोत्तर अभिषेक । लौकिक अभिषेक में उदक, मुकुट, पट्ट, वज्रघण्टा, महाव्रत, नामाभिषेक तथा अनुज्ञाभिषेक समाविष्ट हैं । लोकोत्तर अभिषेक में कलश, गुह्य, प्रज्ञाज्ञान तथा चतुर्थ अभिषेक आते हैं[1] । इसमें प्रथम सात अभिषेक बालजनों को इस मार्ग में अवतारण के लिये, शेष तीन सांवृतिक दृष्टि से तथा अन्तिम परमार्थ की दृष्टि से प्रदान किये जाते हैं[2] । अभिषेक प्रदान करने का क्रम भी यही है[3] । यदि पात्र स्त्री हो तो मुकुटाभिषेक के स्थान पर सिन्दूराभिषेक तथा प्रज्ञाज्ञानाभिषेक के स्थान पर उपायाभिषेक प्रदान किया जाता है । शुद्धि के अतिरिक्त अभिषेक का प्रयोजन तन्त्रश्रवण का अधिकार, सत्त्वों के अवतरण के लिये मार्ग को जानना तथा महा आचार्य का पद प्राप्त कर तन्त्रदेशना का अधिकार प्राप्त करना है[4] ।

आचार्य मण्डल में पुष्पपात या दन्तकाष्ठ द्वारा शिष्य का कुल नियत कर अभिषेक प्रदान करता है । तन्त्र में किसे अभिषेक प्रदान करना चाहिये और किसे नहीं, इस पर गहन विचार किया गया है । यहां सम्यक् शिष्य को ही अभिषिक्त कर तन्त्रसाधना की अनुमति दी जाती है । इसमें आचार्य एवं शिष्य की परीक्षा प्रमुख है । हेवज्रतन्त्रानुसार इसका अध्ययन प्रारम्भ करने से पूर्व शिष्य को पोषध, दस शिक्षापद दिये जाते हैं । इसके पश्चात् वैभाषिक, सौत्रान्तिक,

---

१. लौकिकाभिषेका उदक-मुकुट-पट्ट-वज्रघण्टा-नाम-अनुज्ञा इति सप्त । तथोत्तराः कलशः, गुह्यः, प्रज्ञाज्ञानमिति । लोकोत्तराभिषेक एकादशमश्चतुर्थ इति । (वि. प्र., भा. १, पृ. ५१)

२. आदौ सप्ताभिषेको यो बालानामवतारणम् ।
त्रिविधो लोकसंवृत्या चतुर्थः परमार्थतः ॥
(हे. त. पञ्जिका, पाम लीफ मैनु. इन द दरबार लायब्रेरी, एच. पी. शास्त्री, पृ. ४५)

३. प्रथमं तोयसेकेन द्वितीयं मौलिसेकतः ।
तृतीयं पट्टसेकेन चतुर्थं वज्रघण्टया ॥
पञ्चमं स्वाधिपेनैव नामसेकं तु षष्ठमम् ।
बुद्धाज्ञा सप्तम सेकं कलशं सेकमष्टमम् ॥
नवमं गुह्यसेकेन दशमं प्रज्ञाभिषेकतः ।
तत्त्ववज्रप्रयोगेण सर्वान् वज्रव्रतान् ददेत् ॥ (से. टी., पृ. २७)

४. इहोत्तराभिषेको द्विधा— एकः सत्त्वावतारणार्थं मार्गपरिज्ञानाय तन्त्रश्रुताधिकारायेति, अपरो महाचार्यपददानाय देशिककरणायेति । (से. टी., पृ. २२)

विज्ञानवाद, माध्यमिक तथा समस्त मन्त्रनय जानना आवश्यक है । तभी वह इस तन्त्र की साधना का सम्यक् अधिकारी होता है[1] । तैर्थिक, मूर्ख, शुष्क तर्क में रत रहने वालों, श्रावक तथा षण्ढ आदि को अभिषेक प्रदान करने के लिये सर्वथा वर्जित किया गया है । इसमें केवल भव्य शिष्य को ही दीक्षित करना चाहिये । अन्यथा गुरु रौरव नरक में अवश्यमेव पतित होगा[2] ।

काय, वाक्, चित्त तथा ज्ञान विशुद्धि

जैसा कि अभिषेक या सेक शब्द से स्पष्ट है, इससे शुद्धि अभिप्रेत है । अभिषेक द्वारा शिष्य का काय-वाक्-चित्त तथा ज्ञान विशुद्ध होता है । कालचक्रतन्त्र की टीका विमलप्रभा के अनुसार प्रथम दस अभिषेकों के द्वारा सांवृतिक दृष्टि से काय, वाक्, चित्त, ज्ञान, धातु, स्कन्ध और आयतन की शुद्धि होती है तथा अन्तिम चतुर्थाभिषेक द्वारा परमाक्षर लक्षणस्वरूप महामुद्रा की सिद्धि हेतु काय, वाक्, चित्त आदि का अशेष, निरावरण शोधन होता है[3] । मण्डल के द्वार पर उदक एवं मुकुट अभिषेक द्वारा कायविशुद्धि, पट्ट एवं वज्रघण्टा अभिषेक द्वारा वाग्विशुद्धि, महाव्रताभिषेक तथा नामाभिषेक द्वारा चित्तविशुद्धि और अनुज्ञाभिषेक द्वारा ज्ञानविशुद्धि होती है[4] ।

---

१. पोषधं दीयते प्रथमं तदनु शिक्षापदं दशम् ।
वैभाष्यं तत्र देशेत सूत्रान्तं वै पुनस्तथा ॥
योगाचारं तथा पश्चात् तदनु मध्यमकं दिशेत् ।
सर्वमन्त्रनयं ज्ञात्वा तदनु हेवज्रमारभेत् ॥ (हे. त. २.८.८-९)

२. न तीर्थ्याय न मूर्खाय न शुष्कतर्करताय च ।
न श्रावकाय न षण्ढाय न वृद्धाय भार्याय च ॥
न राज्ञेऽपि न पुत्राय न श्रद्धारहिताय च ।
सप्ताष्टमौ प्रदातव्यौ शासने हितमिच्छता ॥
(सं. अ. ३.३८७, रा. अभि., काठमाण्डू)
ततो भव्यो भवेच्छिष्यस्तन्त्रं तस्यैव देशयेत् ।
दूरतो वर्जयेदन्यमन्यथा रौरवं वज्रेत् ॥ (चण्डमहारोषणतन्त्र ३ पटल)

३. गर्भजानां लोकसंवृत्त्या दशाभिषेकाः काय-वाक्-चित्त-ज्ञान-धातुस्कन्धायतन-कर्मेन्द्रियादिपरिशुद्धचेति । लोकोत्तर एकादशतमश्चतुर्थः, तत्पुनस्तथेति नियमात्, महामुद्रापरमाक्षरज्ञानलक्षणो गुरुवक्त्रं कायवागादिनिरावरणत्वेन शोधक इति ।
(वि. प्र., भा. १, पृ. २१)

४. से. टी., पृ. १९-२०

अभिषेक के लिये प्रथमतः शिष्य द्वारा अध्येषणा आवश्यक है। इसके पश्चात् आचार्य भूमिपरीक्षा कर उसका शोधन करता है। तदनन्तर साधना के पश्चात् उस भूमि पर मण्डल निर्माण की अनुज्ञा प्राप्त कर अभिषेक के लिये रजोमण्डल का निर्माण किया जाता है। मण्डल में पाँच तथागत बुद्ध एवं उनकी मुद्राओं, द्वारपालों एवं अन्य देवताओं के आधार पर रंग भरा जाता है तथा उनका साधना द्वारा मण्डल में आवाहन किया जाता है। अभिषेक से पूर्ण शिष्य स्नानादि से शुद्ध होकर गुरु को मण्डल समर्पित करता है। गुरु शिष्य को बुद्धत्व प्राप्त करने तथा प्राणी मात्र के हित के लिये बोधिचित्त उत्पन्न करने के लिये कहता है। गुरु शिष्य को बोधिसत्त्व-संवर एवं तन्त्र-संवर प्रदान करता है। काय-वाक्-चित्त की शुद्धि हेतु तीन बार जल का आचमन कर स्वप्नपरीक्षा हेतु कुश, रक्षासूत्र तथा मन्त्र को धारण किया जाता है। मण्डल में प्रवेश से पूर्व आचार्य शिष्य की आखों में पट्टी बांध कर तीन बार आचमन कर शिष्य को स्व को देवता के रूप में भावना करने के लिये कहता है, उष्णीष, कण्ठ तथा हृदय से ॐ आः हूं निर्गत करते हुए भावना करने के लिये कहता है। पुनः अशेष प्राणियों के हित के लिये तथा बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये बोधिचित्तोत्पाद के पश्चात् संवर ग्रहण करता है। तब आचार्य मण्डल के पूर्वी द्वार से क्रमशः मण्डल में स्थित देव एवं ध्यानी बुद्धों का परिचय करा कर स्व को वज्रधर के रूप में भावना करने की अनुमति देता है। अभिषेक से पूर्व सत्त्व का कुल पहचानने के लिये प्रतीक मण्डल में पुष्पपात किया जाता है। तब शिष्य को उस बुद्धकुल का जानकर तदनुसार नामकरण किया जाता है तथा आंखों से पट्ट खोल कर मण्डल दर्शन की अनुमति दी जाती है। तब क्रमशः उदक आदि अभिषेक प्रदान किये जाते हैं।

सत् शिष्य का लक्षण बताते हुए विमलप्रभाकार कहते हैं कि मन्त्रनय में दो प्रकार के शिष्य हैं— एक महामुद्रासिद्धि साधनार्थी तथा दूसरा लौकिकसिद्धि साधनार्थी। जो महामुद्रासिद्धि साधनार्थी हैं, वे कलश, गुह्यादि सेकों के द्वारा शून्यता मार्ग की भावना करते हैं तथा जो लौकिकसिद्धि साधनार्थी हैं, वे मन्त्र, मुद्रा, मण्डल, चक्र की भावना के लिये उदकादि सप्त अभिषेक प्राप्त करते हैं[१]।

---

१. इह मन्त्रनये शिष्यो द्विधा........ । (वि. प्र., भा. २, पृ. ७)

सत्त्व का कुल

अभिषेक के सन्दर्भ में सत्त्व के कुल की चर्चा की गई है । अतः कुल के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना सन्दर्भानुकूल होगा । शास्त्रों में मुख्य रूप से छः कुलों का उल्लेख मिलता है । ये कुल हैं— पांच तथागत कुल तथा छठा वज्रधर कुल । पञ्चभूतात्मक यह जगत् पञ्चस्कन्धस्वरूप हैं और ये भूत ही पञ्च कुल के भी द्योतक हैं[1] । मूलतः सत्त्वों की भिन्नता एवं जगत्-वैचित्र्य के कारण कुलों की संख्या भी हजारों में है । इनका समाहरण सौ कुलों में और सौ का पांच कुलों में समाहरण होता है । पांच कुलों का भी तीन में तथा तीन कुलों का एक वज्रसत्त्व कुल में समाहरण होता है[2] । त्रिकुलात्मक तन्त्रों में काय-वाक्-चित्त त्रिकुल हैं । चतुःकुलात्मक तन्त्रों में काय, वाक्, चित्त और ज्ञान परिगणित हैं । स्कन्ध, धातु आदि अभिधेयों के भेद से पञ्चकुलात्मक तथा वक्त्र के भेद से शतकुलात्मक तन्त्र हैं[3] ।

अनुत्तरतन्त्र में सत्त्व का कुल निश्चित करने की अनेक विधियां हैं । कालचक्रतन्त्र में मण्डल में पुष्पपात द्वारा और हेवज्रतन्त्र में साधक के चिह्न एवं वर्ण के आधार पर कुल निश्चित किया जाता है । जैसे कालचक्रतन्त्र में जब शिष्य गुरु की आज्ञा से मण्डल में पुष्पपात करता है, तब जिस तथागत कुल के वर्ण के ऊपर पुष्प गिरे, वह कुल शिष्य का होता है । मण्डल में पञ्चतथागत कुलों एवं उनके वर्ण नियत होते हैं । तब शिष्य को उस कुल का जान कर आचार्य अभिषेक प्रदान करता है[4] । दूसरी

---

१. एवं पञ्चकुलात्मकः स्कन्धधातुभेदेन । (वि. प्र., भा. १, पृ. ३६)
कुलानां पञ्चभूतानां पञ्चस्कन्धस्वरूपिणाम् । (हे. त. १.५.१०)

२. त्रिकुलं पञ्चकुलं स्वभावैकशतं कुलम् । (वि. प्र., भा. १, पृ. ५०)

पञ्चकुलं त्रिकुलं चैव स्वभावैकशतं कुलम् ।
तत्त्वं पञ्चकुलं प्रोक्तं त्रिकुलं गुह्यमुच्यते ।
अधिदेवो रहस्यं च परमं शतधा कुलम् ॥ (गु. त. १८.३५-३६)

३. वि. प्र., भा. १, पृ. ३६

४. श्रीमन्त्रेणाभिमन्त्र्य करकमलपुटे पुष्पमेकं प्रदेय-
मादौ भ्राम्य त्रिवारान् करकमलपुटाद् मण्डले पुष्पमोक्षः ।
यस्मिन् स्थाने सुपुष्पं पतति नरपते तत् कुलं तस्य नूनं
पश्चात् सप्ताभिषेकास्त्रिविध इह यथानुत्तरः सम्प्रदेयः ॥ (का. त. ३.९५)

विधि सत्त्व के शरीर में उपस्थित बाह्य लक्षणों के आधार पर सम्पन्न की जाती है । जैसे किसी स्त्री या पुरुष की अनामिका के मूल में नवशूक (वज्र) हो, तो वह अक्षोभ्य कुल का होगा, जिसके चक्र हो वह वैरोचन कुल का, जिसके पद्म हो वह अमिताभ कुल का, जिसके रत्न हो वह रत्नसम्भव कुल का तथा जिसके खड्ग हो वह अमोघ सिद्धि कुल का होता है[1] । इसी प्रकार सत्त्व के कुल का निर्धारण उसके वर्ण के आधार पर भी किया जाता है । जैसे यदि साधक कृष्ण वर्ण का हो तो वह अक्षोभ्य कुल का, श्याम वर्ण का हो तो वह अमोघसिद्धि कुल का, पिंगल वर्ण का हो तो रत्नसम्भव कुल का, रक्तगौर वर्ण का हो तो अमिताभ कुल का और श्वेत वर्ण का हो तो वज्रसत्त्व कुल का होता है[2] ।

मण्डल तत्त्व

अभिषेक की विधि बिना मण्डल के सम्पन्न नहीं होती । बौद्ध तन्त्रों में अभिषेक के लिये तीन प्रकार के मण्डल प्रयुक्त किये जाते हैं । ये हैं— रजोमण्डल, पट्टमण्डल एवं विमानमण्डल । इनके अतिरिक्त देहमण्डल एवं ध्यानमण्डल का भी प्रयोग किया जाता है, परन्तु इन दोनों मण्डलों का प्रयोग केवल समाधिसम्पन्न अतितीक्ष्ण इन्द्रिय वाले आचार्य एवं शिष्य ही करते हैं । सामान्यतया अभिषेक के लिये रजोमण्डल का ही उपयोग किया जाता है । अभिषेक की विधि पूर्ण होने के पश्चात् रजोमण्डल को विसर्जित कर दिया जाता है । मण्डल-विसर्जन की विधि का उल्लेख कालचक्रतन्त्रटीका विमलप्रभा के तृतीय पटल में मिलता है[3] । मण्डल शब्द दो पदों से मिल कर बना है— 'मण्ड' एवं 'ल' । 'मण्ड' का अर्थ सार एवं

---

१. अनामिकामूले यस्य स्त्रियो वा पुरुषस्य वा ।
नवशूकं भवेद् वज्रमक्षोभ्यकुलमुत्तमम् ॥
वैरोचनस्य भवेद् चक्रममिताभस्य पङ्कजम् ।
रत्नसम्भवो महारत्नं खड्गं कर्मकुलस्य च ॥ (हे. त. २.१०.३-४)

२. यो हि योगी कृष्णवर्णो अक्षोभ्यतस्य देवता ।
यो हि योगी महाश्यामो अमोघस्तस्य देवता ॥
यो हि योगी महापिङ्गलो रत्नेशः कुलदेवता ।
रक्तगौरो हि यो योगी अमिताभः कुलदेवता ॥
श्वेतगौरो हि यो योगी वज्रसत्त्वस्तस्य कुलदेवता ॥ (हे. त. २.११.६-८)

३. वि. प्र., भा. २, पृ. १४५-१४६; का. त. ३.२०१-२०२

'ल' का अर्थ लाना अथवा ग्रहण करना है । अर्थात् महासुख रूपी ज्ञान के सार को जो ग्रहण करता है, वही 'मण्डल' है[१] । अभयाकर गुप्त ने कालचक्रतन्त्र के मण्डल का और उसमें स्थित देवताओं के मुख, कर, वर्ण, आयुध इत्यादि का विस्तार से परिचय दिया है[२] । अतः यहां कालचक्र मण्डल के देव एवं पर्षद् का विवरण उपस्थित नहीं किया जा रहा है ।

साधना पद्धति

भोट देश में अनुत्तरतन्त्र की निष्पन्नक्रम की भावना की आठ विभिन्न पद्धतियों का वर्णन आया है[३] । ये परम्पराएं इस प्रकार हैं—

१. नागार्जुनपाद की गुह्यसमाज की पद्धति ।
२. ज्ञानपाद की गुह्यसमाज की पद्धति ।
३. लुर्यीपाद की चक्रसंवर की पद्धति ।
४. घण्टापाद की चक्रसंवर की पद्धति ।
५. कालचक्रतन्त्र की पद्धति ।
६. यमारितन्त्रों की पद्धति ।
७. महाचक्र की पद्धति ।
८. नरोपा की षडंगयोग पद्धति ।

इन सभी पद्धतियों में कालचक्रतंत्र की पद्धति को छोड़ कर शेष पद्धतियों में विशेष अन्तर नहीं है । सामान्यतः कालचक्रतन्त्र की निष्पन्नक्रम की भावना का आधार भी अन्य अनुत्तरतन्त्रों की भाँति वज्रदेह ही है । इसमें प्रधान ललना, रसना और अवधूती नाड़ियाँ हैं । ये चन्द्र, सूर्य और राहु के नाम से भी जानी जाती है । ये तीनों जल, अग्नि और आकाश स्वभाव हैं और क्रमशः शुक्र, रक्त और वायु की वाहक है । गुह्यसमाजतन्त्र और कालचक्रतन्त्र में ये नाड़ियाँ अल्पभेद के साथ समान ही हैं । गुह्यसमाजतन्त्र के अनुसार ललना एवं रसना ऊपर से नीचे की ओर समानान्तर चलती हैं, परन्तु

---

१. "मण्डः सारः, तं लाति गृह्णातीति मण्डलम्" (गु. स. प्र., पृ. ४१) ।
मण्डलं सारमित्युक्तं बोधिचित्तं महत्सुखम् ।
आदानं तत्करोतीति मण्डलं मलनं मतम् ॥ (हे. त. २.३.२७)

२. निष्पन्नयोगावली, पृ. ८३–९३

३. The Highest Yoga Tantra, p. 117.

कालचक्रतन्त्र के अनुसार ये अपनी स्थिति नाभिस्थल से परिवर्तित कर लेती है । गुह्यसमाजतन्त्र के अनुसार ललना और रसना दोनों नाडियों में वायु होती है और मध्यमा नाडी अवधूती पूर्णतया शून्यस्वभाव है, जबकि कालचक्रतन्त्र के अनुसार शरीर के ऊपरी भाग में दायीं नाडी में रक्त, वायीं नाडी में शुक्र और मध्यमा नाडी में वायु होती है । नाभिस्थल से स्थान परिवर्तित हो जाने के कारण दायीं नाडी में विट्, वायीं नाडी में मूत्र और मध्यमा नाडी में शुक्र रहता है । इस परम्परा में साधना से पूर्व ही मध्य नाडी में वायु चलायमान रहती है[१] ।

कालचक्रतन्त्र में विभिन्न नाडीसमूहों का उल्लेख आया है । ये समूह हैं— ३६, ७२, १५६, १६२ तथा १६२० नाड़ियों के । छत्तीस नाडियों की गणना में उष्णीष आदि चक्रों की छः नाडियाँ, दो शब्दग्राही, दो स्पर्शग्राही, दो रसग्राही, दो रूपग्राही, दो गन्धग्राही, द्वादश संक्रान्ति नाडियां और आठ अष्टप्रहर नाडियां हैं । ये ही नाडियां आधाराधेय सम्बन्ध से बहत्तर हो जाती हैं । इनमें छः रस रूपी, छः धातु रूपी, छः इन्द्रिय रूपी, छः विषय रूपी, छः कर्मेन्द्रिय विषयरूपी, छः कर्मेन्द्रिय रूपी, छः रूप प्रवृत्ति, छः वेदना, छः संज्ञा, छः संस्कार, छः विज्ञान तथा छः ज्ञान प्रवृत्ति कुल ७२ नाडियां हैं[२] ।

एक सौ छप्पन नाड़ियों की परिगणना में उष्णीष चक्र की चार तथा ललाट चक्र की सोलह, ये बीस नाडियां श्लेष्म धातुस्वभाव हैं । कण्ठ चक्र की बत्तीस तथा हृदय चक्र की आठ, ये चालीस नाडियाँ पित्त धातुस्वभाव वाली है । नाभि चक्र की चौसठ तथा गुह्य चक्र के बाह्य परिमण्डल की सोलह ये अस्सी नाडियां वायु धातुस्वभाव है । गुह्य चक्र के मध्य परिमण्डल की दस तथा गर्भ परिमण्डल की छः, ये सोलह नाडियां सन्निपात स्वभाव की हैं । इस प्रकार ये कुल एक सौ छप्पन नाडियां हैं[३] । १५६ नाडियों तथा षट्चक्रों के साथ एक सौ बासठ नाडियों की गणना होती है । ये

---

१. The Highest Yoga Tantra, p. 119-120.

२. वि. प्र., भा. १, पृ. १८८-१८९

३. उष्णीषेऽब्धिर्ललाटे जलधिहतयुगाः श्लेष्मधातुप्रकोपाः
कण्ठे दन्ता हृदब्जे नयनहतयुगाः पित्तधातुप्रकोपाः ।
नाभौ गुह्येऽब्धिषष्टिर्नृपतिरपि तथा वायुधातुप्रकोपा
गुह्येऽन्या दिक् च षट्कं प्रकटितनियताः सन्निपाता निरोधाः ॥ (का. त. २.५९)

१६२ नाडियां दस प्रकार की वायु के प्रचार से स्कन्धधातु आदि के वश से दस स्वभाव वाली होती हैं । इसलिये इन सभी को दस गुना करने पर कुल १६२० नाडियां हो जाती हैं । ये नाडियां बालजनों के लिये मृत्युदायक तथा योगियों के लिये आनन्दकारक हैं[1] ।

सामान्यतया कालचक्रतन्त्र में छः चक्रों का वर्णन पाया जाता है । ये हैं— उष्णीष, ललाट, कण्ठ, हृदय, नाभि तथा गुह्य चक्र । उष्णीष में चतुर्दल नाडी चक्र, ललाट में षोडशदल, कण्ठ में बत्तीस दल, हृदय चक्र में आठ दल, नाभि में चौसठ दल तथा गुह्य चक्र में बत्तीस दलात्मक चक्र हैं । यहाँ का वर्णन गुह्यसमाजतन्त्र से थोड़ा भिन्न प्रतीत होता है । गुह्यसमाज की परम्परा में उष्णीष चक्र बत्तीस दलात्मक तथा कण्ठ चक्र षोडश दलात्मक है[2] ।

कालचक्रतन्त्र में अन्य अनुत्तरतन्त्रों से भिन्न उष्णीष, कण्ठ, हृदय और नाभि चक्र में चार अलग-अलग बिन्दुओं का अस्तित्व स्वीकारा गया है । ये बिन्दु हैं— काय, वाक्, चित्त और ज्ञान बिन्दु[3] । ये बिन्दु जाग्रत् आदि चार अवस्थाओं में वायु से स्पन्दित होकर नाना प्रकार की भ्रान्तियों को उत्पन्न करते हैं । जैसे जाग्रत् अवस्था में ऊर्ध्व भाग के सभी वायु उष्णीष चक्र में और अधोभाग के सम्पूर्ण वायु नाभिचक्र में संगृहीत होते हैं और ये विभिन्न आभास और भ्रान्तियों को उत्पन्न करते हैं । स्वप्न की अवस्था में सभी ऊर्ध्व वायु कण्ठ चक्र में तथा अधोभाग के वायु गुह्येन्द्रिय में संगृहीत होकर शब्द और वाक् की भ्रान्ति को उत्पन्न करते हैं । सुषुप्ति अवस्था में ऊर्ध्व भाग के सभी वायु हृदयचक्र में और अधोभाग के सभी वायु मणिचक्र में जमा होकर निर्विकल्प और शून्यता में भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं । द्वीन्द्रिय-समापत्ति की अवस्था में ऊर्ध्व भाग के सभी वायु नाभिचक्र में तथा अधोभाग के सभी वायु गुह्येन्द्रिय के अग्रभाग में स्थित होकर सुखानुभूति और स्राव को उत्पन्न करते हैं । इन बिन्दुओं की परिशुद्धि से आभासमात्र, शब्दमात्र, निर्विकल्प और सुख की अनुभूतियों का विस्तार होकर क्रमशः काय, वाक्, चित्त और ज्ञानवज्र की प्राप्ति होती है । चार चक्रों में जब क्रमशः बिन्दु स्थित

---

१. वि. प्र., भा. १, पृ. १८८-१९०
२. The Highest Yoga Tantra, p. 119.
३. The Highest Yoga Tantra, p. 120-121.

होता है, तो आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द सुख की प्राप्ति होती है ।

आन्तर एवं बाह्य पीठ

जिस प्रकार बाह्य जगत् में पीठस्थान हैं एवं उनमें डाक–डाकिनियां और वीर–वीरेश्वरियां हैं, उसी प्रकार वे सभी निर्मित मण्डल एवं देहस्थ मण्डल में भी विद्यमान रहते है । देहमण्डल की भावना करते समय सभी पीठस्थानों की स्वदेह में भावना करनी पड़ती है । बौद्ध तन्त्रों में मुख्यतः चार, चौबीस तथा छत्तीस पीठस्थांनों का उल्लेख मिलता है । चतुष्पीठों में आत्मपीठ, परपीठ, योगपीठ तथा तत्त्वपीठ हैं । इनका सम्बन्ध मुख्यतः तान्त्रिक तत्त्वदर्शन एवं साधना से है । संक्षेप में इसका विषय है—प्रज्ञा, उपाय, प्रज्ञा और उपाय की युगनद्धता तथा इस युगनद्धता से उत्पन्न सहज ज्ञान, जो वाक्पथातीत है । चतुष्पीठ की इस दार्शनिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुये रविश्री ने नामसंगीति की टीका में निम्नलिखित वचन उद्धृत किया है—

परपीठेति प्रज्ञोक्ता आत्मपीठमुपायकम् ।
अनयोरद्वयीभावो योगपीठमिति स्मृतम् ॥
तत्त्वपीठं तदुत्पन्नं तद्रहितं च यद्भवेत् ।
सहजेति समाख्यातं वाक्पथातीतगोचरम् ॥ (ना. सं., पृ० ८४)

इसी प्रकार चौबीस पीठों का वर्णन भी प्रमुखता से पाया जाता है । हेवज्र, डाकार्णव महायोगिनीतन्त्र एवं कालचक्रतन्त्र में इनके अतिरिक्त भी पीठस्थान हैं, परन्तु जालन्धर आदि पीठस्थानों का समान रूप से वर्णन रहता है । ये पीठस्थान भी पीठ, उपपीठ, क्षेत्र, उपक्षेत्र, छन्दोह, उपच्छन्दोह, मेलापक, उपमेलापक तथा श्मशान और उपश्मशान में विभक्त हैं । यथा— पूर्णगिरि, जालन्धर, ओडियान तथा अर्बुद पीठ हैं । गोदावरी, रामेश्वर, देवीकोट तथा मालव उपपीठ हैं । कामरूप तथा ओड्र क्षेत्र हैं । त्रिशकुनि तथा कौशल उपक्षेत्र हैं । कलिंग तथा लम्पाक छन्दोह हैं । कांची तथा हिमालय उपच्छन्दोह हैं । प्रेताधिवास तथा गृहदेवता मेलापक, सौराष्ट्र तथा सुवर्णद्वीप उपमेलापक हैं । नगर तथा सिन्धु श्मशान हैं । मरु और कुलूता उपश्मशान हैं । देहमण्डल में ये पीठस्थान क्रमशः निम्नलिखित स्थानों में हैं— शिर, शिखा, दक्षिण कर्ण, पृष्ठवंश, वाम कर्ण, भ्रूमध्य, चक्षुर्द्वय, बाहुमूल चित्तचक्र में, कक्ष, स्तन, नाभि, नासिकाग्र, मुख,

कण्ठमध्य, हृदय तथा मेढ़ वाक्चक्र में, लिंग, ऊरु, जंघाद्वय, अंगुली, पादपृष्ठ, अंगुष्ठ एवं जानुद्वय कायचक्र में । साधना में जब इन पीठों की देहमण्डल में भावना की जाती है, तो ये पीठ काय, वाक् और चित्त चक्र में विभक्त होते हैं[1] । इन पीठस्थानों में खण्डकपाल आदि वीर एवं प्रचण्डा आदि वीरेश्वरियां स्थित हैं । चित्तचक्र का बोधक बीजाक्षर मन्त्र 'हूं' है तथा इस चक्र में स्थित वीरवीरेश्वरियां खेचरी हैं । वाक्चक्र का बीजाक्षर मन्त्र 'आः' है, इसमें स्थित वीरवीरेश्वरियां भूचरी हैं । कायचक्र का बीजाक्षर मन्त्र 'ॐ' है तथा इसमें स्थित वीरवीरेश्वरियां पातालवासिनी हैं । देहमण्डल में नाडी रूप में चित्तचक्र में अजा आदि नाडियां, वाक्चक्र में महानाडी आदि तथा कायचक्र में नटी आदि नाडियां हैं ।

वज्रयोग

वज्रयोग की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी गई है । इसे संवृति और परमार्थ का संयोग, अद्वय, युगनद्ध एवं अक्षर भी कहा गया है[2] । यह योग अस्ति-नास्ति से व्यतिक्रान्त, शून्यता एवं करुणा से अभिन्न महासुख है । शाश्वत और उच्छेद से निर्मुक्त निरन्वय कालचक्र योग ही वज्रयोग है[3] । वज्रयोग चार प्रकार का है—विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग । इन चारों योगों की प्राप्ति के लिये चार विमोक्ष आवश्यक हैं । ये हैं—शून्यता, अनिमित्त, अप्रणिहित और अनभिसंस्कार । चार विमोक्षों की प्राप्ति से कायवज्र, वाग्वज्र, चित्तवज्र तथा ज्ञानवज्र की सिद्धि होती है ।

विशुद्धयोग के लिये शून्यताविमोक्ष प्राप्त करना पड़ता है । शून्यता का अर्थ निःस्वभावता है । जिस ज्ञान में शून्यता का भाव ग्रहण होता है, वही शून्यताविमोक्ष है । इसके प्राप्त होने पर तुरीय

---

१. एताः स्वदेहजाः सर्वा भिद्यन्ते स्थानभेदतः ।
सबाह्याभ्यन्तरस्थास्तु बुद्धानां दशभूमयः ।
कायवाक्चित्तचक्रेषु चतुर्विंशतिभेदतः ॥ (व. ति., ५.१३-१४)

२. से. टी., पृ. ७०

३. अस्तिनास्तिव्यतिक्रान्तो भावाभावक्षयोऽद्वयः ।
शून्यताकरुणाभिन्नो वज्रयोगो महासुखः ॥
परमाणुधर्मतातीतः शून्यधर्मविवर्जितः ।
शाश्वतोच्छेदनिर्मुक्तो वज्रयोगो निरन्वयः ॥ (वि. प्र., भा. १, पृ. ४४)

अवस्था का ध्वंस होता है और अक्षर सुख उत्पन्न होता है । धर्मयोग के लिये अनिमित्तविमोक्ष प्राप्त करना पड़ता है । यहां विकल्पचित्त ही निमित्त है । जिस ज्ञान में चित्त निर्विकल्प होता है, उसे ही अनिमित्तविमोक्ष कहा जाता है । इसके प्राप्त होने पर सुषुप्ति अवस्था का क्षय होता है । निर्विकल्प चित्त में मैत्री का उदय होता है, यही चित्तवज्र धर्मयोग कहलाता है । मन्त्रयोग के लिये अप्रणिहितविमोक्ष का लाभ करना पड़ता है । निर्विकल्प चित्त में प्रणिधान का अभाव होता है । इसे ही अप्रणिहित कहा गया है । अप्रणिहितविमोक्ष के लाभ से स्वप्न अवस्था का क्षय होता है । इससे जो मुदिता का संचार होता है, वही मन्त्रयोग है । संस्थानयोग के लिये अनभिसंस्कारविमोक्ष आवश्यक है । प्रणिधान के अभाव में अभिसंस्कार नहीं रहता । इस विमोक्ष के लाभ से जाग्रत् अवस्था का क्षय होता है[1] । इन विमोक्षों की विशुद्धि से क्रमशः सहजकाय, धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय की प्राप्ति होती है[2]।

सुविशुद्ध क्रमयोग

विमलप्रभाकार कालचक्रतन्त्र के योग को सुविशुद्ध क्रमयोग कहते हैं । अन्य योगों से इसकी विशिष्टता भी बताई गई है । दो अन्य क्रमों की जो चर्चा आती है, ये हैं— वीरक्रम एवं स्वाधिष्ठानक्रम । वीरक्रम में केवल प्राणक्षय होता है और यह योग बाह्य देह आदि पर अवलम्बित है । स्वाधिष्ठान क्रम में केवल शून्यता में त्रैधातुक का दर्शन होता है[3] । अतः बुद्ध ने मोक्ष के लिये अन्यतम मार्ग सुविशुद्धक्रम को ही कहा है ।

षडंग योग

कालचक्रतन्त्र की निष्पन्नक्रम की साधना चतुःसेवा और षडंग योग के अनुसार की जाती है । इसका प्राप्य पद काय-वाक्-चित्तवज्र

---

१. से. टी., पृ. ५-६

२. वि. प्र., भा. १, पृ. ४५

३. वीरक्रमो न मार्गः स्वाधिष्ठानक्रमश्च मोक्षाय ।
सुविशुद्धक्रम एको मोक्षाय सन्दर्शितो बुद्धैः ॥
वीरक्रमो न बाह्ये देहे प्राणक्षयो ह्यसावुक्तः ।
स्वाधिष्ठानं शून्ये त्रैधातुकदर्शनं नाम ॥ (वि. प्र., भा. १, पृ. ७)

ही है । प्रत्याहार और ध्यान द्वारा कायवज्र की तथा उसके लक्षणों तथा अनुव्यञ्जनों की सिद्धि होती है । प्राणायाम और धारणा द्वारा वाग्वज्र में तथा मूल वायु में अधिकार प्राप्त कर सर्वज्ञवाक् सिद्धि होती है । अनुस्मृति और समाधि द्वारा चित्तवज्र की प्राप्ति होती है । अनुस्मृति के समय चण्डाली को बोधिचित्त द्वारा द्रवित कर उष्णीष से मणिचक्र तक पहुंचने तक चार आनन्दों की उत्पत्ति होती है । इसमें सहजानन्द ही समाधि है । सहजानन्द की अवस्था में नाभि में चण्डाली के प्रज्वलित होने पर योगी देवबिम्ब का साक्षात्कार करता है । इस अवस्था में अनुरागपूर्ण सुख की उत्पत्ति होती है । यही अनुस्मृति कहलाती है । इसकी उत्पत्ति के लिये धारणा द्वारा मध्यमा नाडी में वायु को स्थिर कर चण्डाली को प्रज्वलित करना पड़ता है । इस प्रकार वायु को मध्यमा नाडी में स्थिर करना ही धारणा कहलाती है । धारणा की अवस्था को प्राप्त करने के लिये प्राणायाम द्वारा ललना और रसना में बहने वाली वायु को मध्यमा में प्रवेश कराना पड़ता है । यही प्राणायाम योग कहलाता है । ललना और रसना में बहने वाली वायु तभी मध्यमा में प्रवेश करेगी, जब प्रत्याहार और ध्यान द्वारा मध्यमा नाडी की पहचान हो । प्रत्याहार योग द्वारा दिन और रात्रि में उदय होने वाले लक्षणों की पहचान के बाद ही यह सम्भव होती है । प्रत्याहार द्वारा लक्षणों को पहचान लेने के बाद ध्यान द्वारा वे दृढ़ता को प्राप्त होते हैं[१] । विमलप्रभा एवं सेकोद्देशटीका में इसको विस्तार से प्रतिपादित किया गया है । तदनुसार लक्षण, फल, साधना आदि इसके विविध पक्ष हैं । षडंग योग का विस्तृत स्वरूप इस प्रकार प्रदर्शित है—

प्रत्याहार

चक्षु आदि इन्द्रियां अपने विषयों की ओर प्रवृत्त होती हैं । प्रत्याहार पद में आहार शब्द त्यागार्थक है । पांच इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध विच्छेद करा कर, अर्थात् विज्ञान में उनका संहार कर ज्ञानस्वभाव पांच इन्द्रियों का पांच प्रभास्वर स्वरूप विषयों में प्रवेश कराना ही प्रत्याहार है । इसके अभ्यास से निर्विकल्प वायु को मध्यमा में स्थिर करने का सामर्थ्य आता है । संक्षेप में विषय और विषयी के रूप ग्रहण करने के सम्बन्ध का विच्छेद कर चित्त को

---

१. का. त., ४.११६-११७

शून्यता में प्रवृत्त कराना ही प्रत्याहार साधना है[१]। इसमें इष्टदेव के रूप का ध्यान कर चित्त को बाह्य विषयों की ओर प्रवृत्त होने से रोका जाता है। चित्त का स्थिर होना ही प्रत्याहार है। इसमें क्रमशः धूम, मरीचि, खद्योत आदि निमित्त प्रकट होने लगते हैं[२]। इन निमित्तों के प्रकट होने पर गुरूपदेश के अनुसार देवबिम्ब की भावना की जाती है। इससे नाडीचक्र और प्राणापान दृढ़ हो जाते हैं। अन्त में बोधिचित्त स्थिर हो जाता है और महासुख की प्राप्ति का कारण बन जाता है[३]। इस योग से जब योगी विशुद्ध हो जाता है, तब बिम्ब स्थिर हो जाता है और वाक्सिद्धि होती है, जिससे वरदान आदि की सामर्थ्य प्राप्त होती है[४]।

ध्यान

आलम्बन में चित्त का स्थिर होना ही ध्यान है, अर्थात् विश्वबिम्ब में विषय और विषयी का एकत्व ही ध्यान है। ध्यान के पांच अंग है— प्रत्याहार द्वारा निष्पन्न बिम्ब में चिन्तन करना प्रज्ञा है, तर्क भावों को ग्रहण करता है, यहां भाव शून्यरूपलक्षण को जानना तर्क है, विषय और विषयी का विकल्पों से रहित निश्चय करना ही विचार है, विचार से अनुप्राणित होने पर बाह्य शरीर और आभ्यन्तर चित्त में जो सुख का अनुभव होता है, वह रति है, बिम्ब के साथ चित्त का एकीकरण तथा उससे जो अक्षर सुख उत्पन्न होता है, वह अचल सुख है[५]। इसके पूर्ण होने पर साधक पञ्चाभिज्ञालाभी होता है[६]।

---

१. "प्रत्याहारो नाम शरीरे विषयविषयिणां दशानां सम्बन्धेनाप्रवृत्तिर्विज्ञानस्य शून्यबिम्बे, विषयेषु प्रवृत्तिरन्यैश्चक्षुरादिभिः पञ्चविधैरिति" (वि. प्र., भा. २, पृ. २१०)। "प्रत्याहारो दशानां विषयविषयिणामप्रवृत्तिः शरीरे" (का. त. ४.११६)।

२. आकाशासक्तचित्तैरनिमिषनयनैर्वज्रमार्गे प्रविष्टैः
शून्याद्धूमो मरीचिः प्रकटविमलखद्योत एव प्रदीपः।
ज्वालाचन्द्रार्कवज्राण्यपि परमकला दृश्यते बिन्दुकश्च
तन्मध्ये बुद्धबिम्बं विषयविरहितानेकसंभोगकायम्॥ (का. त. ५.११५)

३. का. त. २.१०८

४. "प्रत्याहारेण योगी यदा विशुद्धो भवति बिम्बेन स्थिरीभूतेन, तदा सर्वमन्त्रैरधिष्ठयते, वचसा वरदानादिकं ददाति" (वि. प्र., भा. २, पृ. २११)।

५. वि. प्र., भा. २, पृ. २११

६. "पञ्चाभिज्ञानलाभी भवति नरपते ध्यानयोगेन शुद्धः" (का. त. ४.११८)।

प्राणायाम

प्राणवायु का विस्तार करना ही प्राणायाम है । प्राणवायु की गति रोकने से दीर्घायु की प्राप्ति होती है । प्रत्याहार और ध्यान के द्वारा शून्यता रूपी महामुद्रा का प्रतिभास होने के बाद प्राणायाम द्वारा प्राणवायु पर अधिकार प्राप्त कर सहज सुख को प्राप्त करना ही प्राणायाम का उद्देश्य है । प्राणायाम में ललना और रसना मध्यमा में विलीन हो जाती है[१] । कालचक्रतन्त्र में इसकी विधि एवं फल का निर्देश किया गया है[२] ।

इसमें पहले वायु को नासिका के अग्र भाग में स्थिर करना चाहिये । तब अपान वायु को बलपूर्वक लेकर प्राण-अपान को एक कर कुम्भक करना चाहिये । इस क्रम में श्वास में 'ॐ', प्रश्वास में 'आः' तथा कुम्भक में 'हूं' का ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार प्राणायाम करने से श्वास की गति क्रमशः सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती जाती है । प्रत्याहार और ध्यान के द्वारा देवबिम्ब की निष्पत्ति के पश्चात् प्रतिदिन प्राणायाम का अभ्यास करते रहना चाहिये । यह अभ्यास तब तक करते रहना चाहिये, जब तक अपने शरीर के भीतर रश्मिचक्र घूमता हुआ न दिखलाई पड़े । प्राणायाम के अभ्यास से, प्राण-अपान के मिलने से अग्नि का उत्पाद, शरीरगत सम्पूर्ण नाडियों का तथा उनमें संचरित होने वाली वायु, शुक्र और शोणित का स्पष्ट दर्शन होने लगता है । इस आभास के प्रकट होने के बाद छः महीने तक लगातार प्राणायाम का अभ्यास करते रहने से योगी बिना द्वीन्द्रियसमापत्ति के अक्षर महासुख का अनुभव करता है[३] ।

धारणा

प्राणवायु पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश धातुस्वरूप

---

१. "प्राणायामो द्विमार्गस्खलनमपि भवेन्मध्यमे प्राणवेशः" (का. त. ४.११६) ।

२. घ्राणे रन्ध्रद्वयेन त्वपि पिहितमुखे बाह्यवातः समस्तः
प्राणेनाकृष्य वेगात्तडिदनलनिभो घट्टितोऽपानवायोः ।
कालेनाभ्यासयोगाद् व्रजति समरसं चन्द्रसूर्याग्निमध्ये
अन्नाद्यं क्षुत्पिपासामपहरति तनौ चामरत्वं ददाति ॥ (का. त. ४.१९४)

३. दृष्टे बिम्बे प्रकुर्यात् प्रतिदिनसमये प्राणवायोर्निरोधं
यावद्वै भ्राम्यमाणं स्वतनुपरिवृतं दृश्यते रश्मिचक्रम् ।
षण्मासैः स्पर्शहीनं व्रजति समसुखं मार्गचित्तं यतीनां ... (का. त. ५.११७)

हूंकार के नासिकाग्र से होते हुए ललना और रसना के, प्राण–अपान दोनों के साथ एकलोलीभूत होकर मध्यमा में प्रविष्ट हो जाने पर स्वच्छ विद्युत्सदृश बन जाती है और नाभि से क्रमशः हठयोग से ऊर्ध्व गमन करती हुई सभी नाडियों और ग्रन्थियों को भेदती हुई उष्णीष चक्र तक पहुंचती है । उष्णीष चक्र से पुनः महासुख का स्राव कर मणिचक्र तक पहुंचती है[१] । ब्रह्मरन्ध्र से वायु को बाहर निकलने देने पर साधक मृत्यु को प्राप्त हो सकता है । इसलिये साधक निरन्तर चक्रों में ऊर्ध्व-अधोगति का अभ्यास करता रहता है । अपने इष्टदेव के मन्त्र एवं वायु का हृदय में ध्यान करते हुए उसे ललाट में निरुद्ध करना, हृदय से हटा कर कर्णिका के मध्य में स्थापित करना तथा ललाट में निरोध करने की क्रियाओं को ही धारणा कहा जाता है । धारणा से प्राण गमनागमनरहित होकर एकलोलीभूत हो जाता है ।

अनुस्मृति

प्रत्याहार और ध्यान के द्वारा स्थिरीकृत प्रतिभासात्मक संवृति सत्य की भावना करना ही अनुस्मृति है । इसका उद्देश्य संवृति सत्य की भावना का संस्फरण करना है, अर्थात् उसे आकाशवत् व्याप्त करना है[२] । प्रत्याहार के द्वारा निष्पन्न देवबिम्ब को ध्यान के द्वारा दृढ किया जाता है और प्राणायाम के द्वारा वायुबिन्दु को नियन्त्रित कर धारणा द्वारा मध्यमा में स्थिर किया जाता है । इसी देवबिम्ब का बार बार स्मरण करना ही अनुस्मृति है । धारणा के द्वारा नाभि में चण्डाली को प्रज्वलित करने पर उसमें प्रतिबिम्बसदृश निर्विकल्प त्रिधातुक इष्टदेव का आभास होता है[३] । अनुस्मृति की साधना कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा और महामुद्रा के साथ समाहित होकर चण्डाली योग के द्वारा की जाती है । वायु के मध्यमा नाडी में प्रवेश से चण्डाली प्रज्वलित होती है । साधक भी मृदु, मध्य और उत्तम भेद से तीन प्रकार के होते हैं[४] । ये तीनों प्रकार के साधक अपनी

---

१. का. त. ५.७५

२. से. टी., पृ. ३३

३. चण्डाल्यालोकनं यद् भवति खलु तनौ चाम्बरेऽनुस्मृतिः स्यात् । (का. त. ४.११७)

४. एतन्मृद्वादिभेदैस्त्रिविधमपि भवेत् साधनं विश्वभर्तु–
स्तिस्रो मुद्रास्त्रिमात्रास्त्रिविधगतिवशात् कर्मसंकल्पदिव्याः ॥ (का. त. ४.११७)

मुद्राओं के साथ समाहित होकर प्रत्याहार द्वारा निष्पन्न इष्टदेव या देवबिम्ब की अनुस्मृति करते हैं और अपनी सामर्थ्य के अनुसार आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द और सहजानन्द रूपी अक्षरसुख प्राप्त करते हैं ।

समाधि

षडंगयोग का अन्तिम अंग समाधि है । प्रज्ञोपाय-समापत्ति द्वारा सभी भावों का समाहरण कर पिण्डयोग द्वारा बिम्ब की भावना की जाती है । इस प्रकार की भावना से अकस्मात् एक क्षण में महाज्ञान की निष्पत्ति होती है, अर्थात् ग्राह्य और ग्राहक का, विषय और विषयी का अभिन्न रूप में स्थित होना ही समाधि है । समाधि में अनुस्मृति द्वारा आभासित अक्षरसुख का विस्तार एवं उसमें दृढता प्राप्त होती है । जैसे जैसे इसमें दृढता एवं इसका विस्तार होता जाता है, वैसे वैसे सूक्ष्म विकल्पों का क्षय होता है और अन्त में साधक अद्वय रूप को प्राप्त करता है । इससे अशुद्ध बिम्बों का क्षय होता है और विपाक काय परिशुद्ध होकर इष्टदेव बिम्ब कालचक्र में परिवर्तित हो जाता है ।

यदि इस प्रकार प्रत्याहार आदि अंगों के अभ्यास के द्वारा भी योगियों को इष्टसिद्धि न हो, तो नादाभ्यास के द्वारा अथवा हठपूर्वक, अर्थात् हठयोग द्वारा अब्जगत कुलिशमणि में बिन्दु को रोक कर अक्षरसुख की सिद्धि करनी चाहिये[१] । अद्वय तन्त्रों का परम रहस्य इसी में छिपा हुआ है ।

संकेत सूची

अ. व. सं.	अद्वयवज्रसंग्रह	दो. को.	दोहाकोश
इं. बु. ता. सि.	इन्ट्रोडक्शन टु द बुद्धिस्ट तान्त्रिक सिस्टम	ना. सं.	नामसंगीति
का. त.	कालचक्रतन्त्र	प्र. वि. सि.	प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि

१. प्रत्याहारादिभिर्वै यदि भवति न सा मन्त्रिणामिष्टसिद्धि-
नादाभ्यासाद्धठेनाब्जगकुलिशमणौ साधयेद् बिन्दुरोधात् ॥ (का. त. ४.११९)

गु. अ.	गुह्यादि-अष्टसिद्धिसंग्रह	व. ति.	वसन्ततिलक
गु. त.	गुह्यसमाजतन्त्र	वि. प्र.	विमलप्रभा
गु. स. प्र.	गुह्यसमाजतन्त्र प्रदीपोद्योतन	सं. अ.	संक्षिप्ताभिषेकविधि
गु. सि.	गुह्यसिद्धि	से. टी.	सेकोद्देशटीका
च. स्त.	चतुःस्तव	हे. त.	हेवज्रतन्त्र

●

विचार-विनिमय

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

बहुत अच्छा निबन्ध लिखने के लिये धन्यवाद । अब हम लोग विचार-विमर्श करेंगे । विचार-विमर्श के पहले मैं एक बात निवेदन करना चाहता हूँ । बौद्ध तन्त्रों के ऊपर पाँच निबन्ध लिखवाये गये थे । उनमें से चार को हम लोगों ने सुना है । योगतन्त्र संबन्धी निबन्ध के लेखक शान्तिनिकेतन के डॉ0 सुनीतिकुमार पाठक जी हैं । मैं समझता हूँ वे नौ तारीख को हम लोगों के बीच में रहेंगे । उस दिन समय रहा तो अपराह्ण में उनके निबन्ध का पाठ होगा । अन्य जो निबन्ध यहाँ लिखे गये है, उनमें क्रिया-चर्या तन्त्र के लेखक प्रो0 सेम्पा दोर्जे जी है, जो कि इसी संस्थान में हेतु और अध्यात्म विभाग में प्रोफेसर हैं । डॉ0 ठाकुरसेन नेगी हम लोगों के बीच में उपस्थित हैं और डॉ0 बनारसीलाल जी भी । ये दोनों दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के शोधाधिकारी हैं । कल वङ्छुग् दोर्जे जी का निबन्ध हम लोगों ने सुना था । वे यहाँ पर तिब्बती मूल शास्त्र में प्राध्यापक हैं । आप लोगों ने इन निबन्धों में देखा होगा कि अन्य तन्त्रों से बौद्ध तन्त्रों के अनेक विषय मिलते जुलते हैं । जैसे आज पितृतन्त्र अथवा अद्वयतन्त्र में योग का जो हमने प्रकरण देखा, वह कुण्डलिनी योग से बहुत कुछ मिलता जुलता है । षडंगयोग का अभी आपने स्वरूप सुना, वह कश्मीर के शैव दर्शन में तो उपलब्ध है ही, उपनिषद् भी कुछ ऐसे उपलब्ध है, जिनमें षडंगयोग का प्रतिपादन किया गया है । पांचरात्र आगम की विष्णुसंहिता में भी षडंगयोग का प्रतिपादन मिलता है । इन पर यहाँ विचार होगा । जिस उद्देश्य से हम लोगों ने इस कार्यशाला को आयोजित किया, इसमें कुछ विषय निश्चित किये गये थे । उसमें कुछ सफलता की ओर हम बढ़ रहे है, ऐसा लगता है । कुछ समानताएं और कुछ विशेषताएं हमें मिलती हैं । इनका हम सूक्ष्म निरीक्षण करें तो बहुत अच्छा होगा । अभी जलपान और चाय के अवकाश में प्रो0 टाटिया जी से मेरी बात हुई । वह इसके लिये तत्पर है कि इस पूरी सामग्री के आधार पर वे इस तरह का एक लेख हमको

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

प्रथम निबन्ध डॉ० नेगी ने प्रस्तुत किया । वह जैसा कि द्विवेदी जी ने बताया, विभिन्न अंशों में विभिन्न नामों से और विभिन्न प्रक्रियाओं से सभी तन्त्रों में प्रविष्ट है और सभी सम्प्रदाय के जो तन्त्र हैं, उनमें इनके ऊपर न्यूनाधिक रूप से विचार हुआ है । मेरी दृष्टि में आदि शंकराचार्य का एक ग्रन्थ है, उसका नाम है यतिदण्डैश्वर्यविधान । वह ग्रन्थ अभी मुद्रित हुआ है । इसका हस्तलेख नेपाल से प्राप्त हुआ है, जो पहले ब्राह्मी लिपि में था और उसके बाद उसका दूसरा संस्करण दक्षिण लिपि में हुआ । फिर नेवारी लिपि में वह लिखा गया और धीरे-धीरे उसका देवनागरी लिपि में संस्करण तैयार किया गया । पुरी के जगद्गुरु शंकराचार्य श्री निरंजनदेव तीर्थ जी के माध्यम से वह जयपुर से प्रकाशित हुआ । आदिशंकराचार्य ने नाडीतन्त्र के ऊपर बहुत कुछ लिखा है । उसमें आपने जैसा बताया, उन सबके अतिरिक्त एक विशेष बात बतायी है मस्तिष्क चक्र की । उनकी मान्यता है कि मस्तिष्क सब नाडीतन्त्रों का मूल स्थान है । कन्दस्थान से यह नाडीतन्त्र प्रवाहित होकर भिन्न-भिन्न रूपों में समस्त शरीर के अंग-प्रत्यंगों में प्रवाहित होता है । उससे उनकी क्षमता के अनुसार उसमें से रक्त आदि का प्रवाह होता है । उसके साथ ही उन्होंने एक बात और विशेष बताई है कि उस मस्तिष्क के चक्र को, कन्द को उद्बुद्ध करने के लिये मन्त्र बहुत उपयोगी होते हैं । उदाहरण रूप में वहां गायत्री मन्त्र को लिया है । इस मन्त्र में हम २४ अक्षर मानते हैं, किन्तु आदि शंकराचार्य ने वहाँ उसके ४० अक्षर माने हैं । उन्होंने अर्धाक्षर या ऊपर की बिन्दु, अर्थात् रेफादि जितने हैं, उन सबको गिनकर कुल ४० अक्षरों का उसका स्वरूप माना है । उनकी मान्यता है कि ये चालीसों अक्षर मुख्य कन्द के अंग हैं, जिनके द्वारा स्फुटित होते हुए या प्रवर्धित होते हुए अन्य नाडियां प्रसृत हुई हैं । नाडी के सम्बन्ध में हमारे यहाँ तन्त्रों में सत्तर हजार नाडियाँ कहने की प्रथा है और एक सामान्य जन भी जानता है कि सत्तर हजार नाडियां जब टूटती हैं और उनमें जो कष्ट होता है, उस कष्ट को भोग करके ही आत्मा शरीर को छोड़ता है । एक अन्य तन्त्र-ग्रन्थ में यह भी लिखा गया है कि यह नाड़ीतन्त्र सत्तर हजार तक ही सीमित नहीं है, अपितु इसके एक लाख ३० हजार अथवा साढ़े तीन लाख तक इसके गुच्छों की गणना है । क्या इस तरह का आपके इधर तन्त्रों में भी कहीं विशेष वर्णन प्राप्त होता है ?

दूसरा मनश्चक्र का चिन्तन यहाँ नहीं हुआ है, मैं समझता हूँ आपके यहाँ नहीं आया है, आपके लेख में तो इस मनश्चक्र की चर्चा नहीं है । इस मनश्चक्र का जो परिसर है, या उसका जो परिवेश है, उसके भी १०८ आरे हैं । उस चक्र के अरों का एक चिन्तन विशेष रूप से प्रस्तुत हुआ है और उसको भी मन्त्रसाधना के साथ जोड़ा गया है । क्या उस सम्बन्ध में भी कुछ चिन्तन आपके यहाँ मिलता है ? इसके अतिरिक्त हमारे यहाँ एक विशेष बात यह आती है कि नाडी का उद्बोधन कैसे किया जाय । जैसे मैंने बताया कि गायत्री मन्त्र के वर्णों के द्वारा उनका प्रथम स्मरण करके यदि गायत्री मन्त्र का जप किया जाय, तो उससे मनश्चक्र या मस्तिष्कचक्र के जो मुख्य कन्द हैं,

उसकी जो मुख्य अन्तर नाडियाँ है, सामान्य नाडियां या क्षुद्र नाडियाँ या क्षुद्र तन्तु है, उससे उद्बुद्ध होते है । इसलिये मन्त्राक्षरों के द्वारा उसका जप किया जाता है, तो वह अधिक फलवत् होता है, ऐसा वहां विधान है । रुद्रयामल तन्त्र में एक स्थान पर वर्णन आया है । आप षडंगयोग की बात करते है योगमार्ग में । हम षट्चक्र का ध्यान आदि करते है । उसके लिये एक उद्बोधन कवच भी प्राप्त होता है और उस कवच के द्वारा प्रार्थना की जाती है कि मेरा यह चक्र इस कार्य के लिये इस ढंग से इस मन्त्र के लिये उपयुक्त उद्घाटित हो जाय । हमारे यहाँ षट्चक्र के बारे में विभिन्न विचार आये है । कुछ लोगों की मान्यता है कि ये चक्र कमल के समान है और नीचे की ओर झुके रहते है । जो-जो साधक इनकी सिद्धि प्राप्त करता है, वह अपने साधन के द्वारा इनको ऊपर उठा करके फिर उद्बुद्ध करता है और फिर वे कमल के रूप में विकसित होते है । जबकि कुछ आचार्यों की मान्यता है कि ऐसा नहीं है, किन्तु दोनों चक्र एक दूसरे से सम्बद्ध हो करके द्विधाभूत व्याप्त हैं और वही अपनी-अपनी क्रिया के अनुसार धीरे-धीरे विकसित होते है । एक अन्य परम्परा यह भी है कि यह जो षट्चक्र है, आज तक प्रायः विद्वान् लोग यही कहते है कि मूलाधार से लेकर सहस्रार तक यह चक्र व्याप्त हैं, किन्तु एक अन्य आचार्य इस सम्बन्ध जहाँ तक मेरा ख्याल है, शंकराचार्य ने यतिदण्डैश्वर्यविधान में यह भी बताया है कि यह षट्चक्र केवल हृदय या शरीर के मध्यप्रदेश में ही नहीं होते, अपितु हाथों में भी होते हैं, अंगुलियों में भी होते हैं, पैरों की अंगुलियों में भी होते है । इनका भी स्वतन्त्र चक्र का विधान है । यह जो साधना है, उसे दशाम्नायी करते हैं, जो दशाम्नाय मानते हुए पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और चारों कोण जो है, उनको प्राप्त करके उनके द्वारा साधना करते है, वे शरीर के विभिन्न अवयवों में व्याप्त जो चक्र है, उन चक्रों के द्वारा साधना करते है । क्या इस ओर भी हमारे बौद्धाचार्यों ने दृष्टिपात किया है ।

एक और निवेदन है भविष्य के लिये कि नाडीचक्र रहस्यमय विषय हैं । आज तो मशीनरी इतनी प्राप्त हो गई है कि जिनके द्वारा अन्तरनाडियों के विभिन्न स्वरूपों को व्यक्त करने में कुछ सहयोग प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु हमारा यह भी प्रयास होना चाहिये कि आयुर्वेद में जो नाडीतन्त्र है, जैसे रावण का नाडीतन्त्र, भृगु का नाडीतन्त्र, भारद्वाज का नाडीतन्त्र । इस प्रकार के नाडी-तन्त्रों के जो ग्रन्थ है, उनके साथ हम समन्वय कर के या उनकी समालोचना या समीक्षा करके इस बात को देखें कि हमारे योगाचार्यों में और आयुर्वेद के विभिन्न आचार्यों में कहां तक साम्य और कहां तक वैषम्य है । यह एक अद्भुत कार्य होगा । इससे जनमानस में जो यह भ्रम व्याप्त है कि जितने तन्त्रशास्त्र है या योगशास्त्र है, उनकी दृष्टि से तो ये कल्पना प्रधान है और हमारी दृष्टि से वे प्रातिभज्ञान के आधार पर प्राप्त है । पुराने लोगों के पास यह सब विशेष साधन नहीं थे । आज इनके सत्यापन के लिये और जहाँ तक हो उसकी वास्तविकता को प्राप्त करने के लिये ऐसा होना चाहिये, यह मेरा निवेदन है ।

प्रो० नथमल टाटिया

मुझे एक बात कहनी है । अभी हमारे यहाँ जैन विश्वभारती लाडनू में एक विभाग है—डिपार्टमेन्ट आफ साइंस आफ लिविंग । वहाँ हमारे युवाचार्य श्रीप्रज्ञ अनुसंधान करते है । वह ग्लैंड्स जो है, अपने शरीर में बायॉलोजी में उससे सम्बन्धित करते है, जैसे—ग्लेण्डस है, आपके ये जो चक्र है, उससे सम्बन्ध करते हैं । एड्रिनल ग्लेण्ड्स नाभिचक्र से सम्बन्ध करते हैं, तो ऐसे आजकल में ग्लेण्ड्स बायॉलोजी में उससे चक्रों का आइडेन्टीफिकेशन करते है और काफी ध्यान के द्वारा उनको नियन्त्रित किया जा सकता है । ऐसा अनुसन्धान हमारे यहाँ हो रहा है । मुझे पूंछना है इन चक्रों से आज के बायॉलोजी के जो ग्लेण्ड्स है, एण्डोक्राइन ग्लेण्ड्स कहते है । एण्डो-क्रिनोलॉजी पर तो अच्छे-अच्छे ग्रन्थ निकले है, तो उनसे कुछ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है कि नहीं । दूसरा प्रश्न यह है कि ये चक्र बायॉलोजिकल है या सायॉक्लोजिकल है या स्पिरिच्युअल है । यह बहुत मार्मिक प्रश्न है कि हम बायॉलोजी से उसको आइडेन्टीफाइ करते है, शायद हो सकता है कि यह गलत सिद्ध हो जाय । हो सकता है मुझे तो बहुत सन्देह है यह बायॉलोजिकल नहीं है । यह सायॉक्लोजिकल या स्प्रिरिच्युअल है । यह कार्यशाला तो बहुत विस्तृत है और इसमें ऐसे-ऐसे प्रश्न आये है कि सब हीरे के टुकड़े । ये लेख बहुत सुन्दर हैं । इन पर तो आप आधुनिक विज्ञान से, अपने प्राचीन अध्यात्मशास्त्र से और गौरखनाथ के उस सम्प्रदाय से तुलना कर सकते है । बहुत सुन्दर विषय होगा, जो आज के विज्ञान पर भी प्रकाश डाल सकता है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

मेरा एक निवेदन और है । मैं यह बात कहना भूल गया कि यह जो हमारे चक्र हैं, इन चक्रों की जो साधनापद्धति है, वह भी इतनी व्याप्त है कि प्रत्येक सम्प्रदायानुगत दृष्टि से उनके बीजमन्त्र उन लोगों ने निर्धारित किये है । उदाहरणार्थ हमारे शाक्त दर्शन में जो षट्चक्र है, उनकी साधना के लिये कुल छः देवियाँ है । यह जो दशाम्नायी होते है, वह तो दश महाविद्या के बीजमन्त्रों से उनका उद्बोधन करते हैं और जो छः आम्नाय मानते है, वे उनमें से चार को छोड़कर के प्रधान पाँच देवियों के जो मूल बीजमन्त्र हैं, उनका जप करने के बाद ही फिर उस पर कुछ आगे का प्रयोग करते हैं । इसी प्रकार अन्य सम्प्रदायों में भी उनके कुछ बीजमन्त्र ऐसे है, तो उन बीजमन्त्रों के माध्यम से भी हमें उनका चिन्तन करना पड़ेगा कि जो कूटाक्षर है जिसमें ह स र ई और अनुस्वार इत्यादि जो मिले हुए हों तो उनसे क्या प्रभाव पड़ता है, किस तरह से प्रभाव पड़ता है । आपने इन चक्रविद्याओं में योग की बात कही, वहां आपने यह स्पष्ट नहीं किया है कि इन चक्रों के द्वारा ही वर्णमातृका का उद्भव हुआ । मूलाधार से लेकर और आज्ञाचक्र तक यह जो हैं, सब वर्ण है और उसमें स्पष्ट लिखा है कि यह वाङ्मयी देवता जो है मूले भाले हृदि च विलसद् वर्णरूपा सवित्री" उसका वर्णन दिया है कि यह अनाहत चक्र है, यह विशुद्धि चक्र है । इस तरह इसमें अमुक अक्षर हैं, इतने वर्ण इसमें हैं और

उनके दलों के आधार पर उसकी व्यवस्था की गयी है, तो क्या उन वर्णों के पारस्परिक संकुलित करने से या उनको एक दूसरे से सम्मिश्रित करने से उनमें कोई हलचल होती है । वास्तव में मैं भी यही समझता हूँ कि मनोविज्ञान के आधार पर ही हम यह कह सकते है कि चक्र है, क्योंकि डाक्टर लोग जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं, वे कहते है कि आपके इस षट्चक्र का कहीं कोई आकार हमको तो मेरुदण्ड में कहीं कुछ मिलता नही है और जो सुषुम्ना की बात है, जिसको अवधूती कहा गया है, उसको तो एक दम ही लोग मानने• को तैयार नहीं है, जबकि हमारे यहाँ सुषुम्ना साधना का मूल है । यह अमृतमयी है और उसके अमृत से ही सम्पूर्ण क्रियाएं संचालित होती है । इसी तरह का वर्णमातृका के सम्बन्ध का विचार आया है । उसका भी हमें अनुशीलन करना चाहिये ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

डॉ0 टाटिया जी ने जो अभी एक बात कही है कि हमारे शरीर में जो नलिकाविहीन ग्रंथियाँ होती है, ग्लेण्ड्स होते है (ग्लेण्ड्स=ग्रन्थि), तो कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी जरूर होती है, जिनके रस का स्राव नलिका के द्वारा वहन नहीं होता । जैसे कि हंम भोजन करते हैं, तो पित्त ग्रन्थि जो लीवर में होती है, यकृत् में होती है, वहाँ से पित्त स्रवित होकर के नलिका के द्वारा आमाशय में आता है और भोजन को गलाने का काम करता है । बहुत सी ग्रन्थियाँ ऐसी हैं, जो नलिका सहित होती हैं, जिनके स्राव का नलिका में वहन होता है । लेकिन कुछ ग्रन्थियाँ ऐसी होती हैं, जो नलिकाविहीन होती है । उनका स्राव सीधे रक्त में सम्मिश्रित हो जाता है और वह बड़ी अद्भुत होती है । इनके रस के अधिक हो जाने से या कम हो जाने से शरीर में बड़ी विकृतियाँ होती हैं । उनके स्राव को हारमोन्स कहते है । एक थाइरायड ग्लेण्ड है । उसके स्राव के अधिक होने से आदमी बड़ा लम्बा हो जाता है । ऐसे ही स्त्री और पुरुष के चिह्न मनुष्य में पैदा होते है । जैसे कि सोलह सत्रह वर्ष का लड़का हुआ, तो उसकी आवाज में मोटापन आ जाता है और उसके मूंछ वगैरा आने लगती है । इधर स्त्रियों में भी अंग में विकृति होती है । यह सब ग्लेण्ड्स के प्रभाव है और यदि इनको उन ग्लेण्डों को काम करने से रोक दिया जाय तो लड़के की आवाज औरत की तरह से मीठी होने लगेगी । यह जो ग्लेण्ड्स के साथ इन नाड़ी–चक्रों का सम्बन्ध स्थापित करके अध्ययन हो रहा है, यह हो सकता है कि यह गलत भी हो रहा हो और अन्त में कुछ न निकले । लेकिन यह अध्ययन का अच्छा क्षेत्र है और मैं समझता हूँ ऐसे अध्ययन करने वालों को यह जो हमारी प्राचीन तन्त्रों की सामग्रियाँ हैं, उनको उपलब्ध होनी चाहिये, जिससे कि वे ठीक ढंग से काम कर सकें । हमको भी इसमें सहयोग करना चाहिये । यह तो भविष्य की बात है, क्या होगा क्या नहीं होगा । वैसे इनकी साइकोलॉजिकल और आध्यात्मिक स्थिति कही गई, वैसे भी हो सकता है । लेकिन मैंने एक निबन्ध में यह पढ़ा है कि इस साधना के करने से सारे प्रकाशचक्र शरीर में पैदा होते हैं, जिससे सारी नाडियाँ और उसमें बहने वाली धातुएं स्पष्ट होने लगती है । जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है, वैसे यह

सब नाडीचक्र दिखाई पड़ने लगते है । यह भी हो सकता है कि जो मानसिक चीजें होती हैं, वे भी कभी-कभी प्रत्यक्ष की तरह से दिखलाई पड़ने लगती है । जैसे पागल को बहुत से रूप-रंग दिखलाई पड़ते हैं, तो वह मानसिक ही होते है । लेकिन वह प्रत्यक्ष की तरह से दिखलाई पड़ते है । आजकल तो ऐसी औषधियाँ भी निकली है कि कल्पना के भीतर जो आकार होते हैं, वह साक्षात् दिखलाई पड़ने लगते हैं, उनका स्पर्श किया जा सकता है ।

प्रो0 नथमल टाटिया

योगसूत्रकार पतंजलि ने मणि, मन्त्र, औषधि, तप आदि से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन किया है । उससे इस विषय की पुष्टि होती है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

जी हाँ, यह हो सकता है कि उस साधना के बल से नाडीचक्र आदि दिखलाई पड़ने लगते हों, लेकिन यह भी हो सकता है कि वह सूक्ष्म रूप में विद्यमान हो, जो भौतिक यन्त्रों से न दिखलाई पड़ते हों । लेकिन साधना के बल से जैसा कि किसी निबन्ध में लिखा था कि उसका साक्षात्कार होने लगता है । ये सब बातें अभी भविष्य के गर्भ में है, लेकिन मै समझता हूँ कि यह जो सारा साहित्य है, उसके जानकार ठीक-ठीक होने चाहिये और यह जो अनुसन्धान चल रहा है, उसमें सहयोग करना चाहिये । ये ग्लेण्ड्स तो बड़ी अद्भुत हैं, इनसे बड़ी विचित्र-विचित्र अनुभूतियाँ होती हैं, जो नलिकाविहीन ग्रन्थियाँ होती है । मैं समझता हूँ कि छोटा हो जाना, बड़ा हो जाना, यह तो हमारे यहाँ अभिज्ञा, यह ऋद्धि वगैरह होती हैं, तो मान लो हो सकता है कि एक ऐसे मन्त्र का उच्चारण करके वायु को ऐसा करना होगा, उसकी कोई विधि होगी, जिससे कि यह स्राव बहुत होने लगे, शरीर कनकभूधराकार हो जाय और फिर उसको कम कर दिया जाय तो अतिलघु रूप हो जाय । हो सकता है कि यह सब चीजें निकलें, लेकिन होगा कि नहीं होगा, इसके विषय में अभी कुछ नहीं कहा जा सकता । लेकिन यह अध्ययन का अच्छा क्षेत्र है ।

मैं एक बात कह कर अपनी बात को खतम करना चाहता हूँ । यह जो वज्रदेह की सिद्धि होती है, तो यह जो हमारा वर्तमान शरीर है, यही वज्र बन जाता है कि वज्रदेह एक नवीन उत्पन्न होता है, यह मैं जानना चाहता हूँ । यह भी हो सकता है कि बहुत से सिद्ध लोगों के बारे में कहा जाता है कि सरहपाद अभी भी जीवित हैं, उनका देह वज्रसदृश है । उसके ऊपर काल का और ऋतु का प्रभाव नहीं पड़ता । नागार्जुन छः सौ वर्ष तक जीये या अभी भी है, यह तो हम परम्परा के लोग मानते ही है, तो यह जो वज्रदेह आप भावना या साधना के बल से खड़ा करते हैं, वज्रदेह को आविर्भूत करते है, तो क्या यही शरीर वज्रदेह हो जाता है, या वह इससे भिन्न है ? इसी के साथ दूसरा प्रश्न है— यह जो मायाकाय की बहुत चर्चा आती है, इस मायाकाय में और वज्रदेह में क्या फर्क है ? यह मैं जानना चाहता हूँ ।

प्रो० नथमल टाटिया

डॉ० नेगी ने अपने लेख में लिखा है कि ये चक्र सारे शरीर में हैं । लेकिन जैन लोग ऐसे चक्र नहीं मानते । वे कहते हैं कि प्रत्येक जगह पर चक्र है । उनको करण कहते हैं । आपने जो एक बात कही है वह है कि आपके स्कन्ध (चक्र) दो तरह के होते हैं । एक तो स्कन्ध रूप से चक्र होते हैं और एक बिना स्कन्ध भी खुले हुए चक्र होते हैं । वह सारे जहाँ-जहाँ आपकी नाडियाँ हैं, वहाँ-वहाँ वे चक्र हैं । वहाँ आप ध्यान कर सकते हैं । धम्मपद में एक बड़ी चीज है, ध्यान की—

यतो यतो सम्मसति खन्धानं उदयब्बयं ।
लभती पीतिपामोज्जं अमतं तं विजानतं ॥

सुञ्ञागारं पविट्ठस्स सन्तचित्तस्स भिक्खुनो ।
अमानुसी रति होति सम्मा धम्मं विपस्सतो ॥

आप अनित्यता का प्रत्येक अंग में जब अनुभव करने लगते हैं, तो ठीक जैसे परिवर्तन आपके शरीर के अंगों में हो रहा है, यह आनापान सत्य विपश्यना का मूल है, तो इससे भी सम्बन्ध होना चाहिये । यह जैनों से मिलता है । धम्मपद में चक्रों की बात नहीं है, लेकिन आप शरीर में किसी अंश में ध्यान करेंगे, वह अंश जीवित हो जायगा । उसमें प्राण का संचार हो जायगा, प्रज्ञा का संचार हो जायगा । तो इससे कुछ सम्बन्ध है क्या ? जैनों से यह बहुत मिलता है । अभिधर्मकोश में वज्रासन की बात है । उसके बाद तुरन्त प्रज्ञा का उदय होगा, बोधि का उदय हो जायगा, तो इनमें कोई परस्पर सम्बन्ध है कि नहीं ऐसा ।

श्री ग्यलछन नमडोल

एक ग्रन्थ का नाम पूछना है । बनारसीलाल जी के निबन्ध के सातवें पृष्ठ में, यहाँ जो चारों तन्त्रों के विभाजन एवं अनुत्तर तन्त्र के आन्तर विभाजन पर आचार्य चोंखापा जी ने अपने ग्रन्थ ग्युद-स्दे-स्प्यीहि नम-पर-जग-पा में विस्तार से विचार किया गया है । इस ग्रन्थ का नाम हमको लग रहा है शायद ङग-रिम छेन-मो (महामन्त्रक्रम) है । उसी को लक्ष्य करके आप कह रहे होंगे । चोंखापा जी का इस नाम का कोई ग्रन्थ नहीं है ।

डॉ० बनारसी लाल

यह नाम गलती से छप गया है । यह ग्रन्थ खस्-डुब-जे का है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

औषधि प्रकरण के सम्बन्ध में एक बात जानने योग्य है कि यह जो अभिषेकविधि आप लोगों ने बतायी है, यह जल वाला अभिषेक है । उसका संस्कार कैसे होता है ? इस पर शाक्त आगमों में बहुत वर्णन किया गया है और जब पूर्णाभिषेक होता है, तो वहां वर्ण-मन्त्रौषधियों का प्रयोग है । जैसे हम

५० या ५१ वर्ण–मातृकाएं मानते है, उनमें से प्रत्येक वर्ण की प्रत्येक अक्षर की अलग–अलग औषधि है और उन औषधियों का उसमें प्रक्षेप होता है चूर्ण बनाकर के और उसके द्वारा पूर्णाभिषेक किया जाता है । वामकेश्वर तन्त्र आदि में इसका वर्णन आता है । वहां कहा है कि यह जो मन्त्रौषधियाँ हैं, इससे जल से अभिषेक किया जाय, इसके चूर्ण की गुटिका बनाकर उसके द्वारा मालाप्रयोग किया जाय, उनका खाने के लिये उपयोग किया जाय, और लेपन किया जाय, भस्म बना करके उद्वर्तन करके स्नान किया जाय, तभी वह मन्त्र जल्दी से सुगम और सिद्धिकर होगा । इसके अतिरिक्त अन्य आचार्य यह भी कहते है कि जिस मन्त्र की दीक्षा होती है, उस मन्त्र के वर्ण के आधार पर उन वर्णों की जो–जो औषधियाँ है, उनका एक पृथक् संग्रह करके उनका भी उसी प्रकार का उपयोग किया जाय, तो मन्त्रसिद्धि में ये बड़ी सहायक होती हैं । तो क्या आपके यहां अभिषेक देने में भी इस तरह की प्रवृत्ति है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

आपने अभी अभिषेक की औषधियों की बात की । बौद्ध ग्रन्थ सेकोद्देश–टीका के सेक प्रकरण में भी पुनर्नवा इत्यादि अनेक औषधियों की चर्चा है ।

डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर

मै भी वही कह रहा था कि सेकोद्देशटीका में औषधियों का वर्णन है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

कालचक्र और विमलप्रभा में भी इनका वर्णन मिलता है ।

डॉ0 ठाकुरसेन नेगी

मैं पहले पं0 रुद्रदेव त्रिपाठी के प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर देना चाहूँगा । आपने शिरस् (मस्तिष्क) चक्र के बारे में कहा है कि उनमें बीजमन्त्रों का प्रयोग है । मातृतन्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ में चक्रों के अलग–अलग बीजमन्त्र दिये गये है । मैने प्रत्येक चक्र के साथ उनके बीजमन्त्रों को अपने लेख में उद्धृत भी किया था, किन्तु वह श्लोक यहाँ नहीं आया है और फिर षट्चक्र की बात आप कह रहे है । मातृतन्त्र के ग्रन्थों में चार ही चक्र देखने को बहुधा मिलते हैं । उनमें से दो अन्य उष्णीष और गुह्य चक्र अद्वयतन्त्र कालचक्र और उसकी बृहट्टीका विमलप्रभा और मातृतन्त्र–ग्रन्थ वज्रमाला में भी मुझे देखने को मिले । इन सभी चक्रों में बीज–मन्त्रों का प्रयोग हुआ है ।

प्रो0 टाटिया जी ने जो अभी बताया कि चक्र कैसे आध्यात्मिक (शारीरिक या भौतिक) है, इसके बारे में मैं ज्यादा कुछ नहीं कह सकूँगा, क्योंकि मुझे लगता है यदि हम इसे आध्यात्मिक ही कहें, तो ज्यादा अच्छा होगा, क्योंकि इसे भावना के द्वारा, अर्थात् साधना के द्वारा समझा जाय, तो अच्छा होगा । बिना साधना के भौतिक (शारीरिक) रूप में दिखाई देंगे, इसमें

सन्देह है । सभी (मातृतन्त्र) ग्रन्थों में यह वर्णन मिलता है कि देह में कितने चक्र है, ये कहाँ पर स्थित हैं ? इन्हें आप तभी जान पायेंगे, जब आप स्वयं इसकी साधना (भावना) करेंगे ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी ने वज्रदेह के बारे में कहा है कि क्या यही देह वज्रदेह है, या यह दूसरा देह होगा । मैंने अपने लेख में शुरू से अन्त तक जगह-जगह उदाहरण देकर यह समझाने का प्रयास किया है कि यही देह (वर्तमान देह), अर्थात् पहले से वर्तमान यह भौतिक देह ही, मातृतन्त्र में बताई गई भावना की सहायता से वज्रकाय बन जायगा । अलग से कोई नया देह नहीं धारण करना पड़ेगा ।

प्रो० पी० पी० आपटे

यहाँ पर षट्चक्र के बारे में आपने कहा, वह मनोवैज्ञानिक हो सकता है, लेकिन उनके स्थान तो शारीरिक है न ।

डॉ० ठाकुरसेन नेगी

शारीरिक तो है ही, लेकिन भौतिक दृष्टि से यह कैसे स्पष्ट दृष्टिगत होंगे । वैज्ञानिक ढंग से वह स्पष्ट दिखाई देंगे या नहीं दिखाई देंगे, इस विषय में हम कहने की स्थिति में नहीं हैं । यह योगाभ्यास के अन्तर्गत हो सकता है ।

श्री पी० उर्ग्येन तेनजिन

इस सन्दर्भ में मुझे कुछ कहना है । नेगी जी के पक्ष में शायद होगा, क्योंकि अभी विद्वानों का यह कहना है कि जहाँ भी कुछ कहते हैं तो विदेशों से तुलना करने की कोशिश करते हैं । यह शायद इतना अच्छा साबित नहीं हो रहा है । इसमें जैसे किसी ने कहा कि ग्लैण्ड्स जो शरीर में हैं, उससे सम्बन्धित कुछ नाडी से तुलना कर रहे हैं, ऐसी बात नहीं है । जैसे अन्य भारतीय तन्त्रों में इडा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का स्वरूप बताया गया है, बौद्धों में जैसे ललना, रसना और अवधूती की जो व्यवस्था है, वह जहाँ तक ललना और रसना के रंग से लेकर उसमें जो वर्णित है और अवधूती के ऊपर जा कर ऊर्ध्व अवस्था में उसका इतना बड़ा होने की जो बात है, वैज्ञानिक पद्धति से उसे हम खोज नहीं पायेंगे, यही मुझे कहना है । यह तो ध्यानावस्था का एक क्रम है, उसको जानना ही शायद उचित होगा ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

डॉ० बनारसीलाल के निबन्ध में धान्यकटक में तृतीय धर्मचक्र प्रवर्तन हुआ, यह कहा है । इसका संशोधन कर लीजियेगा । यह तृतीय नहीं, चतुर्थ है । प्रथम सारनाथ में, द्वितीय गृध्रकूट में, तृतीय वैशाली में और चौथा धान्यकटक में । दूसरा आप ही के निबन्ध में आगे लिखा है कि मातृतन्त्र, पितृतन्त्र के भेद में जो मण्डलेश्वर पुरुष होता है या स्त्री होती है, उसमें भी भेद किया है । जो नायिका खड़ी रहती है या बैठी रहती है, उसमें भी भेद

किया है । ऐसी बात नहीं है । उसके इस सम्बन्ध में बहुत ज्यादा विचार-विमर्श हो चुका है और बहुत से तथ्य सामने आ चुके हैं । अब केवल इतना ही कह देना होगा कि बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये या साधक को परम लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये दो ही चीजे—उपाय और प्रज्ञा होती हैं । प्रज्ञा को एक विशेष अवस्था तक ले जाने के लिये या उसको प्रस्फुरित करने के लिये उपाय होता है । उस उपाय को विशेष रूप से प्रतिपादित करने वाले तन्त्र को मातृतन्त्र कहा जाता है और उपाय के पक्ष को एक विशेष अवस्था तक ले जाने के लिये नाना प्रकार के जो उपाय होते हैं, उन उपायों को जो मुख्य रूप से प्रतिपादित करता है, उसको पितृतन्त्र कहा जाता है । यहाँ पर प्रज्ञा क्या है और मातृ क्या है ? उसकी व्याख्या आपके निबन्ध में भी है और अन्य लोगों ने भी की है । यह ठीक ही है ।

डॉ० ठाकुरसेन नेगी जी के निबन्ध पर भी प्रश्नों का सिलसिला चल ही रहा है । उसमें हमको एक सन्देह है कि वज्रदेह सिद्ध किया जाता है या वज्रदेह पहले से बना हुआ है ? हमारा जहाँ तक ख्याल है, वज्रदेह सिद्ध नहीं किया जाता, वज्रदेह तो है ही । जिसके आधार पर वज्रकाय बनता है, वह वज्रदेह होता है और इस लिये वज्रकाय से मतलब वह सिद्ध वज्रदेह नहीं, तन्त्र में वर्णित वज्रदेह है । लक्ष्य वाला वज्रदेह नहीं है । यह जो वस्तु वज्रदेह है वह होता है वज्रदेह वज्रकाय, अर्थात् बुद्धत्व काय । वज्रदेह तन्त्र मे वर्णित बुद्धकाय नहीं है ।

दूसरा डॉ० टाटिया जी ने प्रश्न किया है और लोगों ने उसका कुछ समाधान कर भी दिया है । मैं थोड़ा सा उसमें संशोधन करना चाहूंगा कि तन्त्र में जितनी भी नाडियों का वर्णन है, यहाँ पर मण्डल होना चाहिये, चक्र भी होना चाहिये। भावना करने के जो स्थान हैं, इनका भी विशेष महत्त्व है । यह एक तरह से आध्यात्मिक हैं । लेकिन जहाँ तक उसमें आधारनाडी का सवाल है, वह भी शरीर में रहती है । वह नहीं रहेगी तो कहाँ से लायेगा । उसके रहने के बाद नाडियों के मर्माहत करने पर संवेदना पैदा होती है । शरीर में सुई चुभो दी जाय तो संवेदना पैदा होती है। भावना करने से सुई चुभ रही है, यहाँ पर कोई वेदना पैदा नहीं होती । इसलिये ये वस्तुगत चीजें हैं । इन वस्तुगत चीजों को मर्माहत करने से उनमें प्रतिक्रियाएं होती हैं । उन्हीं विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं का मार्गीकरण करके तान्त्रिक साधक आगे बढ़ता है । इसलिये इसमें जितनी नाडियों का वर्णन है, वह एक तरह से बायलोजिकली मानना चाहिये, उनको भौतिक मानना चाहिये, उनको भौतिक होना चाहिये । जितनी नाडियाँ हैं, उन नाड़ियों के अन्दर वायु का संचार होता है । जितनी नाडियों के अन्दर वायु का संचार होता है, उसके साथ-साथ कल्पनाएं भी चलती हैं । उन सूक्ष्म कल्पनाओं को एक-एक कर के निरोध नहीं करेंगे, तो उसमें जो ७२ हजार नाडियों की संख्या बताई गई है । उनका यहाँ पर एक-एक करके निरोध करना होगा, तो कब करेंगे ? इसलिये बाह्य भौतिक प्रयोग के साथ साधना के आधार पर, प्रयोग के आधार पर, उसको निरुद्ध किया जाता है । यह तान्त्रिक विशेषता है, नहीं तो जैसे योगशास्त्र में कहा गया है, वैसे ही

हमारे यहाँ ध्यान-भावनाओं में भी इस तरह के बहुत से प्रयोग हैं । इसमें भी सब हो जाता है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

क्या ध्यान-भावना सबमें होती है ?

प्रो० सेम्पा दोर्जे

नहीं, ध्यान-भावनाओं की जो हमारी ध्यानभूमियाँ हैं, सूत्र-पारमिता नय में जो ध्यान भूमियों की बात होती है, यहाँ हजारों प्रकार के ध्यान हैं, समाधियां हैं । वे सब उन कल्पनाओं को निरुद्ध करने के उपाय हैं । यहां पर केवल चित्तगत होता है, मनोवैज्ञानिक होता है । तन्त्र में मनोवैज्ञानिक नहीं होता, वहाँ पर वाइलोजिकल होता है । इसलिये उनकी विशेषता ज्यादा होती है ।

प्रो० नथमल टाटिया

वाइलोजी के मूल में अभिध्या है । अभिध्या के बल से नाडी का निर्माण होता है । सृष्टि के मूल में अभिध्या है, तो उस अभिध्या के बल में ध्यान में नाडियों का निर्माण होता है । नाडियों के निर्माण के पीछे मनोविज्ञान है, जिससे वाइलोजी हुआ है वह उसके प्रतीक है । ध्यान में हम उसके मूल में जाते हैं । हम इसको सुधार सकते हैं ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

मैं सोचता हूँ शायद हम इसको दूसरे प्रकार से सोचे कि हमारे शरीर में एक तो होता है चित्त और चित्त का वाहन होता है वायु । यह वायु भी चंचल है और चित्त भी चंचल है । इस शरीर में शुक्र भी स्थित है, जो अत्यधिक चंचल होता है । साधक उस चित्त को स्थिर करना चाहता है । वह उसे तत्त्व की ओर उन्मुख करता है, तत्त्व की ओर उसको प्रगतिशील बनाता है और तत्त्व का साक्षात्कार कराता है । यह जो ध्यानभावना की विधि विपश्यना वगैरह है, या जो पातंजल योग इत्यादि है, ये सब चित्त को एकाग्र करने की विधियां हैं । चित्त इससे एकाग्र होता है, लेकिन एक और भी बात है कि हमको उस आदमी को रोकना है, जो रेल से जा रहा है, तो हम रेल को यदि खडी कर दें तो वह आदमी भी रुक जाता है । चित्त जब कही भी गमन करता है, तो वायु के आधार पर करता है । हम उसका जो आधार है, चित्त का जो वाहन है, उस वायु को यदि किसी विधि से रोक देते हैं, तो चित्त भी एकाग्र हो जायगा । तन्त्र में विशेष करके चित्त को रोकने, नियन्त्रित करने, गतिशील बनाने इत्यादि के लिये इसका वाहक जो वायु है और जो विभिन्न नाडियों में वहन करता है, उसको जैसे कि सेम्पा दोर्जे जी ने कहा, उसको बाह्य उपायों के द्वारा भी मर्माहत कर के रोका जा सकता है । हम ध्यानभावना बहुत दिन करने के बाद जो चित्त की स्थिति प्राप्त करते हैं, तन्त्र के उपायों के द्वारा वायु को अवरुद्ध करके, नियन्त्रित करके हम उस स्थिति को जल्दी प्राप्त कर सकते हैं । इसीलिये कहा गया है कि तन्त्र का उपयोग इसमें

है कि यदि आप एक ही जन्म में अपने लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है, बुद्धत्व को प्राप्त करना चाहते हैं, या शिवत्व को प्राप्त करना चाहते है, तो ऐसा किया जा सकता है । इसी तरह से ठीक जैसे वायु चंचल है, ऐसे ही शुक्र भी चंचल है और इसके साथ भी चित्त का सम्बन्ध है, तो उसको भी नियन्त्रित करके, रोक करके चित्त के ऊपर नियन्त्रण किया जा सकता है । इसीलिये मातृतन्त्र में वसन्त के ऊपर ज्यादा जोर दिया जाता है और पितृतन्त्र में वायु की गति को निरुद्ध करने के लिये अधिक प्रयत्न किया जाता है ।

प्रो0 नथमल टाटिया

तन्त्र का उद्देश्य चित्त को रोकना नहीं है, चित्त को एकाग्र करके उसको गतिशील बनाना है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

चित्त के ऊपर नियन्त्रण करना, चित्त को अपने वश में करना, चित्त के स्वभाव को जानना और चित्त के ही साथ प्रज्ञा-कल्पना, इन सब का सम्बन्ध तो चित्त के साथ ही है । सारे ब्रह्माण्ड के ऊपर नियन्त्रण करने के लिये चित्त की धर्मता का ज्ञान बहुत जरूरी होता है और उसको जानने के ये उपाय है कि हम शुक्र और वायु को नियन्त्रित करके भी चित्त को नियन्त्रित कर सकते है ।

प्रो0 नथमल टाटिया

नहीं, यहाँ मेरा मतभेद है । देखिये तन्त्र का उद्देश्य वायु के द्वारा, वायु के नियन्त्रण से चित्त को रोकना नहीं है, चित्त को और गतिशील बनाना है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

गतिशील करना ही आप समझ लीजिये । नियन्त्रित करने का अर्थ है, उसके ऊपर आधिपत्य जमाना ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक बजने वाला है । अब दोर्जे जी कुछ बोलेंगे और उसके बाद बनारसीलाल जी यदि कुछ कहना चाहते हैं, तो कहेंगे ।

डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी

मै समझता हूँ प्रो0 टाटिया जी जो कह रहे है कि शरीर के हर अंग में कुछ वेदना या इस प्रकार की भावना करने की जो चर्चा धम्मपद आदि में है, वह नाडी, चक्र या इन सबसे सम्बद्ध नही है । मै समझता हूँ वह तो विपश्यना है । विपश्यना-भावना में यही होती है कि क्षण-क्षण को देखो, अग-अग को देखो, वहा पर तरंगे है । यहाँ चक्र से कोई सम्बन्ध नही है । वह तो मै समझता हूँ सामान्य है, वह सब तो शरीर में है, क्योंकि प्राण होने

की वजह से या चित्त के होने की वजह से है । एक के बाद दूसरा वह चक्र से सम्बन्ध कुछ नहीं है । तन्त्र में जो चक्र की व्याख्या है, वह चक्र होने से ऐसा नहीं है ।

दूसरी जो आप लोग वज्रदेह के बारे में बात कह रहे हैं, मै समझता हूं सूक्ष्म प्राण-चित्त, सूक्ष्म प्राण-वायु और चित्त का अभिन्न योग ही वज्रदेह है । तन्त्र की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि जब तक हम सूक्ष्म प्राण-चित्त और वायु की अभिन्नता को नहीं जानेंगे, तब तक तन्त्र की साधना सम्भव ही नहीं है । सूक्ष्म प्राण-चित्त की चर्चा कल के मेरे निबन्ध में भी थी । शरीर और चित्त यह जड़ और चेतन दो चीजें है । यह विपाक के द्वारा प्राप्त है । मृत्यु की अवस्था में शरीर और चित्त अलग हो जाते है, तो यह देह वज्रदेह नहीं है, क्योंकि यह सम्बन्धविच्छेद हो रहा है, मृत्यु हो जाने पर शरीर यहीं रह जाता है और चित्त चला जाता है । दूसरी बात स्वप्न में है । शरीर यहाँ सोया है, लेकिन चित्त शरीर के रूप में प्रकट होकर के कहीं जा रहा है । एक प्रकार से मायाकाय के रूप में विपाक-वासना के बल से मैं यहाँ सोया हूँ, लेकिन मेरा चित्त किन्नौर में है, हिमाचल में कहीं घूम रहा है । यह भी एक शरीर हुआ, चित्त भी हुआ, उसे कहते है स्वप्नकाय । यह स्वप्नकाय भी वज्रदेह नहीं हो सकता । यह शरीर भी वज्रदेह नहीं हो सकता, तब वज्रदेह क्या होगा ? वज्रदेह वह होगा, जो अनादि काल से चित्त के साथ वायु का अभिन्न रूप से संबन्ध चला आ रहा है, जिसको पंचप्रभामय भी कहा गया है । यही रूप पंचप्रभामय (पंचरश्मि) प्राणवायु जो कहा है, प्राणायाम के समय में जो भावना करते है, वही तो है । अन्य वायुओं के साथ साधना का सम्बन्ध नही रहता । वह तो अनादि काल से है । चित्त में गति नही है । चित्त को गति देने वाला वायु है । जब हम वज्रकाय के रूप में परिवर्तित होते है, वज्रधर के रूप में काय की निष्पत्ति जो होती है, वह वायु के द्वारा होती है, चित्त के द्वारा नहीं । यद्यपि चित्त और वायु सम हैं, अभिन्न हैं, इसलिये बुद्ध का शरीर जहाँ पर हैं, वहीं पर चित्त है और जहाँ चित्त है, वहीं शरीर है ।

प्रो० नथमल टाटिया

चित्त ज्यादा मुखरित है या वायु ?

डॉ० वाङ्छुग् दोर्जे नेगी

चित्त और वायु एक साथ है । चित्त और वायु अभिन्न है । काय-वाक्-चित्त अभिन्न हैं ।

प्रो० नथमल टाटिया

तन्त्र का मूल उद्देश्य विच्छिन्न होना नहीं है, तन्त्र को आप गलत तरीके से प्रस्तुत कर रहे है ।

डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी

काय-वाक्-चित्त अभेद्य हैं, इसकी व्याख्या आप कैसे करेंगे ? काय ही चित्त है, चित्त ही वाक् है, वाक् ही काय है, इसकी व्याख्या कैसे करेंगे ? गुह्यसमाज में यह कहा है कि काय ही चित्त है, चित्त ही काय है, इत्यादि । इस वचन से तो इनकी अभिन्नता ही सिद्ध होती है ।

प्रो0 येशे थपख्ये

यह जो वायुमण्डल और नाडीमण्डल के विषय में यहाँ चर्चा चल रही है । इससे चित्त को रोका जाता है, उसे किसी एक स्थान पर स्थिर किया जाता है । वह तो होता ही है । लेकिन यहाँ इसका मुख्य अर्थ यही नहीं है कि चित्त एक जगह पर स्थिर हो । वह तो वायु के बिना भी, मण्डल की भावना के बिना भी हो सकता है । यहाँ हमारे विचार से वासना अथवा कल्पना उसका अर्थ होता है । स्थूल वायु जब चलने लगता है, तब बुद्धि या कल्पना उत्पन्न होने लगती है। इसीलिये यहाँ जो वायु को रोका जाता है, तब स्थूल विचार सब बन्द हो जाते हैं, सूक्ष्म विचार आ जाते हैं, सूक्ष्म ज्ञान आ जाता है । जैसे कि मृत्यु हो जाने पर हम सब कुछ भूल जाते हैं, किन्तु हमारे जीवन के सारे अनुभव वासना के रूप में संचित रहते हैं, उसी तरह से एकदम सूक्ष्म ज्ञान, शुद्ध आकाश की तरह आ जाता है, उसको सूक्ष्म ज्ञान कहा जाता है । वह जो मरते समय आता है, वैसा ज्ञान अभी से प्राप्त करने के लिये वायु को रोका जाता है । जब यह एकदम रुक जाता है, तो वह सूक्ष्म ज्ञान आ जाता है । सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा तत्त्व को प्राप्त करने के लिये या सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा देवमण्डल की भावना करने के लिये वायु रोकना आदि यह सब होता है ।

अभी जो आप कह रहे है कि शरीर और वायु एक है, लेकिन शरीर और वायु एक नही है । तन्त्र में शरीर दो प्रकार का वर्णित है—स्थूल शरीर, जो मांस, हड्डी से बना है । दूसरा सूक्ष्म शरीर है । सूक्ष्म शरीर वायु को कहा जाता है । सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म ज्ञान ये दोनों अभिन्न हैं । काय-वाक्-चित्त की एकता का समाधान इसी प्रकार किया जा सकता है ।

तन्त्र में तो यह देव जैसा है । देवता का शरीर और मन एक ही होता है । देखने में शरीर के रूप में देवता है । मन ही अद्वैत है । काय और मन जो है अद्वैत है, दो भिन्न नहीं है । एक रूप हो, एक ज्ञान हो, तो स्वरूप भी एक होता है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

जड़ और चेतन की एकता कैसे हो सकती है ? जो आलम्बन को नहीं जानता, सिर्फ आलम्बन होता है, उसको जड़ कहते हैं । जो जानता है और आलम्बन करता है, उसको हम ज्ञान कहते हैं । ये दोनों अभिन्न नहीं हो

सकते, क्योंकि इनका स्वभाव भिन्न है । भिन्न स्वभाव, विपरीत स्वभाव एक वस्तु का नहीं हो सकता ।

प्रो० येशे थपख्ये

यहाँ अभिन्न का मतलब स्वरूप की अभिन्नता से है । सूक्ष्म वायु ही ज्ञान है और ज्ञान ही सूक्ष्म वायु है, यह नहीं कहा जा रहा है, यह जो इनका स्वरूप है, वह एक है, इनका अलग स्वरूप नहीं है । एक चीज जो चलती है, इसी को वायु कहा जाता है, वही किसी की आलम्बन होती है और इसको जो जान लेता है, ज्ञान हो जाता है । इसलिये यह सब एक ही चीज है, इसलिये स्वरूप एक ही है । स्वरूप एक है इसका मतलब एकदम एक है, रूप भी ज्ञान है, ज्ञान भी रूप है, इसका मतलब नही है । हमारा शरीर और मन तो भिन्न है, स्वरूप भिन्न है हमारा, जब तक मन और शरीर भिन्न रहता है, तब तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं होता । यहाँ तन्त्र में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये शरीर और मन भिन्न न हो, मन ही शरीर के रूप में दिखाई दे, तभी तो वज्रकाय आता है, नहीं तो वज्रकाय नहीं है । वह तो जैसा हमारा काय है, वैसा ही है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

क्या दूध और पानी के मिल जाने की तरह से है ।

प्रो० येशे थपख्ये

हाँ, दूध और पानी जैसा है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

निबन्ध के सम्बन्ध में दिव्यवज्र वज्राचार्य जी भी कुछ कहना चाहते हैं ।

श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य

मेरे ख्याल में आपके जितने भी यहाँ लेख है, प्रायः तिब्बती ग्रन्थों से उनकी सामग्री ली गई है, संस्कृत से नही । इसीलिये मेरे ख्याल में जो नामसंगीति में है, उस विषय में प्रवेश नही हुआ, क्योंकर प्रवेश नही हुआ ? यह मेरा प्रश्न है । अर्थात् बिन्दु की बात हुई । बिन्दु चार प्रकार के है । जैसे "षोडशार्धार्धबिन्दुधृक्" यह भगवान् का नाम है । यहां षोडशार्ध का मतलब है आठ, उसका भी आधा चार होगा । इस प्रकार चार बिन्दुओं की चर्चा यहाँ आई है । इन चार बिन्दुओं के विषय में भी आप प्रकाश डाले तो अच्छा होगा ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक बज गया है । अब हम लोग इस चर्चा को यहीं समाप्त करें ।

●

SOME ASPECTS OF THE YOGATANTRA IN BUDDHISM

—S.K. Pathak—

A deep reverence to the feet of the revered teacher by whose grace a humble attempt is being made to express that which goes beyond the path of speech.

The tantra may be described as a methodology of widening man's individual energy up to the extent of all beings in all worlds. That energy pervading the universe is the Cosmic Energy. The term *tantra* is derived from Sanskrit root √*tan* meaning to extend, to spread. The Tantra is practical as well as scientific knowledge in order to extend man's potentiality for the good and welfare of beings. The aim of the Tantra refers to the extension of an individual's life-force in the universe; that is, to spread over the inner effulgence of an individual to the cosmic effulgence in the sphere.

The origin of Tantra is controversial and that may be discussed in details elsewhere. In brief, the Tantra probably originates from the laws of Nature reflecting on man's mind since the primitive days of human culture. In the early days of human history the primitive men could explore an existence of inherent power within themselves. They visualised embodiments of that power pervading all over the earth, the sun, the moon, the planets and the stars above. Every person may endeavour to be identical with the other phenomena of the Nature so that the quantum of a person's innate energy laid within becomes explicit. The Yogatantra is an experiment in that direction.

Yogācāra and Yogatantra

Ārya Asaṅga (4th cent. A.D.), in his *Bodhisattvabhūmi* and in the fifteenth chapter of the *Yogācārabhūmi*, mentions about the Supreme-stage (*parama-vihāra*) of a Bodhisattva to roam in delight before he becomes the Samyaksambuddha, Tathāgata, Bhagavān or Śāstā. It is called *Dharmameghabhūmi* by the author as the *Daśabhūmika-sūtra* also reads. Asaṅga further elucidates: "As the rains pour down from the clouds and make the sentient beings relieved (from the warmth in the summer), the Bodhisattva remaining in the Tenth stage of Gradual path, *Dharmameghabhūmi* spontaneously spreads the True-way (*saddharma*) to wipe out the turbidities of the sentient beings (in the world where the suffering

prevails) with or without being himself accomplished in the *Abhisambodhi* i.e. (perfect enlightenment of the Complete Enlightened one)." Moreover, the Bodhisattva grows crops having the roots of meritorious deeds (*kuśalamūlaśasyāni*), nurtures and harvests them on the earth accordingly. It is, therefore, named *dharmamegha* which is also *paramavihāra* (supreme stage) to reside in the delight of a Bodhisattva.

The practice of Yoga (Skt. *yogacaryā, T. rnal 'byor spyod pa*) has been emphasised in the Mahāyāna Sūtras occasionally. Ārya Asaṅga also has cited in various contexts from the *Bhavasaṅkrānti-sūtra, Bodhisattvapiṭaka* (now lost), *Lakṣaṇasūtra* etc. The *Prajñā-pāramitāsūtras*, viz., the six (basic) texts: *Śatasāhasrikā* (Toh. 8), 2. *Pañcaviṁśatiśatasāhasrikā* (Toh.9), 3. *Aṣṭādaśaśatasāhasrikā* (Toh.10), 4. *Daśasāhasrikā* (Toh.11), 5. *Aṣṭasāhasrikā* (Toh.12), 6. *Sañcayagāthā* (Toh.13) together with *Pañcaśatikā Prajñāpāramitā* (Toh.15), *Suvikrāntaparipṛcchā-sūtra* (Toh.14), *Vajracchedikā Prajñāpāramitā* (Toh.16), the *Samādhirāja-sūtra* (Toh.127), *Laṅkāvatāra-sūtra* (Toh.107), *Pañcaśatikā Prajñāpāramitā* (Toh.18), *Saptaśatikā Prajñāpāramitā* (Toh.14), *Prajñāhṛdaya* (Toh.21), *Kauśika Prajñāpāramitā* (Toh.19), *Svalpākṣarā Prajñāpāramitā* (Toh.22), *Ekākṣarīmātā* (Toh.20), *Pañcaviṁśati Prajñā-pāramitāhṛdaya* (Toh.20) and *Subāhuparipṛcchā-sūtra* also deal with the Yoga practice with eight-fold mindfulness visualisation (*abhisamaya*) of the essencelessness of reality (i.e. *prajñā* or *śūnyatā*).

It may be noted that the term *yoga* is usually observed in the sense of spiritual unification. In the Theravāda texts in Pali, the terms *jhāna, samāpatti, vipassanā, vidassanā* are frequently used in the sense of 'meditation'. The application of mind towards unification is found in *Pravrajyā-vastu* of the *Mūlasarvāstivādi-vinaya* in Sanskrit. The text reads : Thus Bhagavān says: Yoga is the act of sitting (*niṣadyā ucyate yogaḥ*). Oh brethren, you do watch upon and think about your body as such containing various filthy contents from the hair on your head to the feet of your legs unto your skin (*etad yūyaṁ bhikṣava imaṁ eva kāyam ūrdhvaṁ pādatalād adhaḥ keśamastakāt tvakparyantaṁ yathā sthitaṁ yathā praṇihitaṁ pūrṇaṁ nānāprakārasyāśuceḥ pratyavekṣadhvam* //[1]

---

1. *Vinayavastu* 1950:72.

The sayings correspond to the mindfulness (*satipaṭṭhāna*) of one's body as constituted by different physiological elements (*kāye kāyānupassanā*) as dealt with in the *Satipaṭṭhānasutta* of the *Majjhima-nikāya*. It may be added that the *Vipassanā* practice had prevailed in the *saṅgha* during the lifetime of Śākyaputra Gautama, especially among a section of monks who were known as *vipassanādhara*. But they were mostly engaged in the psychic practice for attaining mental concentration profoundly as mentioned in the *Suttapiṭaka*, and in the *Dhammasaṅgaṇī* and other *Abhidhamma* texts in Pāli.

In the Vaiśālī council, there had been a charge raised by Mahādeva that the Arhats could not always reach the higher concentration as that would be. Later on, the Mahāsāṅghika and the Sthaviras having higher or medial mental faculties (*paṇīta*, *majjhindiya*) claimed distinct from them who had low sensitive powers (*mudindiya*). They laid emphasis on developing the practice of *yoga* beyond the intellectual level as high as to the supra-mundane etheral sphere.[1]

The *Yogācārabhūmi* of Ārya Asaṅga is thus an explanatory compendium of the progress made from the 6th cent. B.C. to the 4th cent. A.D., when the Śākyaputra personally experienced the higher stage of spiritual accomplishment by the Yoga practice.

The Yogatantra stands upon the experience of Śākyaputra Gautama in this respect, though it presents its application in a specific treatment. The Yogatantra, therefore, appears to many modern scholars as an external element of non-Buddhist esoterism entered in Buddhism which was primarily ethical. Exposition of the Tantra in Buddhism is described by them as the 'Later Buddhism' promulgated by Asaṅga and subsequent exponents of Buddhism. However, those views require thorough probing.

The Yogatantra had grown out of the early endeavours of spiritual practices prevalent among a section of Buddhist monks. That subsequently developed in course of schismatic enterprises among the Sthaviras and the Mahāsāṅghikas who promulgated the Mādhyamika and the Yogācāra thoughts in Buddhism. The

1. *Kathāvatthu* II.4.

Yogatantra has therefore affinity with the Buddhist thought which presumably belonged to the pre-schismatic period of the *Saṅgha*. According to the traditions referred to by Buddhaguhya (8th cent. A.D.), an Indian teacher, contemporaneous of Khri srong lde btsan of Tibet, the Yogatantra was experienced by Śākyaputra Gautama personally, in course of his severe esoteric practices on the bank of Nirañjanā river at Vajrāsana (now Bodhgayā). Ānandagarbha also cited the same tradition in his commentary (Toh.2509-2510) of *Sarvatathāgata-tattva-saṅgraha-nāma-mahāyāna-sūtra* (Toh.479). Śākyaśrīmitra, in his *Kośalālaṅkāra* (Toh.2503), also reiterated the tradition about the deliberation of the Yogatantra at the Mount Meru when Śākyaputra Gautama Sarvasiddhārtha attained the *abhisambodhi* with five-fold higher knowledge of being the omniscient (*sarvajña*). Further probing of the tradition from the Mahāyāna Sūtras requires a separate study. However, a nucleus of the *samyaksambodhi* (*Pāli-sammāsambodhi*) and *abhisambodhi* may also be traced in the Pāli sources.

Objectives of the Yogatantra

The Yogatantra is an applied measure in order to achieve the following objects:

1. *The accomplishment of being the* Complete Enlightened One (*Abhisambuddha*).

The appositions of Śākyaputra Gautama as *buddha* (*saṅs rgyas*), *samyaksambuddha* (*yaṅ dag par saṅs rgyas*), *śāstā* (*ston pa*), *bhagavān* (*bcom ldan 'das*) have been attributed for the completion of the higher level of esoteric attainment by a Bodhisattva remaining in the tenth stage of *bhūmi* (gradual course for the Enlightenment) as mentioned in the *Daśabhūmika-sūtra* and as was referred to by Asaṅga. On accomplishment of the fifth *abhisambodhi*, the attainer possesses marvellous attributes and thereby becomes *bhagavān*.

2. *Equality with all the Tathāgatas*

By the attainment of *dharmadhātujñāna* (*chos kyi dbyiṅs kyi ye śes)* which is the essence of (four-faced) Vairocana (*rnam par snaṅ mdzad*), the accomplished one becomes adorned with thirty two characteristics (*dvātriṁśan mahāpuruṣalakṣaṇānī*) of Tathāgata together with eighty minor marks (*aśītiḥ anuvyañjanānī*) in his *Sambhogakāya* (*loṅs spyod kyi sku*). In the process of developing

the Omniscience of the Buddha, the *dharmadhātujñāna* is regarded as the highest knowledge according to the Yogatantra of the Tathāgata-kula where the accomplished Abhisambuddha achieves equality with the Tathāgatas. It is an approach of synthesis where no variable occurs at the micro-cosmic and macro-cosmic levels in the universe.

3. *His appearance in the world of man in the nirmāṇakāya for delivering all the sentient beings from their suffering.*

Since the *Sambhogakāyika* resides in the celestial *Akaniṣṭha* abode where five-fold certainties prevail by dint of his accomplishment, his marvellous appartition (*nirmāṇakāya*) appears in the world of sentient beings, especially that of human beings who have been suffering from the times immemorial on account of cravings and other turbidities in the mind. His *nirmāṇakāya* is *vajrakāya*, though he displays the proper livelihood with moral precepts and adopts measures to defeat Māra and other hindrances like an accomplished teacher (*śāstā*). He thus unifies the mundane with the cosmic realm as there lies no distinction ultimately.

4. *In respect of the mortal, the Yogatantra aims at overcoming death (mṛtyuñjayitā) after destroying the sensual allurement (māravidhvaṁsana).*

A capable Yoga practitioner of the Buddhist tantra succeeds in overcoming death by controlling himself from the sensual allurement. The life-story of Śākyaputra Gautama is an instance how to destroy the sources of sensual allurement (*māravidhvaṁsana*) by dint of the practice of the Yogatantra. The Tibetan account of Nāgārjuna's life-length for several centuries is not probably a myth, when the Yogatantra claims the overcoming of death in respect of the mortal (*mṛtyuñjayitā*). The *mahāparinirvāṇa* of Śākyaputra Gautama is however regarded as the elimination of his mortal apartition in the world of human beings when the *Abhisambuddha* in his *Sambhogakāya* resides in the celestial abode *Akaniṣṭha* .

The Categories (*tattva*)

For attaining the above objectives, the Yogatantra of the Buddhists enumerates thirty-seven categories (*tattva: de kho na ñid*), according to the *Sarvatathāgata-tattvasaṅgraha-nāma-mahāyāna-sūtra* and its commentaries by Buddhaguhya and his disciple Padmavajra

(8th cent. A.D.). Those thirty-seven *tattvas* of the Yogatantra according to *Tantrārthāvatāravyākhyā* (Toh. 2502) of Padmavajra are :

1. *Hṛdaya* (*sñiṅ po*) heart; syllabic incantation; 2. *Mudrā* (*phyag rgya*), joyous gesticulation; 3. *Mantra* (*sṅags*) selected symbolic letters; 4. *Vidyā* (*rig*) application of theory, knowledge; 5. *Adhiṣṭhāna* (*byin gyi brlabs*) divine appearance for blessing; 6. *Abhiṣeka* (*dbaṅ bskur*) coronative bathing; 7. *Samādhi* (*tiṅ ṅe 'dzin*) mental equillibrium; 8. *Pūjā* (*mchod pa*) worship; 9. *Ātmatattva* (*bdag gi de kho na ñid*) individuality; 10. *Devatattva* (*lha'i de kho na ñid*) divinity; 11. *Maṇḍala* (*'khor lo*) divine residential complex; (as shown in circle, quandrangle diagrams); 12. *Prajñā* (*śes rab*) wisdom; 13. *Upāya* (*thabs*) method towards perfection or accomplishment; 14. *Hetu* (*rgyu mtshan*) causal characteristics; 15. *Phala* (*'bras bu*) effect of a cause; 16. *Yoga* (*rnal 'byor*) esoteric unification; 17. *Atiyoga* (*a ti yo ga*) higher Yoga; 18. *Mahāyoga* (*rnal 'byor chen po*) great Yoga; 19. *Guhyayoga* (*rnal 'byor gsaṅ ba*) secret yoga; 20. *Sarvayoga* (*kun tu rnal 'byor*) total unification; 21. *Japa* (*bzlas pa*) muttering; 22. *Homa* (*sbyin sreg*) fire sacrifice; 23. *Vrata* (*dam tshigs*) vow; 24. *Siddhi* (*bsgrub pa*) accomplishment; 25. *Sādhana* (*sgrub pa*) practice towards an accomplishment; 26. *Dhyāna* (*sgom pa*) meditation; 27. *Bodhicitta* (*byaṅ chub sems*) immanent deep mind; 28. *Śūnyatājñāna* (*stoṅ pa ñid kyi ye śes*) knowledge of essencelessness; 29. *Ādarśajñāna* (*me loṅ lta bu'i ye śes*) mirror-like reflective knowledge; 30. *Samatājñāna* (*mñam pa ñid kyi ye śes*) knowledge of equality; 31. *Pratyavekṣaṇājñāna* (*so sor rtog pa'i ye śes*) discriminative knowledge; 32. *Kṛtyānuṣṭhānajñāna* (*bya ba sgrub pa'i ye śes*) duty-bound knowledge for observance; 33. *Viśuddha-dharma-dhātu-jñāna* (*chos kyi dbyiṅs kyi ye śes*) knowledge of the pure *dharmadhātu*, 34. *Ākarṣaṇa* (*dgug pa'i bya ba*) attracting (by invitation); 35. *Praveśana* (*gzhug bya ba*) making the entrance; 36. *Bandhana* (*bcing gi bya ba*) binding; 37. *Vaśīkaraṇa* (*dbaṅ gi bya ba*) subduing.

Comparatively speaking, the Śaivatantra of the Vedic tradition, which also lays emphasis on the Yoga practice divides thirty-six categories (*tattva*) in three groups on the basis of purity (*śuddha*), impurity (*aśuddha*) and purity-impurity (*śuddhāśuddha*). Those are:

A. 1. The Primordial Tranquility (*śiva*) of the Nature; 2. the Omnipotent Energy (*śakti*) functioning-force in the Nature; 3. the Omnipresence (*sadāśiva*); 4. the Omnipotence (*īśvara*); 5. the Omniscience (*śuddhā-vidyā*).

B. 1. Illusion (*māyā*); 2. Time (*kāla*); 3. Conductor (*niyati*) of the life of sentient beings; 4. Partition (*kalā*) of a whole; 5. Application of the Truth (*vidyā*); 6. Amorous feeling (*rāga*); 7. Masculineness (*puruṣa*).

C. 1. Immutation (avyakta); 2-4. three-fold attributes (*guṇatraya*); 5. intellect (*buddhi*); 6. I-ness or ego (*ahaṁkāra*); 7-9. The mind & its knowing faculties; 10-14. Five sense organs (*pañcajñānendriya*); 15-19. Five subtle elements (*tanmātra*); 20-24. Five great elements i.e. the sky, air, fire, water and the earth).

In the Śāktatantra thirty-six categories are enumerated differently, Such as; 1-5. Five great elements (*pañca mahābhūtāni*); 6-10. Five sense perceptions (*pañca indriyāṇi*), namely *gandha, rasa, rūpa, sparśa* and *śabda*), 11. the Self (*ātmatattva*), 12. the soul of an individual (*jīvātman*), 13. the Supreme spirit (*paramātman*), 14. the Generality (*sattā* of a being), 15. Application of the Truth (*vidyā*), 16. Abstaining from work (*nivṛtti*), 17. the Prime matter (*prakṛti*), 18. the Great principle i.e. (*mahat*) intellect, 19. I-ness or ego (*ahaṁkāra*), 20. Five subtle elements (*pañcatanmātra*), 21. Varieties of existence (*bhavaprapañca*), 22. Varieties of non-existence (abhāvaprapañca), 23. Non-duality (*advaita*), 24. Inclination (*vāsanā*), 25. Wisdom (*prajñā*), 26. Knowledge (*pramāṇa*), 27. Transcendent knowledge (*paramārtha*), 28. Fallacious knowledge (*ābhāsa*), 29. Reflection (*pratibimba*), 30. Subtleness (*sūkṣma*), 31. Supreme identification (*kaivalya*), 32. the Awareness (*caitanya*), 33. Awakening (*prabodha*), 34. the Mental receptacle (*āśaya*) 35. Bliss (*ānanda*), 36. Pervading by the Supreme (*Brahmamaya*).

The categories enumerated above do not tally prima-facie and show external difference between the Śaiva-tantra based on *Vaidika śruti* and the Bauddha tantra. The latter disowns the authority of the Vedas (*veda-prāmāṇya*).

The above mentioned categories in the Śaiva tantra appear to have been systematised in camparison to those mentioned in the *Sarvatathāgata-tattvasaṁgraha.*

In this connection, the word *tattva*, (derived as *tat-tva* in Sanskrit), suggests thatness, the true or the essential nature. Its Tibetan rendering *de ñid / de kho na ñid* is appropriately constructed by the Tibetan translators (*Lo tsa bas*) In the Buddhist philosophical context *tattva* usually refers to Tibetan *stoṅ ñid* (*śūnyatā*) which is the true essential nature of the reality. In this respect the interpretation of *tattva* in philosophical perspective mentioned by Śāntarakṣita in his *Tattvasaṁgraha* followed by the commentator Kamalaśīla may also be noted. The word is to be understood from its context. For instance :

Hevajratantra-rāja (Toh. 417/TTRI/1.10) which is regarded as a Prajñā-Heruka/Hevajrakula Anuttarayoga tantra enumerates four categories (I.I.27), namely, the category relating to an individual (*ātmatattva*), to the self nature of divinities like Hevajra (*deva-tattva*), the selected symbolic syllables (*mantra-tattva*) and the sublime knowledge of Great Delight with no display (*mahāsukha-nisprapañca*) *jñāna-tattva.*

While, the *Vajrahṛdayālaṁkāra-tantra* (Toh.451) an Upāya tantra of the Akṣobhyakula and a Vyākhyātantra of Anuttarayoga has two kinds of categories, such as, external (*phyi ma*) and internal (*gsaṅ ba*) enumerating ten categories in each. Tsoṅ kha pa in his *Slob ma'i re ba kun skoṅ* (Toh.5269) has quoted them and has shown a tendency of systematisation of the categories subsequently. The *Tattvapradīpa-nāma-mahāyoginītantrarāja* (Toh.423) of Prajñākula for Anuttarayoga also mentions the categories. One may consult the *Tattvapradīpa-nāma-tantraratnamālāpañjikā*, a commentary by Mahāsukhavajra (TTRI 56/2335) in this connection.

Several other texts dealing with the categories with reference to four-fold Tantra are divided into the Upper Tantra (*rgyud stod*) by laying emphasis on esoteric practice and the Lower Tantra (*rgyud smad*) with an emphasis on ritualistic observances.

The *avara-tantra* (*rgyud smad*) usually includes *Kriyā* (*bya rgyud*), *Caryā* (*spyod rgyud*) and *Yoga* (*rnal 'byor rgyud*) while the *pravara/anuttara tantra* (*rgyud stod*) consists of *yogottara* (*bla na'i*

rnal 'byor rgyud) and *anuttara-yogatantra* (*bla na med pa'i rnal 'byor rgyud*). Thus, esoteric practice in the Tantra becomes obligatory in respect of a *vajrācārya* to ascend the spiritual grades towards the stage of generation (*utpattikrama*).

The categories are impermanent

The categories of the Yogatantra in Buddhism are however not permanent. In refutation of the concept of category held by the followers of the Vedic schools, Śāntarakṣita says:

kiṁ vā nivartayed yogī yogābhyāsena sādhayet /

kiṁ vā na hātuṁ śakyo hi viparyāsas tadātmakaḥ // 334

tattvajñānaṁ na cotpādyaṁ tādātmyāt sarvadā sthitaḥ /

yogābhyāso 'pi ten'āyaṁ saphalaḥ sarva eva ca // 335

Kamalaśīla makes his position clear by stating the Upaniṣadic stand-point here:

yogābhyāsakrameṇa ca pariśuddhatara-tamajñānotpādād apariśuddhajñāna-santānanivṛtter apavargaḥ prāpyata iti saphalo mokṣaprāptaye prayāsaḥ // comm. on verse 333 .

But as long as the knowledge of permanence is not withdrawn, no knowledge of real category arises: *yāvatā no tāvad asau viparyāsaṁ nivarttayati, yasmād asau viparyāsas tadāmakas* (*nityajñānātmakaḥ*) *tasmān na hātuṁ śakyaḥ //* (Pañjikā). Śāntarakṣita also refutes the Vātsīputrīya outlook according to which an existence of phenomenon or entity of an individual (*pudgala*) in conventional appearance is not tenable.

No demarcation about the reality of the categories (*tattva*) may be admissible as the Vātsīputrīya holds. Śāntarakṣita thus reads:

bhedābhedavikalpasya vastvadhiṣṭhānabhāvataḥ //

tattvānyatvādyanirdeśo niḥsvabhāveṣu yujyate // 340

The *Aṣṭasāhasrikā-prajñāpāramitā*, therefore, reads: "Kulaputra, *Tathatā* (equivalent to *tattva* derivatively) neither appears nor disappears, *Tathatā* bears no mobility, *Tathatā* is like thatness. No coming nor going of Tathāgata thus occurs".

na hi kulaputra tathatā'gacchati na gacchati vā'calitā tathatā evam eva kulaputra tathāgatasyā' gamanaṁ vā gamanaṁ vā na prajāyate ?

Padmavajra in his *Guhyasiddhi* reiterates the idea by describing as:

tattvaṁ hi kalpanābāhyaṁ sarvopādhivivarjitam /
nirnimittaṁ nirābhāsaṁ nirdvandvaṁ paramaṁ śivam //
yāvat vikalpyate yuktyā śāstrāgamavidhikriyā /
tāvat vistaratāṁ yāti tailabindur ivāmbhasi // 1.20-21

In that case the above enumeration of categories (*tattva*) becomes meaningless. Keeping that in view Padmavajra states:

prathamaṁ tattvena vijñāya tattvasiddhe(r)vidhānakam /
tataḥ saṁvṛtim utpādya bhavanādiṣu tattvataḥ //
paścāt caryāṁ prakurvīta tattvadīpita-mānasaḥ /
tada(na)ntaraṁ tu vai kāryaṁ vrataṁ vidyāsamanvitam //
1.23-24

+ + + + +

vrataṁ vināpi sidhyanti sādhakās tattvatatparāḥ /
tattvahīnā na sidhyanti cīrṇāvrataśatair api // 1.26

Candrakīrti (7th Cent. A.D.), in his commentary *Pradīpodyotana* of the *Guhyasamājatantra* mentions that the *tattva* is to be accumulated (lit. *āhāra* denotes swallowing as well as accumulating) for accomplishment of *abhisambodhi.*

tattvānuttaram evedaṁ bodhicittaikasambhavam /
sidhyate nirvikalpārtham anāvilam asaṁskṛtam //
mām iti māmakī proktā sam abhisambodhisaṁjñakam /
tattvadhyānaprītikāhāraṁ māṁsam ceti tad ucyate // p.61

The verse is a citation from the *Vyākhyātantra* (*bshad rgyud*) by Candrakīrti.

Indrabhūti (8th Cent. A.D.) in his *Jñānasiddhi* and Advayavajra (11th Cent. A.D.) in his *Tattvaprakāśa* and *Tattvadaśaka* have dealt with the *tattva* and its conceptual development with reference to the *Yogatantra* and *Advaya-niruttara-(prajñopāya)-yoga.*

The above discussion shows the difference in approach between the *tantra* practised by the Buddhists and the tantra followed by the *Śaiva* and the *Śākta*. The latter two hold the *tattva* as eternal and permanent:

āmahāpralayasthāyi sarvaprāṇyupabhogakṛt /
tattvam ity ucyate tajjñair na śārīraghaṭādyataḥ //
Tantrāloka, Āhnika 9, p.6

In the Sāṅkhya system, the enumeration of twenty-four categories partially agrees with the *Śaiva* and the *Śākta* enumeration though they are regarded as permanent. The Saubhāgyabhāskara, the celebrated commentary on the Śāktatantra *Lalitā-sahasranāma* suggests the identification of the categories with: *śaktiḥ sarvamayī kṣityādiśivāntā tattvābhinnā* (*Saubhāgyabhāskara*, p.67).

Hṛdaya(*Sñiṅ po*)

A practitioner (*sādhaka*) is primarily a learner or apprentice (*śaikṣya*) who accumulates spiritual bliss through the mundane experiences. The *Tantra*, in general, refers to the series of experiences *ad continuum* till the goal is achieved. A practitioner, therefore, always makes himself competent to go beyond learning (*aśaikṣya*) through series of experiences *ad continuum* and, as soon as the practitioner attains his goal, no more endeavour for reaching the end persists. The *Guhyasamāja-tantra* explicitly mentions that tantra is *prabandha*. An apprentice thus gathers an experience through continuous experiments about this world and its beyond. *Kriyā-tantra* and *Caryā-tantra* lay emphasis on the purification of a practitioner's body, speech and mind by observance of moral precepts (*śīla*), mindfulness to attain concentration (*samādhi*) and the wisdom (*prajñā*) regarding the essencelessness of phenomenal entities (*dharmanairātmya*) which hold no self-nature (*niḥsvabhāva*). The practice of *pāramitā* is regarded important and, thereby, no methodical discrepancy in becoming the Buddha is found in the *Prajñāpāramitā-naya* and the *Mantranaya* at this stage. Several Tibetan scholars explained an intrinsic similarity of the Pāramitā practice and that of the Tantra.

The term *hṛdaya*, which is popularly translated as 'heart' or 'essence' in English, holds a significant import in the *Yogatantra*. Padmavajra (693 A.D.) in his *Guhyasiddhi* thus mentions:

srașțā tantrasya hṛdvajro vaktā sa eva deśakaḥ /
abhāvas tāvad anyasya varjayitvā mahāsukham //2.5

Here *hṛdvajra* has been read in three manuscripts as *hevajra* which appears to be scriber's alteration. Its Tibetan translation *thugs rje che* helps to determine the meaning. Because, *hṛdaya* is the base of *Vajra-yoga*. The *Yogatantra* thus enumerates *hṛdaya* as one of its categories (*tattva*). Krișṇapaṇḍita and Lo tsa ba Dge stoṅ Tshul khrims rgyal ba elaborate in this respect.

"The word *yoga*, being derived from the Sanskrit verb-root √*yuj*, literally means that which unites. It is ordinarily rendered as the union in the spiritual context of Indian literature. Buddhists have also interpreted *yoga* in the sense of spiritual unification here, with the supreme (*niruttara*) Nature itself that pervades everything (*dharmadhātu*). The perfect knowledge of the *dharmadhātu* leads towards Vairocana in his *Sambhogakāya* (*loṅs spyod rdzogs sku nam par snaṅ mdzad chen por mṅon sum du gyur te*).

Here, *yoga* refers to the factors of two identities i.e. one is to be united with other. Mathematically, one plus one is equal to two. But, in esoteric practice, one plus one tends to be one when two-ness is withdrawn. Such tendency of identification in respect of the practitioner and his objective becomes inseparable (*advaya*) in association. The *Yogatantra* describes such state as a category of binding (*bandhanatattva, bciṅ pa'i bya ba*). It may be described as a total unification of the practitioner with the Nature itself pervading everywhere (*dharmadhātu*), according to the *Yogatantra* in Buddhism.

In this context, *hṛdaya* as a category (*tattva*) is the great compassion (*mahākaruṇā*) that prompts a practitioner to engage himself to do his best for the cause of the suffered ones rolling in the cycle of birth and death from the time immemorial. An *aśaikṣyasattva*, who elevates his perspective by the continuous mindfulness and other expediencies or the Bodhisattva ascending above the seventh stage (*saptamī bhūmi*), being compassionate in heart, endeavours to accomplish in the *Yogatantra*. He, therefore, takes care of each and every individual. Like a mother having only child, the person nourishes a sentient being with compassion as read in Pāli:

mātā yathā niyaṁ puttam āyusā ekaputtamanurakkhe /
evaṁ pi sabbabhūtesu mānasaṁ bhāvaye aparimāṇaṁ //

In this connection the category of *Upāya* may be relevant to discuss as Padmavajra enumerates it other than *hṛdaya*, suggestively, *mahākaruṇā*, the great compassion.

Upāya has been regarded as an expedient of the intellectual progress to serve the sentient beings in general. The *Saddharma-puṇḍarīka* refers to various kinds of expedients while Śākyaputra Gautama, the Buddha preached his Dharma. The *Bodhisattva-bhūmi* mentions the *upāya-kauśala* of a Bodhisattva in details. The *Dharmasaṁgraha* enumerates three kinds of *upāya* e.g. *sarvasattvā-vabodhaka* (to have a thorough knowledge about all sentient beings), *sarvasattvārthabhāvaka* (to consider the cause of all sentient beings), *kṣiprasukhābhisambodhi* (earnest comprehension for happiness of sentient beings quickly). These esoteric factors have been accepted as the *Upāya* or the Male principle in the Buddhist Tantra.

The *Sādhanamālā* explains *karuṇā* as a strong determination to deliver all sentient beings upto the last one, from the ocean of the worldly suffering in which they have fallen: *agādhāpāra-saṁsāra-sāgara-madhye patitānanta-sattva-dhātūn samuddharāmī'ty adhyāśayaḥ*. *Upāya* is, therefore, characterised as a positive category having its conventional self-nature (*bhāva-lakṣaṇa upāyaḥ* ... *svabhāvalakṣaṇa upāya*).

Mudrā (joyous gesticulation: *phyag rgya*)

Mudrā is that which brings forth rejoice in the mind, as the commentaries mention: *mudaṁ sukhaviśeṣaṁ ratiṁ dadatī'ti mudrā*. Here, the word *sukhaviśeṣa* 'special rejoice' suggests that the rejoice is characterised by the sublime knowledge and unexhausting bliss (*paramākṣarasukhajñānalakṣaṇa*). And, above that, such rejoice is attained by that unification which never alters (*acalanayoga*). The *Sarvatathāgata-tattvasaṁgraha-nāma-mahāyāna-sūtra* (Toh. 479) deals with the *vajrasamaya* (*rdo-rje'i dam tshigs*) in four sections (XV-XVIII) with their applications. Furthermore, the *Paramādya-nāma-mahāyāna-kalpa-rāja (Dpal mchog daṅ po zhes bya ba theg pa chen po'i rtog pa'i rgyal po)* in the Kanjur (Toh.478) mentions the *muṣṭibandha-samaya* of all *mudrās* in its sixth chapter entitled

Sarvamudrā-muṣṭibandha-samaya (*phyag rgya thams cad kyi khu tshur gyi dam tshig*).

Four-fold gesticulation (*caturmudrā*) has also been enumerated in Yogatantra with special significance. The four *mudrās* are: 1. *Samayamudrā* (*dam tshig phyag rgya = dam rgya*) gesticulation tied with pledge; 2. *Dharmamudrā* (*chos kyi phyag rgya = chos rgya*) gesticulation in identification with the Dharmadhātu; 3. *Karmamudrā* (*las kyi phyag rgya = las rgya*), and 4. *Mahāmudrā* (*phyag rgya chen po= phyag chen*) the sublime gesticulation which is *anuttara* (*pyag rgya'i dbye ba bla na med*).

1. Samayamudrā is called so because in this gesticulation, the practitioner takes a pledge (*samaya*) to hold such rejoice by his identification with the self-nature of his tutelary deity, as Advayavajra (11 cent. A.D.) mentions. The gesticulation of being tied with Vajra is the pledge here (*mudrāsamaya*) as the *Vajrodaya tantra* (Toh. 2516) suggests. A practitioner thus becomes a Vajrasattva by executing the pledge. The gesticulation made by a Vajrasattva refers to the four esoteric deeds, such as, attracting (*ākarṣaṇa, dgag pa'i bya ba*), making the entrance (*praveśana, gzhugs bya ba*), binding (*bandhana, bciṅs pa'i bya ba*) and subduing (*dbaṅ gi bya ba*), which are also enumerated as categories (*tattva*) by Padmavajra. Several texts on the four-fold gesticulations composed by the Indian practitioners have been preserved in the *Bstan gyur* collection and that requires a separate study.

The *Mañjuśrīmūlakalpa* which is generally regarded as the compilation of the *Kriyā tantra*, however, mentions varieties of gesticulations and their applications. The text appears to be an early text of the Indian Tantra and the mentions of manifold gesticulations including the *Mahāmudrā* (*phyag-chen*) presumably shows its antiquity.

Mkhas grub rje refers to the four-fold cause (*rgyu*) of the gesticulation in relation to the above four gesticulations in the process of Yoga practice to accomplish the identification with the Nature itself pervading everywhere.

Dam tshig =*dam* (*cha*) which is normally equivalent to *samaya* in Sanskrit bears different significance in respect of a practitioner in course of his gradation of practice. For instance,

Vajrāvalī, a *Kriyā tantra* text, broadly refers to *mantra*, *tantra* and *mudrā* by *samaya*. While the *Guhyasamājatantra* identifies *samaya* with *tattva* for a four-fold superior observance of livelihood (*niṣprapañcacaryā*) like *prāṇātipāta* which are regarded as the *samaya* in respect of the *Vairocana-yogī* according to Candrakirti's *Pradīpodyotana*. Such variations in the pledge occur due to three separate observances in livelihood (*caryā*) of the esoteric practitioner, namely, mundane (*prapañcatā*), super-mundane (*niṣprapañcatā*) and supra-mundane (*atyanta-niṣprapañcatā*). Again, the *Yogaratnamālā*, a commentary on the *Hevajratantra* explains *samaya* which arises in succession adequately by self-expressiveness through three spheres of desire, form and no-form (*sphuraṇa-yogena samantāt kramaṇaṁ samayaḥ / yathārthavineyopāyair nānākārais tridhātu-gamanaṁ samayaḥ //*

(*Yogaratnamālā*)

In this regard Mkhas grub rje cites different views held by Buddhaguhya and Śākyaśrīmitra on one hand and that of Ānandagarbha on the other.

Advayavajra thus sums up the implication that the self-expression of Vajradhara for the cause of beings is the effulgence of the etheral body of rejoice and the mundane body is the human form (*sambhoga-nirmāṇakāyakarmasvabhāvena svacchākāreṇa ca sattvārthāya vajradharasya*). It makes the practitioner identify himself with the mind of his tutelary deity (*iṣṭadevatā; yi dam*).

2. Similarly, *Dharmamudrā* refers to the joyous gesticulation of attaining the nature of the speech of that deity.

3. *Karmamudrā* which refers to the service to the deities brings forth the joyous gesticulation of the practitioner, Vajradhara. Padmavajra in his commentary of the *Sarvatathāgata-tattvasaṁgraha* refers to the twofold *Karmamudrā*: 1. *baddha* (bound) in two *Vajramuṣṭis* signifying the joyous gesticulation of highest enlightenment (*paramabodhi*), 2. *kalpa* (imagined as a four-pronged *vajra* in the mind of the practitioner, Vajradhara) signifies the joyous gesticulation of invoking and attracting the deity that pervades the intrinsic nature.

4. Lastly, *Mahāmudrā* is said to be the sublime gesticulation for it includes the three together when the Vajradhara practitioner

contemplates the unification of his nature with the nature of deities as created reflections in the form of images (*pratibimba*) of icons (*devapratimā*). Padmavajra mentions its two varieties, a) identical in appearance of the consummated body of the Family (*kula*) and Family deity (*kuleśa*), b) identical with the *Mudrā* appearing in the form of a female deity. Thus *phyag* signifies the knowledge of *śūnyatā* and *rgya* is the liberation from the bondage of worldliness to observe the *niṣprapañcacaryā* as the fifth chapter of the *Guhyasamājatantra* elaborates. Those are: 1) *Phyag rgya 'byuṅ ba'i rgyu* (*mudrā-samudaya-hetu*), 2) *phyag rgya raṅ gi ṅo bo 'cha' ba'i cho ga* (*mudrāsvarūpa-vidhi*), 3) *'grub pa'i rgyu* (*sādhanā*), *grub pa'i dbaṅ du 'gyur ba'i rgyu* (*siddhivaśya-hetu*). The last is regarded as the final cause in which accomplishment in gesticulation becomes under the control of a practitioner here, Vajrasattva, whose endeavours have been materialised (d*bang du byed pa*) in each gesticulation. In this regard Advayavajra points out the semblence of gesticulation with fourfold delight (*ānanda*) e.g. 1. delight (*ānanda*), 2. great delight (*paramānanda*), 3. innate delight (*sahajānanda*) and 4. bliss or sublime delight (*viramānanda*).

In this connection several terms used in the Tantra may be cited here; For instance; *nyāsa* :

1. *Mudrānyāsa* : In the Kriyātantra the applications of gesticulations are practised for worship, invoking etc. the *Kuleśa* and *Kauladevatā*.

2. *Mudrā-darśana* : In the Kriyātantra gesticulations are exhibited in respect of deities belonging to various Kulas like, Akṣobhya, Ratnaketu etc.

3. *Samāpattimudrā* : In the *Caryātantra* the gesticulation brings forth joyous mood in course of *samāpatti* meditation.

4. *Kalaśamudrā* : In the *Sṅags rim chen mo*, Tsoṅkha pa explains the *Kalaśamudrā* in which a practitioner submits his all meritorious deeds (*Kuśalamūla-karmaṇi*) for accomplishment as a cause of an effect (*rgyu 'bras*).

5. *Samayavajra-mudrā* : Pressing the tip of small finger with the right thumb; it suggests the shape of a Vajra with the remaining three fingers.

6. *Mudrādevatā* : Refers to the deity invoked and worshipped as real while the gesticulations are exhibited. It corresponds to the *devatātattva* of the reflection of deity identically real in course of visualisation by a practitioner.

7. *Viśvavajra (Karma-vajra) mudrā* : To contemplate a crossed Vajra gesti-culation in the heart of a deity in the *Yogatantra.*

8. *Jñānamudrā* : In course of initiation (*abhiṣeka*) the joyous gesticulation through the pure knowledge in one's own concentration (*samādhi*) is achieved.

Regarding the formation of the various gesticulation postures (*mudrābandha*) some contributions of Pt. Janardana Pandeya (published in *Dhīḥ* - A review of Rare Buddhist texts, from the Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath) deserve a special mention. The details of gesticulation postures are occasionally found in the *Kriyātantra* texts by the subsequent *Tantra* teachers like Abhayākaragupta, Jagaddarpaṇa etc. In the *Sarvatathāgatatattvasaṁgraha* and the other *vidhi* and *kalpa* texts, discussions on the gesticulation are observed. The *Guhyasamāja-tantra* correlates *mudrā* with *Prajñā* or *Vidyā* in the course of internal secret practice. Here *Vidyā* refers to the apposite to the twelve of *nidāna*s in the series of Dependent Origination (*dvādaśāṅga-pratītyasamutpāda*) caused by *avidyā*. In the *mahāsādhanā*, a practitioner thus remains in the mother lotus (*bhaga-maṇḍala*) of the *utpattikrama* and thereafter the Vajrācārya proceeds towards the becoming of Vajradhara of the *niṣpannakrama* by the secret initiation (*guhyābhiṣeka*).

Abhiṣeka (consecration: *dbaṅ bskur*)

Abhiṣeka (*dbaṅ bskur*) is occasionally rendered elusive to understand. Being aroused in Great compassion (*mahākaruṇā* : *thugs rje che*) an elect practioner, who has sharp psychic promptness (*tīkṣṇadhīḥ*) as well as capability in maintenance of moral precepts, takes the oath of doing welfare of the sentient beings. *Abhiṣeka,* thus refers to such occasion of oath-taking by consecration (*dbaṅ bskur*). The practitioner has been already elected by his precepter for his merits of spiritual progress and steadfastness of his character after primary initiation (*upasampadā*).

The *Jñanatilakatantra* (Toh.422) in the *Bka' 'gyur* refers to five-fold consecration in respect of a *Vaivartika* practitioner (*ldog pa'i spyod pa*) in (A) *Kriyātantra* and (B) *Caryātantra* who are regarded in the process of generation (*utpattikrama*). Those are: (A) 1. the water (*chu; udaka*) from a vessal (*bum*); and, 2. the crown (*cod pan; mukuṭa*) prescribed in the *Kriyātantra*. (B) 1. the *adamantine* (*rdo rje; vajra*); 2. the bell (*dril bu: ghaṇṭā*); and 3. the name (*miṅ ; nāma*). Abhayākara in his *Vajrāvalīmaṇḍalasādhanā* (Toh.3140) mentions *puṣpamālābhiṣeka* prior to Kalaśābhiṣeka when the preceptor elects his disciple as an entrant in the Tantra with the honour of garlanding to consecrate (*dbaṅ skur ba*).

While a *Yogatantra* practitioner undergoes the *avaivartika-abhiṣeka* (*mi ldog pa'i rdo rje slop dpon gyi dbaṅ skur ba*), the *Vajramālā* (Toh.445) preserved in the Kanjur mentions: In each stage (*bhūmi)* in the gradual course, a practitioner has separate consecration (*dbaṅ bskur re re sa re re'o*). The four basic consecrations are conferred on a *Vajrācārya* in respect of being the *avaivartika* Bodhisattva, Vajradhara. Those four are: 1. the water vessal (*kalaśa; bum pa*), 2. the secret (*guhya; gsaṅ ba*), 3. the insight knowledge (*prajña-jñāna*) and 4. the Fourth consecration (*Caturtha* or *turīya seka, dbaṅ bzhi)*. These four consecreations are also related to the four-fold *mudrā*.

1. Kalaśābhiṣeka : In the case of an *avaivartika* practitioner, the sprinkling of consecrated water from the sacred vessal (*mchod bum*) indicates semblance to several consecrations like the water (*udaka*), the crown (*mukuṭa*), the adamantine (*vajra*), the royal (*adhipati*) and the naming (*nāma*) with reference to the nature of five *Tathāgatas* as shown below :

Consecration by	**Nature of Tathāgata**	**Knowledge accomplished**
1. Water (*udaka*)	Akṣobhya (unshakeable), *mi bskyod pa.*	mirrorlike (reflective) knowledge (*me loṅ lta ba'i ye śes*) *ādarśajñāna.*

2. Crown (*mukuṭa*)	Ratnasambhava (born of jewel), *rin chen 'byuṅ ba*	knowledge of equality (*mnyam par nyid kyi ye śes*) *samatā-jñāna*
3. Adamantine(*vajra*)	Amitābha (immeasurable light), *'od dpag med.*	discriminative knowledge (*so sor thog pa'i ye śes*) *pratyavekṣaṇajñāna.*
4. Princely (bell) announcement (*adhipati/ ghaṇṭā*)	Amoghasiddhi (purposeful accomplishment), *don yod grub pa.*	procedural duty-bound knowledge for observation (*bya ba grub pa'i ye śes*) *kṛtyānuṣṭhānajñāna.*
5. Naming (*nāma*)	Vairocana (verily-effulgent), *rnam par snaṅ mdzad.*	knowledge of pure dharma-space (*chos kyi dbyiṅs kyi ye śes*) *dharmadhātu-jñānam* (*avidyā-nirodhāt vidyānuga-to'ham).*

In this connection the *Guhyasamājatantra* (Chapter IV) elucidates the coherence of *avaivartika-abhiṣeka* with the divine spiritual complex (*maṇḍala*) of the *Tathāgatas* in three spheres (*triloka, i.e. bhūḥ, bhuvaḥ, svaḥ*). Here, *maṇḍala*, as interpreted by Candrakīrti in his *Pradīpodyotana*, suggests that the complex where no Māra plays upon (*maṇḍaḥ sāraḥ, taṁ lāti gṛhṇātī'ti maṇḍalam*), i.e. the psychic complex which refers to the mundane or conventional truth (*saṁvṛtisatya*) as well as the transcendental supra-mundane truth (*paramārthasatya*). Thus, *abhiṣeka* may be external as well as internal, subject to the efficiency of the Akṣobhya-like Vajrācārya to the Bodhisattva Vairocana-like disciple in order to wash out the turbidities originating out of ignorance (*avidyāmalakṣālanāya akṣobhya-rūpeṇa vajrācāryeṇa vairocanarūpāvalambini śiṣye salilābhiṣeko deyaḥ*). Here two orders in the esoteric practice according to the *Yogatantra*, namely, the order of successive generation (*utpattikrama*) and that of completion (*niṣpanna/sampanna krama*) have been taken together to evolve (*vyāvṛtti*). The subsequent chapter of the text, therefore, mentions

about *niṣprapañcacaryā* and *atyanta-niṣprapañca-caryā* befitting for the secret consecration (*guhyābhiṣeka*).

2. Guhyābhiṣeka : The *Guhyasamājatantra* in its seventh chapter deals with the secret consecration when the Vajrācārya—an *avaivartika* practitioner—observes *niṣprapañca-caryā*. The text refers to the livelihood to be led by begging (*bhikṣāśana*). Here, *bhikṣā* suggests a different mode in the sphere of practice by the completion of six-fold esoteric formulli (*saḍaṅgayoga*); namely:

1. *Pratyāhāra* (the withholding of sense-organs from the objects)
2. *Dhyāna* (meditation)
3. *Prāṇāyāma* (specific procedure of breathing),
4. *Dhāraṇā* (contemplation in grasping),
5. *Anusmṛti* (constant awareness of the nature of the Buddha, Dharma and Saṅgha).
6. *Samādhi* (esoteric equilibrium for equanimity in concentration).

That lays emphasis on the specific precedure of breathing related to inhaling and exhaling along with the muttering of the *mantra* throughout day and night by the practitioner. When such *mantra-caryā* and *kriyā-caryā* tend to *yoga-caryā,* the Vajrācārya avails the delight in unification (*yuganaddha*) of the conventional truth (*saṁvṛti-satya*) and the transcendental truth (*paramārtha-satya*) as the Vajradhara in efficacy. Candrakīrti thus comments: *dharmaḥ saṁvṛti-satyam akṣaraṁ paramārthasatyaṁ dharmākṣaraṁ tad yuganaddhātmakaṁ mahāvajradharatvaṁ sarvaiśvaryapadatvāt*).

The secret consecration is the tasting of the union (*saṁyoga*) of the conventional delight with the transcendent in *Bodhicittamaṇḍala*. In course of such consecrative union, five-fold attributes represent the five Tathāgatas such as, three-fold form (*rūpa*)—bad, moderate and pleasant pervading the universe—represents Tathāgata Vairocana (verily effulgent) to look at. Similarly, three-fold sound (*śabda*) refers to Tathāgata Ratnasambhava-ketu (having the jewel-made banner), three-fold odour (*gandha*) to Amitābha (of immeasurable light), three-fold fluidity (*rasa*) to Amoghasiddhi (purposeful accomplishment), three-fold touch (*sparśa*) to Akṣobhya (unshakeable) Tathāgata. Here the practitioner experiences novelty in the union of the limited with the limitless and enters the *Bodhicitta-maṇḍala* where the five Tathāgatas are in their omnipresence.

By taking such secret consecration the practitioner proceedes forward to visualise himself identical with the Tathāgatas as referred to in the thirteenth chapter of the *Guhyasamājatantra*, in connection with various *mantras* muttered in respect of the Tathāgatas. In the cryptic expression (*sandhāyabhāṣā*) the *Dākinījālasaṁvara-rahasya* reads that the secret consecration is the entrance into secret *Vajra-(yoga)* after availing the rejoice in touching the breast in the first consecration of Kumbha explained above. Such rejoice arises in the conventional reference to *Akṣobhya-(vajra)-yoga* at the supermundane level of experience.

The *Śrī-kālacakra-tantra*, which is regarded as the *Advayayoganiruttara-tantra*, prescribes the secret consecration in the *bhaga-maṇḍala*, not in the *Bodhicitta-maṇḍala* where all turbidities are eliminated. Expositions in the *Sekoddeśaṭīkā* make the sense clear:

> *bhañjanaṁ bhagam ākhyātaṁ kleśamārādi-bhañjanāt /*
> *prajñābāhyāś ca te kleśās tasmāt prajñā bhagocyate //* p.3

Furthermore, the relation of the *bhagamaṇḍala* with the *Bodhicittamaṇḍala* requires a separate discussion with reference to the *Kālacakratantra* and the *Guhyasamājatantra*. The latter text also enumerates four-fold consecration in the context of the *vajrayoṣid-bhaga* and that has been interpreted by Candrakīrti in a distinct line.

Advayavajra (11th cent. A.D.) lays emphasis on the *Bodhicitta* for maintenance of the pledge (*samaya*) and befitting timing to extend the sphere of wisdom and reverence (*prajñā-śraddhākṣetrīkaraṇārthaṁ samaya-rakṣaṇārthaṁ ca samānakā-lobhayasampādita-bodhicitta-pradānaṁ guhyābhiṣekaḥ prajñopāya-guhyābhyāṁ dīpayata iti vyutpattiḥ*).

3. Prajñā-jñānābhiṣeka: The consecration in the insight-knowledge (*prajña-jñāna*) is offered by the *avaivartika* Vajrācārya (here, *guru*), while the Bodhisattva Vajradhara roams in rejoice (*viramānanda*) in the *bhagamaṇḍala*. Such rejoice is also conventional (*kṣarasukha*). This consecration is regarded as an order prior to the accomplishment of *abhisambodhi*.

Prajñājñāna may be derived in two ways in the knowledge (arising) by wisdom (*prajñayā jñānam*), or wisdom is the same as the external knowledge (*prajñaiva bāhyajñānam*). In the latter sense,

wisdom represents externally the feminine nature possessing the duality of being grasped and a grasper together with the intellect, four-fold base (*caturdhātu*), five aggregates (*pañcaskandha*) and six-fold objects (*ṣaḍviṣaya*). A practitioner becomes conversant in the knowledge of *Bodhicitta* with reference to the above mentioned feminine nature of *Prajñā* in course of this consecration. That suggests that the consecration extends the knowledge relating to all phenomena as the cognizing itself of one's own mind. A practitioner being consecrated in *prajñā-jnāna* experiences the joyous gesticulation of Dharmamudrā by entering into *māyopamasamādhi*. Thus the consecrated one holds the consciousness of essencelessness of twofold forms of being the grasper and the grasped.

4. *Prajñābhiṣeka* is the *virmānanda* as the commentary of the *Hevajratantra* says. But all the Tantra texts do not agree in this regard. For the order in enumeration of the four-fold rejoice does not tally in all cases as the modality in practice varies in respect of the ability of a practitioner.

The word *prajñā* in the Buddhist literature has been used in different connotations and that requires a separate study. A few citations from different texts may be given herewith.

1. *Prajñā* is the essencelessness of all phenomena reflecting its characteristics of image-like knowledge. It refers to no-function of the intellect (*dhīḥ*), the essencelessness of self-nature (of no-phenomena) with duality of the grasper and the grasped. It is the sublime psychic state with nothing to depend on. It is, therefore, the pure, tranquil, non-reflexible knowing itself. Padmavajra further divides *Prajñā* as *pratyavekṣaṇā prajñā* and *nairvedikī prajñā* with reference to its two-fold characteristic, namely, its negative character and its selfnaturelessness.

2. Attempts have also been made to locate the form and the nature of *Prajñā* by Siddhācāryas when Kuddālapāda describes *Prajñā* is like the stem of a lotus extending from upward to downward.

3. Padmavajra further identifies *Prajñā* with five-fold Śakti (*yum*) or the Mother of five *Tathāgatas*, namely;

   1. Locanā : Tathāgatakula, kuleśa Vairocana
   2. Māmakī : Vajrakula, kuleśa Akṣobhya

3. Pāṇḍarā : Padmakula, kuleśa Amitābha
4. Samayatārā : Karmakula, kuleśa Amoghasiddhi
5. Samantabhadrā (Tārā) : Maṇikula, kuleśa Ratnasambhava

The reason for this classification is that *Prajñā* is like a lotus (*paṅkaja, padma*). The *Guhyasamāja* interprets that *Prajñā* is reflection like the light of the moon with the characteristics of dissimilation (*pravicayadharma-prajñā*). It is, therefore, superior consciousness (*prakarṣakṛtavijñāna*).

However, in the context of the consecration of *Prajñā*, the great joyous gesticulation (*mahāmudrā*) being free from turbidity is the *Prajñā*, which prompts to develop the pure knowledge of the base of all phenomena (*viśuddhadharmadhātujñāna*). In course of the *Prajñābhiṣeka*, the *avaivartika* practitioner, *Vajradhara* visualises the nonsubstantiality of the mundane phenomena as well as remains rejoiced with the pure knowledge (*vimalajñāna*), otherwise known as *amalā prajñā*. It is the *nairvedhikī prajñā* having the characteristics of the selfnaturelessness.

Siddhācāryas also refer to the fourth consecration (*caturthābhiṣeka*) which goes beyond any communication to others (*vākpathātīta*). That is the innate bliss (*sahajānanda*). Kāṇhapā (=Kṛṣṇapāda) exclaims in joy :

> *karuṇā pihāḍi khelahun nayabala* /
> *sadgurubohen jitela bhavabala* //
> *phīṭau dua mādesi re ṭhākura* /
> *uāri uesen kāṇha niaḍa jiṇaura* // *Caryāgītikośa* 12, 1-2

It is the sublime stage in the *Yogatantra* where duality remains no longer, oneness (*advayatā*) prevails.

Five Grades of Yoga

As the categories, Padmavajra enumerates five grades of *Yoga*, namely; *yoga, atiyoga, mahāyoga, guhyayoga* and *sarvayoga* in the course of two-fold order in esoteric practice. The *Guhyasamājatantra* in chapter XI deals with the modality of esoteric practice in relation to the gesticulation of *mahāmudrā*. The exposition of *mahāyoga* in the said text is explicit when *mahāyāna* is defined as that which leads the greater numer of persons to the accomplishment in the Buddha attributes. The text, therefore, distributes the modalities of *Yoga* according to the ability of the practitioners.

Candrakīrti in this connection cites the *Māyājālatantra* (Toh. 466) with reference to completion in visualisation of the deities focussed in reflection (*bimbadarśana*).

The *Māyājālatantra* reads: "there is a three-fold Yoga practice according to the *cittabimba* of a practitioner varying in esotëric state (*adhiṣṭhāna*)". The Tibetan *byin gyi brlabs* corresponding to *adhiṣṭhāna* requires clarification here. *Rlabs> brlabs* suggests to waive out by incitation (*byin gyis dbyin pa*). Here, the mental turbidities are waived out by the incitation of mental striving and that amounts to blessing in grace of *Prajñā*. There is a four-fold *byin gyis brlabs* according to the *Pāramitānaya* :

i) *ġtoṅ ba'i byin gyis brlabs* (*tyāgādhiṣṭhāna*)
ii) *nye bar zhi ba'i byin gyis brlabs* (*upaśamādhiṣṭhāna*)
iii) *bden pa'i byin gyis brlabs* (*satyādhiṣṭhāna*)
iv) *śes rab kyi byin gyis brlabs* (*prajñādhiṣṭhāna*)

The *Aṅguttara Nikāya* in Pāli also enumerates a four-fold *adhiṭṭhāna*.

In the sixth chapter of the *Guhyasamājatantra*, the *adhiṣṭhānapada* has been elaborately dealt with which is related to *sevā, sādhanā, upasādhanā and mahāsādhanā* at the level of gradation of mental state of concentrative equilibrium (*samādhi*). The citation from the *Māyājālatantra* states that *adhiṣṭhāna* itself is the I-ness of the esoteric practice (*ahaṅkārayoga*) in which the purity of *Bodhicitta* prevails with *mantrabīja* etc. Then in the gradual course towards the completion (*kramaniṣpanna*), several joyous gesticulations at the *samādhi* level occur. Suddenly, the spark of knowledge flashes on the esoteric psychic phase when the *Yoga* complete with knowledge arises. That is the state when the spark of divine light as the deity (*devatā*) reflects in presence of a practitioner (*devatāniṣpatti*). Siddhācāryas like Sarahapāda and Padmavajra say: "Worship your own self by unifying with the spark of light reflection (*svādhi-daivatayogena svamātmānaṁ prapūjayet*) because the *devatā* (*ātmaiva devatā*) is your ownself".

The three-fold order of *adhiṣṭhāna* in the sense of-total unification in empowerment (*tanmayatva*) may be counted as :

i) *Svasaṁvedyam* (self realiseable) which bears semblance with *svapratyātmagatigocara* in the *Laṅkāvatārasūtra*;

ii) *Vākpathātīta* (beyond speech communication) when even the muttering of the specific syllables (*mantra*) becomes identical with the practitioner himself in a state of inexplicableness;

iii) Lastly, *sarvajñajñānatanmayatā*, when total unification of the omniscience prevails. Thus the Buddha says that he did not utter a speech in the period from the night of attaining Bodhi to the attaining of the *mahāparinirvāṇa*.

Evidently, the esoteric practice of Yoga has been interpreted in various contexts. Such as:

i) Yoga refers to the state of mental equilibrium in an uninterrupted concentration (*samādhi*), as the commentary of the *Hevajra tantra* mentions;

ii) Also, the unification with spark of divine light as a deity (*devatāyoga*) in the esoteric mind assuming a form of a deity after performing the steps beginning from taking refuge of the Buddha, the Dharma and the Saṅgha (*triśaraṇagamanādikaṁ devatārūpacittaṁ devatāyoga*) upto high level in the six-fold esoteric method (*ṣaḍaṅgayoga*);

iii) Furthermore, Yoga suggests the onemindedness (*ekacittatā-yoga*).

A Yogin therefore attains esoteric ability of being in the state of Mahāvajradhara. The *Sekoddeśa* commentary elaborately reiterates four-fold branches of Yoga (*yogāṅga*) as the *Guhyasamāja-tantra* enumerates e.g. *sevā, upasādhana, sādhana and mahāsādhana.*

In the application of four Yogāṅga practices the *Guhyasamājatantra* lays emphasis on fourfold *śūnyatā* with reference to the four-fold *vajra* in course of the esoteric practices (*uttamasādhanāsthānaṁ tu vajracatuṣkaṁ śūnyatācatuṣṭayaṁ tena sevā kāryā*) as Candrakīrti mentions. That is, *bodhiliṅgālambanam* in *sevā*, which is equal to *sarvajñajñānatanmayatā*.

Four-fold essencelessness of phenomena have been enumerated as;

i) essencelessness (*śunyam*) of phenomenal world with reference to the awakening of the knowledge of essencelessness (*śunyatābodhi*);

ii) essencelessness of noumenon (*atiśūnyam*) referring to the acquiring of the seed of the noumenon world (*bījasaṁgraha*);

iii) essencelessness at the sublime level (*mahāśūnya*) related to the completing of the visualisation of the reflection in the spark of divine light (*bimbaniṣpatti*);

iv) total essencelessness (*sarvaśūnya*) with reference to the assignment of specific seed syllables pertaining to different divine manifestations accompanied with corresponding joyous gesticulations.

> *prathamaṁ śūnyatā-bodhir dvitīyaṁ bījasaṁgraham /*
> *tṛtīyaṁ bimbanispattiṁ caturthaṁ nyāsam akṣaram //*

In this connection, a twenty-fold analysis of *śūnyatā* as ennumerated by Haribhadra in the *Abhisamayālaṅkārāloka* may be referred to. The *Mahāprajñāpāramitā-tantra* translated by Hsuan-Tsang also enlists eight varieties of essencelessness (*śūnyatā*). Both the lists include internal essencelessness (*adhyātma*), external essencelessness (*bāhya*), internal-external essencelessness (*bahyādhyātma*) : the essencelessness in essencelessness (*śūnyatā-śūnyatā*), the essencelessness in all the quarters leading to *mahāśūnyatā*, the essencelessness of all entities (*sarvadharma-śūnyatā*), the transcendental essencelessness (*paramārtha-śūnyatā*) and other varieties which are regarded as the Mādhyamika base of *śūnyatābodhi* as realised through Yoga.

It is therefore evident that Padmavajra rightly enumerated five grades of Yoga as the categories for advancement in visualisation of the total essencelessness (*sarvadharma-śūnyatā*) pragmatically.

In this regard the Tibetan esoteric practitioners have also recorded their experiences. Among them Kun mkhyen klong chen rab jam pa (13th cent. A.D.) in his *Sṅags rim gsaṅ mo* explained the grades in corroboration with the Indian tradition of *Yogatantra*. The salient features are laid down below:

Each successive Yoga may be regarded as more internal than the preceding one. Mahāyoga is like the inner skin. It is the Father-tantra, its scope is extensive and its focus is the base (***bhūmi***). Anuyoga may be compared to the bones. It is the Mother-tantra, its scope is deep and its focus is the path (*mārga*). Atiyoga is like the heart. It is the non-dual (*advaya*) tantra, its scope is multi-dimensional and its focus is the transcendent Nirvāṇa (*phala*). Mahāyoga is secret, Anuyoga is greater secret, and Atiyoga is the greatest secret. Mahāyoga may be considered as the ground, Anuyoga, the path and Atiyoga, the reward.

Mahāyoga teaches that there are no lapses in nature and, therefore the mundane *saṁsāra* is the transcendent Nirvāṇa. Each external form is internally identified with the Buddha-nature. Vajrasattva handed down these teachings after having been given them by Vajrapāṇi who, in turn, was taught by the Buddha.

Atiyoga is that which has no form: Formlessness in contemplation of a phenomenon is Atiyoga. When a practitioner himself knows the core of his own mind, then there occurs no error, all other wrong knowledge arise out of it. Atiyoga points out directly the perfect knowledge (*samyag-jñāna*). A practitioner believes that there is some cause which gives birth to the world and the worldly activities. This dualistic thinking tends to decipher quality of differentiating categories. Atiyoga goes further.

Atiyoga is the meditation depending on any external thoughts. Every thought, feeling, desire, looking, seeing, changing, happening, doing, is a natural aid to the meditation. The habit or desire need not be repressed in this practice, but it must be carefully observed. When it is seen that there is no cause for these actions, no reason for distraction from meditation, then these are no longer felt to be important and may be discarded or employed as one wishes. In the same way, it is seen that all emotions have no base. The knowledge of reflected image on the surface of mind, which is but in original, uniformed, and is not amalgamated with anything. An Atiyogin, therefore, searches for one-pointedness of his mind. Atiyoga teaches perfect concentration, a direct path, where the final goal is achieved instantaneously. Although many cannot reach this highest goal, it is possible for many to obtain a glimpse of it (*samādhi*) occasionally. Gradually the glimpses will become more

frequent and then one attains the higher level. An unswerving faith in the Buddha, the Guru, and the Path together with the thought by which one may learn how to search for other people's happiness helps one to advance correctly.

Besides these categories, *Guhyayoga* is significant in contrast to *Haṭhayoga* as Candrakīrti mentions repeatedly in his commentary. In *niṣprapañca-caryā,* the *Guhyapūjā* refers to the praise of Tathāgata by *samāpatti* of two (secret) organs (*dvayendriyasamāpatti-lakṣaṇā tathāgatapūjā*) according to Candrakīrti.

The Sekoddeśa elucidates the four *Yogāṅga* grades in cryptical expressions beginning from the stage of veiled obscure mental process upto the vision of the spark of divine light manifested in a figure of a deity. The text reads: (*surata*) *sadṛśam iti dṛṣṭāntamātram .... ihākṣarasukhāvasthā yā sahajānan-darūpiṇī sāvasthā kāpyavijñeyā bālayoginām,* (*sā*) *bodhisattvaiḥ śūnyatāsamādhir ucyate .... evaṁ ṣaḍaṅgayogena buddhatvaṁ yogināṁ sidhyati //.*

The Buddhist Perspective of the Tantra

As discussed above, the analysis of categories in the Indian Tantra is a salient feature. To close up the human beings in the earth with the great elements is the Nature spread that is the infinite. The Indian tantra, therefore, tends to the scientific pursuits is exploring the Nature and its phenomenal categories. The Indian Tantra is broadly classified in four divisions, namely;

1. *Kriyā* (requisite application of welfare deeds),
2. *Ācāra/caryā* (self-control on personal conduct & social behaviours),
3. *Yoga* (esoteric enterprises towards psycho-somatic equipoise),
4. *Jñāna/anuttara-yoga* (tendency of unification with the infiniteness of Nature by pure knowledge of reality).

So *Yogatantra* forms an essential part of the Indian Tantra, whether based on the authority of the Vedas, or not, or the indigenous (*lokāyata*). The *Yogatantra* practised by the Buddhists disowns the authority of the Vedas and thereby it is divergent in

perspective than that of other branches of the Indian Tantra. Because, the Tantra in Buddhism which is traditionally believed as the sayings of the Buddha (*Buddhavacana*) does not hold any entity, substratum or category as permanent. That leads to a dynamic characteristics of momentary change (*udaya-vyaya*) of the so-called entity, substratum or category. The concept of momentary change has led to new dimension in the field of Indian Tantra.

Regarding the Tantra followed by the Buddhists belonging to the Indian Himalayas, Tibet, China, Central Asia (Siberia), Mongolia, Korea and Japan as well as in in South-East Asia (though few in number), the scholars hold different views. For instance,

i) Alex Wayman holds: "The Buddhist Tantra is deeply indebted to certain later *Upaniṣads* such as the *Yoga Upaniṣad*s, which were probably composed in the main form about 1st century B.C. to the beginning of the Gupta period, and which are a primitive kind of Hinduism. But these mystical practices were so thoroughly integrated with Buddhist dogma, that it is a most difficult matter to separate out the various sources of the Buddhist Tantra."

ii) H.V. Guenther's view is: "The word Tantra is used differently, and hence does mean different things to Hindus and Buddhists. This is also borne out by the underlying metaphysics so that Buddhist and Hinduist Tantricism are quite distinct from each other, and any similarities are purely accidental, not at all essential. Hinduist Tantricism, due to its association with the Sāṁkhya system, reflects a psychology of subjectivistic dominance, but tampers it by infusing the human with the divine and vice versa; Buddhist Tantricism aims at developing man's cognitive capacities so that he may be, here and now, and may enact the harmony of the sensuousness and spirituality."

iii) David J. Kalupahana arrives at a compromise. He says: "After all, the Tantras belong to the analysis of the meaning of the term *vajra* and trace the history of the concept .... that *vajra* symbolized analysis or deconstruction of substantialist metaphysics and that this significance can be traced back to the Buddha himself who was the most radical non-substantialist to appear in the philosophical world. However, that analysis or

deconstruction was followed by a reconstruction without reintroducing that substantialism. This was the function of the simile of the reft. If the *Vajrayāna* is to, be genuine *Buddhayāna,* it needs to accommodate these two processes of deconstruction and reconstruction."

iv) Benoytosh Bhattacharya observes: "The Tantra might have prevailed among the non-Aryan peoples in ancient India through oral tradition. Subsequently the Aryans accepted some of the ancient practices and rituals. (*śrutiś ca dvividhā vaidikī tāntrikī tathā*)".

v) Lokesh Chandra opines that the Buddhist Tantra bears foreign influence which might have entered India in subsequent days. In his article 'Iranian Elements in the formation of Tantric Buddhism' he states:

"Thus we find that the glories of Iranian Geist and Raum find a deep expression in the *Vairocana* cult: the word *Vairocana* mirrors *piruz* 'turquoise' (*virocana* is a kind of stone), *maṇḍala* is the cosmic round city, the seven ramparts of Iranian capitals with their colours have parallels in the terraces of the Sumeru ornamented with various jewels, *Vairocana* as the *Ekākṣara Cakravartin* has a precedent in the Cosmocrator and his cults in Iran, the wheel in the hand of Sarvavid Vairocana has a parallel in Mithra who hurls the zodiacal wheel into motion, the four lions of the throne of *Vairocana* repeat the zoa of Iranian thrones, while the Sun and the Moon as symbols of world dominion are common to Vairocana and *Acaemenian* kings. The *bodhi* of Gautama the Buddha was transmuted into the *abhisambodhi* of the Vairocana Tathāgata."

Probably none of the above view is complete by itself. Because the above views disregard the Tantra tradition followed by the Buddhists who practice it through centuries uninterruptedly.

According to the Tibetan sources, there have been three instances of *Dharmacakra-pravartana* by Śākyaputra Gautama in his lifetime: namely, at Sarnath, at Gṛdhrakūṭa (near Rajgir) and at Śrīparvata (Amarāvati) or Vaiśālī as the traditions vary about the last. In that case, the Tantra in Buddhism is as old as the Sūtra and the Vinaya taught by Śākyaputra Gautama the Buddha in the 6th century B.C.

It is also said that the Buddha probably used, symbolic gesticulation or no-sound (*avāk*) in order to cast the knowledge beyond the sense perception. The Tantra and the Sūtra texts preserved in the then spoken Sanskrit language go in support of the tradition. Especially, the *Vaipulyasūtras* like *Āryagaṇḍavyūha*, *Āryasamādhirāja*, *Laṅkāvatārasūtra* and *Āryamañjuśrīmūla-kalpa*, *Āryaprajñāpāramitāsūtra* may be taken in to account. All these facts may be regarded as the evidence to hold that Gautama the Buddha prescribed the Tantra personally for the cause of good and welfare of beings. The Tantra also aims at the attainment of Awakening of a person's mind (*bodhi*) in this life by the mental elevation.

Critically speaking, the tradition deserves a thorough probing. Several mentions in the Pāli Sutta and Vinaya texts refer to some tantric data in the nucleus form. In the *Vaipulyasūtras* also many citations may be seen. It presupposes that the Tantric ideas are preserved in the *Buddhavacana*. Tantra might have come into existance in the pre-schismatic Buddhist scriptures sporadically.

In this respect, some internal evidences may be cited here from the Tantra texts available in Sanskrit, Apabhraṁśa and also from the Tibetan rendering of the Indian texts. For instance, the *Mañjuśrīmūlakalpatantra* refers to the *ārya* and *anārya mantra* in connection with the offerings and the worship:

i) *anāryebhyo mantrebhyaḥ sugandhatailaṁ tu dāpayet* (G.48);
ii) *sarvebhya āryānāryebhyo nivedyagrahaṇena śālyodanaṁ dadhnopetaṁ madhupāyasaviśeṣa-viśeṣyoparacita-ghṛtapakvāpūpān aśokavartī-khaṇḍakhādyakādyāṁ sarvaṁ tathāgatebhyo niryātayet.* (G. 48).

Here the monosyllabic mantra like *dhu dhu(a)dhu(a)* appears to be an *anāryamantra* invoked in favour of *dhūpavāsinī dhūpārci* in course of offering incense made of sandal, camphor, kumkum together. The text reads : *Oṁ dhudhur(a)dhur(a) dhūpavāsini dhūpārciṣi hūṁ tiṣṭha samayam anusmara svāhā.* With these syllables the *mālā* gesticulation for attracting all beings (*sarvasattvākarṣaṇī śivā*) is shown (G.27).

Moreover, the text indiscriminately refers to the deities like Brahmā, Viṣṇu and Maheśvara with the following *mantras* respectively:

(a) *Oṁ brahma subrahma brahmavarcase, śāntiṁ kuru svāhā* // (G.33)

(b) *Oṁ garuḍavāhana cakrapāṇi caturbhuja hūṁ hūṁ samayam anusmara* // (G.33)

(c) *Oṁ mahāmaheśvara bhūtādhipati vṛṣadhvaja pralamba-jaṭāmakuṭadhāriṇe sitabhasma-dhūsarita mūrti hūṁ phaṭ phaṭ* // (G.34).

Simultaneously, four sisters, namely, Jayā, Vijayā, Ajitā, Aparājitā (*caturbhaginī*) and their brother Tumburu have also been invoked along with several Vidyā deities like Balinī, Kāpatalini, Tārāvaṭī, Lokavatī, Mahāvīryā, Mahāśvetā, Yoginī, Mahālakśmī etc.

Besides them, many anthropomorphic beings have been deified as media or messengers (*dūta/dūtī*) in application of the welfare deeds (*kriyātantra*) that includes sixfold *abhicāruka karmāṇi*. Such as, Garuḍa, Vārāhī, Hayagrīva, Śakuni, Vāyasī, Nāga and Vyāla etc.

Above that, various kinds of joyous gesticulation (*mudrā*) and the placement of *mantras* of the limbs of a deity with their identification in the body of the practitioner (*mantranyāsa*), the symbolic diagrams (*maṇḍala*) in respect of the primordial deities representing the five great elements (*mahābhūta*) have been enumerated in the said text. Evidently, the Tantra in Buddhism apparently maintains semblance with the orthodox, here Vedic Tantra. Presumably, the Tantra practice among the Buddhists came in existence as a distinct process to achieve the goal of unification with the Nature by an individual practitioner for doing utilitarian service in general.

As a result of that, the apparent semblance leads sometimes to confusion among the modern scholars who find the exellence of feminine principle designed as the mother-worship, predominance of sex symbolism in the *yuganaddha* configuration of *yab-yum* by secret yoga (*guhya-yoga*) and *Prajñopāyayoga* (*thabs-shes*).

Several common terms like *yoga, mudrā, mantra, maṇḍala, nyāsa, pūjā, homa, devatā, samarasa, pitṛ, mātṛ, abhiṣeka, naivedya, kriyā, nāḍī, bindu, cakra, kāya, rāga* etc. have been used in the different Tantra texts but these do not always signify uniformity in

their connotations. Thereby, their applications in the orthodox Vedic tantra and those in the non-orthodox Tantra as followed by the Buddhists differ in many cases.

Because of the contextual variations with reference to the ultimate reality, the dictions vary in connotation, and in application.

For instance, the *Pāśupata-sūtra* which is presumed to have appeared by about cent. 1-2 A.D. and commented by Kauṇḍinya (4th cent. A.D.) mentions that the Yoga is the unification of the self with the Divinity (*ātmeśvarasaṁyogayoga*). Here the self has been described as that which makes the sentient beings know the objects with reference to the prescribed acts and their instrumentation (*āpūrya kāryakaraṇaṁ viṣayānś cetayatī'ty ātmā*). The self has been expressed by several synonyms, such as,

puruṣaś cetano bhoktā kṣetrajñaḥ pudgalo janaḥ /
anuvedo 'mṛtaḥ sākṣī jivātmā paribhūḥ paraḥ //. And, the divinity, here, refers to Śiva in his pure form, represented in Om. Om should therefore be placed within the mind. That means, some rituals and daily practices should be observed. Those are the acts prescribed for external observance and internal meditation. The glamour (*aiśvarya*) of Śiva thus becomes the goal to be attained by a Śaiva practitioner and that glamour is super mundane (*alaukikī*).

In this context, the Yogatantra followd by the Buddhists interprets the Yoga differently. Here the unification of the practitioner with his tutelory deity respresenting the essencelessness in his concentrated mind is nothing but the total essencelessness (*sarvaśūnyatā*), where the joy in the arcane body (*sambhogakāya*) persists. Non-duality (*advayatā*) prevails in both the cases but the modality varies. When and where the individual becomes identical with the Nature itself, no language comes out (*vākpathātīta*), silence prevails i.e. Nirvāṇa whether that is Bauddha, Śaiva, Śākta or Lokāyata.

It may not be out of place to quote a portion of the important dialogue of the late Pt. Jagannath Upadhyaya and Ven. Samdhong Rinpoche with the Late J. Krishnamurti.

K : The brain is the centre of all our action, centre of all our sensory responses, it is the centre of all thinking - inside the skull. What is

the quality of the brain that is asking the question : What is time ? How do you receive the question ?

J.U. : We have understood after discussing with you that it is only total attention that will bring about a total transformation; that's where the problem begins.

K : Would you mind if I say something ? Time is the past, time is now and the now is controlled by the past, shaped by the past. And the future is a modification of the present (I'm putting it dreadfully simply). So the future is now. Therefore the question is : if all time is contained in the now, all time - past, present and future-; then, what do we mean by change ?

J.U.: The word 'change' does not have any meaning.

The said dialogue was conceded by J. Krishnamurti : There were three holy men in the Himalayas (of course, it has to be the Himalayas). Ten years passed, one of them says : "Oh, what a lovely evening this is." Another ten years pass, the other man says : "I hope it will rain". Another ten years pass and the third man says: "I wish you two would be quiet".

Select Bibliography

1A. *Sanskrit (Buddhavacana)* :

Āryalaṅkāvatāra-sūtram, i) ed. B.I. Nanjio, Kyoto, 1956; ii) ed. P.L. Vaidya (BST), Darbhanga, 1963; iii) Eng. Tr. D.T. Suzuki, London, 1932.

Āryamañjuśrīmūlakalpa- (tantra) i) ed. T. Ganapati Shastri, Trivandrum, Sanskrit Series, Vol.70, 1920; Vol.76, 1922; Vol.84, 1925, Trivandrum; ii) ed. S.S. Bagchi (BST 18), Darbhanga, 1964.

Ārya-pañcaviṁśatisāhasrikā-prajñāpāramitā-sūtra, ed. N. Dutt, The Asiatic Society, Calcutta.

Aṣṭasāhasrikā-prajñāpāramitā-sūtra, i) The Asiatic Society, Calcutta; ii) with *Abhisamayālaṅkāra*, P.L. Vaidya (BST) Darbhanga, 1958.

Daśabhūmika-sūtra, i) ed. *J. Rahder*, Paris 1926; ii) *Daśabhūmīśvaro nāma mahāyāna-sūtra*, ed. Ryuko kudo, Tokyo, 1936, iii) ed. P.L. Vaidya, Darbhanga.

Guhyasamāja-tantra (*Tathāgata-guhyaka*), i) ed. B. Bhattacharya, Gaekwad's Oriental Series (GOS. LIII) Oriental Institute, Baroda, 1931, Rept. 1967; ii) ed. Shitanshu Shekhar Bagchi, Buddhist Sanskrit Texts (BST), Mithila Institute, Darbhanga, 1966.

Hevajratantrarāja, (Toh. 417-18), ed. & tr. D.L. Snellgrove, Oxford University Press, London, 1959.

Kālacakratantra with Vimalaprabhā, Part I, ed. Jagannath Upadhyaya, Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, 1986.
Kālacakratantra-laghu-tantrarāja, ed. Biswanath Banerjee, The Asiatic Society, Calcutta, 1986.

Kālacakratantra and other Texts, ed. Lokesh Chandra, Śatapiṭaka Series 69-70, New Delhi, 1987.

Saddharmapuṇḍarīka-nāma-mahāyāna-sūtra, ed. P.L. Vaidya, Darbhanga, 1960.

Samādhirāja-nāma-sūtra, ed. P.L. Vaidya, Darbhanga, 1960.

Sarvatathāgata-tattva-saṅgraha-nāma-mahāyāna-sūtra (Mūla-tantra : *rtsa rgyud*) Toh. 419. ed. Lokesh Chandra, Motilal Banarsidass, New Delhi, 1987.

Śrī-cakrasaṁvara-tantra, ed. Arthur Avalon and Kazi-Dawa Sandup, Calcutta, 1919.

Vinayavastu ed. N. Dutt, 1950.

1B. *Sanskrit Buddhist texts (Other than Buddhavacana)*

Abhayākaragupta(pāda) : *Niṣpannayogāvalī*, ed. B. Bhattacharya, (GOS. CIX, 1942), Baroda.

Advayavajra-saṅgraha ed. Mm. Haraprasad Shastri, Baroda, 1927.

Anaṅgavajra : *Prajñopāyaviniścaya-siddhi* in (*Two Vajrayana Works*), i) ed. B.Bhattacharya, GOS. XLIV, 1929; ii) ed.

Samdhong Rinpoche & Vrajvallabha Dwivedi in *Guhyādi-aṣṭasiddhi-saṅgraha*, Rare Buddhist Texts Series, 1, Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath 1987.

Āryadeva : *Cittaviśuddhi-prakaraṇa* (Tib.-Skt. bilingual edn.), Prabhubhai B. Patel, Viśva bhāratī, Santiniketan, 1949.

Asaṅga : *Mahāyāna-sūtrālaṅkāra-Vṛtti*, ed. Sylvan Levi, Paris 1907.

Yogācārabhūmi (Bahubhūmika) ed. Vidhushekhara Bhattacharya, Calcutta University, Toh. 4035.

Śrāvakabhūmi (Toh.4036) ed. Karunesh Shukla, Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna, 1973.

Bodhisattvabhūmi (Toh. 4037) ed. N. Dutt, Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna, 1966.

Padmavajra : *Guhyasiddhi (Guhyādi-aṣṭasiddhi)*, See Anaṅgavajra.

Candrakīrti : *Guhyasamāja-tantra-pradīpodyotana-ṭīkā ṣaṭkoti-vyākhyā*, ed. Chintaharana Chakravarti, Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna, 1984.

Śāntarakṣita : *Tattvasaṅgraha.*, GOS, Baroda, 1947.

Kamalaśīla : *Tattvasaṅgrahapañjikā.*

Indrabhūti : *Jñānasiddhi*, in *Guhyādi-aṣṭasiddhi*, Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi.

1C. *Sanskrit (Śaiva/Śākta Tantra) texts*

Bhāskararāya : *Lalitāsahasranāma*, English translation by R.A. Sastry, 3rd ed., Madras, 1951.

Śaṅkarācārya : *Saundaryalaharī*, i) English translation and notes by R. Anantakrishna Sastri and K. Ramamurthy Garu, Madras, 1957; ii) Eng. trans. by W.N. Brown, Cambridge, 1958.

Vasugupta: *Śivasūtra*,

i) With the *Vṛtti* of Bhāskara, Ed. J.C. Chatterji, Kashmir Sanskrit Texts Series (KSTS), Vol. IV, 1916.

ii) With *Vārttika* of Varadarāja, Ed. M.S. Kaul, (KSTS), No. XLIII, 1925.

Abhinavagupta, *Rahasyapañcadaśika*, published in the Appendix of AHPS of K.C. Pandey, 2nd Ed., Chowkhamba, Varanasi, 1963.

—*Tantrasāra*, Ed. with notes by M.R. Shastri, (KSTS), No. XVII, 1918.

—*Tantrāloka*, published in 12 Vols. (KSTS); Vol. I, edited by M.R. Shastri, and Vols. II to XII ed. M.S. Kaul Shastri; 1918, 1912, 1921, 1922, 1924, 1926, 1938, 1933, 1936, 1938.

II A. *Pāli (Buddhavacana)*

Dhammasaṅgaṇī : (PTS) ed. E. Muller, 1885. tr. Mrs. C. A. F. Rhys Davids, *Buddhist Psychology*, 1924.

Dīghanikāya ed. T.W. Rhys Davids & J.E. Carpenter, London, Vol.I, 1890, Vol.II 1903, Vol. III 1911. Tr. Rhys Davids, *Dialogues of the Buddha* (SBE) I-III 1899, 1910, 1921.

ii) Bhikkhu Jagdish Kashyap, Nalanda, 1956.

iii) *The Suttas from Dīghanikāya*, Burma Pitaka, Assam, 1984.

Majjhimanikāya i) ed. V. Treichner & R. Chalmers, (PTS) London, 1888-1902, ii) tr. Chalmers: *Further Dialogues of the Buddha* (SBE) V & VI, 1926-27.
iii) Bhikkhu Jagadish Kashyap, Nalanda, 1958.

II B. *Apabhraṁśa Texts (Siddhācārya-gīti)*

Luipāda & others : *Caryāgītikośa*, ed. P.C. Bagchi & Shanti Bhikshu Shastri, Visva-Bharati, Santiniketan, 1956.

Kāṇhapa : *Dohākośa*, ed. P.C. Bagchi, Calcutta University.

Sarahapāda & others : *Dohākośa*, ed. Rahul Sāṁkrityāyan, Bihar Rāṣtrabhāṣā Pariśada, Patna, 1957.

III A. *Tibetan (Kanjur: Buddhavacana)*

Ārya-pañcaviṁśati-prajñāpāramitā-mukha-mahāyāna-sūtra (Toh. 491).

Jñānatilaka-tantra (Toh.422).

Māyājālatantra (Toh.466).

Sarvatathāgatakāya-vāk-cittaguhyālaṅkāravyūha-tantra-rāja-nāma (*Cha mthun rgyud,* Toh. 492).

Tattvapradīpa-nāma-mahāyoginī-tantra-rāja (Toh.423).

Vajrahṛdayālaṅkāra-tantra (Toh. 451).

Vajraśekhara Mahāguhya-yogatantra (*bshad rgyud*) Tohoku Imperial University, Japan, Catalogue No. 480.

III B. *Tibetan (Tanjur : Ācāryavacanaśāstra)*

Advayavajra: i) *Tattva-ratnāvalī* (Toh.2240)
ii) *Tattvaprakāśa* (Toh. 2237)
(iii) *Yuganaddha-Prakāśa* (Toh. 2237)
iv) *Mahāsukhaprakāśa* (Toh. 2239)

Mahāsukhavajra : *Tattvapradīpa-nāma-tantraratnamālā-pañjikā,* Tibetan Tripitaka Research Institute (TTRI) 56/2335, Japan.

Abhayākaragupta: *Vajrāvalī-maṇḍala-sādhanā* (Toh.3140).

Kṛṣṇapaṇḍita : *Yogaratnamālā-nāma-hevajrapañjikā* (Toh.1183), ed. D.L. Snellgrove, (*Hevajratantra,* Vol.II, London 1959).

Padmavajra : *Tantrārthāvatāravyākhyāna* (Toh. 2502).

Buddhaguhya : *Bhoṭasvāmidāsagurulekha* (Toh. 4294).

Śākyaśrīmitra : *Kośalālaṅkāra* (Comm. of *Tattvasaṅgraha* (Toh. 2503).

Ānandagarbha : *Tattvāloka* (Toh. 2510); *Śrī-paramādyaṭīkā* (Toh. 2512).

III C. *Tibetan (Works on Tantra)*

Kun mkhyen klong chen rab jam pa: *Sṅags rim gsaṅ ma*.

Skyabs rje lha btsan rin po che: *Mtshun bcos pha ma'i drin leu bśad pa*, collected from Library of Tibetan Works & Archives (LTWA), Dharamsala.

Mkhas grub rje : *Rgyud sde spyi'i rnam par gzhag pa rgyas par brjod,* ed. with Romanised text & tr. F. D. Lessing and A. Wayman, Motilal Banarsidass, Delhi, 2nd edn. 1979.

Gos Lo tsa ba : *Deb ther sṅon po,* tr. *Blue Annals,* George N. Roerich, The Asiatic Society, Calcutta, pt. I, 1949; Pt II, 1953.

Tsoṅ Kha pa : *Dpal gsaṅ ba 'dus pa'i gnad kyi don gsal ba,* Toh. 5290; TTRI, Vol. 160.

—*Sṅags rim chen mo (Rgyal ba khyab bdag rdo rje 'chang chen po'i lam gyi rim pa gsaṅ ba kun gyi gnad rnam par phye ba*) Toh. 5281.

—*Sgron ma gsal bar byed pa* (*Mchan grel*) Toh. 5282; TTRI, Vol. 158.

—*Rin po che'i myu gu* (*mtha' gcod*), Toh. 5284; TTRI, Vol. 156.

—*Srog rtsol gyi de kho na ñid gsal ba* (*bzhis zhus*), Toh. 5285; TTRI, Vol. 159 (on the *Vyākhyātantra–caturdevī-paripṛcchā* (Toh. 446) & its commentaries in Tanjur (Toh.1915, 1916).

—*Rgyud bshad thabs kyi man ṅag gsal bar bstan pa* (Toh. 5286); TTRI, Vol. 160, on *Vajrajñānasamuccaya* (*Vyākhyātantra*).

—Slob ma'i re ba kun skoṅ (Toh. 5269).

IV. *Hindi Books & Journals* :

Acarya Narendra Nath Dev :

1956 : *Bauddha dharma darśana*, Patna.

Rāhul Sāṅkrityāyana :

1937 : *Purātattva-nibandhāvalī*, Indian Press Ltd. Allahabad.

1948 : *Bauddhadarśana*, Prayag.

Gopinath Kaviraj :

1963 : *Bhāratīya Saṁskṛti aur sādhanā*, Vol. I., Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna.

1964 : *Bhāratīya Saṁskṛti aur sādhanā*, Vol. II., Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna.

1958 : *Tāntrika vāṅmaya me śāktadṛṣṭi*, Kashi Prasad Jayaswal Research Institute, Patna.

Nagendra Nath Upadhyaya, :

1958 : *Tāntrika bauddha sādhanā aur sāhitya*, Nagari Pracharini, Sabha.

1983 : *Bauddha kāpālika sādhanā aur śāhitya*, Smṛti Prakashan, Allahabad.

Hazari Prasad Dwivedi :

1950 : *Nātha sampradāya*, Hindustani Academi, Allahabad.

Baladev Upadhyaya :

1946 : Bauddhadarśana, Chowkhamba Vidya Bhavan, Varanasi.

1954 : Bauddhadarśana mīmāṁsā, Chowkhamba Vidya Bhavan, Varanasi.

1966 : Bhāratīya darśana, Chowkhamba Vidya Bhavan, Varanasi.

Govinda Chandra Pandeya :

1963 : *Bauddha dharma ke vikāsa kā itihāsa*, Lucknow.

Parashuram Chaturvedi :

1969 : *Bauddha siddhon ke caryāpada*, Bhartiya Vidya Prakashan, Varanasi.

Shanti Bhikshu Shastri :

: *Mahāyāna*, Visva Bharati Prakashan Vibhag, Calcutta (1st edn.).

V. *English Books & Research Articles*

Arthur Avelon :

1914 : *Principles of Tantra*, Ganesh & Company, Calcutta, Reptd. Madras, 1952.

Bandyopadhyaya, Pratap. :

1970 : *The Studies of Tantra*, Calcutta.

Bhattacharya, B. :

1964 : *An Introduction to Buddhist Esoterism*, Motilal Banarsidass, Varanasi.

Brahma, Nalinikanta :

1932 : *Philosophy of Hindu Sādhanā*, London.

Chakravarti, Chintaharan :

1963 : *Tantra : Studies on their Religion and Literature*, Calcutta.

Dasgupta, Shashi Bhusan :

1950 : *An Introduction to Tantric Buddhism*, Calcutta.

1962 : *Obscure Religious Cults*, 2nd edn., Firma KLM Pvt. Ltd., Calcutta.

Dasgupta, Surendra Nath :

1977 : *A History of Sanskrit Literature*, Vol. I, Calcutta University, Calcutta.

Dutt, N. :

1970 : *Buddhist Sects in India*, Calcutta.

1930 : *Aspects of Mahāyāna Buddhism & its relation to Hīnayāna*, London.

Guenther Herbert V. :

1952 : *Yuganaddha, The Tantric View of Life*, Chowkhamba, Varanasi.

Kalupahana, David J. :

1987 : *The Buddhist Tantric Deconstruction and Reconstruction; Their Sūtra Origin, Prof. Jagannath Upadhyay Comm. Vol.* Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi.

Lokesh Chandra :

1982 : *Iranian Elements in the formation of Tantric Buddhism* (paper presented to the symposium at the Frederick S. Wight Art Gallery, California University, Los Angeles, USA.

Pathak, B.S. :

1960 : *Śaiva Sects in Northern India*, Varanasi.

Pathak, S.K. :

1984 : *The Buddhist Tantra Literature in East Asia*, Bodhirasmi, New Delhi.

1984 : Introduction : *Ṣatkoṭivyākhyā* of Candrakīrti, Comm. of *Guhyasamāja tantra* ed. Cintaharan Chakravarti, Patna.

1986 : *Nucleus of Tantra in Pāli Vinayapiṭaka* Bulletin of Tibetology, Gangtok.

1989 : *A Dhāraṇī Mantra in the Mūlasarvāstivāda Vinaya* , Bulletin of Tibetology, Gangtok.

Samtani, N.H. :

1987 : ed. *Studies in Buddhism, Prof. Jagannath Upadhyaya Comm. Vol.*, Central Institutes of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi.

Suzuki, D.T. :

1967 : *Outline of Mahāyāna Buddhism*, London.

Tewari, L.N. :

1987 : *Some Observations on Tantra, Prof. Jagannath Upadhyaya Comm. Vol.* Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath, Varanasi.

Wayman, Alex :

1973 : *The Buddhist Tantras*, Samuel Weiser, New York.

1977 : *Yoga of the Guhyasamājatantra*, Motilal Banarsidass, Delhi.

Winternitz, M. :

1934 : *A History of the Indian Literature* (2 Vols), Calcutta University, Calcutta.

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं प्रो० पाठक जी को बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने विचार के लिये काफी समय हम लोगों के लिये छोड़ दिया है । मैं उनसे क्षमाप्रार्थना भी करता हूँ । हम लोगों ने निश्चय किया था कि २० पृष्ठ के आस-पास प्रत्येक निबन्ध रहे, जिसमें कि पूरी बात सब पाठकों के सामने आ जाय और उनके ऊपर विचार हो सके । कुछ निबन्ध बहुत बड़े थे । उनमें से जिन विषयों पर यहाँ विचार होना है, उन विषयों को रख करके हम लोगों ने जिराक्स प्रतियाँ तैयार करवाई थीं । पर पाठक जी ने तो और भी संक्षिप्त कर दिया ।

अब इनसे मुझे एक प्रश्न करना है, बाकी तो आप सब लोग करेंगे ही । आजकल आगम और तन्त्र शब्द को अलग-अलग कर दिया गया है और जो शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तन्त्र हैं, उनको केवल हिन्दू शब्द से कहने लगे हैं । यह एक प्रकार का विकल्प है । भगवान् पतंजलि ने कहा है— "शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः" । शब्द तो है, किन्तु वह वस्तु नहीं है । हिन्दू शब्द तो है, हिन्दू तन्त्र नाम का मैं समझता हूँ कोई तन्त्र नहीं है । शैव है, शाक्त है, वैष्णव है, गाणपत्य है, बौद्ध और जैन भी है । ये सब भारतीय तन्त्र हैं । ठीक इसी तरह का एक अन्य शब्द प्रचलित है—आश्रय-परावृत्ति । आश्रय-परावृत्ति का जो अर्थ विद्वानों ने किया है, वह सही नहीं है । मैं भी

गलत हो सकता हूँ, पर मुझे जो लगता है, उसे मै यहाँ प्रस्तुत करना चाहता हूँ । मेरी समझ में इन्द्रियों की जो बाह्य प्रवृत्ति है, उस बाह्य प्रवृत्ति को आन्तर करने की जो प्रक्रिया है, वही यहाँ आश्रय-परावृत्ति शब्द से अभिहित है, जिसको कि हम प्रत्याहार कह सकते हैं । श्रुति कहती है—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्" । अर्थात् मनुष्य की इन्द्रियां बाहरी विषयों की ओर दौड़ती रहती है, किन्तु जो योगतन्त्र है, भारतीय योगशास्त्र है, वह इन इन्द्रियों को उन बाह्य आश्रयों से हटा कर भीतर की तरफ लाने की प्रक्रिया बताते हैं, प्रत्याहार के द्वारा उनको भीतर ले आने के लिये आन्तर आश्रयों को आधार बनाने की प्रक्रिया बताते हैं । मैं समझता हूँ इसी अभिप्राय को अभिव्यक्ति देने के लिये आश्रय-परावृत्ति शब्द प्रयुक्त हुआ है । असंग का अभिप्राय मैं समझता हूँ, जो विद्वान् करते हैं, वह नहीं है और उसका वज्रयान की प्रवृत्ति से भी मैं समझता हूँ कोई सम्बन्ध नहीं है । मैं विद्वानों से निवेदन करता हूँ कि अभी इस निबन्ध के ऊपर विचार करने का हमारे पास पर्याप्त समय है । हम लोग इसी तरह के अन्य विषयों पर भी विचार करें ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

योगाचार मत के बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द आश्रय-परावृत्ति पर आपने इंगित किया है । मैं इसकी खोज में था कि इसकी व्याख्याएं क्या आ रही हैं । इस शब्द की तीन व्याख्याएं मेरे देखने में आयी है और इसका अंग्रेजी में अर्थ "द चेंज ऑफ पर्सनालिटी" किया गया है । इसका अभिप्राय है व्यक्तित्व का बदल जाना । वास्तव में जब कोई व्यक्ति योगाचार भूमि में पहुँचता है, तो वहाँ आश्रय का मतलब केवल बाह्य इन्द्रियों या इन्द्रियों के विषयों में ही नहीं, उनके समूहात्मक जीवन में भी एक परिवर्तन हो जाता है, एक नया आश्रय या नया व्यक्तित्व बन जाता है । उसका अर्थ केवल इन्द्रियों के सम्बन्ध तक ही सीमित नहीं होता, मैं समझता हूँ समूहात्मक रूप में उसका परावर्तन हो जाता है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

किन्तु यहाँ केवल परावृत्ति शब्द नहीं है, परावृत्ति के साथ इन्द्रिय-परावृत्ति भी है । इस इन्द्रिय-परावृत्ति का अभिप्राय यह है कि जो चक्षु इन्द्रिय बाह्य रूप को देखती है, वह बाह्य रूप को देखना बन्द कर देगी । इस तरह के जितने बाह्य आलम्बन हैं, उन आलम्बनों को छोड़कर वे इन्द्रियां स्वयं विज्ञानस्वरूप हो जायंगी । यह मैं समझता हूँ, उसका अभिप्राय है ।

श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य

बोधिचर्यावतार में आत्म-परिवर्तन का एक प्रकरण है, अर्थात् जब तक मैं समस्त जगत्सत्त्व का उद्धार नहीं करूँगा, तब तक मैं बोधिसत्त्व नहीं बन सकता । इसीलिये पहले बोधिचित्त उत्पन्न करके बोधिचित्त को सफल करने के लिये आत्म-परिवर्तन करना चाहिये । आत्म-परिवर्तन की वहाँ विस्तार से व्याख्या की गई है, अर्थात् जैसे कि उसने दुःख पाया है, कोई व्यक्ति दुःखी है, तो उसको

समझ कर मैंने दुःख पाया है । किसी ने सुख भोगा है, तो मैंने सुख भोगा है, ऐसा करके दूसरे को मैं समझना और मैं को दूसरा समझना, इस तरह से आत्म-परिवर्तन करना चाहिये । ऐसा करने से जो फल मिलता है, इसका बोधिचर्यावतार मे शान्तिदेवाचार्य ने स्पष्ट उल्लेख किया है एक अध्याय में । आपकी आश्रय-परावृत्ति भी ऐसी ही है या नहीं ? और फिर दूसरा प्रश्न जो अभी तन्त्रशास्त्र में व्याख्यात है । देवतासाधन के व्याख्यान पर आया है— "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" । वह भी आत्म-परिवर्तन का ही एक रूप है । अपने को दूसरा समझना, जैसे देवता के रूप में समझना, ऐसा करना भी उसका यह आत्म-परिवर्तन ही है । हमारी पूजापद्धति के अनुसार वज्राचार्य लोग जब पूजा करते हैं, तो उस समय कहते है मैं यजमानस्वरूप हूँ । आत्म-परिवर्तन ऐसा है या नहीं ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

आत्म-परिवर्तन जैसी पारिभाषिक शब्दावली, मैं नहीं समझता कि बौद्ध ग्रन्थों में किसी प्रकार आ रही है, जैसे आप कह रहे है । आश्रय-परावृत्ति है, लेकिन आश्रय का दूसरा पर्यायवाची शब्द आ सकता है, जो प्राचीन बौद्ध साहित्य में प्रयुक्त है । वह आत्मभाव है, अत्तभाव पाली में । उस आत्मभाव और आश्रय में कुछ फर्क है, इस पर विद्वान् सोच सकते है । लेकिन आत्म-परिवर्तन की जहाँ तक बात है, बौद्ध शब्दावली की जो प्रक्रिया बन चुकी है, उसमें मुझे नहीं लगता है कि मैंने कहीं ऐसा शब्द (आत्म-परिवर्तन) पढ़ा हो । लेकिन आश्रय-परावृत्ति अथवा आत्मभाव-परिवर्तन की बात अवश्य पढ़ी है । आत्मभाव केवल देह की ओर इंगित करता है, लेकिन यहाँ योगाचार में आश्रय-परावृत्ति शब्द शायद सम्पूर्ण रूप से परिवर्तन का सूचक है । केवल देह का ही नहीं, लेकिन मानसिक रूप से भी परिवर्तन होना यह आश्रय- परावृत्ति है ।

प्रो० एस० के० पाठक

शाक्त या शैव तन्त्र मे जैसा आगम का विचार रखा गया है, इस तरह का बौद्ध शास्त्र में तन्त्र का कोई व्याख्यान नहीं है । इसका कारण मैंने थोड़ा सा पहले ही बताया है कि भगवान् बुद्ध एक भी शब्द नहीं बोले । लंकावतारसूत्र में इसकी चर्चा है । फिर तन्त्रशास्त्र में भी इसको रखा गया है । असंग ने भी यह बात उठाई है । तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों में इसको प्रबन्ध के रूप में रखा गया है और वहाँ तन्त्र का हेतुतन्त्र, फलतन्त्र एवं उपायतन्त्र इस तरह से विभाजन किया है । लेकिन यह सारा विषय गुरु-सापेक्ष है । कौन हेतु क्यों है ? सर्वशून्यता का जहाँ ज्ञान है, वहाँ हेतु भी नहीं है, फल भी नहीं है, उपाय भी नहीं है, प्रज्ञा भी नहीं है, क्योंकि धर्मधातुविशुद्धि जब हो जायगी, तब उसके सामने इस तरह के प्रतीक शब्दों का कोई स्थान नहीं है । शब्दमात्र ही प्रतीक है । बौद्ध तन्त्र सामान्यतया प्रतीक को स्वीकार करते हैं और प्रतीक को ही लेकर थोड़ा आगे जाकर वे उस प्रतीक को भी फेंक देते है, क्योंकि प्रतीक तो सत्य नहीं है । प्रतीक की तो चित्त की स्थिति के अनुसार जरूरत होती है।

इसीलिये प्रातःकाल जैसी चर्चा हुई कि गुरु जब दीक्षा देंगे तो वे आपके नक्षत्र-राशि आदि पर आश्रित नाम को देखकर आपको व्योममन्त्र लगेगा कि अग्नि मन्त्र लगेगा या आपको उदकमन्त्र लगेगा ? उसी नाम के आधार पर आपको मन्त्र दिया जायगा । आजकल आधुनिक युग में देखने में आता है कि किसी जगह में एक साथ २५ आदमियों को बैठा कर मन्त्र दिया जाता है, तो मैं उस विधि को प्रणाम करता हूँ । हर एक आदमी के संस्कार के अनुसार चित्तवृत्ति की गति अलग-अलग होती है । इसीलिये एक व्यक्ति के जन्म-नक्षत्र के अनुसार उसके स्वाश्रित तत्त्वों के अनुसार ही दीक्षा के समय किसी उचित मन्त्र का उसको उपदेश होगा । हमारा जो शरीर है, यह जो काय है, इसका नाम काय तो बहुत सार्थक है ।

Kāya is a congregation of various elements. Why is this *maṇḍala* of three kinds ? One is *Bhūmimaṇḍala*, one is *Śabda maṇḍala* and another is *Kāyamaṇḍala*. So, when I say the *Bhūmi maṇḍala*, then you keep the body in the *śavāsana*. Then you see that all the doors are being opened, you easily inhale and exhale through doors. So the *dvāras* are there, *upadvāras* are there and the *hṛdaya*, the *garbhagṛha* of the temple architecture. Similarly in the *Śabdamaṇḍala*, as you find in the *Guhyasamājamaṇḍala* and others. The Vairocana lives in the from the *mūlādhara*. The sound passes through the vocal organs *Sambhogakāya*. In the *Sambhogakāya* one attains the intermediatary state and the lien between the cosmic world as well as the mundane world. So the Vairocana is nothing but an effulgence. The name itselfs in Tibetan is clear. The word *rnam par-snaṅ-mdzad*. That is only the rays, only the light. Because Devatā is nothing but effulgence. Deva, from the *dhātu divu* means that which gives light, effulgence. Within the said effulgence the Buddha is in a sitting position and so many rays are there as described in the Tantric texts of Buddhism. The Buddha and the other divine deities become effulgent. When we discuss *Pha-rgyud* and *Ma-rgyud*, *Pitṛ-tantra* and *mātṛ-tantra* in Buddhism, the question comes, whether it is spoken, delivered, explained by Bodhisattvas or by the Yuṁ (*Śakti*). And really आश्रय-परावृत्ति is *Svaparāvṛti*. It is not a new thing that has been made by Asaṅga. In the Mahāvagga, when Śākya Buddha Gautama got up from his meditation, he declared: "प्रतिस्रोतगामी" I am going on the reverse way. My sensory nerves, my motor nerves are going in one direction. But the autonomic nerves functioning, it may go in reverse way.

माता यथा नियं पुत्तं आयुषा एक पुत्तमनुरक्खे ।
एवमपि सब्ब भूतेसु भावये अपरिमाणं ।

That as a mother loves her only child by the best to get her child brought up, similarly, you take all the beings in the same endeavour.

Prof. N. Tatiya

In the last para of your paper you said that the individual becomes identical with the Nature itself. What do you mean by the Nature ?

Prof. S.K. Pathak

In the first paragraph of my article I have explained this point. The Tantra may be discribed as a methodology in widening the individual energy upto the extent of all beings of the worlds. The universe is cosmic too. The Tantra is practical as well as scientific. How to extend man's potentiality for the good and welfare of the beings ? The aim of Tantra refers to the extension of individual life upto the universe. That is to spread over inner effulgence of an individual on the cosmic effulgence. The origin of the Tantra is controversial. In brief, Tantra is probably originated from the laws of Nature. I mean the *maṇḍala*, which goes up to the cosmic galaxy. In the early days of human history, the primitive men could explore the existence of inherent power within themselves. They visualised the embodiments of that power in the sun, the moon and in the planets and in the stars. Every person endeavours to be indentical with other phenomena of Nature. The Yogatantra is an experiment in that direction. That was actual premise. By the Nature I mean, the Nature around an individual.

श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य

जो कुछ मैने कहा है, वह मेरी तरफ से नहीं कहा है । वह आचार्यों के द्वारा कहा गया है । वहां एक प्रकरण ही है, जिसमें आत्म-परिवर्तन की विधि वर्णित है । वहीं व्यक्ति के आत्म-परिवर्तन की एक दो बाते है कि इनका अभ्यास करे, तो उसका फल प्रत्यक्ष प्राप्त होगा ।

डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी

आप जो कह रहे है, वह बोधिचर्या की साधना के सम्बन्ध में है । बोधिचर्या कैसे की जाय । जैसे तिब्बती में दग-जन-ञम-लेन, स्व-पर समता है । लेकिन परावृत्ति तो दूसरा विषय है । राग-परावृत्ति के होने से ज्ञान का प्रादुर्भाव होगा । वह तो संदर्भ अलग है, परावृत्ति और आश्रय-परावृत्ति से इसका सम्बन्ध शायद नहीं है । वह तो बोधिचित्त की उत्पत्ति के सन्दर्भ में बोधिचर्यावतार में कहा गया है ।

मै प्रो0 पाठक जी से यह जानना चाहता हूँ कि क्या योगतन्त्र में चारों अभिषेकों का विधान है ? आपने अपने निबन्ध में कलशाभिषेक, गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक आदि का जिक्र किया है, क्या यह अभिषेक का विधान योगतन्त्र में भी उपलब्ध है ? वैसे परम्परा यह कहती है कि योगतन्त्र में कलशाभिषेक तक ही दिया जाता है । गुह्याभिषेक, प्रज्ञाज्ञानाभिषेक और अन्तिम चतुर्थाभिषेक योगतन्त्र

की नहीं, अनुत्तर तन्त्र की विशेषता है, जहां निष्पन्नक्रम की साधना का अधिकारी बनाने के लिये यह दिया जाता है । योगतन्त्र में इसका विधान नहीं है ।

प्रो० एस० के० पाठक

हमारे सामने तीन प्रकार की चर्या है— प्रपंचचर्या, निष्प्रपंचचर्या और अतिनिष्प्रपंचचर्या । योगतन्त्र में तीक्ष्ण इन्द्रिय साधकों के लिये यह तृतीयाभिषेक तक चलेगा । लेकिन ऐसा भी कोई हो, जिसकी रुचि अतिनिष्प्रपंचचर्या में भी जाने की हो, तो उसके लिये चतुर्थाभिषेक क्यों नहीं दिया जायगा ?

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

परम्परा यह कहती है कि योगतन्त्र के अनुसार युगनद्धकाय की प्राप्ति बिल्कुल सम्भव नहीं है । युगनद्धकाय की प्राप्ति का अधिकार अनुत्तरतन्त्र की विशेषता है । योगतन्त्र में बोधि के बारे में जिक्र तो है, लेकिन साधन पूर्ण नहीं है । इसके लिये ही अनुत्तर-योगतन्त्र का उपदेश किया गया है । योगतन्त्र के ग्रन्थों में भी, सर्वतथागततत्त्वसंग्रह जैसे योगतन्त्र के ग्रन्थों में भी युगनद्धकाय की प्राप्ति की व्याख्या हो, या विधान हो, तो अनुत्तर-योगतन्त्र के उपदेश का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा ।

प्रो० एस० के० पाठक

योगतन्त्र में सामान्य रूप से यह संस्थापन किया गया है, परन्तु साधक या वज्राचार्य जब अपनी तीक्ष्ण धीः के ऊपर निर्भरशील है, इसकी गति जब निष्पन्नक्रम से आगे बढ़ती चलती है, जब धर्ममेघ भूमि में विचार करने के लिये तैयार हो जाती है, तब उनके सामने अतिनिष्प्रपंचक्रम की चर्या स्वतः ही प्रकाशित हो जाती है ।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

देखिये यदि योगतन्त्र में व्यवस्था है, तो गुह्यतन्त्र को उद्धृत करने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी । योगतन्त्र में कहीं भी चतुर्थाभिषेक की व्याख्या नहीं मिलेगी । तत्त्वसंग्रह योगतन्त्र का ग्रन्थ है, उसमें यह अनुपलब्ध है ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

जिन्हें तिब्बती परम्परा में योगतन्त्र कहा जाता है, उनमें से एक सर्वतथागततत्त्वसंग्रह है । उसमें इन अभिषेकों का वर्णन है या नहीं ? यदि है, तो फिर वह योगतन्त्र में है, ऐसा कहेंगे । वहाँ नहीं है और गुह्यसमाज में है, तो फिर योग और अनुत्तरयोग में कोई भेद नहीं है, ऐसा अर्थ होगा ।

प्रो० एस० के० पाठक

नहीं, इसका तो जबाब मैंने दिया है कि प्रपंचचर्या, निष्प्रपंचचर्या और अतिनिष्प्रपंचचर्या इन तीनों में ऐसी कोई भेदरेखा नहीं है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

पाठक जी से निवेदन है कि तन्त्रों के वर्गीकरण में हर दीक्षा के अलग-अलग नियम है । हम दीक्षा कहें, या अभिषेक कहें, या संवर कहें, उन तीन श्रेणियों के आधार पर विभाजन किया जाता है । संवर, दीक्षा, अभिषेक— उसमें चर्यातन्त्र, क्रियातन्त्र उससे आगे आता है योगतन्त्र । योगतन्त्र में सबसे ऊँची साधना युगल-परिलम्बित सुख संवेदनाओं से की जाती है । युगल- परिलम्बित सुख के उत्पाद के लिये गुह्याभिषेक या दूसरा अभिषेक देना आवश्यक नहीं है । प्रथम अभिषेक के अन्दर ही वह आता है । चार अभिषेकों का जहाँ तक प्रश्न है, अभिषेक तो ११ प्रकार के होते है, सोलह भी हो जाते हैं, वह दूसरी बात है । लेकिन मुख्य वर्गीकरण ग्यारह अभिषेकों वाला है । वह चार वाला तो उससे आगे जायेंगे, तो गुह्याभिषेक का क्रम आवेगा । दीक्षा के समय वज्रघण्टा नामक अभिषेक भी होता है । उसे आचार्याभिषेक भी कहते हैं । लेकिन यह जो गुह्यसमाज में उद्धृत या प्रतिपादित दूसरा या तीसरा अभिषेक है, उसका उल्लेख या विधान योगतन्त्र में नहीं होना चाहिये, वह होता भी नहीं है । योगतन्त्र का जो ग्रन्थ इस समय उपलब्ध है, वह तत्त्वसंग्रह है । तत्त्वसंग्रह में प्रारंभ से अन्त तक यह सब कहीं भी नहीं मिला है । तत्त्वसंग्रह की अनेक व्याख्याएं भी मिलती हैं, खासकर के आचार्य बुद्धगुह्य की भी उनमें एक है । वहाँ उसका बहुत विस्तृत वर्णन हैं । वहाँ दूसरे अभिषेक का निषेध किया गया है कि योगतन्त्र में यह नहीं होता । कुसुमांजलि, अनुत्तरतन्त्र-योगावतार जैसे और भी बहुत से तन्त्र हैं । उनमें भी दूसरे-तीसरे और चौथे अभिषेक का योगतन्त्र के लिये निषेध किया गया है । वहाँ किसी हालत में यह नहीं होना चाहिये, होता भी नहीं, परम्परा से भी नहीं होता । वह परम्परा है, इतिहास नहीं । वह इस समय जीवित है । जीवित परम्परा में जब दिखाई नहीं पड़ता, तो आप कहाँ से उसको जोड़ेंगे ।

प्रो० एस० के० पाठक

मैंने जोड़ा नहीं है । मै आपको वह स्थान बता रहा हूँ । खे-डुब- जे ने ज्ञानतिलक को उद्धृत किया है । ज्ञानतिलक से उद्धृत करके कहा है कि आपको नल-जोर (योग) जो है, उसके लिये कितना और ज-ग्युद (क्रियातन्त्र) के लिये कितना है, उन सब पर उन्होंने प्रकाश डाला है । मैंने ज्ञानतिलक के आधार पर यह सब लिखा है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

आप यह अनिमित्त-योग की चर्चा करते है । किन्तु अनिमित्त-योग के लिये भी यह जरूरी नहीं है । अनिमित्त-योग क्रियातन्त्र में भी नहीं मिलता । वहाँ सनिमित्त अथवा अनिमित्त-योग दूसरे अभिषेक के बिना भी किया जाता है । अनिमित्त-योग के लिये अलग विधान है ।

दूसरा प्रश्न, यहाँ आश्रय-परावृत्ति की बात उठी है । इस प्रश्न को द्विवेदी जी ने भी उठाया, हमारे वज्राचार्य जी ने भी उठाया और साम्तानी जी ने

भी उठाया । उसमें से पहले मैं हमारे मित्र साम्तानी जी के प्रश्न का उत्तर दूंगा । उन्होंने जो प्रश्न "फन्डामेन्टल चेंज या बेसिक चेंज" इस तरह से जो अंग्रेजी शब्दों को लेकर कहा था, तो यह न बेसिक चेंज है, न परसनल चेंज है और न फन्डामेन्टल चेंज है । यह एक अलग चीज है । यहाँ आश्रय शब्द का जो मतलब हम समझ रहे हैं, वह नहीं है । वज्राचार्य जी ने जो कहा था, वहाँ आत्म-परिवर्तन शब्द का उपयोग किया है । वह स्वपरावर्तन है । स्व और पर में परिवर्तन करना होता है । यह बोधिसत्त्वों का प्रथम सोपान है । उसकी भावना की जाती है, वह स्वपरावृत्ति है । आश्रय-परावृत्ति से इसका बिल्कुल सम्बन्ध नहीं है । पाठक जी ने आश्रय-परावृत्ति की बात कही, वह भी उस तरह से नहीं है । शास्त्र यह नहीं कहता, शास्त्र दूसरी बात कहता है । द्विवेदी जी ने जो विस्तार से कहा कि आश्रय-परावृत्ति का क्या अर्थ हो सकता है, लेकिन इस किस्म की बातें हम नहीं समझते । जो शास्त्र में लिखा हुआ है, यह विज्ञानवादियों की अपनी विशेष बात है । विज्ञानवाद की भी दो प्रकार की परम्पराएं हैं । एक असंग की परम्परा है, जो आठ विज्ञान मानते हैं । छः विज्ञान मानने वाले इनसे अलग हैं । आठ विज्ञान मानने वालों के सिद्धान्त के अनुसार आठवाँ विज्ञान आलयविज्ञान है । आलय, आश्रय, मूल-विज्ञान और भवविज्ञान या भवचेतन इस तरह के तीन चार शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त हैं । भवंग यह पाली में भी है । भवंग चित्त को कहते हैं । विज्ञानवादियों के ग्रन्थों में उसको आलयविज्ञान कहा जाता है । कई सूत्रों में उसको मूलचित्त भी कहा गया है, कई जगह में उसको आश्रय कहा जाता है । यह विज्ञान एक ही चीज है । उस विज्ञान में जो संस्कार निहित रहता है, विज्ञानवादियों के हिसाब से वह संस्कार जब बाह्य रूप में इन्द्रियों को आलम्बन बना करके सामने आता है, तो इन्द्रिय-ज्ञान पैदा होता है । जब यह संस्कार समाप्त हो जाता है, तब वह विज्ञान परावृत्त बन जाता है, निषिद्ध होने लगता है । दूसरा इन्द्रिय-निरोध स्वप्न की अवस्था में होता है । इन्द्रिय-निरोध समाधि की अवस्था में भी होता है । लेकिन यह सप्तम भूमि तक (बोधिसत्त्वों की १० भूमि गिनाई गई हैं) खतम नहीं होता । आलय विज्ञान में निषेध के जो संस्कार हैं, मूलतः जो खतम हो जाते हैं, वह कहाँ होते हैं ? वह आठवी भूमि में शुरू होता है । आठवीं भूमि के आगे भी और दो भूमियां, नवीं भूमि और दसवीं भूमि है । उस समय भी बोधिसत्त्व अपने संभारों का संचयन करता है । जैसे ज्ञानसम्भार और पुण्यसम्भार का संचयन करता है, तो उस समय उसके ज्ञान का क्या होगा ? आलय तो खतम हो गया । इसीलिये आलयविज्ञान की जगह पर वहां आश्रय-परावृत्ति विज्ञान रखा हुआ है । इसीलिये आश्रय-परावृत्ति विज्ञान जो है, वह आलयविज्ञान का दूसरा प्रतिरूप है, जो अनास्रव रूप होता है । सास्रव विज्ञान को कहते हैं— आलयविज्ञान, अनास्रव मूलविज्ञान को कहते हैं— आश्रय-परावृत्ति विज्ञान । सारे शास्त्रों में यही लिखा हुआ है । असंग ने भी यही लिखा है । सारी परम्परा जीवित है, वह यूं ही नहीं है । इसलिये आश्रय-परावृत्ति एक विशेष पारिभाषिक शब्द है । प्रो० पाठक जी ने तन्त्र के सन्दर्भ में जो इसकी चर्चा की है, वह भी ठीक है । तन्त्र में भी इस तरह के छः या आठ विज्ञानों की आश्रय-परावृत्ति होती है, उससे अलग-अलग विशुद्ध विज्ञान बनते हैं, तत्त्व बनते हैं, जो आश्रय-परावृत्त होते

है । तदाश्रित छः सात विज्ञानों का अलग-अलग रूप स्पष्ट बनता है । इसीलिये तन्त्रों में वह जो परावृत्त विज्ञान, विशुद्ध विज्ञान होता है, उससे देवकाय भी बनता है । इसीलिये वहाँ आश्रय-परावृत्ति की बात आती है ।

सुबह मण्डलों के बारे में चर्चा हुई । इस विषय में भी हम कुछ कहना चाहते हैं । सबेरे हम लोगों ने मण्डलों के बारे में बहुत कुछ सुना, बहुत कुछ विचार किया, बहुत से अच्छे-अच्छे विचार सामने आये । इसके लिये मैं सभी वक्ताओं को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ, हम आभारी हैं आपके । साथ-साथ इन मण्डलों का उद्देश्य क्या है ? यह त्रिकोण क्यों है ? चार कोण क्यों है ? यह प्रश्न आया है । जिस पर उत्तर साफ नहीं आया । इसमें रंग क्यों ऐसा होता है ? मण्डल बनाया क्यों जाता है ? देवता के लिये तो उनको मन्दिर में बिठाकर पूजा कर सकते हैं हम, तो मण्डल की क्या जरूरत है ? इत्यादि बहुत से प्रश्न आये हैं । इनका कोई संतोषजनक समाधान हमें तो नहीं मिला, आप लोगों को मिल गया हो तो दूसरी बात है । इस बारे में हमें एक बात कहनी है । एक भारतीय विद्वान् सारे तन्त्रों के ज्ञाता माने जाते थे । उनका नाम था बुद्धगुह्य । वे पहले शाक्त तन्त्र के विद्वान् थे, उसके बाद वे शैव तन्त्रों के भी ज्ञाता बने । वैष्णव तन्त्र का उनका ज्ञान कहां तक था, यह हम नहीं जानते, किन्तु बाद में वे बौद्ध तन्त्रों के बड़े विद्वान् बन गये । नागार्जुन के बाद व्याख्याकारो में और तन्त्र के व्याख्याकारों में वे सर्वश्रेष्ठ आचार्य हुए । उनके कई मौलिक ग्रन्थ हैं । द्विवेदी जी ने आपत्ति की है कि हिन्दू तन्त्र नाम की कोई चीज नहीं है । यह सही है कि हिन्दू तन्त्र नाम की कोई चीज नहीं है, हिन्दू तन्त्र कहीं दिखाई नहीं पड़ता । यहाँ तो शैव है, शाक्त है, वैष्णव है, संहिता है । इस तरह से यह बात एक दम सही है । बाद में बौद्धाचार्यो ने जो तन्त्रों की व्याख्या की, वहाँ पर भी बुद्धगुह्य जगह-जगह उद्धृत करके उसको प्रमाणित करते हैं । यह मैं इसलिये कह रहा हूँ कि उनके एक मण्डल सम्बन्धी ग्रन्थ में उन्होंने सामान्य मण्डल सम्बन्धी विधि का संक्षेप में वर्णन किया है । उसमें उन्होंने आठ मुद्दे उठाये है ।

बुद्धगुह्य का यह ग्रन्थ किसी ग्रन्थ की टीका नहीं, स्वतन्त्र ग्रन्थ है, छोटा सा ग्रन्थ है । इसमें मण्डल का विवरण है । मण्डल का सामान्य परिचय देकर उसमें मण्डलों का आठ तरह का और सोलह तरह का विभाजन किया गया है । उसमें सबसे पहले यह कहा गया है कि उसका उद्देश्य पहले तो स्वरूप-संवृति, परमार्थ यह सब है । वहाँ मण्डल त्रिकोण भी बनता है, चौकोर भी बनता है, गोल भी बनता है । मण्डलों में दो द्वार भी होते हैं, चार द्वार भी होते हैं । एक मण्डल के बाहर-भीतर १२ तक, १६ तक और ३२ तक अन्तर्विभाग होते हैं । उन सबका अलग-अलग प्रयोजन है । उसमें जो रंग चढ़ाया जाता है, किसी का बाह्य रंग काला है, किसी का बाह्य रंग नीला है, किसी का बाह्य रंग सफेद है, तो इस तरह से मण्डलों की दीवारों के जो रंग हैं, वह एक-एक करके बाह्य शोभाओं की जो जगह है, वहाँ पर भी भिन्न-भिन्न रंग होते हैं । फूल रखा जाता है, चिह्न रखा जाता है, तो उस फूल या चिह्न से उस देवता का विशेष सम्बन्ध रहता है । समाधि से या प्रज्ञा से हमें इसकी जानकारी मिलती

है । कमल के साथ उसका सम्बन्ध रखना है, तो वह ठीक इसी तरह से लाल रंग रखना चाहिये । लाल रंग से उसका विशेष सम्बन्ध है । कृष्णयमारि का चिह्न रखना होगा, तो वहाँ लाल रंग से काम नहीं चलेगा, वहाँ तो काला रंग ही चलेगा इसी तरह से आर्यलोकेश्वर में काला नहीं, वहाँ सफेद रंग चलेगा । इसी तरह से जब लक्ष्मी को रखियेगा, तो लक्ष्मी में तो गुलाबी रंग लगेगा । इस तरह से रंगों का देवताओं के साथ विशेष सम्बन्ध है ।

इन रंगों का शक्ति के साथ सम्बन्ध रहता है, प्रतीक के रूप में सम्बन्ध रहता है, धातु के रूप में सम्बन्ध रहता है, चिह्न के रूप में सम्बन्ध रहता है, समाधि के रूप में सम्बन्ध रहता है, उस आकार के रूप में सम्बन्ध रहता है, स्त्री-पुरुष के रूप में सम्बन्ध रहता है, या उस देवता की शक्ति के साथ सम्बन्ध रहता है । इसी तरह से किसी का वज्र रख दिया, किसी का कलश रख दिया । जैसे कि मंजुश्री के लिये वहाँ कलश रख दिया, तो काम नहीं चलेगा, वहाँ तलवार रखनी पड़ेगी । आर्यावलोकितेश्वर विष्णु के लिये तो तलवार रखने से भी काम नहीं चलेगा, वहाँ तो चक्र रखना पड़ेगा । इन्द्र के लिये कलश रख देने से काम नहीं चलेगा, वहाँ पर वज्र रखना पड़ता है । इन्द्र तलवार नहीं चला सकता, ऐसी बात नहीं है, लेकिन उसका विशेष सम्बन्ध वज्र से है । अमुक देवता का अमुक आध्यात्मिक शक्ति के साथ विशेष सम्बन्ध रहता है, रंग से भी सम्बन्ध रहता है । इसीलिये मण्डलों के निर्माण के साथ ज्यादा से ज्यादा रंग इस तरह के होने चाहिये, जैसा कि उन सबकी अपनी स्वमूर्ति का विधान है । सभी देवताओं का अपना प्रधान चिह्न वहाँ होना चाहिये । उन सबका भी अपना अलग-अलग प्रतीक है, क्योंकि तन्त्र प्रतीकों के आधार पर ही चलता है । उसकी सारी मान्यताएं प्रतीक के आधार पर चलती हैं, जिससे कि वह असली तत्त्व को समझ सकता है । यद्यपि वहां रंग से कोई मतलब नहीं है, रंग से सुन्दरता का कोई मतलब नहीं है । वह एक प्रतीक है, लक्ष्य है, किसी चीज को लक्ष्य करता है । वह तो लक्षण के रूप में, प्रतीक के रूप में करता है । इसलिये हर मण्डल में अलग-अलग चीज एक जैसी रहती है । मुख्य उद्देश्य उसका मण्डल बनाने का है ।

पूजा के लिये या साधना के लिये, दो तरह से मण्डल बनाया जाता है । एक तो मण्डल में प्रवेश करके स्वयं मण्डलेश्वर बनने के लिये अपना मण्डल बनाता है । वह इसलिये नही बनाता कि वह हिन्दू है या बौद्ध है । गुह्यतन्त्र से भी नहीं मतलब है, क्रियातन्त्र और विष्णुसंहिता से भी नही । पूरे हिन्दुस्तान में भारतीय तन्त्रशास्त्र में मण्डल की जो स्थिति है, उसकी बात मैं कह रहा हूँ । उन्होंने कहा कि सामान्य रूप से मण्डल इसलिये बनाया जाता है कि हमारी जो साधारण प्रतीति है, जो दिखाई पड़ रहा है, हम लोगों की चालू पद्धति है, इन्द्रियों को दिखने वाली चीज है, इन चीजों के साथ देवता का सम्बन्ध नहीं होता । इन चीजों के साथ हमारी जो मान्यता जुड़ी है, यह मेज है, यह आदमी है, इस तरह की जो कल्पनाएं जुड़ी है, जो हमारी रोज की व्यावहारिक मान्यताएं हैं, कल्पनाएं है, उन कल्पनाओं की प्रतीति के आधार पर हम देवताओं की पूजा नही कर सकते । इसलिये इन सारी सामान्य व्यावहारिक

चीजो को लौकिक चीजों से निरुद्ध करेंगे, उसका अवसान करके अलग से एक सृष्टि का निर्माण करेंगे । यह हमारे लिये नहीं है, यह तो उसके लिये है, जिसको बुलाया जा रहा है । कोई बुद्ध को मान रहा है, शिव को मान रहा है, विष्णु को मान रहा है, या सरस्वती को मान रहा है । यह सब जिस अवस्था में है, उसी का यहाँ घर बनाया जाता है । तब मन्त्र के द्वारा उसका आवाहन किया जाता है, प्राणप्रतिष्ठा की जाती है । वह सब उसके बाद होता है । इन सबका अलग-अलग विधान है । बौद्धों का अलग है, शैव-वैष्णव का अलग है, क्रिया का अलग है, चर्या का अलग है, लेकिन मण्डल बनाने का मुख्य उद्देश्य एक ही है कि उसमें अपने इष्टदेव की दिव्य पूजा सम्पन्न करें, विशेष मन्त्रों के द्वारा हम उनका आवाहन करें । अतः यह सब कार्य अपने-अपने विधान के अनुसार ही करना पड़ता है । तान्त्रिक भाषा में उसको समय कहा जाता है । इसलिये मण्डल का मुख्य उद्देश्य सभी सम्प्रदायों में एक सा है । अब मण्डल शून्यता से बनता है या वस्तु से बनता है, वह अलग-अलग सम्प्रदायों के अनुसार होता है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

इसी के साथ मैं एक वाक्य जोड़ दूँ । तन्त्रालोक में बाह्य और आन्तर दोनों प्रकार की पूजाओं का विधान है । बाह्य पूजा के लिये उन्होंने ११ उपादान गिनाये हैं । उनमें मण्डल भी एक उपादान है । पत्र (कागज) या पट (वस्त्र) पर चित्र बनाकर भी पूजा की जाती है । कुछ ऐसे शब्द वहाँ हैं, जोकि आज आदिवासियों की पूजा में प्रचलित हैं, तूर इत्यादि वे शब्द है । गुरु को भी इस पूजा में स्थान दिया गया है । प्रतिमा और मूर्ति के सूक्ष्म अन्तर को भी वहाँ बताया गया है कि प्रतिमा देवता की होती है और मूर्ति गुरु की । आपने आश्रय-परावृत्ति शब्द का अर्थ बताया, वह तो बहुत ठीक है । किन्तु पाश्चात्य या हमारे यहाँ के कुछ विद्वानों ने जिस रूप में, जिस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है, वह मैं समझता हूँ कि उचित नहीं है । हो सकता है कोई उसका आधार हो, पर वह आधार मुझे ज्ञात नहीं है ।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

मैं भी मण्डल के विषय में थोड़ा सा कुछ और कहना चाहता हूँ । उसमें कुछ जानकारी की और बाकी तो प्रतीक रूप की बात है । मण्डल शब्द तन्त्रविधान में भी अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है । सर्वप्रथम हम देखें कि कोई भी यन्त्र बनता है, तो उस यन्त्र को कुछ लोग चौकोर बना कर चतुरस्र से उसको घेर लेते हैं । उसमें कुछ द्वार भी बनाए जाते हैं । उसको हम भूपुर कहते है । भूपुर भी दो प्रकार का है । एक में द्वार खुले रहते है और कुछ संप्रदायों में उनके द्वारों को बन्द कर दिया जाता है । दोनों की अपनी-अपनी सामान्य लौकिक मान्यताएं है । वे कहते हैं कि देवता अन्दर विराजमान हैं । हम उनकी पूजा कर रहे हैं । उनका द्वार खुला रखते हैं तो वह देवताओं को कोई विसर्जन तो करना नहीं है । वह वहीं विराजमान है । उनको यों ही रखना

है । इसलिये हम बन्द रखते है । कुछ लोग कहते हैं कि नहीं देवता आते है तो उनके लिये द्वार खुले रहने चाहिये । श्रीचक्र के ये दोनों रूप प्रायः प्राप्त होते है । केरल सम्प्रदाय वाले द्वार उद्घाटित रखते है, जबकि हमारे इधर उत्तर भारत के उपासक द्वार बन्द रखते है । जैन तन्त्रों, मन्त्रों और यन्त्रों में आप एक बात विशेष देखेंगे कि वहाँ जैसे ऋषिमण्डल का यन्त्र है, उसको कलशाकार में बनाया गया है । कलश के आकार में बनाने के बाद आज भी वे लोग उसको वारुण मण्डल के द्वारा आवृत करते है । शाक्त उपासक उसे आग्नेय मण्डल के द्वारा आवृत करते है । आगे चलकर आचार्यों ने इसके बारे में यह कहा है कि जिस कामना से, जिस षट्कर्म में, जिस यन्त्र का निर्माण कर रहे है, या मण्डल बना रहे है, उसमें इस तरह का परिव़र्तन भी करना चाहिये, जिससे आप जिस काम्य कर्म को सिद्ध करना चाहते है, वह उसके द्वारा सुलभ हो सके । उदाहरणार्थ हम यदि उग्र कार्य कर रहे है, तो आग्नेय मण्डल के द्वारा उसको आवृत करते है, तो शीघ्र सफलता मिलेगी । यदि वारुण मण्डल से उसको आवृत कर दिया, तो वह शीतल हो जायगा और हमारे उग्र कर्म के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होगा । दूसरी बात यह है कि इन मण्डलो का एक और प्रकार होता है, जिसमें उस देवता के जो परिकर या परिवार देवता है, उनमें से जो विशिष्ट है, उनका वहाँ आवाहन किया जायगा । यह नहीं कि जितने उनके परिवार देवता है, उन सबको वहाँ आवृत कर लें, क्योंकि उनमें से कुछ सौम्य होते है तो कुछ उग्र भी होते है, कुछ रक्षक भी होते है, कुछ भक्षक भी होते है । भैरव आदि देवता ऐसे है, यदि उनका स्मरण हम पहले नहीं करते, तो वे हमारा किया हुआ सब कुछ बिगाड़ सकते हैं ।

रंग की बात आपने कही कि कौन सा रंग कहां उपयुक्त होगा । वह बात बिलकुल तथ्यात्मक है, सत्य है और उसकी प्रक्रिया को न जानने के कारण आज का हमारा विद्वत्समाज या जो कर्मकाण्डी पण्डित समाज है, वह केवल उसको रंगोली का रूप देकर अपनी ओर से भी बहुत सी सजावट करता रहता है । वे देखा-देखी ऐसा करते हैं । कभी-कभी लोकरंजन के लिये भी ऐसा करते हैं । हम भी अनुष्ठानों में, यज्ञों में जाते है, तो लोगों का रंजन करने के लिये उसने ऐसा बनाया तो हम उससे और बड़ा बना देते हैं । यह मात्र विनोद की बात है । उसका शास्त्रीय पक्ष हमारे सामने आया नही है, पर है जरूर वह । एक भद्रमार्तण्डाध्याय नाम का ग्रन्थ है और वह बृहज्ज्योतिषार्णव का एक भाग है । कोल्हापुर के बहुत बड़े विद्वान् ने उसकी रचना की है । उसमें अनेक प्रकारं के भद्रमण्डल बताये गये हैं । उसकी विशेषता यह भी है कि उस मण्डल के जो छोटे-छोटे चतुष्कोण बनते है, उसके अन्दर कही रांम का नाम अंकित कर उसे रामनामांकित भद्रमण्डल नाम दे दिया, कहीं कृष्णनामांकित, कहीं शिवानामांकित और कहीं शिवमन्त्रांकित । इस तरह से उन्होंने अनेक मण्डलों को छोटे बड़े बनाते बनाते अनन्त भेद कर दिये । वहाँ कहा गया है कि इनसे भक्तिभाव इतना ज्यादा जाग्रत् हो जाता है कि राम-कृष्ण के समान बनने हेतु रामकृष्ण का यज्ञ करेंगे, हरिहरात्मक यज्ञ करेंगे । जब हरिहरात्मक यज्ञ करना है तो हरि भी होने चाहिये, हर भी होने चाहिये ।

एकलिंगतोभद्र, चतुर्लिंगतोभद्र, द्वादशलिंगतोभद्र उसमें जोड़ करके और फिर विष्णु को सर्वतोभद्र के बीच में रखते है । सर्वतोभद्र यन्त्र के आसपास रंग की दृष्टि से सत्त्व, रज और तम नामक तीन प्रकार की परिधियाँ बनाई जाती है, जिन्हें हम गेहूँ के द्वारा, माष (काली उड़द) के द्वारा और चावल के द्वारा बनाते हैं । इसी प्रकार भद्रमण्डल के साथ-साथ और भी बहुत सी बातें मण्डल के ऊपर विचारणीय है । जैसे अन्य यन्त्रों में यन्त्र को आवृत करने के लिये कुण्डलिनी की त्रिवलयाकार आकृति का उपयोग होता है । जैन यन्त्रों में आप विशेष रूप से पावेंगे कि वहाँ नीचे होता है आं और ऊपर चला जाता है क्रों । हमारे यहाँ ये दोनों आकर्षण के बीज-मन्त्र है, उनको वे इस ढंग से प्रयुक्त करते हैं । कई यन्त्रों में ऐसा देखा गया है कि ऊपर आं है तो नीचे क्रों भी कर दिया, अथवा माया-बीज लगा दिया । वह भी एक प्रकार है । आन्तरिक शक्ति में हम जिस प्रकार का उद्बोधन और व्यवस्था चाहते है, उस ढंग से उसमें परिवर्तन भी होता है । कहीं ऊपर रखते हैं, कभी कोण में मिला देते हैं । नैर्ऋत्यादि कोण की अपनी स्वतन्त्र व्यवस्था है । धीरे-धीरे इनकी रचनापद्धति को हम भूलते जा रहे हैं ।

हमारे इधर के जितने शास्त्र हैं, उनमें छः आम्नाय से आगे बढ़ते नहीं है । किन्तु नेपाल में उपलब्ध ग्रन्थ बृहद्वडवानल तन्त्र में दशाम्नाय का सीधा उल्लेख है और वह दशाम्नाय के आधार पर सम्पूर्ण पूजाविधान को यन्त्र और मन्त्र की साधना को बताता है, उनका अपना अपना क्रम है । इस तरह से मण्डल शब्द वस्तुतः अपने मण्डल में इतने मण्डलों को समेटे हुए है कि उसके विभिन्न पक्षों को एक संकलित रूप में यदि हम प्रस्तुत कर सकें, तो जो हमारे अनुद्घाटित या विस्मृत पक्ष है, उन पर सुचारु प्रकाश पड़ सकता है । आज लोग कहते हैं कि तन्त्र मार्ग सफल नहीं होता, या यह कहते हैं कि हमने इतने वर्षों तक यह किया, कोई हमको लाभ नहीं हुआ । उसका मुख्य कारण यह है कि हम उनकी विशृंखलित कड़ियों को जोड़ नहीं पाते, या गुरुपरम्परा हमको मिलती नहीं है । गवेषक, खोजी विद्वानों को, जो मन्त्रशास्त्र और तन्त्रशास्त्र पर कार्य करते है, उनके लिये मेरी दृष्टि में ऐसे ऐसे पक्ष यहाँ उद्घाटित हुए है कि वे अब उनकी गहराई में जा करके एक एक विषय को लेकर के कहां कहां किस किस आचार्य ने किस किस आम्नाय से कहां कहां क्या क्या लिखा है और किस किस सम्प्रदाय ने किस ढंग से उसको व्यवस्थित किया है, इन सब विषयों को विश्लेषणात्मक परिष्कृत और परिशुद्ध रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं । यह कार्य तन्त्रशास्त्र के गवेषकों के लिये, जिज्ञासुओं के लिये बड़ा उपयोगी होगा ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

हम लोग तन्त्र के विद्वान् नहीं हैं, लेकिन तान्त्रिक शब्दों से घिरे रहते है । चाहे ग्रन्थ कोई भी पढ़ें, तन्त्र कहीं न कहीं किसी प्रकार आ ही जायगा । आपने आरम्भ में ही जो संभोगकाय की और महापुरुष-लक्षण और अन्य विषयों की बात की है, यह बड़ा दिलचस्प विषय है । अभी मण्डल की भी बात हुई है । हम आपसे कुछ पूछना चाहेंगे, अपने ज्ञान में वृद्धि करने के लिये । पहले

तो यह संभोगकाय शब्द खुद मैं समझता हूँ कि बाद का है, चाहे इसमें मतभेद हो । पहले निर्माणकाय और धर्मकाय शब्द आते हैं । लेकिन संभोगकाय का समय क्या है ? कब यह शब्द घुसा ? संभोग एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण शब्द है और संभोग का अर्थ आज जो आधुनिक भाषा में है, उसको आप जानते ही हैं, रजनीश को भी जानते है । संभोग शब्द महायान साहित्य में आया है, यद्यपि उसका अंग्रेजी अनुवाद इंज्वायमेन्ट करते हैं, उसे अंग्रेजी के विभिन्न पर्यायवाची शब्द दे सकते हैं । उस संभोगकाय के साथ जुड़ा हुआ एक शब्द हम आपको बता देते है, जो प्रभावशाली शब्द है, इसको हम समन्तप्रासादिकता कह सकते है । समन्तप्रासादिक यानी जो एक प्रसाद उत्पन्न करे । आजकल मैं अनुवाद कार्य में लगा हुआ हूँ । इस संभोगकाय का अर्थ वाडी ऑफ इंज्वायमेन्ट किया जाता है, मुझे वह जंचा नही । कोशगतबस्तिगुह्यता महापुरुष लक्षण को आप देखिये । इसका सम्बन्ध विपाक कर्म से है, यानी पूर्व कर्म भगवान् बुद्ध का है । टीकाओं में उसके साथ लिखा गया है कि पूर्वे गुह्यमन्त्र आरक्षणतया कोशगतबस्तिगतबस्तिगुह्यता, तो ये देखिये तान्त्रिक प्रभाव महापुरुष लक्षणों में है, यद्यपि यह कोशगतबस्तिगुह्यता कोई केवल महायान में नहीं है, क्योंकि अम्बट्ठ कथा आप सब लोगों को याद है । मैं यह जानना चाहूँगा कि यह शब्दावली क्या धीरे-धीरे तन्त्र के प्रभाव से बौद्ध धर्म में आई है ? दूसरा एक शब्द आप देखेंगे, क्योंकि उष्णीषशिरष्कता की भगवान् बुद्ध के महापुरुष-लक्षण के बारे में बड़ी चर्चा है और इसको जोड़ दे कुण्डलिनी से, तो हम यह जानना चाहते हैं कि उष्णीषशिरस्कता को क्या आप कुण्डलिनी से जोड़ेंगे ? आपने मण्डल की बात की है । उसमें न्यग्रोधपरिमण्डलता महापुरुष का एक लक्षण है । अब उसमें देखेंगे कि किस मण्डल की बात आ गयी है और बिलकुल सिमेट्रिकल बुद्ध की वाणी है । हमको लगता है कि धीरे-धीरे हमारे साहित्य में, बौद्ध साहित्य में, जब तान्त्रिक प्रभाव, चाहे पूरे रूप में नहीं, लेकिन आरम्भिक रूप में शुरुआत हुई, तो हमारी शब्दावली भी कुछ तन्त्रमय होने लगी । यद्यपि वह देखने में नहीं आती, लेकिन मैं चाहता हूँ कि उसके बारे में भी आप विचार कीजिये ।

प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक

अपने लेख में मैंने संभोगकाय के लिये 'इंज्वायमेन्ट' शब्द का व्यवहार किया है । मैने तिब्बती शब्द दिया लोङ-लुस्, लोङ् स्प्योद्-स्कु । वह भी एक चर्या है । 'लोङ्-प' आभूषण, आभूषण के साथ यह चर्या होती है । निष्प्रपंचचर्या में जब साधक आ जाते है, निष्प्रपंचचर्या में जब बोधिसत्त्व विहार करते हैं, अभिसंबुद्धकाय में या अभिसंबुद्धलाभ कर तब उनके सामने परिकर जो रहते हैं, वे भी ज्योतिष्मान् होते है, द्युतिमान् होते है । वह जो द्युतिमान् काय है, वही संभोगकाय है, उसके साथ अभी जो पारिभाषिक संभोग शब्द है, उससे कोई मिलता जुलता शब्द नहीं । दूसरी बात आप आनन्द के बारे में कहते हैं, समूचा साधन भारतवर्ष में एक ही दिशा में जा रहा है । दुःख की निवृत्ति से आप आनन्द-लाभ करते है । पहले आनन्द, फिर परमानन्द, फिर विरमानन्द, फिर सहजानन्द । अभी प्रश्न उठाया गया था कि योगतन्त्र मे इस तरह के चतुर्थाभिषेक की जगह है कि नहीं, लेकिन ऐसा कोई तीक्ष्णधी हो, जिसको पूरी तरह से

सहजानन्द का ज्ञान हो सके, उसके लिये मार्ग खुला है । सहजानन्द का मतलब है अकृत्रिम आनन्द, नान आर्टिफीसियल इंज्वायमेन्ट । हमारा जो स्वभाव है, वह स्वभाव परिशुद्ध है, लेकिन अविद्या के कारण संस्कारवशात् इसमें जितनी कृत्रिमता आ जाती है, इस कृत्रिमता से मुक्त होने के लिये हमारी पूरी तरह से कोशिश चलती है ।

अभी मण्डल के बारे में भी चर्चा चली । मंजुश्रीमूलकल्प का पहला पन्ना उठा कर आप देखिये । समग्र उग्र, शान्त, देव-देवियाँ, राक्षस, यक्ष, मण्डल में बैठे हैं । इसी के चौथे अध्याय में आप जाइये, जहां मण्डल के गठन की सारी बातें लिखी गयी हैं । दूसरे और तीसरे अध्याय में पट लिखने की बात है । पट कैसे लिखा जायगा आदि आदि, जिससे तिब्बती थंका की रचना-पद्धति पर प्रकाश पड़ता है । अभी एक वक्ता ने बताया है कि मण्डल का कोई दरवाजा खुला रहता है, तो कोई दरवाजा बन्द रहता है । नवद्वार को खुला रख कर भी साधना होती है ? नवद्वार को रुद्ध करके भी हमारी साधना हो पाती है ? उष्णीष के साथ हमारी कुण्डलिनी का संयोग है ही, क्योंकि यह भी एक अंग है और कुण्डलिनी का मूलाधार भी हमारा एक अंग है । मैं इस प्राचीन परम्परा से पूरी तरह से सहमत हूँ । भगवान् बुद्ध ने पूरी तरह से तन्त्र का व्याख्यान किया था, लेकिन मौन भाषा में किया था । जो ग्रहण करने योग्य था, उनको ही स्पष्ट हुआ, जिसके पास ग्रहणयोग्य शक्ति नहीं थी, उसे यह स्पष्ट नहीं हो पाया ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं प्रो० साम्तानी जी से एक निवेदन करता हूं । वे अभी तीन दिन या आज चौथे दिन भी पूर्वाह्ण तक उपस्थित नहीं थे । इसीलिये तन्त्र शब्द के अर्थ के बारे में वे अपने विचारों में कोई परिवर्तन नही कर सके । यह एक साजिश है तन्त्र शब्द के साथ, किसने शुरू की यह मैं नहीं जानता, किन्तु तन्त्र एक प्रक्रिया है, जिसमें कि केवल भारत की मानव जाति को नहीं, पूरी विश्वमानवता को मोक्ष पद तक पहुँचाने का एक मार्ग दिखलाया गया है । आजकल जिस अर्थ में यह शब्द प्रचलित हो गया है, उससे लोगों को घृणा हो गयी है । उसका वह अर्थ आरोपित है । अभी मैंने निवेदन किया है कि आगम और तन्त्र शब्द का अर्थ बदल दिया गया है, वह विकल्पात्मक अर्थ हो गया है । उसका वह अर्थ नहीं है, जो आजकल प्रजा में प्रचारित है, उसका एक पूरी प्रक्रिया से सम्बन्ध है, जो कि महाभारत काल से लेकर महिम्नस्तोत्र- कार के काल तक निरन्तर चलती रही है और पूरे भारत में विकसित सन्त साहित्य की आधारशिला है । "सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा" महाभारत के इस वचन में सांख्य और योग दर्शन की पूरी प्रक्रिया के साथ पांचरात्र और पाशुपत मत की आराधना पद्धति का उल्लेख किया गया है, जिसमें हम महायान को भी ले सकते हैं । इन सबके साथ वेद का जो उपनिषद् भाग है, उसको भी लेकर आगम और तन्त्रशास्त्र की विचारपद्धति प्रतिष्ठित हुई है । उसमें देवता भले ही भिन्न भिन्न हों, उसकी आराधना की विधि एक ही तरह की है और जो आप कहते

है, किसी एक अंश में उसकी भी सत्ता वहाँ मानी जा सकती है, उसे हम नकार नहीं सकते । किन्तु केवल वही तन्त्र नहीं है, यह पूरा वाङ्मय तन्त्र है ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

मैं द्विवेदी जी से एक प्रश्न करना चाहता हूँ कि आप इस बात से क्यों नाराज होते है, या मानने को आप तैयार नहीं होते है कि हर धर्म में हर प्रक्रिया में कुछ विकास है । अगर हम लोग यह मानते है तो कोई बुरा नहीं, अच्छा ही है । हम क्यों यह मानते हैं कि भगवान् बुद्ध ने महायान का भी आरम्भ किया, तन्त्र का भी आरम्भ किया, सब किया । यह क्यों नहीं मानते कि धीरे-धीरे भगवान् बुद्ध की कृपा से यह विकास हुआ ? आरम्भ से ही तान्त्रिक भाषा भी थी, यह कहने के लिये हम लोग तैयार होते है ? क्यों नहीं स्वीकार करते कि विकास की परम्परा इस बौद्ध धर्म में भी थी । हर बात आरम्भ से शुरू हो जाती है, जैसे कि सदा से सब कुछ चला आ रहा है । इस प्रकार की मनोवृत्ति मैं समझता हूँ, उचित नहीं है । मै समझता हूँ, यहां भी विकासशीलता काम कर रही है । उस विकासशीलता में शब्दावली भी विकसित होती रही है । आरम्भ में ही सब कुछ नहीं था, यह मै समझता हूँ कि आलोचनात्मक पद्धति से हम लोगों को मानना पड़ेगा । बाकी तो श्रद्धा की बात है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं बहुत कुछ आपके विकासशीलता के सिद्धान्त से सहमत हूँ किन्तु संभोग शब्द के जिस अर्थ को आप संभोगकाय के महायान सिद्धान्त पर आरोपित करना चाहते हैं, या 'कोशगतबस्तिगुह्यता' जैसे शब्दों में भी आपको तन्त्र दिखाई पड़ता है, उससे मैं सहमत नहीं हूँ । शैव और वैष्णव तन्त्रों में भी संभोग या भोग शब्द प्रयुक्त हुआ है, किन्तु इन सभी स्थानों में जीव की भोग और मोक्ष नामक दो अवस्थाओं में से पहली दशा का वह सूचक है । जिस अर्थ की आप सूचना देते है, उसका विकास बहुत बाद में हुआ है ।

प्रो० सुनीतकुमार पाठक

आपको मैं महानिर्वाणतन्त्र का एक श्लोक सुना दूं, जिससे आप कायसिद्धान्त को समझ पावेंगे । वहां कहा गया है—

उपासकानां कार्यार्थं श्रेयसे जगतामपि ।
दानवानां विनाशाय धत्ते नानाविधास्तनूः ॥

अभी काय के विषय में अलग-अलग विचार रखे गये हैं । आप तो जानते हैं— "उपायकौशल्य ममैव रूपम्" आदि जो विचार रखे गये हैं, इसका मतलब है कभी संभोगकाय में है, कभी धर्मकाय में है, कभी निर्माणकाय में है, कभी बोधिसत्त्वकाय में है, कभी सुखावतीलोक में है, कभी अकनिष्ठ लोक में है । भगवान् बुद्ध ने इन विभिन्न रूपों में अपने को कभी रूपावचर रूप में, कभी

अरूपावचर रूप में और कभी धर्म रूप में रखा । आपको याद होगा कि जब वे तुषित लोक में जाने लगे, तो मल्लिका रो पड़ी । मल्लिका ने कहा कि आप चले जायंगे, तो मैं क्या करूँगी । आपकी तो मैं श्रद्धा करती हूँ, पूजा करती हूँ । तब उन्होंने तुरन्त एक स्तूप का आकार बना दिया, आप तो कहेंगे कि वह विवर्तित होते होते स्तूप की कल्पना आयी है, चुल्लवग्ग के प्रातिमोक्ष में कहा है कि तब भगवान् बुद्ध चुपचाप मौन गंभीर बैठे थे । प्रातिमोक्ष पाठ की रात्रि है, समूचे आदमी बैठे हैं । प्रथम प्रहर खतम हो गया, द्वितीय याम चला गया, तृतीय याम चला गया, चतुर्थ याम जब जाने वाला था, तब आनन्द ने आकर कहा बोलिये भगवन् ! अब ऊषाकाल का नक्षत्र उदित हो गया है । तब उन्होंने कहा अपरि दिट्ठोऽहं संघ परि दिट्ठोऽहं संघ । यह जो परिदिट्ठसंघ है, उसके सामने भगवान् बुद्ध का वचन तो वही है । इसलिये हमें देखना पड़ेगा कि किस प्रसंग में हमको यह श्लोक मिलता है ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

इस विषय में मैं कुछ कहना चाहता हूँ । द्विवेदी जी ने तन्त्र शब्द का अर्थ कैसे विकसित हुआ, उसके विषय में कुछ कहा । तन्त्र शब्द की ऐतिहासिक दृष्टि से यदि हम आलोचना करें, तो वेदकाल में वैदिक संहिताओं में मेरे विचार से यह शब्द नहीं है, लेकिन संहितोत्तर जो काल है, जिसे सूत्रकाल कहा जाता है, उनमें जो कल्पसूत्र है, उन कल्पसूत्रों में विविध पक्षों के विधान के लिये तन्त्र शब्द आता है । जैसे कि दर्शपूर्णमास में स्थालीपाक के दो भाग है—पूर्व तन्त्र और उत्तर तन्त्र । इस प्रसंग में तन्त्र शब्द कल्पसूत्रों में, श्रौतसूत्रों में या गृह्यसूत्रों में बहुत बार आता है । वहाँ तन्त्र का अर्थ है विधि । पूर्व तन्त्र और उत्तर तन्त्र ये शब्द एक जो संपूर्ण विधि है, उसके दो भाग करते हैं । उसी के बाद एक ग्रन्थ पाया जाता है ऋक्तन्त्र । यह ग्रन्थ सामवेद का है और उसमें सामगान के लिये जो ऋचाएं (मन्त्र) होती हैं, उनके विनियोग के विषय में वह ग्रन्थ है । इसका अर्थ है शायद ऋचाओं का विनियोग करने की विधि । इस तरह से तन्त्र शब्द का मूल अर्थ प्राचीनतम विधि है । उसके बाद ऐतिहासिक दृष्टि से हम विचार करें, तो ईसवी पहली शताब्दी के पूर्व तन्त्र शब्द का अर्थ विधि था । ग्रन्थ के विषय में उसका कोई उपयोग नहीं है । मुझे अभी जो ज्ञात हुआ है, आयुर्वेद की चरकसंहिता के प्रारम्भ में ही एक श्लोक है, जहाँ कहा गया है कि पुनर्वसु आत्रेय के विभिन्न शिष्यों ने आयुर्वेद का ज्ञान उनसे पाकर अपने अपने ग्रन्थ रचे । उस विषय में ऐसा कहा है—"पृथक् तन्त्राणि तेनिरे" । वहाँ तन्त्र शब्द का उपयोग है और तन् धातु का भी उपयोग है । मेरे विचार से ग्रन्थार्थक तन्त्र शब्द का वही प्राचीनतम निर्देश होगा । महाभाष्य के प्रारम्भ में ही ज्ञान का, शब्द का विस्तार कितना है, उस विषय में एक प्रसिद्ध उद्धरण है—"सप्तद्वीपा वसुमती त्रयो वेदाः साङ्गाः सरहस्या वाकोवाक्यमितिहासः पुराणम्" इत्यादि । वहाँ तन्त्र शब्द का कोई निर्देश नहीं है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी जो विद्याओं की गणना है, उसमें भी तन्त्र का उपयोग नहीं है । कौटिल्य के अर्थशास्त्र को ईसवी से तीसरी शताब्दी पूर्व का माना जाता है और पतंजलि का महाभाष्य ईसवी की दूसरी शताब्दी पूर्व का । इस तरह से तन्त्र शब्द का ग्रन्थ अर्थ में प्राचीनतम

निर्देश चरकसंहिता में ही है, लेकिन उसी समय ईसवी से तीसरी शताब्दी पूर्व में भी तन्त्र शब्द का उपयोग किया जाता था, इसका प्रमाण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मिलता है । वहाँ तन्त्रयुक्ति नामक एक अध्याय है। उसी तरह का अध्याय चरकसंहिता में भी है । उसे भी तन्त्रयुक्ति ही कहा गया है । तन्त्रयुक्ति शब्द का अर्थ है विशिष्ट शास्त्रीय ग्रन्थों का अर्थ लगाने की पद्धति, प्रक्रिया, तन्त्रयुक्ति, प्रोसीजर और मैथोलॉजी, ऐसा उसमें उसका अर्थ है । इससे हमें ऐसा ज्ञात होता है कि वहाँ तन्त्रयुक्ति शब्द में तन्त्र का अर्थ है एक ग्रन्थ । इसके बाद ही तन्त्र शब्द का अर्थ कुछ विशेष प्रकार के विषयों का प्रतिपादक ग्रन्थ, ऐसा आया है । लेकिन चौथी और पांचवी शताब्दी के बाद हम जिस अर्थ में तन्त्र शब्द का उपयोग करते हैं, उस अर्थ में गुह्यसमाज तन्त्र या और दूसरे तन्त्र-ग्रन्थों के लिये तन्त्र शब्द का उपयोग होना शुरू हुआ । उसके बाद तन्त्र शब्द का अर्थ रूढ़ हो गया है, जिसका अर्थ है षट्कर्म के सदृश ऐसे कुछ विधि-विधानों को बताने वाले ग्रन्थ, जिनमें सिर्फ अभिचार कर्म ही नहीं है, उसमें शान्ति कर्म, पुष्टिकर्म भी है । इस प्रकार षट्कर्मों की जिनमें व्याख्या है, विवेचन है, उस प्रकार के ग्रन्थों के लिये तन्त्र शब्द रूढ हो गया है । लेकिन यह तन्त्र शब्द कहाँ-कहाँ प्रयुक्त किया जाता है, यह देखेंगे, तो तन्त्र शब्द सामान्यतः ग्रन्थ के विषय में प्रयुक्त किया जाता था और अब वह शब्द उक्त कर्मों के प्रतिपादक ग्रन्थों तक सीमित हो गया है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

तन्त्र शब्द की इस व्याख्या से मैं पूरी तरह से सहमत नहीं हूँ । "धर्मशास्त्र का इतिहास" के लेखक भारतरत्न म. म. पी. वी. काणे ने तन्त्रशास्त्र की यही परिभाषा दी है, किन्तु मूलतः मराठी में प्रकाशित "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" शीर्षक निबन्ध के प्रारंभ में मैं इस मत की समालोचना कर तन्त्र और आगम शब्द का अर्थ प्रस्तुत कर चुका हूँ । अब मैं सभी विद्वानों को धन्यवाद देता हूँ । कल फिर हम लोग १० बजे मिलेंगे । आज इस सत्र को समाप्त करते हैं ।

●

जैन तन्त्र

प्रस्तुत कार्यशाला में जैन तन्त्र पर चार निबन्ध पढ़े गये और उन पर विचार-विनिमय हुआ । दिनांक ७-२-९२ को अपराहण में तीन निबन्ध तथा दिनांक १०-२-९२ को अपराहण मे चौथा निबन्ध पढ़ा गया । प्रारंभ में जैन तन्त्र के एक ही विद्वान् से हम परिचित थे, किन्तु बाद में अहमदाबाद के ऋषिकल्प जैन विद्वान् प्रो० दलसुख भाई मालवणिया और जैन विश्वभारती के प्रो० नथमल टाटिया जी के सहयोग से हमें अन्य तीन निबन्ध और मिल सके । इनमें से "जैनतन्त्र : प्रवर्तन, प्रवर्धन तथा प्रसरण" के लेखक डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी ही यहां उपस्थित हुए और उन्होंने अपना निबन्ध स्वयं पढ़ा । जैन विश्वभारती के संस्थापक आचार्य तुलसी के पट्ट शिष्य आचार्य महाप्रज्ञ के "जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण" शीर्षक निबन्ध का तथा अहमदाबाद की डॉ० सुरेखाश्री के "मन्त्रशास्त्र के प्रसंग में नमस्कार मन्त्र" शीर्षक निबन्ध का वाचन डॉ० कमलेश कुमार जैन ने किया । कादम्बिनी के नवम्बर १९९१ के अंक में प्रकाशित युवाचार्य महाप्रज्ञ के "तन्त्र में सकलीकरण की प्रक्रिया" शीर्षक निबन्ध का भी प्रासंगिकता के आधार पर विद्वानों में वितरण किया गया । विचार-विनिमय में प्रो० नथमल टाटिया, डॉ० एस० एस० बहुलकर, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ० फूलचन्द्र जैन, डॉ० सागरमल जैन, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी, डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, डॉ० प्रभाकर आपटे, प्रो० सेम्पा दोर्जे, भन्ते नवांग समतेन, डॉ० कमलेश कुमार जैन आदि विद्वानों ने भाग लिया ।

डॉ० जे० सी० सिकदर भी वृद्धावस्था के कारण हमारे बीच उपस्थित न हो सके । उनके "ए गलिम्पस इन टू जैन तान्त्रिक साधना : हिस्टोरिकल बैकग्राउन्ड" शीर्षक निबन्ध का वाचन तिब्बती संस्थान में कार्यरत श्री लोसंग नोरबू शास्त्री ने किया और बाद में लेखक की अनुपस्थिति में भी इस पर गहन विचार-विमर्श किया गया । प्रो० एम० ए० ढाकी एवं प्रो० सुनीतिकुमार पाठक ने विद्वान् लेखक का जीवन परिचय भी दिया । विचार-विनिमय में इन दो विद्वानों के अतिरिक्त डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, प्रो० गोकुलचन्द्र जैन आदि ने भाग लिया ।

जैन तन्त्र : प्रवर्तन, प्रवर्धन तथा प्रसरण

-डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी-

जैन-सम्प्रदाय में 'तन्त्र' शब्द बहुमान्य नहीं होते हुए भी वर्तमान प्रवृत्ति के अनुरूप अन्यान्य सम्प्रदायों की समता में प्रसृत हो गया है । इस शब्द की जैन सम्प्रदाय की स्वीकृति के पीछे एक ही तथ्य लक्षित होता है और वह है—'जैन तीर्थङ्करों में ऋषभदेव, पार्श्वनाथ एवं महावीर—इन तीनों के दिव्य प्रभाव, आदर्श, कठोर तपःसाधना तथा मानव-जीवन के चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाले

अमृतोपदेश की दिशा में अग्रसर होते हुए जीवन को सार्थक बनाने की ललक । चाहत को लक्ष्य तक पहुँचाने की राहें अनेक हैं, जिनमें सरल और सुगम पथ है—'साधना' । जैन धर्माचार्यों, यतियों तथा साधकों ने मूलतः अन्यान्य मार्गों की अपेक्षा 'साधना-उपासना' को ही सर्वोपरि बतलाया, जिसका परिणाम हुआ—'साधु, साध्वी, श्रमण और श्रमणी' रूप चतुर्विध संघ में 'भक्ति, पूजा, उपासना, योग, मन्त्रजप' आदि का व्यापक प्रसार । इसी 'विस्तार और आत्मीकरण' का नाम है 'तन्त्र' । यही कारण रहा कि 'जैनोपासना' के कतिपय विशिष्ट साधना-विधानों को 'जैन तन्त्र' नाम से स्वीकृति मिल गई ।

तन्त्रों का आदि-स्रोत आगम-वाङ्मय है । वैदिक, जैन तथा बौद्ध तन्त्रों के मूल ग्रन्थ 'आगम' ही हैं । जैन-आगम तीर्थंकरों की वाणी के संग्रहरूप हैं । इनका ग्रथन गणधरों द्वारा किया गया है जिसे 'द्वादशांग' कहते हैं । द्वादश अंगों में जो बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद' है, उसके चौथे 'पूर्वगत' विभाग के चौदह पूर्वों में दसवाँ पूर्व है—'विद्यानुप्रवाद'[१] । इसी में साधना, सिद्धि और साधनविस्तारों का वर्णन है, किन्तु जैन-परम्परा की मान्यता है कि इन पूर्वों का ज्ञान प्रायः लुप्त है । दसवें अंग 'प्रश्नव्याकरणसूत्र' में भी यह विषय रहा, पर वह भी अनुपलब्ध माना जाता है । इसमें जो 'विद्यातिशय' वर्णित था, वह मन्त्र-तन्त्रात्मक था[२] ।

पांचवीं शती के संघदास गणि के 'वसुदेवहिण्डी' ग्रन्थ में ऋषभदेव के समय से मन्त्र-विद्या का प्रवर्तन कथा के माध्यम से व्यक्त हुआ है । यहाँ ऋषभदेव के दो पौत्र 'नमि' और 'विनमि' की सेवाओं से प्रसन्न होकर नागराज धरणेन्द्र के उनको 'आकाशगामिनी विद्या' प्रदान करने का वर्णन आया है । वे दोनों कुमार विद्याओं के धारक थे, अतः वे 'विद्याधर' की संज्ञा से प्रतिष्ठित हुए और उनकी वंश-परम्परा में 'विद्याधर-कुल' का विकास हुआ । इस परम्परा में मन्त्रात्मक-विद्याओं के वेत्ता तथा चमत्कृतिपूर्ण सिद्धियों के धारक अनेक आचार्य हुए । उनके द्वारा प्रवर्तित मन्त्रविद्या के आधार पर उत्तर

---

१. 'विद्यानुप्रवाद' का कलेवर परम्परा से एक करोड़ दस लाख पद का माना जाता है ।

२. नान्दीसूत्र में प्रश्नव्याकरण का जो विषय-विवेचन हुआ है, उसमें प्रश्न, अप्रश्न प्रश्नाप्रश्न, विद्यातिशय आदि का उल्लेख है । 'ठाणांग-सूत्र' में भी प्रश्न व्याकरण का स्वरूप वर्णित है, किन्तु वह भी आज लुप्त हो गया है ।

काल के साधक आचार्यों ने उनका संग्रह तथा प्रवर्धन भी किया । फलतः पर्याप्त साहित्य के विलुप्त हो जाने पर भी अनेक ग्रन्थ, विद्या-कल्प, प्रतिष्ठाविधियां, यन्त्र एवं तान्त्रिक प्रयोगों के दर्शक ग्रन्थ आदि की संख्या सहस्राधिक है । इस प्रकार के समस्त साहित्य को बहु-प्रचलित एवं अतिप्रसिद्ध 'तन्त्र' शब्द से समन्वित करके 'जैन तन्त्र' के रूप में प्रख्यात कर दिया गया है ।

एक अन्य मान्यता के अनुसार तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ ने जैन-तन्त्र और उसकी विभिन्न साधना-पद्धतियों को जन्म दिया है । ये तीर्थंकर योग तथा मन्त्र-विद्या के महान् धनी थे । वर्तमान समय में जो जैन तन्त्र साहित्य प्राप्त है, उसमें पार्श्वनाथ और उनके यक्ष-यक्षिणी धरणेन्द्र-पद्मावती की उपासना की ही प्रचुरता परिलक्षित होती है ।

दिगम्बर, श्वेताम्बर एवं स्थानकवासी आदि जैनाचार्यों द्वारा जैन तन्त्र साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण, प्रभावक प्रयोगों द्वारा सर्वसाधारण के तात्कालिक संकटों का निवारण और अभीष्ट की उपलब्धि कराने से तन्त्र के प्रति श्रद्धा के बीज क्रमशः महान् वृक्ष की कोटि में प्रसरण को प्राप्त हो गये । १४वीं शती के आचार्य प्रभाचन्द्र का ग्रन्थ 'प्रभावक चरित्र' इसी कोटि का है, जिसमें अनेक महाप्रभावी तान्त्रिक जैनाचार्यों की मन्त्र-विद्या-प्रवीणता का एवं उनके प्रभावपूर्ण कार्यों का विस्तार से वर्णन हुआ है ।

अन्य सम्प्रदायों के आगम और तन्त्रों के समान ही जैन तन्त्रों की परिधि भी अतिविस्तृत है । यहाँ तन्त्र का मूल अर्थ 'योग' माना गया है, तथापि उसमें— १ मन्त्र, २ यन्त्र, ३ तन्त्र, ४ ज्योतिष और ५ स्वर-शास्त्र, ६ स्तोत्र, ७ कवच, ८ सहस्रनाम, शतनामादि एवं प्रतिष्ठाविधि भी समाविष्ट की गई हैं । चित्तवृत्ति-निरोधात्मक योग को भी उसके संकुचित परिवेश से निकाल कर अन्तर्याग तथा बहिर्याग की क्रियाओं से इस प्रकार अनुस्यूत कर दिया गया है कि इसमें पूजा, ध्यान, न्यास और जप की विधियाँ भी योग बन गई हैं ।

दीक्षा : तान्त्रिक-साधना की आद्य आवश्यकता

इष्टदेव की उपासना और साक्षात्कार के लिये गुरु-पारम्पर्य का ज्ञान नितान्त अपेक्षित है तथा यह गुरु के द्वारा ही प्राप्य है । शिष्य को उसकी श्रद्धा, विश्वास एवं पात्रता के आधार पर गुरु-आचार्य;

जब मन्त्र एवं उसके पूर्वापर करणीय कृत्यों का उपदेश करते हैं; तो उस विधि को 'दीक्षा' कहा जाता है ।

दीयते ज्ञानमत्यन्तं क्षीयते पापसञ्चयः ।
यया दीक्षेति सम्प्रोक्ता परलोकप्रदायिनी ॥

इस निरुक्ति तथा 'मतिमान् दीक्षेत', 'आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि शास्त्र-वचनों के द्वारा प्रतिपादित दीक्षा की अवश्य करणीयता को जैन-सम्प्रदाय ने यथार्थतः स्वीकृति दी है । यह दीक्षा यहाँ मुख्यतः दो प्रकारों में होती है— १. साधु, उपाध्याय और आचार्य-सूरि आदि के लिये तथा २. श्रावकों के लिये । प्रथम प्रकार में सांसारिक सम्बन्ध-विच्छेदपूर्वक विरक्त भाव से श्रमण रूप में की जाने वाली आवश्यकादि-क्रियाओं का ज्ञान एवं मन्त्रोपदेश मुख्य हैं । इसमें उत्तरोत्तर योगोद्वहनादि करके पात्रता के अनुरूप अग्रिम दीक्षाएँ होती हैं तथा मन्त्र-विशेष का उपदेश देकर मन्त्रदाता आचार्य मन्त्र-पट आदि प्रदान करते हैं । द्वितीय प्रकार जैनसंस्कार-सम्पन्न गृहस्थों के लिये है । इस दीक्षा-प्रकार को गौण और मुख्य ऐसे दो उपविभागों में विभक्त कर सकते हैं, क्योंकि जैन धर्म के परमार्थ रूप 'पञ्चमङ्गल महाश्रुत स्कन्ध नमस्कार-महामन्त्र' का उपदेश गौण रूप से पूज्य साधुगण श्रवण करवा कर ज्ञानपूजा एवं वासक्षेप द्वारा सम्पन्न करते हैं । मुख्य दीक्षा— मन्त्र दीक्षा के लिये जैनाचार के अनुसार प्रतिष्ठा-पद्धतियों में विधियुक्त निर्दिष्ट है । यहाँ हम 'निर्वाण-कलिका' ग्रन्थ में दर्शित दीक्षा-पद्धति का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

दीक्षार्थी सर्वप्रथम दीक्षा देने के अधिकारी गुरु से आज्ञा प्राप्त करके शुभ मुहूर्त में गुरु का वरण कर प्रार्थना करे कि हे गुरुदेव, मुझ दीन पर कृपा कर मुझे मन्त्र-दीक्षा प्रदान करें । तदनन्तर दीक्षाप्राप्ति के दिन से पूर्व प्रातः आवश्यक कार्य करके 'देववन्दन' कर्म करे । तदर्थ पूजागृह में पहुँच कर आत्मरक्षा, प्रभुपूजा, क्षेत्रपालबलि और शान्तिकर्म करे । इसके पश्चात् मण्डप-विधान और पूर्व तैयारी कर विराम करे । गुरुदेव दीक्षार्थी की पात्रता देखकर दीक्षा-पूर्व दिन की रात्रि में मण्डप से बाहर शिष्य को (प्रातः उपयोग के लिये) दन्तकाष्ठ एवं मुखवास का इष्ट मन्त्र से अधिवासन करके प्रदान करे । शिष्य शुद्ध भूमि पर दर्भशयन बना ले । तब गुरु उस शय्या को अस्त्र-मन्त्र से १०० बार अभिमन्त्रित कर शिष्य के शरीर को हृदय-मन्त्र द्वारा सुरक्षित करे, न्यास करे तथा शय्या पर सुला कर

धर्म मन्त्र के जप से अभिमन्त्रित चादर ओढा कर सुलावे । इसके साथ ही शयनीय के आसपास बाहरी भाग में अभिमन्त्रित भस्म और सर्षप से तीन रेखाएं बना कर भूतबलि दे तथा स्वयं भी उपवास रखते हुए शिष्य के पास शयन करे ।

प्रातः शय्यात्याग और नित्यकर्म से निवृत्त होकर गुरु शिष्य को बुलाकर स्वप्न-दर्शन के बारे में पूछे और उसका शुभाशुभ विचार करे । यदि अशुभ स्वप्न हुआ हो, तो उसकी शान्ति और शुभ हो तो विशेष-पूजा करके 'मण्डल' पूजा, मन्त्रपूजा, भद्रमण्डल-पूजा, पार्थिववारुण-वायुमण्डल-पूजा, प्रधानमन्त्राधिष्ठातृ-देवता आदि की पूजा करे और शिष्य द्वारा करवाये । तत्पश्चात् मन्त्रदाता गुरु उपदेश्य मन्त्र के विनियोग, न्यास, ध्यान, मन्त्रशुद्धि, गुरुपूजा, जिनपूजा आदि सम्पन्न कर जप करे । पुनः विनियोगादि-समर्पणान्त विधि करके शिष्य को रक्षाकवच से रक्षित करके पुष्पों से उसके अंग को आच्छादित करे । नूतन वस्त्र से मुखाच्छादन कर आसन पर बिठावे और पूजा-मण्डल पर पुष्पांजलि दिलावे । इसके पश्चात् शिष्य के हृदय का आलभन (स्पर्श) कर मन्त्रोपदेश करे । मन्त्रजप से सम्बद्ध विधि का उपदेश करने के पश्चात् आचार-निर्देश एवं पालनयोग्य नियमों को भी सुनावे । यह पादलिप्तसूरि के अनुसार गृहस्थ की मन्त्रदीक्षा का विधान है । यह विधि अनेक अंशों में अन्य जैनेतर तन्त्रों की दीक्षाविधि से साम्य रखती है ।

आचार-दिनकर (वर्धमान सूरि), विविधतीर्थकल्प, प्रतिष्ठासारसंग्रह, प्रतिष्ठाकल्पसंग्रह (भद्रबाहु स्वामी), प्रतिष्ठादीक्षाकुण्डलिका (नरचन्द्र), प्रतिष्ठाविधिविचार, प्रतिष्ठाविधान, प्रतिष्ठासार, दीक्षा-प्रतिष्ठाशुद्धि (समयसुन्दर गणि), मन्त्राधिराजकल्प, विधिप्रपा आदि अनेक ग्रन्थ ऐसी ही दीक्षाविधियों का विस्तार से निर्देश करते हैं । दीक्षा में प्रयोज्य मन्त्र जैनाचार-संमत हैं और कर्मकाण्ड की भी अपनी विशिष्ट प्रक्रिया प्रचलित है ।

इस दीक्षा-विधि की अपेक्षा साधु-श्रमणों को दी जाने वाली दीक्षा विशेष प्रशस्त है । जब उपाध्याय, गणि, पंन्यास, आचार्य एवं सूरिपदों की दीक्षा होती है, तो उसमें दीक्षार्थी साधु को योगोद्वहन करना पड़ता है तथा दीक्षा के दिन चतुर्विध संघ की उपस्थिति में नन्दि-विधान और देववन्दन आदि करने के पश्चात् मन्त्र एवं मन्त्रपट दिये जाते हैं । गुरुपरम्परा का उपदेश होता है तथा दीक्षानाम भी

दिया जाता है । यह श्वेताम्बर मूर्तिपूजक जैनसम्प्रदायानुगत विधि है । दिगम्बर जैन तथा स्थानकवासी जैनों के यहां होने वाली दीक्षा-विधि का परिचय भी ज्ञेय है ।

दीक्षा का जैन-सम्प्रदायानुगत स्वरूप : 'वाचना'

दीक्षा की एक विशिष्ट प्रक्रिया जैन-सम्प्रदाय में 'वाचना' के नाम से भी महत्त्वपूर्ण है । इस प्रक्रिया को सम्पन्न करने के लिये 'उपधान-तप' की अपेक्षा रहती है । इस तप में प्रवृत्त साधक को क्रमशः 'पञ्चनमस्कार' के पदों की वाचना दी जाती है । यह वाचना जैन-मुनिराजों के द्वारा ही देय है । 'महानिशीथ-सूत्र' में भगवान् ने गौतम को पञ्चमङ्गल नमस्कार-मन्त्र 'उपधान' की आवश्यकता व्यक्त करते हुए बतलाया है कि प्रथम ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर दया, अनास्रव, उपशम, समभाव, अकषायत्व, सम्यक्त्व, विवेक और क्षमा क्रमशः उत्तरोत्तर क्रम से प्राप्त होते हैं । इनके फल-स्वरूप ही अहिंसा-लक्षण धर्म के अनुष्ठान का अनुराग होता है । यह उपधान के इच्छुक की प्रथम भूमिका है । इसके पश्चात् मोक्ष के आकांक्षी को पहले 'सामायिक' से लेकर लोकबिन्दु (चौदहवें पर्व) तक बारह अंग-प्रमाण श्रुत ज्ञान के काल को लक्ष्य में रख कर आयंबिल आदि विधिपूर्वक उपधान के द्वारा त्रिविध हिंसा आदि का त्याग करके स्वर, व्यंजन, मात्रा, बिन्दु, पद तथा अक्षर में किसी भी प्रकार की न्यूनता न आवे; पदच्छेद, घोषबद्धता, आनुपूर्वी, पूर्वानुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी से पर्याप्त विशुद्ध रूप-सहित बिना विस्मृति के ज्ञान प्राप्त करने का क्रम बतलाया जाता है । वहीं कहा गया है कि श्रुत ज्ञान अपार सागर के समान है, उसमें समग्र अवगाहन अशक्य है, अतः सबसे पहले उसमें प्रवेश पाने के लिये इष्टदेव की कृपा प्राप्त करनी चाहिये और वह पंचपरमेष्ठी-नमस्कार-मन्त्र से ही सम्भव है । इसके लिये करणीय विधि को 'विनयोपधान' की संज्ञा दी गई है ।

ज्ञानाराधन का यह तपोमय अनुष्ठान साढ़े बारह उपवासों के तप से सम्पन्न होता है । १८ दिन की अवधि में ये उपवास पूर्ण होते हैं । इनमें पाँच उपवासों के बाद पहली वाचना 'नमो अरिहंताणं' से 'नमो लोए सव्व-साहूणं' तक और तत्पश्चात् आठ आयंबिल एवं तीन क्रमिक उपवास (एक अट्ठम) करने पर 'एसो पंच नमुक्कारो' से 'पढमं हवइ मंगलं' तक होती है ।

श्रीमान् देवसूरि ने अपने 'उवहाण-विहि-सुत्त' में इस 'उपधान-विधि' का विस्तार से विवेचन किया है, जिसमें नमस्कार-मन्त्र के अतिरिक्त 'ईरिया-वहिय', शक्रस्तव, अरिहंतचैत्यस्तव, लोगस्स-सूत्र एवं श्रुतस्तव आदि के उपधान-विधान भी निर्दिष्ट हैं । वहीं यह भी कहा गया है—

जोउ अकाऊणमिमं गोयम ! गिण्हिज्जभत्तिमंतो वि ।
सो मणुओ दट्ठव्वो अगिण्हमाणेण माणेण सारिच्छो ॥१६॥

तात्पर्य है कि इस उपधान-विधि के बिना जो भक्तिमान् मनुष्य नमस्कार-मन्त्र ग्रहण करता है, वह ग्रहण नहीं करने वाले के समान ही है । आगे तो यहां तक कहा गया है कि इस विधि का अनुसरण नहीं करने वाला तीर्थङ्करवचन, संघ और गुरु की आशातना करता है और उसी कारण वह संसार में परिभ्रमण करता है । इस प्रकार यह दीक्षाविधि जैन धर्म में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

अभिषेक-विधान

शाक्त आगमों के अनुसार एक ही विद्या, महाविद्या अथवा सिद्धविद्या के मन्त्रों की दीक्षा लेने वाले साधक को 'क्रमदीक्षा'[1] की पद्धति से उत्तरोत्तर कई प्रकार के अभिषेक-विधानों से अभिषिक्त किया जाता है, जिनके आधार पर विभिन्न आम्नाय-मन्त्र और क्रमानुमोदित मन्त्रों के जप का अधिकार प्राप्त होता है । जैसे— पूर्णाभिषेक, महाविद्याभिषेक, साम्राज्याभिषेक आदि अभिषेकों के विधान हैं, वैसे जैन-सम्प्रदाय में नहीं प्राप्त होते । इसके कई कारण हो सकते हैं, जैसे तन्त्रविद्या के प्रति उदासीनता, पूर्व ग्रन्थों का लुप्त होना, औपासनिक प्रक्रिया को जटिलता से मुक्त रखना और साधु वर्ग तक ही विशिष्ट साधना को सीमित रखना आदि ।

---

१. इस प्रकार की दीक्षा के लिये द्रष्टव्य है इस लेखक द्वारा लिखित एवं 'दिल्ली स्थित श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ' द्वारा प्रकाशित लेख—'प्रणव-चिन्तन के तान्त्रिक आयाम' । इस लेख में हमने यह बतलाया है कि ओङ्कार की २५६ मात्राएं है और प्रत्येक मात्रा की एक-एक अधिष्ठात्री देवी है, जो 'काली' से प्रारम्भ होकर 'निर्वाण-दीक्षा' तक ओङ्कार की कला में पूर्ण होती है । ये देवियाँ और इनके मन्त्र-क्रम से प्राप्त करके साधक सृष्टि, स्थिति, संहार, भासा और अनाख्या क्रमों से उनके भैरव-मन्त्रों सहित पुरश्चरण करके निर्वाणाधिकारी होता है । (शोधप्रभा, त्रैमासिक पत्रिका १९८५ ई०, पृ० १९३) ।

अभिषेक के प्रकार से मिलती-जुलती एक क्रिया जैन सम्प्रदाय में प्रचलित है, जिसे वे 'बड़ी दीक्षा' के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह पूर्व दीक्षा के कुछ दिनों के बाद होती है। मन्त्र-साधक के अभिषेक के बाद उसे मन्त्र-दीक्षा देने का अधिकार भी प्राप्त हो जाता है, ऐसा भी यहाँ कोई उल्लेख नहीं मिलता, जैसा कि शाक्त साधकों में मान्य है। हाँ, पूजा-विधानों में अभिषेक अथवा स्नात्र-पूजा-विधि के प्रयोग अवश्य प्राप्त होते हैं, जिनसे सम्बद्ध 'अर्हदभिषेक-विधि' आदि स्वतन्त्र विधि ग्रन्थ हैं।

जैन मन्त्र और उनकी साधना विधियाँ

मन की स्थिरता एवं आन्तरिक शक्ति का विकास प्राप्त करने के लिये मन्त्र एक सबल और सफल साधन है। इस दृष्टि से जैन धर्म में अतिप्राचीन काल से साधना, आराधना, उपासना में मन्त्रों को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है। मन्त्र शब्द अन्य धर्मावलम्बियों की दृष्टि में मनन और त्राण-रक्षण अर्थवाले दो धातुओं के योग से बना हुआ है और मन्त्र के मनन से त्राण होता है, इस सामान्य अर्थ का स्पष्ट निर्देश करता है[1], किन्तु जैन धर्म में 'मन्त्र' शब्द का अर्थ जैनाचार्यों के अनुसार—'मन्यते ज्ञायते आत्मादेशोऽनेनेति मन्त्रः' अर्थात् जिससे आत्मा का आदेश, निजानुभव ज्ञात हो, वह मन्त्र, 'मन्यते विचार्यते आत्मादेशो येन स मन्त्रः', अर्थात् जिसके द्वारा निजानुभव का विचार किया है, वह मन्त्र; तथा 'मन्यन्ते सत्क्रियन्ते परमपदे स्थिता आत्मानो यक्षादिदेवता वाऽनेनेति मन्त्रः', अर्थात् जिससे परम पद में विराजमान पांच उच्च आत्माओं का अथवा यक्षादि देवताओं (शासन-देवताओं) का सत्कार हो, वह मन्त्र है। जैन ग्रन्थ 'ज्ञानार्णव'कार ने उपर्युक्त व्युत्पत्तियों में 'मन्' धातु के 'ज्ञान', 'अवबोध' और 'संमान' इन तीनों अर्थों की योजना की है।

जैन मन्त्रों में सबसे पहला सर्वमान्य मन्त्र है 'नमस्कार-मन्त्र'। जैन धर्म की भाषा अर्धमागधी होने से यह मन्त्र उसी भाषा में उपदिष्ट है। उस भाषा के अनुसार इसे 'णमोकार' या 'णमुक्कार-मंत' कहा जाता है। इस मन्त्र के बारे में कहा गया है—

---

१. मोचयन्ति च संसाराद् योजयन्ति परे शिवे।
मननत्राणधर्मित्वात् तेन मन्त्रा इति स्मृताः ॥

अणाइ कालो अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो ।
तइआवि ते पढंता इसुच्चिअ जिण-णमुक्कारो ॥

अर्थात्—काल अनादि है, जीव अनादि है और जैन धर्म भी अनादि है । जबसे उसका प्रवर्तन हुआ है, तभी से इस 'जिन-नमस्कार' अर्थात् 'नमस्कार-मन्त्र' को भव्य जीव पढ़ रहे हैं, जप रहे हैं ।

'महानिशीथ-सूत्र' में इसे 'पञ्चमङ्गल-महाश्रुत-स्कन्ध' कहा है—

'जे णं एस पंच मंगल-महासुयक्खंधे से णं सयलागमंतरोववत्ती तिलतेल-कमल-मयरंद व्व सव्व लोए पंचत्थिकायमिव.... ।

जिस प्रकार तिल में तेल, कमल में मकरन्द अथवा सर्वलोक में पञ्चास्तिकाय व्याप्त है, उसी प्रकार यह 'पञ्चमङ्गल-महाश्रुत-स्कन्ध' सकल आगमों में व्याप्त है ।

प्रस्तुत नमस्कार-मन्त्र जैन धर्म, आगम तथा समस्त साधनाओं का मूल होने से तत्तद्विषयक सभी ग्रन्थों में, साधना-विधानों में तथा स्तोत्रों में अतिशयरूप से चर्चित, व्याख्यात, परिभाषित तथा स्तुत है । तभी तो इस परमन्त्र के अक्षर, अक्षरों द्वारा मातृकोद्गम, निर्दिष्ट आलापक, सम्पदा, स्वर, व्यञ्जन, वर्ण, पद, पदाक्षर, मात्रा, बिन्दु आदि के तात्त्विक विचारों का गम्भीर चिन्तन जैन शास्त्रों में प्रस्तुत है । इतना ही नहीं, इस मन्त्र में किसको नमस्कार किया जाता है, किस प्रकार किया जाता है और किस लिये किया जाता है, 'पञ्चमङ्गल' से क्या तात्पर्य है, इसका विनयोपधान किस विधि से सिद्ध हो सकता है, कौन से लक्षण इसके आराधक की योग्यताओं में आते हैं, किस समय किस स्थल पर, किसके पास से तथा किस पद्धति से इसकी वाचना लेनी चाहिये; तपोपधान कितना और किस प्रकार करना चाहिये, सकल जीवों के प्रति आत्मतुल्यता की दृष्टि को किस लिये महत्त्व दिया गया है, अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये शब्द किसके द्योतक हैं, ये शब्द व्युत्पत्ति एवं व्याख्या की दृष्टि से कितने प्रकारों से विवेचित हो सकते हैं, इनका रहस्यार्थ क्या है, इन पाँच पदों का समग्र विश्व के साथ सम्बन्ध किस रूप में है, बोधिलाभ क्या है तथा वह किस प्रकार सुलभ हो सकता है; मान्त्रिक, तान्त्रिक एवं यौगिक दृष्टि से इस महामन्त्र का सर्वश्रेष्ठ स्थान किस प्रकार से है; इसके द्वारा कौन सी सिद्धियां, ऋद्धियाँ और लब्धियाँ प्राप्त होती

है ? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित हुए हैं, जिनका समाधान एवं यथोचित उत्तर नमस्कार-मन्त्र-विषयक आगम, अंग-ग्रन्थों, टीकाओं, मन्त्रशास्त्रीय ग्रन्थों और विधि-विधान-मूलक पुस्तकों में बहुधा चर्चित हैं[1] ।

प्राकृत एवं संस्कृत में लिखित विशिष्ट ग्रन्थ और उनकी टीकाओं के माध्यम से जैन-'नमस्कार-मन्त्र' की महत्ता का सांगोपांग निरूपण नमस्कारपञ्जिका, सिद्धचक्र, अष्टप्रकाशी, उपधानविधि, प्रवचनसारोद्धार, बृहन्नमस्कारफल, नमस्कारनिर्युक्ति, प्रत्याख्याननिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति, छेदसूत्र, राजप्रश्नीयसूत्र, सम्बोधप्रकरण, चैत्यवन्दनमहाभाष्य, वद्धमाणविद्या, मन्त्रराज-रहस्य, नमस्कार-माहात्म्य, पञ्चनमस्कृति-दीपक, लक्षनमस्कार- गुणन-विधि, अनेक कल्पग्रन्थ एवं स्तोत्रादि ग्रन्थों में अतिविस्तार से हुआ है ।

जैन मन्त्रों की सृष्टि बहुत ही विशाल है तथा उसमें मन्त्रों के प्रकारों की संख्या भी पर्याप्त विस्तार को प्राप्त है । मूलतः जैन मन्त्रों की भाषा प्राकृत (अर्धमागधी) के शब्दों से परिपूर्ण है, जबकि अनेक मन्त्र संस्कृत भाषा की गरिमा से मण्डित हैं । कतिपय मन्त्र तो ऐसे भी हैं, जिनमें प्राकृत एवं संस्कृत दोनों का प्रयोग हुआ है और उनके एकाक्षर, कूटाक्षर, बीजाक्षर, मन्त्रपदों के आद्याक्षर, पञ्चतत्त्वाद्याक्षर, पञ्चनमस्कार-पदसर्वाक्षर, सप्तचक्राद्याक्षर, पल्लवादि समन्वित मन्त्र, कर्म-कामनादि समन्वित मन्त्र, मालामन्त्र आदि प्रकारों का विश्लेषण करने पर जैन मन्त्रों के अनन्त प्रकार उपलब्ध हो जाते हैं । इनके अतिरिक्त जैन धर्म के मान्य चतुर्विंशति तीर्थंकर, शासन-देवियाँ, चक्रेश्वरियाँ, विद्याएँ, यक्ष-यक्षिणियाँ आदि के मन्त्र, एक ही तीर्थंकर के भिन्न-भिन्न नाम वाले मन्त्र, ग्रह-राशि आदि के मन्त्रों की संख्या भी कम नहीं है । इनमें कतिपय मन्त्र तो ऐसे भी हैं, जो वैदिक आगमों में भी हैं और यहाँ भी ।

इन मन्त्रों की साधना-विधियाँ भी अन्य-तन्त्रों की परम्परा के अनुरूप बहुविधता को प्राप्त हैं । सामान्यतः सभी मन्त्रों के साधन (अनुष्ठान, पुरश्चरण आदि) की प्रक्रिया में कुछ अंशों में समानता रहती है, तो कुछ अंशों में नवीनता और विभिन्नता भी रहती है।इस दृष्टि से यदि वर्गीकरण किया जाय, तो वह इस प्रकार होगा—

---

१. इन प्रश्नों की उत्थानिकाएँ तथा समाधान के विशेष ज्ञान के लिये श्रीभद्रबाहुस्वामी विरचित 'णमोक्कार णिज्जुत्ती' और पुष्पदन्त भूतबलि प्रणीत एवं श्री वीरसेनाचार्य कृत 'धवला' टीकासहित 'षट्खण्डागम' द्रष्टव्य है ।

साधना प्रारम्भ करने के समय प्रारम्भिक कर्म (इसे जैनाचार्यों ने 'पूर्वसेवा' के नाम से अभिहित किया है) । इसमें साधना का इच्छुक नीचे बताये अनुसार विधि करता है[१]—

१. पञ्चाङ्ग-शौच —

मूल मन्त्र का उच्चारण करते हुए दोनों हाथ; दोनों घुटने (पैर) तथा मस्तक पर हाथ घुमाते/स्पर्श करते हुए शरीर को पवित्र बनाता है ।

२. भूमि-शुद्धि —

'ॐ भूरसि भूमिधात्रि' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए भूमि-आसन के आस-पास दक्षिणावर्त क्रम से वासक्षेप करके भूमिशुद्धि करता है ।

३. मन्त्र-स्नान —

'ॐ अमले विमले' इत्यादि मन्त्र द्वारा अंजलि में समस्त तीर्थों के जल की कल्पना करते हुए सिर से पैर तक स्नान की भावना करता है ।

४. वस्त्र-शुद्धि —

'ॐ ह्रीं झ्वीं क्ष्वीं' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए वस्त्रों पर हाथ फिराकर वस्त्र-शुद्धि करता है ।

५. पञ्चांगुलिन्यास —

'ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रौ ह्रः' इनसे पाँचों अँगुलियों पर न्यास करता है ।

६. कल्मषदहन —

'ॐ विद्युत्स्फुलिङ्गे' इत्यादि मन्त्र से तीन बार भुजाओं का स्पर्श करके पाप-दहन करता है ।

---

१. यह विधि—'वद्धमाण-विज्जा-विही' (वर्धमान-विद्या-विधि) ग्रन्थ के आधार पर वर्णित है । इस विधि में वर्धमान विद्या के जप का विधान बतलाया गया है ।

७. हृदय-शुद्धि —

'ॐ विमलाय विमलचित्ते' इत्यादि मन्त्र से हृदय-स्पर्शपूर्वक यह शुद्धि करता है ।

८. दुःस्वप्न-दुर्निमित्ताशनि-विद्युत्-शत्रुभयादिरक्षा—

इसमें पञ्च नमस्कार मन्त्रों से पञ्चां- गुलिन्यास 'हां हीं हूं' इत्यादि पाँच बीजों से हृदय, कण्ठ, तालु, भ्रूमध्य एवं ब्रह्मरन्ध्र में न्यास, 'कुरुकुल्ले स्वाहा' इन मन्त्राक्षरों से कुक्षिद्वय, पदद्वय और पुनः कुक्षिद्वय में न्यास किया जाता है । इन्हीं कुरुकुल्ला के विपरीत अक्षरों से विपरीत अङ्गन्यास पूर्ववत् करता है ।

९. सकलीकरण —

'क्षिप ॐ स्वाहा' इन अक्षरों से पीत वर्ण क्षि से पैरों में, नाभि में श्वेत वर्ण प, हृदय में लाल वर्ण ॐ, मुख में नील वर्ण स्वा और ललाट में श्याम वर्ण हा स्थित हैं, ऐसी भावना की जाती है । पुनः इन्हीं अक्षरों से विपरीत क्रम से उक्त स्थानों पर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश की भावना द्वारा सकलीकरण पूर्ण होता है ।

१०. पट, यन्त्रादि-पूजा —

'ॐ ॐ नमः' इस मन्त्र से पट आदि पर पुष्पाञ्जलि देकर आवाहनादि पाँच मुद्राप्रदर्शन तत्तन्मन्त्रोच्चारणपूर्वक करके गन्धादि-पूजा (वासक्षेप द्वारा) करता है ।

११. सजीवतापादन तथा भगवान् का ध्यान—

अमृतमुद्रा द्वारा यन्त्र में सजीवता लाने की भावना करके ध्यान करता है ।

१२. दिग्बन्धन —

विघ्न-निवारण के लिये दसों दिशाओं में छोटिका-प्रदर्शन ।

१३. मूल मन्त्र का जप—

जप से पूर्व १. सौभाग्य, २. परमेष्ठी, ३. प्रवचन, ४. सुरभि तथा ५. अञ्जलि मुद्रा दिखाकर मूल मन्त्र का जप । (जप में मेरुलंघन तथा भ्रू-कंपन, ओष्ठचालन, दन्तविवृति न हो) ।

१४. आसनक्षोभण —

अस्त्र मुद्रा द्वारा आसन हिलाना ।

१५. क्षमाप्रार्थना —

'आज्ञाहीनं' इत्यादि मन्त्र से त्रुटियों के लिये क्षमा माँगना ।

१६. विसर्जन एवं पुनः इष्टस्थापन (हृदय में)—

संहारमुद्रा करके विसर्जन और हृदयकमल में इष्टदेव का सुषुम्ना द्वारा श्वास खींच कर पुनः स्थापन करता है ।

यह एक मान्य पूजा-विधान है, किन्तु संक्षेप-विस्तार की दृष्टि से श्री सागरचन्द्र ने अपने 'मन्त्राधिराज-कल्प' में पूजा के लिये षट्कर्म को ही प्रधान मानते हुए कहा है—

आदौ जिनेन्द्रवपुरद्भुतमन्त्रयन्त्राह्वानासनानि सकलीकरणं तु मुद्राम् ।
पूजां जपं च तदनु होमविधिं षडेव कर्माणि संस्तुतिमह सकलं भणामि ॥२४॥

इसके अनुसार १. आसन, २. सकलीकरण, ३. मुद्रा, ४. पूजा, ५. जप और ६. होमविधि— ये छः कर्म पर्याप्त बतलाये हैं । 'ऋषिमण्डलस्तव' में पूजा के निम्नलिखित आठ प्रकार निर्दिष्ट हैं—

१. मन्त्र	२. न्यास	३. ध्यान	४. साधन
मूलमन्त्र (आसन-सकलीकरण-सहित)	रक्षा के लिये करन्यास अङ्गन्यासादि	१. पिण्डस्थ २. पदस्थ एवं ३. रूपस्थ	१. मुद्राएँ तथा २. पुष्पादि
५. जप	**६. तप**	**७. अर्चा**	**८. अन्तर्याग**
मालादि उपकरण एवं जप-संख्या	आठ आचाम्ल (आयम्बिल)	जिनपूजा (स्नात्रपूजा-पूर्वक)	कषाय-चतुष्टय का होम

उक्त साधना-विधियों में अन्यान्य विशिष्ट प्रकारों का समावेश देवविशेष, कर्मविशेष एवं प्रयोगविशेष के कारण बहुविधता आई है, जिसे हम ब्रह्मविद्याविधि, ज्ञानार्णव, सूरिमन्त्रकल्पसन्दोह, मन्त्रराजरहस्य, योगशास्त्र (अष्टम प्रकाश), परमेष्ठिविद्यायन्त्रकल्प, विद्यानुशासन आदि अनेक ग्रन्थों में देख सकते हैं । इन विधियों का अन्य धर्मावलम्बी तन्त्र-ग्रन्थों के साथ समीक्षण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना-विधि की अन्तर्धारा प्रायः सर्वत्र एक समान ही है, उसे अपने धर्म एवं सम्प्रदायगत सिद्धान्तों के आधार पर व्यवस्थित रूप दिया गया है तथा जिन विधियों में सम्प्रदायानुमत सिद्धान्तों में विप्रतिपत्ति उपस्थित होती प्रतीत हुई, उनका या तो त्याग कर दिया गया है अथवा उनके स्थान पर अन्यान्य प्रकारों को प्रस्तुत कर दिया है ।

मातृका : उत्पत्ति एवं मन्त्रव्याकरणात्मक रूप

भट्टारक श्री सकलकीर्ति ने तत्त्वार्थसार-दीपक ग्रन्थ में पदस्थ-ध्यान का कथन करते हुए 'वर्णमातृका' को आदिनाथ भगवान् के मुख से निःसृत बतलाया है—

ध्यायेदनादिसिद्धान्तविख्यातां वर्णमातृकाम् ।
आदिनाथमुखोत्पन्नां विश्वागमविधायिनीम् ॥३५॥

श्री मानतुङ्गसूरि ने नवकारसार-थवण में पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करने की विविध भावनाओं का उल्लेख करते हुए इनको स्वर एवं व्यञ्जन रूप मान कर उनका स्मरण करने का निर्देश किया है । यथा—

पढम-दुसरारिहंता चउस्सरा सिद्ध-सूरि-उवझाया ।
दुग-दुगसरा कमेणं नंदंतु मुणीसरा दुसरा ॥१२॥
वण्णनिवहो कगाई जेसिं बीओ हकार-पज्जंतो ।
निय-नियसरसंजोगा सरेमि चूडामणिं तेहिं ॥१३॥[१]

---

१. इन गाथाओं की संस्कृत व्याख्या इस प्रकार है—
प्रथम-द्विस्वरा अर्हन्तः, चतुःस्वराः सिद्धाः, सूरय उपाध्यायाश्च द्विस्वराः ।
मुनयोऽपि द्विस्वराः, एवं चैते अआ इई, उऊ एऐ ओऔ अंअः स्वरूपाः ।
वर्णनिवहो येषामर्हदादीनां ककारादिहकारपर्यन्तो बीजम्, निजनिजाकारादिस्वरसंयोगात् तेषां चूडामणिमहं स्मरामि ।

इसे अधोदर्शित कोष्ठकों से समझा जा सकता है—

आम्नाय	अरिहन्त	सिद्ध
स्वर–	अ आ	इ ई ए ऐ (इ ई उ ऊ)
वर्ग–	क च ट त प य श	ख छ ठ थ फ र ष
आचार्य	उपाध्याय	साधु
उ ऊ (ऋ ॠ लृ ॡ)	ओ औ	अं आः
ग ज ड द ब ल स	घ झ ढ ध भ व ह	ङ ञ ण न म ळ क्ष

उपर्युक्त तालिका में ४७+४ = ५१ अक्षरों की योजना है । गाथाओं के व्याख्याकार ने 'अ ए क च ट त प य श' इन नौ वर्गों के आधार से ४५ अक्षर बतलाये हैं । परमेष्ठि–मण्डल के क्रमानुक्रम का सूचन भी स्तवनकार ने अग्रिम गाथा में किया है—

> ते पुण अएकचटतपयस त्ति नववग्ग वनन पणयाला ।
> परमिट्ठिमंडलकमा पढमंतिमतुरिय–तिय बीआ ॥१४॥

इसकी पुष्टि 'ज्ञानार्णव' आदि जैन ग्रन्थों से भी होती है । वहाँ नमस्कार के पाँचों मन्त्रों के पदों के स्वर तथा व्यंजनों को पृथक्–पृथक् लिखकर उनसे स्वर तथा व्यंजनरूप मातृका का उद्धार किया है । यथा—

१– 'न्+अ+म्+ओ अ+र+इ+ह्+अं+त्+आ+ण्+अं ।'
२– 'न्+अ+म्+ओ स्+इ+द्+ध्+आ+ण्+अं ।'
३– 'न्+अ+म्+ओ आ+य्+अ+र्+इ+य्+आ+ण्+अं ।'
४– 'न्+अ+म्+ओ उ+व्+अ+ज्+झ्+आ+य्+आ+ण्+अं ।'
५– 'न्+अ+म्+ओ ल्+ओ+ए+स+व्+व्+अ+स्+आ+ह्+ऊ+ण्+अं ।'

इस विश्लेषण में आये हुए स्वरों को पृथक् निकालते हैं, तो उनका संकलन अधोदर्शित रूप से उद्धृत होगा—

"अ+ओ+अ+इ+अं+आ+अं+अ+ओ+इ+अं+अ+ओ+आ+इ+इ+अ+
(अ+इ = ए; आ+इ = ऐ; इ = ई)
अं+अ+ओ+उ+अ+आ+अं+अ+ओ+ओ+ए+अ+अ+आ+ऊ+अ ।"
(ओ+उ = औ; अं+अ = अः)

इस प्रकार के स्वरों में रेखांकित स्वरावली के मिलाने पर तथा र् और ल् को 'रलयोरैक्यं' मानकर 'आयरियाणं' पदान्तर्गत 'रि' इस प्राकृत वर्ण को 'ऋ' मान लेने पर सोलह स्वरों की सृष्टि हो जाती है । यथा—"अ आ इ ई उ ऊ [र्] ऋ ॠ, [ल्] ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः" ।

व्यंजनों को भी उपर्युक्त पद्धति से पृथक् संकलित करते हैं तो—

"न्+म्+र्+ह्+त्+ण्+न्+म्+स्+द्+ध्+ण्+न्+म्+य्+र्+ण्+न्+म्+व्+
ज्+झ्+य्+ण्+न्+म्+ल्+स्+व+स्+ह+ण् ।"
श ध

यह स्वरूप बनता है । इन व्यंजनों में से पुनरुक्त व्यंजनों को छोड़ देने पर— न्+म्+र्+ह्+ध्+स्+य्+र्+ल्+व्+ज्+घ्+हं । ये वर्ण शेष रहते हैं । इनमें भी ध्वनि-सिद्धान्त के आधार पर वर्णाक्षर को पूरे वर्ग का प्रतिनिधि मान कर—

"घ्=कवर्ग, ज्=चवर्ग, ण्=टवर्ग, ध्=तवर्ग, म्=पवर्ग, य् र् ल् व् तथा स्=श् ष् स् ह्"

ऐसा मानने से समस्त व्यंजन प्राप्त हो जाते हैं । इस पद्धति से यह सिद्ध हो जाता है कि 'नमस्कार-मन्त्र' से ही मातृका वर्णों की उत्पत्ति हुई है ।

जैन सम्प्रदाय का ही एक मान्य तन्त्र-ग्रन्थ मल्लिषेण-विरचित विद्यानुशासन है । इसका एक प्रकरण मन्त्रव्याकरण के नाम से प्राप्त है । तथा श्री समन्तभद्राचार्य-विरचित एक अन्य आर्षविद्यानुशासन के द्वितीय परिच्छेद का अंशरूप मन्त्रव्याकरण भी अप्रकाशित है, जिसमें 'अकारादि-हकारान्ता वर्णमन्त्राः प्रकीर्तिताः' इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वर्णों के स्थान, चतुर्वर्ग, रंग, सिद्धि-तिथियाँ, वार, अक्षरों की गति, परस्पर मैत्री और शत्रुता, पार्थिवादि-मण्डल, पुंलिंगादि-परिचय, अक्षरों की शक्ति तथा उनके स्मरण से होने वाले फल का भी निर्देश हुआ है । यहाँ उदाहरण के लिये अ-वर्ण का ध्यान दर्शनीय है—

"अ-वृत्तासनं गजवाहनं हेमवर्णं कुङ्कुमगन्धं लवणस्वादुं जम्बूद्वीप-विस्तीर्णं चतुर्मुखमष्टबाहुं कृष्णलोचनं जटामुकुटधारिणं सितवर्णं मौक्तिकाभरणमतीव बलिनं गम्भीरं पुंल्लिङ्गमित्यकारस्य लक्षणं ध्यायामि" ।

मातृका के प्रत्येक वर्ण की लक्षणात्मक स्थिति का यह परिचय वैदिक आगमों के साथ तुलनीय एवं साम्यबोधक तो है ही, साथ ही इस प्रकार की मान्यताओं से मातृका के प्रति आदर भी प्रकट करता है । श्री रत्नचन्द्रगणि ने मातृकाप्रकरणसन्दर्भ नामक ग्रन्थ में भाषा, उसके सन्धिनियम, छन्द, वर्णप्रस्तार, उच्चारणविधि आदि अनेक विषयों का संग्रह किया है, वहीं याक्षीय-अल्पाक्षरीसंकेत-विधि का भी वर्णन किया है, जिसमें अ-अ (अ=सिद्ध)-आ-उ-म् इन पाँच वर्णों से ॐ की निष्पत्ति, जप-प्रक्रिया तथा ॐकार से ही अन्यान्य बीज मन्त्रों की निष्पत्ति को भी स्पष्ट किया है । सिद्धहेमशब्दानुशासन में श्री हेमचन्द्राचार्य ने तो समस्त मातृका का समुच्चयरूप 'अर्हं' बीज में ही समाविष्ट बतलाया है । मानतुंगसूरि ने भी कहा है—

अक्खर आई अयारं हयारमंतक्खरं च माईए ।
मज्झे वण्ण-समुच्चय-रयणत्तय-भूसियं अरहं ॥
(नवकारसारथवण ११)

इसी प्रकार मातृका-विचार से सम्बद्ध जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की अन्य भी पाण्डुलिपियाँ प्राप्त होती हैं, जिनका विस्तार से पर्यालोचन अपेक्षित है । बीजाक्षर तथा पिण्डाक्षरों के महत्त्व को समझने के लिये भी समस्त मन्त्रों की जननी मातृका के स्वरूप आदि का परिज्ञान अत्यावश्यक है ही ।

मुद्रा, पीठ और न्यास-सम्बन्धी जैन मान्यताएँ

१. मुद्रा— देवगणों के समक्ष आराधना के प्रसंग में देवताओं की प्रसन्नता के लिये मुद्रा दिखाना शास्त्रविहित है[१] । मुद्राएँ प्रायः हस्तयुगल की अँगुलियों के द्वारा की जाने वाली रचनाओं के माध्यम से दिखाई जाती है । सभी तान्त्रिक-अनुष्ठानों में मान्य इस पद्धति को जैन उपासना-विधानों में भी पर्याप्त अवसर मिला है । यथा— मन्त्र-साधना में शान्तिक, पौष्टिक, वश्य, आकर्षण, स्तम्भन, मारण, विद्वेषण एवं उच्चाटन आदि अष्ट काम्य कर्मों में ज्ञान, कमल, अंकुश, शंख तथा वज्रमुद्राओं का प्रदर्शन होता है । पूजोपासना के प्रारम्भ में अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु-मुद्राओं का आंगिक रूप से धारण . एवं चिन्तन होता है । तदनन्तर स्नानमुद्रा,

---

१. मुद कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च । तस्मान्मुद्रा इति ख्याताः ॥

कल्मषदहनार्थ स्वस्तिकमुद्रा, विघ्ननाशार्थ छोटिकामुद्रा, सुरभिमुद्रा (धेनु अथवा कामधेनु मुद्रा), आवाहनादि छह मुद्राएँ, अंजलि-मुद्रा, पंचोपचार-पूजा-मुद्रा, खमासमण-मुद्रा, पंचांग-प्रणिपातरूप योगमुद्रा, मुक्ताशुक्तिमुद्रा, नमस्कार-मुद्रा, जिनमुद्रा, कायोत्सर्ग-मुद्रा[१], अस्त्रमुद्रा, संहारमुद्रा, जपमुद्रा[२], विद्याजप से पूर्व दर्शनीय पंचमुद्रा, प्रवचनमुद्रा, षट्कर्मसाधना मे चक्र, पद्म, वज्रादि मुद्राएँ । जैन सम्प्रदाय की पूजा-पद्धतियों में ऐसी मुद्राओं को दिखाते समय मन्त्र और मन्त्रबीजों के प्रयोगों को भी मान्यता दी गई है ।

नमस्कार के लिये आठ प्रकारों का जो यहाँ विधान है, वह भी महत्त्वपूर्ण है । यथा—

१. पणिवयामि- कायिक नमस्कार । २. थोसामि- वाचिक नमस्कार ।
३. नमो- मानसिक नमस्कार । ४. कित्तणं- स्मरण नमस्कार ।
५. नमंसणयं- द्रव्यसमर्पण नमस्कार । ६. मरणं- आत्मसमर्पण नमस्कार ।
७. उवणमे- विनय नमस्कार । तथा ८. पणमामि-आध्यात्मिक नमस्कार ।

इस प्रकार मुद्राओं के सम्बन्ध में कतिपय मुद्राओं को तो यथावत् स्वीकृत किया गया है, कुछ के नाम-परिवर्तन हुए हैं और कुछ नवीन उद्भावनाएँ की गई हैं । किन्तु ऐसा अनुभव किया जाता है कि इनकी अनिवार्यता पर वैसा बल नहीं दिया गया है ।

२. पीठ— पीठ का तात्पर्य तत्तद्धर्म के प्रमुख धर्मस्थानों का एक विशिष्ट नाममात्र है । किन्तु यह शब्द शाक्त तन्त्रों में विभिन्न कथाओं के माध्यम से शिव के द्वारा सती के शव को लेकर ब्रह्माण्ड में भ्रमण करते समय श्रीविष्णु के चक्र से कट कर विभिन्न स्थानों पर गिरने से सम्बद्ध है और इसी से ५१ पीठों की प्रतिष्ठा बढ़ी है । जैनधर्मानुयायी अपने धर्मस्थानों को 'पीठ' शब्द से सम्बोधित नहीं करते, परन्तु तीर्थंकरों की जन्मभूमि, तपोभूमि एवं किसी विशेष कल्याणक, घटना विशेष से सम्बद्ध स्थलों को पीठ जैसी ही मान्यता देते हैं । वहाँ की यात्राएँ, प्रतिष्ठित जिन-प्रतिमाओं की पूजाएँ, धार्मिक अनुष्ठान आदि करने की भावनाएँ पर्याप्त सम्मान को

---

१. कायोत्सर्गमुद्रा का लक्षण 'आवश्यक-निर्युक्ति' में इस प्रकार दिया है—
चउरंगुल मुहपत्ती उज्जूए उब्वइत्थ रमहरणं ।
वोसट्ठचत्तदेहो काउस्सग्गं करिज्जाहि ॥१५४५॥

२. मुद्राओं की तर-तमता-पूर्वक जानकारी के लिये आचार्य श्री यशोदेव सूरि, पालिताणा (गुज0) द्वारा सम्पादित "ऋषिमण्डल-यन्त्र-पूजनम्" ग्रन्थ द्रष्टव्य है ।

प्राप्त है । ये स्थान कुछ तो प्रसिद्ध पर्वत-शिखरों पर स्थित हैं और वहाँ संघयात्राओं तथा वैयक्तिक यात्राओं का इतना अधिक प्रचलन है कि वे किसी पीठ की प्रतिष्ठा से न्यून नहीं कही जा सकतीं ।

३. न्यास— आराधना (उपासना) की योग्यता प्राप्ति के आभ्यन्तर उपादानों में न्यास-विधि की विशेष महत्ता है । "देवो भूत्वा देवं यजेत्" की भावना को मूर्त रूप देने के लिये न्यास-विधान एक अनुपम साधन है । तथा "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" की उक्ति को सार्थक बनाने का एक उपाय 'न्यास' भी है । न्यास शब्द का अर्थ है— स्थापना । यह स्थापना मूर्त पदार्थ होने पर एक स्थान से अन्य स्थान पर की जा सकती है, जबकि अमूर्त रूप हो अथवा भावना-मात्र-साध्य हो, तत्तत् स्थान-स्पर्श अथवा स्थान-भावनापूर्वक वहाँ पूर्व स्थिति मान कर उसके लिये वाचिक-स्मरण से उसकी स्थापना मानी जा सकती है । मन्त्राराधक के लिये ऐसे न्यासों का बड़ा महत्त्व है ।

मन्त्रयोग की वाच्य और वाचक रूप दो शक्तियों में प्रथम मन्त्र रूप है और द्वितीय है मन्त्रोक्त देवता । यह वाचक शक्ति ही सगुण रूप है और इस रूप की पूजा किये बिना वाच्य शक्ति, मन्त्र की प्राण शक्ति उद्बुद्ध नहीं होती । अतः वाचक शक्ति की साधना के लिये पूजा के उभयविध उपचारों का प्रयोग अभीष्ट है । आभ्यन्तर पूजा के लिये प्राण शक्ति का उद्बोधन न्यास द्वारा ही सम्भव है । न्यास द्वारा १. स्थापना, २. स्थापित के प्रति समर्पण तथा ३. उद्बोधनपूर्वक आशीर्वादापेक्षा से पूर्ण होती है । सम्पूर्ण शरीर एवं शरीर के अवयवों में विराजित चिच्छक्ति और उसके अंशों का जो शक्तिकेन्द्र है, उसके साथ नित्य सम्पर्क जैसे अनेक वैज्ञानिक तत्त्व भी न्यास-प्रक्रिया में समाविष्ट हैं।

जैनाचार्यों ने न्यास-विद्या को आवश्यक माना है तथा सभी प्रकार की उपासनाओं में इसे प्रमुखता दी है । यहाँ विनियोग में ऋषि, छन्द, देवता, बीज, शक्ति और कीलक का विधान न होने से ऋष्यादिन्यास नहीं होते । आचार्यों का कथन है कि जिस स्थान पर बैठ कर घण्टों तक पूजनादि करते हैं और उनकी क्रिया में अपने शरीर तथा उसके अवयवों से काम लेना है, उनकी सुरक्षाशुद्धि के लिये न्यास करना आवश्यक है । न्यास— १. हृदय, २. कण्ठ, ३. तालु ४. भ्रूमध्य और ५. ब्रह्मरन्ध्र पर किया जाता है । एतदर्थ

तत्त्वमुद्रा ग्राह्य है । तत्पश्चात् क्षिप ॐ स्वाहा इन पांच तत्त्वाक्षरों से न्यास होता है, इसका तात्पर्य शरीर के अन्य अंगों को सकल बनाने से है, अतः इसे 'सकलीकरण' कहा गया है । यह आरोह तथा अवरोह क्रम से सम्पन्न होता है । इस न्यास में— क्षि=चतुरस्र-पृथ्वी, प=अर्धचन्द्राकार-जल, ॐ त्रिकोणाकार-अग्नि, स्वा=षट्कोणाकार-वायु, तथा हा=वृत्ताकार-आकाश-स्वरूप पाँच तत्त्व क्रमशः पीत, श्वेत, रक्त, नील एवं कृष्ण वर्णों के साथ ध्यातव्य और न्यस्तव्य हैं । आरोहक्रम— पाद, जानु, नाभि, हृदय, मुख तथा ललाट-रूप है और अवरोह क्रम इसके विपरीत है । यह एक बार पुनः आरोह क्रम से करने पर पूर्ण होता है ।

वज्रपंजर (आत्मरक्षा-रूप न्यास)—इसमें पृथ्वी और आकाश में स्थित अनिष्ट शक्तियों के द्वारा विघ्न न किया जाय, एतदर्थ कवच धारण की भावना की जाती है । क्षुद्र शक्तियाँ शरीर में प्रविष्ट न हो सकें और टकरा कर वापस चली जायं, इस दृष्टि से इसका नाम 'वज्रपञ्जर' रखा गया है । यह आत्मरक्षा आम्नाय पर आधारित है, जिसमें पंचनमस्कार के नौ पदों के साथ ॐ तथा स्वाहा-पद जोड़ कर उनसे मस्तक, मुख, हृदयादि अंग, हस्तद्वय में आयुध-धारण, दोनों पैरों में रक्षा-मोचकधारण, नीचे वज्रमयी शिला, शरीर की सुरक्षा के लिये वज्रपंजर, ज्वालायुक्त परिखा तथा वज्रमय-पिधान की धारणा की जाती है ।

इसी प्रकार हृदयशुद्धि, मन्त्रस्नान तथा कल्मषदहन के लिये भी न्यासात्मक भावना की जाती है । पंचांगुलि-न्यास, करतल-करपृष्ठ-न्यास, अष्टांगन्यास-शिखादि-नाभ्यन्त एवं छोटिका-विधान भी न्यास रूप हैं । वर्धमान विद्या में 'कुरुकुल्ले स्वाहा' इस मन्त्र के वर्णों से कुक्षिद्वय, पदद्वय और पुनः कुक्षिद्वय पर होने वाला लोम-विलोमाक्षररूप रक्षान्यास कुछ विशिष्टता को लिये हुए है । न्यासहेतु जैन साधकों के लिये विशेष प्रक्रियाओं का विधान न करते हुए केवल मूल बीज मन्त्र, षड्दीर्घ-बीज, मन्त्र और मन्त्रदेवताओं के ही न्यास बताये गये हैं । अन्य तान्त्रिक विधानों में जैसे मातृका-न्यास सृष्टि, स्थिति, संहार-क्रम से, मन्त्र के पाद, पद और अक्षरन्यास तथा मन्त्रगत पूज्य परिवार देवताओं के न्यास आदि अन्य वैदिक-आगमिक आम्नायों में विहित हैं, वैसा यहाँ नहीं है । किन्तु परम्परा लुप्त न हो, इस दृष्टि से कतिपय न्यास मान्य हैं ।

बाह्य एवं आन्तर पूजा

पूजा के लिये जैनागमों में तथा उत्तरवर्ती जैन तन्त्र-पद्धतियों में पर्याप्त विवेचन है । यह पूजाविधान नित्य, नैमित्तिक और काम्य इन तीनों दृष्टियों से होता है, जिसे मूर्तिपूजक जैन (दिगम्बर और श्वेताम्बर) अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार करते हैं । दिगम्बर जैन मूर्ति एवं यन्त्रादि की पूजा में कतिपय सम्प्रदाय-मान्य विधानों के अनुसार उनकी बाह्य साज-सज्जा नहीं करते, जबकि श्वेताम्बर जैन कुछ अंशों में करते है । मन्दिरों में स्थापित प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाविधि, अंजनशलाकाविधान होने के पश्चात् पूजाएँ होती हैं । श्रावकगण नित्यपूजा करते हैं । श्राविका महिलाएँ दर्शन और वन्दन करके प्रतिमाओं के समक्ष अक्षत आदि से स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि बना कर मेवा, फल आदि समर्पित करती हैं । किन्तु साधु-साध्वी समुदाय केवल वाचिक वन्दन ही करते हैं ।

जब पर्वाराधन अथवा विशिष्ट-पूजा-समाराधन होता है, तो बाह्य-पूजा में बहुविध संयोजनाएँ होती हैं, जिनमें सिद्धचक्र, ऋषि-मण्डल-यन्त्र, वर्धमान-विद्यायन्त्र, श्रीपंचनमस्कारचक्र, वर्धमानचक्र एवं पंचपरमेष्ठि-विद्यायन्त्र आदि यन्त्रों की बड़े समारोह से पूजा होती है । इनमें सर्वप्रथम यन्त्रात्मक-मण्डल की रचना की जाती है । अथवा बृहदाकार यन्त्र की पूजा होती है । उदाहरणार्थ ऋषिमण्डलयन्त्र की पूजा में सिंहासन रूप ह्रींकार की मुद्राप्रदर्शन-पूजा, चतुर्विंशति जिनपूजा (ह्रींकार के विविध अवयवों पर), ३३ कूटाक्षर पूजा, (क से क्ष तक के क्म्ल्व्र्‌यूं से क्ष्म्ल्व्र्‌यूं तक के कूटाक्षरों की वलयक्रम से पूजा), इसमें नैवेद्य के लिये ५ द्राक्षा (किसमिस) और एक नारंगी-संतरा भेंट करने का विधान है । द्वितीय वलय में नवग्रहों की पूजा की जाती है, जो अतिसंक्षिप्त है । इसमें पूजनद्रव्य अथवा तांबे के पैसे रखे जाते हैं । फिर वहीं दशदिक्पाल, धरणेन्द्र-पद्मावती-वैरोटी आदि अधिष्ठायक देव-देवी और क्षेत्रपाल की पूजा होती है । तृतीय वलय में इस पूजा के पश्चात् चतुर्थ वलय में अर्हदाद्यष्टपदार्चन होता है, जिसमें प्रत्येक की १. जल, २. चन्दन, ३. पुष्प, ४. अक्षत, ५. नैवेद्य, ६. दीपक, ७. धूप एवं ८. फलपूजा रूप अष्टप्रकारी पूजा की जाती है । यहाँ नमस्कार-मन्त्र के पाँच पदों के साथ १. ज्ञान, २. दर्शन और ३. चारित्र पद की पूजा से आठ पद बनते हैं । पंचम वलय में चतुर्निकायगत इन्द्र आदि देव-देवियाँ और

लब्धिधारी मुनिवर पूज्य हैं । इस पूजा में पान-सुपारी का प्रयोग होता है । छठे वलय में चतुर्विंशति देवी श्री-ह्री-धृति-गौरी आदि की पूजा होती है । तदनन्तर मध्य से बाहर की ओर बने हुए छह वलयों के बाहर लवण समुद्ररूप वलय में अन्तर्द्वीपसूचित जलीय बीजस्वरूप ५६ वकार वर्णों की धूप-पूजा होती है । तत्पश्चात् ध्यान करके आरती, मंगल दीप तथा शान्तिकलश आदि किये जाते हैं[१] ।

प्रतिमा-पूजा के विधान भी अनेक प्रकार के हैं । जैनाचार्यों ने बाह्य-पूजा के लिये प्रतिष्ठा-पद्धतियों की रचनाएँ की हैं, जिनमें 'प्रतिष्ठासार' तथा 'प्रतिष्ठाकल्प' नामक अनेक कृतियाँ प्राप्त हैं ।

आन्तर-पूजा मानस-पूजा का रूप है, इसे ध्यानपूर्वक (बिना किसी मूर्त वस्तु के) सम्पन्न किया जाता है । शास्त्रकारों ने आन्तर-पूजा का बड़ा महत्त्व बतलाया है । इसी को अन्तर्याग कहा जाता है । साधक बाह्य-पूजा के सभी विधानों को ध्यान में लीन रहते हुए अन्तःशरीर में इष्टदेव अथवा इष्टयन्त्र की धारणा करके सम्पूर्ण पूजा को आन्तरिक भावों से पूर्ण करता है । इसमें तन्मयता अत्यावश्यक है । पूरी पूजाविधि कण्ठस्थ होने से यह आन्तर-पूजा विधिवत् सम्पन्न की जा सकती है ।

अन्तर्यजन के दो प्रकार मान्य हैं—१. साधार और २. निराधार । साधार में इष्टदेवता की मूर्ति अथवा चक्र (यन्त्र) ध्येय है, जिसमें चिच्छक्ति का आवाहन करके उसकी पूजा (पंचोपचार अथवा षोडशोपचार से) की जाती है । निराधार अन्तर्यजन में बिना किसी बाहरी वस्तु की कल्पना किये केवल सच्चिदानन्द की भावना की जाती है । इस पूजा की स्थिति प्राप्त करने के लिये पूर्वाभ्यास आवश्यक है, जिसमें मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त एक सूक्ष्म विद्युत्पुंज कमलनाल के रूप में ध्यातव्य है और तत्पश्चात् हृदय में इष्ट-चिन्तन-पूर्वक उसकी भावना करते हुए मानसिक अर्चन होता है । जैनाचार्यों ने पूजा के तीन प्रकार माने हैं— १. बाह्यपूजा, २. आन्तरपूजा और ३. भावपूजा । इनमें भावपूजा स्तुति-प्रार्थनारूप है, किन्तु आन्तरपूजा को योग की भूमिका में मान्यता दी गई है ।

---

१. इस समस्त पूजा में कितनी अधिक सामग्री अपेक्षित होती है, इसके लिये 'ऋषिमण्डल यन्त्रपूजन' ग्रन्थ में दी गई सूची द्रष्टव्य है ।

हरिभद्र सूरि ने योग को 'योजनाद् योगः' के अर्थ में व्यक्त करते हुए कहा है—

मुक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वोवि धम्मवावारो ।
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं ॥
(योगविंशिका)

अर्थात्—प्रणिधान से अत्यन्त शुद्ध बना हुआ समस्त धर्मव्यापार मोक्ष से जोड़ने वाला होने से योग कहलाता है । यह धर्मव्यापार विशेषतः स्थानादि रूप से पाँच प्रकार का है—१. स्थानगत-कायोत्सर्गादि आसन मुद्रा । २. उन्न-वर्णगत, अर्थात् शास्त्रगत वचनों का ज्ञान । ३. अत्थ-अर्थगत, अर्थात् शास्त्रवचनों के अभिधेय का ज्ञान । ४. आलंबन, अर्थात् जिन-बिम्ब मूर्ति और श्रुत का आलम्बन । ५. आलंबन रहिओ, अर्थात् आलम्बन मुक्त उपभेद परिणति ।

योग के इस अर्थ से यह सिद्ध होता है कि योग ध्यान में स्थिर होने की अथवा ध्यान को सिद्ध करने की एक क्रिया है । ध्यान को सिद्ध करने का और आन्तरपूजा का प्रयोजन एक ही है और वह है कर्मरहित अवस्था । इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये तप, आभ्यन्तर तप को भी आवश्यक बतलाया गया है ।

ध्यान का विस्तृत विचार जैनाचार्यों की विशिष्ट देन है । ध्यान का अर्थ चिन्तन और भावना से उत्पन्न स्थिर अध्यवसाय है । द्रव्य और भाव के भेद से इसके दो भेद हैं । द्रव्य से आर्त एवं रौद्र ध्यान होते है, जबकि भाव-ध्यान के चार प्रकार हैं । ध्यान के ध्यान, परमध्यान, शून्य, परमशून्य आदि २४ मार्ग बतलाये हैं । इन भेदों के भी अन्य अनेक उपभेद होते हैं । दशवैकालिकनिर्युक्ति में योग के २९0 आलम्बन वर्णित हैं । मन्त्राराधना में ध्यान एक मुख्य अंग के रूप में मान्य है, जिसकी विविधता पर जैनशास्त्रों का विचार महत्त्वपूर्ण है ।

षडंग योग तथा कुण्डलिनी योग

जैन आगमों में 'योग' शब्द के अर्थ में 'ध्यान' का बहुधा प्रयोग हुआ है । अध्यात्म, भावना, समता और वृत्तिसंक्षय के समान ही ध्यान भी योगमार्ग की भूमिका है । महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों में ध्यान को भी एक अंग बतलाया है । योग के ही समाधि, अनुप्रेक्षा, प्रणिधान, आत्मशिक्षा, अध्यात्मतत्त्व आदि अंगों की

स्वतन्त्र पद्धतियों का व्याख्यान करके जैनाचार्यों ने योग के मार्ग को प्रशस्त किया है । वैराग्य-राग रसिक तीर्थंकरों, आचार्यों और मुनिराजों ने स्वयं यौगिक उपासनाओं का आश्रय लेकर ही मोक्षलक्ष्मी का वरण किया है । जिनागमों में योग एवं योगांगों के बारे में बहुत कहा भी है । किन्तु श्वेताम्बर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा वीसवीसिया में, जोगविहाणवीसिया एवं षोडशक में योगविषय का प्रतिपादन करके जैन सम्प्रदाय में योग को व्यवस्थित रूप दिया है ।

आध्यात्मिक विकास के लिये उत्क्रान्तिवाद को प्रगति का पथ बतलाते हुए योग के दो प्रकार बतलाये गये हैं । जिनमें निरर्थक एवं अनर्थकं अभिमान और ममत्व के त्याग को पारमार्थिक योग कहा है तथा केवल मन की एकाग्रता को व्यावहारिक योग कहा है । गुणस्थान-क्रमारोह ही उत्क्रान्ति है । इस विषय पर भी जैनाचार्यों ने पर्याप्त लिखा है । जैनाचार्य योगसाधना में शरीरापेक्षया मन की प्रधानता मानते हुए मनःस्वास्थ्य पर भी विशेष ध्यान देने के लिये कहते रहे हैं । नाथयोगी योग के ६ अंग मानते हैं—

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥

इसी प्रकार जैनागम, आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, मूलाचार आदि में योगाभ्यास के यम, तप, स्वाध्याय आदि नियम, इन्द्रियजयरूप प्रत्याहार और ध्यान ये पाँच अंग बतलाये हैं । कहीं-कहीं साधुचर्या के द्वादश अंग— अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कायक्लेश, संलीनता, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग की भी चर्चा की गई है । इनमें छह बाह्य-तप और छह आभ्यन्तर-तप कहे गये हैं । आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में ध्यान को ही योग मान कर उसका विवेचन किया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप धर्मव्यापार को ही योग बतलाया है । योगशास्त्र में मन के विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट एवं सुलीन ये चार भेद वर्णित हैं । जैनमतानुसार योग-परक ग्रन्थों के लेखकों ने ध्यान को ही प्रधानता देकर योग के अंग-प्रत्यंगों की विचारणा दी है और अन्य धर्मावलम्बियों द्वारा जो योग के भेद-प्रभेद किये हैं, उनको अपनी प्रक्रिया में समाविष्ट कर लिया है । अन्य योगशास्त्रों के साथ जैन योगशास्त्रों में १. शाब्दिक,

२. विषयगत और ३. प्रक्रियागत साम्य परिलक्षित होता है, तथापि अनेकविध नवीन उद्भावनाएँ उनके द्वारा हुई हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता । षडंग योग को भी उसमें समा लिया गया है[1] ।

कुण्डलिनी योग को जैनाचार्यों ने विशेष महत्त्व नहीं दिया, किन्तु सर्वथा त्याग भी नहीं किया है । उनकी मान्यता है—

कुण्डलिनी भुजगाकृती रेफाञ्चित-हः शिवः स तु प्राणः ।
तच्छक्तिर्दीर्घकला माया तद्वेष्टितं जगद्वश्यम् ॥४४०॥
(म. रा. रहस्य)

तात्पर्य यह है कि रेफ से युक्त 'ह' सर्प की आकृतिवाली कुण्डलिनी है । केवल 'ह्' शिव है, वही प्राण है तथा दीर्घकला ी (दीर्घ ईकार) उसकी शक्ति-माया है । मात्रा से वेष्टित (मोहित) जगत् है । यह जगत् 'ह्रीं' के ध्यान से वश में होता है । सिंहतिलक सूरि ने इससे पूर्व 'अर्हं' बीज को पञ्चपरमेष्ठिमय बतला कर 'ह्रीं' बीज को भी तद्वत् सिद्ध किया है । परमेष्ठि-विद्याकल्प में 'अ' वर्ण को ही 'कुण्डलीतनु' कहा है—

'अ' वर्णं च सहस्रार्ध नाभ्यब्जे कुण्डलीतनुम् ।
ध्यायन्नात्मानमाप्नोति चतुर्थतपसः फलम् ॥४४९॥

यहाँ अवर्ण से अर्हं के प्राग्वर्ती अवग्रह ऽ को ध्यातव्य बतलाया है ।

वैसे जैन-साधना-पद्धति में 'कुण्डिलिनी' को 'तेजोलब्धि' कहा गया है । यह स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर शरीरो में मध्य=सूक्ष्म-शरीर की एक क्रिया है । कहीं-कहीं इसे चित्-शक्ति भी कहते हैं ।

---

१. जैन योग और वैदिक योग के प्रकारों में साम्य की दृष्टि से संक्षेप में यह ज्ञातव्य है कि वैदिक-योग के— १. भक्तियोग, २. ज्ञानयोग तथा ३. कर्मयोग ऐसे तीन प्रकार हैं, उसी प्रकार जैन योग में १. सम्यग्दर्शन, २. सम्यग्ज्ञान तथा ३. सम्यक् चारित्र उन तीनों प्रकारों से साम्य रखते हैं । हरिभद्र सूरि दर्शित योग के पाँच प्रकारो में स्थान और वर्ण को कर्मयोग तथा अर्थ, आलम्बन और आलम्बन-रहित योग को ज्ञानयोग कहा है । विशेषता यह है कि योगविंशिका में श्रीहरिभद्र सूरि ने स्थान आदि पांच योग प्रकारों को इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि-रूप चार प्रकारों से गुणित करके बीस प्रकार दिखाये है और उन्हें प्रीति, भक्ति, वचन तथा असंग के साथ गुणित कर ८० प्रकार वाला बतलाया है ।

कुण्डिलिनी का एक नाम 'महापथ' है, जिसे जैन-साहित्य भी स्वीकार करता है । इसका वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर इसे एक विशिष्ट प्राण शक्ति कहा जा सकता है । कुण्डलिनी-जागरण के बारे में जैन आगमों का कथन है कि चैतन्य (कुण्डलिनी) का अनन्तवाँ भाग सदा जागृत रहता है । इस दृष्टि से कुण्डलिनी का जागरण सर्वसाधारण को होता है, अन्यथा वह अजीव-अचेतन बन जायगा । यह तैजस शक्ति सभी प्राणियों में जागृत तो रहती है, किन्तु मात्रा का अन्तर होता रहता है । जो विशिष्ट व्यक्ति साधना के द्वारा इस तैजस शक्ति को विकसित कर लेता है अथवा गुरु का आशीर्वाद पाकर उसका प्रबोधन प्राप्त कर लेता है, उसकी तैजस शक्ति विशिष्ट हो जाती है । प्रेक्षाध्यान से भी कुण्डलिनी प्रबुद्ध होती है । कुण्डलिनी-प्रबोधन के अनेक उपाय हैं । मणि, मन्त्र, औषधि आदि से भी प्रबोधन होता है ।

गोशालक और महावीर के संवाद में भी तेजोलेश्या की प्राप्ति के उपायों पर विचार हुआ है । तेजोलेश्या के विकासस्रोत तीन बताये गये हैं— १. आतापना, २. क्षान्ति-क्षमा और ३. जल-रहित तपस्या । प्रेक्षाध्यान की पूरी क्रिया—१. दीर्घश्वासप्रेक्षा, २. अन्तर्यात्रा, ३. शरीर-प्रेक्षा, ४. चैतन्य केन्द्रप्रेक्षा और ५. लेश्याध्यान से भी कुण्डलिनी जागरण होता है । जैन-परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में कुण्डलिनी शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, तथापि आगम और उसके व्याख्या साहित्य में कुण्डलिनी का नाम तेजोलेश्या है । अग्निज्वाला के समान लाल वर्ण वाले पुद्गलों के योग से होने वाली चैतन्य की परिणति का नाम तेजोलेश्या है और यह तप की विभूति से होने वाली तेजस्विता है ।

नाड़ी-चक्र, वायु-आधार तथा प्राणायाम

सिंहतिलक सूरि ने ही परमेष्ठि-विद्या-यन्त्रकल्प में कुण्डलिनी का आम्नाय बतलाते हुए—

गुदमध्य-लिङ्गमूले नाभौ हृदि कण्ठ-घण्टिका-भाले ।
मूर्धन्यूर्ध्वं नवचक्रं ठान्ताः पञ्च भालयुताः ॥६०॥

इत्यादि से नौ चक्रों का विवरण दिया है और इनके दल ४,६, १०, १२, १६, २०, ३, १६ तथा १००० क्रमशः बतलाये हैं । इन चक्रों के नाम— मूलाधारादि विशुद्धान्त ५ और ललना,

आज्ञा, ब्रह्मरन्ध्र तथा सहस्रार-ब्रह्मबिन्दु हैं । इनके रंग, दलगत वर्ण, तत्त्व, तत्त्वबीज, चक्रदेवी, चक्रयन्त्राकार और मन्त्रबीज भी यहाँ निर्दिष्ट हैं ।

इन चक्रों की साधना के लिये 'नाडी-चक्र' का विधान भी जैनपरम्परा में मान्य है । चन्द्रनाडी, सूर्यनाडी और ब्रह्मनाडी का विवेचन किया गया है तथा कुण्डलिनी जागरण में नाडी-शोधन की आवश्यकता प्रतिपादित करते हुए प्राण-प्रवाह की नलिकाओं के शोधन का संकेत भी दिया गया है, तथापि इनकी सूक्ष्मता पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया, ऐसा लगता है ।

नाड़ी-शोधन के लिये वायु को आधार मानकर प्राणायाम के बहुप्रचलित रूप पूरक, कुम्भक और रेचक की व्यवस्था जप के प्रसंग में जैन आचार्यों ने मान्य की है, किन्तु विशेष बल नहीं दिया । आवश्यक-निर्युक्ति में उसासं न निरुंभई-उच्छ्वास=श्वासोच्छ्वास का (बलपूर्वक) निरोध नहीं करना चाहिये । श्री हेमचन्द्राचार्य ने भी योगशास्त्र के छठे प्रकाश के पद्य ४-५ में इसे मोक्षसाधन में विघ्न रूप माना है । शुभचन्द्राचार्य भी इससे सहमत हैं । अतः इस पर विशेष विचार नहीं किया गया है ।

निष्कर्ष यह है कि जैन आगम और शास्त्रों में तन्त्रमार्ग में प्रचलित प्रायः सभी क्रमों=विधियों को न्यूनाधिक रूप में मान्यता दी है । अपने इष्टदेव की मन्त्र साधना में प्रमुख माने गये हैं और ध्यान आदि की क्रियाओं में विशेष चिन्तन करके बहुत से नये मार्ग प्रशस्त किये गये हैं । अतः आज की सर्वतोमुखी कल्याण-कामना को फलित करने के लिये संस्कृति-त्रिवेणी— जैन, बौद्ध एवं वैदिक की पारस्परिक विचारणा से भूले-बिसरे पक्षों का उद्घाटन एवं सुसंयोजन परमावश्यक है ।

•

जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण

-आचार्य महाप्रज्ञ-

आगम साहित्य के दो विभाग हैं—अंग-प्रविष्ट और अंग-बाह्य । अंग-प्रविष्ट के बारह अंग हैं । उनमें बारहवाँ अंग है— दृष्टिवाद । उसके पाँच प्रकार हैं—१. परिकर्म, २. सूत्र, ३. पूर्वानुयोग, ४. पूर्वगत और ५. चूलिका[१] । पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश होता है । उनमें दसवां पूर्व है विद्याप्रवाद । उसमें अंगुष्ठप्रश्न आदि सात सौ मन्त्रों, रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं तथा उसकी साधन-विधि का वर्णन किया गया है । राजवार्त्तिक के अनुसार उसमें आठ महानिमित्तों का भी वर्णन है[2] । आठ महानिमित्त ये हैं— १. भौम विद्या, २. उत्पात विद्या, ३. स्वप्न विद्या, ४.अन्तरिक्ष विद्या, ५. अंग विद्या, ६. स्वर विद्या, ७. लक्षण विद्या और ८. व्यंजन विद्या[३] ।

विद्याप्रवाद पूर्व नामक ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । उसके प्रकीर्ण अंश यत्र-तत्र उपलब्ध हैं । अंगविज्जा, भैरवपद्मावतीकल्प, लघुविद्यानुवाद, अष्टांगनिमित्त आदि अनेक तन्त्र-मन्त्र और यन्त्र से सम्बद्ध ग्रन्थ हैं । उनमें विद्याप्रवाद पूर्व के प्रकीर्ण अंशों को खोजा जा सकता है । जैन तन्त्रशास्त्र और मन्त्रशास्त्र में मन्त्र-साधना का अधिकार सबको है । इसका अर्थ यह है कि वह किसी व्यक्ति की उपाधि या विशेषण से प्रतिबद्ध नहीं है । उसका सम्बन्ध व्यक्ति की अर्हता से है । भैरवपद्मावतीकल्प में मन्त्रसाधक की अर्हता का निर्देश इस प्रकार है[४]—

निर्जितमदनाटोपः प्रशमितकोपो विमुक्तविकथालापः ।
देव्यर्चनानुरक्तो जिनपदभक्तो भवेन्मन्त्री ॥

मन्त्राराधनशूरः पापविदूरो गुणेन गम्भीरः ।
मौनी महाभिमानी मन्त्री स्यादीदृशः पुरुषः ॥

गुरुजनहितोपदेशो गततन्द्रो निद्रया परित्यक्तः
परिमितभोजनशीलः स स्यादाराधको देव्याः ॥

---

१. कषाय पाहुड
२. राजवार्त्तिक १.२०
३. ठाणं ८.२३
४. भैरवपद्मावतीकल्प, ६.११

निर्जितविषयकषायो धर्मामृतजनितहर्षगतकार्यः ।
गुरुतरगुणसम्पूर्णः स भवेदाराधको देव्याः ॥
शुचिः प्रसन्नो गुरुदेवभक्तो दृढव्रतः सत्यदयासमेतः ।
दक्षः पटुर्बीजपदावधारी मन्त्री भवेदीदृश एव लोके ॥

एते गुणा यस्य न सन्ति पुंसः क्वचित् कदाचिन्न भवेत् स मन्त्री ।
करोति चेद् गर्ववशात् स जाप्यं प्राप्नोत्यनर्थं फणिशेखरायाः ॥

मन्त्रराजरहस्य (श्लोक ७१) में भी मन्त्रसाधना की प्रतिबद्धता अर्हता के साथ निर्दिष्ट है, किसी व्यक्तिविशेष के साथ उसका निर्देश नहीं है—

एकान्तरम्यभूमावुपविश्य सुखासनो जिताक्षगणः ।
गुरुभक्तः प्रकृतिशुचिर्दृढधर्मा ध्यातुमुद्यतते ॥

मन्त्रसाधना की पहली शर्त है—सकलीकरण । उसके बिना मन्त्र की सिद्धि नहीं होती । सकलीकरण की क्रिया में बाह्य शुद्धि, आन्तरिक एकाग्रता तथा न्यास—इन सबका समाहार होता है । इसे रक्षाकवच की पद्धति भी कहा जाता है । भैरवपद्मावतीकल्प में सकलीकरण करने वाले के लिये शरीर-शुद्धि, वस्त्र-शुद्धि और भूमि-शुद्धि का निर्देश दिया गया है—

स्नात्वा पूर्वं मन्त्री प्रक्षालितरक्तवस्त्रपरिधानः ।
संमार्जितप्रदेशे स्थित्वा सकलीक्रियां कुर्यात् ॥

इस बाह्य-शुद्धि के पश्चात् न्यास का निर्देश इस प्रकार है—

बाएं हाथ के अंगूठे के अग्रभाग में ह्रां, तर्जनी के अग्रभाग में ह्रीं, मध्यमा के अग्रभाग में ह्रूँ, अनामिका के अग्रभाग में ह्रौं और कनिष्ठिका के अग्रभाग में ह्रः का न्यास करें ।

ह्रॉं वामकराङ्गुष्ठे तर्जन्यां ह्रीं च मध्यमायां ह्रूँ ।
ह्रौं पुनरनामिकायां कनिष्ठिकायां च ह्रौंः सुस्यात् ॥

पञ्चनमस्कारपदैः प्रत्येकं प्रणवपूर्वहोमान्त्यैः ।
पूर्वोक्तपञ्चशून्यैः परमेष्ठिपदाग्रविन्यस्तैः ॥

शीर्षं वदनं हृदयं नाभिं पादौ च रक्ष रक्षेति ।
कुर्यादेतैर्मन्त्री प्रतिदिवसं स्वाङ्गविन्यासम् ॥

न्यास की दूसरी पद्धति इस प्रकार है—

ॐ णमो अरिहँताणं ह्राँ मम हृदयं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम मुखं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम दक्षिणाङ्गं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम पृष्ठाङ्गं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम वामाङ्गं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो अरिहंताणं ह्राँ मम ललाटभागं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम ऊर्ध्वभागं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम शिरोदक्षिणभागं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम शिरोऽधोभागं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम शिरोवामभागं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो अरिहंताणं ह्राँ मम दक्षिणकुक्षं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो सिद्धाणं ह्रीं मम वामकुक्षं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो आयरियाणं ह्रूँ मम नाभिप्रदेशं रक्ष रक्ष स्वाहा ।
ॐ णमो उवज्झायाणं ह्रौं मम दक्षिणपार्श्वं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

ॐ णमो लोए सव्वसाहूणं ह्रः मम वामपार्श्वं रक्ष रक्ष स्वाहा ।

मन्त्रसाधना करने वाला मन्त्र का उच्चारण करता जाता है और जिस अंग का नाम आता है, उसका स्पर्श करता है । यह न्यास की विधि विद्यानुशासन में भिन्न प्रकार से निर्दिष्ट है[1] । सकलीकरण विषयक मन्त्रपदों के विन्यास का कोई निश्चित क्रम निर्दिष्ट नहीं है । भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के क्रमों का निर्देश है । तत्त्वानुशासन में शरीर की शुद्धि के लिये मारुती, आग्नेयी और वारुणी धारणा का विधान है । तत्पश्चात् सकलीकरण का निर्देश है[2]—

तत्रादौ पिण्डसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च ।
मारुतीं तैजसीमाप्यां विदध्याद् वारुणीं क्रमात् ॥

अकारं मरुताऽऽपूर्य कुम्भित्वा रेफवह्निना ।
दग्ध्वा स्ववपुषा कर्म स्वतो भस्म विरेच्य च ॥

---

१. विद्यानुशासन, ७२-७५
२. तत्त्वानुशासन, श्लोक ८३-८७

ह–मन्त्रो नभसि ध्येयः क्षरन्नमृतमात्मनि ।
तेनाऽन्यत् तद्विनिर्माय पीयूषमयमुज्ज्वलम् ॥

ततः पञ्चनमस्कारैः पञ्चपिण्डाक्षराऽन्वितैः ।
पञ्चस्थानेषु विन्यस्तैर्विधाय सकलीक्रियाम् ॥

पश्चादात्मानमर्हन्तं ध्यायेन्निर्दिष्टलक्षणम् ।
सिद्धं वा ध्वस्तकर्माणममूर्तं ज्ञानभास्वरम् ॥

तन्त्रसाधना के अन्तर्गत मन्त्रजप का उद्देश्य होता है—आकर्षण, वशीकरण, उच्चाटन आदि । इसलिये उस क्रिया में सकलीकरण का प्रयोग मूलतः आत्मरक्षा के लिये किया जाता है । योगसाधना के क्षेत्र में मन्त्र का जप समरसीभाव अथवा समाधि के लिये किया जाता है । इसलिये उस प्रक्रिया में सकलीकरण का मुख्य उद्देश्य हो जाता है— शरीर को विशिष्ट अर्हताओं की अभिव्यक्ति के योग्य बनाना । ध्याता ध्येय के स्वरूप में आविष्ट होकर ही तद्रूप बन सकता है । शरीर की निर्मलता और शून्यता (कायोत्सर्ग की मुद्रा) में गये बिना कोई भी साधना करने वाला व्यक्ति गुण–संक्रमण का पात्र नहीं बन सकता, ध्येय की विशेषता का अपने में अवतरण नहीं कर सकता[१]—

यदा ध्यानबलाद् ध्याता शून्यीकृत्य स्वविग्रहम् ।
ध्येयस्वरूपाविष्टत्वात् तादृक् सम्पद्यते स्वयम् ॥

मन्त्र और तन्त्र विद्या का परस्पर में अद्भुत गुम्फन रहा है । तन्त्र में मन्त्र का प्रयोग और मन्त्र में तान्त्रिक उपचार प्रचलित रहे हैं । जैन साधकों के संमुख पचास लब्धियों (योगज विभूतियों) का बहुत मूल्य रहा है[२]—

१.	जिन	७.	कोष्ठबुद्धि	१३.	अक्षीणौषधि
२.	परा	८.	पदानुगाबुद्धि	१४.	जल्लौषधि
३.	अनन्ता	९.	संभिन्नश्रोतोलब्धि	१५.	खेलौषधि
४.	अनन्तानन्ता	१०.	क्षीरलब्धि	१६.	आमौषधि
५.	सर्वावधि	११.	मध्वास्रवलब्धि	१७.	विप्रुडौषधि
६.	बीजबुद्धि	१२.	अमृतास्रवलब्धि	१८.	सर्वौषधि

१. तत्त्वानुशासन, श्लोक १३५
२. मन्त्रराजरहस्य, श्लोक २–७

१९. अग्निमौषधि	३०. शीतलेश्या	४१. जिनकल्प
२०. वैक्रियलब्धि	३१. तेजोलेश्या	४२. अणिमादि अष्टसिद्धि
२१. सर्वलब्धि	३२. दृष्टिविष	४३. केवली
२२. ऋजुमति	३३. आशीविष	४४. मनःपर्ययज्ञानी
२३. विपुलमति	३४. वाग्विष	४५. अवधिज्ञानी
२४. जंघाचारण	३५. चारण	४६. उग्रतपस्वी
२५. विद्याचारण	३६. महास्वप्न	४७. दीप्ततपस्वी
२६. प्रज्ञामुनि	३७. तैजस	४८. चतुर्दशपूर्वी
२७. विद्यासिद्ध	३८. वाद्य	४९. दशपूर्वी
२८. नभोगमन	३९. अष्टाङ्गनिमित्त	५०. एकादशाङ्गवित्
२९. दीप्तलेश्या	४०. प्रतिमाप्रतिपन्नक	

इन पचास लब्धियों में से एक-एक लब्धि के साथ बीस-बीस विद्याएं जुड़ी हुई हैं । इस प्रकार हजार विद्याएं फलित होती हैं । इनका प्रयोग बन्धनमुक्ति, रोग-नाश आदि अनेक प्रयोजनों के लिये किया जाता रहा है । इनकी साधना में तान्त्रिक पद्धति का उपचार भी सन्निहित है । जिन आदि आठ लब्धियों के प्रयोग के समय पट्ट पर कर्पूर और चन्दन के द्वारा विलेखन कर उसके नीचे सम्बद्ध व्यक्ति का नाम लिख कर आठ हजार श्वेत पुष्पों से उसकी अर्चा की जाय, तो तीन दिन में बद्ध व्यक्ति की बन्धन-मुक्ति हो जाती है[१]—

जिनावधिपरानन्तानन्तावधेर्जिनाः ।
केवलित्रयमित्यष्टौ पट्टे कर्पूरचन्दनैः ॥

विलिख्य तदधो बद्ध्वाऽभिधां च कुसुमैः सितैः ।
अर्चाऽष्टाधिसहस्रेण त्र्यहात् तद्बन्धमोक्षकृत् ॥

इसी प्रकार अक्षीणकोश की सिद्धि के लिये बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, संभिन्न-श्रोतोलब्धि, अक्षीण महानसिका और सर्वलब्धि—इनका एक पट्ट पर विलेखन कर तीन दिन तक इसका एक हजार आठ पुष्पों के प्रयोग के साथ जप करने पर अक्षीणकोशता का लाभ होता है[२]—

---

१. मन्त्रराजरहस्य, श्लोक १३-१४

२. मन्त्रराजरहस्य, श्लोक २७-२८

बीजबुद्धिकोष्ठबुद्धी संभिन्नश्रोतसस्तथा ।
अक्षीणमहानसिका सर्वलब्धिश्च पञ्चकम् ॥

प्रागवदालिख्य सत्पुष्पैरष्टोत्तरसहस्रकैः ।
जापात् त्र्यहाद् भवेल्लाभस्तद्वदक्षीणकोशता ॥

जैनदर्शन और तत्त्वविद्या में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन निमित्तों के मूल्य को स्वीकारा गया है । इसी आधार पर जैन साधकों ने इनका प्रयोग किया । केवल आध्यात्मिक विकास में इनकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु शक्तिविकास और संगठन के साथ जीने की पद्धति प्रतिष्ठित हुई, तब से मन्त्रविद्या और तन्त्रविद्या केवल ज्ञेय नहीं रही, उसका प्रयोग भी होने लगा । समय-समय पर उनके प्रयोग पर अंकुश भी लगाया गया । फिर भी साम्प्रदायिक अस्तित्व के लिये उस अंकुश में निरंकुशता को भी अवकाश मिला । द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की शक्ति के विभिन्न पर्यायों को समझने के लिये मन्त्र और तन्त्रविद्या का साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है । प्रस्तुत लेख में उसके प्रारम्भ द्वार— सकलीकरण पद्धति का संक्षिप्त-सा संस्पर्श किया गया है ।

●

मन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नमस्कार मन्त्र

-गुरुविचक्षणपदरज डॉ० सुरेखाश्री-

तन्त्रशास्त्र वास्तव में एक साधना शास्त्र है, क्योंकि तन्त्र से तात्पर्य आगम लिया जाता है । आगम अध्यात्मविद्या के परिचायक होने से तन्त्रशास्त्र में साधना के विविध आयामों का वर्णन किया गया है । साधना भी साक्षात्कार किये जाने वाले सत्यों के समान ही भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है । साधना का अनुशासन अनेक-कोणीय है । जप-तप-ज्ञान-भक्ति-योग आदि इसके विविध आयाम हैं ।

आध्यात्मिक विकास हेतु साधना के विविध आयामों में मन्त्र का स्थान सर्वोपरि है । सभी मज़हबों में मन्त्र रूप से किसी न किसी मन्त्र की प्रतिष्ठा अवश्य हुई है । चाहे हिन्दू हो या जैन अथवा बौद्ध, सभी परम्पराओं में मन्त्र-पदों की स्थापना अवश्यमेव हुई है । इस प्रकार आत्मा की चैतसिक अवस्था प्राप्त करने में मन्त्र को प्रथम सोपान कहा गया है । वास्तव में मन्त्र वह बिन्दु है, जहाँ से आध्यात्मिक यात्रा का प्रारंभ होता है और अन्त में मन्त्रस्वरूप साधक स्वयं मूर्तिमन्त हो जाता है । अर्थात् आत्म-प्रवास का प्रारंभ व अन्त मन्त्रमय होता है । हिन्दू परम्परा में जो स्थान गायत्री मन्त्र का है, बौद्ध परम्परा में त्रिशरण मन्त्र का है, जैन परम्परा में वही स्थान नमस्कार-महामन्त्र का है ।

वेद-वाक्य बारंबार मनन करने योग्य होने से, ऋषि मुनियों के स्मरण करने से, विराट् विश्व के स्वरूप का उनको आभास हुआ । परम तत्त्व का प्रकाश मिला, अतः मन्त्र कहलाये । बौद्धों की त्रिशरण पद रचना भी इसी दृष्टि से मन्त्र रूप में प्रतिष्ठित हुई । इसी प्रकार जैन धर्म में नमस्कार मन्त्र को भी ख्याति प्राप्त हुई है ।

'नमस्कार महामन्त्र' जैन धर्म का मन्त्र-शिरोमणि है और वह नवकार मन्त्र, नोकार मन्त्र, पंच परमेष्ठी मन्त्र, णमोक्कार मन्त्र आदि अनेक अभिधानों से आख्यात है । वह प्राचीन परम्परा में था या नहीं ? यदि था तो किस रूप में था ? उसका क्या स्वरूप था ? इन प्रश्नों पर अभी आगे विचार किया जायगा, किन्तु इतना सही है कि मन्त्रों में जितना प्रचलन जैन परम्परा में इस मन्त्र का है, उतना अन्य किसी का नहीं । यहाँ तक कि अन्य मन्त्रों का आद्य भी इसी

से होता है तथा प्रादुर्भाव भी प्रायः इन्हीं मन्त्राक्षरों से हुआ है । अतः यह तो सर्वमान्य है कि इन मन्त्राक्षरों का स्थान सर्वोपरि है ।

जहाँ तक प्राचीनता का सवाल है, वहाँ परम्परागत प्रचलन तो यही है कि यह अनादिनिधन एवं शाश्वत है । किन्तु इस परम्परागत मान्यता को विद्वद्गण द्वारा प्रमाणभूत स्वीकार नहीं किया गया । आगमिक दृष्टिकोण से जैनागमों में एकादश अंगों को प्राचीनतम मान्य किया गया है । उसमें 'पंचम व्याख्याप्रज्ञप्ति' (भगवती) सूत्र में[१] (वि. पू. ३-४ श.) इन पाँच पदों का उल्लेख अवश्य किया गया है, किन्तु भगवती जी में इसे किसी अभिधान से अभिहित नहीं किया गया । इसके अतिरिक्त अंग आगमों में इसका उल्लेख दृष्टिगत नहीं होता । महानिशीथ सूत्र[2] (वि. श. ८-९) में सर्वप्रथम इसे 'पञ्चमङ्गल-महाश्रुतस्कन्ध' यह लाक्षणिक संज्ञा प्राप्त हुई । महानिशीथ सूत्र का कथन है कि वज्रस्वामी ने व्युच्छिन्न पञ्चमङ्गल की निर्युक्ति आदि का उद्धार करके इसे मूल सूत्र में स्थान दिया तथा उसके पश्चात् आचार्य हरिभद्र ने इसकी खंडित प्रति के आधार से इसका उद्धार किया[3] ।

इसे 'पञ्चमङ्गलमहाश्रुतस्कन्ध' कहने का क्या तात्पर्य है ? सामान्यतया जैनागमों को श्रुत शब्द से अभिप्रेत किया जाता है, क्योंकि उसमें जो ज्ञान संगृहीत है, वह कर्णपथ के द्वारा श्रवण करके संचित किया गया है । उस श्रुत के समुदाय को 'स्कन्ध' कहा गया है । स्कन्ध से तात्पर्य समूह अथवा खण्ड भी है, तो कहीं कहीं 'श्रुतस्कन्ध' का अर्थ द्वादशाङ्ग भी किया गया है । समस्त आगम ग्रन्थों को श्रुतस्कन्ध कहा जाने पर भी इस छोटे से सूत्र या मन्त्र को 'महा' विशेषण लगाकर 'महाश्रुतस्कन्ध' कहा गया है, क्योंकि इसे समस्त आगमों का सार कहा गया है । इससे शास्त्रों में एवं संघ में इसका असाधारण स्थान है, यह कहा जा सकता है ।

इस 'नमस्कार मन्त्र' में किसका निरूपण किया गया है ? पंच-मंगल, अर्थात् पंच पद मंगल स्वरूप है । ये पंच पद हैं—

नमो अरहन्ताणं ।
नमो सिद्धाणं ।

---

१. भगवती सूत्र-शतक १. उद्देशक १

२. महानिशीथ सूत्र-अध्य. ३ सू. १३

३. वहीं, अध्य. ३ सू. १४

नमो आयरियाणं ।
नमो उवज्झायाणं ।
नमो लोए सव्व साहूणं ।

ये पंच पद है, जिनको इस सूत्र में नमस्कार किया गया है । चार पद चूलिका के हैं—

एसो पंच नमुक्कारो सव्व पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं हवइ मंगलं ॥

इन नव पदों में अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु—इन पांच पदों को नमस्कार किया है । ये पांचों ही उत्तम पुरुष हैं तथा इनके अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम पुरुष न होने से इनको किया गया नमस्कार मंगलकारी माना गया है । यह नमस्कार समस्त पापों का प्रकृष्ट रूप से नाश करता है, अतः प्रथम अर्थात् प्रमुख मंगल है । इसके नवपद, आठ संपदा तथा ६८ अक्षर हैं । इसमें न किसी व्यक्तिविशेष को नमस्कार है और न ही किसी जातिविशेष को । वरन् यह नमस्कार गुणों पर आधारित है । यह सम्प्रदायातीत है । इस प्रकार यह देश, काल, व्यक्ति, जाति के घेरे से आबद्ध न होकर सार्वभौमिक, सार्वत्रिक एवं सर्वजनीन है । इसे पंचमंगल कहने का कारण यह भी है कि जिस प्रकार तिल में तैल, कमल में मकरन्द, दूध में घी, पुष्प में सुवास तथा काष्ठ में अग्नि सर्वांश में व्याप्त है, उसी प्रकार यह नमस्कार-सूत्र तथा उसका भाव शास्त्रों में आद्य उच्चारण किया हो अथवा न किया हो, तब भी यह समस्त शास्त्रों में व्याप्त है[1] । इस प्रकार यह 'नमस्कार मन्त्र' एक आगमशास्त्रोक्त, आद्य, महत्त्वपूर्ण एवं सार्थक नामकरण है, ऐसा कहा जा सकता है ।

इस नमस्कार सूत्र को मन्त्र स्वरूप कैसे प्राप्त हुआ ? इस पर विचार करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि जैन धर्म-दर्शन में मन्त्र-तन्त्र को क्या स्थान प्राप्त है, इस पर भी लक्ष्य दिया जाय । जैन धर्म 'आत्म सापेक्ष' धर्म है, जिसका केन्द्रबिन्दु आत्मा का अनुलक्षी होकर चलना है । आध्यात्मिक उत्क्रान्ति ही इसका परम एवं चरम लक्ष्य है । तब क्या मन्त्र-तन्त्र को इसमें स्थान दिया गया है ? जैनागमों में तन्त्र शब्द का तो उल्लेख मात्र भी दृष्टिगत नहीं होता ।

---

१. महानि. अ. ३ सू. १५

मन्त्र शब्द प्रयुक्ति दृष्टिगत तो होती है, किन्तु उसका दृष्टिकोण उपादेय तो क्या ज्ञेय भी नहीं है । मात्र हेय रूप से ही उसका मूल्यांकन किया गया है । आचाराङ्ग[१] (ई. पू. ३ शती), सूत्रकृताङ्ग[२] (ई. पू. ४ शती), ठाणाङ्ग[३] (६ शती. वि. सं.), समवायाङ्ग[४] (वि. सं. १-२ शती.), ज्ञाताधर्मकथाङ्ग[५] (वि. ६ शती.), प्रश्न व्याकरण[६] (वि. ६ शती) आदि अंग आगमों में, दशवैकालिक[७] (ई. पू. ४ शती.) उत्तराध्ययन[८] (ई. पू. ४ शती), धवला टी.[९] (८वीं शती. शक.), रयणसार[१०] (३-४ शताब्दी), ज्ञानार्णव[११] (१३वीं श.) आदि आगम सूत्रों में मन्त्र को तिरस्कृत दृष्टि से देखा गया है । यहाँ तक कि इसकी साधना को भी 'पापश्रुतप्रसङ्ग' कहा है । साधक चाहे भिक्षु हो अथवा भिक्षुणी, उसे मन्त्र-तन्त्र से दूर रहने का उपदेश दिया गया है । हो सकता है वशीकरण, उच्चाटन, मारण, आकर्षण आदि जो मन्त्र की विकृत अवस्थाएं हैं, उनका प्रचलन होने से यहाँ निषेध किया गया हो ।

यहाँ एक बात पर पुनः ध्यान देना है कि जहाँ इन आगमों में मन्त्रसाधना का निषेध किया है, वहाँ भगवती सूत्र[१२], ज्ञाताधर्मकथाङ्ग[१३], उत्तराध्ययन[१४], दशवैकालिक[१५], गोम्मटसार[१६] (जीवकांड वि. ११ श.) में गणधरों एवं स्थविरों के गुण-वर्णन किये हैं, उसमें

---

१. आचा. सू. - २ श्रु. १ अ. २३. ३ सू.
२. सूत्रकृत्. सू. - १.१४. १.८.४
३. ठाणं - ५-३, ५.१९४, ९.२७.१
४. समवाय. - २९.१
५. ज्ञाता. - १.५.५५
६. प्रश्नव्या. - २.१२, ७.१०-११
७. दश. - ८.५०
८. उत्तर. - १५.८, ३६.२६४
९. धवला टी. - १३.५, ५, ८२.३४९.८
१०. रयणसार १०९
११. ज्ञांनार्णव ४.५२-५५
१२. भगवती. २.९५
१३. ज्ञाता. १.१.४
१४. उत्तरा. २०.२७
१५. दश. ९.१.११
१६. गोम्मट. १८४.४१९/१८

उनको वहाँ 'मन्त्र-प्रधान' से भी विभूषित किया गया है । साथ ही मन्त्रसाधना को उपादेय भी मान्य किया है । इस प्रकार दोनों में विरोध उपस्थित होता है । यहाँ तात्पर्य यह है कि मन्त्रसाधना में उन मन्त्र आदि का निषेध किया गया है, जो विकृत स्वरूप में हों । आत्म-साधक न हों, हिंसादि प्रधान हों । दूसरी ओर आगमों के अन्तर्गत बारहवाँ अंग 'दृष्टिवाद', जो कि व्युच्छिन्न (नष्ट) हो गया है, उसमें चतुर्दश पूर्वों का भी समावेश होता है । ये भी काल के प्रभाव से विच्छिन्न हो गये हैं । उनमें से दसवाँ पूर्व[1], जो कि 'विद्या-प्रवाद' नामक था, उसमें मन्त्र, तन्त्र, यन्त्र और विद्याओं की प्रचुरता से रचना की गई थी । साथ ही हजारों वर्षों से जैनाचार्यों के द्वारा मन्त्रशास्त्र की रचना, उपासना होती चली आई है । इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्रसंगोपात्त जैनशासन (धर्म) की रक्षा के लिये लाभालाभ को लक्ष्य में रखकर अनेकानेक आचार्यों ने विशिष्ट मन्त्रोपासना की है । आर्य स्थूलभद्र (वि. पू. ४ शती.), वज्रस्वामी (वि. २ शती.), आर्य खपुटाचार्य (वि. श. १.) आर्य मंगु (वि. पू. १ शती.), पादलिप्त सूरि (वि. शती. ३), सिद्धसेन दिवाकर (वि. शती. ५), मानतुंग सूरि (वि. शती. ७), हरिभद्र सूरि (वि. शती. ८), मानदेवसूरि (वि. शती. ९), नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि (वि. शती. ११), कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य (वि. शती. १२), जिनदत्त सूरि (वि. शती. १२), वादिवेताल शान्तिसूरि (वि. ११ शती.), जिनप्रभसूरि (वि. शती. १४), आदि अनेक प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्य अनुभवी समर्थ मन्त्रवादी थे । आर्य स्थूलभद्र जैसे स्थविर को तो बिना कारण, अनावश्यक मन्त्र-विद्या का प्रयोग करने से दण्ड दिया गया था । यही कारण है कि कठिन प्रतिबन्ध होने से अन्य धर्मों की भाँति जैन धर्म में इस मन्त्रवाद से आचार मार्ग में विकृति का पदार्पण न हो सका । दूसरी ओर जहाँ ऐहिक फल की आशा से जो मन्त्रोपासना करते हैं, वहाँ जैनों का लक्ष्य एकमात्र कर्म-निर्जरा (नाश) था । इसी कारण विशेष रूप से शाक्त लोगों के मन्त्रवाद से जैनों के मन्त्र तथा विद्या सर्वथा पवित्र एवं निर्दोष विधिसाध्य होने से भी मन्त्रवाद आचारों में विकृति उत्पन्न नहीं कर सका ।

नमस्कार सूत्र ने मन्त्रस्वरूप कैसे धारण किया ? इस मन्त्र को अर्थ रूप से अरहन्त देव द्वारा प्ररूपित किया गया है तथा इसे

---

१. समवाय. १४.२, नन्दी सूत्र. १०९

शब्द-देह में गणधर भगवन्तों ने गुम्फित किया है । इसकी रचना सारगर्भित, सुन्दर, संदेहरहित है । आप्त वाणी होने से इसे सूत्र कहा गया है एवं निरन्तर मनन करने योग्य होने से इसने मन्त्र स्वरूप भी धारण किया है ।

इस नमस्कार सूत्र को जैन शास्त्रों में अनेक अभिधानों से अलंकृत किया गया है । यथा— पंच मंगल, पंच मंगलमहाश्रुतस्कन्ध, पंच नमस्कार, परमेष्ठी नमस्कार, पंचगुरु नमस्कार, पंचगुरु नमस्कृति, जिन नमस्कार, नमुक्कार, नमोक्कार, पंच नमोक्कार, नवकार, नोकार आदि ।

इस नमस्कार मन्त्र की गणना मन्त्र की कोटि में हो सकती है ? इस शंका का समाधान करते हुए यह जानना आवश्यक है कि मन्त्र से तात्पर्य क्या है ?

"मन्त्र एक अक्षर या अक्षरसमूह है । अथवा इसमें एक शब्द या शब्द-शृंखला हो सकती है । तन्त्रशास्त्र में प्रत्येक ध्वनि (वर्ण) किसी देवता-विशेष के ध्वनि-स्वरूप या किसी देवता के तन्त्र से सम्बद्ध माना गया है, जिसका प्रतिनिधित्व वर्ण के द्वारा होता है । इसलिये विशेष वर्णों या अक्षरों का संयोग, विशेष देवताओं का ध्वनिस्वरूप माना गया है । ऋषियों ने भी अपनी दिव्य दृष्टि से देखा था कि देवताओं के ध्वनि-प्रतीक विशिष्ट रंग के भी होते हैं । प्रत्येक मन्त्र अपना एक असाधारण व्यक्तित्व भी रखता है । मन्त्र को दोहराना या उस पर एकाग्र होना सत्य शक्ति देवता को तपस् के द्वारा प्रकट कर देता है । इससे विमुक्त हुई शक्ति को आध्यात्मिक या भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति में लगाया जा सकता है । यह है उस मन्त्र का स्वरूप, जो गुरु से शिष्य की शक्ति और ज्ञान के प्रेषण का वाहन है । परन्तु यह उल्लेखनीय है कि मानव वाणी के रूप में तथा मानवीय स्तर पर बिना कोई विशेष प्रभाव पैदा किये किसी भी अन्य शब्द, साधारण शब्द मात्र की तरह यह बना रह सकता है, या उसी की तरह प्रमाणित हो सकता है । इसमें कोई सदेह नहीं है कि यह अपनी आत्मा का काम करने वाले सत्य की आध्यात्मिक शक्ति से अनुप्राणित होता है । मन्त्र भी अनिवार्य रूप से अपने प्रथम द्रष्टा ऋषि-मुनि की शक्ति से आविष्ट रहते हैं, जिन्होंने इसे अपनी आत्मा में रखा, अपनी आत्मा की पूर्ण शक्ति के साथ इसे स्वरूप प्रदान

किया, फिर अपनी आत्मशक्ति से पूरित करके आगे आने वाली पीढ़ी तक पहुँचाया"[१]।

उपर्युक्त मन्त्र-स्वरूप की व्याख्या की अपेक्षा नमस्कार-मन्त्र का शब्द संयोजन विशिष्ट दिव्य पुरुषों से ही संलग्न है। अरहन्त आदि पांचों पदों का शब्दसंयोग एक दिव्य शक्ति का प्रकटीकरण चैतसिक भूमिका में करता है। यह अक्षर-विन्यास पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परागत रूप से तो प्राप्त होता ही है, तथापि इसका आधान-उपधान तप के माध्यम से कराया जाता है। इसके अतिरिक्त जैन आचार-क्रिया पद्धति में यथा आचार्य पद प्रदान, प्रतिष्ठा, अंजनशलाका आदि विधियों में अनिवार्य रूप से मन्त्राक्षरों की गुप्तता रखी जाती है।

इस मन्त्र में विशिष्ट वर्णसंयोजना के साथ ही साथ पंच-पदों के विशिष्ट रंग भी निर्धारित हैं, क्रमशः श्वेत, रक्त, पीत, नील एवं कृष्ण रंगों से आविष्ट ये पंच पद हैं। इन पंच पदों के रंग के अनुरूप भी ध्यान करने की पद्धति प्रचलित है।

चामत्कारिक शक्तियों में मन्त्र एवं विद्या इन दो शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैन प्रवचन (सिद्धान्त) में विद्या के अन्तर्गत मन्त्र का संभवतः समावेश किया गया है। जैसा कि पूर्वों में 'विद्या प्रवाद' के अन्तर्गत मन्त्रों का उल्लेख किया जाता है। व्याकरण के दिवादिगण के ज्ञान-बोध अर्थ में रहे 'मन्' धातु के 'त्र' प्रत्यय से निष्पन्न मन्त्र शब्द की व्याख्या तथा व्युत्पत्ति विविध प्रकार से हो सकती है। पूर्वाचार्यों एवं मन्त्रविदों द्वारा किये गये विधान एवं अर्थ निम्न हैं—

१. जो पुरुष देवता से अधिष्ठित हो[२]।
२. जो पाठसिद्ध हो[३]।
३. विशिष्ट अक्षरों की रचना विशेष, जो देवों से अधिष्ठित हो[४]।
४. जिसका मनन करने से त्राण-रक्षण होता हो[५]।

---

१. पुंडलीक, पं. माधव : तान्त्रिक साधना, पृ. २४
२. नमस्कारनिर्युक्ति
३. पंचकल्प भाष्य. १, धवला. ३ धि., पंचाशक १ कल्प, निशीथ चूर्णि
४. पंचाशक टी १३ वि,
५. तन्त्रशास्त्र, पिंगलामत, षोडशक ७ विव., रुद्रयामल, ललितासहस्रनाम।

५. जिसमें उत्कृष्ट व्यक्तियों अथवा देव-देवियों आदि का आदर सत्कार करने में आया हो, वह मन्त्र है ।

इन पाँचों ही अर्थों का घटन नमस्कार मन्त्र में होने से यह मन्त्र-योग्यता धारण करता है । मन्त्रव्याकरण[१], ऋग्वेद[२], मनुस्मृति[३], वाराहीतन्त्र, रघुवंश[४], श्रीमद्भागवत[५], सिद्धान्तकौमुदी[६], बृहन्नीलतन्त्र[७], महाभारत[८], ब्रह्मवैवर्त[९] आदि ग्रन्थ मन्त्र-योग्यता को प्रकट करने वाले हैं । नमस्कार मन्त्र की रचना सिद्ध पुरुषों के द्वारा होने से यह सिद्ध मन्त्र भी है तथा परम उच्च कोटि का मन्त्र होने से ही इसे वरमन्त्र, परममन्त्र या महामन्त्र भी कहा गया है । श्री हरिभद्र सूरि जी ने 'योगबिन्दु' के पूर्व-सेवा अधिकार में इसे 'मृत्युञ्जय-मन्त्र' कह कर संमानित किया है[१०] । 'मन्त्रव्याकरण' में मन्त्रों के तीन प्रकार उल्लिखित हैं—

१. बीज मन्त्र
२. मन्त्र
३. माला मन्त्र

जो मन्त्र एक अक्षर से ९ अक्षर तक होता है, उसे बीज मन्त्र; जो दस से बीस अक्षर का हो, उसे मन्त्र; तथा जो बीस से अधिक अक्षरों से युक्त हो, वह माला मन्त्र कहलाता है । इस अपेक्षा से नमस्कार मन्त्र में साधिक बीस अक्षर होने से इसकी गणना मालामन्त्र की कोटि में आती है । किन्तु यहाँ इतनी स्पष्टता आवश्यक है कि माला मन्त्र विशेष रूप से वृद्धावस्था में फलदायी होते हैं, जबकि यह माला मन्त्र आबालवृद्ध सभी अवस्थाओं में फलदायी है ।

---

१. मन्त्रव्याकरण
२. ऋग्वेद ६७.४.७४
३. मनुस्मृति ७.२१७, २.१६
४. रघुवंश १.६१
५. श्रीमद्भागवत ३.१.१२
६. सिद्धान्तकौमुदी ५.३.७
७. बृहन्नीलतन्त्र, २ पटल
८. महाभारत ५.१९३.५
९. ब्रह्मवैवर्त पुरांण, गणपति खंड ४४ अध्याय
१०. योगबिन्दु ३४

यहाँ एक शंका होती है कि मन्त्र ॐ ह्रीं आदि बीजाक्षर संयुक्त होते हैं, किन्तु इस नमस्कार मन्त्र में इन बीजाक्षरों का अभाव है, अतः यह मन्त्रकोटि में स्थान नहीं ले सकता। यह सत्य है कि इस मन्त्र में बीजाक्षरों का अभाव है, किन्तु जैन मान्यतानुसार ॐ आदि बीजाक्षरों का निर्माण भी इन पंच पदों से होता है। जिस प्रकार हिन्दू परम्परा यह स्वीकारती है कि ब्रह्मा+विष्णु+महेश के संयोजन से ॐ की निर्मिति होती है, उसी प्रकार अरहन्त का अ, सिद्ध अर्थात् अशरीरी का अ, आचार्य का आ, उपाध्याय का उ, तथा साधु अर्थात् मुनि का म् अर्थात् अ+अ+आ+उ+म् = ओम्। इस प्रकार इन पंच पदों से ही ॐ निष्पन्न होता है। जब इन पंच–पदों से ही बीजाक्षरों की निष्पत्ति होती है, तब उनमें बीजाक्षरों का प्रयोग करना आवश्यक नहीं है। आवश्यक न होने पर भी जैनाचार्यों ने इन मन्त्राक्षरों के साथ बीजाक्षर संलग्न करके अनेकानेक मन्त्र रचे हैं। यथा— ॐ ह्रीं अर्हम् नमः। ॐ ह्रीं ऐं नमः। ॐ ह्रीं नमो अरहन्ताणं। ॐ नमो सिद्धम् आदि आदि।

उपर्युक्त सभी उद्धरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि 'नमस्कार महामन्त्र' मन्त्र रूप से लब्धप्रतिष्ठ है। इसका माहात्म्य अत्यधिक होने से इस पर शताधिक रचनाएं होने पर भी अद्यापि ग्रन्थनिर्माण होते जा रहे हैं। यद्यपि सभी मन्त्रों में यह महामन्त्र अधिकांशतः किसी न किसी रूप में विद्यमान है, तथापि अन्य धर्मो की तान्त्रिक साधना के अनुसरण में पश्चात्कालीन जैनों में भी कितनेक आचार्यों ने दुनियावी कार्य, लौकिक तथा लोकोत्तर कार्यों के लिये भी मन्त्र का विनियोग किया हो, ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं और मध्यम काल में तो जैनों का अलग ही मन्त्र–विज्ञान रचे जाने का एहसास होता है। नमस्कार मन्त्र के अतिरिक्त अन्य अनेक मन्त्र भी दृष्टिगत होते हैं, किन्तु सर्वाधिक प्रचार इस महामन्त्र का है। सभी जैन संप्रदाय एक मत से इंसे स्वीकारते है। साम्प्रदायिक मतभेद होने के बावजूद भी नमस्कार महामन्त्र की महिमा अक्षुण्ण है। यहाँ तक कि जप–माला को भी नवकारवाली अथवा नोकरवाली कहा जाता है। सूर्योदय के पश्चात् जब प्रथम बार आहार ग्रहण किया जाता है, तब उसका, संकल्प सूत्र का भी 'नमुक्कार सहियं' से प्रत्याख्यान किया जाता है। पूजाविधान, ध्यान, जाप आदि सभी आचारों में भी इसका ही प्राधान्य रहता है। सर्व प्रसंगों में इसका स्मरण मंगलमय माना गया है। यह मन्त्र सर्व पापों का नाश करने की अद्भुत शक्ति से सम्पन्न है,

इहलौकिक-पारलौकिक विघ्नों से रक्षण कर अनुपम सुखसंपत्ति प्रदान करता है । इस प्रकार यह नमस्कार मन्त्र जैन धर्म की आधारशिला तो है ही, साथ ही अन्तिम साध्य भी ये ही पंच पद हैं ।

वास्तव में जैन धर्म में मन्त्र-स्मरण साधना की एक विधा ही मानी गई है । साध्य की सिद्धि में आत्यन्तिक साधना के रूप में इसे मान्यता न देकर वीतरागत्व, कषायजय तथा समतासाधना को प्रमुख साधन के रूप में अंगीकार किया गया है । मन्त्र स्मरण को मन की एकाग्रता, ध्यान की स्थिरता में सहायक माना गया है । आत्मा की शुद्धावस्था की सिद्धि में इसे प्रधान उपाय न मान कर गौण उपाय के रूप में मान्यता मिली है । पंच पदों के स्मरण तक ही इतिश्री न मान कर पंचपदमय जीवनयापन ही यहाँ प्रधान लक्ष्य है ।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

आचाराङ्ग सूत्र— संपा.- पं. भारिल्ल शोभाचन्द्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राज., १९८० ।

उत्तराध्ययन सूत्र— संपा.- श्री आत्माराम जी म., जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३९ ।

ऋग्वेद— संपा.- विश्वबन्धु, विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर, १९६३-६५ ।

गोम्मटसार— संपा.- नेमिचन्द्र जी. छाया- जैन पं. खूबचन्द्र, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९१६ ।

ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८१ ।

ज्ञानार्णव— शुभाचन्द्राचार्य, संपा.- बाकलीवाल, पं. पन्नालाल, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९१३ ।

दशवैकालिक सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८५ ।

धवला टीका— संपा.- जैन पं. हीरालाल, अमरावती, जैन साहित्योद्धार फंड कार्यालय, १९३९ ।

नन्दी सूत्र— देव वाचक, संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८२ ।

नमस्कारनिर्युक्ति (नमस्कार स्वाध्याय) (भाग-१)— संशोधक-मुनिवर्य श्रीतत्त्वानंद विजय जी । अनु0- पं0 श्री धर्मधुरन्धर विजय जी गणिवर, मुनिवर्य श्री जंबूविजय जी, मुनिवर्य श्री तत्त्वानंद विजय जी, बम्बई, जैन साहित्य विकास मंडल ।

पंचकल्पभाष्य— संशो.- गणिलाभ सागर, कपड़वंज, आगमोद्धारक ग्रन्थमाला, १९७२ ।

पंचाशक— हरिभद्रसूरि टी. अभयदेव सूरि, भावनगर, जैन-धर्म प्रसारक सभा ।

प्रश्नव्याकरण सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८२ ।

ब्रह्मवैवर्त पुराण— दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास, १९८४ ।

मनुस्मृति— संपा.- धारपुरे जगन्नाथ रघुनाथ, बम्बई, युनिवर्सिटी ऑफ बाम्बे, १९२० ।

महानिशीथ सूत्र— संपा.- विजय जिनेन्द्र सूरि, लाखाबावल, श्री हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला ।

महाभारत— व्यास कृष्ण द्वैपायन, पुण्यपत्तन, जोशी शंकर नरहरि, १९३३ ।

योगबिन्दु— हरिभद्रसूरि, अहमदाबाद, जैन ग्रन्थ प्रकाशन सभा ।

रघुवंश— कालिदास, बम्बई, निर्णय सागर प्रेस ।

रयणसार— कुन्दकुन्दाचार्य, हिम्मतनगर, गुज. दि. जैन सि. संरक्षणी ।

व्याख्या प्रज्ञप्ति— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८३ ।

श्रीमद्भागवत— महर्षि वेदव्यास, गोरखपुर, गीताप्रेस, १९५१ ।

समवायाङ्ग सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८२ ।

सिद्धान्तकौमुदी— बम्बई, निर्णय सागर प्रेस, १९३३ ।

सूत्रकृताङ्ग सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९७५ ।

स्थानाङ्ग सूत्र— संपा.- भारिल्ल पं. शोभाचन्द्र, ब्यावर, आगम प्रकाशन समिति, १९८१ ।

आनुषंगिक ग्रन्थ

उपाध्याय नागेन्द्रनाथ— तान्त्रिक बौद्ध साधना और साहित्य, काशी, नागरी प्रचारिणी सभा, १९५८ ।

उपाध्याय पं. बलदेव— बौद्ध दर्शन मीमांसा, बनारस, चौखम्बा विद्या भवन, १९५४ ।

कविराज पं. गोपीनाथ— १. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि, १९६३ । २. भारतीय संस्कृति और साधना, १९६३ । पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ।

दोशी पं. बेचरदास— जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (भाग-१), वाराणसी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, १९६६ ।

नवाब साराभाई— महाप्रभाविक नवस्मरण, अहमदाबाद, मांडवी पौल, १९६१ ।

पुंडलीक पं. माधव— तान्त्रिक साधना, बनारस, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६४ ।

शर्मा पं. श्रीराम आचार्य— तन्त्र महाविज्ञान, बरेली, संस्कृति संस्थान, १९६९ ।

शाह धीरजलाल टोकरशी— १. नमस्कार मन्त्रसिद्धि, बम्बई, जैन साहित्य प्रकाशन मन्दिर, १९६८ । २. मन्त्र विज्ञान, बम्बई, प्रज्ञा प्रकाशन मन्दिर, १९६७ ।

साध्वी संघमित्रा— जैन धर्म के प्रभावक आचार्य, लाडनू, जैन विश्व भारती, १९८६ ।

Jhavery Mohanlal Bhagwandas- Comparative and Critical Study of Mantrashastra, Ahmedabad, Sarabhai Mani Lal Nawab, 1944.

●

विचार–विनिमय

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

सर्वांगपूर्ण निबन्ध के लिये हम लोग लेखक महोदय को धन्यवाद देते है । हम लोगों ने इस कार्यशाला के लिये जो विषय निश्चित किये थे, प्रायः सबका इन्होंने समावेश किया है । हम इनसे पहले से परिचित थे । एक व्यक्ति तो जैन तन्त्र के लिये हमारे सामने था, किन्तु जब दूसरे व्यक्ति की तलाश हुई, तो हम लोगों को शायद चार छः महीने लग गये । मैं समझता हूँ कि तन्त्रशास्त्र की जो सामान्य धारणा लोक में प्रचलित है, इससे शायद जैन समाज त्रस्त है और वह उसकी उपेक्षा कर रहा है । आज आपके निबन्ध को सुनकर यहाँ जो विद्वान् उपस्थित हैं, मैं समझता हूँ कि उनकी जैन तन्त्रशास्त्र के प्रति भी रुचि जागेगी । मैं एक अन्य बात भी बतला दूँ । जैन योगशास्त्र में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों की चर्चा है और यही चार शब्द कौल और क्रम तन्त्रों में भी बहुत विस्तार से वर्णित है ।

इसी तरह से सकलीकरण की प्रक्रिया शैव सिद्धान्त में भी है । मैं आचार्य एन. आर. भट्ट जी से निवेदन करूँगा कि वे इसके ऊपर भी शैव दृष्टि से प्रकाश डालेंगे । इसी से सम्बद्ध नमस्कार मन्त्र विषयक निबन्ध भी है । इस निबन्ध में मन्त्र और विद्या की चर्चा आयी है । मन्त्र और विद्या शब्द तन्त्रशास्त्र में स्पष्ट व्याख्यात हैं । पुरुष देवता के मन्त्र मनु या मन्त्र के नाम से और स्त्री देवता वाले मन्त्र विद्या के नाम से जाने जाते हैं । इसी लिये दस महाविद्या से अभिप्राय काली, तारा, त्रिपुरा इत्यादि के दस प्रकार के मन्त्रों से है । अब मैं विद्वानों से निवेदन करूँगा कि वे इन तीनों निबन्धों पर अपने विचार प्रकट करें ।

डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर

अभी जो निबन्ध का वाचन हुआ है, नमस्कार मन्त्र के विषय में, उसकी कुछ पूर्व पीठिका है, कुछ परम्परा है । इसके विषय में मैं कुछ बोलना चाहता हूँ । इस निबन्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि जैन परम्परा में यह जो पाँच नाम हैं, उनको नमस्कार मन्त्र का स्वरूप दिया गया है । वैदिक परम्परा में ऋग्वेद से लेकर विभिन्न संहिताओं में नमस् या नमस्कार का माहात्म्य वर्णित है । आधुनिक विद्वानों की दृष्टि से ऋग्वेद के मन्त्रों में या कर्मकाण्ड में और विशेष कर अथर्ववेद में जो कुछ मन्त्रविद्या है, उसे मैजिक कहते हैं और यह मैजिक है, युनिवर्सल फैनामेना । उसे मैजिक कहें या मन्त्र कहें, वह बात अलग है । इसमें प्राचीनतम निर्देश जो नमस् के विषय में है, वह मेरी दृष्टि से

अथर्ववेद में है, जहाँ नमस् पद का उपयोग एक शक्ति के रूप में किया गया है, आयुध के रूप में किया गया है । अथर्ववेद में तक्मन देवता के विषय में एक मन्त्र है । तक्मन रोग का देवता है, रोगाभिमानी देवता है, जिसका निर्देश उत्तरकालीन परम्परा में, वाङ्मय में कहीं मिलता नहीं है । लेकिन वह ज्वराभिमानी देवता है । वह संभवतः मलेरिया है । मलेरिया या तक्मन रोग का नाश करने के लिये एक मन्त्र है—"अधराञ्च प्रहिणोमि नमः कृत्वा तक्मने" मैं इस तक्मन को नीचे डालता हूँ, मैं उसे भगा देता हूँ, मैं उसको नमस्कार करके हटाता हूँ । नमस्कार में ऐसा माहात्म्य है, ऐसी एक शक्ति है, जिसे आधुनिक विद्वान् मैजिक कहते है । आप उस कर्मकाण्ड मे नमस्कार का समुचित उपयोग करें, तो उसका कुछ लाभ होना ही चाहिये, अपेक्षित फल मिलना ही चाहिये ।

उत्तर काल में जो नमस् की, नमस्कार की परम्परा है, उसमें देवता या इष्टदेवता और भक्त का ऐसा द्वैत है और नमस्कार करने के बाद जो आराधना है, वह कोई आज्ञा नहीं है । नमस्कार करने से कुछ फायदा, कुछ लाभ होना चाहिये, इसलिये प्रार्थना रहती है, लेकिन वैदिक परम्परा में ऐसा नहीं है । भक्ति का अंश वहाँ भी है, लेकिन नमस् एक आयुध है । जैसे बटन दबाने के बाद बिजली मिलती है, वैसे नमस् का उपयोग करने के बाद अपेक्षित फल मिलता है, मिलना ही चाहिये, ऐसा उस नमस् का अर्थ है । उसका इस नमस्कार के साथ-साथ जो प्रयोग होता है, वह नाम का प्रयोग होता है, इसीलिये 'नमो अरिहन्ताणं' जिसको नमस्कार करना है, उसका नाम भी लेना है । वैदिक परम्परा में जो मन्त्रविद्या है, उसमें नाम का भी बहुत महत्त्व है, क्योंकि किसी वस्तु का नाम ज्ञात होना, इसका अर्थ है उसका सामर्थ्य ज्ञात होना । इसीलिये अथर्ववेद में हमें ऐसे मन्त्र मिलते है । उदाहरणार्थ सभा के विषय में एक मन्त्र है—"विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि' अर्थात् मुझे तेरा नाम मालूम है । तेरा नाम नरिष्टा है । नाम मालूम होना, नाम ज्ञात होना, इसका मतलब उसका उस पर कन्ट्रोल होना है । इस परम्परा से ही फिर हमें यजुर्वेद में रुद्राध्याय में नमक मिलते हैं । नमक में भी बहुत से रुद्र के नामो का उपयोग किया है और वहाँ भी नमस्कार का उपयोग हमें उपलब्ध होता है ।

आइकनोग्राफी के विषय मे श्री शिवराम मूर्ति ने अपने ग्रन्थ में बताया है कि रुद्र के ये विभिन्न नाम उसके विभिन्न मेनिफेस्टेशंस हैं, विभिन्न रूप है, विभिन्न आइकनोग्राफिकल डिटेल फार्म्स है । इस परम्परा का कुछ असर बौद्ध परम्परा में भी दिखाई देता है । जैसे जापान के एक बौद्ध सम्प्रदाय में 'नमो अमिता वुत्सु' ऐसा मन्त्र है । उसमें भी अमिताभ बुद्ध को नमन किया है । इसका भी मन्त्रस्वरूप है । कहने का सारांश यह है कि जो वैदिक परम्परा है

और जो वैदिक वोकेवेलेरी है, जो वैदिक कन्सेप्ट्स हैं, उसके बहुत पोपुलर होने के कारण तन्त्र मार्ग में, तन्त्र काल में, सब तन्त्रों में, सब सम्प्रदायों में उसको स्वीकार किया गया । जैसे ॐ को स्वीकार किया गया, जैसे हाँ ह्रौं हूँ को स्वीकार किया गया है, वैसे नमस्कार मन्त्र को भी स्वीकार किया गया है । कुछ बौद्ध स्तोत्रों में प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश पदों को द्वादशपदा गायत्री कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि बौद्ध और जैन परम्परा यद्यपि वैदिक परम्परा से भिन्न हैं, फिर भी वैदिक परम्परा में जो स्टेण्डर्ड है, जो स्टेण्डर्ड टर्मिनोलॉजी है, उस स्टेण्डर्ड टर्मिनोलॉजी को स्वीकार करने से सब मन्त्रों का स्टेण्डाइजेशन होता है, उसको एक स्टेटस मिलता है, ऐसी कोई दृष्टि उसमें प्रतीत होती है, ऐसा मेरा विचार है ।

प्रो० नथमल टाटिया

मैं एक सूचना देता हूँ । डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी हमको भाषाविज्ञान पढ़ाते थे कलकत्ता युनिवर्सिटी में । वह बताते थे कि मुसलमानों का जो नमाज शब्द है, वह भी नमस् से सम्बद्ध है । यह भाषावैज्ञानिकों का मत है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

नमस् के बारे में डॉ० बहुलकर जी ने जो कहा, उसमें यह कोई बहुत चिन्ता का विषय नहीं है कि नमस् शब्द किसी विशेष अर्थ को ही अधिकृत करता है । जब स्कूल में हम पढ़ाते थे, बच्चे कहते गुरु जी हमको अच्छा नम्बर मिलना चाहिये । हम उनको कहते बेटा नमो, तुम को वर मिलेगा । तुम्हारे में नम्रता नहीं रही, तो तुम को वर कहाँ से मिल सकता है । इसलिये नम्रता ही सबसे बड़ी चीज है । यह तो केवल नमन या नम्रता का, देवता के प्रति हमारे सर्वस्व समर्पण का द्योतक है । जैसा कि जैनाचार्यों ने आठ प्रकार के नमन का वर्णन किया है । इनसे हमें भावानुरूप फल की सिद्धि होती है । इस तरह से यह सर्वव्यापी शब्द है । नमस् शब्द हमारे यहाँ बहुत प्रचलित है । आप बीज-मन्त्रों की बात करते है, हकारादि और रकारादि, वह तो बिल्कुल वैज्ञानिक है । रकार अग्नि का बीज है और हकार आकाश का बीज है । उन दोनों का समन्वय करके उसके ऊपर बिन्दु और ईकार की मात्रा लगायी जाती है । यह अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है । इसीलिये ये बीज-मन्त्र सर्वव्यापी है । एक बात विशिष्ट है कि लोग माया-बीज के स्वरूप को वहीं तक सीमित रखते हैं, किन्तु यह बात नहीं है । इस पर अलग से चिन्तन हुआ है । वही बीज दूसरे किसी मन्त्र के साथ जुड़ने पर उस देवता का बन जाता है । आप देखेंगे कि जैन मन्त्रों में भी यह स्थिति है और जो वैदिक मन्त्र हैं, उनमें भी और बौद्ध मन्त्रों में भी जहां-जहां यह प्रयुक्त हुआ है,

हौंकार जिसे हम कहेंगे, उसके अनेक स्वरूप हैं । प्रणव बीज के सम्बन्ध में— "प्रणव के तान्त्रिक आयाम" करके एक लेख छपा था "शोधप्रभा" में । बहुत विस्तृत लेख है । तान्त्रिक आचार्यों ने ॐकार लिखने की पद्धति पर विचार किया है कि किस सम्प्रदाय में किस ढंग से वह लिखा जाता है । उसमें भी वही सृष्टि-स्थिति-संहार के क्रम हैं । ॐकार की लिखने की जैन पद्धति अपनी स्वतन्त्र है ।

प्रो० नथमल टाटिया

जापान से एक पुस्तक निकली है कि ॐकार ५० तरह से लिखा जाता है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

रतलाम से एक पुस्तक निकली है । वह अभी भी प्राप्त है । उसमें रतलाम के एक विद्वान् ने १०८ प्रकार के ॐकार लिखने की पद्धति सचित्र मुद्रित की है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं एक सूचना दूँ । जैसे पंच नमोकार मन्त्र जैन सम्प्रदाय में, जैन तन्त्रों में वर्णित है । उसी तरह से वैष्णव तन्त्रों में पंचोपनिषद् मन्त्र है, बौद्धों में पंचबुद्ध मन्त्र है और पाशुपत और शैव सम्प्रदाय में पंचब्रह्म मन्त्र है । पंचब्रह्म का और पंचबुद्ध का तो स्पष्ट सम्बन्ध विमलप्रभाकार ने बतलाया है । अन्य पंचोपनिषद् या पंच नमोकार आदि में इन सबकी जो पांच संख्या है, इस संख्या के आधार पर क्या इनमें कुछ अनुस्यूतता देखी जा सकती है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

स्मार्त सम्प्रदाय में विष्णु, रुद्र, शक्ति, गणेश और सूर्य—इन पांच देवताओं को मान्य किया गया है । प्रणव अ उ म् इन तीन अक्षरों में नाद और बिन्दु जोड़कर पंचरक्षा के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं । इसी से इन सबका संबन्ध जोड़ा जा सकता है । सबेरे आपके सामने यतिदण्डैश्वर्यविधान नाम के एक ग्रन्थ की चर्चा की गई थी । उसमें एक बहुत विशिष्ट बात यह है कि प्रणवोपासना का, प्रणवोच्चारण का अधिकार किसको प्राप्त होता है, तो माण्डूक्योपनिषद् में लिखा है कि इस तरह से ऐसा करने पर अधिकार प्राप्त होता है ? हर पुरुष करते हैं, जपते हैं और हारमोनियम पर गाते हैं, इससे ॐकार की महत्ता उनमें समाविष्ट नहीं होती, बल्कि उसका अपलाप ही होता है । वस्तुतः ॐकार की समस्त मात्राओं का पुरश्चरण के क्रम से विधान होना चाहिये और इस पर मैंने

लिखा है कि २५६ मात्राएं ॐकार में संन्निविष्ट है । उन २५६ मात्राओं का एक पूर्ण क्रम बनता है । काली आदि जितनी देवी माँ हैं, उनकी उपदेवियाँ है, उनके जितने भैरव है, उन सब मन्त्रों का पुरश्चरण करने के बाद वह प्रणव मन्त्र के जप का अधिकारी बनता है । साम्राज्यमेधा दीक्षा शाक्तागमों में सबसे बड़ी है । उस पर अधिकार होने पर ही उसको प्रणव मन्त्र के जप का अधिकार होता है । यही कारण है कि संन्यासी ही उसका अधिकारी बनता है, बाकी सबको प्रणव जप का अधिकार है ही नहीं । आज की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि जिसने कभी साईकल नहीं चलाई, उसको हेलीकाप्टर देकर कहते हैं कि बैठ जाओ, इसमें चले जाओ । उससे उनकी हानि ही होती है, उनको लाभ नहीं होता, क्योंकि वह सोपानक्रम से नहीं चढ़ते ।

प्रो० नथमल टाटिया

विद्वानों का यह भी मत है कि ये पाँच पद महावीर जितने प्राचीन नहीं है ।

डॉ० फूलचन्द जैन

अभी नमस्कार मन्त्र की बात चल रही है । इसका सर्वप्रथम उल्लेख पूरे एक मन्त्र के रूप में नही आया है, पर उदयगिरि-खण्डगिरि के खारवेल के ऐतिहासिक गुहा-लेख में इसका उल्लेख है । पुष्पदन्त भूतबलि के षट्खण्डागम में णमोकार मन्त्र का पूरा उल्लेख मिलता है । डॉ० रुद्रदेव जी के निबन्ध के विषय में मुझे दो-तीन बातें पूछनी है । उन्होंने यहाँ (पृष्ठ दो पर) लिखा है कि एक अन्य मान्यता के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ जैन तन्त्र के जन्मदाता है । मैं तो आश्चर्य कर रहा हूँ । इस तरह का उल्लेख मैंने कहीं नहीं पढ़ा है । अगर ऐसा कोई स्रोत हो, तो हमें बतावें कि वह कौन सी मान्यता है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

मेरे कहने का मतलब यह है कि जैसे ऋषभदेव आदि तीर्थंकर माने जाते है, किन्तु जैन धर्म के पुनः प्रवर्तन और संवर्धन करने में पार्श्वनाथ का बहुत बड़ा हाथ था । पार्श्वनाथ को एक महान् योगी के रूप में प्रतिपादित किया गया है ।

डॉ० सागरमल जैन

अभी बात चली है । नमस्कार मन्त्र के बारे में विद्वानों ने ईसापूर्व इसकी स्थिति को मान्य किया है । आगमों में कहीं-कही अर्हत्, सिद्ध, आचार्य आदि शब्द तो मिलते है, लेकिन नमस्कार पूर्वक ऐसे पंच परमेष्ठी मन्त्र का उल्लेख कही भी नहीं मिलता । भगवतीसूत्र में वह बाद में जोड़ा गया है और

प्रज्ञापनासूत्र तो स्वतः ही ईसा की प्रथम शती की रचना है । जो प्राचीन अभिलेखीय साक्ष्य मिले है, उसमें नमो अरहंताणं, नमो सव्वसिद्धानं इन दो पदों का प्रयोग पाया जाता है । 'नमो आयरियाणं' से लेकर 'नमो लोए सव्व साहूणं' ऐसे तीन पदों का प्रयोग उनमें नहीं पाया जाता । खारवेल अभिलेख की बात आई, वहां नमो अरहतानं और उसके बाद में 'नमो सव्वसिद्धानं' ऐसा प्रयोग है । वह सव्व शब्द साहू के साथ जुड़ा है, वह पहले 'नमो संघ सिद्धानं' में सिद्धों के साथ जुड़ा था । मथुरा के भी प्रथम-द्वितीय ईसवी के अभिलेख है, उनमें भी नमोकार मन्त्र का इस रूप में उल्लेख नहीं मिलता ।

दूसरे सामान्य रूप से जब हम तन्त्र-शास्त्र या मन्त्र-शास्त्र की चर्चा करते हैं, तो एक बात हमें स्पष्ट रूप से लक्ष्य में रखनी चाहिये, जिसका कि साध्वी जी ने थोड़ा सा संकेत किया है कि प्राचीन जैन परम्परा मुख्य रूप में आध्यात्मिक साधनापरक थी । उस आध्यात्मिक साधना में वे मुख्य रूप से भौतिक उपलब्धि की उपेक्षा करते थे । भौतिक लाभ के लिये या शरीर-रक्षण या जीवन-रक्षण के संदर्भ में जो मन्त्र-तन्त्र की परम्परा थी, वह जैनों की अपनी मौलिक परम्परा नही है, जिन सहयोगी धर्म-परम्पराओं में वह जीवित थी, उसके उपासक एवं स्वयं जैन उपासक भी उनसे पूछते थे कि महाराज हमको कोई मन्त्र बताओ । जब अन्य परम्पराओं में कोई मन्त्र हो, कोई तन्त्र हो और जैन मुनि कैसे कह दे कि हमारे पास कोई मन्त्र-तन्त्र नही है, हमारे पास तुम्हारे भौतिक दुःख-मुक्ति का कोई उपाय नहीं है, ऐसी स्थितियों में ही जैनों के अन्दर मन्त्र-तन्त्र आये । यद्यपि विद्याओं का उल्लेख सूत्रकृतांग में है, जो तीसरी ईसवी पूर्व का है, फिर भी उनकी उपासना की पद्धति तो बाद में ही विकसित हुई ।

जैनों में सबसे पहले जो देवी आयी, वह थी सरस्वती । मथुरा में जैन सरस्वती की प्रतिमा उपलब्ध हुई है । सरस्वती की जो प्रतिमा अभी तक उपलब्ध है, उसमें जैन सरस्वती की प्रतिमा सबसे प्राचीन है । ऐसी स्थिति में जैनों में पहले जो देवी आयी, वह सरस्वती थी । उसके बाद अन्य देवियाँ आई । चूँकि जैनों का तीर्थंकर या अर्हन्त न तो किसी का हित कर सकता था, न किसी का अहित कर सकता था । हित-अहित का मार्गदर्शन कर प्राणियों को कल्याण मार्ग बता देना, एक अलग बात है, लेकिन उनके भौतिक कल्याण में साधक होना, उनकी रक्षा करना, यह दूसरी बात है । वीतराग तीर्थंकर के लिये यह संभव नहीं था । भारत में जब भक्तों के रक्षण का दायित्व देवताओं के साथ या ईश्वर के साथ जोड़ा गया, तो जैनों के पास इसका कोई विकल्प नहीं था । ऐसी स्थिति में वे क्या करें ? इस विकल्प के उत्तर में जैनों ने मुख्य रूप से हर तीर्थंकर के साथ शासन देवता और यक्षी

को जोड़ा, ताकि उस तीर्थंकर की उपासना करने वाले व्यक्ति के संरक्षण का भार उस देवता को दे दिया जाय । उसमें से मुख्य रूप से २४ तीर्थंकरों से संबद्ध २४ यक्ष-यक्षिणियों की कल्पना आयी, शासन देवताओं की कल्पना आयी और मुख्य रूप से उस समय जो भारतीय परम्परा थी, उसीमें से उस चीज को ग्रहण किया गया । इस बात को मानने में हमारा कोई मतभेद नहीं होना चाहिये ।

इसी तरह से जब हम पूजा या मन्त्रों की बात करते हैं, तो तो इस विषय में त्रिपाठी जी ने पर्याप्त संकेत किया है । स्पष्ट रूप से जैन मन्त्रों को अगर आप देखें, तो हिन्दू परम्परा के मन्त्रों का एक तरह से जैनीकरण है । इनमें कहीं-कहीं तो इतनी असंगति है कि वे मूलभूत जैन सिद्धान्त से कही मेल नहीं खाते । जैसे हिन्दू परम्परा में देवताओं का आवाहन किया जाता है, उनका विसर्जन किया जाता है, उसी प्रकार जैनों के पूजा मन्त्र आज जो प्रचलित हैं, उन सब मन्त्रों में भी तीर्थंकर का आवाहन और विसर्जन होता है । जो तीर्थंकर सिद्ध स्थान से न आ सकता है, न जा सकता है, उसका आवाहन और विसर्जन वास्तव में कैसे होगा ? यह तो सहयोगी परम्परा का प्रभाव माना जायगा । जैनों ने तन्त्र को अपनी साधना की दृष्टि से स्वीकार नहीं किया था, अपितु जैनों को तन्त्र को स्वीकार करना इसलिये अनिवार्य था कि उसका भक्तसमुदाय विचलित न हो जाय । जब हिन्दू परम्परा में, बौद्ध परम्परा में तन्त्रों का विकास हो चुका, उसके बाद तन्त्रों की ये सारी बातें जैन परम्परा में आयीं । जैसे नमस्कार मन्त्र प्रारम्भ में आप देखेंगे कि यह नमस्कार मन्त्र स्तुतिपरक है । बाद में "सिद्धाः सिद्धिं मम दिशन्तु, आरोग्यबोधिलाभम्" । सिद्धि-लाभ आप मुझे दें, ऐसी कल्पना आई । भौतिक कल्याण हेतु तन्त्रसाधना तो बहुत ही परवर्ती है ।

प्रो० नथमल टाटिया

तब तो और बचा ही क्या रहा ? आरोग्य मांग लिया, बोधि (ज्ञान) मांग ली, मंगल मांग लिया । जैसे कोई हीनयानी आकर महायानी बौद्ध से चर्चा करने लगे कि यह तो कुछ भी था ही नहीं, लेकिन अन्तर धारा में महायान जैन धर्म लिखा गया । वह धारा चल रही थी । आपके आगम में है— "लोकविपस्सी लोकस्स दुःक्खं जाणंता यन्ति ज्ञानामहाप्रसंगस्य महायानं" । आप देखिये अपने आगमों में चैत्य पूजा भरी हुई है । रायपसेनीसुत्त देखिये, न्याययुक्ति देखिये । इनमें पूजाओं का वर्णन भरा हुआ है । उसे हम भूल नहीं सकते । रायपसेनीसुत्त में आप देखेंगे कि जब षोडशोपचार पूजा प्रारम्भ हो गई, तो जैनों ने उसमें से एक-एक करके वेदिपूजा शुरू कर दी । जब इधर पंचोपचार पूजा

थी, तो उधर अष्टप्रकारी पूजा का प्रचलन हुआ । उनको ऐतिहासिक क्रम में हमें देखना होगा ।

जहाँ तक आप कह रहे है, वह बात मैं स्वीकार करने के लिये तैयार हूँ कि यह परम्परा मुख्य रूप से महावीर की परम्परा नहीं थी । यह जो आपने प्रयास किया है, उसके तो बहुत सारे प्रमाण भी हैं कि पार्श्व की परम्परा मुख्य रूप से निमित्तशास्त्र को अपना आधार बनाकर चल रही थी । जो भी साधु या साध्वियां पतित हुए, उनका आवश्यकचूर्णी में स्पष्ट रूप से उल्लेख है कि पतित होकर उन्होंने आठ महानिमित्तों का और निमित्तशास्त्र का अध्ययन किया और वह काम करने लगे । पार्श्व की परम्परा के साथ यह बात जुड़ी हुई थी, उसमें दो मत मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं, लेकिन जो महावीर की परम्परा थी, उस परम्परा में वह बात नहीं थी, इतना तो हमको स्पष्ट मानना पड़ेगा । इसीलिये आज भी आप देखेंगे कि जैनों के जो भी मन्त्रशास्त्र हैं, उनमें सबसे अधिक प्रधानता पद्मावती की और पार्श्व की है । आप देखेंगे कि जैनों में भौतिक याचना का जो भी पहला मन्त्र बना, वह था—"साधहरं पासं पासं वंदामि' । उसमें सारे के सारे जो मन्त्र और विसप्पहारो इसकी सारी विधि आयी थी, उसे तो ऐतिहासिक क्रम में देखना होगा । उसे हम इन्कार नहीं कर सकते । जहां तक नमस्कार मन्त्र की बात है, मेरा केवल इसमें इतना ही कहना है कि इसका भी एक विकास हुआ है । भगवती सूत्र की अभयदेव टीका तक इस बात को नहीं उठाया गया है । इसलिये इन सारे तथ्यों को हमें ध्यान में रखना होगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

एक निवेदन है । ऐतिहासिक परम्परा मानने की जो परम्परा है, वह अंग्रेजों की बड़ी भारी देन है और उसमें हम इतने लट्टू होते हैं कि हमें दुःख होता है । आपके जो पक्षधर हैं, जिनमें कही कुछ लिखा मिल जाता है, वह लाख, दो लाख और पाँच लाख वर्ष का कहते तो मानते हैं । हमारे जो आगम है, हमारे जो शास्त्र है, उनके बारे में यदि हम दस हजार, पाँच हजार की बात कहते है, तो आप उसको स्वीकार नहीं करते। यह बड़े दुःख की बात है । हम इसको कभी नहीं मानते कि पत्थरों में और मिट्टियों में जो प्रामाणिकता है, वह बहुत ही काल्पनिक है। शास्त्र में जीव है, तत्त्व है और उससे लाखों आदमी लाभ उठाते है । प्रवर्तन चल रहा है । अगर आपके नमस्कार मन्त्र में दो अक्षर वहां लिखे है, तो क्यों नही उसको ही लोगों ने नहीं माना । क्यों ये पाँच ही मान रहे है । कोई ऐसा प्रमाण बतावें कि अमुक व्यक्ति है, अमुक आचार्य है, जिन्होंने दो ही 'सव्व साहूणं' या 'सव्व

सिद्धाणं' तक जाकर ही जप किया है और लिखा है । ऐसा कोई प्रमाण तो बताइये कि किस शास्त्र में लिखा है कि अरिहंताणं और सव्वसिद्धाणं लिख दिया । आगे नहीं बढ़े । हमारे यहाँ मिलता है कि भाई हमने यह लिखा, इसने यह लिखा । इसके बाद यह आचार्य हुए, इन्होंने यह लिखा, तो ऐसी परम्परा कैसे इतनी विच्छिन्न हो गयी कि पंचपरमेष्ठि आने पर वे पहले दो वचन जो चलते थे, उनको नहीं माना तो इसका कोई कारण होगा । यह विचारणीय विषय है ।

प्रो० नथमल टाटिया

मैं अभी तत्त्वार्थसूत्र पढ़ रहा था । उसमें लिखा है कि आठ रुचक होते है और जब सारे लोकाकाश में आत्मा व्यक्त होता है, तो मेरु पर्वत के अमुक अंश में वह अंश मिल जाता है । यह क्या चीज है ? वह आठ रुचक क्या हैं ? यह तन्त्र, महातन्त्र, गुह्यतन्त्र है, लेकिन लुप्त हो गया है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं एक निवेदन कर दूँ कि इस कार्यशाला में प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देना वक्ता के लिये आवश्यक नहीं है । आप अपना मन्तव्य प्रकट कीजिये और बहुत संक्षेप में । मैं डॉ० गोकुलचन्द्र जैन से निवेदन करूँगा कि वे इस संबन्ध में कुछ कहें ।

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

तीन निबन्ध अभी हमने सुने और चौथा निबन्ध डॉ० सिकदर का मेरे हाथ में है । त्रिपाठी जी के निबन्ध पर की गई टिप्पणी से एक बात निकली कि जैन परम्परा में तन्त्रशास्त्र के विषय में इतनी सामग्री नहीं है कि उसके अध्ययन का विशेष प्रयत्न किया जाय, इस बात का अपने आप समापन हुआ और यह बात सामने आयी कि जैन परम्परा में आज भी तन्त्रशास्त्र और मन्त्रशास्त्र की सामग्री पर्याप्त रूप में उपलब्ध है ।

दूसरी बात ऐतिहासिक क्रम में नमस्कार मन्त्र या तन्त्र के प्रयोग की है । बहुत स्पष्ट रूप में दूसरे निबन्ध में साध्वी जी ने कह दिया है कि जैनागमों में तन्त्र शब्द नहीं आता, किन्तु अभी हमारे पास जो चीजें उपलब्ध है, उसके साथ जो भी लुप्त हो गयीं, पार्श्व-परम्परा की बात हमने कही, उससे पहले नेमिनाथ की परम्परा, यह मूलतः योग की परम्परा थी । श्रीकृष्ण और नेमिनाथ को जैन परम्परा चचेरे भाई के रूप में मानती है । श्रीकृष्ण की योग की परम्परा बहुत ज्ञात है, नेमिनाथ की योग-परम्परा ज्ञात नही है । पार्श्व से

पूर्व नेमिनाथ तक उससे पहले की हमें थोड़ी सी सूचनाएं मिलती हैं, वह ऋषभदेव के संबन्ध में मिलती है । इन सूचनाओं के बावजूद हमारे पास इतनी सामग्री नहीं है, जिससे हम कह सकें कि तन्त्रविद्या को एक साधना के रूप में जैनों ने पूर्व काल में स्वीकार किया था या नही किया था । बाद की जितनी सामग्री हमें प्राप्त होती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि तान्त्रिक सिद्धियां जितनी होती थीं, वे मोक्ष की साधना में निरत साधु को स्वतः प्राप्त होती थी और उनका स्वयं उसे बोध नहीं होता था, क्योंकि वह अपनी चरम सिद्धि के लिये साधनारत होता था । यही कारण है कि आचार्य स्थूलभद्र की चर्चा में मिलता है कि उनको दण्ड दिया गया, इस कारण कि उन्होंने उन सिद्धियों का प्रदर्शन किया । सिद्धियां साधना के क्रम में अपने आप आती थीं । इसका निश्चित विधान है । आचार्य सुमन्तभद्र कहते हैं कि आप पेड़ के नीचे बैठ करके यह कहें कि पेड़ मुझे छाया दे, यह तो बड़ी बेतुकी सी बात होगी, उसी तरह साधना में साधक, जो एक चरम सिद्धि के लिये, निर्वाण के लिये, मोक्ष के लिये साधना कर रहा है, उस क्रम में जब वह आगे बढ़ता है, तो अणिमा, महिमा तथा अन्य जितनी भी ऋद्धि-सिद्धियों की चर्चा आयी है, वे तमाम ऋद्धियां उसे अनायास प्राप्त होती हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में जो साहित्य अभी उपलब्ध है, वह बहुत बाद का है । इसलिये प्राचीन परम्परा को, दृष्टिवाद को, इतने पहले लुप्त मान लिया कि उनकी जानकारी रखना बड़ा मुश्किल है । इस विषय में विशेष प्रयत्न करने की अपेक्षा है ।

आखिरी बात कह कर मै अपने वक्तव्य को पूरा करता हूँ । यहाँ पद्मावती की चर्चा विशेष रूप से आयी । ऋषभदेव के साथ अम्बिका या अम्मा (चक्रेश्वरी), नेमिनाथ के साथ अम्बिका, पार्श्व के साथ पद्मावती, इस तरह से दक्षिण भारत में इनके अलग-अलग नाम भी दिये गये । अम्बिका को कूष्माण्डिनी नाम से वहां अभिहित किया जाता है । इन देवियों की ठीक उसी प्रकार से आराधना, भक्ति, पूजा, अर्चना की जाती है । जिस प्रकार वर्तमान में अन्य वैदिक परम्पराओं में प्रचलित है । आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्रमणवेलगोल में जब मैं गया, तो उस दिन कूष्माण्डिनी देवी की पूजा थी । भट्टारक जी ने मुझे तब तक अपने पास रोके रखा, जब तक पूजा वहाँ चलती रही, विशेष शृंगार था । जब पूजा समाप्त हो गयी, सब लोग चले गये । मैं मेरी पत्नी के साथ था । हम लोग गये और प्रसाद के रूप में पुजारी एक पूरक थाल मेरे सामने हाथ में लेकर उपस्थित हुआ । हम लोग समझ न पाये कि इसका करना क्या है ? इसको लेकर देवी को चढ़ाना है या क्या करना है ? तब भट्टारक जी ने कहा कि यह आपके और आपकी श्रीमती जी के लिये प्रसाद है । उसमें सिन्दूर के साथ दम्पति के लिये जितनी सामग्री होनी

चाहिये थी, वह सारी सामग्री उस थाल में विद्यमान थी । एक प्रसाद के रूप में सारी की सारी समाग्री आपको प्राप्त हो सकती है, लेकिन तीर्थंकर तो यह सब नहीं करता । उसका कारण उसकी वीतरागता है । राग के बिना कल्याण की कामना करुणा के बाद भी नहीं होती । लौकिक सिद्धियों के लिये तो राग चाहिये । इसलिये यह देवी-देवताओं की कल्पना आयी । मैं समझता हूँ कि आदरणीय टाटिया जी और सागरमल जी, दोनों की बातें इनमें समाहित हो रही है और द्विवेदी जी को शायद यह महसूस होना चाहिये कि जैन तन्त्र पर एक छोटा सा सत्र नहीं, कुछ और अधिक निबन्ध आमन्त्रित होते, तो इस पर बड़ी चर्चा संभव थी ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

मैं डॉ० गोकुलचन्द्र जैन जी से कहना चाहूँगा कि अब आप संस्कृत विश्वविद्यालय के आपके प्राकृत और जैनागम विभाग में इस विषय पर एक कार्यशाला कीजिये, जिसमें सात-आठ सत्रों में जैन तन्त्रों के ऊपर ही चर्चाएं हों ।

प्रो० नथमल टाटिया

तन्त्र शब्द को लेकर चर्चा नहीं करनी चाहिये । पतंजलि ने स्पष्ट कहा है योगसूत्र में—"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः" । समाधि से विभूति होगी ही । स्वोपज्ञ भाष्य में भगवान् उमास्वाति दसवें अध्याय में लिखते हैं कि ये जो नवें अध्याय में धर्म-ध्यान का अभ्यास करते-करते चालीस प्रकार की सिद्धियाँ उपस्थित रहती हैं, उसका विस्तार अकलंकदेव कर रहे है । लेकिन वे तो वीतराग की साधना कर रहे हैं । वे सन्त इन सिद्धियों में चिपकते नहीं । पतंजलि ने भी योगसूत्र में कहा है कि ये सिद्धियां अन्तराय स्वरूप हैं । सबकी मान्यता है कि समाधि का अभ्यास ही तन्त्र है । समाधि तन्त्र का एक अंश है, तो जैनों में तन्त्र नहीं है, यह कैसे कह सकते है ? शब्द नही है । बुद्ध के त्रिपिटक में, पालि त्रिपिटक में तन्त्र शब्द नहीं है, इसलिये बुद्ध तन्त्र नहीं मानते, यह कोई युक्ति हुई ? वह समाधि मानते थे, जो प्रातिहार्य होते थे, यमकादि होते थे । यह सब विस्तृत तन्त्र नहीं तो क्या है ? मेरा यह कहना है कि आग्रह मत रखिये । हम समाहित चित्त से कह रहे हैं कि आप लोगो को असमाहित मत कीजिये, तन्त्र नहीं है, तन्त्र नहीं है, कहकर ।

डॉ० पी० पी० आपटे

अब दार्शनिक चर्चा तो बहुत हो गई है, जैन सम्प्रदाय और बाकी के अन्य सम्प्रदायों का तान्त्रिक योगदान है, उसमें कला याने मूर्तिकला और स्थापत्य

कला है, इस पर भी बहुत योगदान अपनी-अपनी दृष्टि से है । मैं केवल पांचरात्र सम्प्रदाय का और दूसरे कुछ सम्प्रदायों का प्रतीक रूप में उल्लेख करता हूँ । पौष्करसंहिता पांचरात्र सम्प्रदाय की चौथी सदी की रचना है, उसमें जो वास्तुपुरुष मण्डल आया है, वह शायद शिल्पशास्त्र के लिये पहिला योगदान है । शिल्पशास्त्र के ग्रन्थ बाद में मिलते हैं और मत्स्यपुराण में वास्तुपुरुष मण्डल का वर्णन आया है । बाद में बृहत्संहिता में आया है और शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में आया है । लेकिन सबसे पहले तो यहाँ पौष्करसंहिता का नाम आया है । मन्त्रों के बारे में भी यहाँ कहा गया है कि मन्त्रों की रचना कैसे होती है ? पाँचरात्र मत में तीन प्रकार के मन्त्र कहे है—एक वैदिक मन्त्र है, दूसरे नाम मन्त्र हैं, जैसे षडक्षर मन्त्र—ॐ नमो विष्णवे, अष्टाक्षर—ॐ नमो नारायणाय, द्वादशाक्षर—ॐ नमो भगवते वासुदेवाय । ये नाम मन्त्र हैं, उसमें नाम भी आता है । तीसरे तान्त्रिक मन्त्र हैं, जिसकी रचना की जाती है और उसके लिये मन्त्र-मातृका के बारे में एक पूरा अध्याय है और जिसमें हर एक वर्ण के लिये एक-एक, दो-दो, तीन-तीन, चार-चार देवताओं के नाम हैं और उन सांकेतिक नामों से वह ऐसा कहा जाता है कि ये देवता पहले लीजिये, दूसरे यह लीजिये और फिर ह्रां ह्रीं क्लीं ऐसे जो मन्त्र बनते हैं, बाद में बनते हैं । पांचरात्र मत की जयाख्यसंहिता का समय चार सौ पचास ई० है । उसमें पहली बार यह चर्चा आती है और जैसा आपके जैन सम्प्रदाय में कहा है, उसके लक्षण दिये हैं । इस प्रकार वैदिक मन्त्र भी आते हैं, तान्त्रिक मन्त्र भी आते है और नाम मन्त्र और उसके अनेक पर्याय आये हुए हैं ।

दूसरी बात जो मै अभी बता रहा था, उसे पूरी करता हूँ कि ये वर्ण-देवता है, उनको देवता स्वरूप मानकर उनका वर्णन आया है । याने ध्यान-श्लोक हर एक सम्प्रदाय मे है और सब सम्प्रदायों मे जो ध्यान-श्लोक आते हैं, उसको एक कला की दृष्टि से देखकर हैदराबाद के हेमगणपति स्थपति ने रूपध्यानरत्नावली नाम की बड़ी पुस्तक लिखी है । उसमें पांच सौ चित्र अंकित हैं । उन्होंने ध्यान-श्लोक के वर्णन के आधार पर उसकी रूपरेखा निकाली है । उसको वर्णांकित भी किया जा सकता है । अभी वह श्वेत-श्याम वर्ण में ही अंकित हैं । वैसे अभी आपने जो बताया, उसमें वर्ण-देवताओं का वर्णन है । रूपध्यानरत्नावली में एक ऐसी केटेगरी है, जिसे उन्होंने श्रीतत्त्वनिधि नामक मैसूर महाराजा के एक ग्रन्थ से ली है । उसमें एक वैष्णव सम्प्रदाय के पुरुष-प्रधान अकारादि सकारान्त पुरुष देवताओं का वर्णन है । यहाँ जो इन्होंने चित्रित किया है, वे सब स्त्री देवता है । वैसे अब जैन देवताओं का भी वर्णन यहाँ आया है । वास्तु-देवताओं का वर्णन जैन ग्रन्थो में है । इसके पूरे रंग दिये हुए है । इस प्रकार उसको रंग देना और जिसको हम ऐसा कह सकते है

कि नयी दृष्टि से पुरातन ग्रन्थों में लिखित कुछ ऐसी सामग्री, जिसमें कला के विविध पहलू विद्यमान हैं। यानी चित्रकला हो, मूर्तिकला हो, या स्थापत्यकला हो, तो उसकी थोड़ी सी पुनर्रचना करनी चाहिये। प्रदर्शनी कक्ष में मेरा एक चित्रसंग्रह रखा हुआ है, जिसमें मैंने पौष्करसहिता में वर्णित मण्डलाकृतियों की रचना अंकित की है। उस प्रकार से जहां-जहां पर इस प्रकार का प्रयत्न होता है, इसको 'नियो एण्टीक' ऐसा कह सकते है। एक दृष्टि से वह नये हैं और वह एण्टीक है, क्योंकि उसका वर्णन पुरातन ग्रन्थों में है। यह एक पहलू मैंने आपके सामने रखा है।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

इसमें थोड़ा सा और जोड़ने के लिये मैं आपसे निवेदन करता हूँ कि हमारे यहाँ जो सामान्य श्लोक ध्यान के बने, उनको छोड़ कर जो वास्तविक प्रौढ़ ग्रन्थों में देवताओं के ध्यान है, वही ध्यान-मन्त्रों को आविर्भूत करते हैं, ऐसी कई व्याख्याएँ हुई है। ध्यान पद्य में जो आयुध हैं, वहीं देवता का प्रधान स्वरूप होता है, आकार-प्रकार प्रधान नहीं होते। आयुधों के वर्णन से ही देवता का वास्तविक स्वरूप प्रतिपादित होता है। उससे बीज-मन्त्र निकल आते हैं। जैसे बाला त्रिपुरसुन्दरी का मन्त्र है। उस मन्त्र के ध्यान को पढ़ेंगे, तो तुरन्त अर्थ निकल आता है। दूसरी बात इसके साथ एक और है। राणा धन शमसेर जो नेपाल में हुए हैं, वे महान् तान्त्रिक थे। उनका स्वर्गवास हो गया। उन्होंने पुस्तक लिखी है कि मन्त्र के महत्त्व और ध्यान के आधार पर, स्वरूप के आधार पर जिस मूर्तिकला की बात करते हैं, खजुराहो की, नेपाली खपरा में वाराणसी की, उसमें शृंगार के जो चित्र हैं, रति आदि के, संभोग आदि के उन सबको उन्होंने बीजमन्त्रात्मक सिद्ध किया है और उन चित्रों को देखकर बताया है कि ये प्राचीन लिपि-पद्धति से इन बीज-मन्त्रों की सूचना देते है। लोगों को लगता है कि ये अश्लील चित्र हैं, किन्तु अश्लील मूर्ति नहीं है, ये इस मन्त्र के सूचक हैं। इसको भी आप देखिये, उसके विषय में चिन्ता करिये। यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

डॉ0 फूलचन्द जैन

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी जी ने जो यह निबन्ध प्रस्तुत किया है, इस संदर्भ में एक दो बातें कहना चाहता हूँ। यद्यपि यह निबन्ध परम्परा विशेष को लेकर लिखा गया है, इसमें सभी जैन परम्पराएं सम्मिलित नहीं है। अगर इस लेख में स्पष्ट उल्लेख कर दिया जाता कि यह इस परम्परा से सम्बद्ध है, तो अच्छा रहता। दूसरी बात यह है कि दिगम्बर परम्परा इस तरह से आती है कि आचार्य धरसेन जब योग-साधना कर रहे थे, तो उस समय उन्हें षट्खण्डागम

कण्ठस्थ था । उसे किसी योग्य शिष्य को देना था । इनके सामने जब आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि ये दो शिष्य आये, तो उनको उन्होंने मन्त्रसाधना की दीक्षा दी कि इस साधना को पूरा करके ही आप हमारे पास आवें, जिससे हमारी परीक्षा हो जाय । यह बहुत बड़ा कथानक है । इसका भी अगर निबन्ध में उल्लेख करते, तो अच्छा होता । तीसरी बात मुझे यह कहनी है कि इस लेख में जैन यज्ञ के विषय में चर्चा आई है । जैन हवन भी करते है । जैन परम्परा में—"ॐ ह्रीं अशीवशाय नमः सर्वे सन्तु कुरु कुरु स्वाहा" इस तरह से अभिमन्त्रित करके जो आहुति देते हैं, इसमें भी यन्त्र, तन्त्र और मन्त्र तीनों की साधनाओं का विशेष उल्लेख है । इतना बड़ा साहित्य लिखा है कई आचार्यों ने । आज जैन परम्परा में जितनी प्रतिष्ठाएँ होती हैं, चाहे वह वेदिप्रतिष्ठा हो, चाहे मूर्तिप्रतिष्ठा हो, चाहे मन्दिरों की प्रतिष्ठा हो, इन मन्त्रों से और पांच कल्याण जो तीर्थकरों के होते हैं, गर्भ, जन्म, तप, निर्वाण, मोक्षज्ञान इत्यादि, इन कल्याणों के आधार पर ही प्रतिष्ठाएँ होती है । इनमें जिस तरह की मूर्ति का, जिस तरह का विधान है मन्त्रों का, इतना तक माना गया है कि जब मूर्ति में प्राण-प्रतिष्ठा करते है, प्रतिष्ठाचार, तब उस समय उनको दिगम्बर होकर के ही, नग्न होकर ही मन्त्रों से प्रतिष्ठित कर सकते है । तभी वह सही प्रतिष्ठा मानी जायगी, अन्यथा नहीं । इन सब बातों को भी अगर इसमें स्थान दिया जाय, तो बहुत अच्छा रहेगा । यह मेरा सुझाव है । यद्यपि डाक्टर साहब के लेख से कई संभावनाएं उत्पन्न हुई हैं । इसमें मुख्यतः मेरा इतना ही कहना है कि कहीं कहीं यह जरूर उल्लेख कर देना चाहिये कि किस परम्परा के अनुसार ऐसा कहा गया है । कभी कभी एक परम्परा से दूसरी परम्परा विपरीत दिखाई पड़ती है । जैसे कि कई लोग पद्मावती को नमस्कार तक नहीं करते, क्षेत्रपाल की पूजा तक नहीं करते, तो उसका भी उल्लेख हो जाना जरूरी है, ताँकि दूसरी कुछ परम्पराओं का विरोध इसमें सम्मिलित न हो और अपवाद का भी सिद्धान्त और इतिहास न बन जाय ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

मै एक बात यह कहना चाहता हूँ कि तन्त्र शायद एक तकनीक है, जैसे न्याय वस्तु की या ज्ञान की यथार्थता के परीक्षण की विधि है । अपनी अपनी पदार्थमीमांसा की दृष्टि से सभी दर्शन वालों ने अपने अपने ढंग से उसका लक्षण किया । लेकिन वह किसी एक की है नही, वह तो एक विधि है, एक तकनीक है, जिससे कि ज्ञान और वस्तु की यथार्थता की परीक्षा हो सकती है । इसी तरह से आध्यात्मिक उत्कर्ष शीघ्रता से प्राप्त करने की एक तकनीक है । जिसको बौद्धों ने भी अपनाया और जैनों ने भी अपनाया । हमारे शैव, शाक्त और वैदिक परम्परा के लोगों ने भी अपनाया और अपने-अपने ढंग

से देव का विधान, मण्डल का विधान और अपनी शब्दावली में उसका व्याख्यान किया । हम कह सकते है कि चक्र, नाड़ी वगैरह की साधना के माध्यम से शीघ्रता से लक्ष्य को प्राप्त कर लेने की जो एक तकनीक है, वह तन्त्र है । यह जो परम सिद्धि है, हम शिवत्व प्राप्त करें या बुद्धत्व प्राप्त करें या हम महावीरत्व प्राप्त करें या तीर्थकरत्व प्राप्त करें उस अवस्था को जब हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह यदि हो जाता है, तो सामान्य सिद्धियों की तो क्या ? यह तो बड़ी ऊँची चीज है । कोई किसी तकनीक से महावीरत्व प्राप्त कर लेता है, तो उसके लिये आम को अमरुद बनाना क्या कठिन हो जायेगा ? यह कहना कि तन्त्र अन्य लोगों में था, तो जैन लोगों ने भी अपने भक्तों के मनोरथ सिद्ध करने के लिये, कुछ मन्त्र-यन्त्र देने के लिये तन्त्र अपना लिया । यह तो तन्त्र को गिराना है, उसकी जो श्रेष्ठता है, उसको गिरा करके कहना है । मै डॉ0 टाटिया जी की इस बात से सहमत हूँ कि सभी परम्पराओं ने उस तकनीक को अपना करके उसका अपने ढंग से संयोजन किया, तो जरूर वहां पर यह विधि रही होगी । डॉ0 त्रिपाठी के निबन्ध से ऐसा लगता है कि उसके अवशेष नष्ट होते होते भी कुछ बच गये है । यह अध्यात्म के प्रकर्ष का साधन है तन्त्र । यह कैसे मानते है, यज्ञ है, जप है, ये सब जैसे साध्य को सिद्ध करने के अलग-अलग रास्ते हैं, ज्ञान, कर्म, भक्ति इत्यादि सब अलग-अलग विधाएं है न, ऐसे ही तन्त्र भी एक विधा है, जिसको सभी धर्म वालों ने अपनाया है । या तो जैन लोगों ने अपनाया न हो और अपनाया हो तो उस साधारण लौकिक सिद्धि के लिये नहीं अपनाया होगा । पारमार्थिक सिद्धि, लौकिक सिद्धि, लोकोत्तर सिद्धि सभी सिद्धियाँ तो प्राप्त होती है इससे ।

प्रो0 नथमल टाटिया

दुःख की बात तो यह है कि जिस बात का प्रतिपादन भगवान् महावीर ने किया, उसको जैनो ने छोड़ दिया । भगवान् महावीर का ध्यान मार्ग था— विपश्यना मार्ग । इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनों के पास कुछ है नहीं, उल्टा सीधा अपना धर्म बनाते हैं, अपना योग बना लेते है । आप देखिये आचारांग को । उसमें विपश्यना के सिवाय और कुछ नहीं है । धर्मध्यान क्या है ? धर्मप्रविचय क्या है ? हम लोगों को एक विचयी सूत्र मिलता है, आचारांग में दूसरा सूत्र आया है । यह लोकविचय क्या है ? धर्म क्या है ? संस्थान विचय, विपाक विचय, आज्ञा विचय— विचय शब्द भरा हुआ है । प्रविचय और विचय एक ही विपश्यना का नाम है ।"धर्माणां प्रविचयमन्तरेण नास्ति क्लेशानामुपशान्तयेऽभ्युपायः" प्रविचय-विचय कहते-कहते हमारे शास्त्र विचारे थक गये । देखिये इस बारे में मैने कई वर्ष लगाये है कि धर्म-ध्यान क्या है ? मेरी अब समझ में आया कि यह तो विपश्यना ही विचय है । हम इसको

समझ नहीं पा रहे है और दूसरी तरह से प्रतिपादित करके नयी नयी ध्यान-धाराओं को अभिव्यक्ति दे रहे है, जो कि झूठ है । ये बहुत दुःख की बात है । पार्श्वनाथ जैन आश्रम (शोध संस्थान) के बड़े भाई सागरमल जी को मैं कह रहा हूँ कि आप लोग कृपा कर के डूबने मत दीजिये जैन धर्म को, इसको जीवित रखिये । बौद्ध धर्म हमारा अभिन्न अंग है । बौद्ध धर्म में आस्रवों का जो वर्णन आया है, वही वर्णन जैन आगमों में हमें मिलता है, जैन आगम के अंग ग्रन्थों में मिलता है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं एक निवेदन करना चाहता हूँ । यह मेरा व्यक्तिगत विचार है । विज्ञानभैरव के उपोद्घात में इसका उल्लेख भी मैंने किया है कि भारतीय तत्त्वज्ञान को हम लोग धर्म की दृष्टि से न देख कर देश और काल की दृष्टि से देखें कि किस देश में किस काल में कौन सा ज्ञान किस आचार्य के द्वारा किस सिद्धान्त के रूप में विकसित हुआ ? उसकी पृष्ठभूमि क्या थी और उसने आगे के लिये अपना क्या प्रभाव छोड़ा ? तो मैं समझता हूँ कि इनके तीन विभाग हो जायेंगे । एक ईसा पूर्व का काल, दूसरा ईसा की पहली शताब्दी से छठी शताब्दी तक का काल और फिर छठी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक का काल । इसमें हम यह देखेंगे कि इन काल-खण्डो में आविर्भूत साहित्य में अत्यन्त समानता है, चाहे वह किसी भी धर्म का हो । आज की गोष्ठी का मुख्य उद्देश्य यही रहा है कि इस काल-खण्ड में, तन्त्र के नाम से जिसको हम लोग जानते है और जिसका प्रारम्भ छठी शताब्दी से तो निश्चित ही मान सकते है, विकसित साहित्य में कितनी समानता है ? यहाँ हमने देखा है कि इनमें परस्पर बहुत समानताएं है । केवल बौद्ध एवं जैन ही नहीं, पूरे भारतीय ज्ञान को, भारतीय तत्त्वज्ञान को यदि हम उस दृष्टि से देखें, तो हमारे लिये वह बहुत उपयुक्त होगा ।

प्रो0 नथमल टाटिया

इस कार्यशाला के प्रदीप को आप हमेशा प्रदीप्त रखियेगा, बुझाइयेगा नही । ऐसा मत समझियेगा कि कार्यशाला खतम हो गई । हम लोगों ने पहले ही कह दिया है कि इस कार्यशाला में सभी विषयों पर विचार नहीं हो सकता, तो इसके लिये कुछ चुने हुए विषयों पर विचार करना है ।

प्रो0 सेम्पा दोर्जे

मैंने पहले केवल जिज्ञासा की थी कि डॉ0 त्रिपाठी जी के निबन्ध में जप और जप की सख्याओ के बारे में एक संकेत है, उसमें विवेचना नहीं है

कि यह सर्वत्र व्याप्त है, यह जो जप और जप की पद्धतियां हैं, सर्वत्र व्याप्त है और किसी धर्मविशेष या किसी सम्प्रदाय-विशेष से संबद्ध नहीं हैं । ये प्रायः साधना वाले सब करते है । उसमें माला का प्रयोग होता है । माला हमेशा १०८ दाने की होती है । इसका क्या रहस्य है ? यह कोई तत्त्व या पक्ष है या उसमें कोई रहस्य है ? हम बहुत दिनों से सोच रहे है, किन्तु उत्तर मिला नहीं । एक आदमी ने हमें कहा था कि ये कुछ नक्षत्रों के हिसाब से रखा हुआ है । तो हमने कहा कि बड़ी अच्छी बात है, आप बताइये तो । हम बाद में बतायेंगे, कहकर टाल दिया, उसने नहीं बताया । उसके बाद हमारी शंका, शंका ही रह गई । यह तो व्यक्तिगत प्रश्न है ।

हम लोगों ने मन्त्र के बारे में बहुत सी बातें कर लीं । क्या शुरू से यह विचार रहा है कि मन्त्र किसी का बनाया हुआ नहीं होता । मन्त्र न वैदिक होता है, न तान्त्रिक होता है, न बौद्ध होता है, न जैन ही होता है । ह्रीं बीज है । उसके जैन संस्करण हो जाते है, उसके बौद्ध संस्करण भी हो जाते है । ॐ ॐ होता है ॐ वैदिक थोड़े ही होता है । ॐ के फिर वैदिक संस्करण हो जाते हैं, उसके जैन संस्करण भी होते है, बौद्ध संस्करण भी होते है, तो बौद्ध संस्करण, जैन संस्करण, हिन्दू संस्करण या वैष्णव संस्करण होता है । इसीलिये मन्त्रो के बारे में जहाँ तक मेरा ख्याल है, मन्त्रों की संरचना होती है । वह मन्त्र अक्षरात्मक है, वह शब्दात्मक है, या मननात्मक है ? इस पर भी थोड़ा सा दार्शनिक पक्ष है, इस पर भी कुछ बातें हो या विचार हो जाय, तो अच्छा हो ।

एक और बात त्रिपाठी जी ने कही कि तन्त्र का तन्त्र होता है और तन्त्र का उपयोग हर आदमी करता है, हर सम्प्रदाय करता है । तन्त्र अपने में कुछ नहीं है और तन्त्र तन्त्र ही होता है । जैसे डॉ० सागरमल जैन ने कहा कि यहाँ वेद से भी लिया गया है, शाक्त तन्त्र से भी लिया गया है, एकदम सही बात है । जैन धर्म के प्रवर्तक भगवान् महावीर के जो तत्त्वोपदेश हैं, भगवान् बुद्ध ने चार आर्य सत्य कह दिये, उसी तरह से उन्होंने भी अपनी कुछ बातें कही है ।

डॉ० बहुलकर ने 'नमः' की जो बात कही थी, तो नमः एक शब्द है, वह तो डॉ० त्रिपाठी जी ने साफ-साफ कही । यह हर जगह उपलब्ध होता है, हर जगह प्रयोग होता है, हर एक जगह उसका अर्थ भी अलग-अलग होता है, हर जगह उसकी महिमा भी अलग-अलग होती है । तन्त्रों में उसकी अलग व्याख्या है, मन्त्र में उसकी अलग व्याख्या हो सकती है, अन्य जगहों पर भी अलग-अलग व्याख्या हो सकती है । लेकिन नमः का सिद्ध अर्थ, दार्शनिक अर्थ,

उसका सीधा अर्थ अहंकार की प्रतिपक्षभावना होता है । उसको व्यक्त करने वाला प्रतीक होता है । नमः मतलब यही होता है, वह शब्दात्मक है, मननात्मक भी हो सकता है, नमः मुँह से भी बोल सकता है, हाथ जोड़कर भी उस भाव को व्यक्त कर सकता है, शरीर के संकेतों से भी बोल सकता है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं नवङ् समतेन जी से इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिये निवेदन करूँगा ।

आचार्य नवङ् समतेन

मेरा एक लघु प्रश्न है । डॉ0 त्रिपाठी जी ने अपने निबन्ध में मात्राओं की बात की है, अक्षर-विन्यास की चर्चा भी की है । उसके संदर्भ में ऐसा है कि जब यह मात्रा या अक्षरों के विन्यास की बात होती है साधना के समय, तो नाडी में उस अक्षरविशेष का ध्यान करना होगा । अब जहाँ तक ध्वनि का सम्बन्ध है, यह तो ठीक है, लेकिन अक्षरों के आकार की बात जब आती है, तो वहाँ हमें यह बताना होगा कि अक्षरों की किस आकृति का हम ध्यान करें । अशोककालीन वह होता है, तो फिर ब्राह्मी लिपि के अनुसार वह आकार स्वरूप और फिर इसके बाद होता, तो उससे जिस लिपि का सम्बन्ध रहता, उससे उसी आकार का होगा, तो इसमें क्या यह सैद्धान्तिक बात है कि एक सर्वव्यापी कोई तत्त्व है, जो कि किसी आकारविशेष का हो वह करे, अन्यथा फिर आजकल जब आधुनिक पाश्चात्य लोग इसका वह ध्यान करने लगे है तो फिर रोमन लिपि के अनुसार उसका अक्षर-विन्यास करना होगा । यहां के ये तन्त्र अन्य सम्प्रदाय से भी आये है, तो फिर साधकों के लिये इस प्रकार की परेशानी या कुछ कठिनाई हो सकती है । इसके संदर्भ में आप कुछ प्रकाश डालें तो महत्त्वपूर्ण होगा ।

डॉ0 सागरमल जैन

यह अभी प्रश्न उठाया गया है कि माला में १०८ मनके क्यों होते हैं ? जैनों ने जो अपनी व्याख्या दी है, वह यह है कि अरिहन्त के १२ गुण, सिद्ध के ८ गुण, आचार्य के ३६ गुण, उपाध्याय के २५ गुण और साधु के २७ गुण ये १०८ गुण होते हैं । माला के १०८ दाने इन गुणों के प्रतीक हैं ।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

इसमें हमारा तो यह मत है कि नौ का जो अंक है, नव ग्रह जिसको कहते है, नौ का अंक प्रधान है । उसी की गुणन क्रिया से हम आगे १०८ तक बढ़ते है । प्रणामी सम्प्रदाय या अन्य सम्प्रदायों में हजारों की संख्या में

माला के दाने होते है । एक चक्र से ही माला बन जाती है । हमारे यहा इसका यह क्रम मिलता है कि माला के नौ पूर्णांक हैं और नौ ही पूर्णता को प्राप्त कराता है । इसलिये नौ और नौतिया सत्ताईस कहो तो नक्षत्र बन जाते है । अधिक सुविधा के लिए १०८ करते है । इसकी अनेक तरह की प्रक्रिया हो सकती है । कुछ भी उसका प्रतिपादन कर सकते हैं । अब माला शब्द ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि "मां लक्ष्मीम् आदत्ते लाति", इससे लक्ष्मी मिलती है । इसलिये लक्ष्मी चाहने वाला माला जपता है और मां का अर्थ दूसरा निकाले जो मातृत्व का है । मां का अर्थ और भी जो संसार से विरक्त करके और अपने लक्ष्य की तरफ जोड़े उसका नाम निषेधपूर्वक है । इससे अनेक अर्थ माला के होते हैं । माला की पद्धतियों के ऊपर सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में एक पाण्डुलिपि है । उसका नाम है गोमुखीतन्त्र । आप-हम लोग गाय का मुख बना कर उसके अन्दर माला रखकर जपते हैं, तो उसका भी एक तन्त्र उन्होंने प्रस्तुत किया । कितनी प्रकार की गोमुखिया होती हैं और कैसे बनानी चाहिये ? इसके करने से क्या फल प्राप्त होता है, ये सब तो अनन्त है । इसलिये यह तन्त्र है । 'तनु विस्तारे' से तन्त्र बना है । बात यह है कि जिसको गुरु जहाँ प्रविष्ट करा देगा, उसके आधार पर आप एकनिष्ठ होकर साधना करें । पचास सीसियां इकट्ठी कर लें या उनका ज्ञान प्राप्त कर लें, उससे हमारा रोग दूर नहीं होगा, रोग तो दूर होगा उस दवा को खाने से, पर आज का तन्त्र ही हमसे बहुत दूर है । हम तो प्रार्थना करेंगे कि इन सबका समाधान तभी होगा, जब आप आसन लगा कर गुरु-परम्परा से मन्त्र को जपने का प्रयास करेंगे । तब आपकी सब शंकाएं-प्रशंकाएं अपने आप विलीन हो जायगी । सौन्दर्यलहरी की चालीस टीकाएं है, नमस्कार मन्त्र के एक सौ आठ अर्थ किये गये हैं । नमस्कार मन्त्र से गायत्री मन्त्र सिद्ध किया गया है, उसकी भी पुस्तकें मिलती हैं । इन सबका ज्ञान प्राप्त करने से वह बात मन में नहीं जम सकती, जो कि स्वयं जप करने से और उसका अनुसन्धान करने से होगी ।

•

A GLIMPSE INTO JAINA TĀNTRIC SĀDHANĀ
HISTORICAL BACKGROUND

—Dr. J.C. SIKDAR—

History of mankind is the struggle between the divine man and the animal man, and the struggle between man and Nature. Science and technology began with his speech when he tried to communicate his thoughts and feelings with his fellow beings. With the invention of fire the struggle of man against Nature continued and even continues to-day and will continue in future. Similarly the struggle between the divine man and the animal man continued in the form of wars, exploitations, servitude of working conditions and many other social forms, it still continues today and may continue in furute.

For the Jaina, the Buddhist, the Hindu—Tāntrics there was no spirituality without compassion (*Dayā*), Dayā leads one to the Spiritual path but *kārpaṇya* (parsimony) is the darkest cloud on the path of Spirituality. All the prophets of the world had compassion for the people. Birth of Vedic, Tantric, Jaina, Bauddha and Vaiṣṇava Dharmas took place in North India and spread to the four borders of India and some of them crossed over to the outside countries. An intercurrent of thoughts and ideas of these religious systems flowed among them and still it is flowing as we witness it here at Sārnāth in this great Tantric assembly of scholars of different faiths.

A study of the history of these religions in different ages of Indian society, like the social activities, is governed by the dominant tendencies of the time and the place. The Vedic, Tantric, Jaina, Bauddha and Vaiṣṇava worlds in different ages have been under the dominion of two institutions-religious system and monastic order. These two institutions attained a general supremacy in the Indian communities in different ages preceding our own because they offered some religious solutions for the chief religious problems of the communities which in those ages had been confronted.

As a result of Jaina cult in the past there emerged the Jaina cultural heritage that guides the present Jaina community with

promise to build a better future of Jaina religious life. The chain of achievments of aspirations of Jaina monastic order constitutes a tradition. Jaina tradition is, therefore, woven with facts. As the history of Jainism goes back to the ancient past, the free play of tradition even in the earliest records of the Jainas is only what can legitimately be expected.

The Jaina Āgamas, and post-Āgamic works written by its different schools throw light upon the history of Jaina religious system and many problems of Jaina monastic life and order.

But in North India, practically, Jainism and Buddhism gave way to Hinduism with the advent of Islam in the seventh century A.D. In south India Buddhism gave way to Jainsim and also to Hinduism gradually. However, Jainism shriveled within the area of its diffusion, finally being reduced to some cities and villages of South India, Inner India and North India and West India where it still lives to-day. This institution expanded and its members multiplied with an amazing speed during the age of Lord Mahāvīra and his followers and by twentieth Century A.D., its branches are strikingly different from the original North Indian dynamic Jaina institution. With the force of inertia and decline of Jaina institution Tantricism stepped into the Jaina society gradually. Therefore, an effort was made for the survival of the Jaina community as an independent organization by compromising with the idea of the majority-Hindu community's worship of the gods and goddesses. But the Jainas never gave up their basic principles of their religious attitude, philosophy, ethics, logic, epistemology, social customs, and methods of Yoga, meditation and concept of liberation. They accepted the best things of Tantricism in their own manner for their material and spiritual progress. It is to be noted here that Lord Mahāvīra never instructed his followers to worship the gods and goddesses of Tantricism.

TĀNTRIC SĀDHANĀ OF THE JAINAS

The objectives of human life are Dharma (virtue), Artha (Wealth or material prosperity), Kāma (Pleasure or gratification of desire or pleasure) and Mokṣa (spiritual liberation). In a real sense they can be reduced to two objectives, viz. Kāma and Mokṣa (Pleasure or desire and spiritual liberation), because Artha (Wealth)

is the means of Kāma (pleasure) for its gratification, while Dharma (Virtue), is the way to Mokṣa (spiritual liberation). [1]

The aims of human life distinguish two types of men, viz. extroverts and introverts, the first one looks to the pleasure of the physical world, while the second one looks into the inside of the world for searching out something tangible in life and nature. So Kāma (pleasure or desire), which is the gratification of desires, creates new desires, but Dharma (virtue) is a means to achieve the goal of human life, i.e., spiritual liberation (Mokṣa) from all bondages. From this point of view philosophy is religion.

So religion constitutes a sphere of individual and collective existences in which human activities are devoted to the two-fold pursuits- Dharma (virtue) and Mokṣa (spiritual liberation), i.e. perfection of conduct and perfection of personality, as the auspicious and pure conduct is guided by the auspicious and pure thought-activity. Human mind searches out something universal which can be attained only by supersensuous consciousness, which reigns supreme as the realizing vision of the universal reality, as the subject-matter of religion. The reaction of human mind to such a reality absorbs his whole self-entity with a feeling for the personal deity and intellectual faith in the divine universal reality and finally pure emotion, cognition and conation. The aim of religion is self-realization of the universal and absolutely Real, embodying the highest qualities re-orientated into the ultimate objective values of life-truth (*satyaṁ*), goodness (*śivaṁ*), bliss (*ānandaṁ*) and peace (*śānti*).

A *sādhaka* can attain strength, energy, learning, intellect, and power, beneficial to himself and other, and virtue, wealth, gratification of desire and liberation by Tantric Sādhanā practised correctly under the proper guidance of a Sadguru.

Being pleased with the *sādhaka* by his prayer, *Śivaśakti*, his *ārādhyā-devatā*, fulfils his all desires, cuts off all his enemies and difficulties, destroys his all troubles, fever, fire, fear, etc., brings

---

1. Kaulajñānanirṇaya, 10th paṭala, V. $27^1/_2$, p. 48; Matsyendra Nath, ed. by Dr. P.C. Bagchi.
सर्वमन्त्रोत्तमः साक्षाद् धर्मार्थकाममोक्षदः ।
नात्र सिद्धाद्यपेक्षास्ति नारिमित्रादिदूषणम् ॥ (महानिर्वाणतन्त्र, ३. १४)

the whole universe and beings of the three worlds under his control, shows the path of liberation, reveals the path of knowledge, increases his prosperity, makes his all-round good fortune, protects him from all dangers and keeps his body healthy and strong.[1]

TANTRA-SĀDHANĀ

Tantra-Sādhanā is a dynamic worship based on Āgama, meaning 'near approach'. In various ways the definition of the term 'Tantra' has been given. The term 'Tantra' is derived from the root '*tan*' which means "to spread out"[2], i.e. the spreading out of the cosmic energy or the expansion of worldly and other-wordly knowledge.[3] Esoterically it means the expansion also for the cultivation of the latent physical and mental power.[4]

It is a union of two words '*Tanoti*' and '*trayate*', which represent expansion and liberation respectively. It is an expansion of mind and liberation of cosmic energy. It seeks to lead a *sādhaka* to the spiritual path by expanding his mental objectivity. It seeks to unite Śiva and Śakti by awakening the spiritual dynamism-Kuṇḍalinī, the cosmic energy, lying asleep (dormant) in human body in Mūlādhāra in a coiled form. Tantra-Sādhanā makes self-purification, self-perfection and liberation and aims at cosmic enjoyment and self-fulfilment of the existence of man and woman in the delight of psychic unity. It is a union of *bhoga* (enjoyment) and *yoga*[5] (spiritual unification) and searches out the divine bliss and freedom in the universe of existence.[6] The way of liberation is the central theme of Tantra Sādhanā.

---

1. परदेवीसूक्तमालामन्त्र,
   "सर्वारिष्टविघ्नान् छेदय" ।...
   "सर्वापद्भ्यो निस्तारय" । इत्यादि ।
2. *tan tanyate*, Pāṇini, VI, 4.44, to extend, to spread out, Monier Williams 'Sanskrit Dictionary, p. 435, Oriental Publishers, Delhi.
3. *tanyate-vistāryate jñānaṁ anena iti*, See Tantravijñāna (Hindi), Part, p. 171, published by Sanskriti Sansthāna.
4. See Tantra, Its Therapeutic Aspects, Dr. Prajñā Shah, 1st chapter.
5. भोगेन लभते योगं भोगेन कुलसाधनम् ।
   भोगेन सिद्धिमाप्नोति भोगेन मोक्षमाप्नुयात् ॥ (मातृकाभेदतन्त्रम्, ३. २)
6. Preface- Tantrarāja Tantra.

Another definition of Tantra is that which protects or saves is Tantra.[1]

Tantra protects or saves the *sādhaka* from the worldly bondages by the continuous meditation (*manana*) of the highest Reality in the form of mantra.[2]

Tantra also protects the *sādhaka* from physical and mental ailments and poverty and disease. Śabdakalpadruma declares Tantra as medicine and doctrine.[3] So it saves the *sādhaka* both as a knowledge and as therapy.

The authoritative definition of Tantra is that which brings emancipation from the bondage of Māyā.[4]

Tantra Sādhanā makes analysis and scrutiny of every action of the human synthesis. It awakens the latent dynamism in all the planes of consciousness.

It divinises every *Tattva* in man and woman. The objective of Tantra is the awakening of the cosmic energy latent in man and taking it through mystic planes to unite with Śiva for consumption of the mantra "*Sāham*". 'She I am' and thence to the Vedāntic realization of *'so 'ham'* 'He I am'.[5]

The objective of Tāntric Sādhanā is the practical realization of the truth of the Advaita Vedānta.[6]

---

1. तनुते त्रायते नित्यं तन्त्रमित्थं विदुर्बुधाः ।
   (H.P. Shastri, N.P. II, p. 69), vide Tantra Studies on their Religion and Literature, Punthi Pustak, Calcutta 4, 1963.
2. तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।
   त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥
   Kālikā Tantra, Shah Dhiralal. T., "Jantranu Tārana (Gujarati) Jaina Sahitya Mandir, 1961.
3. "तनोति तन्यते इति वा औषधिः"
   Śabdakalpadruma, Part-II, pp. 584-85, Motilal Banarsidass, Delhi, 1961.
4. "तत्र य एतत् त्रायेद् यस्तु
   स तन्त्रः परिकीर्तितः ।"
   Singh, Lalan Prasad, Tantra : Its Mystic and Scientific Basis, p. 2, Concept Publishing Company, Delhi, 1976.
5. न च माता न च पिता सच्चिदानन्दः शिवोऽहम् । (महानिर्वाणतन्त्र) ।
6. "नमस्ते सते सर्वलोकाश्रयाय नमस्ते चिते विश्वरूपात्मकाय ।
   नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने निर्गुणाय ॥
   (महानिर्वाणतन्त्र ३.५)

The heritage of Indian spiritualism is embodied in the scriptures. Various scriptures reveal different paths which arrive at one point.

Tantra is also one of the paths. All the late esoteric sects or schools viz. Śākta, Śaiva, Vaiṣṇava, Cainika (Tibetan), Gaṇa, Gāṇapatya, Saura, Cāndra, Bauddha, Jaina, Kaulika, Svāyambhuva, etc. are the offshoots of Tantricism; offshoots presuppose seed.[1]

PRINCIPLES OF TĀNTRICISM

A system of thought founded on firm metaphysical basis can sustain itself in the currents and cross-currents of the evolution of history with its dynamic force. If it is static with its inertia, it goes down in history.

Two principles of Tantricism are found by a closè study of the development and growth of its moving facts, viz. (1) Principle of polarity and (2) Principle of indentity. The polarity is related with the word *pole*. The pole is either of the two points of a body in which the attractive or repulsive energy is concentrated. e.g. in a magnet.[2]

Tantra has very ably dealt with the two principles of pole and identity in the case of the human body, which is symbolically represented in the Tantras, as Śiva-Sākti, biologically they are represented by the male-female poles, necessary for any generation of an issue.

Tantric principle of polarity is not only found at physical level, but it is also applicable in the case of universal level. In Tantra, like human being, the universe also is regarded as an off-spring, of the Highest Reality.

The true meaning (*vācyārtha*) of the first verse of Saundaryalaharī of Śrī Śaṅkarācārya represents this fact.[3]

---

1. Śaktisaṅgamatantra, I. 5. 9-13.
2. Chambers Twentieth Century Dictionary, Edited by A.M. Macdonald, B.A. (Oxen), p. 1035. Allied publishers, Private Ltd., 1974, Vide Tantras: Its Therapeutic Aspect, Dr. Prajñā, R. Shah, Punthi-Pustak, Calcutta, 1987.
3. शिवशक्तयोर्जायापतिन्यायेन जायया शक्त्या युक्तश्चप्रपञ्चरूपं सनातनं निर्मातुं शक्नोति तथा । वियुक्तश्चेन्न शक्नोतीति ।

This view is also given by the Rasārṇavatantra in which Śiva tells Pārvatī that "He is Father and She is Mother of the Universe and worldly objects".[1]

The next question is how this polarity exists in the human body. Every man-male or female-contains these two poles-male and female within himself or herself. One pole is manifest, the other is latent or unmanifest. The externally manifested pole indicates either male or female character. In a male person there is also female element in a latent form. It is the same case with a female person.

The concept is known as bio-sexuality in Biology. This concept is also revealed in Tantra in terms of Hermophrodite (*Ardhanārīśvara*). "The bio-sexual potential exists in equal male and female ratio in the reproduction of protoplasm". Visually it has been depicted as the form of Ardhanārīśvara (Śiva-Pārvatī), male and female attributes shown as part of the same body hermophroditically joined. The idea that mascularity and feminity were two factors is as illusory as that of the duality of body and soul.[2]

Śiva and Śakti are the two poles of one entity. Polarity is represented by Tantra, but duality is not represented by it. Identity has been discussed very much in the Tantras. Śiva tells Pārvatī clearly that there is no difference between them.

The same truth has been spoken in the Siddha-Siddhānta-Paddhati of Gorakṣanātha by giving the illustration of the moon and the moonlight. As the moonlight is non-different from the moon and the moon cannot exist without the light, just so Śiva and Śakti are identical.

Saundaryalaharī of Śrī Śaṅkarācārya, edited by Kuppuswāmī, A. p. 2, The Ministry of Education and Social Welfare, Govt. of India, 1970, First Edition.

1. त्व माता सर्वभूताना पिता चाहं सनातनः।
   नयश्च यो रसो देवि महामैथुनसम्भवः॥

   Rasārṇava Tantra, Edited by Pant Tārānanda, paṭala 1, p. 34, Chaukhamba Sanskrit Series, 1989.
2. Tantra Āsana, A Way to Self-realization, Ajit Mookerjee, p. 62, published by Ravi Kumar, 1965, First Edition.

This principle of identity is further discussed in the Toḍala Tantra with the illustration of creation. Śiva is not able to do anything without Śakti in the process of creation, Śiva is regarded as a dead body (*śava*) without Śakti.

The same view on the principle of identity is echoed in the Toḍalatantra.[1]

Śrī Rāma Kriṣṇa says that "Just as fire and its burning power are inseparable, so inseparable are Brahma and Śakti, when I meditate upon Reality at its rest," he once remarked, "that is without activities of creation, preservation and dissolution. I call it Brahma. When I meditate upon Reality as creative, I call it Śakti. In either case, I am concerned with one and the same truth, the difference being only in the name and aspect."[2]

Jaina Philosophy echoes the same view on identity in different way "*guṇaparyāyavad dravyaṁ.*" Dravya (Substance= Reality) is non-different from *guṇaśakti* (quality), they are inseparable, e.g. gold and its quality-yellowness are inseparable.

Basic Religious Attitude in Jainadharma

Samyakdarśana (right faith=*bhakti*), *Samyakjñāna* (right knowledge) and *Samyak cāritra* (right conduct = *karma*) together constitute the path of liberation (*samyagdarśanajñānacāritrāṇi mokṣamārgaḥ*), (Tattvārthasūtra, 1.1., Umāsvāti).

The quality or power on the development of which a clear apprehension into Reality or Truth takes place with an inclination to the discrimination between rejectable *tattvas* and acceptable *tattvas* is *samyakdarśana* (right faith). The true understanding of the *tattvas* (realities) like soul, etc., which is attained by logic and evidence, is *samyakjñāna* (right knowledge). The natural joy which takes place on the cessation of passionate conditions of soul, viz., *rāga* (attachment), *dveṣa* (aversion) and *yoga* (mental, vocal and physical activities) due to *samyakjñāna* (right knowledge) is *samyakcāritra* (right conduct). The first two of them, viz. *samyakdarśana* and *samyakjñāna* (right faith and right knowledge)

---

1. Toḍala Tantra; See Stavarāja (Hindi) by Mahākāla, p. 60, Motilal Banarsidass.
2. Śrī Ramakrishna's Kathāmṛta.

are companion like heat and light of the sun; they do not exist without mutual association, but their association with *samyakcāritra* (right conduct) is not inevitable, because they are found together upto certain stage even without *samyakcāritra* (right conduct). Nevertheless, according to the order of development, the rule of *samyakcāritra* is that when it is attained, then its preceeding two means, viz., *samyakdarśana* and *samyakjnāna* will necessarily be there, (TS. ed. by Pandit Sukhlalji Sanghvi, pp.3-4).

Samyakdarśana which is the faith in the ascertainment of things in their true character is attained either by intuition or by acquisition of the external causes like knowledge, instruction imparted by the teacher, etc. This *samyakdarśana* of the Jainas is *bhakti* of other religions. The difference is that *ahiṁsā* of Jainism (non-violence), the spiritual value of life of beings, is the greatest form of *bhakti* in Jainism. The same concept of ahiṁsā (non-violence) is echoed in Tantra Kaulajñānanirṇaya that ahiṁsā is the first flower (*prathamaṁ puṣpaṁ*) for the worship of Śivaliṅga.[1] Jñāna, bhakti and karma together constitute the basic religious attitude of all Indian religions.

Genesis of Jaina Tāntric Sect :

Now the question arises how and when the genesis of Jaina Tāntric Sect and the worship of Śāsanadevīs, Yakṣas and Yakṣiṇīs, Kṣetrapālas, other devīs, sixty four Yoginīs with their respective *mantras* (incantations), *stutis* (eulogies), modes of their ceremonies, etc. took place.

Ahiṁsā, the greatest Bhakti of the Jainas, inspired the Jaina laities and Ācāryas to honour and worship the Tāntric deities in their own manner with catholocity of their mind particularly in the period of inertia of Indian religious sects after the advent of Islam in Sindh in the seventh century A.D. But they never gave up their basic religion and Philosophy.

All the ethical and religious rules of Kaulajñānanirṇaya viz. *ahiṁsā*, *indriyanigraha*, *dayābhāva* (right disposition), *kṣamā*,

---

1. अहिसा प्रथम पुष्प द्वितीयेन्द्रियनिग्रहम् ।
तृतीय च दयापुष्प भावपुष्प चतुर्थकम् ॥
पञ्चम तु क्षमापुष्प षष्ठ क्रोधविनिर्जितम् ।
सप्तम ध्यानपुष्प तु ज्ञानपुष्प तु अष्टमम् ॥
(कौलज्ञाननिर्णय, पटल ३.२५-२६)

krodhavinirjita, *dhyāna* and *jñāna*, are the basic principles of Jainism. That is why the Jainas could welcome the Tāntric worship of gods and goddesses and brought out the best thing of Tāntricism. The genesis of the Jaina worship of Tāntric gods and goddesses might have taken place in the period between the 7th century A.D. and the 8th century A.D. as evidenced by the composition of Jinasahasranāma and Jainamahāpurāṇa of Jinasena.

The nature of the genesis of the heterogeneous Tāntric Sects as mentioned in Śaktisaṅgama Tantra, such as, Śaiva, Sākta, etc. (Saṅgamatantra paṭala 5, Śloka 9-13) shows that they are particular beats of a general rhythmical pulsation which runs all through the Indian society in general. Evidently this is as far as one can go in understanding how the genesis of different religious sects in the Tantric period in the 7th century onwards occurred and still occur. One may still enquire why the geneses of different sects have occurred in these periods after the Muslim rule was established. A negative factor, which may account for the long pause on the early level, is viz. inertia. The positive factor has set the Tāntric asectic life in motion again by its impetus. This unknown factor must be the next object of our research.

JAINA WORSHIP OF TĀNTRIC GODDESSES

It is the belief of the Jaina laities and the present Jainācāryas that the worldly objects of men can be attained by their worship and their desire can thus be gratified with the grace and boon of these gods and goddesses.[1]

Many types of worship of Yakṣiṇīs, Yoginīs, Śāsanadevīs and other goddesses are current among the Jaina community. All these goddesses are evoked and worshiped generally at the time of performance of some ceremonies and foundation of temples.[2]

ŚĀSANADEVĪS

There are twenty-four Śāsanadevīs with twenty-four Tīrthaṅkaras, each having one Śāsanadevī. According to the view of the Śvetāmbaras, they are as follows :

---

1. Jainadharma meṅ Śaktipūjā, Kalyāna, Śakti-aṅka, p. 565.
2. Ibid.,

(1) Cakreśvarī (2) Ajitabalā (3) Duritārī (4) Kālikā (5) Mahākālikā (6) Śyāmā (7) Śāntā (8) Jvālā (9) Sutārakā (10) Aśokā (11) Śrīvatsā (12) Caṇḍā (13) Vijayā (14) Aṅkuśā (15) Pannagā (16) Nirvāṇī (17) Balā (18) Dhāriṇī (19) Dharaṇapriyā (20) Naradattā (21) Gāndhārī (22) Ambikā (23) Padmāvatī and (24) Siddhidāyikā.[1]

DĪKṢĀ OF JAINA MONKS

The door of Jainadharma is open to all, male and female, any castes' members, tribes, foreigners, princes and slaves, rich and poor.

Mahāvīra had eleven Śramaṇas and two Śramaṇīs and one Śrāvaka belonging to the Brāhmaṇa community (Priest class), in all fourteen; five hundred and fifty three Śramaṇas, twenty five Śramaṇīs, one Śramaṇopāsaka and one Śramaṇopāsikā, thirteen Śrāvakas and two Śrāvikās in all five hundred and ninety-five coming from the Kṣtriya caste (warrior class); thirty Śramaṇas and twenty-three Śramaṇopāsakas and ten Śramaṇopāsikas in all sixty-three, coming from the Vaisya community (mercantile and peasant class), three Śramaṇas, one Śramaṇī, one Śramaṇopāsaka and two Śramaṇopāsikās, in all seven, belonging to the working class (Śudras, one can say), six Śrāmaṇas from Pārśvāpatya saṅgha, seven hundred and three Śramaṇas, one Śramaṇopāsaka, in all seven hundred and four, coming from amongst Anyatīrthikas, and twenty-five Śramaṇas and three Śramaṇīs in all twenty-eight, belonging to the unknown community

Even today a son of a diamond merchant of Bombay and phulwalī (seller of flowers) a poor girl of Bangalore, and a night-blind girl of Rajasthan have accepted *dīkṣā* to their respective gurus. What is the criterion which gave them the opportunity to follow the path of ascetic life ? It is their *viveka* (distinction of the real and the unreal) and *vairāgya* (detachment to the worldly objects) which led them to come to this hard but pure path of asceticism. They never studied the Vedas (*vedādhīta*) of Tāntric saṁgha nor they are the graduates of Rāmakṛṣṇa Mission.

1. Kalyāna, Śakti-aṅka, p. 549.

It was not a question of *bhoga* (enjoyment) and *yoga* (abstract meditation) to them like the Tāntrics.

But their objective was Dharma and Mokṣa, so they were received by the cāturvidha Jaina Saṁgha with acclamation, like this Śrī Ramakṛṣṇa also initiated Narendra Nath (Vivekānanda), Rākhāl, Nāṭu (a gardener), Harish (a sweeper) and other boys, coming from different castes - from the Kāyastha to the Sweeper class. It is historically to be noted that Jainism first liberated Indian women from the shakle of social bindings. Next came the Buddhist Saṅgha to liberate them.

After the initiation the new monks and nuns are placed under some particular teachers to teach them the prescribed Jaina religious books, religious conducts and meditation, etc.

Some of them, who become worthy and competent to lead their respective Saṅghas, are installed by their respective gurus and the Cāturvidha Saṅghas on the respective Gurupaṭṭas with the invocation of Sūrimantra. This Sūrimantra contains Tāntric mantras, *Oṁ Kālī Mahākālī*, etc. Here lies the point that there is found Tāntric influence on this *Sūrimantra*.

TRANSLATION OF JAINA DĪKṢĀ MANTRA :

Oh Lord : I am doing sāmāyika (*samabhāva*=equanimity) or friendly relation with all beings. I renounce all kinds of sinful activities upto the last movement of my life. I put it into practice by three-three kinds of activities with mind, speech and body. I shall not do it myself, nor shall I get it done by others, nor shall I approve others to do it. I retrace my step from that sin, I do censure it and I hate it. I separate my soul from that sin.[1]

TĀNTRIC SĀDHANĀ OF THE JAINAS

The Jainas followed the foot-steps of the Śākta Tāntrics in regard to Mantra sādhanā, *viniyoga*, *nyāsa* and *japa sādhanā* by changing the objects of worship and replacing them by their

1. करोमि भन्ते । सामाइय सव्व सावज्ज जोग । पच्चवखामि जावज्जीव पज्जुवासामि । तिविह तिविहेण भणेण वाचाए काएण न करेमि न कारवेमि । करत पि न समणुजाणामि तस्स भन्ते । पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वासिरामि ।

Tīrthaṅkaras. Pārśvanātha, Ṛṣabhadeva, etc. (*namiuṇa psavisahara vasahagina, arhaṇ*) etc. But they kept up the entire form (structure) of *viniyoga*, *karanyāsa*, *aṅganyāsa*, *dhyāna*, *mātrā* and something more, for example, *jalābhimantra*, *pūjāmantra*, *gurupādukāmantra*, *kṣetrapālamantra*, *karacchoṭikāmantra*, *āvāhanamantra*, *sthāpanāmantra*, *arccanamantra*, *mūlamantra*, *visarjanamantra* and *vaśīkaraṇamantra*.[1]

This is a particular way of the Jainas Tāntric Sādhanā by adopting Tāntric Sādhanā of the Hindus

KUṆḌALINĪYOGA

Spiritual success (or perfection) is dependent upon the awakening of Kuṇḍalinī. As long as Kuṇḍalinī remains asleep in the Mūlādhāra, perfection (or success) cannot be attained with Mantra-Yantra, worship, etc.[2]

According to Gheraṇḍasaṁhita,[3] the *sādhaka* is *paśutulya* (like an animal), So long as his Kuṇḍalinī remains asleep in his body, he will not attain real knowledge, even in spite of his practice of yoga for one crore of years. If Devī Kuṇḍalinī arises as a result of his many meritorious acts, he attains success in all *mantra*, *yantra*, *arccanā*, etc. Then the *sādhaka* moves in the world like Śiva, being endowed with eight divine powers-omnipotence, omnipresence, etc.[4]

As a result of meritorious acts Devī wakes up from her sleep, but for that awakening of Devī the *sādhaka* should practise worship. This worship in mainly *yogasādhanā*. It is the views of Gandharva Tantra that there does not take place the moving (movement) of Kuṇḍalinī without *yoga* (deep and abstract

---

1. See Śrī Bhairavapadmāvatīkalpa, Mallisenasūriviracita; Padmavatīmaṇtrāmnāyavidhiḥ, pariśiṣṭa 7, pp. 43-46.
2. मूलपद्मे कुण्डलिनी यावन्निंद्रापिता प्रभो ।
   तावन्न किञ्चित् सिध्येत मन्त्रयन्त्रार्चनादिकम् । (गन्धर्वतन्त्र, ६.३६–३७)
3. यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा ।
   ज्ञान न जायते तावत् कोटियोग समभ्यसत् ॥ (घेरण्डसंहिता ३.४५)
4. जागर्ति यदि सा देवी बहुभिः पुण्यसञ्चयैः ।
   तदा प्रसादमायान्ति मन्त्रयन्त्रार्चनादयः ।
   शिववद् विहरेल्लोके अष्टैश्वर्यसमन्वितः ॥ (गन्धर्वतन्त्र ६.३७–३८)

meditation)[1]. In Rudrayāmala Kuṇḍalinī has been called *yogādhīnā*[2] (dependent on meditation). The orders of worship-*karma* (action). *jñāna* (knowledge), *yoga* (meditation) and bhakti (devotion), etc. have been prescribed in the *Tantraśāstra*, according to the mental disposion of the common *sādhaka*, for the awakening of the Kuṇḍalinī.[3]

The awakening of Kuṇḍalinī may take place due to *nyāsa*, *japa*, *pūjā*, etc. the means prescribed in the Śāstra.[4]

KUṆḌALINĪ

Kuṇḍalinī is *brahmasvarūpā* (Brahma-like), *sanātanī* (eternal), *viśvasṛṣṭikāriṇī* (creator of the universe) and *viśvarūpiṇī* (Universe-like). She is *sṛṣṭisthitilayātmikā* (is having the nature of creation, continuation (protection) and destruction (or decay). She is *viśvātītā* (beyond the Universe) and *jñānarūpā* (knowledge-like).[5] This Kuṇḍalinī is *iṣṭadevatā* of Tāntricsādhaka.[6]

All higher Tāntric Sādhanās are the Sādhanā of Kuṇḍalinī. In Sāradātilaka[7] it is said that *paradevatā* Kuṇḍalinī is *caitanyarūpiṇī*, (consciousness-like), *sarvatragāminī* (going to all places) (i.e. pervading all places), *viśvarūpiṇī* (universe-like), *nityānandā* (eternal bliss), *śivasvarūpā* (Śiva-like), existing near Śiva, (i.e. inseparable) and *triguṇātmikā prakṛti*, having three guṇas-*sattva*, *rajas* and *tamas*).

KUṆḌALINĪYOGA OF THE ŚĀKTA TANTRICS

Up to this time, I think, Kuṇḍalinīyoga has been studied by the scholars in Tāntricism on the basis of *ṣaṭcakras* (six plexuses)

---

1. विना योगं न सिध्येत कुण्डलीचङ्क्रमः प्रभो । (गन्धर्वतन्त्र, ६.३६)
2. वेदाधीनं महायोगं योगाधीना च कुण्डली । (रुद्रयामलतन्त्र, उत्तरतन्त्र पटल २१)
3. Tantra as a way of Realization, Cultural Heritage of India, Vol. IV, p. 238.
4. Ibid.,
5. ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिनीम् ।
   श्यामां सूक्ष्मां सृष्टिरूपां सृष्टिस्थितिलयात्मिकाम् ।
   विश्वातीतां ज्ञानरूपां चिन्तयेदूर्ध्ववाहिनीम् । (षट्चक्रनिरूपणम्, श्लो. ११, टीका)
6. निजेष्टदेवतारूपा देहसंस्था च कुण्डली । (मातृकाभेदतन्त्र, १४.२) ।
7. ततश्चैतन्यरूपा सा सर्वगा विश्वरूपिणी ।
   शिवसन्निधिमासाद्य नित्यानन्दगुणोदया ॥ (शारदातिलक १.५१-५५) ।

in the human body, viz. Mūlādhāra, Svādhiṣṭhāna, Maṇipur, Anāhata, Viśuddha, Ājñā and Sahasrāra.

The Jaina Tāntrics also followed the Śākta Tāntrics in regard to *ṣaṭcakra*, but they changed the form of every *cakra* in their own manner.

A MS. of Kuṇḍalinī composed by Kuṇḍabhāratī, unpublished and found at Ahmedabad, throws sufficient light on the subject with well-drawn pictures and with the description of the eighteen *cakras* and other details of Kuṇḍalinī-yoga. I got the opportunity to restore the whole text of the said MS. and translated it into English, but I have not yet edited it.

This MS. mentions eighteen *cakras* including six main *cakras*, mentioned in the Ṣaṭcakranirūpaṇaṁ. They are as follows :

Mūlādhāra (ādhāracakra), Mahāpadmacakra, Svādhiṣṭhāṇa-cakra, Kuṇḍalinīcakra, Maṇipuracakra, Manacakra, Anāhatacakra, Viśuddhacakra, Prāṇacakra, Galacakra, Cucukacakra, Balavān cakra, Ājñācakra, Triveṇīcakra, Candracakra, Amṛtacakra, Brahmadvāracakra and Nalacakra.[1]

The Jainas introduced Airāvatahāthī as Bījavāhana, Ādināth as Deva, Ḍākinī as Devaśakti, Catuṣkoṇa as Yantra, nāsikā as jñānendriya, gudā as Karmendriya in Mūlādhāracakra.

In Svādhiṣṭhāna they put *makara* as Bījavāhana, Śākinī as Devaśakti, Candrākāra as yantra, rasanā as jñānendriya, liṅga as karmendriya.

They placed *megha* (cloud) as Bījavāhana, Pārsvanātha as Deva, Lākinī as Devaśakti, Trikoṇa as yantra, cakṣu as jñānendriya and *caraṇa* as karmendriya in Maṇipura.

In Anāhatacakra Mṛga appears as Bījavāhana, Śāntinātha as Deva, Kākinī as Devaśakti, Ṣaṭkoṇa as yantra, tvacā as Jñānendriya and *hātha* as karmendriya.

They put hastī (elephant) as Bījavāhana, Ariṣṭanemi as Deva, Sākinī as Devaśakti, Śūnyākāra as yantra, karṇa as jñānendriya and vāk as karmendriya in Viśuddhacakra. Nāda

1. Kuṇḍalinī Written by Kuṇḍabhāratī.

(sound) is placed as Bījavāhana, liṅga as Deva, Hākinī as Devaśakti, Liṅgākāra as yantra in Ājñācakrā.

They put Bindu as Bījavāhana, Siddha as Deva, Mahāśakti as Devaśakti, pūrṇacandranirākāra as yantra in Śūnyacakra (Sahasrāra).[1]

DHYĀNAYOGA OF JAINA DHARMA

Near Ājñācakra there is a description of Saptākāśas, viz. Indu, Bodhinī, Nāda, Arddhacandrikā, Mahānādakalā, (Soma-sūryāgnirūpiṇī) and Unmanī. On reaching Unmanīkoṣa there does not take place the return of the soul. Like this in the Yogadṛṣṭisamuccaya Ācārya Haribhadrasūri has given the description of eight dṛṣṭis (views), viz. Mitrā, Tārā, Balā, Dīprā, Sthirā, Kāntā, Prabhā and Parā.

It is most difficult to understand the significance of all these without *sādhanā* under the guidance of a Jaina Guru.

CONCEPT OF LIBERATION IN JAINISM

According to Jainism, liberation is the freedom of the soul from the bondage of Karma (action or activity) and thereby the stoppage of its rebirth. It can be achieved by two processes, viz. *saṁvara* (the stoppage of the influx of new karma-matters into the soul) and *nirjarā* (the dissociation of accumulated karma-matters into the soul).

Saṁvara can be attained by observance of (1) the five great vows, viz. non-injury, truthfulness, non-stealing, chastity (continence) and non-possession, (2) that of *samiti* (self-control) in walking, speech, taking of food, etc., (3) three *guptīs* (restraints of mind, speech and body) and control of the senses, (4) that of dharmas consisting of continence, renouncement, straight-forwardness, attainment of virtue, forgiveness, conquering of the sense, purity, desirelessness, well-devotion to Śramaṇahood, controlling of passion, penance, etc. (5) *anuprekṣā* (deliberation or meditation about transitorines of the mundane world,[2] truths, process of birth, one's own responsibility for good and bad deeds,

---

1. Titthayara, July, 1991, Jaina Bhavan, pp. 72-74.
2. Ibid., pp. 74-75 ff.

distinction betwwen the soul and non-soul (*jīvājīvā*) and the dissociation of those karma-matters accumulated and stuck into the soul, matter, substances of the universe, etc;, (6) the conquering of the twenty-two *pariṣahas* (forbearances) and (7) right conduct.[1]

Nirjarā[2] is the change in the soul and the dissociation of karma-matters brought about by the external and internal austerities. As the matters of a piece of dirty cloth get dissolved from all sides, if it is gradually cleansed and washed with pure water, just like that the soul, having been freed from the dust of karma-matters, becomes pure and attains the beautitude, perfection and happiness as a result of austerities and meditation.

The soul attains perfection, when the renouncement of thought (*bhāvavyutsarga*) and that of articles, body, passion, world and action, etc., (*dravyavyutsarga*)[3] take place as a result of the joint action of right knowledge and right conduct.[4] Being freed from karma-matters, the soul gets a propulsion like the movement of an arrow released from the bow towards the target[5] and it goes up in a straight line to the top of the universe.

In that state it stays permanently in *Īṣatprāgbhāra* which is lying close to the border of the universe and that of the non-universe, high above *Sarvārthasiddhi* heaven and enjoys eternal perfect bliss with freedom from the worldly bondage and suffering of the physical existence.

CONCLUSION

It is true that the Jainas have accepted Tāntricism in their own manner under social circumstances, but they never gave up the basic principles of their philosophy and ethics and conception of salvation. The Buddhists or the Jainas do not depend upon God, but the force of their religion is directed to evolve a God out of man. They have not the Father, but they have seen the son. And he that hath seen the son hath seen the father also.

1. Bhagavatī Sūtra, 2.1.92; 9.33.384.
2. Ibid., 6. 3. 233.
3. Ibid., 25.7.803.
4. Ibid., 8. 10. 355.
5. Ibid., 7. 1. 255.

Ethics is the continuation of the metaphysical and psychological aspects of studies. Metaphysics deals with life and Nature, and Psychology explains how the mind reacts to the objects of Nature, while Ethics is the moral consideration of all forces of life and Nature. It gives an insight how man started the estimation of the value of life from the first stage of civilization.

The first thing in human life is food, the more of which is good. But Nature has set some limit to man's demand to enjoy more things, because it becomes harmful to him in its excessive degree. The entire idea of the moral standard is founded on the basis of the individual and the physical personality of man in comparison with the natural forces is also limited. Only a limited quantity of food, is good, but beyond that, it is harmful.

Desire, which is the main factor of the economic life, is guided by the instinct of possession, but the unbridled forces of desire and enjoyment ensnare the human mind and lead it to the path of mad lust for the acquisition of the worldly objects and wealth at the expense of others and finally to the consequent sufferings and unhappiness. So the unlimited amassing of wealth and its unrestricted enjoyments have not been commended as final in the ethical principles laid down in the Jaina Āgama but rather they have been condemned by the saints. So a great emphasis has been put on the principle of non-possession (*aparigraha*), one of the five great vows of Nirgrantha Dharma.

Pleasure or happiness is the goal of the material life of man and the ethical ideas are directly and indirectly connected with happiness and physical pleasure which are fulfilled by means of wealth. But beyond the particular point of pleasure or happiness there is harm, because non-pleasure arises. So the quantitative restriction comes to a limit-*nivṛtti* (return or ceasing from worldly acts), *yama* (restraint), *saṁyama* (self-control) and niyama (fixed moral rule). Nature has got a belt and it does not allow men to go beyond that, though goodness is wanted in more quantity. Goodness and badness of a thing are to be determined from the aspects of substance, space, time and condition- the mental approach of the person concerned. As they are of relative value, so ethics is not absolute. It is the personal approach determined by the

utility which is decided by one's own mind in different modes at different times from the practical point of view.

In the social organization men require standardization of the sources of material objects in conformity with the natural condition. In this standardization *saṁyama* (self-control) is an important factor, as it contains doubt, e.g. do not do that, observe it, etc. Jainism starts with the prohibition-principle of non-violence or non-injury (*prāṇātipātaviramaṇa* or *ahiṁsā*). It is comprehensive in meaning from the social, ethical and religious stand-points. Distinction is made between *dravyahiṁsā* and *bhāvahiṁsā* (violence committed in act and violence committed in thought.)

Virtue of non-violecne arises out of self preservation, because men are socially related to one another. One must not do injury to the social life for self-preservation and self-development. This prohibitive principle leads to *vītarāgtā* (non-attachment or detachment) and to the higher interest, as one must consider the value of others and to self-sacrifice, because attachment leads men to clashes, while detachment to peace and asceticism. Natural and unnatural troubles and old age come in life like a hungry tigress. This is the answer to *bhuktī* (enjoyment) and *muktī* (liberation) of Tāntricism.

It is surprising that a trace of invocation to the ford-Tīrthaṅkara of the Jainas is found in a verse of prayer addressed to Brahma in the Mahānirvāṇa Tantra.[1]

"bhavāmbhodhipotaṁ śaraṇyaṁ vrajāmaḥ" (we take shelter of the ford- the ship of the ocean of the world) in connection with the concept of liberation. Is it the interchange of thoughts between Jainism and Tāntricism by using similar words" Tīrthaṅkara" and "bhavāmbhodhipotaṁ", conveying the same meaning "ford or ship of the ocean of the world" in regard to liberation ?

•

1. Mahānirvāṇa Tantra, (Ullāsa 3, 63).

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अंग्रेजी भाषा में निबद्ध इस निबन्ध को श्री नोर्बू शास्त्री जी ने बड़े प्रभावी ढंग से हमें पढ़ सुनाया है । सर्वप्रथम इसके लिये हम उन्हें धन्यवाद देते है । सिकदर साहब ने अहमदाबाद से यह निबन्ध भेजा है । वे वृद्धावस्था के कारण और कुछ अपनी व्यक्तिगत परिस्थितियों के कारण यहाँ आ नहीं पाये । पर हम लोगों के ऊपर कृपा करके जैन तान्त्रिक दर्शन के ऊपर यह निबन्ध उन्होंने भेजा है । मैं ढाकी साहब से यह निवेदन करूँ कि वे पहले हमें सिकदर साहब का परिचय दें ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

श्री योगेशचन्द्र सिकदर लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद में प्राध्यापक के रूप में करीब १५-२० साल तक रहे हैं, तब मैं भी वहाँ पर काम करता था । हम दोनों के बीच कुछ कुछ कभी चर्चा-विचारणा भी होती थी । उनका खास विषय आगम में विज्ञान की खोज था, विज्ञान से यहां बौद्ध विज्ञानवाद की बात नहीं है । साहित्य जिसको कहते है, जीव-शास्त्र, लोकशास्त्र वगैरह, उस विषय पर उनका बहुत-बड़ा अधिकार है । इस विषय पर उन्होंने बहुत अच्छा काम किया है । तदुपरान्त निर्ग्रन्थ दर्शन में अलग-अलग विचारों का, विभाव-आविर्भाव और उसकी व्याप्ति, उसके प्रभाव पर भी उन्होंने अनेक लेख लिखे हैं । यह सब ज्यादातर अंग्रेजी में है ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

मैंने यह निबन्ध पूरे मनोयोग से सुना । मेरी यह बहुत समय से जिज्ञासा रही है कि जैन तन्त्र में शक्तिवाद का क्या स्वरूप है ? तन्त्र का विवेचन तो हुआ है इस निबन्ध में, लेकिन शक्ति का क्या रूप है ? कहां कहां किन किन स्वरूपों में शक्ति को स्वीकार किया गया या अस्वीकार कर दिया गया, उसकी चर्चा यहां नहीं की गई, इसी के सम्बन्ध में हमारी जिज्ञासा बहुत दिनों से है । मैं उन विद्वानों से निवेदन करूँगा, जो यहाँ उपस्थित है । वे मेरी जिज्ञासा का समाधान करें ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

उन्होंने यह बात नहीं बतायी, कुछ बतायी है, कुछ रह जाती है । ऐतिहासिक पार्श्वगत भूमिका के, जिसको आपमें से बहुत लोग धिक्कारते हैं, परिप्रेक्ष्य में ही यह देखा जा सकता है । निर्ग्रन्थ दर्शन आत्मवादी है और आत्मा पर अटूट श्रद्धा रखने वाला है । इसको बाह्य पर श्रद्धा नहीं है, आस्था भी नहीं है । वहां इसको अनावश्यक माना गया है । बहुत लम्बे समय तक आगमिक युग के अन्तर्गत यह सब बात बाह्य रही है । उसमें आत्मतत्त्व के चिन्तन पर ही बात टिकी रही । बाद में जब वैदिक दर्शन पर, अलग-अलग

शैव, वैष्णव और बौद्धों पर तन्त्र का प्रभाव पड़ा, शक्ति के अन्तर्गत दोनों में, बौद्धों में तारा, वैदिकों में दुर्गा और उनकी शक्तियों के तन्त्र का जब प्रचार बढ़ा, तब जैनों को लगा कि अब हम क्या करेंगे ? हम पर लोगों की श्रद्धा कैसे रहेगी ? हमारे शुष्क और केवल आत्मलक्षी सिद्धान्त पर कोई यकीन नहीं करेगा; तो पहले इन्होंने सोचा कि अन्यत्र से हम क्या ले सकते हैं ? अपने सिद्धान्त को छोड़कर आखिर शक्तितत्त्व में से कुछ लेने का सवाल था, तो उन्होंने सरस्वती की उपासना को, ज्ञान की उपासना को ग्रहण किया । कुषाण काल में भारत में सबसे प्राचीन सरस्वती की प्रतिमा जैनों की मिलती है । उसको श्रुत-देवता माना गया है । इसे आगम का, जिन वाणी का प्रतीक मान लिया गया । बाद में सवाल रहा कि इस तान्त्रिक साधना को किस हिसाब से ग्रहण करें ? क्या प्राप्त करने के लिये ? तो मुनिगण विहारों की आगम की प्रणाली को छोड़कर मन्दिर-वास करने लगे, बौद्ध भिक्षुओं की तरह । इन लोगों ने एक नई बात शुरू की कि वाद में विजय पाने के लिये, कवि बनने के लिये सरस्वती की साधना बहुत जरूरी है । इसीलिये जो सबसे प्राचीन सरस्वती के स्तोत्र मिलते हैं, उसमें एक कण्डिका तान्त्रिक आ जायगी और उसके अन्दर कोई अन्य ऐहिक कामना नहीं है, बस इतनी है ।

आध्यात्मिक तन्त्र के दो रूप हैं— ऐहिक और आध्यात्मिक । ऐसे आध्यात्मिक रूप का विकास जैनों में हुआ ही नहीं । निर्ग्रन्थ दर्शन में और बाद के इन स्तोत्रों-स्तवनों में इनका जरा भी स्पर्श नहीं है । आगे तान्त्रिक मण्डलों को बनाने की प्रवृत्ति चली । भक्तामर स्तोत्र आदि में हम इस प्रवृत्ति को थोड़ा थोड़ा देख सकते है । आखिर यह सब एकाएक आ गया, ऐसी बात नहीं है । करीब चौथी शताब्दी-पांचवी शताब्दी के आर्य खपट को विद्यावलि कहा है । विद्याओं का प्रवेश, षोडश महाविद्या, यक्ष-यक्षी तो बाद में आये । पहले आये केवल दो ही यक्ष सर्वानुभूति यक्ष और सखाण, जिसको दिगम्बर सम्प्रदाय में अम्बिका कहते है । यह सर्वानुभूति यक्ष अन्य कोई नहीं, कुबेर ही है और अम्बिका है पार्वती । अब इन दोनों को स्वीकार किया गया । जैन मूर्ति के संग संग छठी शताब्दी से हमेशा दोनों को संग देखते है । इनकी साधना उपासना शुरू हुई । षोडश महाविद्या तो अव्यक्त रही । बाद में इनकी भी मूर्ति-विधान की कल्पना की गयी और रोहिणी, प्रज्ञप्ति इन सब विद्याओं की उपासना शुरू हुई; लेकिन यह बहुत सीमित थी । बहुत कम मुनि लोग इसे करते थे, क्योंकि ये सब आगम विरोधी बाते थीं, आगम में निषेध है मन्त्र का । वहां मन्त्रविद्या, भैषज्यविद्या नक्षत्रविद्या, अंगविद्या इन सबका निषेध है । जो यह करे साधु नहीं, भिक्षु नहीं । ऐसी ऐसी बातें उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र तक के प्राचीन आगमों में मिलती हैं । यह विरोध अथर्ववेद से जो परम्परा चली थी, उसको लक्ष्य में लेकर किया गया था, क्योंकि वह उस जमाने के, ईसापूर्व के ग्रन्थ हैं, उसके बाद के नहीं । तन्त्र का विकास तो बहुत बाद में हुआ । उसकी यहां कोई चर्चा नहीं है ।

अब जब हम आठवीं शताब्दी में आते है, तब भद्रकीर्ति अपर नाम वप्पभट्टीसूरि ने तन्त्रवाद का निर्माण किया । इन्होंने ही महाविद्याओं के स्थूल

आकार की कल्पना की और उसी समय दक्षिण के निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय दिगम्बर, यापनीय वगैरह ने भी ऐसा ही स्वीकार किया । भद्रकीर्ति अपर नाम वप्पभट्टीसूरि का समय सात सौ पैंतालीस से आठ सौ पैंतीस है । इनके सभी स्तोत्र मिलते हैं— शान्तिदेवता स्तोत्र, सरस्वती के दो स्तोत्र आदि । शैली की दृष्टि से इसी तरह के एक दो और भी स्तोत्र हैं । इसके अलावा उनके जीवन के बारे में जो प्रबन्ध है, उनमें उनकी मन्त्रोपासना, तन्त्रोपासना के सम्बन्ध में लिखा गया है, तो हम मानते है कि वह ऐसी थी । अभी देखिये दोनों सम्प्रदाय, उत्तर और दक्षिण के, जैसे जैसे समय बीतता गया और तन्त्रवाद ने भारत में बहुत जोर पकड़ा, तो इनको कुछ करना पड़ा, सूरि मन्त्र का प्रारम्भ भी कुछ इसी तरह हुआ है । इसमे ॐ ह्रीं क्लीं वगैरह सब आता है । पद्मावती का एक स्तोत्र आप देखेंगे । यह पूर्णतया तन्त्रपद्धति को समर्पित अति-सुन्दर महाशक्तिशालिनी शैली में लिखा गया है । उसकी जो शब्दावलि और रचना-गुम्फन है, ऐसा मैंने अन्य स्तोत्र नहीं देखा । चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका आदि कितनी ही देवियों की कल्पना हुई । दूसरी तरफ पार्श्वनाथ का धर्मेन्द्र और पद्मावती के संग संकलन जब हुआ, तब उनकी उपासना चली । एक ही तीर्थंकर ऐसे थे कि जिनकी धरणेन्द्र ने सहायता की है, उसके पीछे उपसर्ग की कोई कल्पना थी । पद्मावती ने छत्र-धारण करके रोका था उपसर्ग को । पद्मावती कोई अन्य नहीं है, श्रीदेवता ही है ।

वह सब बाद में आता है । एहोल की गुफा में जो श्रीदेवी का स्वरूप दिखाया है, वह ईसापूर्व की ही श्रीदेवता है । सिरिमा देवता इसी प्रकार की है । कमल पर आसीन है । खाली छत्र है । बाकी कोई इसमें तान्त्रिक भाव नही है । बाद में तान्त्रिक भाव आया, जो श्वेताम्बरो को लम्बे समय तक मालूम नहीं था । नौवीं शताब्दियो मे किसी अज्ञात आचार्य ने आर्यनन्दील (पुराने आचार्य) के नाम से वैरोटचास्तव की रचना की । प्राकृत मे वैरोटचा नागिनी देवता है । इन स्तोत्र में पद्मावती का नाम वैरोटचा के सग धरणेन्द्र की पत्नी के रूप में दिया है । अब आगमों में धरणेन्द्र के संग ऐसा नाम ही नही मिलता । यह बाद की कल्पना है । आगम की तो बात अलग है । बाद के समवायंग स्थानांग को आप देखेंगे और इसके अलावा और भी जो प्राचीन शास्त्र है, उनमें यह उल्लेख नही है । स्पष्टतया यह बाद मे बना है । दक्षिण के सम्प्रदाय मे पद्मावती की प्रतिष्ठा ज्यादा रही है, प्रायः मध्यकाल तक और उसका प्रभाव अन्य तन्त्रों पर भी बहुत पड़ा है । पद्माम्बा कर्नाटक के अन्दर छा गयी और उनके बड़े-बड़े तीर्थ भी रहे है । हरेक शैव-वैष्णव मन्दिरो में आप पद्मावती की मूर्ति देखेंगे । सरस्वती और पद्मावती, यह जैन यानी निर्ग्रन्थ प्रभाव रहा वहा, लेकिन यह सब बाद का है, मध्यकाल का है । वहा भी भैरवपद्मावतीकल्पकार, कनकनन्दी और अनेक आचार्य हो गये है, इन्होंने बनाये है तान्त्रिक-मान्त्रिक ग्रन्थ । लेकिन प्रश्न यह है कि आखीर इनका उपयोग क्या है ? आध्यात्मिक दृष्टि से तो जैनो मे तन्त्र का विकास हुआ ही नहीं, जैसा बौद्धो मे हुआ और जैसा शाक्त, शैव और वैष्णव तन्त्रों में हुआ, ऐसी तो कोई बात नहीं ही है । श्रावकों को चाहिये धन, सत्ता । ये सब चाहिये तो आज

जो उपयोग हो रहा है मन्त्र–तन्त्र का, यह तो इसी कारण है, वहाँ और कुछ नहीं है, क्योंकि असल सिद्धान्त के तो यह विरुद्ध है । इन लोगों को आगमों को रखना भी है, इनको छोड़ नहीं सकते । अभी प्रायः १२ सौ साल से जैनो में तन्त्र आया है । इसे न छोड़ सकते हैं, न ही इसको जस्टिफिकेशन कर सकते है ।

प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी

मुझे जरा यह पूछना था कि हमारे यहाँ शाक्त तन्त्रों में पद्मावती का नाम आता है, दुर्गासप्तशती में, मार्कण्डेयपुराण में । पद्मावती का उल्लेख और जगह भी आता है, तो जैन सम्प्रदाय में स्वीकृत पद्मावती ऐतिहासिक दृष्ट्या पुरानी है कि शाक्त तन्त्र से ली गयी है, एक । दूसरी बात यह है कि आपने एं ह्रीं क्लीं की चर्चा की, तो सब विद्वान् बैठे है, कुछ साधक भी हैं । मेरी भी कुछ उपासना है । वह मेरी मदद करती है । ये जो बीजाक्षर हैं, ये किसी की सम्पत्ति नहीं है, चाहे शैव हों, चाहे बौद्ध हों । ये बीजाक्षर नियत हैं हमारे यहाँ और ये पूरी भारतीय परम्परा के बीजाक्षर हैं । अब विभिन्न तन्त्रों में इन्हीं बीजाक्षरों से मन्त्रों की संरचना हुई । जैनियों में जो बीजाक्षर लिये गये, वे भारतीय बीजाक्षर है । वे चले आ रहें हैं । वे प्रकट किसी शताब्दी में हुए हो, लेकिन उनका इतिहास अनिर्वचनीय है । मेरा कथन यह है कि एकाएक चतुर्थ शताब्दी में बीजाक्षर नहीं प्रकट हो गये ।

डॉ0 एम0 ए0 ढाकी

ऐसा है कि पद्मावती की प्रतिमा का विधान जो बाद में मिलता है, उसमें तो वह नागदेवता के रूप में है । उनके हाथ में भी सर्प है । उनके शिर पर त्रिफणा युक्त नाग है, पाश–अंकुश वगैरह तो रहता ही है । नीचे कुक्कुट–सर्प परम्परा उत्तर की ओर दक्षिण में कुक्कुट और सर्प आता है । यह पद्मावती का रूप इन्होंने अपना बनाया है । जहाँ तक शब्द की परम्परा से लेना है, ऐसा जैनो ने सीधा नहीं लिया । उन्होंने शाक्तों, बौद्धों की तरफ से लिया है । घण्टाकर्ण देव जैनों का नहीं है, इस बारे में पं0 लालचन्द्र गांधी ने जैन साहित्य संशोधक में बड़ा लेख लिया था । वह भैरव का एक स्वरूप है और एक जमाने में जैनों ने जबरदस्ती इसी भैरव को अपना लिया है, उसमें यह भैरव का भी स्वरूप आ गया है ।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

घण्टाकर्ण और मणिभद्र दोनों उनको वहाँ प्रिय है और उसकी पूजा होती है । इसका विधान बना रखा है ।

डॉ0 एम0 ए0 ढाकी

प्राचीन आगमों में यह नहीं है । आगम के भाष्य या चूर्णी में कहीं भी ये नाम हो तो उसको आप बता दीजिये ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

हमें जैन वाङ्मय में शतनाम और सहस्रनाम मिलते हैं । तो क्या वे भी बाद के कल्पित हैं ?

डॉ० एम० ए० ढाकी

सहस्रनामस्तोत्र जैनों में मिलते हैं । विष्णुसहस्रनाम, शिवसहस्रनाम की तरह ही जिनसहस्रनाम सबसे पहले भगवत् जिनसेन ने आदिपुराण में नौवीं शताब्दी में बनाया, बाद में हेमचन्द्र और अनेक लोगों ने बनाया । उसका एक बीज रूप नमोस्तु स्तव ईसापूर्व का है । "नमोत्थु नं अरहंतानं आदिकरानं तित्थंकरानं लोकानाहानं" यह सब जो नामावली आती है, उसमें आप कह सकते है कि बीज होगा । लेकिन बाद में कोई उसका सिलसिला चला हो ऐसा नहीं । एकाएक जब आ पड़ता है, तो आप जिनसेन या हेमचन्द्र को लेकर उसकी तुलना करेंगे, तो वैष्णव सहस्रनाम और इसमें से बहुत से नाम समान मिलते हैं । इनमें बहुत से नाम शिव के भी है । उनकी भी यहाँ जिनपरक व्याख्या कर दी जाती है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

अब यह बात सर्वमान्य है कि जैनों ने अपना यह जो तन्त्र का स्वरूप प्रस्तुत किया, उसमें आगे वह बढ़ नही पाये, या उन्होंने उसको इतना महत्त्व नहीं दिया । इसलिये आध्यात्मिक चित्त शक्ति से या कुण्डली से सम्बन्ध जोड़कर शाक्त उपासना का वे प्रयोग करते है, किन्तु यह जरूर है कि वहा भी कुछ था । इसे उन्होंने लोकदृष्टि से भले ही पल्लवित किया हो । मैं 'नमोत्थु नमः' के बारे में कहना चाहता हूँ । मैं बम्बई में एक जैन साहित्य विकास मण्डल में काम करता था । हम लोगों में एक श्री मूलशंकर शास्त्री थे, गुजराती । उनको अध्यात्मविद्या से कुछ ऐसा लगाव था कि दूर-दूर के स्थानों पर पड़ी हुई वस्तुओं का यथावत् लेखन करके बता देते थे । उन्होंने इसका प्रमाण भी दिया कि मद्रास में किसी आलमारी में कोई रजिस्टर रखा हुआ है, उसको वहाँ उन्होंने लिख करके बता दिया कि इतने नम्बर के पेज में इस हिसाब का यह लिखा हुआ है । उसे प्रामाणिक मान करके और हमने यह प्रयास किया कि 'नमोत्थु नमः का कल्प कहाँ मिल सकता है ? बड़ा प्रयास करने के बाद उन्होंने यही बताया कि चित्तौड़ के किले में जो कीर्तिस्तम्भ स्थापित है, उसके नीचे उसको दबा दिया गया है और चूंकि वह आपकी अपभ्रंशीय, अर्थात् अर्धमागधी भाषा में लिखा हुआ है, इसलिये मैं उसे बराबर पढ़ नहीं पाता । कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे आचार्यों ने, जैनाचार्यों ने उसकी जो उपयोगिता थी, वह तो उन्होंने मानी, परन्तु इससे कुछ गलत काम हो सकता है, इसलिये उसको हेय मान लिया ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

इसका प्रवेश भी बाद में हुआ है और विकास भी ज्यादा नहीं हो सका है ।

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

जैन तन्त्र पर चर्चा पहले भी हो चुकी है । इसलिये विशेष कुछ कहने की बात नहीं है । आचार्य सोमदेव ने इस बात को बड़े सीधे शब्दों में कहा है कि तन्त्र का विकास क्यों नहीं हो पाया—

द्वौ हि धर्मौ विशिष्टानां लौकिकः पारलौकिकः ।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रितः ॥

इसका नियामक तत्त्व भी बताया—

सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥

सम्यक्त्व की हानि और व्रतदूषण का, पंचमकार और बलि का, पशुबलि का विधान यदि हम करेंगे, तो सम्यक्त्व की हानि और व्रतदूषण तो होगा ही ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

इसलिये जैन तन्त्रों में पंचमकार नहीं है । इसकी जगह उड़द और तिल का होम वे करते हैं ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक सूचना मैं दे दूँ । तब इस सत्र को समाप्त करते हैं । कर्णाटक में जैन शास्त्रों का और जैन धर्म का बहुत विकास हुआ है । कर्णाटक के ही एक व्यक्ति हैं लक्ष्मीधर, जिन्होंने सौन्दर्यलहरी पर लक्ष्मीधरा टीका लिखी है । आप कहते हैं बहुत विकास नहीं हुआ, यहाँ मैं पूरा उद्धरण नहीं दूँगा, किन्तु "दिगम्बरास्तु" कह करके जो विवरण दिया है, वह शाक्त तत्त्वों से भरा हुआ है ।

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

क्या दिगम्बर शब्द यहाँ नागा साधुओं का बोधक नहीं हो सकता ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

इस विषय में मौन साध लेना ही उचित होगा । मै आप लोगो का ध्यान अपने उस वक्तव्य की ओर दिलाना चाहता हूँ, जिस पर जैन तन्त्रों के प्रसंग में ही चर्चा हो चुकी है । प्रारंभिक जैन विचारों और परवर्ती जैन विचारों मे विषमता की समस्या केवल जैन विचारको तक ही सीमित नही, वैदिक और बौद्ध धर्मो के अनुयायियो के सामने भी वे आती है । इन दोनों धर्मों ने तो इनमे परस्पर समन्वय स्थापित कर लिया है, किन्तु ऐसा लगता है कि डॉ० नथमल टाटिया जैसे कुछ प्रबुद्ध विचारको को हम छोड़ दें, तो जैन विद्वान् उक्त तीन कालखण्डों मे विकसित अपने ही आध्यात्मिक और कर्मकाण्डीय विचारो में सामजस्य नही बैठा पाये हैं । यदि यह कार्य अब भी हो सके, तो यह इस कार्यशाला की सफलता मानी जायगी ।

•

शैव तन्त्र

दिनांक ८ फरवरी को पूर्वाह्ण में सम्पन्न हुए सत्र में दो निबन्ध पढ़े गये, जिनका संबन्ध शैव तन्त्रों से था । वसन्त पंचमी के इस पावन पर्व पर पहले सरस्वती पूजन सविधि सम्पन्न हुआ और प्रसाद वितरण के बाद जम्मू-श्रीनगर के ख्यातनामा प्रोफेसर श्री बलजिन्नाथ पंडित द्वारा निबद्ध "काश्मीर शैव दर्शन में दीक्षा" शीर्षक निबन्ध का पाठ उनकी अनुपस्थिति में इस शोध योजना के वरिष्ठ सदस्य शोधपरामर्शक पण्डित श्री जनार्दन शास्त्री पाण्डेय जी ने किया । इसके बाद गुलबर्गा (कर्णाटक राज्य) से आये डॉ० चन्द्रशेखर शि. कपाले ने "वीरशैवों के दीक्षादि विधिविधान" शीर्षक अपना निबन्ध पढ़ा । विचार-विनिमय दोनों निबन्धों पर एक साथ हुआ । इसमें प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ० एम० ए० ढाकी, प्रो० नथमल टाटिया, प्रो० पी० पी० आपटे, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, डॉ० राजनाथ त्रिपाठी, डॉ० रमा घोष, आचार्य नवङ् समतेन, प्रो० चन्द्रशेखर शि. कपाले और प्रो० एन० आर० भट्ट ने भाग लिया ।

इसी दिन अपराह्ण के सत्र में सिद्धान्त शैवागमों के प्रसिद्ध विद्वान् पाण्डिचेरी के फ्रेंच इंस्टीट्यूट से गृहीतावकाश प्रो० एन० आर० भट्ट ने सिद्धान्त शैव शाखा की पृष्ठभूमि में दक्षिण के शैव मन्दिरों की पूजापद्धति पर विशेष प्रकाश डालने वाला अपना निबन्ध पढ़ा । विचार-विनिमय में प्रो० पी० पी० आपटे, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, डॉ० एम० ए० ढाकी, श्री लोसंग नोर्बु शास्त्री, प्रो० एन० आर० भट्ट, श्री पी. तेनजिन, डॉ० चन्द्रशेखर शि. कपाले, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो० एस० एस० बहुलकर और प्रो० नथमल टाटिया ने भाग लिया ।

काश्मीर शैव दर्शन में दीक्षा

-डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित-

मानव जीवन का प्रयोजन

मानव जीवन का लक्ष्य भोग है या मोक्ष, इस विषय में काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में ये दोनों ही प्रयोजन मानव जीवन के लक्ष्य माने गये हैं । तदनुसार जब तक मानव के अन्तस्तल में भोग की वासना उभरती ही रहे, तब तक उसकी मोक्षसाधना सफल नहीं हो पाती । इसी विचार से कश्मीर के शैव साधक और शैव गुरु प्रायः सभी गृहस्थी हुआ करते थे । शास्त्रीय परम्परा और लोकाचार इन दोनों के अनुसार चलते हुए न्यायोचित विषय-भोग का आस्वाद लेते हुए साथ-साथ तान्त्रिक मोक्षसाधना का भी अभ्यास किया करते थे । उसके अभ्यास के फलस्वरूप ज्यों ही उन्हें आत्म-आनन्द का आस्वाद आने लगता था, त्यों ही उनकी दृष्टि में उस आनन्द

के चमत्कार के सामने समस्त विषय-भोगों का स्वाद फीका पड़ जाता था । वैसा होते रहने पर उनके हृदय में विषय-भोगों के प्रति स्वतःसिद्ध स्वाभाविक विरक्ति हो जाती थी । उस स्वाभाविक विरक्ति को आचार्य अभिनवगुप्त ने अनादर विरक्ति कहा है[1] । इसी दृष्टि को लेकर के तन्त्रशास्त्र के अनेकों ऋषियों ने भोग और मोक्ष दोनों को ही तन्त्रशास्त्र का फल और जीवन का प्रयोजन बताया और इन दोनों के ही उपायों का उपदेश किया ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

भारत के कई एक दर्शन यह सिखाते हैं कि मोक्ष-प्राप्ति उसी साधक को होती है, जो कटिबद्ध होकर उसके लिये विशेष यत्न करता रहे । परन्तु काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति की चाबी मूलतः मानव के हाथ में न होकर परमेश्वर के ही हाथ में रहती है । इस दर्शन के आचार्यों ने शिव के अनुग्रह-शक्तिपात को ही मोक्षप्राप्ति का मूल कारण ठहराया है । विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा, शम, दम, तितिक्षा, सन्तोष, भक्ति इत्यादि जितने भी मोक्ष-प्राप्ति के साधन माने गये हैं, उनकी वांछनीयता शैव दर्शन में मानी तो गई है, परन्तु इन सभी साधनों का मूलभूत और आधारभूत कारण शिव के अनुग्रह शक्तिपात को ही ठहराया गया है । तदनुसार जिस किसी व्यक्ति पर शिव का अनुग्रह-शक्तिपात हो चुका हो, उसी के हृदय में शिव की भक्ति का उदय होता है[2] और उसी में विवेक, वैराग्य, मुमुक्षा आदि भाव भी उभर आते हैं । फिर एक और बात यह भी है कि सामर्थ्यशाली शिवगुरु जिस पर चाहे उस पर अनुग्रह करते हुए उसे अपने योग-बल से और मन्त्र-बल से मुक्ति के मार्ग पर प्रवृत्त कर सकता है ।

इस दृष्टिभेद का कारण यह है कि भारत के अनेक दर्शन–शास्त्रों ने बन्धन का कारण अनादि अविद्या को, अर्थात् अनादि अज्ञान को माना है । अतः उसे नष्ट करने के लिये मोक्ष के साधनों का उपदेश करते हुए यही शिक्षा दी गई है कि मोक्ष के अनुकूल साधनों के अभ्यास के प्रति प्राणी को स्वयं यत्न करना चाहिये ।

---

१. अनादरविरक्त्यैव गलन्तीन्द्रियवृत्तयः ।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत् तावद् विकुर्वते ॥ (मा. वि. वा. २.११२)

२. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् । (तत्रैव १.६९७)

काश्मीर शैव दर्शन ने तान्त्रिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए उस यत्न को ठुकरा तो नहीं दिया है, परन्तु साथ ही यह बात स्पष्ट कह दी है कि उस यत्न में भी उसी की प्रवृत्ति हो सकती है, जिस पर शिव का या शिवतुल्य योगी का अनुग्रह शक्तिपात हो चुका हो[१]। फिर इस शास्त्र में दीक्षा के कई एक ऐसे प्रकार भी बताये गये हैं, जिनके द्वारा आपाततः मोक्ष का अनधिकारी प्रतीत होने वाला भोगी व्यक्ति भी गुरु के अनुग्रह से मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस शास्त्र के अनुसार शिवभक्ति का भी उदय उसी व्यक्ति के हृदय में हो पाता है, जिस पर शिव का अनुग्रह हो चुका हो।

लीला सिद्धान्त एवं शक्तिपात

शैव दर्शन में मूलभूत परम अद्वैत तत्त्व को परमशिव, अर्थात् परमेश्वर कहा गया है। संसार में होने वाले बन्धन के और मोक्ष के आभास को भी उस परमेश्वर की परमेश्वरता की ही अभिव्यक्ति ठहराया गया है। तदनुसार परमेश्वर बद्ध प्राणी के रूप में प्रकट होकर बन्धन लीला का अभिनय करता है और वही मोक्षमार्गगामी साधक के रूप में प्रकट होता हुआ मोक्ष लीला का भी अभिनय करता है। अतः बन्धन और मोक्ष, दोनों का मूल कारण स्वयं परमेश्वर ही है, ऐसा शैव दर्शन का सिद्धान्त है[२]। परमेश्वर अपनी परमेश्वरता की लीला में स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप को और स्वभाव को भुला कर अज्ञानी तथा बद्ध प्राणी के रूप में प्रकट होकर संसारी जीव की लीला का प्रदर्शन करता है। वही भक्ति, ज्ञान और योग के अभ्यास से स्वयं अपने आपको मानो मुक्त कर देता है। इस तरह से शैवदर्शन के अनुसार बन्ध-मोक्ष की लीला को परम अद्वैत परशिव तत्त्व का नैसर्गिक स्वभाव माना गया है। तदनुसार उसकी निग्रहशक्ति के विलास से वही बद्ध जीव के रूप में बन्धन लीला का अभिनय करता रहता है और उसी की अनुग्रहशक्ति के विलास से जीव मोक्षमार्ग में प्रवृत्त होता हुआ क्रम से, या अक्रम से या व्युत्क्रम से अपने वास्तविक परमेश्वरभाव को पहचानता हुआ

---

१. शक्तिपातवशाद् देवि नीयते सद्गुरुं प्रति। (प. सा. टी., पृ. ८)

२. एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे॥ (बो. प. द. १४)

स्वयं अपने वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार करता है[१]। ऐसा करता हुआ वह इस निश्चय पर पहुँच जाता है कि समस्त विश्व की, सृष्टि-संहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों की तथा सभी जीवों के जीवन, मरण, बन्धन, मोक्ष आदि की लीला एकमात्र उसी की अपनी स्वभावभूता असीम परमेश्वरता के दिव्यातिदिव्य स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है।

इस प्रकार इस लीला सिद्धान्त की प्रधानता के कारण और अनुग्रह कृत्य की नाटयलीलात्मकता के कारण काश्मीर शैव दर्शन के द्वारा उपदिष्ट आगमिक साधना में दीक्षा विषय का निरूपण खूब विस्तार से किया गया है। इस लीला विलास में समस्त बद्ध प्राणियों की प्रवृत्तियाँ और योग्यताएँ अनेक स्तरों की हुआ करती हैं, अतः उनके लिये अनेक स्तरों वाली अनुग्रह लीला उपयुक्त हो सकती है[२]। इस विश्वमयी सुविचित्र लीला में परमेश्वर जिस किसी प्राणी पर अनुग्रह शक्तिपात करता है, वही प्राणी किसी सच्चे सद्गुरु की शरण में आता है। वह गुरु उसे तदुचित शैली वाली साधना की दीक्षा देता है और तदनुसार अभ्यास करने से शिष्य में अपने भुला डाले गये वास्तविक चिन्मय स्वरूप की तथा अपने पारमेश्वर स्वभाव की पुनः स्मृति जाग उठती है। ऐसा होते ही वह प्राणी अपने आपको परिपूर्ण परमेश्वर के रूप में पहचान लेता है। अपनी इस वास्तविकता की पहचान को शैव दर्शन में प्रत्यभिज्ञा कहते हैं।

परमेश्वर समस्त जीव निकाय पर सदा एक जैसा अनुग्रह नहीं करता। फिर वह किसी पर एक साथ पूरा अनुग्रह भी प्रायः नहीं करता। यदि वह सभी पर एक जैसा ही अनुग्रह करता रहता और एक साथ ही पूरा अनुग्रह करता रहता, तो इस संसार-लीला में कोई वैचित्र्य कभी आता ही नहीं। यह विश्व-प्रपंच एक दिव्यातिदिव्य नाटयलीला का दृश्य न होता हुआ एक कारखाने जैसा प्रतीत होता। तब इसमें कोई भी चमत्कार नहीं रहता। नाटय लीला में

---

१. स्फुरन् क्रमेणाक्रमेण विक्रमेण च सन्ततम्।
स्वस्मिन्नेवोरुक्रमोऽयं क्रमते रमतेऽपि च ॥ (वि. शा. १८)

२. चित्तभेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो वरानने।
व्याधिभेदाद् यथा भेदो भेषजानां महौजसाम्
यथैकं भेषजं ज्ञात्वा न सर्वत्र भिषज्यति।
तथैकं हेतुमालम्ब्य न सर्वत्र गुरुर्भवेत् ॥ (त. आ. वि., ख.३, पृ.५५)

तो चमत्कार पात्रों की अपनी-अपनी विचित्रता से ही आता है । इस विश्वात्मक महानाटक के उस सूत्रधार ने अपने विश्वमय नाटक को चमत्कारपूर्ण बनाये रखने के लिये इसमें निग्रह लीला के और अनुग्रह लीला के अभिनय में इतनी विचित्रता भर रखी है कि कोई भी दो व्यक्ति सर्वथा एक जैसे नहीं होते । सभी का अपना-अपना विचित्र व्यक्तित्व बना रहता है । इस विषय को लेकर परमेश्वर पर पक्षपात की शंका का कोई भी अवसर नहीं है । पक्षपात वहां होता है, जहाँ दो पक्ष हों । परमेश्वर सब कुछ स्वयं ही है; अतः उसके परम अद्वैत स्वभाव में जब दूसरा कोई पक्ष है ही नहीं, तो पक्षपात की शंका काहे की[१] ।

यह बात निश्चित है कि इस विश्वमयी लीला के अभिनय में परमेश्वर अनेक प्रकार से अनुग्रह-शक्तिपात करता रहता है । दर्शनकारों ने उस शक्तिपात के मूलतः तीन प्रकार माने हैं—तीव्र, मध्य और मन्द । फिर उनमें से भी एक एक के तीन तीन प्रकार माने गये हैं, जैसे तीव्रतीव्र, मध्यतीव्र, मन्दतीव्र इत्यादि । इस तरह से नौ प्रकार बन जाते हैं । इन मुख्य नौ प्रकारों के आगे असंख्य प्रकार बनते हैं, जिनसे इस संसार में मुमुक्षुजनों की परस्पर अनन्त प्रकार की विचित्रता की व्याख्या की जा सकती है । इसी तरह से निग्रहलीला भी असंख्य वैचित्र्य को लेकर चला करती है । पारमेश्वरी लीला के अभिनय की ऐसी विचित्रता के कारण दीक्षा के भी अनेक प्रकार सिद्धजनों ने ठहराये हैं । आचार्य अभिनवगुप्त ने दीक्षा के जिन मुख्य प्रकारों का निरूपण तन्त्रालोक में किया है, उनका थोड़ा बहुत दिग्दर्शन अगले पृष्ठों में किया जा रहा है ।

अनुपाय योग

जिस प्राणी पर परमेश्वर अत्यन्त तीव्रतर अनुग्रह-शक्तिपात करें, उसे गुरु अनुपाय योग की दीक्षा देता है । तदनुसार गुरु शिष्य पर अनुग्रहपूर्ण भाव से या तो दृष्टिपात मात्र करता है, या उसके मस्तक पर करस्पर्श मात्र करता है, अथवा उसे खाने को कुछ प्रसाद देता है । इतने से ही उसके भीतर शिवभाव के आवेश का प्रसार इस

---

१. न च वाच्यम्, कस्मात् कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति । स एव परमेश्वरस्तथा भाति, इति सतत्त्वे कोऽसौ पुमान् नाम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम् । (त. सा., पृ. ११९)

तरह से हो जाता है, मानों किसी के शरीर में बिजली का संक्रमण हो जाय । बस, इतने से ही उसको अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है । ऐसी दीक्षा को दृष्टिदीक्षा, स्पर्शदीक्षा आदि नाम दिये गये हैं । जिस साधक पर किये गये तीव्र शक्तिपात की तीव्रता इतनी अधिक वेग से युक्त नहीं होती, उसे गुरु उपदेश के द्वारा तत्त्वज्ञान की बातें समझा देता है । उसे कहा जाता है— तू सचमुच परिपूर्ण परमेश्वर है । अपनी परमेश्वरता की लीला के विलास में तूने अपने उस वास्तविक स्वभाव को भुला डाला है । उसे पुनः स्मरण करते हुए अपनी परिपूर्ण परमेश्वरता का आस्वाद क्यों नहीं लेते हो[१] ? इस तरह से समझाए जाने की क्रिया को ज्ञानदीक्षा कहते हैं ।

किसी भाग्यशाली महानुभाव पर यदि परमेश्वर मध्यतीव्र अनुग्रह शक्तिपात करें, तो उसे बिना किसी भी प्रकार की दीक्षा के और बिना किसी लौकिक गुरु के उपदेश के अपने आप अपने पारमेश्वर स्वभाव की प्रत्यभिज्ञा का उदय हो जाता है । उसके भीतर एवमेव एक दिव्य प्रतिभा का उदय हो जाता है, जिससे उसे अपनी परमेश्वरता का स्वयमेव साक्षात्कार हो जाता है । उसके उस आत्मसाक्षात्कार को अपनी प्रतिभा से उदित होने वाला प्रातिभ ज्ञान कहते हैं[२] । ऐसे भाग्यशाली साधक के विषय में यह कहा जाता है कि दिव्य योगिनियाँ अपने प्रभाव से उसके भीतर उदित होते हुए उस प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को किसी अदृश्य ढंग की दीक्षा से जगा देती है[3] । ऐसी दीक्षा को योगिनी-दीक्षा कहा जाता है । शैव दर्शन की दृष्टि के अनुसार दीक्षा के बिना शैव योग में प्रवेश का अधिकार नहीं बनता । शैवी योग-दीक्षा के ये सभी प्रकार अनुपाय योग के भीतर गिने जाते हैं । उस योग को इसलिये अनुपाय नाम दिया गया है कि उसमें किसी धारणा, ध्यान, समाधि, भावना आदि का अभ्यास नहीं करना पड़ता । फिर यदि उन दृष्टिपात, करस्पर्श, प्रसादप्रदान,

---

१. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद् घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ॥ (त. सा., पृ. ९)

२. मध्यतीव्रात् पुनः सर्वमज्ञानं विनिवर्तते ॥
स्वयमेव यतो वेत्ति बन्धमोक्षतयात्मताम् ।
तत् प्रातिभं महाज्ञानं शास्त्राचार्यानपेक्षि यत् ॥ (त. आ. १३.१३१–३२)

३. देवीभिर्दीक्षितस्तेन सभक्तिः शिवशासने । (त. आ. १३.१४२)

योगिनीदीक्षा आदि को उपायों में ही गिना जाय, तो 'अनुपाय' पद का अर्थ होगा 'स्वल्पोपाय', जैसे पतली कमर वाली सुन्दरी को 'अनुदरा कन्या' कहा जाता है ।

शाम्भवोपाय

अनुपाय योग से केवल एक सीढ़ी नीचे के स्तर का योग शाम्भवोपाय कहलाता है । इसे शाम्भव योग भी कहते हैं । इसका दूसरा नाम है 'इच्छायोग' या 'इच्छोपाय' । इस योग की प्रक्रिया को सिखाने वाला गुरु शिष्य को तीव्रतर अनुग्रह का पात्र बनाते हुए उसे यह उपदेश देता है कि यह समस्त विश्व शुद्ध और असीम चित्प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्बवत् प्रकाशित होता रहता है; जैसे नील, पीत इत्यादि वर्ण शुद्ध स्फटिकशिला में प्रतिबिम्ब बनकर आभासित होते रहते हैं । स्फटिक जड़ होता है, परतन्त्र और शक्तिहीन होता है । अतः वह बाह्य विषयों के साथ सम्पर्क की महिमा से ही अपने में उन नील-पीत आदि विषयों का आभासन कर सकता है । परन्तु परमेश्वर चित्प्रकाश है, स्वतन्त्र है, चिदानन्दघन है तथा अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण है । अतः वह अपने चिदानन्द की मस्ती में घूर्णित सा होता हुआ अपनी ही शक्तियों के प्रतिबिम्ब का आभासन अपने ही चित्प्रकाश के भीतर बहिर्मुखता की दृष्टि से करता रहता है । उसकी यह प्रतिबिम्बन-क्रिया ही समस्त विश्व है तथा इस विश्व के सृष्टि-संहार आदि भी वही प्रतिबिम्बन क्रिया ही है । घर में छिपे पड़े खज़ाने की कोई विशेष महिमा नहीं है । विशेष महिमा तो उसके दर्शन में और उसके उपयोग में है । परमेश्वर की शक्तियाँ अनवच्छिन्न आनन्दघन तो हैं, परन्तु उनकी उस आनन्दघनता का विशेष चमत्कार उनकी इस प्रकार की बहिर्मुख अभिव्यक्ति के दर्शन में ही होता है । इसीलिये वह असीम पारमेश्वर आनन्द बहिर्मुखतया छलकता हुआ ही सर्वोत्तम चमत्कारमय बनता रहता है ।

इस प्रकार के सत्य सिद्धान्त को साक्षात् अनुभव में लाने के लिये गुरु शिष्य को शाम्भवोपाय की दीक्षा के द्वारा सर्वोत्कृष्ट योगसाधना को सिखा देता है । उसे वह इस तरह से शिक्षा देता है— अपने शुद्ध पारमेश्वर स्वरूप का दर्शन निर्विकल्प विमर्श के द्वारा होता है । विमर्श सदैव शाब्दी अभिव्यक्ति से युक्त होता है । उस अभिव्यक्ति को अभिलाप कहते हैं । शाम्भवी योगसाधना विकल्पों से उत्तीर्ण निर्विकल्प विमर्श के द्वारा ही की जा सकती है ।

निर्विकल्प विमर्श भी उस शाब्दी अभिव्यक्ति से युक्त होता है, जिसे अभिलाप कहा जाता है । शाम्भवी साधना में वैसी अभिलापरूपिणी अभिव्यक्ति संकेतरहित सूक्ष्मतर शाब्दी कलना से हुआ करती है । वह सूक्ष्मतर शब्दमयी कलना (कल्पना नहीं) वाक्यों और सविभक्तिक शब्दों के द्वारा न होती हुई वर्णमाला की विभक्तिहीन ध्वनियों से हुआ करती है । तदनुसार 'अ' यह वर्ण अनुत्तर परम तत्त्व का अभिव्यजक होता है । 'आ' से लेकर 'औ' तक के वर्ण तथा उनकी ध्वनियाँ उस परम तत्त्व की पारमेश्वरी अन्तरंग शक्तियों का अभिव्यंजन करती हैं । 'अं' वर्ण इस बात को अभिव्यक्त करता है कि समस्त विश्व 'अ' के भीतर, अर्थात् पारमेश्वर परतत्त्व के भीतर विद्यमान रहता है । 'अः' वर्ण से इस बात की अभिव्यक्ति होती है कि वह परम तत्त्व अपने भीतर विद्यमान समस्त विश्व की बहिर्मुखतया अभिव्यक्ति करने के लिये सदैव उन्मुख बना रहता है । बहिर्मुखी अभिव्यक्ति को ही सृष्टि आदि नाम दिये जाते हैं । इसीलिये इस सोलहवें वर्ण का नाम ही विसर्ग है ।

परमेश्वर की इन अन्तरंग पारमेश्वर शक्तियों की जो बहिर्मुखी अभिव्यक्ति प्रतिबिम्ब न्याय से होती है, वही छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि कहलाती है । तदनुसार क से लेकर ह (या क्ष) तक के व्यंजन वर्ण पृथ्वी से लेकर शक्ति तक के तत्त्वों को अभिव्यक्त करते रहते हैं । शाम्भव योग की ऐसी मातृका नाम की प्रक्रिया का अभ्यास करने वाला साधक निर्विकल्प दृष्टि से यह देखता है—"मैं शुद्ध चिन्मय अनुत्तर तत्त्व 'अ' हूँ । मेरी पारमेश्वरी आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नाम की शक्तियाँ आ से लेकर औ तक की ध्वनियों द्वारा अभिव्यक्त होती रहती हैं । उन शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्ब ही पृथ्वी से लेकर शक्ति नाम के तत्त्वों के रूप में प्रकट होते हुए 'क' से लेकर 'क्ष' तक के व्यंजन वर्णों की ध्वनियों से अभिव्यक्त हो रहे हैं । इस तरह से असीम चिदानन्द स्वरूप मैं अपनी शक्तियों के इन विश्वात्मक प्रतिबिम्बों की अभिव्यक्ति से अत्यन्त सुन्दर रूप में चमक रहा हूँ ।" इस प्रकार के इस आत्मदर्शन के अभ्यास से साधक को परिपूर्ण और पारमेश्वर शिवभाव अपने ऊपर रूढ़ हो जाता है । वह स्वयं अपने शिवभाव के साक्षात् दर्शन और विमर्शन का अभ्यास करता-करता उस भाव पर इतना रूढ़ हो जाता है कि बिना इस अभ्यास के भी अपने आपको सदा परिपूर्ण परमेश्वर समझता रहता है । वैसा समझते रहने से वह सांसारिक व्यवहारों को निभाता

हुआ भी अपने शिवभाव में ही सदैव अवस्थित रहा करता है। शाम्भवोपाय की इस प्रक्रिया को मातृका-योग कहते हैं।

इस बिम्बप्रतिबिम्ब भाव का आश्रय लेने वाली मालिनी नाम की एक और शाम्भवी योग की प्रक्रिया कश्मीर में प्रचलित रही है। मातृका प्रक्रिया सैद्धान्तिक दृष्टि पर आश्रित है और यह मालिनी प्रक्रिया व्यावहारिक दृष्टि पर। जगत् के व्यावहारिक स्वरूप में छत्तीसों तत्त्व प्रक्षुब्ध भाव से परस्पर अनिश्चित क्रम में मिले जुले रहते हैं। अतः इन्हें अपने चित् स्वरूप के भीतर इसी तरह से मिले जुले रूप में ही प्रतिबिम्बित होते हुए देखने का अभ्यास विशेषतया उपयुक्त बन सकता है। इसीलिये मालिनी के उपासक वर्णमाला के वर्णों का साक्षात् दर्शन प्रक्षुब्ध क्रम में ही करते हुए इन्हें 'न' से आरम्भ करके 'फ' पर समाप्त करते हैं। अन्य सभी वर्णों को अत्यन्त प्रक्षुब्ध क्रम में ही इन दो के बीच में ठहरा कर उनके द्वारा विमर्श करते रहते है। तदनुसार ही तत्त्वों का दर्शन भी प्रक्षुब्ध क्रम में ही किया करते हैं। इस तरह से वे अपने शुद्ध चिन्मय स्वरूप के भीतर अपनी पारमेश्वरी शक्तियों को और उनके प्रतिबिम्बों के रूप में चमकते हुए छत्तीस तत्त्वों को प्रक्षुब्ध क्रम से देखते हुए इन शक्तियों और उनके इन प्रतिबिम्बों की चिन्मयी आभा से अत्यन्त सुन्दर बने हुए अपने अनुत्तर चिन्मय स्वरूप को साक्षात् देखते-देखते चिदानन्द के चमत्कार का आस्वाद लेते हुए कृतकृत्यता का अनुभव किया करते हैं। यह मालिनी नाम की प्रक्रिया सद्यः सिद्धिप्रद और भोग-मोक्षप्रद मानी गई है। प्रतिबिम्ब सदा बिम्ब से उल्टा दीखता है। बिम्ब का दायां भाग प्रतिबिम्ब में बायां हो जाता है। परमेश्वर की शक्तियां उसके भीतर आत्मतया, अर्थात् 'अहं' इस रूप में रहती हैं। परन्तु उनके बहिर्मुख प्रतिबिम्ब, अर्थात् समस्त सृष्ट तत्त्व तथा सारा जगत् प्रमेयतया, अर्थात् 'इदं' इस रूप में, दीखते हैं। शाम्भव योगी इस सत्य का साक्षात् दर्शन करता है कि समस्त विश्व मुझसे ही प्रकट हुआ है, मेरे ही चित्प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्बतया प्रकट हुआ है और मुझसे सर्वथा अभिन्न है[1]।

शाम्भवी योग-दीक्षा में इन तीन प्रकारों की दृष्टि से समस्त विश्व को देखने का अभ्यास सिखाया जाता है। परन्तु ऐसा दर्शन

---

१. मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।
मदभिन्नमिदं चेति त्रिधोपायः स शाम्भवः॥ (त. आ. ३.२८०)

बुद्धि की कल्पना के द्वारा नहीं किया जा सकता । इस दीक्षा में अपने ऐसे स्वभाव को लेकर स्वयं अपने ही साक्षात्कारात्मक दर्शन और विमर्शन का अभ्यास सिखाया जाता है । शाम्भवी साधना के अभ्यास के अवसर पर सभी अन्तःकरण अकर्मण्य होकर साधक के अपने स्वरूप में विलीन होकर रहते हैं और आत्मदेव स्वयं अपने ही चित्प्रकाश से चमकता हुआ तदनुसार अपने स्वरूप का और स्वभाव का विमर्शन करता रहता है । शाम्भवी साधना के कई एक अन्य प्रकारों की भी दीक्षा दी जाती है । उन सभी के भीतर निर्विकल्प आत्मदर्शन ही सिखाया जाता है । इस अभ्यास में एक बात के प्रति अवश्य ही सावधान रहना पड़ता है कि साधक सुषुप्ति में लीन न होकर उसके पार ठहरी हुई चिदानन्द प्रकाशमयी तुर्या दशा में ही टिका रहे । यदि साधक सुषुप्त हो जाए तो शाम्भवी साधना "ज़ेन" नामक बौद्ध साधना की स्थिति पर, या श्रीकृष्णमूर्ति के शिष्यों के द्वारा प्रचारित विचारशून्यता की दशा पर, अथवा महेश योगी के भावातीत ध्यान की पदवी पर उतर आती है और साधक को सुषुप्ति में ही विलीन करके प्रलयाकलों में उसकी भरती करा देती है । मातृका योग का विस्तृत निरूपण तन्त्रालोक के तीसरे आह्निक में और मालिनी का परात्रीशिका (जिसे प्रमादवश परात्रिंशिका कहा जाता है) के विवरण में किया गया है । परन्तु फिर भी कई एक बातें रहस्य ही रखी गई हैं ।

TA

शाक्तोपाय

शाक्तोपाय की दीक्षा में शिष्य को अपने वास्तविक चिन्मय स्वरूप के और अपने पारमेश्वर स्वभाव के सविकल्प ज्ञान की परम्परा का अभ्यास बुद्धि के द्वारा कराया जाता है । वह अभ्यास सविकल्प ज्ञान का अभ्यास होता है । तदनुसार साधक को अपनी बुद्धि के क्षेत्र में सतत गति से विकल्पात्मक ज्ञान के द्वारा अपने वास्तविक चिन्मय स्वरूप का तथा अपने पारमेश्वर स्वभाव का पुनः पुनः विमर्शन करने का अभ्यास सिखाया जाता है[१] । उस अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर उसका वह सविकल्प ज्ञान उस पर इतना रूढ़

---

१. यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि कर्म-
सम्पाशितोऽस्मि मलिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि ।
इत्येतदन्यदृढनिश्चयलाभसिद्ध्या
सद्यः पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ॥ (त. सा., पृ. ३२)

हो जाता है कि उस विकल्प ज्ञान के अभ्यास के बिना भी साधक को अपने पारमेश्वर स्वभाव का निश्चय पक्का बना रहता है । तब शाक्त साधना शाम्भवी अवस्था पर रूढ़ हो जाती है । यहाँ तक की योगप्रक्रियाएं साधक के अपने स्वरूप या स्वभाव तक ही सीमित रहती हैं, आत्मस्वरूप से भिन्न किसी भी अन्य पदार्थ को आलम्बन नहीं बनाती ।

आणवोपाय

इनसे नीचे आणव योग की दीक्षा का स्तर आता है । उसके कई एक प्रकार हैं । उन प्रकारों के पहले वर्ग में प्राणी की बुद्धि को, प्राणशक्ति को, शरीर और उसके नाड़ी-चक्रों को तथा प्राण-अपान की गति और ध्वनि को साधना का आलम्बन बनाते हुए शिवभाव की भावना को पक्का करने के ढंग सिखाये जाते हैं । आणव योग की प्रक्रियाओं के इस वर्ग को ग्राह्य-वर्ग कहते हैं । इससे निचला वर्ग बाह्य-वर्ग कहलाता है । उसमें काल और देश के सूक्ष्मतर, सूक्ष्म और स्थूल रूपों को लेकर के उन्हीं को धारणा का आलम्बन बनाकर उनके द्वारा समस्त विश्व की शिवात्मकता की भावना का अभ्यास सिखाया जाता है । आणव योग के ग्राह्य-वर्ग में सबसे उत्तम आलम्बन बनती है साधक की बुद्धि । उसके सम्बन्ध में जो दीक्षा दी जाती है, उसमें साधक को यह सीखना होता है कि वह अपनी हृदयगुहा में प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय, इन तीनों के एकाकाररूप की भावना (कल्पना) करता हुआ उसको एक समुज्ज्वल अग्निपुंज के रूप में बुद्धि के द्वारा देखे, साथ ही चारों ओर से बारह पारमेश्वरी शक्तियों के चक्र को उसकी ज्वालाओं के रूप में देखे । फिर यह भावना (कल्पना) करे कि इन्द्रियों के द्वारों से वह शक्तिचक्र बाहर निकलता हुआ एक एक ग्राह्य विषय की सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान और अनुग्रह इन पांचों ही क्रियाओं को क्रम से करता जाता है । ऐसे अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर साधक को अपने शिवभाव की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है । इस योग को बुद्धिध्यान कहा जाता है ।

इससे नीचे वाली साधना का आलम्बन साधक की प्राणशक्ति है । उस पर आश्रित योगधारणा को उच्चार-योग कहते हैं । उसकी दीक्षा में यह सिखाया जाता है कि इन्द्रियों के द्वारा, शरीर के द्वारा, या अन्तःकरणों के द्वारा जो विषय-ग्रहण और विषय-विसर्जन होते रहते हैं, वे क्रम से अपान और प्राण नाम की जीवन क्रियाएं कहलाती

है । ये दोनों ही क्रियायें जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाओं में भी चलती रहती हैं । सुषुप्ति की अवस्था में प्राण और अपान दोनों ही एक शान्त जीवनवृत्ति (प्राणवृत्ति) में विलीन हो जाते है । उसे समानवृत्ति कहा जाता है । तदनन्तर प्राणवृत्ति अत्यन्त सूक्ष्मतर स्वभाव को लेकर सुषुम्ना नाड़ी में से ऊपर की ओर प्रसरण करती हुई समस्त विकल्पों को जला डालती है और निर्विकल्प भाव के प्रति अग्रसर होती जाती है । इस अग्निसदृश प्राणवृत्ति को ही शैवदर्शन में उदान नाम दिया गया है । इससे आगे एकदम निर्विकल्प चिन्मयी जीवनवृत्ति को व्यान नाम दिया गया है । इन प्राणवृत्तियों के आरोहण क्रम में क्रमशः प्राण-अपान में निजानन्द, निरानन्द और परानन्द; समान में ब्रह्मानन्द, उदान में महानन्द और व्यानवृत्ति में चिदानन्द का आस्वाद योगी को आया करता है । उच्चार योग के अभ्यास के द्वारा इन पांचों आनन्द-भूमिकाओं को पार करके उस अनवच्छिन्न, अवर्णनीय तथा असीम आनन्द का आस्वाद आता है, जिसे शैव गुरुओं ने जगदानन्द कहा है । यह वस्तुतः परिपूर्ण परमेश्वरता का आनन्द है । ऐसी योग-दीक्षा उच्चार-योग के क्रम में दी जाती है । इस उच्चार-योग के अभ्यास में कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान, आरोहण, अवरोहण आदि तथा उससे होने वाली शोषण, दाहन, आप्यायन और सकलीकरण की स्थितियां शिवयोगी को अनायास ही प्राप्त होती रहती हैं । अतः शैवी योगक्रम की दीक्षा में आसन, प्राणायाम आदि के द्वारा कुण्डलिनी-उत्थान आदि की शिक्षा नहीं दी गई है ।

उच्चार योग से नीचे करण योग और ध्वनि योग की दीक्षाओं का स्थान है । करण योग में शरीर और उसके भिन्न-भिन्न नाडी-चक्रों को धारणा का आलम्बन बनाया जाता है और ध्वनि योग में श्वास-प्रश्वास की गतियों और उनसे अभिव्यक्ति होने वाली 'सो—ऽहं' या 'हं—सः' इन ध्वनियों को । इन दो प्रकार के योगों की दीक्षा के विषय में तन्त्रालोक आदि में विशेष विस्तार से कुछ कहा नहीं गया है । ऐसी योग-धारणाएं अन्य-अन्य योगक्रमों में भी बताई गई हैं । करण योग के विषय मे आचार्य अभिनवगुप्त ने कहा है कि इस योग को गुरु के मुख से ही सुन कर सीखना चाहिये । कारण यह है कि इन योगक्रमो के आलम्बन स्थूल पदार्थ हैं, जो जनसाधारण को भी समझ में आ सकते हैं । यदि ये प्रक्रियाएं अनधिकारी के हाथ में आ जाय, तो उनके दुरुपयोग की आशंका निश्चित ही है । अतः इनका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है ।

शाम्भव, शाक्त आदि योग-प्रक्रियाएं स्पष्टीकरण किये जाने पर भी रहस्य में ही रहती हैं, क्योंकि उनके विशेष तत्त्व गुरुकृत शिक्षा से और साक्षात् प्रदर्शन से ही स्पष्ट हो सकते हैं । अतः उनका वर्णन करने में कोई भी भय नहीं है । बाह्य वर्ग में भी कुछ एक प्रक्रियाएं अतीव रहस्यमयी मानी गई हैं । उनमें से चक्रोदय की प्रक्रिया तो इतनी रहस्यात्मक स्वभाव की है कि एक पूरे आह्निक में उसका वर्णन किये जाने पर भी उसका रहस्य नहीं खुल पाता । ऐसी ही रहस्यमय स्वभाव वाली धारणा है तत्त्वभेदन की । इन दो धारणाओं का नामोल्लेख भी काश्मीर शैव दर्शन को छोड़कर किसी अन्य योगक्रम में नहीं मिलता ।

क्रिया–दीक्षा

साधना के जिस विशेष अंग को सर्वसाधारण योगविद्या में दीक्षा नाम दिया गया है, उसे काश्मीर शैव दर्शन में क्रिया दीक्षा कहा गया है । उसके कई एक प्रकारों का निरूपण तन्त्रालोक में विस्तार से किया गया है । तदनुसार अभिषेक, न्यास, याग, होम, अधिवास आदि के अनुष्ठान के साथ ही साथ गुरु अपने दीक्षणीय शिष्य पर अनुग्रह-शक्तिपात का प्रयोग करता हुआ तदनुकूल रहस्य–मन्त्रों का भी उपदेश तथा प्रयोग करता है । उन मन्त्रों के सामर्थ्य से शिष्य स्वात्मप्रत्यभिज्ञा के प्रति अग्रसर होता जाता है । उन मन्त्रों के उद्धार के संकेत तो तन्त्रालोक आदि में दिये गये हैं, परन्तु फिर भी वे प्रायः स्पष्ट नहीं हो पाये हैं । इस क्रिया दीक्षा का अनुष्ठान करने का अधिकार उसी महानुभाव को होता है, जिस पर किसी सिद्ध गुरु के द्वारा अनुग्रह हो चुका हो, जिसे स्वात्मप्रत्यभिज्ञा हो चुकी हो तथा दीक्षाकर्म का अनुष्ठान करने का अधिकार जिसे मिल चुका हो । वह अधिकार भी एक विशेष प्रकार की दीक्षा से ही मिल पाता है । उसे अभिषेक दीक्षा कहते हैं । जैसे प्रजा पर शासन करने के लिये किसी राजपुत्र आदि का अभिषेक किया जाता है, वैसे ही शैवी दीक्षा प्रदान करने का अधिकार भी किसी सिद्धिसम्पन्न योगी को ही मिलता है । ऐसी दीक्षा पाने पर शैव गुरु आचार्य कहलाता है । ऐसे आचार्य के द्वारा की गई दीक्षा पर्याप्त मात्रा में सफल होती है । आचार्य के द्वारा की जाने वाली इस क्रिया दीक्षा के तत्त्वों का सुविस्तृत प्रतिपादन तन्त्रालोक के चौदहवें आह्निक में किया गया है । आगे पन्द्रहवें आह्निक में इस दीक्षा के एक विशेष प्रकार का निरूपण भी काफी विस्तार से किया गया

है । उसे समय दीक्षा कहते है । उसमें दीक्षा सम्बन्धी आवश्यक अभिषेक, न्यास, याग, होम, अधिवास आदि का सुविस्तृत निरूपण करके अन्त में साधक के द्वारा पालनीय नियमों का उल्लेख बड़े विस्तार से किया गया है ।

उन अनुशासनरूपी नियमों को ही 'समय' नाम दिया गया है । समय दीक्षा को पाने वाला शिष्य साधक कहलाता है । साधकों में से किसी विशेष योग्यता वाले शिष्य को गुरु पुत्रक-दीक्षा दे देता है । उससे वह पुत्रतुल्य बन जाता है । ऐसी पुत्रक-दीक्षा से ही लक्ष्मणगुप्त आचार्य उत्पलदेव के और वे आचार्य सोमानन्द के पुत्र बन चुके थे । इसी दृष्टि से आचार्य अभिनवगुप्त ने उनके विषय में— "सोमानन्दात्मजोत्पलजलक्ष्मणगुप्तनाथः" ऐसा तन्त्रालोक के अन्तिम आह्निक में कहा है । पुत्रक दीक्षा के इस रहस्य की ओर ध्यान न देने वाले कई एक लेखकों ने इन्हें औरस पुत्र घोषित किया है । अस्तु पुत्रक दीक्षा में याग, होम आदि क्रियाओं को करते-करते गुरु शिष्य पर विशेष अनुग्रह-शक्तिपात भी करता जाता है । उसके प्रभाव से शिष्य को अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार हो जाता है । अतः पुत्रक-दीक्षा को वही आचार्य कर सकता है, जिसमें अनुग्रह-शक्तिपात करने की सामर्थ्य उद्बुद्ध हो चुकी हो । ऐसे आचार्य को शिवतुल्य माना जाता है । वह जिस पर चाहे अनुग्रह या निग्रह भी कर सकता है । अनुग्रह से प्राणी स्वरूप-प्रत्यभिज्ञा की ओर और निग्रह से गाढ-गाढतर बन्धन की ओर बढ़ता जाता है ।

तन्त्रालोक के अगले आह्निकों में कई एक इस प्रकार की सुविचित्र और आश्चर्यजनक क्रियादीक्षाओं का निरूपण किया गया है, जो सम्भवतः और किसी भी दर्शनशास्त्र में कहीं भी न मिलें । दीक्षा सम्बन्धी सुविचित्र क्रियाओं में सामर्थ्यवान् गुरु शिष्य पर अपार अनुग्रह-शक्तिपात करता जाता है और अपने यौगिक सामर्थ्य के प्रभाव से तथा रहस्यात्मक तान्त्रिक मन्त्रों के प्रयोग से उसे स्वस्वरूप प्रत्यभिज्ञा के प्रति बलात् प्रेरित करता हुआ उसे परम मुक्ति के मार्ग पर प्रवृत्त कर देता है । यौगिक सामर्थ्य वाला अनुग्रहशील गुरु इस तरह की विचित्र दीक्षाओं के द्वारा अपात्र और अयोग्य शिष्यों का भी उद्धार कर सकता है । उसकी कृपा से अपात्र भी तत्क्षण पात्र बन जाते हैं और अयोग्य भी योग्य बन जाते हैं । ऐसी विचित्र दीक्षाओं में से एक है 'प्राणोत्क्रमण दीक्षा', जिसे 'सद्यःसमुत्क्रमण दीक्षा' भी कहते हैं । उसका विधान ऐसा है कि जब शिष्य के जीवन का

अन्त समीप आ जाता है, तो गुरु उस विशेष दीक्षा का अनुष्ठान करता हुआ तथा अपनी अनुग्रह शक्ति का प्रयोग करता हुआ उसे ब्राह्मी विद्या के मन्त्रों का पाठ सुना देता है । उस विद्या के पन्द्रह अंश हैं । एक एक अंश के पाठ से शिष्य के पादांगुष्ठ से लेकर ऊपर की ओर एक एक अंग तक प्राणों का उत्क्रमण होता जाता है । अन्त में शिष्य का सूक्ष्म शरीर ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करता हुआ, मन्त्रों के ही प्रभाव से सभी प्राकृत और मायीय तत्त्वों को पार करता हुआ, शुद्ध विद्या के तत्त्वों में भी विचरण करके शिव के साथ अभेदभाव को प्राप्त कर लेता है । उस ब्राह्मी विद्या को आगे मन्त्र निरूपण में दिया जा रहा है । यह होती है मुमूर्षु शिष्य की दीक्षा । एक और दीक्षा है मृत शिष्य की । तदनुसार कोई शिष्य दीक्षा को लिये बिना ही यदि मर जाय, तो करुणाशील तथा सामर्थ्यवान् गुरु उसके मरे हुए शरीर को ही दीक्षा देता हुआ सारी दीक्षा-क्रियाओं का अनुष्ठान करता है । उससे वह शिष्य शिव के साथ अभेदभाव की ओर अग्रसर हो जाता है । दीक्षा-क्रिया करते समय कभी कभी उस मृत शरीर में स्पन्दन भी हो जाता है । उससे शिष्य के सम्बन्धियों को विश्वास हो जाता है कि उसकी दीक्षा सफल हो गई है । एक और आश्चर्यमयी दीक्षा है परोक्ष दीक्षा । उसके बल से गुरु परदेश में स्थित शिष्य की दर्भमयी प्रतिमा को यागमण्डप में शिष्य के स्थान पर बिठाकर उसकी मोक्ष दीक्षा का अनुष्ठान करता है । उससे परदेश में स्थित शिष्य के भीतर एवमेव आत्मसाक्षात्कार का उदय हो जाता है । उस दीक्षा में भी कभी-कभी वह दर्भमयी प्रतिमा स्पन्दन करती है ।

परोक्ष दीक्षा का ही एक विशेष आश्चर्यजनक प्रकार होता है जालप्रयोग दीक्षा । तदनुसार सामर्थ्यशील गुरु अपने योग-बल से यह जान लेता है कि उसका मरा हुआ शिष्य किस लोक में है । उसे दृष्टि में रखते हुए रहस्यात्मक तान्त्रिक-मन्त्रों का प्रयोग करता हुआ गुरु त्रिलोकी में मन्त्रों के एक जाल को फैला देता है । जिस तरह से मछली जाल में फंस जाती है, उसी तरह से शिष्य का जीव भी मन्त्रों के जाल से पकड़ा जाता है । यागमण्डप में शिष्य की कुशामयी जो प्रतिमा रखी होती है, उसी प्रतिमा में वह शिष्य का जीव प्रवेश कर जाता है । विश्वास के लिये गुरु के इशारे से उस प्रतिमा में स्पन्दन भी होने लगता है । उससे प्राणसंचार पर विश्वास हो जाता है । तब गुरु उसी प्रतिमा में स्थित शिष्य की आत्मा को

अपने दिव्य मन्त्रों के प्रयोग से तथा अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से एक एक करके समस्त बन्धनों से मुक्त कराता हुआ उसे सदाशिव तत्त्व तक पहुँचा कर पूर्णाहुति के साथ उसकी दर्भमयी प्रतिमा का जब होम कर देता है, तो शिष्य की आत्मा शिव के भीतर विलीन होकर शिवैक्य को प्राप्त कर जाती है[1] । इस जालप्रयोग दीक्षा को आचार्य अभिनवगुप्त ने कांगड़ा नगर में स्थित वज्रेश्वरी देवी के स्थान में विद्यमान जालन्धर पीठ के पीठाधीश तथा अर्द्धत्र्यम्बक शैव मठिका के तात्कालिक अधिपति आचार्य श्री शम्भुनाथ से सीखा था[2] । इसका निरूपण उन्होंने तन्त्रसार में भी किया है और तन्त्रालोक के इक्कीसवें आह्निक में भी । जिस शिष्य की मोक्ष दीक्षा नहीं की जा सकी हो, उसके सांवत्सरिक श्राद्ध पर उसकी प्रतिमा की दीक्षा की जाती है । उसे श्राद्ध दीक्षा कहते हैं । तन्त्रालोक के अट्ठारहवें आह्निक में एक अतीव संक्षिप्त दीक्षा की विधि पर प्रकाश डाला गया है। तदनुसार सामर्थ्यवान् गुरु अपने किसी प्रिय शिष्य को अपनी इच्छा-शक्ति के बल से बलिष्ठ बनी हुई मन्त्रप्रयोगमयी दीक्षा से संक्षेप से ही अभिषेक, न्यास, याग, होम आदि करवाता हुआ उसे मुक्तिमार्ग पर लगा देता है । उसे सुविशाल क्रियाकलाप की आवश्यकता नहीं पड़ती ।

वेध दीक्षा

तन्त्रालोक के उन्तीसवें आह्निक में कौल साधना का निरूपण करते हुए एक और दीक्षा प्रकार का प्रतिपादन किया गया है । उसे वेध दीक्षा कहा जाता है । उस दीक्षा का रहस्य यह है कि गुरु शिष्य को अपने सम्मुख बिठाकर उस पर अनुग्रहमयी एकटक दृष्टि जब डालता है, तो शिष्य की मध्यमा प्राणशक्ति (कुण्डलिनी) का उत्थान, आरोह गति, अवरोह गति तथा षट्चक्रों की शोषण, दाहन, आप्यायन, सकलीकरण आदि क्रियाएं अनायास ही होने लगती हैं । इस दीक्षा के रहस्य का प्रतिपादन तन्त्रालोक में ऐसे किया गया है—

---

१. "एवं जालप्रयोगाकृष्टो जीवो दार्भ जातीफलादि वा शरीरं समाविष्टो भवति । न च स्पन्दते, मनःप्राणादिसामग्र्यभावात्; तदनुध्यानबलात्तु स्पन्दतेऽपि । तादृशेऽपि तस्मिन् पूर्ववत् प्रोक्षणादिसंस्कारः पूर्णाहुतियोजनिकान्तः । अत्र परं पूर्णाहुत्या तस्य दार्भाद्याकारस्य परतेजसि लयः कर्तव्यः" (त. सा., पृ. १६८) ।

२. आकृष्टावुद्धृतौ वा मृतजनविषये कर्षणीयेऽथ जीवे
योगः श्रीशम्भुनाथागमपरिगमितो जालनामा मयोक्तः ॥ (त. आ. २१.२६)

सामर्थ्यवान् गुरु शिष्य को सामने बिठाकर अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को शिष्य की उन वृत्तियों के ऊपर जमाकर और उसके अन्तःकरण को अपने अन्तःकरण के साथ एकरस करता हुआ उसे अपने साथ सामरस्य की दशा पर पहुँचा देता है । तब शिष्य भी योग के उस विषय में गुरुतुल्य अवस्था का अनुभव करने लगता है । इस वेध दीक्षा के छः प्रकार माने गये हैं । वे ये हैं—

१. मन्त्र वेध— आठ दल वाले अथवा बारह दल वाले और अग्नि ज्वाला से व्याप्त शक्तिचक्र का ध्यान करके मन्त्र-बल से शिष्य के चित्त का उससे वेधन किया जाय, तो वह मन्त्र वेध कहलाता है ।

२. नाद वेध— दीर्घ नाद का उच्चारण करके तथा न से फ तक की मालिनी का भी उच्चारण करके उस नाद के द्वारा गुरु शिष्य के चित्त का वेधन करे, तो वह नाद वेध कहलाता है ।

३. बिन्दु वेध— गुरु अपने भ्रूमध्य में चित्त को जमाकर वहां ज्वाला से घिरे हुए बिन्दु की भावना करके शिष्य के चित्त का वेधन उस बिन्दु से करे, तो वह बिन्दु वेध कहलाता है ।

४. शाक्त वेध— मूलाधार चक्र को संकुचित करने से टेढ़ी आकृति में आने वाली प्राणशक्ति के बल से स्वयमेव ऊर्ध्व संचार करने वाली प्राणशक्ति पर सावधान होकर उसके द्वारा शिष्य के सभी चक्रों का वेधन किया जाय, तो उसे शाक्त वेध कहते हैं ।

५. भुजंग वेध— गुरु इस प्रकार का ध्यान करता है कि शिष्य के नाभिचक्र के नीचे बैठी पांच फणों वाली भुजंगी ऊपर-ऊपर चक्रों का भेदन करती जाती है । उससे शिष्य के षट्चक्रों का भेदन हो जाता है । इसे भुजंग वेध कहते हैं ।

६. पर वेध— इन्द्रियों को, प्राणों को, अन्तःकरणों को, उनके विषयों को, मन को, मननीय विषयों को, मनन करने वाले मायीय प्रमाता को तथा मनन क्रिया आदि समस्त भावों को छोड़ कर एकमात्र अपने अद्वैत भाव का विमर्शन छहों चक्रों में करे, तो उससे शिष्य के छहों चक्रों का वेधन हो जाता है । इस प्रकार की वेध दीक्षा को पर वेध कहा जाता है ।

किन्हीं तान्त्रिक शास्त्र-ग्रन्थों में वेध दीक्षा के नौ प्रकार भी माने गये हैं । वे हैं— मन्त्र वेध, शाक्त वेध, भुवन वेध, रूप वेध, विज्ञान वेध, पिण्ड वेध, स्थान वेध, नाडी वेध और पर वेध । वस्तुतः इस विषय का स्फुट प्रकाशन न तो तन्त्रालोक में और न ही जयरथ की टीका में किया गया है । अतः इस विषय की व्याख्या की यथार्थता भी संशयरहित नहीं है । इतनी ही बात स्पष्ट हो पाती है कि गुरु अपने योगबल से शिष्य की कुण्डलिनी शक्ति को जगाकर उसके द्वारा उसकी सुषुम्ना के भीतर विद्यमान छः चक्रों का भेदन करा दे, तो उसे वेध दीक्षा कहते हैं[१] । अन्य अन्य आगमिक ग्रन्थों में भी इस विषय का प्रतिपादन किया तो होगा, परन्तु फिर भी ऐसे विषय रहस्यात्मक ही माने गये हैं । अतः इनका विशेष स्पष्टीकरण ग्रन्थकारों और टीकाकारों ने नहीं किया है ।

अन्य दीक्षाएं

एक और दीक्षा होती है योजनिका नाम वाली । वस्तुतः यह कोई स्वतन्त्र दीक्षा नहीं है । अपि तु उपर्युक्त कई एक दीक्षाओं का अंग है । कोई सामर्थ्यशाली गुरु कभी यह देख लेता है कि शिष्य के अन्तस्तल में प्रबल भोगवासना विद्यमान है । तब वह मोक्ष दीक्षा के साथ ही साथ एक और क्रिया का भी अनुष्ठान उसके लिये करता है । उस क्रिया का यह फल होता है कि शिष्य मानव शरीर को छोड़कर किसी ऊर्ध्व लोक में किसी दिव्य शरीर को पाकर वहां वांछित विषयों का भोग पर्याप्त मात्रा में कर लेता है । तदनन्तर भोगवासना के शान्त हो जाने पर वह शिवभाव के प्रति अग्रसर हो जाता है । यह योजनिका नाम की क्रिया अनेकों दीक्षा-प्रकारों में की जाती है । यदि ऐसा न किया जाय, तो बहुत सम्भव है कि अतृप्त भोगवासना साधक को किसी भी उत्कृष्ट लोक से पुनः इस मर्त्यलोक की ओर खींच कर ले आवे और उसे पुनः संसृति के चक्रों में फंसा दे । इसी विचार से योग्य और सामर्थ्यवान् गुरु योजनिका क्रिया को करवा देते हैं । आत्मसाक्षात्कार को जिस साधक ने प्राप्त किया हो, उसे गुरु पूर्वोक्त अभिषेक दीक्षा से आचार्य पदवी पर प्रतिष्ठित करता हैं । तदनन्तर उसका यह कर्तव्य बन जाता है

---

१. वेधदीक्षा च बहुधा तत्र तत्र निरूपिता ॥
सा चाभ्यासवता कार्या येनोर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः ।
शिष्यस्य चक्रसम्भेदप्रत्ययो जायते ध्रुवः ॥ (त. आ. २९.२३७-२३८)

कि वह समुचित अधिकारवान् व्यक्ति को शैवी दीक्षा से अनुगृहीत करे । यदि कभी ऐसा न करे, तो उसे प्रायश्चित्त का भागी बनना पड़ता है । यदि कभी कोई दीक्षित शिष्य समुचित समयों (अनुशासनों) का पालन न करे, गुरु-निन्दा करे, या गुरु की अवहेलना करे अथवा साधना के अभ्यास से उद्बुद्ध शक्तियों का दुरुपयोग करे, तो गुरु उसके प्रति घर बैठे ही एक ऐसी दीक्षा कर सकता है, जिससे वह अपनी समस्त योगज शक्तियों को तथा शास्त्रों के तत्त्वों के ज्ञान को खो बैठता है[१] । ऐसी दीक्षा को 'ज्ञानाहरण दीक्षा' कहा जाता है । वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ में श्रीनगर में एक सिद्ध गुरु के द्वारा की गई ऐसी दीक्षा की स्मृति अभी तक वहां के शैवों में चली आ रही है । आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि गुरु का यही कर्तव्य है कि शिंष्य के अपराध को क्षमा करे, अनुग्रह ही करता रहे, निग्रह न करे । अतः ज्ञानाहरण दीक्षा का प्रयोग उचित नहीं । ज्ञानाहरण किया जा सकता है, इस बात को तो उन्होंने भी मान लिया है । इसे काटा नहीं है ।

शैवी दृष्टि के अनुसार वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि शैवी दीक्षा के पात्र नहीं माने गये हैं । कारण यह है कि जिस व्यक्ति का किसी अन्य शास्त्र के साथ काफी घना सम्बन्ध बना रहा हो, वह शैव शास्त्र को भी उसी शास्त्र की दृष्टि से देखता, समझता और समझाया करता है । शैव दर्शन की साधना में तथा शैवी प्रक्रियाओं में अन्य उपासना-क्रमों की प्रक्रियाओं को मिलाकर उन्हें संकीर्ण बना देता है । इस तरह से वह शैव दर्शन की शिक्षा की परम्परा में कई तरह के विकारों को प्रायः लाया करता है और इसके सिद्धान्तों की या प्रायोगिक प्रक्रियाओं की व्याख्या सर्वथा यथार्थतया करता नहीं । अतः उसे शैवी दीक्षा प्रायः नहीं दी जाती । फिर यदि शिव के अनुग्रह-शक्तिपात से ऐसे साधक के हृदय में भी शैवी साधना के प्रति सच्ची श्रद्धा उपजे, तो उस प्रकार के किसी एक विरले साधक को भी शैवी दीक्षा को देने की अनुज्ञा शास्त्रों में मिलती है । परन्तु शैवी दीक्षा देने से पहले उसे एक और दीक्षा दी जाती है । उस दीक्षा को लिङ्गोद्धार दीक्षा कहा जाता है[२] । उस लिङ्गोद्धार नाम

---

१. यदा तु वैचित्र्यवशाज्जानीयात्तस्य तादृशम् ।
विपरीतप्रवृत्तत्वं ज्ञानं तस्मादुपाहरेत् ॥ (त. आ. १३.३१२)

२. अथ वैष्णवबौद्धादितन्त्रान्ताधरवर्तिनाम् ।

की क्रियामयी दीक्षा से उसके अन्तस्तल का वह आपेक्षिक मल धुल जाता है, जो अवर शास्त्र की उपासना से उस पर चढ़ा होता है । मल के धुल जाने पर ही शैवी दीक्षा उसके लिये उपयुक्त और लाभप्रद हो पाती है । ऐसे साधक को साधना के अभ्यास का अधिकार तो मिल जाता है, परन्तु उसे प्रायः आचार्य की पदवी नहीं मिलती । वह अपना उद्धार तो कर सकता है, परन्तु शैवी साधना की दीक्षा किसी को दे नहीं सकता । यदि फिर कोई ऐसा साधक शैवी साधना में किसी विशिष्ट प्रगति को प्राप्त करे, तो उसे भी आचार्य पद पर पहुंचा देने वाली अभिषेक दीक्षा दी ही जाती है । परन्तु वैसी योग्यता वाला कोई विरला ही साधक हो सकता है ।

तुलाशुद्धि दीक्षा

दीक्षा के साफल्य की परीक्षा भी कई प्रकारों से की जाती है । उनमें से एक है—तुलाशुद्धि दीक्षा । तदनुसार एक बड़ी तुला को खड़ा करके उसे रहस्य-मन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित किया जाता है और उसकी पूजा की जाती है । तदनन्तर उसके एक पलड़े पर एक अभिमन्त्रित पुष्पमाला को रखा जाता है और दूसरे पलड़े पर शिष्य को अभिमन्त्रित करके चढ़ाया जाता है । यदि शिष्य के शरीर का भार पुष्पमाला के भार के समान हो या उससे कम निकले तो समझा जाता है कि दीक्षा सफल हो गई है । परन्तु यदि शिष्य कहीं पुष्पमाला से अधिक भारी निकले, तो यह समझा जाता है कि दीक्षा सफल नहीं हुई है । तब फिर से सारी दीक्षा-क्रिया का अनुष्ठान करना होता है । इस परीक्षण-रूपिणी क्रिया को तुलाशुद्धि दीक्षा कहते है । दीक्षा के साफल्य की एक और प्रक्रिया है निर्बीज दीक्षा । तदनुसार शिष्य के बन्धनों के बीज नष्ट हो गये हैं या अभी कुछ शेष रह गये हैं, इस बात की परीक्षा लेने के लिये गुरु शिष्य को अपने सामने बिठा देता है । फिर अपने हाथों में पुष्प आदि मंगल द्रव्य और कुछ शालि आदि अनाज के बीज रख कर उन्हें अभिमन्त्रित करके उस हाथ को शिष्य के मस्तक पर उल्टा करके थमा कर पुनः मन्त्र प्रयोग करता है । तदनन्तर उन अभिमन्त्रित बीजों को समुचित ऋतु में समुचित भूमि में बो दिया जाता है । यदि उन बीजों में से किसी में से भी कोई अंकुर न

यदा शिवार्करश्म्यौघैर्विकासि हृदयाम्बुजम् ।
लिङ्गोद्धृतिस्तदा पूर्वं दीक्षाकर्म ततः परम् ॥ (तं. आ. २२. १२-१३)

फूटे, तो इस बात का निश्चय हो जाता है कि सभी बीज निर्बीज हो गये हैं, अर्थात् उनकी बीजरूपता नष्ट हो गई है और वे सभी मुक्त हो गये हैं । साथ ही इस बात का भी निश्चय हो जाता है कि शिष्य के सबके सब संसृति-बीज नष्ट हो गये हैं, अब उसका पुनर्जन्म नहीं होगा और इस तरह दीक्षा सफल हो गई है । ऐसी सफल दीक्षा को निर्बीज दीक्षा कहा जाता है । यदि किसी बीज का बीजभाव नष्ट न हुआ हो तो सिद्ध होता है कि शिष्य में भी संसृति के बीज पूरी तरह से नष्ट नहीं हुए हैं। तब उस दीक्षा को सबीजा दीक्षा कहा जाता है ।

दीक्षाक्रम

साधारण दीक्षा-कर्म कई दिन तक चलता है । अन्तिम दिन शिष्य को एक अभिमन्त्रित शय्या पर रात को सुलाया जाता है । प्रातःकाल उसे पूछा जाता है कि उसने स्वप्न कैसे कैसे देखे । उनसे गुरुजन निश्चय कर लेते हैं कि दीक्षा किस सीमा तक सफल हो गई है । यदि शिष्य स्वप्न में सूर्य, चन्द्र आदि के निर्मल प्रकाश को देखे, तो निश्चय हो जाता है कि दीक्षा सफल हो गई है । यदि अन्धकार आदि को देखे, तो समझा जाता है कि दीक्षा सफल नहीं हुई । इस प्रकार की क्रियाओं से समय दीक्षा के साफल्य की परीक्षा ली जाती है ।

तन्त्रालोक के तीसवें आह्निक में दीक्षा सम्बन्धी शैवी क्रिया-कलापों में उपयुक्त होने वाले आगमिक रहस्य-मन्त्रों का दिग्दर्शन रहस्यात्मक मन्त्रोद्धार प्रक्रिया से किया गया है । मन्त्र एक रहस्यमय साधन होता है । अतः उसे स्पष्टतया ग्रन्थों में लिखकर रखा नहीं जाता । फिर पुस्तक में लिखा हुआ मन्त्र तभी फलप्रद बन सकता है, जब उसका उपदेश अनुभवशील गुरु के मुख से मिले । फिर आचार्यों को इस बात की भी शंका मन में रहती है कि कोई अनधिकारी व्यक्ति पुस्तक में से मन्त्र को उतार कर उसके अभ्यास से प्राप्त शक्ति का कहीं दुरुपयोग न करें । इस शंका से भी मन्त्रों को स्पष्टतया लिखकर रखा नहीं जाता । इसीलिये तन्त्रालोक में मन्त्र स्पष्टतया नहीं लिखे गये हैं । जयरथ की टीका में भी उनका सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं होने पाया है । इन आगमिक मन्त्रों का स्वरूप अतीव आश्चर्यजनक होता है ।

उदाहरण के तौर पर पञ्चपिण्डनाथ मन्त्र है—"ख्फ्रें", कालकर्षिणी मन्त्र है—"फ्रें" भी और "फें" भी । कालरात्रि मन्त्र है—"स्कृक्" । मातृसद्भाव मन्त्र है—"ह् स् ह् फ्रें" । छेदनी मन्त्र है—"रः रः ह् क्ष् जः-क्रः क्ष्रः" । तुला दीक्षा मन्त्र यह है—"ॐ भूभ्रयूं नमः" । प्रियमेलाप मन्त्र है—"ह्रीं क्लीं ब्लें क्लें" । चतुष्कल मन्त्र है "हूँ" । मोक्षदा विद्या नाम का मन्त्र यह है—"ॐ ह्रीं हूं शब्दब्रह्मस्वरूपिणि सिद्धसाधनि समस्तबन्धनिकृन्तनि बोधिनि शिवसद्भावजननि स्वाहा" । दीक्षा विद्या नाम का मन्त्र यह है—"अ इ ओ य र ल व अ ण फें महाहाटकेश्वरि क्षमस्व पापान्तकारिणि पापविमोहनि पापं हन हन धुन धुन रुद्रशक्तिवधात् सत्" । पारमेश्वरी विद्या यह है—"ह्रीं परे ब्रह्मे चतुर्विद्ये योगधारिणि आत्मे परमात्मे रुद्रशक्ति रुद्रदयिते मे पापं दह दह सौम्ये सदाशिवे हूँ फट् स्वाहा" । नवात्मा मन्त्र यह है—"ह् र् स् म् ल् व् यूँ" । इस मन्त्र का प्रयोग ब्राह्मी विद्या के पाठ में होता है । प्राणोत्क्रमण दीक्षा करते हुए, मरते हुए व्यक्ति को पन्द्रह वाक्यों वाला एक माला मन्त्र सुनाया जाता है । उनमें से कोई वाक्य पूरा श्लोक है और कोई श्लोकार्ध ही है । एक एक वाक्य से पहले और उसके अनन्तर इस नवात्मा मन्त्र का पाठ किया जाता है । तात्पर्य यह है कि एक एक वाक्य को इस मन्त्र का सम्पुट देकर सुनाया जाता है । तब मुमूर्षु व्यक्ति के प्राण पादांगुष्ठ से लेकर ऊपर ऊपर चढ़ते हुए ब्रह्मरन्ध्र में से उत्क्रमण करते हैं । तदनन्तर शेष वाक्यों के पाठ से उसकी आत्मा पार्थिव, प्राकृत और मायीय अण्डों से पार जाकर शुद्ध विद्या के क्षेत्र को भी पार कर के शिव के साथ अभेदभाव को प्राप्त करती है । इस तरह से सामर्थ्यशील शिवयोगी मरते हुए प्राणी को सद्यः मोक्ष के मांर्ग में प्रवृत्त कर सकता है । उस ब्राह्मी विद्या के १५ वाक्य ये हैं—

१. परमपदात् त्वमिहागाः सनातनस्त्वं जहीहि देहान्तम् ।
पादाङ्गुष्ठादि विभो निबन्धनं बन्धनं ह्युग्रम् ॥

२. गुल्फान्ते जानुगतं जत्रुस्थं बन्धनं तथा मेढ्रे ।
जहिहि पुरमग्रमध्यं हृत्पद्मात् त्वं समुत्तिष्ठ ॥

३. हंस हयग्रीव विभो सदाशिवस्त्वं परोऽसि जीवाख्यः ।
रविसोमवह्निसंघट्ट-बिन्दुदेहो ह ह ह समुत्क्राम ॥

४. हंस महामन्त्रमयः सनातनस्त्वं शुभाशुभापेक्षी ।
मण्डलमध्यनिविष्टः शक्तिमहासेतुकारणमहार्थः ॥

५. अज्ञानात् त्वं बद्धः प्रतिबोधितोत्तिष्ठ देवादे ।

६. व्रज तालुसाह्वयान्तं ह्यौडुम्बरघटितं महाद्वारम् ।
प्राप्य प्रयाहि हं हो हं हो वा वामदेवपदम् ॥

७. ग्रन्थीश्वर परमात्मन् शान्तमहातालरन्ध्रमासाद्य ।
उत्क्रम हे देवेश्वर निरञ्जनं शिवपदं प्रयाह्याशु ॥

८. आक्रम्य मध्यमार्गं प्राणापानौ समाहृत्य ।
धर्माधर्मौ त्यक्त्वा नारायण याहि शान्तान्तम् ॥

९. हे ब्रह्मन् हे विष्णो हे रुद्र शिवोऽसि वासुदेवस्त्वम् ।
अग्नीषोम सनातन मृत्पिण्डं जहिहि हे महाकाश ॥

१०. अङ्गुष्ठमात्रममलमावरणं जहिहि हे महासूक्ष्म ।

११. पुरुषस्त्वं प्रकृतिमयैर्बद्धोऽहङ्कारतन्तुना बन्धैः ।
अभवाभव नित्योदित परमात्मँस्त्यज सरागमध्वानम् ॥

१२. ह्रीं हूं मन्त्रशरीरमविलम्बमाशु त्वमेहि देहान्तम् ।

१३. तदिदं गुणभूतमयं त्यज स्वषाट्कौशिकं पिण्डम् ।

१४. मा देहं भूतमयं प्रगृह्यतां शाश्वतं महादेहम् ।

१५. मण्डलममलमनन्तं त्रिधा स्थितं गच्छ भित्त्वैतत् ।

दीक्षित साधक को ही इस ब्राह्मी विद्या को सुनाने का अधिकार है । वही सुना दे तो अभीष्ट फल दे सकती है । इस विद्या से प्रकृत दीक्षा सफल हो जाती है ।

यागमण्डप व मण्डल

क्रिया दीक्षा के सभी प्रकारों का अनुष्ठान विशेष प्रकार से सजाये गये यागमण्डपों में किया जाता है । उन मण्डपों में विविध देवी-देवताओं के स्थानों का सन्निवेश किया जाता है । विविध रंगों के चूर्ण से मण्डल में विविध प्रकार की रेखाएं, मण्डल, अर्धमण्डल, त्रिशूल, मध्यशूल, परिधि, कमल, कमलदल आदि के द्वारा सुसज्जित किया जाता है । तन्त्रालोक के इक्कीसवें आह्निक में मण्डलों का सुविस्तृत निरूपण किया तो गया है, परन्तु वह प्रक्रिया अब कश्मीर मण्डल में लुप्त हो चुकी है । उन मण्डलों के चित्र भी कहीं मिलते नहीं । ऐसा विदित हुआ है कि तिरुपति के मठ में विविध

प्रकार के मण्डलों के रंगीन चित्र विद्यमान हैं । हो सकता है कि तिब्बत में, लद्दाख में या धर्मशाला में अथवा मंगोलिया में लामा गुरुओं के पास भी मण्डलों के चित्र हों । यह भी सम्भव है कि उनमें कुछ परिवर्तन भी लाये गये हों, क्योंकि तिरुपति वाला पीठ कई शताब्दियों से वैष्णवों के अधिकार में रहा है और लामा लोग बौद्ध धर्म के विचारों से प्रभावित हैं । महाराष्ट्र में गोडवोले आश्रम में इन शैवी मण्डलों के यथार्थ रंगीन चित्र विद्यमान हैं, ऐसी जानकारी लेखक को श्री गोडवोले के शिष्य प्रो० बटुकनाथ शास्त्री (वाराणसी निवासी) से प्राप्त हुई है । श्री शास्त्री जी की सहायता से मण्डलों के उन चित्रों की प्रतिलिपि मिल सकती है ।

क्रिया दीक्षा के अंगभूत इन मण्डलों में से तन्त्रालोक में जिन मण्डलो का निरूपण किया गया है, उनमें मुख्य मण्डल तीन है । वे हैं— मध्यशूल, त्रित्रिशूल और नवशूल । इन मण्डलों का परिचय देते हुए क्रमसद्भाव, सिद्धातन्त्र आदि आगमशास्त्रों के वाक्य उद्धृत किये गये हैं । मण्डलों के भीतरी अंगों में से कुछ एक ये हैं— पूर्णेन्दु, खण्डचन्द्र, शृङ्ग, वर्तना, व्योम, तिलक, दण्डद्वार, शृङ्गवर्तना, शूलाब्ज, पार्श्ववर्तना, ब्रह्मसूत्र (उपयोगी सूत्र), खड्गचन्द्र, गण्डिका, पार्श्वशृङ्ग, प्रतिवारणा, ब्रह्मरेखा इत्यादि । मण्डलों के इन अंगों की स्पष्ट व्याख्या के साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो पाये हैं । तन्त्रालोक में मण्डल की महिमा को बताते हुए कहा गया है कि मण्डल की सुन्दरता को देखने मात्र से ही प्रसन्न हुई देवियां हर्ष से नाच उठती हैं । तब वे देवियां मण्डल में स्थित अदीक्षित मानवों को भी स्वयं दीक्षा दे देती हैं । इसी तरह से मण्डलविधि को जानने वाले गुरु की भी महिमा को खूब गाया गया है ।

दीक्षा का अधिकारी

काश्मीर शैव दर्शन की साधना का अधिकार उसी को है, जिसके हृदय में शिव के प्रति भक्ति का उदय हो गया है । उस भक्ति के प्रभाव से ही उसमें शिवशास्त्र के प्रति तीव्र जिज्ञासा का उदय हो जाता है और उसी के प्रभाव से उसे सद्गुरु की भी प्राप्ति हो जाती है । शैवी साधना की दीक्षा के विषय में जाति, लिंग, आयु आदि का कोई भी विचार नहीं किया जाता । शिव का अनन्य भक्त यदि अन्त्यज भी हो, तो उसे भी दीक्षा दी जाती है । यदि शिवभाव का साक्षात्कार किसी नीच वर्ण के साधक को भी हो

गया हो, तो उत्तम वर्ण का व्यक्ति भी उसका शिष्य बन कर शैवी विद्या को प्राप्त कर सकता है । परन्तु जिस व्यक्ति के हृदय में किसी अवर शास्त्र के प्रति प्रगाढ़ भक्ति हो, उसे शैव शास्त्र की दीक्षा नहीं दी जा सकती । शैवी दीक्षा में यही अधिकार नियम चला आ रहा है । इसी दृष्टि से चौदहवीं शताब्दी में सिद्धयोगिनी लल्लेश्वरी ने शेख नूरुद्दीन जैसे मुसलमान सन्त को भी शैव योग के आणव उपायों की दीक्षा दी थी । उन अर्ध उन्मत्त सन्तों की परम्परा अभी-अभी तक कश्मीर में चलती आई है । उस परम्परा को वहाँ ऋषि सम्प्रदाय कहा जाता है । कौन जानता है कि कश्मीर मण्डल में वर्तमान आतंक का वातावरण शान्त होगा भी या नहीं, यदि शान्त हो भी जाय, तो शैव साधना की परम्पराओं को वहां कौन चलायेगा, इस विषय में भी कौन क्या कह सकता है । काश्मीर शैव दर्शन नाम की यह विद्या तो कश्मीर मण्डल से अब समझिये उखड़ ही गई । अन्यत्र इस विद्या ने कहीं जड़ें अभी तक पकड़ी ही नहीं । इस बहुमूल्य और अत्यन्त उत्कृष्ट विद्या की परम्परा को चलाये रखने की चिन्ता भारत के शासकों में से किसी के भी मस्तिष्क में उठ नहीं रही है । सभी शासक अपनी अपनी व्यक्तिगत और किसी अंश तक अपने राजनैतिक दल सम्बन्धी चिन्ताओं में इतने व्यस्त हैं कि शैव दर्शन जैसी विद्याओं के विषय में कोई कुछ सोच ही नहीं पाता । अस्तु शिव की इच्छाशक्ति का यह भी एक अभिनय है ।

निष्कर्ष

१. (क) सिद्ध जनों के साथ हुए सम्पर्क से और सिद्ध मुनियों के ग्रन्थों के अध्ययन से यह सिद्ध होता है कि दार्शनिक सिद्धान्तों के विषय में परस्पर आदान-प्रदान यद्यपि बहुत संभव है, फिर भी प्रत्येक सिद्धान्त के विषय में यह बात आवश्यक नहीं । किसी भी युग में किसी भी साधक को उत्कृष्टतम दर्शन तत्त्वों का साक्षात् अनुभव हो सकता है । तभी तो 'प्रातिभ ज्ञान' संभव होता है । उसमें आदान-प्रदान का प्रश्न ही नहीं उठता, न ही वहाँ शोधक्रिया के सिद्धान्त और निष्कर्ष लागू होते हैं ।

(ख) योगविद्या के अभ्यासी साधकों को प्रायः सुषुप्ति दशा के किसी अवान्तर स्तर पर स्थित वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार

हुआ करता है । विशेषतया किसी योग्य साधक को ही तुर्या दशा के किसी स्तर पर स्थित वस्तुतत्त्व का दर्शन होता है ।

(ग) वस्तुतत्त्व के ऐसे साक्षात् अनुभवी सिद्ध किसी भी युग में तथा किसी भी देश में प्रकट हो सकते हैं । उन्हें विशेष आदान-प्रदान की आवश्यकता नहीं होती, यद्यपि आंशिक आदान-प्रदान को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि व्यवहार ज्ञान, शब्दसंकेत ज्ञान, तर्कयुक्ति ज्ञान आदि को तो अत्युत्कृष्ट जन्मसिद्ध योगी भी शिशुभाव से ही औरों से सीखते आये हैं ।

(घ) तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले सभी सिद्धों की बुद्धि के स्तर पर विवेचना करने वाली योग्यता और वाणी द्वारा जतलाने वाली शैली सदा एक जैसी नहीं होती । बहुत बार उनमें आपाततः भेद प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः भेद नहीं होता ।

२. (क) काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमेश्वर जब शुद्ध विद्या की भूमिका पर उतर आता है, तो वहां सदाशिव भट्टारक और ईश्वर भट्टारक के रूपों में प्रकट हो जाता है । ईश्वर भट्टारक आगे जब महामाया की भूमिका पर उतर आता है, तो वहां उसे भगवान् अनन्तनाथ कहते हैं । ईश्वर भट्टारक ही जब मूल प्रकृति की भूमिका पर उतरते है, तो वे वहां दो रूपों में प्रकट हो जाते हैं । उनको अपनी अन्तर्मुखता की प्रधानता के रूप में भगवान् श्रीकण्ठनाथ कहते हैं और बहिर्मुखता की प्रधानता के रूप में उन्हें ही भगवान् उमापतिनाथ कहा जाता है । ये उमापतिनाथ ही पुराणों और इतिहासों वाले कैलासवासी शिव हैं ।

(ख) भगवान् श्रीकण्ठनाथ के आदेश से ही प्राणियों की योग्यता के अनुसार शैवी अद्वैत विद्या का और उसकी योगसाधना आदि का उपदेश तीन सिद्धों ने तीन दृष्टिकोणों को लेकर किया । अमर्दक सिद्ध ने अवर अधिकारियों के हित के लिये द्वैत दृष्टि से शास्त्र का उपदेश किया । मध्यम

अधिकारियों के हित के लिये श्रीनाथ नामक सिद्ध ने भेदाभेदमयी दृष्टि से इस शास्त्र का उपदेश किया। उत्कृष्टतर सिद्ध त्र्यम्बकादित्य ने उत्कृष्ट साधकों को दृष्टि में रखते हुये अभेद दृष्टि प्रधान दो मठिकाओं को चालू करने की नीति को अपनाया। उनमें से एक—त्र्यम्बक मठिका, जो काश्मीर देश में शताब्दियों से चलती आ रही है, परन्तु अब जिसका उच्छेद वर्तमान परिस्थितियों में हो रहा है। सिकन्दर, बुतशिकन औरंगजेब तथा काबुल के पठान जिस परम्परा का उच्छेद न कर सके, उसी का उच्छेद भारतीय कांग्रेस के शासन में हो रहा है। अद्वैत शैव दर्शन की इस सर्वोत्कृष्ट परम्परा के उच्छेद के विषय में भारत सरकार को ध्यान देना चाहिये और कोई ऐसा प्रबन्ध करना चाहिये, जिससे वर्तमान युग के आतंकवाद की प्रगल्भता में भी शैव दर्शन जैसी अमूल्य विद्याएं नष्ट होने से बची रहें। त्र्यम्बक ने ही एक और मठिका को अपनी कन्या के द्वारा चालू करवाया था। ग्यारहवीं शताब्दी में अर्द्धत्र्यम्बक नाम की वह मठिका कांगड़ा में चलती थी। अब तो उसका भी उच्छेद हो गया है।

(ग) कौल तन्त्र और त्रिक तन्त्रों की परम्परा अब भी चल रही है। त्रिक साधना के शाक्तोपाय के एक विशेष प्रकार को क्रम नाम दिया गया है। "क्रम तन्त्र" इस नाम का कोई भी आगम कहीं उल्लिखित नहीं है। 'क्रम तन्त्र' ऐसा कहना एक भ्रान्त प्रथा है, जिसे वर्तमान युग के शोध विद्वानों ने चालू कर दिया है। तन्त्रालोक और तन्त्रसार में क्रमनय मुख्यतया त्रिकसाधना के शाक्तोपाय का एक विशिष्ट प्रकार है, जिसके द्वादश काली नामक अंग का उपयोग त्रिकसाधना के शाम्भवोपाय और आणवोपाय में भी हुआ करता है।

३. प्रपञ्चसार जैसे तन्त्रों को स्मार्त आगम कहने की अपेक्षा समयाचार के आगम कहना अधिक उपयुक्त होगा। स्मार्त अनुशासन और समय-अनुशासन में तथा स्मार्तसाधना और समयाचार साधना में भी परस्पर काफी अन्तर है।

४. काश्मीर शैव दर्शन की दृष्टि में वर्ण, आश्रम, लिंग, आयु आदि के आधार पर अधिकार का निश्चय नहीं होता । जो कोई भी प्राणी शिव का अनन्य भक्त हो, वह शैवी दीक्षा का अधिकारी है ।

५. (क) मन्त्र शैवी साधना के क्रियात्मक स्वरूप का एक अत्यन्त आवश्यक अंग है । इसे प्रायः गुप्त ही रखा जाता है । नहीं तो इसके दुरुपयोग की बड़ी आशंका उपस्थित हो सकती है । मन्त्रों के उद्धार की प्रक्रिया भी रहस्यमयी ही है । उसका भी पूरा स्पष्टीकरण नहीं होने पाया है । सन् १९४३ में मैंने श्रीनगर में किसी वृद्ध पण्डित से "उद्धारकोष" नामक पाण्डुलिपि को लेकर के डॉ0 रघुवीर को दे दिया था । उसका क्या हुआ, यह बात उनके पुत्र श्री लोकेशचन्द्र जानते होंगे ।

(ख) प्राचीनकाल में मन्त्रों को, विशेषकर मातृका और मालिनी को तथा पिण्ड मन्त्रों को शारदा लिपि में ही लिखा जाता था । तभी तो अलबेरुनी ने शारदा लिपि को 'सिद्धमातृका' इस नाम से कहा है । शंकराचार्य की सौन्दर्यलहरी के "मुखं बिन्दुं कृत्वा" इत्यादि पद्य में निष्कला कामकला मन्त्र के प्रति जो संकेत किया गया है, उसका स्पष्टीकरण शारदा लिपि की सहायता से ही किया जा सकता है । तदनुसार वह पिण्डमन्त्र है "ई" । इसे शारदा लिपि में " J̈ " इस तरह से लिखा जाता है । ऊपर के तीन बिन्दु मुख और कुचयुगल हैं और उनके नीचे जो वर्ण लिखा है, वह " J " शारदा लिपि में 'र' होता है, जो 'हर' इन दो का अर्ध है, अर्थात् आधा भाग है । बालि द्वीप में एक 'सिद्धम्' लिपि भी प्रचलित है, जो शारदा लिपि से बहुत मिलती जुलती है । जापान के मन्दिरों में भी उस लिपि के दर्शन होते हैं । काश्मीर में पिण्डमन्त्रों के अक्षरों को ऊपर से नीचे की ओर लिखा जाता था । जैसे "श् म् र् यूँ" को " म्र्यूँ " ऐसे लिखा जाता है ।

(ग) शाक्तसाधना के चार प्रमुख पीठ हैं । पूर्व में कामाख्या, दक्षिण में पूर्णगिरि, पश्चिम में जालन्धर (कांगड़ा) और

केन्द्र में ओडियान (जगन्नाथपुरी) । शाक्ती पूजा में इन पीठों के पूरे नामों का उच्चारण न करते हुए— "का पू जा ओ इति पीठचतुष्टयाय पाद्यम्, अर्घ्यम् समर्पयामि" ऐसा कहा जाता है ।

६. एकभविक मोक्ष शाम्भवी और शाक्ती उपासना से संभव है ।

७. (क) काश्मीर शैव दर्शन में मल और निर्मलता प्राणी के अपने धर्म हैं, चित्त के नहीं । चित्त तो एक उपकरण मात्र है, जड है । उसे जैसे चलाया जाय, वैसे चलता है । आणव आदि मल प्राणी के पुरुष तत्त्व को घेरे रखते हैं, चित्त को नहीं । यह दृष्टिभेद है ।

(ख) प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का मूलभूत दर्शन सिद्धान्त स्वातन्त्र्य सिद्धान्त है । स्वातन्त्र्य के लीलामय स्पन्दन से ही सृष्टि, संहार आदि पारमेश्वरी कृत्यों का आभासन होता रहता है । इसी तरह से प्रत्यभिज्ञा दर्शन का दूसरा आवश्यक सिद्धान्त स्पन्द सिद्धान्त है और तीसरा सिद्धान्त 'आभासवाद' कहलाता है । तदनुसार जगत् वस्तुतः परमेश्वरात्मक है और असीम तथा अनवच्छिन्न "अहं" ही इसका वास्तविक स्वरूप है । जगत् का प्रमेयात्मक आभास परिणाम न्याय से न होता हुआ प्रतिबिम्ब न्याय से होता है । परमेश्वर की पारमेश्वरी शक्तियां उसमें अहंरूपतया और प्रमातृरूपतया विद्यमान हैं । परन्तु स्वातन्त्र्य के लीलात्मक स्पन्दन से उन शक्तियों के बहिर्मुख प्रतिबिम्बों का आभासन होता रहता है । तदनुसार सारे जगत् का तथा उसके सृष्टि, संहार आदि का आभासन प्रतिबिम्बरूपतया ही होता है । यह प्रतिबिम्बवाद प्रत्यभिज्ञा दर्शन का चौथा प्रमुख सिद्धान्त है ।

(ग) काश्मीर शैव दर्शन का मूल आधार आत्मदेव की तुर्या अवस्था के उच्चतम स्तर का तथा तुर्यातीत पद का अपरोक्ष साक्षात्कार है । इसी कारण से यह दर्शन भारतीय दर्शन विद्याओं में सर्वथा मूर्धन्य दर्शन है । कश्मीर की वर्तमान स्थिति पर विचार करते हुए इसके विषय में कुछ भी कहा नहीं जा सकता कि यह दर्शन

आगे भी अपने शुद्ध पारम्परिक स्वरूप में जीवित रहेगा या लुप्त हो जायगा । इसकी उस परम्परा को चालू रखने की चिन्ता भारत के कर्णधारों में जरा सी भी कहीं दीखती नहीं । अस्तु, शिव की इच्छा और कलियुग की लीला ।

आधारग्रन्थ संकेत-सूची

संकेत	ग्रन्थ	ग्रन्थकार
तं. आ.	तन्त्रालोक	आचार्य अभिनवगुप्त
तं. आ. वि.	तन्त्रालोकविवेक	आचार्य जयरथ
तं. सा.	तन्त्रसार	आचार्य अभिनवगुप्त
प. सा. टी.	परमार्थसार-टीका	आचार्य योगराज
बो. पं. द.	बोधपञ्चदशिका	आचार्य अभिनवगुप्त
मा. वि. वा.	मालिनीविजयवार्त्तिक	आचार्य अभिनवगुप्त
विं. शा.	विंशतिकाशास्त्र	आचार्य अमृतवाग्भव

•

वीरशैवों के दीक्षादि विधि-विधान

-डॉ0 चन्द्रशेखर शि. कपाले-

वेद और आगम भारतीय सर्व धर्म-दर्शनों के मूल स्रोत है । वेद शिवनिःश्वास से प्रादुर्भूत हुए हैं, तो आगम वाग्व्यवहार रूप है, ऐसा भारतीय दार्शनिक मानते है । केवल वेदों को प्रमाण मानने वाले वैदिक तथा केवल आगमों को प्रमाण मानने वाले तान्त्रिक दर्शन कहलाते हैं ।

इस प्रकार हम सभी भारतीय दर्शनों को इन विभागों में बाँट सकते हैं । इनमें वीरशैव दर्शन आगमों को प्रमाण मानकर आगमानुकूलित वेदभाग को मानने वाला होने के कारण यह तान्त्रिक-वैदिक दर्शन कहलाता हैं ।

सिद्धान्ताख्ये महातन्त्रे कामिकाद्ये शिवोदिते ।
निर्दिष्टमुत्तरे भागे वीरशैवमतं परम् ॥ (सि. शि. ५.१४)

सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार वीरशैव दर्शन का मूल स्रोत अट्ठाईस आगम ही हैं, ऐसा सिद्ध होता है ।

अष्टावरण, पंचाचार और षट्स्थल यह वीरशैव दर्शन के प्रधान प्रतिपाद्य विषय हैं । इनका पूर्ण रूप में प्रतिपादन आगमों में उपलब्ध होता है । जिन वेदभागों में इनका विवरण किया गया है, उन वेदभागों को भी वीरशैव प्रमाण मानते हैं ।

वीरशैव किन्हें कहते हैं ?

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यबोधिका ।
तस्यां रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते मताः ॥ (सि. शि. ५.१६)

सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार "वी" का अर्थ विद्या और "र" का अर्थ रमण है । इस प्रकार शिव और जीव इन दोनों के अभेद का बोधन कराने वाली विद्या में रमण करने वाले जो शिवभक्त है, उन्हें वीरशैव कहते हैं । यद्यपि शिव और जीव के अभेद की बोधक विद्या में अद्वैत वेदान्ती और अद्वैत मानने वाले अन्य शैव जन भी रमण करते हैं, उनसे वीरशैवों को व्यावृत्त करने के लिये भाष्यकार श्रीपति पण्डिताराध्यजी ने "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इस सूत्र के अपने भाष्य में "अथ" इस शब्द का अर्थ अनन्तर ऐसा बता

कर किसके अनन्तर ऐसी जिज्ञासा होने पर, दीक्षा के अनन्तर ऐसा स्पष्टीकरण दिया है । कुछ दार्शनिक लोग 'अथ' शब्द का विवेक, वैराग्य, शमादिषट्कसम्पत्ति और मुमुक्षुता इन साधन-चतुष्टयों की प्राप्ति के अनन्तर ऐसा अर्थ करते है, किन्तु वीरशैवाचार्य श्रीपति पण्डिताराध्य जी मुख्य रूप से 'अथ' शब्द का अर्थ दीक्षा के अनन्तर ऐसा ही बताते हैं । जिसकी दीक्षा नहीं होती, उसके मलत्रयों का नाश नहीं होता । अतः मलत्रययुक्त साधनचतुष्टयसंपन्न व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी नहीं बन सकता और इस प्रकार दीक्षा संस्कार से इष्टलिंगधारी होकर जो साधक शिव और जीव इन दोनों के अभेद की बोधक विद्या में रमण करने वाला हो, वही वीरशैव है, ऐसा मानने से अन्य शैवों से इनकी विलक्षणता स्पष्ट होती है ।

दीक्षा

"अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत" इस विधिवाक्य के अनुसार वीरशैव धर्म में भी आठवें वर्ष दीक्षा संस्कार किया जाता है । इस प्रसंग में वीरशैवों के गुरुवर्ग मठों में पट्टाभिषिक्त शिवाचार्य लोग अपने–अपने गोत्रसूत्र के अनुयायी शिष्यों का दीक्षा-संस्कार करके प्रत्येक व्यक्ति को उपासना के लिये इष्टलिंग प्रदान करते हैं और जप के लिये पंचाक्षर महामन्त्र का उपदेश करते हैं । यह दीक्षा संस्कार केवल पुरुषों तक सीमित न होकर स्त्रियों को भी दिया जाता है । यह एक वीरशैवों का वैशिष्ट्य है ।

"शक्तिपातं समालोक्य दीक्षया योजयेदमुम्" (६.११) । सिद्धान्त–शिखामणि की इस उक्ति के अनुसार शक्तिपात के चिह्नों से युक्त प्रत्येक व्यक्ति दीक्षा का अधिकारी होता है । इसमें किसी प्रकार का जातिभेद या लिंगभेद नहीं माना जाता । लकड़ियाँ विभिन्न जाति की होने पर भी अग्निदग्ध हो जाने के बाद जैसे उनका जातिभेद नहीं रहता, उसी प्रकार दीक्षा के पूर्व जातिभेद हो सकते हैं । दीक्षा संस्कार के द्वारा शुद्ध किये जाने के बाद अग्निदग्ध काष्ठ के जैसे सभी व्यक्ति समान माने जाते हैं ।

"तदंशो जीवनामकः" (५.३४) सिद्धान्तशिखामणि की इस उक्ति के अनुसार प्रत्येक जीव शिव का ही अंश है । यह अंशरूप जीव मलावृत होने से जीव कहलाता है और नाना प्रकार के दुःखो को भोगता रहता है । इसलिये श्री रेणुकाचार्य जी कहते है—

"जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तदिदं मलकल्पितम्" (१८.१७) ।

प्रत्येक जीव आणव, मायीय और कार्म इन त्रिविध मलों से आवृत होता है । यहाँ पर शक्ति का संकोच ही मल कहलाता है । उसके अनुसार इच्छा शक्ति का संकोच आणव मल, ज्ञान शक्ति का संकोच मायीय मल और क्रिया शक्ति का संकोच कार्म मल होता है । इन त्रिविध मलों का परिपाक हुए बिना शक्तिपात नहीं हो सकता । जीवात्मा के संसार-कारणीभूत इन त्रिविध मलों को आम मल और पक्व मल इन दो भागों में विभक्त किया जाता है । उनमें तपश्चर्यादि से क्षीण शक्ति वाले मल पक्व मल कहलाते हैं । उसके विपरीत आम मल कहलाते हैं । पक्व मल के साधक तप्त-तनु कहलाते हैं और आम मल के साधक अतप्ततनु । इनमें तप्ततनु साधक जो पक्व मल वाला होता है, वही दीक्षा का अधिकारी होता है । इसीलिये आचार्य कहते हैं—

अतप्ततनुरज्ञो वै आमः संस्कारवर्जितः ।
दीक्षया रहितः साक्षान्नाप्नुयाल्लिङ्गधारणम् ॥ (सि. शि. ६.६१)

अर्थात् अपक्व मल वाले संस्काररहित अज्ञ जीव का दीक्षा संस्कार नहीं किया जाता, उन्हें लिंगधारण का अधिकारी नहीं माना जाता । इसलिये पक्व मल का मुमुक्षु ही ईश्वरानुग्रहरूप शक्तिपात प्राप्त करके दीक्षा का अधिकारी बनता है । शिवभक्ति के संदर्भ में साधक के स्थूल शरीर से प्रकट होने वाले रोमांच, अश्रुपात, अंगकंपन आदि चिह्न शक्तिपात के लक्षण माने जाते हैं । इन लक्षणों को देखकर ही गुरु अपने शिष्य का दीक्षा-संस्कार करते हैं ।

मलत्रय निवारक तथा शिवज्ञान प्रदायक जो संस्कार विशेष है, उसे ही दीक्षा कहते हैं—

दीयते लिङ्गसम्बन्धः क्षीयते च मलत्रयम् ।
दीयते क्षीयते यस्मात् सा दीक्षेति निगद्यते ॥
(कारणागम, क्रियापाद, १.१२)

इस दीक्षा के तीन भेद माने गये हैं—१. वेधा दीक्षा 2 मान्त्री दीक्षा और ३, क्रिया दीक्षा ।

१. वेधा दीक्षा

"हस्तमस्तकसंयोगाद् दृष्टेर्वेधेति कीर्त्यते" (कारणागम, क्रिया. १.१४) इस आगमोक्ति के अनुसार गुरु के दृष्टिपात से और हस्तमस्तकसंयोग से शिष्य के मन में उसके चिन्मय स्वरूप का बोध कराने वाला संस्कारविशेष ही वेधा दीक्षा है । इस दीक्षाविधान से शिष्य का आणव मल निवृत्त हो जाता है और उसके मन में 'शिवोऽहं' भावना उदित होती है । इस 'शिवोऽहं' भावना को भावलिंग कहते हैं । इस वेधा दीक्षा के अन्तर्गत सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार किये जाते हैं । ये— १. समय, २. निःसंसार, ३. निर्वाण, ४. तत्त्व, ५. अध्यात्म, ६. तत्त्वविशोधन और ७. तत्त्वबोधन नाम के सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार होते हैं । वेधा दीक्षा करते समय श्रीगुरु अपने दाहिने हाथ को छः बार षडक्षर मन्त्र से अभिमन्त्रित करके, अपने हाथ को शिव का ही हाथ मानकर उसे शिष्य के मस्तक पर रखते हुए "अय मे हस्तो भगवान्" (ऋग्वेद, १७.७.१२) इस मन्त्र का पाठ करके अपनी कृपापूर्ण दृष्टि से उसे देखते हुए उपर्युक्त सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार करता है । इसे वेधा दीक्षा कहते हैं । इससे शिष्य का आणव मल निवृत्त होकर उसमें 'शिवोऽहं' भावना जागृत होती है । यह 'शिवोऽहं' भावना ही भावलिंग है । इस प्रकार शिष्य के आणव मल का निवारक और भावलिंग प्रदायक संस्कार विशेष ही वेधा दीक्षा है ।

२. मान्त्री दीक्षा

"गुरुणोदीरिता कर्णे सा हि मन्त्रात्मिका भवेत्" (कारणागम, क्रिया. १.१४) इस आगमोक्ति के अनुसार शिष्य के दाहिने कान में अत्यन्त गोपनीयता से पंचाक्षर महामन्त्र का उपदेश करना मान्त्री दीक्षा कहलाती है । इस मान्त्री दीक्षा में भी—१. चित्तैकाग्रता, २. दृढव्रतता, ३. पंचेन्द्रियार्पणा, ४. अहिंसा, ५. लिंगनिष्ठा, ६. लिंगमनोलय और ७. सद्योमुक्ति नाम के सात प्रकार के उपदेशात्मक संस्कार किये जाते हैं । इस सप्तविध उपदेशात्मक मान्त्री दीक्षा के द्वारा शिष्य का मायीय मल निवृत्त होकर उसे "मैं चिद्रूप हूँ" ऐसा बोध हो जाता है । उस बोध को "चिदहन्ता" कहते हैं । उसे प्राणलिंग भी कहते हैं । इस प्रकार मायीय मल निवारक और प्राणलिंग प्रदायक संस्कार विशेष ही मान्त्री दीक्षा है ।

३. क्रिया दीक्षा एवं मण्टप

"कुण्डमण्डलिकोपेता क्रियादीक्षा क्रियोत्तरा" । (सि. शि. ६.१५) इस आचार्योक्ति के अनुसार प्रथम एक सुशोभित मण्टप तैयार करके उसमें पंचाचार्यों के प्रतीक पंचकलशों का स्थापन, शिवकुंभ स्थापन, गणपति स्थापन, स्वस्तिपुण्याहवाचन, नान्दीसमाराधना, अंकुरार्पण, नवग्रह स्थापना और होमकुंड आदि विधिविधान किये जाते हैं । इनमें पंच-कलश स्थापना एक प्रधान क्रिया है । षट्संमार्जित, रंगवल्ली से युक्त तथा तोरणादि से अलंकृत उस मण्टप की आग्नेय दिशा में केले के पत्ते बिछा कर उन पर तण्डुल (चावल) डालकर उसमें पंचकोणाकृति बनायी जाती है । उसमें क्रमशः न, म, शि, वा, य— ये मन्त्राक्षर लिखकर उनके ऊपर पंचकलश स्थापित किये जाते हैं, जो वीरशैव धर्म के संस्थापक श्री रेवणसिद्ध, श्री मरुळ सिद्ध, श्री एकोराम, श्री पंडिताराध्य एवं श्री विश्वाराध्य नामक पाँच आचार्यों के प्रतीक माने जाते हैं । उनकी साक्षी में सभी प्रकार के धार्मिक विधि-विधान किये जाते हैं । इनमें पूर्व दिशा में रेवणसिद्ध का, दक्षिण दिशा में मरुळ सिद्ध का, पश्चिम दिशा में एकोरामाराध्य का, उत्तर दिशा में पंडिताराध्य का एवं मध्य में विश्वाराध्य का— इस क्रम से पंचकलशों की स्थापना करते हैं । क्रिया दीक्षा करते समय भी इसी प्रकार पंचकलश स्थापित करके उनमें पाँचों आचार्यों का मन्त्रों से आवाहन किया जाता है । पंचकलश स्थापना करते समय पहले मध्य कलश के स्थापन के बाद क्रमशः पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में कलश-स्थापन करते हैं । मध्य कलश में जगद्गुरु विश्वाराध्य को, पूर्व कलश में जगद्गुरु रेवणाराध्य को, दक्षिण कलश में जगद्गुरु मरुळाराध्य को, पश्चिम कलश में जगद्गुरु एकोरामाराध्य को और उत्तर कलश में जगद्गुरु पंडिताराध्य को आवाहित किया जाता है ।

इस दीक्षा-मण्टप की पूर्व दिशा में पुनः केले के पत्ते पर तण्डुल बिछाकर उसमें अष्टदल कमल बनाते हैं । इसके ऊपर प्रधान शिवकुंभ की स्थापना करते हैं । इस कुंभ को पंचपल्लव, दर्भ, कूर्च आदि से अलंकृत किया जाता है । इस कुंभ में "गङ्गे च यमुने चैव" इत्यादि मन्त्र से गंगा आदि पवित्र नदियों को आवाहित किया जाता है । इस कलश के पवित्र जल से ही सारा पूजादि का विधान किया जाता है । इस कुंभ के अग्रभाग में नागवल्ली के पत्ते पर पूगीफल रखकर उसमें विघ्नेश्वर श्रीगणेश जी को आवाहित करके

पूजा की जाती है । इसी प्रकार ईशान दिशा में नवग्रहों की स्थापना की जाती है । वायव्य दिशा में नान्दी-समाराधना करते हैं ।

नान्दी समाराधना—एक तण्डुलपूरित पात्र में चौबीस पूगीफल (सुपारी) रखकर उनमें श्री नंदी, भृंगिरिटि, वीरक, वीरभद्र, पुष्पदन्त, चंडाभरण, दण्डपाणि, चंडेश्वर, दारुक, रेणुक, विकर्ण, विजयकर्ण, घंटाकर्ण, रेणुकर्ण, गोकर्ण, रेवणसिद्ध, मरुळसिद्ध, एकोरामाराध्य, पंडिताराध्य, सुकेतु, रुरु, उपमन्यु, भृगु, दधीचि, गौतम आदि प्रमथगणों को आवाहित करके पूजा करते हैं । इसे नान्दी-समाराधना कहते हैं ।

पुण्याहवाचन तथा यज्ञकुंड—उस मण्टप की नैर्ऋत्य दिशा में पुण्याहवाचन के निमित्त दो कलश स्थापित करके उनमें स्थलाधिपति वास्तुपुरुष एवं जलाधिपति वरुण की पूजा की जाती है । मण्टप के मध्य भाग में यज्ञकुंड तैयार करके उसमें दीक्षाकर्मांगभूत हवन किया जाता है । इसके अलावा संपूर्ण मण्टप के चारों ओर शतरुद्र के प्रतीक शतकुंभ भी स्थापित किये जाते हैं । मण्टप में स्थापित सभी कलशों में से पंचाचार्यों के प्रतीकरूप स्थापित जो पंचकलश हैं, वे प्रधान हैं । उनके संमुख दीक्षा देने वाला गुरु उत्तराभिमुख और दीक्षा ग्रहण करने वाला बटु (शिष्य) पूर्वाभिमुख होकर बैठते हैं ।

सप्तविध दीक्षा

पंचकलश की साक्षी में की जाने वाली क्रिया दीक्षा में भी सात प्रकार के संस्कार किये जाते है । १. आज्ञा, २. उपमा, ३. कलशाभिषेक, ४. स्वस्तिकारोहण, ५. भूतिपट्ट, ६. आयत्त और ७. स्वायत्त, इन सात नामों के संस्कार निम्न प्रकार से होते हैं—

आज्ञा दीक्षा—इस दीक्षा संस्कार को लेने वाले शिष्य को—"परित्यज्य सदाचारं मा प्रवर्तस्व सर्वदा" (कारणागम, क्रियापद, १.४४) इस आगमोक्ति के अनुसार गुरु अपने शिष्य को सदाचारी बनने के लिये जो आज्ञा देते हैं, उसे आज्ञा दीक्षा कहते है ।

उपमा दीक्षा—पूर्ववर्ती सदाचार संपन्न आचार्यों के उदाहरण बताकर उनके जैसे बनने की शिक्षा ही उपमा दीक्षा है । इस प्रकार उपदिष्ट शिष्य के प्राक्तन पाप दूर करने के लिये उसे पंचगव्य का प्राशन कराया जाता है ।

कलशाभिषेक दीक्षा—इसमें पंचाचार्यों के प्रतीक रूप पंचकलशों के पवित्र जल द्वारा शिष्य का जो अभिषेक किया जाता है, उसको कलशाभिषेक कहा जाता है । शिष्य के शरीर में रहने वाले पृथिवी आदि पांच तत्त्वों की शुद्धि के लिये यह कलशाभिषेक किया जाता है ।

स्वस्तिकारोहण दीक्षा—शिष्य के मांसपिंड की निवृत्ति करके उसका मन्त्रपिंड बनाने के लिये किये जाने वाले अध्वशोधन को स्वस्तिकारोहण दीक्षा कहते हैं । आगमशास्त्र में वर्ण, पद, मन्त्र, कला, तत्त्व और भुवन नामक षडध्व माने गये हैं । इन छः अध्वों का साधक के पाद से मस्तक पर्यन्त न्यास करने से, अर्थात् सम्बन्ध कराने से शरीर अध्वात्मक हो जाता है । इस विधि के अनुसार पाद में वर्णाध्व, नाभि में पदाध्व, मुख में मन्त्राध्व, गुह्यस्थान में कलाध्व, हृदय में तत्त्वाध्व और मस्तक में भुवनाध्व का सम्बन्ध किया जाता है । (कारणागम, क्रियापाद, १.७८-८१) । अध्व सम्बन्धी इन षडंगों में षडक्षर मन्त्राक्षरों का भी सम्बन्ध किया जाता है । इस प्रकार इस संस्कार से शिष्य का शरीर अध्वात्मक या मन्त्रात्मक हो जाता है । अतः इसे मन्त्रपिण्ड कहते हैं ।

भूतिपट्ट दीक्षा—शुद्ध गोमय से निर्मित भस्म से शिष्य को भस्मस्नान, भस्मोद्धूलन, और भस्म का त्रिपुंड्रधारण कराने के संस्कार-विशेष को भूतिपट्ट दीक्षा कहते हैं । इस दीक्षा-संस्कार के करते समय गुरु अपने शिष्य को भस्म का महत्त्व बता कर अपने अमृत हस्त से उसके शरीर पर विधिवत् भस्म धारण कराते हैं । इससे शिष्य के अनादि मल का निवारण हो जाता है ।

आयत्त दीक्षा—पंचसूत्र प्रक्रिया से निर्मित शिलामय अंगुष्ठ परिमाण के इष्टलिंग को अभिषेकादि के द्वारा परिशुद्ध करके गुरु अपने वामहस्त-पीठ में रखकर उसकी विधिवत् पूजा करते हैं । उसके बाद उसे शिष्य को बताते हुए कहते हैं—"भो शिष्य, तुम इस इष्टलिंग को देखो । यह तुम्हारा इष्टलिंग है । इस तरह लिंग और शिष्य इन दोनों के बीच में अन्तर पट पकड़कर मंगलाष्टक उच्चारण करते हुये अक्षतारोपण करते हैं । इसके बाद "अङ्गत्रयेऽपि दृढ़तो लिङ्गवान् भव सर्वदा" (कारणागम, क्रिया. १.९१) इस प्रकार उपदेश करके अन्तर पट को हटाते हैं । तब "आज से तुम लिगायत्त हो जाओ, अर्थात् लिंग के अधीन रहो, इस लिंग को सदा शरीर पर धारण

करो तथा इसे कभी भी शरीर से अलग मत रखो" । इस प्रकार लिंगाधीन रहने के लिये उपदेश-संस्कार किया जाता है । उसको आयत्त दीक्षा कहते हैं ।

स्वायत्त दीक्षा—अपने हाथ में स्थित उस सुसंस्कृत इष्टलिंग को गुरु मन्त्रोपदेश-पुरस्सर शिष्य के वामहस्त पीठ में रख कर उसे जब शिष्य के स्वाधीन करते हैं, उसे स्वायत्त दीक्षा कहते हैं । इस स्वायत्त दीक्षा को करते समय—

मन्त्रपूते कलां शैवीं योजयेद् विधिना गुरुः ।
शिष्यस्य प्राणमादाय लिङ्गे तत्र निधापयेत् ॥

तल्लिङ्गं तस्य तु प्राणे स्थापयेदेकभावतः ।
एवं कृत्वा गुरुर्लिङ्गं शिष्यहस्ते निधापयेत् ॥ (सि. शि. ६.२४-२५)

इस आचार्योक्ति के अनुसार इष्टलिंग को शिष्य के स्वाधीन करने से पहले श्रीगुरु शिष्य के मस्तक पर पंचकोण चक्र लिख कर मध्य में प्रणव और पंचकोणों में क्रमशः न, म, शि, वा, य, इन पंचाक्षरों को लिख कर ऊपर अपना दाहिना हाथ रख कर शिष्य के मस्तक के पश्चिम शिखाचक्र में स्थित चित्कला का ध्यान करके अपनी योगमहिमा व संकल्पशक्ति से "क्रोम्" इस बीजाक्षर का उच्चारण करते हुए उस चित्कला को अंकुश मुद्रा से आकृष्ट करके शिष्य के इष्टलिंग में स्थापित करते हैं एवं चित्कलायुक्त उस लिंग में शिष्य की जीवकला रूप प्राणशक्ति को भी आकृष्ट करके उस इष्टलिंग में स्थापित करते हैं । इस प्रकार कला शक्ति और प्राण शक्ति से विशिष्ट उस इष्टलिंग को गुरु शिष्य के वामहस्त पीठ पर रखकर उसे शिष्य के स्वायत्त (स्वाधीन) कराते हैं । इसलिये इस दीक्षाविधि को 'स्वायत्त दीक्षा' कहते हैं ।

इस प्रकार यह इष्टलिंग उपासक की चित्कला एवं प्राणकला से युक्त है । अतः वह उसका स्वात्म-स्वरूप ही है । इसलिये उसकी उपासना प्रतीकोपासना न होकर अहंग्रहोपासना मानी जाती है ।

अभिषेक

दीक्षाविधान में दीक्षा संस्कार किये जाने वाले साधक का जैसे अभिषेक किया जाता है, उसी प्रकार वीरशैवधर्म के गुरुपीठों में आचार्य रूप में आसीन होने वाले विशिष्ट व्यक्तियों का भी अभिषेक

किया जाता है । गुरुत्व प्रदान करने वाले गुरु अपने उत्तराधिकारी का अभिषेक करते समय शिष्य के मस्तक पर अपने दोनों चरण-कमलों को रखकर पवित्र नदियों से लाये हुए जल से एवं पंचामृत से श्रीरुद्र का पठन करते हुए अभिषेक करते हैं । इस अभिषेक के बाद उनको षट्स्थल ब्रह्मोपदेश भी करते हैं । इस प्रकार आगमोक्त विधि से पट्टाभिषिक्त शिवाचार्य अपने अपने शाखानुयायी वीरशैवों के कुलगुरु बन जाते हैं और इन्हीं शिवाचार्यों के द्वारा उनके शिष्यों की संतानों के दीक्षाशिक्षादि धार्मिक संस्कार किये जाते हैं तथा वे ही उनके परंपरागत गुरु होते हैं । इसी प्रकार गुरु-पीठों की तरह जगद्गुरु-पीठों में भी अभिषेक किया जाता है ।

पूजा (बाह्य और आन्तर)

वीरशैव सिद्धान्त में प्रत्येक साधक को गुरु के द्वारा त्रिविध दीक्षा करके उसको इष्टलिंग, प्राणलिंग व भावलिंग प्रदान किये जाते हैं । इनमें इष्टलिंग बाह्य है, तो प्राण और भावलिंग अन्तरंग होते हैं । इष्टलिंग की पूजा प्रत्येक व्यक्ति उसे अपने वाम हस्तपीठ पर रखकर करते हैं । बाह्य मंदिरादि में संस्थापित लिंगपूजा की अपेक्षा हस्तपीठ में स्थापित लिंगपूजा एक विलक्षण पूजा है । मंदिर में रहनेवाले लिंग की पूजा भेदबुद्धि से, अर्थात् लिंग आराध्य है, मैं आराधक हूँ—इस भाव से की जाती है । लेकिन इष्टलिंग की पूजा भेदबुद्धि से न होकर "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" इस उक्ति के अनुसार पूजा करने वाला साधक "अहंग्रह" बुद्धि से इष्टलिंग की पूजा करता है । यह इष्टलिंग एक बाह्य प्रतिमा न होकर अपने अन्तरंग में रहनेवाले ज्योतिर्लिंग का चिह्न है । इसलिये यह बाह्य चिह्न अन्तरंग प्रवृत्ति का कारण बन जाता है । अतः वीरशैवों की इष्टलिंग पूजा बाह्य पूजा कहलाने पर भी अन्य संप्रदायों की बाह्य पूजा के अपेक्षा विलक्षण है ।

बाह्य इष्टलिंग की पूजा बाह्य पूजा कहलाती है और अन्तरंग के प्राण और भावलिंग की पूजा अन्तरंग पूजा कहलाती है । अन्तरंग पूजा में वीरशैव साधक अपने हृदय में ज्योतिर्लिंग के रूप में विराजमान प्राणलिंग की अर्चना करते समय क्षमा अभिषेक जल, नित्य और अनित्य वस्तुओं का विवेक वस्त्र, सर्वदा सत्य भाषण करना आभूषण, वैराग्य पुष्पमाला, समाधि लगाना गन्धार्पण, निरहंकार भावना अक्षत, दृढ़ श्रद्धा धूप, आत्मज्ञान दीप, भ्रान्ति का निवृत्त हो जाना

नैवेद्य, लौकिक व्यवहार में मौन रह जाना घण्टानाद, विषयों का समर्पण करना ताम्बूल, शिव और जीव में भेदबुद्धि दूर कर लेना प्रदक्षिणा तथा अभेद बुद्धि से ज्योतिर्लिंग में लय हो जाना नमस्कार है । इस प्रकार परिशुद्ध मनोवृत्तियों के द्वारा की जाने वाली पूजा प्राणलिंग की पूजा है । सिद्धान्तशिखामणि के द्वादश परिच्छेद में श्लोक १६ से २० तक इसका विस्तृत विवेचन किया गया है ।

इसी प्रकार शिवोऽहं भावनारूप जो भावलिंग है, उसकी पूजा शिवोऽहं भावना से ही की जाती है । अर्थात् निरंतर शिवोऽहं भावना का अनुसंधान करना ही भावलिंग पूजा है । निरन्तर होनेवाले इस शिवोऽहं भावना से साधक शिव से समरस हो जाता है । इस प्रकार वीरशैवों की बाह्य इष्टलिंग पूजा और अन्तरंग स्थित प्राण और भावलिंग की पूजा क्रमशः साधक की मनोवृत्ति को अन्तर्मुख करने में सहायक होते हुए उसके लिंगांगसामरस्य प्राप्ति का कारण हो जाती है ।

प्राणायाम—वीरशैव साधक के द्वारा पूजाविधान के समय किये जाने वाले प्राणायाम की विधि इस प्रकार बताई गई है—प्रथम उदक स्पर्श करके अपने शरीर की सभी इन्द्रियों पर उदक का प्रोक्षण करने के बाद तर्जनी और मध्यमा को छोड़कर अंगुष्ठ, अनामिका और कनिष्ठिका इन तीन अगुलियों से प्राणायाम किया जाता है । "सव्याहृतिम्" इत्यादि प्रमाणवचन के अनुसार चन्द्र नामक बायें स्वर से पूरक प्राणायाम करते हैं । द्वादश दलचक्र में कुंभक प्राणायाम करते हैं । अनन्तर सूर्य नामक दाहिने स्वर से रेचक प्राणायाम किया जाता है । पूरक, कुंभक तथा रेचक प्राणायाम करते हुये हर बार "ॐ भूः, ॐ भुवः, ॐ स्वः, ॐ महः, ॐ जनः, ॐ तपः, ॐ सत्यम्, ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्, ॐ आपो ज्योतिरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्" इस मन्त्र का पाठ करते हैं । इस प्रकार तीन बार प्राणायाम करके पूजा का संकल्प किया जाता है ।

मन्त्र और न्यास

मन्त्रशास्त्र में सात करोड़ मन्त्र बताये गये हैं । वीरशैवाचार्यों ने इन सात करोड़ मन्त्रों में उत्कृष्ट ऐसे पंचाक्षर महामन्त्र को अपना इष्ट मन्त्र माना है । यह पंचाक्षर महामन्त्र प्रणव से संयुक्त होने पर षडक्षर कहलाता है । पंचाक्षर महामन्त्र वीरशैवों का इष्ट मन्त्र है । मान्त्री दीक्षा में प्राप्त इस मन्त्र को प्रत्येक व्यक्ति उसे अत्यन्त

गोपनीय रखता है और उसका जपाभ्यास करके अपने अन्तरंग और बाह्यांग को परिशुद्ध करता है ।

पंचाक्षर महामन्त्र का जप करते समय सृष्टि, स्थिति और संहार नामक तीन प्रकार से न्यास करना बताया गया है । सृष्टिन्यास ब्रह्मचारियों के लिये, स्थितिन्यास गृहस्थों के लिये तथा संहारन्यास संन्यासियों के लिये है । न्यासविधान इस प्रकार है—

ॐ अस्य श्री शिवपञ्चाक्षरीमहामन्त्रस्य वामदेव-ऋषिः (शिरसि), पङ्क्तिश्छन्दः (मुखे), श्री सदाशिवो देवता (हृदये), ॐ बीजं (नाभौ), उमा शक्तिः (गुह्ये), शिव इति कीलकं (पादयोः), मम साम्बसदाशिव-प्रसादसिद्ध्यर्थं जपे विनियोगः ।

सृष्टिन्यास का क्रम (ब्रह्मचारियों के लिये)

करन्यास— ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ वां ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ शिं ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ मं ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

देहन्यास— ॐ यं ॐ ईशानाय नमः (शिरसि) ।
ॐ वां ॐ तत्पुरुषाय नमः (मुखे) ।
ॐ शिं ॐ अघोराय नमः (हृदये) ।
ॐ मं ॐ वामदेवाय नमः (गुह्ये) ।
ॐ नं ॐ सद्योजाताय नमः (पादद्वये) ।
ॐ ॐ ॐ प्रणवाय नमः (सर्वाङ्गे) ।

अंगन्यास— ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः ।
ॐ वां ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा ।
ॐ शिं ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने शिखायै वषट् ।
ॐ मं ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने कवचाय हुं ।
ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट् ।
भूर्भुवः स्वः ॐ इति दिग्बन्धः ।

स्थितिन्यास का क्रम (गृहस्थों के लिये)

करन्यास— ॐ शिं ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ वां ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ मं ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

देहन्यास— ॐ शिं ॐ अघोराय नमः (हृदये) ।
ॐ वां ॐ वामदेवाय नमः (गुह्ये) ।
ॐ यं ॐ सद्योजाताय नमः (पादद्वये) ।
ॐ नं ॐ ईशानाय नमः (शिरसि) ।
ॐ मं ॐ तत्पुरुषाय नमः (मुखे) ।
ॐ ॐ ॐ प्रणवाय नमः (सर्वाङ्गे) ।

अंगन्यास— ॐ शिं ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने कवचाय हुं ।
ॐ वां ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट् ।
ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः ।
ॐ मं ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने शिखायै वषट् ।
भूर्भुवः स्वः ॐ इति दिग्बन्धः ।

संहारन्यास का क्रम (संन्यासियों के लिये)

करन्यास— ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
ॐ म ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने अनामिकाभ्यां नमः ।
ॐ शि ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने मध्यमाभ्यां नमः ।
ॐ वा ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने तर्जनीभ्यां नमः ।
ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने अङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

देहन्यास— ॐ नं ॐ सद्योजाताय नमः (पादद्वये) ।
ॐ मं ॐ वामदेवाय नमः (गुह्ये) ।
ॐ शिं ॐ अघोराय नमः (हृदये) ।
ॐ वां ॐ तत्पुरुषाय नमः (मुखे) ।
ॐ यं ॐ ईशानाय नमः (शिरसि) ।
ॐ ॐ ॐ प्रणवाय नमः (सर्वाङ्गे) ।

अंगन्यास— ॐ नं ॐ अलुप्तशक्तिधाम्ने अस्त्राय फट् ।
ॐ मं ॐ स्वतन्त्रशक्तिधाम्ने नेत्रत्रयाय वौषट् ।
ॐ शिं ॐ अनादिबोधशक्तिधाम्ने कवचाय हुं ।
ॐ वां ॐ नित्यतृप्तिशक्तिधाम्ने शिखायै वषट् ।
ॐ यं ॐ सर्वज्ञशक्तिधाम्ने शिरसे स्वाहा ।
ॐ ॐ ॐ अनन्तशक्तिधाम्ने हृदयाय नमः ।
भूर्भुवः स्वः ॐ इति दिग्बन्धः ।

शिवयोग साधना

वीरशैव सिद्धान्त में भी योग मार्ग का अवलंबन किया जाता है । इस सिद्धान्त में शिवयोग की मान्यता है । शिव के साथ जीव का सामरस्य सम्बन्ध करना ही शिवयोग कहलाता है । साधक के मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि और आज्ञा नामक चक्रों में क्रमशः आचारलिंग, गुरुलिंग, शिवलिंग, जंगमलिंग, प्रसादलिंग और महालिंग इन षड्लिंगों की उपासना की जाती है । इन षट्चक्रों में इस प्रकार षड्लिंगों की उपासना करने का विधान वीरशैव सिद्धान्त का वैशिष्ट्य है । इस प्रकार शिवयोग साधना के द्वारा जीव (अंग) का शिव (लिंग) से सामरस्य प्राप्त कर लेना ही वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति है ।

एकेन जन्मना मुक्तिः

जीवत्वं दुःखसर्वस्वं तददिं मलकल्पितम् ।
निरस्यते गुरोर्बोधाद् ज्ञानशक्तिः प्रकाशते ॥ (सि. शि. १८.१७)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार बन्ध का कारण मलत्रय का आवरण माना गया है । जब

तक आणवादि मलत्रय की निवृत्ति नहीं होती, तब तक जीव को मुक्ति नहीं मिल सकती । वीरशैव सिद्धान्त में मलत्रय की निवृत्ति के लिये त्रिविध दीक्षा आवश्यक मानी गयी है । दीक्षा के द्वारा शिष्य के मलत्रय की निवृत्ति होती है और उसका संकुचित ज्ञान विकसित हो जाता है । इस प्रकार विकसित ज्ञान का साधक शिव के साथ समरस भाव को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है । इस तरह यह दीक्षा वीरशैवानुयायी प्रत्येक स्त्री-पुरुषों के लिये अवश्य करणीय है । इससे वे एक ही जन्म में मुक्त हो जाते हैं । इसीलिये आगम में "एकेन जन्मना मुक्तिर्वीराणां तु महेश्वरि" ऐसा कहा गया है । अतः वीरशैव सिद्धान्त के अनुसार एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है ।

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

हम लोगों को अब इन दोनों निबन्धों पर विचार करना है । इनके बारे में मै एक दो बाते बता देना चाहता हूँ । वीरशैव सम्प्रदाय में लिंगधारण प्रमुख है और इसके चिह्न मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं में भी मिलते है, किन्तु आजकल के ऐतिहासिक लोगो का कहना है कि कर्णाटक प्रदेश के ११वीं शताब्दी के राजा के मन्त्री संगम वसवदेव ने वीरशैव सम्प्रदाय की स्थापना की । इसके पहले इसका कोई अस्तित्व नहीं था । इसके साथ ही यह सम्प्रदाय कर्णाटक में विकसित हुआ था, अब आन्ध्र और महाराष्ट्र के भागों में भी इसका अस्तित्व है । आन्ध्र और महाराष्ट्र को छोड़ दें, तो कर्णाटक में कभी दो सम्प्रदाय प्रमुख थे— एक तो जैन सम्प्रदाय, जैन सम्प्रदाय के अनेक महामनीषी कर्नाटक के है । इसी तरह से शैव सम्प्रदाय, जो चार भागों में विभक्त है— सिद्धान्त शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक, इनमें से कालामुख सम्प्रदाय कर्नाटक में ही विकसित हुआ था और इसके अनेक शिलालेखीय प्रमाण मिलते है ।

एक बात मै और कहना चाहता हूँ । पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि तन्त्रशास्त्र की प्रवृत्ति आठवीं शताब्दी में या आठवीं शताब्दी के बाद हुई, किन्तु प्रो० बलजिन्नाथ जी का जो निबन्ध अभी पढ़ा गया, उसमें तुला दीक्षा की चर्चा है और इस तुला दीक्षा का धर्मकीर्ति ने अपने प्रमाणवार्त्तिक में खण्डन किया है । ऐसी स्थिति में तन्त्रशास्त्र आठवीं शताब्दी या उसके बाद विकसित हुआ, यह कुछ समझ में नहीं आता ।

तन्त्रशास्त्र का कहना है कि दीक्षा के पहले तो उनकी जातियां रहती हैं, किन्तु दीक्षित हो जाने के बाद वह जिस सम्प्रदाय में दीक्षित हुआ, वह एक

ही जाति बच जाती है । इसी के आधार पर हम लोगों ने यहां तन्त्रशास्त्र को शैव, वैष्णव, शाक्त, बौद्ध, जैन विभागों में बांट दिया है । काश्मीरी स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है कि जो व्यक्ति दीक्षित हो जाने के बाद अपनी पुरानी जाति का स्मरण करता है, तो वह प्रायश्चित्ती होता है । आज भी जब व्यक्ति संन्यासी हो जाता है, तो उसके लिये भी यही नियम है । वह तो संन्यस्त हो गया, अब उसकी कोई जाति नहीं रही । इस विषय पर हम अन्तिम दिन विचार करेंगे । अन्य जो अनेक अलग-अलग पहलू हैं, जैसे कि एक जन्म में मुक्ति वाला सिद्धान्त, इस तरह के प्रश्नों पर भी हम उसी दिन विचार करेंगे । आज सबसे पहले मैं डॉ० ढाकी साहब से निवेदन करूँगा कि कर्णाटक में जैन सम्प्रदाय का, कालामुख सम्प्रदाय का और वीरशैव सम्प्रदाय का क्या घात-प्रतिघातात्मक इतिहास रहा, इसके ऊपर हम लोगों को कुछ बतावेंगे ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

मैं पहले यह कहना चाहता हूँ कि मन्त्रवाद तो रहा, किन्तु तन्त्रवाद का कुछ देर से विकास हुआ । विद्वान् लोग कहते हैं कि आठवीं शताब्दी में इसके लक्षण दिखाई पड़ते हैं । ऐसा वे साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर, जो उपलब्ध ग्रन्थ हैं, उनके आधार पर कहते हैं । वह सीमा पीछे हट सकती है । जैसे आपने बताया प्रमाणवार्त्तिक का प्रमाण । इससे भी पहले इसकी स्थिति हो सकती है । गुप्त प्रच्छन्न रूप से भी शास्त्रों का विकास होता ही रहता है । उसका मूल आप अथर्ववेद तक शायद ले जाये । लेकिन प्रश्न यह है कि मन्त्रवाद का कब विशेष प्रभाव रहा और तन्त्र में मन्त्र के साथ यन्त्र (मण्डल) का उपयोग कब प्रारंभ हुआ और बाद में उसमें शक्तिवाद का समावेश होकर इससे अपना व्यवस्थित रूप कब ग्रहण किया, इन सब विषयों का शास्त्र के रूप में उल्लेख बाद का मिलता है । इसके पहले का जरूर हो सकता है, इसमें कोई शंका नहीं ।

अब जहां तक जैनों का सवाल है, यानी निर्ग्रन्थ दर्शन का, जैन तो बाद का शब्द है, छठी शताब्दी पूर्व मिलता भी नहीं, इस निर्ग्रन्थ दर्शन में आत्मा को ही मुख्य माना गया है । वेदान्त में ब्रह्म का जो स्थान है, सांख्य में पुरुष का है, वही स्थान आत्मा का निर्ग्रन्थ दर्शन में है । आत्मा से बढ़कर दूसरी बात वे मानते नहीं । वे किसी प्रकार के द्वन्द्व को मानते नहीं । अब आत्मा की जो शक्ति है, वह किसी बाहर के आधार के बिना अपने आप प्रकट होती है । तपस्या, ध्यान, योग सबका अलग-अलग प्रकार से वही लक्ष्य रहा है । इसीलिये वहां मन्त्र का या तन्त्र का पूर्व काल में कोई स्थान नहीं रहा, समाधि योग का जरूर रहा है, जिसकी प्रक्रिया बहुत काल से हम भूल गये है सामान्यतः, लेकिन कुछ कुछ लोगों को स्मरण रहा है । बाकी सब तो चला गया, अब केवल तपस्या मार्ग रह गया । कर्म का निकन्दन निकालने के लिये ।

जहां तक कर्णाटक का प्रश्न है, वहां दिगम्बर और यापनीय दोनों सम्प्रदायो पर मन्त्र और तन्त्र का प्रभाव आया है । पद्मावती देवी का आविर्भाव

छठी शताब्दी के अन्त तक जैनों में हुआ। ६१८ ई० की दिगम्बर गुफाओं में आप देख सकते है। धरणेन्द्र और पद्मावती पार्श्वनाथ के संग दोनों जब लाये गये, वहां ऐसी कथाएं रची गयी थी, रचना हो गयी थी उनकी, तब पद्मावती वहां आयी। श्वेताम्बर उत्तर वालों को इसका पता नही। आठवीं-नौवीं शताब्दी तक, दशवीं शताब्दी तक पद्मावती को वे नहीं जानते। एक दफा आ जाने के बाद कर्णाटक में जैनों ने उस पर मन्त्र और तन्त्र की तरह एक तरफ धरणेन्द्र और उससे भी बढ़कर पद्मावती का विकास किया। भैरवपद्मावती कल्प, जो दाक्षिणात्य दिगम्बराचार्य का बनाया हुआ है, ११वीं शताब्दी में उनका आविर्भाव करते समय उनको ब्राह्मणीय तन्त्रों की, तन्त्र के ज्ञाताओं की मदद लेनी पड़ी। आगम साहित्य का आगमेतर साहित्य में ऐसा सीधा अस्तित्व है नही। यक्ष-यक्षियों की कल्पना नौवीं शताब्दी से पूर्व की नहीं है, जो आज हम देखते हैं, महाविद्याओं की हो चुकी है और चूर्णियों में, भाष्यों में उनका उल्लेख है, कथाओं में भी है। आर्य खपुटाचार्य तान्त्रिक थे। विद्याओं की उपासना करते थे। उनका समय परम्परा से तो बहुत प्राचीन मानते हैं, लेकिन मेरी दृष्टि से तीसरी-चौथी शताब्दी का है। भृगुकच्छ के वे श्वेताम्बर चैत्यवासी साधु थे। वनवासी शुद्ध मुनि जो लोग रहते थे, उनके लिये यह कोई प्रश्न नहीं था, लेकिन जो चैत्यवासी थे, जो मन्दिर बनाकर बस्तीवास करते थे, उनमें पहले प्रवेश हुआ है और कर्णाटक में भी यही हाल है। उनमें दोनों तन्त्र श्वेताम्बर-दिगम्बर या अपने जितने संप्रदाय रहे, उनका समान तन्त्र है, सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें कोई बांग छोर नहीं है, कोई फर्क नहीं है।

अब जब प्रवेश हो गया, तो प्रश्न यह है कि क्यों हुआ, कैसे हुआ ? एक तरफ से बौद्धों में मन्त्र-तन्त्र था महायान-वज्रयान, वैदिक अनेक दर्शन शैव-शाक्त थे, उसके प्रभाव से वे मुक्त नहीं रह पाये। उनको भी सर्जन करना पड़ा और ऐसे अनेक स्तोत्र धरणेन्द्र, पद्मावती, पार्श्वनाथ; विशेष करके चक्रेश्वरी, अम्बिका और सरस्वती को लक्ष्य करके बने है, जिसमे शुद्ध तान्त्रिकता हम देख पाते है और उनका समय करीब आठवीं शताब्दी के अन्त से लेकर बाद में अनेक साल तक चालू रहा। बड़े-बड़े महान् आचार्य, जिनके प्रति हम लोग बहुत सम्मान रखते है, ऐसे लोगों ने भी मान्त्रिक-तान्त्रिक स्तोत्रों की रचना की है। प्रश्न यह है कि इनका स्वभाव कैसा रहा ? तो मैं इतना ही कहूं कि जैनों ने ही पहले लिया। अपने अनुरूप पहले शैव तन्त्र से लिया है और शाक्त तन्त्र से बाद में अपने मत के अनुरूप बनाया है। ॐ ह्रीं क्लीं जैसे शुरुआत होती है, वह जैनों में कभी हो ही नहीं सकती, वह लिया गया शाक्त और शैव मत से। इसकी चण्डी, चामुण्डा से भी तुलना की गई है पद्मावती की और अन्दर पूरा वर्णन है बहुत सुन्दर है, पद्मावती के तान्त्रिक स्तोत्र, लेकिन पूरा वर्णन देखेंगे कि वह कभी भी स्वयं जैन मत में हो ही नहीं सकता और इसका कोई आधार भी नही है। भूतकाल में इन सबकी प्रतिक्रिया से उत्पत्ति हुई है। लेकिन वैसे ये दीक्षाएं और ये लम्बी क्रियायें जैन सम्प्रदाय में स्वीकार्य नहीं है, प्रच्छन्न रूप में मुनि लोग जो कहे वह सही। लेकिन इसी तरह की दीक्षा न मुनि लोग सीधा देते है किसी को और न श्रावको में इसका प्रचार है,

इसके पीछे आत्मार्थ का भी कोई उद्देश्य नहीं है । मन्त्र-तन्त्र के पीछे आत्मा की उन्नति है, ऐसा वे नहीं मानते थे, आगमो ने इसका निषेध किया था । तन्त्र शब्द वहां नही है, क्योकि उस समय तन्त्र नही था, लेकिन मन्त्र का, भैषज्य नक्षत्र विद्याएं, ज्योतिष इन सबका भिक्षुओं के लिये निषेध है । ऐसी स्थिति में जब हम यह चीज देखते है, तो बात आ गयी है, तो उसका आन्तरिक विकास होना संभव नही है । वह बाहर से लिया गया है, लेकर बाद में विकास हुआ वह अलग बात है । यूँ तो वैदिक तन्त्र और बौद्ध तन्त्रों ने भी परस्पर एक दूसरे से लिया है । आज इसका विश्लेषण करके कहना मुश्किल है कि यह सब कब किसने किससे लिया और शायद यह प्रश्न व्यवहार में उपयुक्त भी नहीं है, गौण है । जो लोग उसका अभ्यास करते है, उनके लिये यह जरूरी भी नहीं है । इतिहास का पिष्ट–पेषण करने वाले हमारे जैसे लोगों को होता है— भाई देखो कब और क्या हुआ । इसका कोई महत्त्व व्यवहार में नहीं है, मूल सम्प्रदाय की अविच्छिन्न परम्परा में इतिहास का कोई महत्त्व नहीं है, आज के पाश्चात्य विद्या के प्रभाव से हम लोगों ने यह किया है विशेषतः, तो ठीक है इतना ही हम कह सकते है । इससे अधिक कहना मुश्किल है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

तन्त्र शब्द का जो आपने प्रयोग किया, मैं समझता हूँ कि रहस्यवादी तान्त्रिक कर्मकाण्ड को लेकर आप ऐसा कहते हैं, किन्तु जो भारतीय दृष्टिकोण है या जो इनके नाम हैं, जैसे शैवागम । शैवागम के अनेक ग्रन्थ, जो आगम नाम से कहलाते है, उनको तन्त्र भी कहते है । इसी तरह से जो पांचरात्र आगम के ग्रन्थ हैं, या वैखानख आगम के, वैष्णव आगम के ग्रन्थ है, उनको संहिता भी कहते है, तन्त्र भी कहते है । एक पाश्चात्य विद्वान् ने विभाजन कर दिया कि संहिता वैष्णवों के ग्रन्थ हैं, आगम शैवों के ग्रन्थ हैं, तन्त्र शाक्तों के ग्रन्थ है । तो यह सारा अध्ययन मैं समझता हूँ कि उसी से अनुप्राणित है । मेरा निवेदन यह कि तन्त्रशास्त्र की पृष्ठभूमि को कम से कम लकुलीश तक आपको ले जाना पड़ेगा । आपने भृगुकच्छ के जैन आचार्य की चर्चा की है और लकुलीश भी भृगुकच्छ (कायावरोहण) में अवतरित हुए है । मैं समझता हूँ जैन आचार्यों में भी ऐसे बहुत से आचार्य हुए हैं, जिनका लकुलीश पाशुपत मत से सम्पर्क रहा हो । लकुलीश पाशुपत मत को तान्त्रिक दर्शन ही माना जाता है और तन्त्र के दीक्षा आदि सभी विषयों की, सारी प्रक्रिया वहां से अनुस्यूत है । सबसे बड़ी चीज यह है कि यह वैदिक कर्मकाण्ड से नितान्त भिन्न है । यह आगमिक और तान्त्रिक कर्मकाण्ड है । इसीके लिये हमने यहां तन्त्रशास्त्र शब्द का प्रयोग किया है । यह उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, जिसको कि पाश्चात्यों ने हमारे ऊपर थोप दिया है । अपनी जो दृष्टि है, जो पांचरात्र और पाशुपत दृष्टि है, जो जैन आगमों में, वैष्णव आगमो में, उपनिषदों में और ब्राह्मण–ग्रन्थों में भी मिलती है, उस दृष्टि के आधार पर हम लोग यहां विचार करते है । यह जो अलग–अलग प्रभाव पड़ा, उसके ऊपर हमें विचार नही करना । कौन किसके पहले आया, किसके बाद आया यह हमें नहीं देखना है, किन्तु क्या क्या

कहा कहां है, किस सम्प्रदाय में कौन कौन से उपादान है, केवल हम लोग उसकी तुलना करना चाहते है । इस तुलना के आधार पर एक दृष्टि हमें मिलेगी । वह दृष्टि आज भी उपयोगी है, आज के समाज के लिये भी उपयोगी है, यह हम लोग बताना चाहते हैं । तन्त्र शब्द का जिस रूप में आप प्रयोग करते हैं, उससे तो लोग दूर होते जा रहे है । जो उसकी अच्छाइयां थी, उसे हम भुलाते चले जा रहे है । आजकल एक फैशन बन गया है कि बौद्ध धर्म को भारत से निकाल दिया गया । वह निकला नहीं, वह तो यहां वर्तमान है । आचार्य शंकर के बारे में कहा जाता है कि ये प्रच्छन्न बौद्ध थे और दूसरी तरफ शांकर मत के अनुयायी भास्कर के लिये कहते है कि ये प्रच्छन्न अनेकान्तवादी थे । इन सबके बीच में हमको यह देखना होगा कि कहां किस सिद्धान्त की किस तरह की अनुस्यूति है ।

मेरा एक और निवेदन है कि यह कार्य दर्शन नहीं कर सकता । दर्शन तो जड़ है । प्रारम्भ में एक ग्रन्थ लिखा गया । वह तत्त्वार्थसूत्र हो या गौतमसूत्र हो । उसमें जो कुछ कहा गया, उसका आज भी समर्थन करने के लिये लोग तत्पर हैं, किन्तु आगम में या तन्त्रशास्त्र मे ऐसा नहीं हुआ । वहां तो धार्मिकता की पूर्ण सुरक्षा होते हुए भी निरन्तर जो परिवर्तन होते रहे, उन परिवर्तनो को भी स्वीकार किया गया है । इसका ज्वलन्त उदाहरण प्रत्यभिज्ञा दर्शन और बौद्ध मन्त्रनय है । जैन धर्म-दर्शन का भी हमें इसी दृष्टिकोण से अनुशीलन करना पड़ेगा ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

आगम और तन्त्र समानार्थक है, यह एक अलग बात है । हमने उसी अर्थ मे नहीं कहा था, वह मानते हैं । किन्तु निर्ग्रन्थि आगमो को तन्त्र कभी नही मानते । तन्त्र और आगम कब से समान रूप से परिभाषा मे आ गये, यह एक ऐतिहासिक अन्वेषण का विषय है । यह हम मान सकते है कि पारमेश्वर तन्त्र और पारमेश्वरागम दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । लेकिन ऐसा कब हुआ ? तन्त्र और आगम को एक ही रूप में कब से माना जाने लगा ? लकुलीश पाशुपत मत का जो मूल दर्शन रहा, उसका जो तत्त्वज्ञान रहा, या जो क्रियायें रही, वे हमारे पास बहुत बची नही है । उनका अल्पांश ही बच रहा है । उसकी जो परम्परा रही, उसमें जो विकास हुआ, उसका विकसित स्वरूप वाला भाग तो हमारे पास है, लेकिन साहित्य बाद का है और वह शैव सिद्धान्त से भी बहुत-कुछ मिलता जुलता है । शैव दर्शन-साहित्य आज उपलब्ध है । इसका आधारभूत प्राचीन साहित्य उससे अतिशय भिन्न होगा, ऐसा मानना उचित नहीं है । मूल शिव का सिद्धान्त है, वह तो रहेगा या शिव मध्य स्थान में, केन्द्र में है । लेकिन उन्होंने वास्तव में जिसको हम तन्त्रवाद कहते है, उसका कहां तक ग्रहण किया था, हमें मालूम नहीं । थोड़ा सा है पाशुपत सूत्र का शुरू में । वह भी मानते है कि मूल तो इनका है आचार्य का, लेकिन कहां तक कितना अंश है ? यह सब इससे आकलित नही होगा । परम्परा का हम आकलन करने जाये तो अविकसित भाग भी उनका ही कहना चाहिये, जिनका

कि बाद में विकास हुआ । हरेक दर्शन में यह बात हुई है । सांख्य मूलतः होगा वार्षगण्य तन्त्र । बाद में जैसे बढ़ते गये बढ़ते गये वाद-विवाद के कारण अपनी सुरक्षा के लिये नयी नयी बातें जोड़ कर मूल सिद्धान्त को कायम रख कर उसमें से इतने भेद-प्रभेद हुए, यह सब प्रक्रिया बाद की है ।

जैनों में कर्मसिद्धान्त का इतना विकास हुआ, जितना कहीं भी नहीं है । भेद, उपभेद, प्रभेद धीरे धीरे बनते है । उसका मूल सिद्धान्त रहता है । पार्श्वनाथ की परम्परा के अष्ट कर्म का बाद में विकास हुआ । कर्मप्रकृति-प्राभृत आदि मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं । हमारा कहना यही है कि इतिहास का उपयोग विकास की प्रक्रिया को समझाने में करना चाहिये । आप कहते है कि वीरशैव का उद्भव इसी तरह नहीं रहा, लेकिन शैव सिद्धान्त इसी रूप में रहा । यह जरा थोड़ा विकसित भिन्न क्रिया में, कहीं भिन्न रूप से थोड़ा आगे बढ़ा । कुछ न कुछ उसका बीज पीछे रहता ही है । बौद्ध सिद्धान्त से स्पष्ट है कि कभी भी एक चीज दूसरे की पूर्व उपस्थिति के बिना होगी ही नहीं । लेकिन बाद में विकसित रूप को हम उसका मूल रूप मान लेते हैं कि पहिले से ऐसा था, तो हम इसको नहीं मान सकते । इतिहास का उपयोग तो इतना ही है, इससे विशेष नहीं । परम्परा बलवान् है, इतिहास नहीं, यह हम मानते है ।

प्रो0 नथमल टाटिया

शायद आप लोगों के ध्यान में यह बात नहीं आयी हो । तन्त्र शब्द से मत चिपकिये । तन्त्र की जो मान्यता है, उसको आप समझिये । आचारांगसूत्र सबसे प्राचीन है और उसमें तन्त्र है । जैसे मै कहूं भगवान् ध्यान करते समय एकाग्र दृष्टि से किसी वस्तु पर त्राटक करते थे, आचारांग में है, फिर "शास एहि निमन्तिज्जा", हे शास्ता ! धर्मो से देवता लोग आपको आमन्त्रित करेंगे । योगी लोग उसमें फंसे नहीं, यह सब क्या है ? तन्त्र की बाते है, लेकिन तन्त्र शब्द नही है । तन्त्र शब्द नही है, इसीलिये हम कहते हैं कि तन्त्र से क्या सम्बन्ध है ? "संगस्मयाकरणम्" आपके पातंजल योग सूत्र में है । देवता आकर मन्दाकिनी बतायेंगे, शील बतायेंगे, अप्सराओं को बतायेंगे, यही बात आचारांग सूत्र में है । त्राटक भी है सब बाते है, लेकिन बात क्या है कि हम मूल तो पढ़ते नही और टीकाकार इन चीजो को भूल गये । लेकिन इधर मैने प्रयत्न किया समझने का । उमास्वाति को देखिये । उमास्वाति अपने स्वोपज्ञ भाष्य के दसवें अध्याय में चालीस ऋद्धियों का वर्णन करते है । धर्म-ध्यान के द्वारा चालीस ऋद्धियां उत्पन्न होती है । उमास्वाति एक एक ऋद्धि को गिनाते है, कैसे होती है, यह गिनाते है । अब तन्त्र क्या बाकी रहा । तन्त्र शब्द नही है, तो ऐतिहासिक लोग क्या करते है ? वे शब्द को खोजते है । अरे भाई विषय को खोजो, वह है कि नहीं वहां । जैनो मे आहारक शरीर की कल्पना है । यह आहारक शरीर क्या होता है ? यह जीव तब सूक्ष्म शरीर बन कर उसमे आसीन होकर, एक तरह का ऐस्ट्रनाट बनकर वह चला जाता है, अपने शरीर को यहां छोड़ देता है । यह आपके तत्त्वार्थसूत्र मे है । सूक्ष्म शरीर, आहारक शरीर बनाकर, आत्मा उसमें अध्यासीन होकर जहा भगवान् है, तीर्थकर

है, वहां जाकर प्रश्न पूछकर वापिस आ जाता है, चार मिनट के अन्दर । वह शरीर को फिर धारण कर लेता है । यह तन्त्र की बात नहीं है ? शरीर को छोड़ करके चला जाता है, शरीर में फिर से आ जाता है । पद्मावती कब आयी, मूल बात यह नहीं है । जैसे हीनयानी लोग कहते है कि महायान तो है नहीं, ऐसे जैन लोग भी, हीनयानी जैन लोग भी कहेंगे कि ये सब बाते इसमें नहीं है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

टाटिया साहब के वक्तव्य में मैं एक बात और जोड़ दूँ । यह तो आप जानते है कि वैदिक संस्कृति यज्ञ-प्रधान है । पहले यहां याज्ञिक पूजा-पद्धति प्रचलित थी । तन्त्र में, आगम में जो पद्धति है, उसमें मन्दिर निर्माण करके प्रतिमा की स्थापना करने के बाद आन्तर और बाह्य अर्चन होता है । यह पद्धति वैदिक पद्धति से भिन्न है । आप इसको देखिये कि यह परिवर्तन कब आया ? यह जो यज्ञीय पद्धति थी, उसके स्थान पर जो नई पूजा-पद्धति आयी, वह कब आयी ? इस नई पूजा पद्धति का निश्चित सम्बन्ध हमको आगम और तन्त्रशास्त्र से जोड़ना पड़ेगा, क्योंकि आगमों में ही नहीं, पुराणों में भी यह स्पष्ट बताया गया है कि ये चीजें वेद में नहीं थीं । लिंगपूजा का, प्रतिमा बनाने का, मन्दिर बनाने का विधान, ये सब चीजें वेद में नहीं थी । ये आगमों में ही मिल सकती है । इसीलिये बाद में धर्मशास्त्र के जो निबन्ध-ग्रन्थ बने, उनमें वैदिक वचनों के साथ आगमिक वचनों का भी समावेश किया गया, तो इसका समय आप क्या मानेंगे ?

डॉ० एम० ए० ढाकी

देखिये परम्परा को अनादि-अनन्त मानना ठीक है । परम्परा के हिसाब से तो हम समय की चिन्ता क्यों करें ? इतिहास को आप मानते नहीं । ऐसा है कि जो इतिहास हम आज देखते है, इसके पूर्व का भी इतिहास होगा, उसके पूर्व का भी होगा । इस तरह से आप अनन्त काल में चले जायेंगे । जैन शब्द का आरंभ कब हुआ । वे तो अरबों परार्ध्य युग पहले हुए है । अब ऐसी स्थिति में उनसे कोई दलील या बहस नहीं हो सकती । मान्यता का सवाल है, तो मान्यता और इतिहास में कोई मेल ही नहीं है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

यह जो पाचरात्र आगम और पाशुपत आगम है, डॉ. भाण्डारकर आदि विद्वानो ने शिलालेखो के आधार पर इनका काल स्थिर किया है । घोसुण्डी का शिलालेख ईसा के दो सौ वर्ष पहले का माना जाता है । वहा जो वाटिका है, वह वासुदेव-संकर्षण को समर्पित थी । नारायण वाटिका का अब ठीक उसी तरह का वर्णन सात्वतसहिता मे मिलता है । उसका प्रतिबिम्ब अब भी दक्षिण भारत मे आप देख सकते है कि जिस तरह का वर्णन उक्त सहिता मे है, उसी तरह का मन्दिर, वैष्णव मन्दिर अब भी बनता है । यह ऐतिहासिक साक्ष्य है । उनके आधार पर आप हमको यह बतलाइये । तन्त्र शब्द का जो अर्थ आपने

कहा, उसको आप छोड़ दे तो अच्छा है । अलग अलग पद्धतियां प्राचीन काल में थी । एक थी यज्ञीय पद्धति, जिसमें कि कोई स्थायी चीज नहीं थी । यज्ञीय आहुति के साथ ही साथ वहां कुछ भी बचता नहीं था । दूसरी यह स्थायी, अनन्तस्थायी भवन, स्तूप वगैर की पद्धति थी ।

डॉ० पी० पी० आपटे

तन्त्रशास्त्र पर कार्यशाला हो रही है और तन्त्रो से संबद्ध कुछ ऐसे पहलू हैं, जिन पर आज के दो निबन्धों मे चर्चा हुई है । उनमें से षडध्व और बाह्य तथा आन्तर पूजा, इन दो विषयों पर मै चर्चा करना चाहता हूँ । वैष्णव, शैव और शाक्त ये सब जो-जो मतवाद है, परम्पराएं हैं, इनमें ये सब विषय समान रूप से आते हैं । इन विषयों पर हम चर्चा कर सकते हैं । मैं डेक्कन कालेज, पूना में संस्कृत डिक्शनरी के संपादक के रूप में काम करता हूँ । तन्त्र, आगम खास करके न्याय, इस तरह के शब्द बहुत विद्या-शाखाओं में प्रयुक्त होते है । जैसे—तन्त्ररत्न और तन्त्ररहस्य ये दोनों ग्रन्थ मीमांसा शास्त्र के हैं । आगम शांस्त्र का प्रयोग म. म. विधुशेखर भट्टाचार्य ने अलग रूप से किया है । मैं जहाँ तक समझता हूँ, जैसे अभी द्विवेदी जी ने भी बताया कि तन्त्र या आगमों को यदि टेम्पल ओरिएन्टेड स्क्रिप्चर कहा जाय, तो कुछ अंश तक, सीमा तक वह सही हो सकता है, क्योंकि आर्ट, आर्किटेक्चर, आईक्नोग्राफी और रिनोवेशन, यह सब विषय इनमें आते है । अहिर्बुध्न्यसंहिता आदि में वैदिक परम्परा और तान्त्रिक परम्परा का, वैदिक मन्त्र और तान्त्रिक मन्त्र का ऐसा भेद किया जाता है । एक बात मै बताना चाहता हूँ कि शिवसूत्र पाणिनि के कहे जाते हैं । उसमें यानी वेद-मन्त्रों में और वैदिक परम्परा में उच्चारण का पावित्र्य प्रधान माना जाता है, तन्त्र की परिधि में लिखित मन्त्रों का भी प्रमाणीकरण है, पवित्रीकरण है । जैसे एक राम नाम का जप है, एक लक्ष बार लिखना उसकी भी एक कुछ कीमत है । वेद में इसकी चर्चा नही आती । वहां मन्त्रोच्चार है, मन्त्र पठन है, लेकिन मन्त्र लेखन और फिर उसमें केलिग्राफी जिसको कहते हैं सुलेखन शास्त्र, वह तो तन्त्र की विशेषता है । इस दृष्टि से देखा जाय तो मुझे निबन्ध लेखक महोदय से आज पूछना है कि षडध्व और मानस पूजा का जो विषय है, खास कर तन्त्र की परिधि में, उसके बारे में भी यदि चर्चा हो विभिन्न सम्प्रदायों की दृष्टि से, तो आज की चर्चा में थोड़ा लाभ होगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

वीरशैव मत से सम्बन्ध रखने वाला जो निबन्ध पढ़ा गया, इसमें पंचाक्षर मन्त्र और षडक्षर मन्त्र की चर्चा आयी है । "नमः शिवाय" यह पंचाक्षर मन्त्र है । यह पुरुष द्वारा जप्य है, जबकि स्त्रियों को "शिवाय नमः" इस तह से जपना चाहिये । क्या ऐसा कुछ विधान आपके यहाँ मिलता है । दूसरा इसीके साथ प्रणव का योग करके षडक्षर मन्त्र कहा जाता है । क्या वह मन्त्र पंचाक्षर मन्त्र के उत्तर काल में या पहले षडक्षर मन्त्र देकर बाद में मूल पंचाक्षर मन्त्र तक पहुँचना होता है । ऐसा कोई क्रम भी उसमें निर्धारित है क्या ? यह मेरी जिज्ञासा है ।

डॉ0 राजनाथ त्रिपाठी

अभी जो निबन्ध पढ़ा गया है, दो एक जिज्ञासाए हमारी इस सम्बन्ध में है । आपने छः लिंगों की चर्चा की है और उनका त्रिधा विभाग करके इष्टलिंग, प्राणलिंग और भावलिंग की चर्चा की है । हमारा इस सम्बन्ध में कहना यह है कि जिस समय भावलिंग की दीक्षा का क्रम चल रहा होता है, भावलिंग दीक्षा सम्पन्न करने पर आचार्य जब लिंगांगभाव सम्पन्न हो जाता है, तो क्या उस स्थिति में भी लिंगधारण आवश्यक है ? अथवा भाव के द्वारा ही उसकी सम्पन्नता हो सकती है ? जैसे वैदिक आश्रम परम्पराओं में संन्यासाश्रम होने पर गार्हस्थ्य के समस्त चिह्न परित्याज्य हो जाते है, वह विधि यहाँ ग्राह्य है या नही ? नहीं, तो उसमें कारण क्या है ? हमारी दूसरी जिज्ञासा है कि जहाँ न्यासों का विधान आपने किया है, वहां दो स्थानो पर वषट् करके न्यास है और एक स्थान पर वौषट् करके न्यास किया गया है । क्या इसमें कोई रहस्य है अथवा अन्यतर मान करके इसे लिख दिया गया है । मेरी तीसरी जिज्ञासा है बीजाक्षरों के सम्बन्ध में । न्यास की ही प्रक्रिया में जैसे वकार को आकाश का बीजाक्षर कहा जाता है, किसी-किसी के मत से और भी अक्षरों को कहा गया है । इसके पूर्व वाले निबन्ध में आचार्य बलजिन्नाथ पण्डित ने दीक्षा प्रकरण में प्रत्यभिज्ञादर्शन के अनुसार वर्णो का, मातृकाओं का क्रम बताया है । वह अन्य विषय है । किन्तु इससे लगता है कि वीरशैव सम्प्रदाय में भी परम्परा आयी है, तभी न्यास सम्पन्न हुए है । लेकिन वकार से कहीं शिखा गृहीत है और कही कोई और क्रम गृहीत है । क्या इसके इसके निर्धारण का कोई क्रम है अथवा आचार्यो ने जो परम्परा चला दी, बाद में भी वह चलती रही ? ये तीन हमारी जिज्ञासाएं है । कृपा कर आप इनका समाधान करें ।

डॉ0 रमा घोष

विद्वान् वक्ता का मै सबसे पहले इस लेख के लिये अभिनन्दन करती हूँ । स्पष्टीकरण के रूप में हमारे थोड़े से प्रश्न हैं । वीरशैव सम्प्रदाय में लिंग-अंग सामरस्य ही विशिष्ट विषय है । उस दृष्टिकोण से मेरे कुछ प्रश्न ये है—आपने बताया कि इष्टलिंग बाह्य है, प्राणलिंग और भावलिंग अन्तरंग हैं । मेरा प्रश्न यह है कि बाह्यलिंग प्रदान करने की जो दीक्षा पद्धति है और यह अन्तर्लिंग हो या प्राणलिंग-भावलिंग को प्रदान करने की जो दीक्षा पद्धति है, उसमें क्या अन्तर है ? आपका निबन्ध दीक्षा पद्धति या प्रणाली से ही सम्बद्ध है, इसलिये यह मेरा प्रश्न है । दूसरी बात यह है कि अन्तर्लिंग का अभिप्राय क्या मन्त्रलिंग है ? गुरु इसे किस प्रकार से किस समय प्रदान करते है ? यहाँ षट्स्थल सिद्धान्त की चर्चा है । ये षट्स्थल साधक के आरोहण की प्रक्रिया है या स्तर है । तो साधक जैसे-जैसे आध्यात्मिक स्तर पर, भूमि पर आरोहित होता है, यह जो आरोहण का क्रम है, इस क्रम का समय क्या है ? इसके लक्षण क्या हैं या इस सन्दर्भ में दीक्षा की प्रणाली से क्या सम्बन्ध है ? मैं पंचाक्षर मन्त्र के बारे में भी आपसे प्रश्न करना चाहती हूँ कि सभी शैव दर्शनों में पंचाक्षर मन्त्र की कितनी महत्ता है, इसे सभी जानते हैं । पंचाक्षर मन्त्र

(नमः शिवाय) के साथ प्रणवसंयुक्त होकर यह षडक्षर होता है । कल भी 'नमः' के बारे में चर्चा हो रही थी । उस सन्दर्भ में मैं सिद्धान्त शैवों के दृष्टिकोण से थोड़ी सी बातचीत करना चाहती हूँ कि सिद्धान्त शैवों में न और म शब्द का एक विशेष अर्थ है । न शब्द तिरोधान शक्ति के लिये और म शब्द मल के लिए प्रयुक्त होता है । जब साधक साधारण स्थिति में रहता है, तो न और म पहले लेने की प्रथा है, क्योंकि वह मलयुक्त रहता है, तिरोधान शक्ति में रहता है । इसके बाद शिवाय शि-शिव का प्रतीक है, व-शक्ति का प्रतीक है, य आत्म तत्त्व है । तो शिव-शक्ति की सहायता से ही या शिव-शक्ति से ही साधक इस मल से, मल-त्रय से उद्धार पा सकता है । लेकिन चूँकि वह तिरोधान शक्ति के अन्तर्गत है, मल के अन्तर्गत है, इसीलिये न और म पहले लगाने की विधा है । उसके बाद जैसे-जैसे साधक का आध्यात्मिक उत्कर्ष होता है, न और म बाद में चला जाता है, तो 'शिवाय नमः' यही पंचाक्षर मन्त्र परिवर्तित होता है । अन्त में यही पंचाक्षर मन्त्र शिव में रूपान्तरित होता है या उसका यही रूप होता है । इस विषय को उमापति शिवाचार्य ने तिरुवरुप्पयन में बहुत सुन्दर ढंग से बताया है । यह मुक्ति-पंचाक्षर बताया जाता है । साधक की साधना का जो क्रम है, सोपान है, उस सोपान में पंचाक्षर मन्त्र का ही रूप परिवर्तित हो रहा है, तो मैं आपसे यह पूछना चाहती हूँ कि यह जो षट्स्थल में लिङ्गांग सामरस्य हो रहा है, वीरशैव सिद्धान्त में क्या इस प्रकार की कोई विधा है ? प्रश्न यह भी है कि साधक की दीक्षा के कई नियम हैं, कई प्रकार हैं या उसकी कई स्थितियाँ हैं ? जैसे सकल स्थिति में गुरु दीक्षा देते है, फिर प्रलयाकल की दीक्षा में शिव स्वयं ही दिव्य रूप धारण करके दीक्षा देते है और विज्ञानाकल में आन्तर दीक्षा होती है । वह तीव्रतम शक्तिपात है । तो प्रत्येक शैव दर्शन में दीक्षा से ही शक्तिपात होता है और शक्तिपात से ही मलत्रय से परित्राण पाया जा सकता है । इस सन्दर्भ में आप वीरशैव दृष्टिकोण से कुछ प्रकाश डालें ।

आचार्य नवङ् समतेन

आपके इस निबन्ध में बताया गया है कि वेधा दीक्षा करते समय श्रीगुरु अपने दाहिने हाथ को छः बार षडक्षर मन्त्र से अभिमन्त्रित करके, अपने हाथ को शिव का ही हाथ मानकर, उसे शिष्य के मस्तक पर रखते हैं । अन्त में इस प्रकार विकसित ज्ञान का साधक शिव के साथ समरस-भाव को प्राप्त होकर मुक्त हो जाता है । इस पर मेरा प्रश्न यह है कि गुरु जब वेधा दीक्षा देते हैं, उस समय तत्काल ही अपने हाथ को शिव का हाथ मानते हैं या इससे पहले भी स्वयं को शिव के रूप में उत्पन्न करके इस दीक्षा को सम्पन्न करते है ? बौद्ध पद्धति में यह बताया जाता है, इसे फलयान भी कहा जाता है, क्योंकि फल की अवस्था में प्राप्य बुद्धत्व ही तो इष्ट देवता है । उसी रूप की मार्ग अवस्था में भावना की जाती है, स्वयं को इष्ट देवता के रूप में उत्पन्न करके । तो क्या ऐसी ही पद्धति यहाँ भी है ? यदि है, तो इसकी किस प्रकार उत्पत्ति की जाती है ? इस पर आप प्रकाश डालें ।

प्रो० चन्द्रशेखर कपाले

ऐसा पूछा गया है कि पंचाक्षर मन्त्र जो मूल मन्त्र है, उसके साथ प्रणव जोड़कर जो षडक्षर मन्त्र बन जाता है, इन दोनों में क्या भेद है ? वैसा भेद तो बताया नहीं गया है। सभी मन्त्रों का मूल ॐ अक्षर होने के कारण इसको पंचाक्षर मन्त्र के साथ भी जोड़ा गया है। एक अन्य प्रश्न पूछा गया है कि क्या पुरुषों के लिये अलग और स्त्रियों के लिये अलग मन्त्र है। ऐसा तो यहाँ पर वीरशैवों के मत में नहीं है। स्त्री-पुरुष भेद या जातिभेद किसी प्रकार से भी यहाँ नहीं माना गया। इसीलिये सबके लिये ही "नमः शिवाय" या "ॐ नमः शिवाय" रुचि भेद से इस मन्त्र का प्रयोग किया जाता है। लेकिन गुरु अपने शिष्यों को पंचाक्षर मन्त्र भी दे सकता है, या प्रणव के साथ भी मन्त्र दे सकता है। उसमें कोई खास भेद नहीं माना गया है। जैसा कि मैंने कहा सभी मन्त्रों का मूल प्रणव अक्षर है, अतः ॐ के साथ प्रयोग करना अधिक उचित समझा जाता है।

दूसरी बात इष्टलिंग, प्राणलिंग, भावलिंग की उपासना क्रमशः की जाती है, भिन्न-भिन्न दीक्षा अवस्थाओं में, तो उसमें जैसा कि मैंने बताया है आणव मल, मायीय मल, कार्मिक मल के क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण ही अलग-अलग अवस्थाओं में ये दीक्षा-संस्कार किये जाते हैं। उसमें उसकी अनुभूति शिष्य को होती है।

एक प्रश्न ऐसा पूछा गया कि इष्टलिंग धारण के बाद यह प्राणलिंग भावलिंग प्राप्त होता है तो इष्टलिंग धारण की आवश्यकता क्या है ? वैसे तो तत्त्वशः नहीं है, इस बात का स्पष्टीकरण सिद्धान्तशिखामणि में किया गया है। जो उच्च अवस्था में पहुँच जाता है, उसके लिये इष्टलिंग धारण आवश्यक नही माना गया, किन्तु लोक-व्यवहार मे रहने के कारण अन्य लोगों को उदाहरण के तौर पर इष्टलिंग धारण आवश्यक समझा जाता है। यह कोई व्यक्ति खुद ही नहीं कह सकता कि मैं इस अवस्था पर पहुँच गया हूँ। ऐसी अवस्था किसी में आ गयी हो तो लिंगधारण छोड़ भी सकता है। परन्तु सामान्यतः ऐसा दिखता है कि उस अवस्था पर पहुँचने वाले लोग बहुत ही कम होते हैं। उस अवस्था में पहुँचने वाले तो लिंगांगसामरस्य की अवस्था को प्राप्त हो जायेंगे, उनके लिये लिंगधारण की आवश्यकता नहीं बचेगी। सामान्यतः कोई इस अवस्था के बीच में हो, उसके लिये लिंगधारण आवश्यक माना गया है।

षट्स्थल के बारे में पूछा गया कि जो छः सोपान निर्माण किये गये हैं, उसकी भी कुछ कालमर्यादा है क्या ? वह कालमर्यादा भी अन्य व्यक्ति निश्चित नहीं कर सकता। ये छः ही क्यों, इन षट्स्थलों के अवान्तर स्थल बनाकर सिद्धान्तशिखामणि में एक सौ एक स्थल बताये गये हैं और हर स्थल में उस साधक की क्या अवस्था होती है, यह भी स्पष्ट रूप से कहा गया है। उसका अनुभव जिस किसी को हो गया हो तो वह स्वयं ही कह सकता है कि मैं इन सौ अवस्थाओं से ऊपर पहुँच गया हूँ। अन्य किसी के लिये यह बतलाना मुश्किल ही है। इसलिये किसी अन्य व्यक्ति की तरफ से यह निर्धारित

नहीं हो सकेगा कि यह कौन से स्थल में है ? यह भक्त स्थल में है, माहेश्वर स्थल में है, प्राणलिंग स्थल में है, यह अन्य कोई नहीं बता सकेगा । यह तो स्वयं की प्रेरणा, स्वयं की अनुभूति से ही जान लेना पड़ेगा और आखिरकार जब लिंगांगसामरस्य प्राप्त हो जायगा, उस वक्त तो उसको किसी से पूछने की या बताने की जरूरत महसूस नहीं होगी । यह तो अपनी सहूलियत के लिये बताया गया है कि ये ये गुण, ये ये धर्म उस व्यक्ति के अन्तरंग में प्रविष्ट होने के साथ, इसके आचार में आने के बाद वह उस स्थल का अधिकारी माना जाता है ।

डॉ० रमा घोष

प्रश्न— वह व्यक्ति स्वयं तो जान नहीं सकता, लेकिन उसके गुरु तो जान सकते है ?

उत्तर— हाँ गुरु तो जान सकते है, अवश्य जान सकते है ।

प्रश्न— मेरा प्रश्न यह है कि अलग-अलग स्थलों में दीक्षाविधि क्या अलग-अलग है ?

उत्तर— दीक्षाविधि अलग-अलग नहीं, एक ही समय की जाती है, यह दीक्षाविधि एक ही समय हो जाती है । तभी तो शिष्य इष्टलिंग धारण करता है और उसके बाद ही वह लिंगपूजा का अधिकारी बन जाता है । वैसे कोई अपने तरीके से स्वयं ही लिंगधारण नहीं करता ।

प्रश्न— जिस समय दीक्षा हुई, उस समय इष्टलिंग धारण का यह अधिकारी बना । लेकिन क्रमशः उनका उत्थान होगा, तभी वह प्राणलिंग और भावलिंग निर्धारण का अधिकारी बनेगा ।

उत्तर— शुरू में इतना ही बताया गया है कि उसके व्यक्तित्व में शक्तिपात के चिह्न दिखाई देते हैं कि नहीं ? दिखाई देने पर ही वह दीक्षा का अधिकारी बन जायगा । दीक्षा के बाद ही इष्टलिंग धारण कर वह पूरे स्थलों का अतिक्रमण करते हुए सोपान क्रम से मुक्ति पा लेगा ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अब हम इस विचार-विनिमय को यहीं समाप्त कर प्रो. एन.आर. भट्ट से प्रार्थना करते है कि वे दक्षिण भारतीय शैव पूजापद्धति से संबद्ध अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध का वाचन करें ।

•

ŚAIVA TEMPLE RITUALS

—Prof. N. R. Bhatt—

The temples are the most glorious institutions of our country. They are the true abodes of the Divine. It is the temples that brought about unity in religion in the whole of the country than any other institution. They are the true symbols of the cultural unity of India, comprehending within them all classess of people.

The temples are the true abodes of the Divine. The images that we see in the temples are not mere idols as many suppose, but are, as per texts, true incarnations of the Divine. The Divine power is brought into an image through certain prescribed ceremonials. For the proper performance of such ceremonials, there are two factors that are essential, one is the precision and accuracy of performance, and the other is the personal character of the performer. It is not true to say that Hindus are idol worshippers. We did not worship inert idol. The image in the temples is not a mere symbol of something that is intangible, accepted as a means of evolution to grasp the Absolute. A symbol has a value only as having a significance attached to it through the subjective activity of the person. But the divine nature of the temple image is absolutely independent of the subjective activity of the worshipper. It is an objective reality in the image as much as life in our body is a reality. This fact could easily be ascertained if one goes through the authoritative texts namely the Āgmas which deal with each and everything pertaining to temples—architecture, consecration, rituals, priests, devotees and philosophy. The Śaiva Āgamas are the sole authority for the Śivaite temples, the Pāñcarātra and Vaikhanasa Āgamas for the Vaiṣṇava temples. The rules have been laid down in these texts. From selection of the site for the temples, up to the installation of the Divine, the daily, occasional, yearly and expiation rites to be conducted in such temples, and details about the persons who are to conduct all these rituals are all explained in detail in these Āgamas.

The 28 Śaiva Āgamas which belong to the Siddhānta school are the basic texts which contain the philosophical thought and the religious details of the cult of South Indian Śaivism. The worship in Śaiva temples derives its authority from these basic texts and the digests which give details of rituals based on these

texts. The images installed in the temples are considered as gods personified or incarnated and as such elaborate rituals are prescribed from the beginning of selection of site for the construction of the temple up to the installation of the image. After installation, daily (*nitya*), occasional (*naimittika*), optional (*kāmya*) and expiation (*prāyaścitta*) ceremonies or rituals which are to be conducted for the continued presence of the deity in the image installed are also prescribed in these texts.

The group of rituals from the selection of the site up to the installation of the image in the temple, is named *pratiṣṭhā* (installation), the climax of which is the *kumbhābhiṣeka,* namely, pouring or sprinkling of the consecrated water on the deity and also on the pinnacle (*stūpikā*) of the sanctuary (*garbhagṛha*) etc. A summary of these rituals will be explained now.

Though normally the details of construction of the buildings of temples and of images are the subject matter of the *śilpaśāstra*, parts of such details are found in the Āgamic texts, because during construction, here and there some kind of ritual is found necessary.

Having selected a site as prescribed in the texts, in an auspicious moment, one should examine the site. Many methods to examine the site are prescribed. For example, one should dig at a place about 18 inches square, then fill up the pit with the mud again. If the pit is filled up in full or the mud is more, then the site is auspicious. If the pit is not filled up in full then the site is unauspicious. Or one should fill up the pit with water and then walk nine steps and return. If by this time the level of the water does not decrease, the site is auspicious, otherwise not. This is called *bhūparīkṣā* (examination of the site).

In the same way there are elaborate details relating to the selection of stone and wood for making images or for the building of the temple which section is called *śilāparīkṣā* (examination of stones).

Having chosen the site, the performer is to plough three times the site with a new plough made of wood of sacrificial trees, yoking to it two white bulls, young, well-nourished and decorated. Then the grains such as *māṣa, mudga, tila, vrīhi* are sown there. If

there are sprouts within three nights, the site is considered as best, if in five days, as good. Otherwise the site is considered as not good; and an expiation ritual is to be performed. After fifteen days or a month the cows, bulls, and goats are to be made to graze the corn. The presence of cows wards off the evils associated with the site. This ceremony is called *karṣaṇa* (ploughing of the site).

The performer of the installation ceremony then draws a diagram called *vāstumaṇḍala* on the site made even and clean and performs a fire ritual to please the deities of the lords of this *maṇḍala*. Vāstu means a site for dwelling. Vāstupuruṣa is a deity who governs the site and is lying on the site, and his limbs are occupied by different deities. Before construction, these deities are to be pleased and permission to use the site is to be obtained. This ritual is named *vāstupūjā*.

Then one should dig and remove the bones, stones, wood, metal etc., from the site which is called *śalyoddhāra* (removing of paining material).

After drawing a plan of the building, there is a ceremony called laying of the first stone (*ādyeṣṭakā*). Digging the foundation at the place of the sanctuary and also of other pavilions (*maṇḍapa, sabhā, śālā* etc.) after purifying five bricks, tying them with strings for protection from evils, and worshipping them with concerned rituals, places these foundation bricks in the cavity prepared for them. Consecrated water from a pot specially prepared for this purpose is also poured on them. Then the nine gems, grains, metal pieces, minerals etc. are put in this cavity and the cavity is filled up with lime powder and mud.

Having constructed the temple according to the plan, there is a ritual called *mūrdheṣṭakāsthāpana* (placing of the top stone). Four bricks in the case of building constructed in bricks, or four stones in the case of stone building again gone through with rituals, are placed on the top in the place prepared for them. Then the pinnacles are fixed. Again the gems etc. are placed in the cavity and the cavity is to be filled up and the consecrated water is sprinkled over the bricks and pinnacles.

There is one more important ceremony before construction of the main building, pavilions, *gopura*, main door and main pillars

which is called *garbhanyāsa* (placing of a pot in the interior). A pot made of gold, silver, copper or bronze, which has some inner apartments is called the *garbhaphelā*. Placing mentally the vowels in these inner apartments, placing a gold serpent in the middle and ten weapons of Śiva in others, the nine gems, mercury, minerals, metals, grains, roots, herbs and mud from auspicious places are also to be put in them. After a fire ritual, to the accompaniment of music etc. the pot is placed in the cavity. Then closing it well, the construction is to be started.

When the buildings and images are made ready by the śilpins according to their texts under the supervision of the main priest an auspicious time is to be selected for the consecration of the temple and installation of the *liṅga* and other images. The image chiselled out according to the prescribed measurements becomes ready for installation. But it still remains stone or metal until the deity penetrates into it. Such penetration of the deity into the image is brought out by means of various rituals. As such these rituals are to be performed as explained in the texts with due devotion and faith. The *pratiṣṭhā* (installation), or *sthāpana* or *kumbhābhiṣeka* (consecration with water of the pot) are synonymous terms. These rituals are the same for a new temple or when a temple undergoes repairs and is renovated. The difference is that in the new temple, the new images are installed. In the temple which is to be repaired the deity which has penetrated into the image is transferred to a pot with water on into a temporary wooden image and when the repairs are over, the transferred deity is made to penetrate back again into the image in the temple.

The series of rituals which are prescribed for the *pratiṣṭhā* are as follows.

The main performer or priest together with his assistants obtains a ceremonial permission to perform the rituals from Gaṇeśa and others. This is called *anujñā* (permission) from devotees and the holy ones and also from Gaṇeśa which is called *vighneśvarānujñā* (permission from lord of obstacles).

Next comes a rite called *mṛtsaṅgrahaṇa* (collecting mud) for sowing seeds. After sanctification of a prescribed site some soil is collected through a soil-cutter duly ceremonially decorated. The

earth goddess is worshipped as well as Gaṇeśa and Varuṇa. The soil is brought to the place of fire sacrifice in great pomp.

This soil is placed in vessels called *pālikā*s chosen for this purpose. They may be five or twenty five made of gold, silver, copper or mud. They are decorated with leaves and prescribed grains soaked in milk are sown. The moon god is worshipped. This is called *aṅkurārpaṇa* (sowing seeds for sprouts).

Threads made of gold, silver or cotton fibre, besmeared with holy ash, duly sanctified are tied round the wrist of the main priest and his assistants. This is to protect them from evils during the rituals till the end of the ceremony. During this period they will have no pollution of any kind. This is called *rakṣābandhana* (tying of cord for protection).

Now follows the *puṇyāhavācana* (proclamation of the meritorious day) a ceremony done sprinkling consecrated water and proclamation stating *let the day be meritorious.* Then a ceremony is performed to placate the evil spirits of the village and bring prosperity to the people. This is called *grāmaśānti* (pacification ceremony for village). Offerings are also offered to the guardian deity (*kṣetrapāla*) of the village. Again *rakṣoghna-homa*, a fire ritual to destroy the evil spirits and then a *praveśabali*, offerings to guardian deities to obtain permission to enter the building, which ceremony is done by offering rice balls at various points of a *maṇḍala* (diagram) prescribed for the purpose. Then, in a *maṇḍala* with symbols of nine planets, the nine planets are invoked and worshipped and a fire ritual also is performed to please the nine planets. This worship of planets is not prescribed in the basic texts but is added in the later digests.

Now again follows the *vāstuśānti* the pacification ceremony for the deities of the site which are sixty four. This ritual is performed to request the deities to stay in the site as before and protect it so that no disaster might happen. So far the preliminary rites have been indicated.

A *yāgaśālā* with sixty four pillars in wood as prescribed in the texts is to be built either with stone or clay. There are four entrances. The main *vedikā* or a raised altar, cubic in shape, is to be in the centre and the *upavedī* or secondary altars are to be set at the

extremities of the *yāgaśāla* which is to be well-decorated. *Toraṇas* in the four entrances, eight flags of different colours are also to be displayed. *Aṣṭamaṅgalas* or eight auspicious things and the ten weapons of Śiva are placed around the main alter.

Thirty two, nine, five or at least one *kuṇḍa* (pit) for fire sacrifice are to be built. Mostly nine *kuṇḍas* are built. The main pot or *pradhāna-kumbha* with a *vardhanī* (secondary one) in which are invoked the main deity and the goddess are placed on the main altar with eight small pots around and other *kalaśas* or pots in which attendant deities are invoked placed on the secondary altars. The pots are covered on all sides except the mouth with net-like texture made of cotton thread, into which are put fragrant materials, gems, grains, etc. Their mouth is covered with tender mango leaves. Coconuts are placed on the top. They are then clad with garments and decorated. A lotus design is made on the altars, plantain leaves are placed over them, in which paddy and other grains are spread. The pots are placed on them and they are filled up with water with proper rituals. The pot represents the body of the deity, the pot as flesh, water as blood, the coconut on the top as head, the thread around as veins, the gems inside as bones and the mantras recited while pouring of water brings *prāṇa* or life. This placing of pots is named *kalaśasthāpana*.

The worship of deities in the *yāgaśālā* will then commence; starting from the deity Sūrya, and the whole detailed procedure of *śivapūjā* is performed. Apart from that all the presiding deities of each part of the *yāgaśālā*, such as *toraṇa*, flags, entrances are worshipped. The *yāgaśālā* is also purified by eighteen ceremonies called *saṁskāra*. Two pots named *yāgeśvara* and *yāgeśvarī*—lords of *yāgaśālā* are placed and worshipped in the north-eastern corner of the *yāgaśālā*. The guardians of the directions are requested to protect the *yāgaśālā* till the conclusion of the ceremonies. After the *pūjā* of the main and secondary pots in which are invoked the main and the attendant deities, the fire sacrifices are done. This is named *yāgārambha*, beginning of rituals, in the *yāgaśālā* which is repeated for three days.

The images which are to be installed are normally made either in stone or in bronze. The main deity in Śiva temple is *śivaliṅga* which is always in stone. The images which are taken out for festivals are in bornze. When the images are ready, there is a

ritual called *nayanonmīlana,* opening of the eyes, which is done with a gold needle by the *śilpin.* They are first purified by applying mud and *pañcagavya,* then after a ritual are placed in the water at least for a day up to three nights. Then a bed with pillow is placed in the east of the *yāgaśālā* and the images are placed on them with their face upwards and pointing to the east. They are covered with red cloth; certain rituals such as *mantranyāsa,* placing of mantras, on the body of the images are done. They remain there at least for one night. This is named as *pratimādhivāsa,* preliminary purification of the image.

By this time the *śilpin* sets in its correct position the *ādhāraśilā* or the base stone to support the image. Gems and a diagram (*yantra*) pertaining to the deity are placed in the hole in the centre of this stone. The hole is covered and the image is placed in its proper position and is glued to this stone with a sticky substance specially prepared for this purpose which is called an *aṣṭabanihana* (ghee prepared with eight substances). The *śilpin* is honoured and paid and he takes leave. The image is purified again with oil bath and other rituals. From now on no one is permitted to touch the image except an initiated priest of the Śaiva school.

The fire sacrifices in all the *kuṇḍa*s are concluded with a final oblation and the respective deities invoked in those *kuṇḍa*s are transferred to the main or *pradhāna kuṇḍa.* After a *mahāpūrṇāhuti* or a great final oblation the deity is transferred from the main *kuṇḍa* to the main pot. A *pūjā* is performed to the pot and it is taken ceremoniously with all the pomp and is placed near the image to be installed. In the prescribed auspicious moment the deity is transferred ritualistically from the pot to the image and then contents of the pot are poured on the image. This is called *kumbhābhiṣeka,* consecration of the image, with the consecrated water pot. The same procedure is followed in the case of subordinate deities.

Once the deity is installed and consecrated, the obligatory as well as all other prescribed rites are to be conducted daily. The presence of the deity invoked and established by the consecration ceremonies will continue to remain as long as the prescribed rituals are performed. Such presence will fulfil the desires of the devotees

who come and worship in the temple. This is the essence of temple worship.

Nitya Rites

The daily obligatory rites or *pūjas* begin to be performed in the temples immediately after the *pratiṣṭhā*. In most cases these *pūjas* are performed six times a day. Each *pūjā* is preceded by *abhiṣeka*, that is, the bathing of the images with the prescribed materials[1]. After the bathing, the image is dressed in new garments and decorated with ornaments and garlands. *Abhiṣeka, alaṅkāra* and *dīpārādhana* must be made to constitute the characteristic features of each *pūjā*.[2] The *dīpārādhana* consists of the waving in front of the image of various kinds of lighted lamps. This is done to the accompaniment of Vedic *mantras*. The *dīpārādhana* is followed by the offering of the *upacāras*[3], such as *darpaṇa, chatra, cāmara, vyajana, patākā* and *tālavṛnta*. Then comes the *arcana* or the offering of flowers, usually one hundred and eight in number, and the *pūjā* is brought to an end with the *ārātrika* or the waving of lighted camphor before the image. At the end of the *pūjā*, representative passages from each Veda are recited[4]. Benedictory formulas are also repeated, invoking the favour and blessings (*āśīrvāda*) of the god[5]. Thereafter, follows the singing of the devotional songs which had been composed, not in Sanskrit, but in the local language of the Śaiva saints.

Besides, what may be called the official *nitya pūjās*, there are also *arcanas*, which are often performed on behalf of the devotees by the official priests of the temple. The *arcana* usually

---

1. Cf. *Skanda P.* I.3.2.7 Also *Matsya P.* 267 and *Agni P.* 74.65-68.
2. Cf. *Śiva P. Dharma-saṁhitā* 40; For the reference of bathing Śiva-image with honey, curd, *pañcagavya*, and the offering to it of *gorocana, kuṅkuma, candana, bilva*, lotus, camphor etc., see *Vāmana* P. 62. 1-14. *Śiva P. Dharma-saṁhitā* mention in chapters 15 and 16 *nitya* and *naimittika* rites. *Liṅga* worship and the merits accruing there from are also recounted in that connection. See also *Śiva P. Sanatkumāra-saṁhitā* 19.
3. See *Kāraṇa* I. 65. 1-6 for details of the *upacaras*.
4. This is *caturvedaghoṣa*.
5. The *āśīrvāda* consists of a series of benedictory utterances. They are intended to invoke the blessings of the god. Each utterance is followed by the repetition of the same by the priests, who are assembled on the spot to assist the performer of the rituals.

consists of an offering of flowers, to the accompaniment of the recital of the names of the gods[1]. The names number sixteen, one hundred and eight or three hundred, or even one thousand[2]. Plantains, betel, arecanut, and coconuts are offered as *naivedya* and after the *arcana*, portions of these together with flowers etc. are returned as *prasāda* to the devotee on behalf of whom that particular *arcana* is performed.

On special occasions the *abhiṣeka* is very elaborately performed[3]. It commences with the annointing of the image with *taila*, the other materials used for the bathing are taken up in the following order, *piṣṭa, āmalaka, rajanī, pañcagavya, kṣīra, dadhi, madhu, ghṛta, ikṣusāra, phalasāra, nālikerodaka, anna, uṣṇodaka, vibhūti, kuṅkuma, candana, gandhodaka* and the sacred waters of the Ganges. The *abhiṣeka* is followed by the wiping of the image with a soft cloth.

Silken garments, golden *kavacas*, precious ornaments studded with diamonds and other stones, and garlands of flowers are used for the decoration of the image.

Cooked food of various kinds called *citrānna, māṣāpūpa laḍḍuka*, fruits, arecanuts, betel and *nālikera* form the main offerings at the *naivedya*, daily and on special occasions[4].

Utsavas[5]

Apart from the *nitya-pūjā*, the normal procedure of which is briefly described above, each Śaiva temple celebrates what is called *utsava*. The most characteristic feature of such *utsava* in the South where the Āgamic tradition prevails, is the *pradakṣiṇā*, or the taking round in procession of the image. The image which is thus

---

1. The Purāṇas also speak of similar traditions. Śiva is said to have told Kratu that he should worship him with those names which are held in secret. *Kūrma P.* I. 20. 67-70.
2. Numerous names of Śiva are repeated by the *ṛṣis* at Dāruvana. *Liṅga P.* I. 32.
3. See the detailed description of the *abhiṣeka* given in the *Rauravāgama, Krīyāpāda, paṭala* 20 to 24.
4. Cf. *Kāraṇa* I. 35. The details of the offerings to be made are given in 184 verses.
5. *Gonda* has emphasised the magical significance of *utsava*.

taken round in procession, is usually made of bronze and is decorated with ornaments and garlands. It is given a pose befitting the occasion and the vehicle on which the procession is conducted. The *utsavas* also are of two types, the *nitya* which is a regular performance and the *mahotsava*, also called the *brahmotsava* which takes place on some fixed day or days in the course of the year. Different temples celebrate the *mahotsavas* on different days.

For the daily festivals, a special image is to be prepared[1]. Gold, or silver or copper is prescribed for the preparation of this image[2]. The procession or the *pradakṣiṇā* of the image is characterised by the use of canopy, umbrella, chowrie and *dīpas* (torches) and by singing, dancing and playing on various instruments[3]. The *tālas* to be played in the course of the procession are prescribed. Among these are mentioned *pangani, vṛṣatāla, bhṛṅgītāla,* and so on. The devotees also join the procession.

The celebration of the *mahotsava* is much more elaborate. It commences with the *vṛṣayāga* which is followed by the *dhvajāroha*[4], or the hoisting of the flag, *aṅkurārpaṇa, yāgapūjā, astrayāga balidāna, yānakrama, nīrājana, cūrṇotsava* and *tīrtha.* These various rites are described in detail in the treatises on the Śaiva rituals[5]. The duration of the special festival varies from eighteen to twenty-seven days[6]. The normal duration, however, is

---

1. *nityotsavāya bimbaṁ tu kārayet lakṣaṇānvitam /*
   sauvarṇam uttamaṁ proktaṁ madhyamaṁ rājataṁ bhavet /
   adhamaṁ tāmram ity uktaṁ kalpayet kalpavittamaḥ //
   Kāraṇa I. 140. 2-3.
2. Cf. "The principal image had, therefore, to be supplemented by images in human shape that could go about. The device of the peripatetic image was thus adopted not only in those temples in which the image in the *sanctum sanctorem* was in human shape, but also in those in which it was a symbolic representation, and the peripatetic images were made to receive all the honours appropriate to royalty". *Aravamuthan, Survivals of Harappa Culture*, p. 36.
3. *vitānaṁ chatrasaṁyuktaṁ piñcacāmarasaṁyutam /*
   sarvātodyasamāyuktaṁ gītanṛttasamākulam //
   nānādīpasamāyuktaṁ nānābhaktajanair yutam // Kāraṇa I. 140. 20-21.
4. Cf. *Bhaviṣya P.* I. 138. 1-84.
5. *Aghoraśivācārya-paddhati, Mahotsavavidhi,* p. 1 ff.
6. See : *Kāraṇa* I. 141 (Under *aṣṭādaśadinotsava-vidhi* and *saptaviṃśadinotsavavidhi).*

ten days. The *brahmotsava* is so timed that the *tīrtha-utsava* which is celebrated on the last day falls on the new-moon day or the full-moon day, or under the special *nakṣatras.* The festival begins with a worship offered in honour of Gaṇeśa. The rites of *mṛtsaṅgrahaṇa, rakṣābandhana, aṅkurārpaṇa, vāstuśānti* and *grāmaśānti* are duly gone through. The *vṛṣa-yāga* in honour of the *vṛṣabha*, is performed on the night preceding the day of the hoisting of the flag[1]. For this later rite, the *dhvaja-paṭa* is prepared, as prescribed, and the symbol of the god and other auspicious signs are drawn on it. The *pratiṣṭhā* rite infuses the banner with vital force. The *dhvajapaṭa* is then taken out in procession and brought to the flagstaff. With an invocation to the various gods to be present, the flag is hoisted. The rite of invoking the god is called *samastadevatāvāhanam*[2]. The *yāgaśālā* is established in the north-eastern corner of the temple. Till the *avarohaṇa* of the flag, the *yāgapūjā* has to be performed daily. *Balis* in the form of balls of rice, are offered daily, at the *dhvajadaṇḍa* and the cardinal points of the quarters. After these rites, both in the morning and the night, the image is taken out in procession. Different vehicles are prescribed for this purpose on different days[3].

The procession in the *ratha* must, however, be regarded as the grandest event in the *brahmotsava.* The *ratha* or the chariot is normally used for the procession on the day preceding the last day. It must, however, be pointed out that the practice in this respect varies from place to place[4]. The *Kāraṇāgama* devotes one full chapter to the *pratiṣtha* or the formal installation of the *ratha*[5]. The *guru*, the performer of the rite, accompanied by his assistants, follows the *ratha,* repeating the *mūlamantra* silently. The devotees follow closely. Some of them go ahead dragging the chariot by the ropes fastened to it. The procession of the image of the god from the temple to the chariot and back is always grand and very imposing.

---

1. The *dhvajārohaṇa* is a topic discussed in the *Agni P.* (chapters 61 and 102).
2. See appendix to the *Mahotsavavidhi* in *Aghoraśivācāryapaddhati.*
3. *Kāraṇa* I. 141 : *Daśadinotsavavidhipaṭala,* 78-80.
4. Cf. *Kāraṇa* I. 141. Verse 79 of the *Daśadinotsavavidhipaṭala,* for instance, prescribes the *rathotsava* for the seventh day. *Ratha* is mentioned in the *Purāṇas*, also Cf. *Siva P. Vidyeśvara-saṁhitā* 7.22.
5. *Kāraṇa* I. 142.

The *cūrṇotsava* marks the end of the festival. The ceremony begins with the usual preliminary rites. *Sahadevī, kuṣṭha, rajanī, tāmbūla, gandha,* and *puṣpa* are among the materials required for it. Turmeric is put into the *ulūkhala,* which is supposed to be identical with this mundane world. It is powdered and then mixed with *taila, ghṛta, gandha,* etc. The mixture is then collected in a vessel, and the image is annointed with it. Subsequently the devotees also besmear themselves with it[1]. Thereafter the image is taken to the *tīrthasthāna* or a river. The *astrarāja,* who serves as the substitute for the principal deity, is first bathed with the *abhiṣeka-dravyas,* and is then immersed into the waters of the river, which are already sanctified by purificatory rites. The *avarohaṇa* of the flag marks the end of the *brahmotsava.* The deities invoked to be present on the *dhvaja-daṇḍa* on the first day are now implored to retire to their respective abodes.[2].

One of the most important festivals in the Śaiva temples in the South is the *vaivāhya-utsava,* which represents the celebration of the wedding of Śiva with Umā. This *utsava* is invariably celebrated immediately after the *brahmotsava,* that is, on the day following the *dhvaja-avarohaṇa.* In some temples the *vaivāhya-utsava* is celebrated before the *avarohaṇa* itself. *Gaṇeśa-pūjā* and *puṇyāhavācana* mark the commencement of the *vaivāhya* ritual. These are followed by the usual rites of *aṅkurārpaṇa, rakṣā-bandhana, kanyādāna, pāṇigrahaṇa, sūtradhāraṇa, agnipradakṣinā, lājāhoma* and finally *āśīrvacana.* The Vedic *mantras* are employed at the appropriate places.

The *śāntihoma* and *prāyaścitta* are performed at the end of elaborate rites such as *pratiṣṭhā* and *utsava.* They are expected to bring about a peaceful atmosphere and atone for all shortcomings and discrepancies which are likely to have crept in, in the course of the performance of such elaborate rites of great duration; for, the *pratiṣṭhā* and the *utsava* rites, it must be remembered, continue, each for several days.

A reference must be made, at this stage, to other special festivals. The eight great episodes in the career of śiva, which have

---

1. *Aghoraśivācāryapaddhati, Mahotsavavidhi,* p. 34.
2. *ibid.,* pp. 35-39.

been described at various places in the Purāṇas, are re-enacted, so to say, by way of festivals[1]. A few Śaiva temples of the South celebrate special festivals of this nature, portraying the exploits of the god, which do not find place in the great Purāṇas. The temple at Madura, for instance, celebrates sixty-four exploits, all of which proclaim the greatness of god śiva enshrined in that temple. These exploits are recorded in the *sthala-purāṇas*, which are works specifically associated with those temples alone. The *Hālāsya-māhātmya,* which glorifies the god in the temple of Madura, contains detailed descriptions of all these exploits.

Prāyaścitta

The *prāyaścitta* is the rite performed to rectify the defects and shortcomings which may have crept in, whether knowingly or unknowingly, in the performance of the various rites and may have thus adversely affected the perfection of the ritual as a whole. Whenever any discrepancies are suspected, the *prāyaścitta* or the expiatory rite has to be performed[2]. An expiatory rite is, indeed, essential for the welfare and prosperity of the performer. For, the worship, which is even slightly deficient, not only does not serve the desired purpose, but it definitely leads to positive calamitous results. Various *prāyaścittas* are, therefore, prescribed in the ritual texts.[3], in respect of the various kinds of violations that may have occurred. They sometimes take the form of *abhiṣeka*, sometimes of *homa*, in which *prāyaścitta-āhutis* are offered on the fire. It may be pointed out at this stage that, besides the expiatory rites, *śānti-homa* and *diśā-homa* are prescribed to be performed at the end of

---

1. Provision is made for such festivals in the Āgamas. See *Kārana* I. 141, under *aṣṭādaśadinotsavavidhipaṭala*, verses 81-94. Even the destruction of the demon Tāraka by Kārttikeya, an episode repeatedly recounted in the Epics and the Purāṇas is ritually staged every year, in some temples of the South which are dedicated to Kārttikeya.
2. It may be incidentally mentioned in this connection that the detailed *prāyaścitta*-rites are prescribed in the *Śrauta-Sūtras* for every conceivable defect or deficiency in the performance of the *Śrauta* ritual.
3. *sarveṣāṁ eva kāryāṇāṁ kriyāvaikalyasambhave /*
   prāyaścittaṁ purā kuryād ātmanaḥ kṣamahetave //
   Kāraṇa I.144. 2-3

naimittika ritual, such as the one in connection with the *pratiṣṭhā* and the *utsava*[1].

General

Before concluding the section, a few words may be said about the performers of the rites described above. The performer is known by various designations, such as *deśika, guru, ācārya,* and *arcaka*[2]. The chief performer is called the *pradhānācārya.* Those who assist him in the *agnikārya* to be performed in the *yāgaśālā,* are called *ṛtviks* or even *mūrtipas*. Another priest who assists the *pradhānācārya* in various ways is the *Sādhakācārya.* It is his duty to refer to the *paddhati*, or the practical manual of ritual, during the performance, and thereby to draw the attention of the performer to the proper order of the various rites and their details[3]. The chief *ācārya* performs the *naimittika* rites, while the *arcakācārya* performs the *arcana* or the daily *pūjās*[4]. The *alaṅkaraṇācarya* is in charge of the decoration of the image. In addition to the duties mentioned above, the *sādhakācārya* collects together the various materials required for the rites and makes them available whenever they are wanted[5].

The *ācarya* should have been born in a Śaiva family. He should be a householder, and his age should be between sixteen and seventy years. He should be endowed with perfect limbs. He should have *śikhā*, but should have off mustache etc. He should have already gone through the *dīkṣā* rite. He should be eloquent

---

1. *Kārana*, I.144. 71-242. *Suprabheda*, 55.
2. Cf. *Śiva P. Vāyusaṁhitā*, ii. 113 :
   yo guruḥ sa śivaḥ proktaḥ yaḥ śivaḥ sa guruḥ smṛtaḥ /
   also see *Śiva P. Vidyeśvara-saṁhitā,* 16.82-97.
3. *Śivaliṅgapratiṣṭhāvidhi*, I.P.20-26.
4. E.G. Minakṣi refers in her work, *Administration and Social Life under the Pallavas,* to several inscriptions of the Pallava period which speak about the employment of *arcakas* in the temples built during that period; See, pp. 174-177.
5. *ācaryas cārcakaś caiva śādhakolaṅkṛtas tathā /*
   vācakaś ca kulodbhūtaḥ pañcācāryāḥ prakīrtitāḥ //
   ācāryaścāgamālokād yajen naimittikakriyāḥ /
   evam ācāryakṛtyaṁ syād arcakenārcanaṁ kuru //
   alaṅkṛtenālaṅkṛtya sādhako dravyasādhakaḥ /
   vācakas tu śruteh kartā pañcācāryakramaṁ viduḥ //
   Śivaliṅgapratiṣṭhāvidhi, I, p. 23.

and of amiable personality. He should be an adept in the various branches of learning, and should be a regular worshipper of Śiva, Agni and *guru*. He should be skilled in all *mantras* and *mudrās* and the rituals and be acquainted with other branches of Śaivism, namely *caryā, yoga,* and *jñāna*. He should also be well versed in the philosophy of Śaivasiddhānta. Among the functions assigned to him are *sthāpana, yajana, yājana, adhyayana, adhyāpana, dāna* and *pratigraha*[1]. The *dīkṣā* rite is intended to initiate the performer properly in the folds of Śaiva orthodoxy[2]. It is designed to bring about the spiritual purification of the *upāsaka*, and thereby qualify him for participation in the rituals, both of daily and special occurrence. The *guru* plays a prominent part in the *dīkṣā* rite. He himself performs the rite and formally effects the initiation of the *śiṣya* or disciple. The *śiva-dīkṣā, samaya-dīkṣā*[3], *viśeṣa-dīkṣā* and the *nirvāṇa-dīkṣā*[4] are perormed one after the other, at intervals, whenever the *guru* feels satisfied about the maturity and the growing efficiency of the *śiṣya*. The *śiva-dīkṣā* is prescribed in respect of any person irrespective of his caste[5]. The *viśeṣa-dīkṣā* and the *nirvāṇa-dīkṣā* are very elaborate affairs, and a *śiṣya*, who becomes accomplished in the matter of Śaiva ritual and philosophy, is alone fit to receive them.

•

विचार–विनिमय

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

संमान्य भट्ट महोदय । दक्षिण भारतीय पूजा–पद्धति से संबद्ध इस उत्कृष्ट निबन्ध के लिये हम आपके आभारी है । इस संबन्ध में मैं एक दो बातें आपसे पूछना चाहता हूँ । अष्टमंगल की आपने चर्चा की है । मैं समझता हूँ अष्टमंगल तन्त्र की सभी शाखाओं में, जैन शाखा में भी है । इनके नाम शैव सिद्धान्त के किस ग्रन्थ में मिलेंगे ? नाम जान लेने पर हम लोग सबकी तुलना

1. *Kāraṇa*, I.26, See also verses 14, 17, 19 and 23.
2. *Suprabheda, Caryā*, 4; See also *Kāraṇāgama* 6 and 11.
3. See *Śiva P. Vāyu-saṁhitā* 16 and 17, and *ibid.*.
4. *Kailāśa-saṁhitā* 11; also *Agni*, p. 81.
   Agni pp. 81-88. See also *Somaśambhupaddhati* pp. 131-166.
5. *Agni* . *P.* 83.

बाद में कर सकेंगे । दूसरी बात, आपने अपने निबन्ध में कलाओं की भी चर्चा की है । वहाँ शान्त्यतीता कला की चर्चा नहीं है । चार ही कलाएं वहां चर्चित है । क्या शैव सिद्धान्त में चार ही कलाएं हैं । शान्त्यतीता कला वहाँ वर्णित नहीं है ? अन्य प्रश्न यह भी है कि सिद्धान्त शैव दर्शन को आजकल दक्षिण भारतीय दर्शन कहा जाता है । किन्तु सचाई यह है कि इस सिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थ कश्मीर मे मिलते है, मध्यप्रदेश में मिलते हैं । अघोर शिवाचार्य के बाद ही दक्षिण भारत में इसकी स्थिति के प्रमाण मिलते हैं । ऐसी स्थिति में वहं प्रयोजक तत्त्व क्या है, जिसके कारण इसको दक्षिण भारतीय दर्शन कहा जाता है ?

Prof. N. R. Bhatt

It is not only south Indian. As I told on the first day, this Śaiva cult existed from Kashmir to Kanyakumari. The main Acharyas like Dūrvāsa, Ugrajyoti, Sadyojyoti, Vidyakaṇṭha, Rāmakaṇṭha I, Śrīkaṇṭha, Rāmakaṇṭha II, all these come from Kashmir. the texts are available in Kashmir and as well as in Nepal. This means these Āgamas existed from Kashmir upto south India. But unfortunately due to different invasions, the interior influence, the pratice is at present staying only in south India. In south India, these we can see even now, but not actual texts are practised. As for the practice of the Paddhatis, these Paddhatis are all verbally followed in all the temples. So I tell you that we can not say that the Āgamas are used. Scholars are asking us for the basic text for these Paddhatis. So our Ācāryas made a summary and made a full ritual from the beginning, from Sandhyāvandana to the end to the temple rite. A big ritual text called *Aghoraśivapaddhati* is respected in different parts. And in 50 years it is also elaborated using Vedic mantras also.

डॉ० पी० पी० आपटे

अभी डॉ० एन० आर० भट्ट ने बहुत विस्तारपूर्वक मन्दिरान्तर्गत मूर्तिपूजा का विधान बताया है । मै ज्यादा प्रश्न नहीं करूँगा । दक्षिण भारत में जो अन्य देवता हैं, उनका पूजाविधान भी इसी प्रकार का है । इतना कहना पर्याप्त होगा कि जो बात वह शिव के बारे मे कहते हैं, वही अन्य देवताओं के बारे में थोड़ा सा, पाँच-दस प्रतिशत का फरक होगा, लेकिन बाकी सब चीजें वही है ।

मुझे केवल एक सवाल पूछना है । प्रो० कपाले जी ने बताया कि कुछ ऐसे आगम हैं, जो वैदिक मन्त्रों का ज्यादा प्रयोग करते है । अब इन्होंने ऐसा कहा कि वैदिक मन्त्रों का उपयोग होता है, लेकिन वैदिक मन्त्रों का उपयोग न करते हुए भी पूरी शिवार्चना चल सकती है, पांचरात्र आगम में तो वेद-मन्त्र, नाम-मन्त्र और तान्त्रिक मन्त्र तीनों का प्रयोग होता है । बहुत से वेद-मन्त्रों के प्रतीक आते हैं । खास करके स्नपनविधि और प्रतिष्ठाविधि इन दो उपचारों में

बहुत से वेद-मन्त्रों का प्रयोग होता है । अब उत्तर भारत का जो सम्प्रदाय कहा गया, उसमें त्रिक सम्प्रदाय का और दक्षिण भारत के शैव सिद्धान्त का कोई ऐसा व्यतिरेक है या नहीं, मुझे मालूम नहीं । केवल प्रश्न . मै उपस्थित करता हूँ । पांचरात्र आगम मे समन्वय किया गया है और वेखानस आगम का ढाँचा जैसे शिवार्चना का कहा गया है, वैसा ही है, लेकिन पूरे के पूरे वेद-मन्त्रों के साथ पूजा-पद्धति चलती है । मतलब यह है कि यह मन्दिरान्तर्गत मूर्तिपूजा जो है, वह पूरे वेद-मन्त्रो के साथ भी चलायी जा सकती है, तथा वेद-मन्त्र, तन्त्र-मन्त्र और नाम-मन्त्र के आधार पर भी चल सकती है और केवल तान्त्रिक मन्त्रों से भी चल सकती है । ऐसा उसका एक स्वरूप होगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

प्रो० भट्ट महोदय ! आपने जिस पूजाविधि का वर्णन किया, उसके विषय में यह जानना चाहता हूँ कि इसमें तन्त्रशास्त्र का कितना योगदान है । वीरशैव मत में जो पूजाविधि प्रचलित है, वही तो सर्वत्र मान्य है । तब इन दोनों पूजाविधियों में क्या अन्तर है ? यह मैं जानना चाहता हूँ । मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि सद्योजात आदि के नाम से शिव के पांच मुखों का आप उल्लेख करते हैं । तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थों से इन्हीं का आम्नाय के रूप में वर्णन मिलता है । पांच आम्नायों के अतिरिक्त अधराम्नाय की भी अलग से स्थिति मानी जाती है । वीरशैव और सिद्धान्त शैव में इसकी क्या व्यवस्था है ? इस विषय को कृपया आप स्पष्ट करें । तीसरा प्रश्न यह है कि न्यास मन्त्रों का और उनके साथ जोड़े जाने वाले प्रासादबीज आदि का आपने उल्लेख किया है । इनके अतिरिक्त भी शिव के मृत्युलांगूल आदि मन्त्र शास्त्रों में वर्णित है । उनका संयोजक मन्त्रों में किस प्रकार होता है ? कृपया यह भी आप बताइये ।

Dr. M. A. Dhaki

15 years ago, I had been working on the symbols of the maṅgala which are generally recognised as eight. This figures was not fixed. So, the early centuries and in the Mahābhārata, Lalitavistara or Buddha Carita you get some names but not all. In the *Ayagapattas* in the Śaka period from Mathura, in the borders you have several Maṅgalas dipicted but all of them are not there in the Jaina Āgamas by the time *Jivabegamas* sūtra and the Raipasseni sūtra were composed and the number of eight figure was fixed, eight were selected. Among these, there is *vyajana*, which figure is nowhere seen in the *Ayagpattas*. Now in the southern tradition, there is a mention of Dīpa and Cāmara. These are not in the nothern tradition. So, I collected all these Maṅgala Cihnas, the symbols of auspiciousness and they come around thirty two in the total number. In the southern, there is a sophistication of some Maṅgalas according to the devoties and that is not the convention among the Jains or Buddhist or Brahmins in Northern India. स्पास्तिक, नाद्यावर्त, भद्रासन, पूर्णकुम्भ, मत्स्ययुगम्, व्यञ्जन, दर्पण, etc. these are the eight aṣṭa maṅgala. Now Śaṅkha is there in the Kuṣāṇa *Ayagapattas*, but not in the Āgamas as a maṅgala any way the traditions differ. Śaṅkha is there in the Southern tradition as well as in the Śaka tradition of Northern India, but afterwards it dissapeared as a maṅgala. I had tried to identify

several depictions. Therein I have used these south Indian sources also. Āgamas as well the Vāstu and Śilpa Śāstras. There is a slight difference in points, some where. It is not always co-insidental and that is important in some ways. Northern traditions are not articulated such precision and regularity, as we see in the south Indian works. Because some of the works in northern India have been lost, or the tradition is more floating than fixed. The fixity is more there in southern tradition, than in northern traditions.

Ven. L. N. Shastri

You have the word pradakṣiṇā means it is going around, corcumambulation, going through a procession. This particular word is also found in Buddhist literature, go around the *stūpa* clock-wise. So may I ask when you say pradakṣiṇā, going around the image, how do you go clock-wise or anti-clock wise ? Usually people go around anti- clockwise.

Prof. N. R. Bhatt

As far as we know we go clockwise.

Ven. L.N. Shastri

Yes, we read in the sūtras that Sāriputra or Maudgalyāyana goes around Buddha: trivāraṁ pradakṣiṇām kṛtvā, that means clockwise.

Prof. N. R. Bhatt

Pradakṣiṇā is always clockwise. But in Śaiva temples in Kerala, specially, *Somsutram Langhyeta* one goes from pradakṣiṇā upto somsutra and comes back again. He is not crossing it. So this is clockwise and anti-clockwise.

Dr. M. A. Dhaki

Jain tradition three times, perhaps very great man also had gone for worship, in Raipassanisutta, Sārathi of the King, curcumambulates three times . Kranadhara Keshe, the leader of the Chariot.

Sh. Pema Tenzin

You have said about the Arcanā and the offerings of flowers. So you have given a fixed number of offerings of flowers, 108 in number. Usually we use flowers for Arcanā, but in fixed number, not in quantity. What is the purpose of giving a fixed number, that is for good sign or something good ? because we Buddhist, we use the same in number in mālā. I want to ask is there any similarity between these offerings of flower in 108 number, and using same number in Mālā.

Prof. N. R. Bhatt

Numbers 8, 9, 100, 108 or 1008 are used in *japa*, in *arcanā* and also in *sthāpanā* because they give the *siddhi*.

Dr.P. P. Apte

You told that there is quite similarity in Śaiva temple rituals and also in Vaiṣṇava temple rituals. Is it true.

Prof. N. R. Bhatt

It is certainly true, except that the diety is different and Mantra is different. The basic performance is the same. Except, in Vaiṣṇavas, Saṁhitās, Viṣṇu will be the prominent god and Laxmi will be his goddess. The attendent dieties will be different.

Dr. P. P. Apte

So also the different sects of the Śaivism ?

Prof. N. R. Bhatt

Yes, the basic things are the same. In Vīra Śaiva, I can not apply, because in Vīra Śaiva there is no temple worship, There is only thing that is selfworship. Though they worship in temples, there is no temple worship described in Vīra Śaiva Texts. So you cannot ask a question about Vīra Śaiva.

Dr. P. P. Apte

Once they were prevailing throughout the country from north to south.

Prof. N. R. Bhatt

In northern India, temples have been destroyed by the Muslims throughout. You know that and temples have been built after the Mugal, when the British came. Naturally, at that time Vedic thought has been very strong. And even it was expanded up to south India. After Śaṅkara's Digvijaya in the whole of India, every body wanted to become Vedic. Śaṅkara himself was also Śaiva dvija. The Dvija means twice born. Twice born in Vedic system is through Vaidic Upanayana. In Śaiva it is by Dīkṣā. Not Brahmana Upanayana. But later Dvija is a synonym of a Śaiva Dvija. So Śaiva Brahmana wanted to become a Brahmana himself. So he started studying Vedas. Then he has used some of the Mantras of the Vedas here, So with this simple system the mantras have become so many.

प्रो० शि० कपाले

मेरी एक. जिज्ञासा है कि उत्तर में जो विधि-विधान किये जाते हैं, मन्दिर के निर्माण के या पूजा के, वह किस सम्प्रदाय के अनुसार या किस आगम के अनुसार होते हैं ?

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

जिसकी जिस प्रकार की दीक्षा होगी, तदनुसार ही वह पूजा करेगा और आप यही एक मान करके चलियेगा कि तान्त्रिक दीक्षा जिसको प्राप्त है, वह शिवलिंग को भले रख लेगा पूजा में, परन्तु पहले चक्र की पूजा करता है, वह शिवलिंग की पूजा नहीं करता, क्योंकि तान्त्रिक पूजा तभी पूर्ण होती है, जबकि उसकी आवरण पूजा होगी, उसमें गुरुत्रय की पूजा होगी, मध्यबिन्दु की पूजा होगी । तन्त्र की एक प्रक्रिया ही अलग है ।

प्रो० शि० कपाले

प्रश्न यह चल रहा है कि अभी दक्षिण में किस प्रकार मन्दिर निर्माण होता है और पूजाविधि किस प्रकार होती है, ऐसा बताया गया, उस प्रकार से पूँछ रहा हूँ कि उत्तर भारत में यह किस पद्धति से की जाती है । गुरु परम्परा से करते है, या शास्त्र परम्परा से करते हैं, या कुल परम्परा से करते हैं, या जन्म परम्परा से करते हैं ?

डॉ० पी० पी० आपटे

मूर्तिपूजा का एक अपना स्वरूप है, उसको डॉ० भट्ट जी ने हमारे सामने रखा है । इसमें थोड़ा फरक आता है । इसमें खण्ड करके जो शिल्पशास्त्र है, वास्तुशास्त्र है, उसमें जैसे बाह्य आवरण है, वहाँ पर शिव मन्दिर होगा, वृषभ होगा, नन्दी होगा । यदि विष्णु मन्दिर होगा तो वहाँ गरुड़ की प्रतिमा होगी । तो शिल्पशास्त्र का भी शैव-वैष्णव आदि की पद्धति के अनुसार भेद होता है । जैसे कि प्रदक्षिणा का विषय आया । प्रदक्षिणा सीधी होती है, फिर उल्टी प्रदक्षिणा होती है, क्योंकि उसमें कई संकेत जुड़े हुए हैं । जैसे वैष्णवों के कुछ संकेत हैं । उसमें कुछ फरक है । उसका कारण कुछ भी होता है । वैखानस पांचरात्र में फरक है । कुछ जगह पर ध्वजस्तम्भ आखिरी सीमा मानी जाती है, बलिपीठ मानी जाती है। तो ऐसे थोड़े फरक हैं और जब कुछ उसके विस्तार की चर्चा आती है, तो आगम ग्रन्थों में कहा जाता है— "शिल्पशास्त्रविधानेन कुर्यात्", यानी शिल्पशास्त्र का आधार लिया जाता है और शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में कहा जाता है कि विष्णु का मन्दिर बनाना है, तो वैष्णव आगम का आधार लेना है । इस तरह से शिल्पशास्त्र और आगम शास्त्र दोनों एक दूसरे पर निर्भर है । ऐसी शिल्पशास्त्र की अवस्था है और कुछ संकेत है । उसके अनुसार इनमें थोड़ा फरक आता है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

एक निवेदन मैं करना चाहता था कि यह जो हम शिव के सम्बन्ध में चर्चा करते है, जो आपने भी की है । लिंग के बारे में भी बहुत सा विचार हुआ है । शिवार्चनचन्द्रिका में कहा गया है कि किस तरह से कौन सा लिंग उपयोगी होता है । उसमें पारदलिंग है, स्फटिक आदि के लिंग हैं, तिल आदि

के हैं । प्रत्यक्ष लिंग तत्काल तैयार किये जाते है । चावल के द्वारा, भंग के द्वारा अथवा अन्यान्य औषधियों के द्वारा भी ये तैयार किये जाते है । इनके भी स्वतन्त्र विधान है, किन्तु पूजाविधान में कहीं अन्तर नहीं आता । जो तान्त्रिक होगा, जिसको गुरु-परम्परा से कुछ प्राप्त हुआ होगा, वह क्रमशः देहली, मन्दिर के द्वार प्रवेश से लेकर के विसर्जनान्त सब प्रक्रिया करेगा । आप लोग प्रदक्षिणा की बात कह रहे है । कोई भी साधक जिस समय आराधना करने बैठेगा, तो वहाँ भी आरती के बाद प्रदक्षिणा खड़ा होकर के चक्कर लगा रहा हो, यह आवश्यक नहीं है । वह तो वहीं बैठ करके भी की जाती है । उसका स्वतन्त्र विधान है कि वह कैसे की जाती है । किस मुद्रा को दिखा कर की जाती है, तो यही तन्त्र है । प्रदक्षिणा वगैरह को तो सामान्य जन भी जानते हैं ।

प्रो० शि० कपाले

एक प्रश्न हमारे सामने आता है । ये जो आगम शास्त्र और पुराण जितने भी हैं, उनमें भी ऐसा देखा गया है । लोगों का कहना है कि उत्तर भारत के पुराणों और आगमों में तथा दक्षिण के आगमों और पुराणों में कुछ पाठभेद हैं । यदि पाठभेद इतने अधिक हैं, बहुत कुछ इसका हिस्सा अलग ही है, तो इसमें कुछ समानता लाने का प्रयत्न हो सकता है क्या ? अथवा इनमें से किन आगमों को मान्यता दी जाय, किन पुराणों को दी जाय, किन पाठों को दी जाय ? ये दो प्रश्न है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अभी जो चर्चा चल रही है, उस पर इतना ही कहना पर्याप्त है कि उत्तर भारत में शैव और वैष्णव परम्परा बची नहीं । यहाँ उसके स्थान पर स्मार्त परम्परा आ गई, जिसमें कि पंचायतन पूजा पर शैव आगम, वैष्णव आगम, सामान्य स्मृतिशास्त्र आदि के आधार पर नये निबन्ध-ग्रन्थ प्रस्तुत हुए । उत्तर भारत का संचालन उन निबन्ध-ग्रन्थों से होता है, आगमों से नहीं । उसके साथ ही प्रपंचसार की परम्परा स्मार्त परम्परा है, शुद्ध शैव या वैष्णव परम्परा नहीं । उत्तर भारत के किसी भी मन्दिर में हम देखेंगे कि मुख्य मूर्ति बीच है और उसकी चारो दिशाओं में अन्य चार देवता विराजमान है । उसकी प्रतिमा निर्माण-विधि, प्रतिष्ठा-विधि आदि की पद्धतियां बन गई है, जिसमें कि तान्त्रिक और वैदिक दोनों उपादान यथायोग्य समाविष्ट है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

यह जो प्रदक्षिणा विधान की बात है, उसमें हमने देखा है कि जहाँ वारिमार्ग आता है, प्रणाल का, वहाँ से पीछे हट जाते है वापिस । उल्टी प्रदक्षिणा व्युत्क्रम से होती है, एक बात । दूसरी बात आपने कही कि सबको मिल करें परम्परा को शुद्ध बना सकते है कि नही । अनेक संपादित ग्रन्थ, आज महाभारत, रामायण आदि के उपलब्ध होते हैं, लेकिन कोई मानते नही उसको । जो परम्परा में, परिपाटी में है, दक्षिण की परिपाटी वाले अपना मानेंगे, उत्तर वाले अपना मान लेंगे । उसमें कोई लिखी हुई बात को सुनेंगे, ऐसा नहीं

है, क्योंकि ये परम्परा से असिद्ध है । इनमें परस्पर समन्वय हो सके, यह सम्भव नहीं है । तीसरी बात जो आपने कही, स्मार्त परम्परा की । इसमें चार कर्ण प्रासाद होते है । यदि शिव का मन्दिर हो, तो उसमें सूर्य, विष्णु, पार्वती और गणेश रहते हैं । पंचस्तूप की प्रथा गुप्त काल से बौद्धों में शुरू हो जाती है और जैनों में भी पंचस्तूपान्वय है । पंचस्तूप-निकाय पाँचवी शताब्दी में उद्भूत हुआ है । उसमें से पंचायतन पद्धति निकली है । विष्णधर्मोत्तर पुराण, जो सातवीं शताब्दी का माना जाता है, उसमें यह विधान है, याने सातवीं शताब्दी में भी यह चीज आ गयी थी, पंचायतन का विभाव आ गया था । इसलिये एकदम मध्यकालीन या बाद का है, ऐसा नहीं है । उत्तर की पंचायतन वाली परम्परा भी प्राचीन है ।

Dr. P. P. Apte

I want to ask one question to Dr. N. R. Bhatt, There are five important places of Śiva temples in south India which are having the embodiments of five gods, elements. What are these places and what is the philosophy ?

Prof. N. R. Bhatt

Ākāśa liṅga in Chidambaram, Āpa liṅga in Tenmar near Trrichi, near Śriraṅgam, Jyotirliṅga is in Tiruvamamai, and Vāyuliṅga in Kālahasti, Ekamvesvar is pṛthivīliṅga i e. Kanchi. Normally this Jyotirliṅga is Gokarṇa, and Āpa liṅga is Varanasi. But south India wanted to put all these in south India itself. So they have landed these two lingas there. Jyotirliṅga Theruannamalai, Āpa liṅga in Jambukesvara, Śriraṅga.

Dr. M. A. Dhaki

I have one question. Four other dieties are included in Aṣṭaparivāra. In south India some temples have eight parivāras not five but in south India some temples they do not have five but eight. Now that convention includes those four which are there in this tradition plus Kubera and others.

Prof. N. R. Bhatt

In Śiva Arcanā itself they are coming as Āvarṇa, panca Āvaraṇa pūjā.

Dr. M. A. Dhaki

But these separate are as Devakulikās.

Prof. S. S. Bahulkar

I would like to have a piece of information from you, you have mentioned that Vedic mantras are employed, recited in temple worship. I would like to know whether this temple worship has got any connection with the Vedic Śākhās prevelent in south India, whether various Śākhās of all four Vedas have been employed in the temple worship. And whether it has got any connection with the preservation of Vedic Śākhās in south India ?

Prof. N. R. Bhatt

Historically I have to reply. There is no connection between Vedas and Āgamas. In the earliest days, from Mohenjodaro, i.e. 5000 B.C. many religions existed in India. If religions are in India, that means religion is based on some rites and rituals and some practices. If religion is connected with the rituals and rites, then there should be some texts. This is Tantra. Whatever it may be, Cakra, Maṇḍala, mantras. There should be some concept of rite. We cannot explain today. So Tantra existed from the beginning and Tantra and religion are the same, no Buddhist and no Jainas or no Śaiva is connected with the Tantra. So, if they accept the religion, they must accept the Tantra. Tantra does not mean, it should be this, it should be that etc. Tantra means the form of practices in the religion. In the beginning it existed without Vedic influence. When Vedic influence came in India two things were side by side staying in India without touching each other like muslims and Christians are living in India. Muslim does not know what is christianity, Christian does not know what is Islam. That does not mean that the people do not know, there were Tantras and Āgamas. They did know, because in sūtras we can see, when a married couple goes, they should go pradakṣiṇa near a temple, they should go Pradakṣinam not a Pradakṣinam. So, they did know there were temples, they did know there were images.

Prof. S. S. Bahulkar

But, there must be some kind of assimilation.

Prof. N. R. Bhatt

So far 80% of Veḍic mantras have been included in the temple worship. So they are brought out from Āgamas and made Vedic, and we can very clearly see when they use the mantaras for example upacāras, the Mantras have no connection with upacāras itself. There is no connection and they made a Vedic pūjā. So, there are three pūjā today. Vedic pūjā, it is only for Brahmin, then there is kalpa pūjā which every body can do, all the caste can do. It is called kalpa pūjā. Then you have got this tantra pūjā. So you have today exist in north Vedic pūjā, in south tantra pūjā and kalpa pūjā is every where.

Prof. N. Tatiya

I am attending this seminar sofar for the last two days, three days, but I wonder that all our stress, our entire weight is on diversity. We have forgotten unity. In the Veda you find that the Polytheism was brought to monotheism and monotheism was brought monism. In later times we find all the god have got together.

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
'अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

We have brought all the gods together. We have brought all the Devis together.

तारा सौगतशासने भगवती गौरीति शैवागमे
वज्रा कौलिकशासने जिनमते पद्मावती विश्रुता ।
गायत्री श्रुतिशालिनी प्रकृतिरित्युक्तासि सांख्यागमे
मातर्भारति किं प्रभूतभणितैर्व्याप्तं समस्तं त्वया ॥

So there was an attempt to brought all the Tantras together. All monotheism and brought to monism. You find that in the Bhagavata,

रूपं रूपविवर्जितस्य भवतो ध्यानेन यत् कल्पितं
स्तुत्याऽनिर्वचनीयता भगवतो दूरीकृता यन्मया ।
व्यापित्वं च निराकृतं भगवतो यत्तीर्थयात्रादिना
क्षन्तव्यं जगदीश तद् विकलतादोषत्रयं मत्कृतम् ॥

We have found such statements in our scripture, in our Vedas, in our texts. In Janism, Buddhism everywhere. So friends, whenever you go into diversity remember, don't forget that. We should understand tantras from a central point. Indian culture is a united culture. So friends, we should never forget in our seminars, there is unity in diversity in our culture that is what I am feeling, all there are two days in our discussions.

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

शैवागमों पर हम समझते है कि पर्याप्त विचार हो चुका है । अब हम लोग आज के इस सत्र को यहीं पूरा करें । हम कल दस बजे फिर उपस्थित होंगे । प्रातःकाल वैखानस आगम और पांचरात्र आगम पर निबन्ध पाठ होगा और हम उस पर विचार-विमर्श करेंगे ।

●

वैष्णव तन्त्र

दिनांक ९ फरवरी को पूर्वाह्ण में सम्पन्न हुए सत्र में दो निबन्ध पढ़े गये, जिनका संबन्ध वैष्णव तन्त्रों से था । पहला निबन्ध वैखानस आगम का परिचायक है । इसके लेखक जम्मू स्थित रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्राचार्य राघवप्रसाद चौधरी है । व्यस्ततावश वे कार्यशाला में स्वयं उपस्थित नहीं हो सके । अतः इस संस्थान के संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डॉ० धर्मदत्त चतुर्वेदी ने उनके निबन्ध का वाचन किया । दूसरा निबन्ध पांचरात्र आगम से संबद्ध है । "पांचरात्र दीक्षा का स्वरूप" शीर्षक यह निबन्ध लखनऊ विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग में कार्यरत डॉ० अशोककुमार कालिया का है । वे स्वयं कार्यशाला में उपस्थित थे । अपने निबन्ध का वाचन उन्होंने स्वयं किया और विचार-विनिमय में उपस्थित विद्वद्वृन्द के प्रश्नों का समाधान भी किया । दोनों ही निबन्धों में अपने अपने दृष्टिकोण से दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, मुद्रा आदि कार्यशाला के लिये निर्धारित विषयों पर सुस्पष्ट प्रकाश डाला गया था । विचार-विनिमय दोनों निबन्धों पर एक साथ हुआ । इसमें डॉ० एम० ए० ढाकी, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, प्रो० सेम्पा दोर्जे, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी, आचार्य नवङ् समतेन, डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी, प्रो० नथमल टाटिया, प्रो० गेशे येशे थपक्ये, डॉ० मार्क डिच्कोफस्की, प्रो० पी० पी० आपटे, डॉ० एस० एस० बहुलकर आदि ने भाग लिया ।

अपराह्ण के सत्र में पूना के डेक्कन कालेज के डिक्शनरी विभाग के वरिष्ठ सम्पादक श्री प्रभाकर आपटे ने पौष्कर-संहिता के आधार पर मण्डलों की आकृतियों का सप्रमाण परिचय प्रस्तुत किया । विषय की गहनता को देखते हुए इन्होंने मण्डलाकृतियों को और उनके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलियों को समझाने के लिये श्यामपट्ट का भी सहारा लिया । विचार-विनिमय में प्रो० एन० आर० भट्ट, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, आचार्य नवङ् समतेन, डॉ० एस० एस० बहुलकर, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ० एम० ए० ढाकी ने विशेष रूप से भाग लिया ।

शान्तिनिकेतन में बौद्ध विद्या के प्राध्यापक डॉ० सुनीतिकुमार पाठक ने बौद्ध तन्त्र की योगतन्त्र शाखा पर विद्वत्तापूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया था । व्यस्ततावश वे कार्यशाला के प्रथम तीन दिनों के कार्यक्रम में भाग नहीं ले सके थे । उनके इस निबन्ध का वाचन आज हुआ । उनके इस निबन्ध का और उस पर हुए विचार-विनिमय का समावेश पहले ही बौद्ध तन्त्र संबन्धी निबन्धों के सातत्य में किया जा चुका है ।

वैखानस आगम

-डॉ० राघवप्रसाद चौधरी-

पाद्मसंहिता ने आगम की परिभाषा निम्नलिखित कही है—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां तथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥

षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तम् आगमं तद्विदुर्बुधाः ॥

अर्थात् उपर्युक्त सात विषयों के वर्णन से युक्त शास्त्र आगम कहलाता है । वैखानस आगम-ग्रन्थों ने प्रत्यक्ष रूप में अपने को भगवच्छास्त्र कहा है। मुद्रित तथा अमुद्रित वैखानसागम ग्रन्थों की अध्यायान्त पुष्पिकाओं में भगवच्छास्त्र शब्द का ही प्रयोग किया गया है, न कि आगम शब्द का । क्रियाधिकार की प्रथमाध्यायान्त पुष्पिका में लिखा है—"इत्यार्षे श्री वैखानसे भगवच्छास्त्रे भृगुप्रोक्तायां संहितायां क्रियाधिकारे........." । इसी तरह के उदाहरण और भी देखे जा सकते हैं । इससे यह स्पष्ट है कि वैखानस ग्रन्थों के अनुसार यह आर्ष भगवच्छास्त्र है । फिर भी पांचरात्रादि अन्य आगमों से पार्थक्य बोध के लिये इसे वैखानस आगम कहना अनुपयुक्त नहीं है । आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय में तीन प्रकार के आगमों में वैखानस आगम को अन्यतम कहा गया है ।

निगमस्तान्त्रिको मिश्रस्त्रिविधः प्रोक्त आगमः ।
निगमो विखनःप्रोक्तो मिश्रो भागवतः स्मृतः ॥१३॥
चतुःसिद्धान्तसहितः पाञ्चरात्रस्तु तान्त्रिकः ।

इस तरह इस आर्ष भगवच्छास्त्र को आगम के अन्तर्गत स्वीकार करना ठीक ही है ।

वैखानस आगम के ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों के आलोडन से यह स्पष्ट होता है कि इस आगम में ऊपर बताये गये प्रायः सभी आगम-विषय उपलब्ध हैं । वर्तमान सन्दर्भ में उन विषयों से सम्बद्ध कुछ विशेष विषयों की चर्चा इस निबन्ध में अपेक्षित है, जो कि इस कार्यशाला के विचारणीय विषय हैं । इन विचारणीय विषयों में दीक्षा, योग, न्यास, कुण्डलिनी, नाडीचक्र आदि कुछ विषय ऐसे हैं, जिनका स्पष्ट निर्देश तथा वर्णन वैखानस-आगम ग्रन्थों में उपलब्ध हैं । यहां के विचारणीय विषयों में कुछ ऐसे भी विषय हैं, जिनकी स्पष्ट चर्चा तथा वर्णन वैखानस शास्त्र में नहीं दीखते । उपलब्ध विषयों का स्वरूप क्रमशः हम आगे के पृष्ठों में देखने का प्रयास करेंगे ।

वैखानस आगमसंमत दीक्षा

आगम तथा तन्त्रशास्त्र के प्रतिपाद्य विषयों में दीक्षा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है । वैष्णवागम की प्रमुख शाखा पांचरात्रागम ने

अत्यन्त विस्तारपूर्वक दीक्षा विषय का वर्णन किया है । वैष्णवों के लिये दीक्षा को अपरिहार्य संस्कार कहा गया है । वस्तुतः दीक्षा के बिना वैष्णवत्व की कल्पना नहीं की जा सकती । परन्तु वैखानस सम्प्रदाय की दीक्षा तथा पांचरात्र सम्प्रदाय की दीक्षा में समानता नहीं है ।

वैखानस आगम ग्रन्थों में वर्णित वैखानस वैष्णवों की दीक्षा का विधान अन्य सभी सम्प्रदायों की दीक्षा-विधि से सर्वथा भिन्न है । इस आगम के अनुसार वैखानस लोग साक्षात् विष्णु से ही दीक्षा ग्रहण करते हैं । उन्हें गर्भवैष्णव कहा जाता है । उनके लिये वैष्णवत्वापादन हेतु अलग से दीक्षा की आवश्यकता नहीं होती । इस सम्प्रदाय के लोगों के लिये एक विशेष प्रकार का संस्कार विहित है । उस संस्कार को गर्भचक्र-संस्कार कहा गया है । आनन्दसंहिता के आठवें अध्याय में कहा है—

> वैखानसानां सर्वेषां गर्भचक्रमुदाहृतम् ॥१०॥
> यो विष्णुबलिसंस्काराद् गर्भचक्रेण लाञ्छितः ।
> स गर्भवैष्णवो जातमात्र इत्युच्यते बुधैः ॥११॥

वैखानस सम्प्रदाय के लोग इसे विष्णुबलि के नाम से अभिहित करते हैं । यह संस्कार उस समय किया जाता है, जिस समय व्यक्ति माता के गर्भ के आठवें मास में होता है । इस विषय का उल्लेख वैखानस स्मार्त सूत्र (३.१३.११५), क्रियाधिकार, आनन्दसंहिता तथा अन्य वैखानस आगम-ग्रन्थों में भी मिलता है । इस संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ शिशु तथा गर्भधारण की हुई माता की रक्षा है । इस संस्कार को सीमन्तोन्नयन संस्कार के साथ सम्पन्न किया जाता है । इस संस्कार की विशेषता यह होती है कि इसमें विष्णुबलि का विधान होता है । यह बलि गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती है । साथ-साथ गर्भस्थ शिशु को परम वैष्णव बनाती है । आनन्दसंहिता के दसवें अध्याय, वैखानससूत्रानुक्रमिणका भाग दो तथा कुछ अन्य वैखानस आगम-ग्रन्थों के अनुसार इस संस्कार के क्रम में हवन आदि के बाद गर्भवती महिला को याज्ञिक पायस पान कराया जाता है । उस पायस में पहले ही विष्णुचक्र को डुबोया गया होता है । आनन्दसंहिता के अनुसार महिला के पायस पान करते समय अधोलिखित मन्त्र का उच्चारण आवश्यक है—

> त्वत्सुतो भाग्यवान् धन्यो गर्भवैष्णवसंज्ञितः ।
> अप्राकृतो महात्मासौ गर्भचक्रेण लाञ्छितः ॥१०.१.

इस सम्प्रदाय के लोगों का विश्वास है कि इस संस्कार के क्रम में भगवान् विष्णु स्वयं ही गर्भस्थ शिशु की बांह पर शंख की छाप लगाते हैं । इस तरह शिशु वैष्णव रूप में ही उत्पन्न होता है । क्रियाधिकार में कहा गया है—

नारायणः स्वयं गर्भे मुद्रां धारयते निजाम ।
तत्करस्थेन चक्रेण शङ्खेन प्रथितौजसा ॥३६.४३.
करोति चक्रशङ्खाङ्कं शिशोर्वै बाहुमूलयोः ।
वैखानसेन सूत्रेण स्यादयं गर्भवैष्णवः ॥३६.४४.
निसर्गवैष्णवाः शुद्धा जन्मनाचार्यसंज्ञिताः ।
विखना इति वै विष्णुस्तज्जा वैखानसाः स्मृताः ॥३६.२८.

श्रीनिवास मखी ने वैखानस गृह्यसूत्र की तात्पर्यचिन्तामणि नाम की व्याख्या में स्पष्ट निर्देश किया है कि वैष्णवजन गर्भस्थ शिशु के वैष्णवत्वापादन तथा शिशु की रक्षा के प्रति अत्यन्त जागरूक थे । इसलिये वैखानस कुलोत्पन्न एक वैखानस वैष्णव के लिये अन्य किसी दीक्षा या संस्कार की अपेक्षा नहीं है । वैखानस वैष्णव जन्म से ही अर्चक के अधिकार से सम्पन्न होता है ।

इस दृष्टि से वैखानस वैष्णवों की स्थिति पांचरात्र वैष्णवों से सर्वथा भिन्न है । जैसे कि पांचरात्र वैष्णवों के लिये उनके बाल्यकाल में ही दीक्षा तथा तप्तमुद्रांकन की व्यवस्था का विधान किया गया है । इस प्रक्रिया में विष्णु के शंख तथा चक्र को तप्त कर उससे वैष्णव बालक की बांह को मुद्रित किया जाता है। कुछ वैष्णवों को उसके जन्म से ग्यारहवें दिन शीतल मुद्रांकन के द्वारा अंकित किया जाता है । शीतल मुद्रांकन में धातुनिर्मित मुद्रा को शीतल जल में डुबोकर उसमें सफेद चन्दन लगाते हैं और उससे बालक की बांह को अंकित करते हैं । वैखानस वैष्णवों के लिये उक्त पांचरात्रिक प्रक्रिया के विपरीत तप्त मुद्रांकन या शीतल मुद्रांकन का सर्वथा निषेध किया गया है । कहा गया है कि तप्त मुद्रांकन से अंकित वैखानस देवालय में प्रवेश के योग्य नहीं होता, अतः उसे देवालय में प्रवेश नहीं कराना चाहिये । इसके साथ ही उसके द्वारा भगवदर्चन का भी निषेध किया गया है । अज्ञानवश या बलात् यदि वैखानस वैष्णव का चक्रांकन किया जाता है, तब वैसा वैखानस अधम एवं सर्व कर्म अनर्ह हो जाता है । अज्ञानवश, अर्थलोभ, मोह या परपीडन के कारण यदि तप्त मुद्रांकन किया गया हो, तो उस स्थिति

में प्रायश्चित्त का विधान किया गया है (आनन्दसंहिता. अ० १९, श्लो० १३-१४) । क्रियाधिकार में भी यह विषय इसी प्रकार कहा गया है—"मत्पुत्राणां न चिह्नानि दीक्षिताश्चिह्नधारिणः" (३६.४८) । आगे कहा गया है—

अहमेव गुरुस्तेषां गर्भवैष्णवजन्मनाम् ।
तापादिपञ्चसंस्कारक्रिया नार्हन्ति मामकाः ॥३६.५१.
मद्भक्तियुक्तस्य मदौरसस्य निषेककर्मादिविराजितस्य ।
वैखानसस्यास्य न तप्तमुद्रा न मन्त्रदीक्षा न गुरुर्मया विना ॥३६.५४.

वैखानससूत्र में निर्दिष्ट विधान के अनुसार आचरण करने वाला प्रत्येक वैखानस स्वाभाविक रूप से अर्चक होता है । इसलिये उसे गृह तथा देवालय में विष्णु की पूजा का अधिकार होता है । अर्चकत्वापादन के लिये क्रियाधिकार में औपचारिक रूप से तीन तरह की दीक्षाओं का निर्देश किया गया है— मानसिक, वाचिक तथा शारीरिक । भूतशुद्धि के द्वारा की गई पवित्र भावना मानसिक दीक्षा, चक्राब्ज मण्डल में मन्त्रों के जप के साथ की गई दीक्षा वाचिक तथा तप्तमुद्रांकन के साथ की जाने वाली दीक्षा शारीरिक दीक्षा कही गई है । क्रियाधिकार ने इस दीक्षा को अवैखानस संमत दीक्षा बताया है ।

आनन्दसंहिता ने आठवें अध्याय में प्रकारान्तर से तीन प्रकार की दीक्षाओं का अधोलिखित रूप में निर्देश किया है—

तेषूक्तदीक्षाविधयः पृथगेव प्रकीर्तिताः ॥
दीक्षा तु त्रिविधा प्रोक्ता सामान्येन तथोच्यते ।
विष्णुबल्यग्निना तप्तचक्रेण हविरङ्कितम् ॥
यत्प्राश्यते सैव गर्भचक्रदीक्षेत्युदाहृता ।
उपनयनाग्निना तप्तचक्रेणाङ्कनमंसयोः ॥
या सा बहिस्तप्तचक्रदीक्षेत्येवमुदाहृता ।
या चक्रजलजाकारलेखनं तु भुजद्वये ॥
सा न्यासचक्रदीक्षा स्याद्दीक्षात्रयमिति स्मृतम् ।
औरवेयानां गर्भचक्रदीक्षा प्रोक्ता महात्मनाम् ॥
बाह्यतप्तादिदीक्षानुसरणं पाञ्चरात्रिणाम् ।
उक्ता तथा न्यासचक्रदीक्षा भागवतोचिता ॥
एवं दीक्षात्रयं प्रोक्तं वैष्णवानां महात्मनाम् । ८.२४-३०.

इस प्रकार आनन्दसंहिता ने दीक्षा के तीन प्रकार, अर्थात् गर्भचक्रदीक्षा, बहिस्तप्तचक्रदीक्षा तथा न्यासचक्रदीक्षा का तथा उसके अधिकारियों का निर्देश किया है । इस वर्णन के बाद तप्तमुद्रा के दो भेद अधोलिखित रूप में वर्णित हैं—

पुनश्च तप्तचक्राब्जमुद्रा द्वेधा स्मृता बुधैः ।
अन्तस्तापो बहिस्ताप इति तापो द्विधा भवेत् ॥८.३०-३१.

इन दोनों के ऊपर विचार करते हुए गर्भचक्रदीक्षा को अन्तस्ताप तथा पांचरात्र विधि से सम्पादित होने वाली दीक्षा को बहिस्ताप दीक्षा कहा है । सामान्य रूप से वैखानसागम ग्रन्थों में वर्णित दीक्षा का यही स्वरूप है ।

वैखानस आगम संमत योग

यद्यपि वैखानस आगम के सभी ग्रन्थों में हम योग का विस्तृत विवेचन नहीं देखते, फिर भी विमानार्चनकल्प के छियानवें से सौवें पटल तक अष्टाग योग का स्पष्ट वर्णन देखा जा सकता है । यहाँ सर्वप्रथम योग का लक्षण करते हुए मरीचि का कहना है— "जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति" । अर्थात् परमात्मा के साथ जीवात्मा के योग को योग कहते हैं । योग का यह लक्षण पतंजलि के "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इस लक्षण से सर्वथा भिन्न तथा विलक्षण है ।

जहाँ तक योग के अंगों का प्रश्न है, उस क्रम में वैखानस आगम ने भी योग के आठ अंगों को स्वीकार किया है । वे आठ अंग है— १. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. ध्यान, ७. धारणा तथा ८. समाधि । इन आठ अंगों में से एक एक के भी भेद कहे गये हैं । उनके लक्षण भी निर्दिष्ट हैं । जैसे यम का विवरण देते हुए यम के अधोलिखित दस भेद कहे गये हैं— १. अहिंसा, २. सत्य, ३. अचौर्य, ४. गृहस्थों की स्वदारा में निरति तथा अन्यत्र सर्वत्र मैथुन त्याग, ५. दया, ६. आर्जव, ७. क्षान्ति, ८. धैर्य, ९. मिताशन तथा १०. शौच । नियम भी दस गुणों का समुच्चय है । जैसे— १. तप, २. संतोष, ३. आस्तिक्य, ४. दान, ५. विष्णु-अर्चन, ६. वेदार्थश्रवण, ७. कुत्सित कर्म में लज्जा, ८. गुरु के उपदेश में श्रद्धा, ९. मन्त्रों का अभ्यास तथा १०. होम । ये सभी नियम के अन्तर्गत आते हैं । वैखानस आगम के अंनुसार यम तथा नियम के

अन्तर्गत आये २० गुणों से युक्त व्यक्ति योग के लिये अधिकारी माना गया है ।

यम तथा नियम के बाद योग के तीसरे अंग आसन की चर्चा के क्रम में आसन के नौ प्रकार कहे गये है । जैसे— १. ब्राह्म, २. स्वस्तिक, ४. पद्म, ४. गोमुख, ५. सिंहमुख, ६. मुक्तासन, ७. वीरासन, ८. भद्रासन तथा ९. मयूरासन । मरीचि ने विस्तारपूर्वक स्पष्ट रूप से इन आसनों के स्वरूप का निर्देश भी किया है । परन्तु विस्तार के भय से उसकी चर्चा नहीं करना ही उचित होगा । उपर्युक्त नौ आसनों में ब्राह्मासन, स्वस्तिकासन तथा पद्मासनों को उत्तम कहा गया है । गोमुख, सिंहमुख तथा मुक्तासन को मध्यम आसन एवं वीरासन, भद्रासन तथा मयूरासन को अधम आसन बताया गया है ।

प्राणायाम का विवरण देते हुए उसका लक्षण बताया गया है । कहा गया है कि प्राण, अपान तथा समान वायुओं के योग को प्राणायाम कहते हैं । प्राणायाम तीन तरह का होता है— १. रेचक, २. पूरक तथा ३. कुम्भक । निःश्वास के विसर्जन को रेचक, निःश्वास को ऊपर की ओर ले जाने को पूरक तथा निःश्वास के निरोध को कुम्भक कहा गया है । विमानार्चनकल्प में प्राणायाम के स्वरूप-वर्णन के क्रम में उपर्युक्त रेचक, पूरक तथा कुम्भक इन तीनों प्रक्रियाओं का अत्यन्त विस्तारपूर्वक निर्देश हुआ है । यहाँ निर्दिष्ट प्रक्रिया वस्तुतः कुछ कठिन सी प्रतीत होती है । इस प्रक्रिया में विविध नाड़ियों में वायु के संचार आदि का विधान व्यावहारिक दृष्टि से सर्व सामान्य जनों के लिये सुगम नहीं कहा जा सकता ।

प्रत्याहार की चर्चा करते हुए यहां प्रत्याहार के पाँच प्रकार बताये गये हैं । जैसे— १. इन्द्रियों का उनके विषयों से बलात् आहरण, २. अपनी आत्मा में सभी का स्वात्मवत् दर्शन, ३. विहित कर्मों का पूर्ण मनोयोगपूर्वक सम्पादन, ४. पादांगुष्ठ से मूर्धापर्यन्त अठारह मर्म स्थानों में वायु का आरोपण तथा धारण, एक स्थान से दूसरे स्थान में ऊपर से नीचे तथा नीचे से ऊपर की ओर समाकर्षण तथा ५. नाड़ी-मार्गों में वायु का आरोपण कर निरोध करना । इन पाँचों प्रकारों को प्रत्याहार कहा गया है । पादांगुष्ठ से मूर्धापर्यन्त स्थित अठारह मर्म स्थान अधोनिर्दिष्ट हैं, उनमें से अधिकांश का प्रमाण भी बताया गया है । जैसे—१. पाद सार्धचतुरंगुल, २. गुल्फ अंगुलमात्र, ३. जंघामध्य दस अंगुल ४. चितिमूल दस अंगुल, ५. जानु दो अंगुल,

६. ऊरुमध्य नौ अंगुल, ७. पायुमूल नौ अंगुल, ८. देहमध्य सार्धसप्तांगुल, ९. मेढ्र सार्धद्व्यंगुल, १०. नाभि चतुरंगुल, ११. हृदय एकादशांगुल, १२. कण्ठकूबर द्वादशांगुल, १३. तालुमूल षडंगुल, १४. नासिकामूल चतुरंगुल, १५. अक्षिमण्डल द्व्यंगुल, १६. भ्रूमध्य द्व्यंगुल, १७. ललाटान्त द्व्यंगुल तथा १८. मूर्धा त्र्यंगुल प्रमाण है ।

मरीचि ने धारणा के आठ प्रकार कहे हैं । जैसे— आत्मा में यमादिगुणयुक्त मन की स्थिति को प्रथम धारणा कहा गया है । हृदय-पद्म के अन्तः आकाश तथा बाह्य आकाश में मन के धारण को धारणा का दूसरा प्रकार कहा गया है । इन दो धारणाओं के निर्देश के पश्चात् अन्य पाँच धारणाओं का स्वरूप बताते हुए कहा गया है कि पृथिवी आदि पाँच महाभूतों में पाँच देवताओं के धारण को धारणा कहते हैं । इन सात धारणा-भेदों के वर्णन के अनन्तर अन्तिम धारणा के स्वरूप को बताते हुए मरीचि ने कहा है कि हृत्पद्म के मध्य परमानन्दविग्रह के धारण को धारणा कहते हैं । सामान्य रूप से इन आठ धारणाओं का निर्देश करने के बाद पाँच महाभूतों में की जाने वाली धारणाओं का कुछ विस्तार से वर्णन किया गया है । आगे की पंक्तियों में इसे देखने का प्रयास होगा ।

आराधक अपने पाद से आरंभ कर जानु तक के शरीर भाग को पृथिवी स्थान समझकर उसमें लकार संयुक्त वायु का आरोपण करता है और उसमें भगवान् की अनिरुद्ध मूर्ति का ध्यान कर उसकी धारणा करता है । जानु से आरम्भ कर पायुपर्यन्त अप् का स्थान निर्दिष्ट किया गया है । उसमें वकार संयुक्त वायु का आरोपण कर उसमें अच्युत मूर्ति की धारणा विहित है । पायु से हृदयपर्यन्त अग्नि का स्थान कहा गया है । उसमें रेफ संयुक्त पायु का आरोपण कर सत्यमूर्ति का ध्यान तथा धारणा कहा गया है । हृदय से भ्रूमध्य पर्यन्त वायु के स्थान में यकार संयुक्त वायु का आरोपण कर उसमें पुरुष मूर्ति का ध्यान तथा धारणा करने को कहा गया है । भ्रूमध्य से आरंभ कर मूर्धान्त व्योम का स्थान कहा गया है । उसमें हकार संयुक्त वायु का आरोपण कर विष्णु मूर्ति का ध्यान तथा धारणा विहित है । मरीचि के अनुसार पहले नाडियों में अकार संयुक्त वायु का आरोपण कर हृदय के मध्य में प्रणव के द्वारा उपर्युक्त देवताओ का ध्यान तथा धारणा की जानी चाहिये ।

धारणा के वर्णन के पश्चात् मरीचि ने ध्यान का स्वरूप बताते हुए जीवात्मा के द्वारा परमात्मा के चिन्तन को ध्यान कहा है । वैखानस मतानुसार ध्यान दो प्रकार के बताये गये हैं— १. निष्कल तथा २. सकल । कहा गया है कि निष्कल ध्यान देवताओं के द्वारा भी अनभिलक्ष्य एवं अदृश्य होता है । सकल ध्यान निर्गुण तथा सगुण भेद से दो प्रकार का है। निर्गुण निष्कल स्वभाव वाला होता है । वह परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नही है । वह काष्ठ में अग्नि की तरह सभी स्थानों में व्यापक रूप से रहता है । वह परमात्मा आकाश की तरह सभी की आत्मगुहा में अवस्थित अन्तः तथा बहिः स्थित, दृश्य, अदृश्य, स्थूल, सूक्ष्म स्वरूप, अमल अत्यच्छ, अप्रमेय, निरवयव, निरुद्योग, नित्य, अचिन्त्य निष्कल है । प्राणायाम, प्रत्याहार तथा धारणा के द्वारा आत्मसंस्कार कर साधक उस निष्कल परमात्मा को स्वयं देखने का प्रयास करे, ऐसा कहा गया है । यह निर्गुण ध्यान की प्रक्रिया कही गई है ।

मध्य देह से मूर्धापर्यन्त भ्रुवों के मध्य में अव्यय, अव्यक्त, सर्वजगत्कारणभूत अन्तरात्मा नारायण एक रूप परं ज्योति के रूप में प्रज्वलित तथा अवभासित होता है । इसी एक निर्गुण ध्यान को श्रुति कहती है—"नारायणः परं ज्योतिरात्मा नारायणः परः" । अतः प्रधान परम अव्यय विष्णु सदा ध्यानयोग्य हैं ।

निष्कल ध्यान के दूसरे पक्ष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्राणायाम से विकसित हृदयकमल के अन्तः आकाश में वैश्वानर शिखा के मध्य परं ज्योति ज्वाला रूप की तरह स्वयमेव पुरुष कृष्णपिङ्गल ऊर्ध्वरेता विरूपाक्ष विश्वरूप परमानन्द विग्रह उपस्थित होता है । निष्कल ध्यान के क्रम में उसी विग्रह को परम भक्ति के साथ देखने, अर्थात् ध्यान करने का विधान है ।

सगुण ध्यान का वर्णन करते हुए मरीचि का कहना है कि प्राण को अपान से जोड़कर उसमें अनुप्रवेश कर वहाँ पुरुष का दर्शन कर, फिर पिङ्गला नाड़ी के द्वारा आदित्य मण्डल में प्रवेश कर, वहाँ विद्यमान पुरुष को देखकर पुनः इडा के द्वारा चन्द्रमण्डल में प्रवेश कर वहां मण्डलपुरुष का दर्शन करना चाहिये । वहां से ज्वलिताग्नि कुण्डलीमुख को ज्वलन से दग्ध कर सुषुम्ना के द्वारा ऊपर जाकर प्राणायाम के द्वारा विकसित हृदयकमलान्तराकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य चतुरस्र हेमाभ बिन्दु के साथ यकार-बीजान्वित माहेन्द्र मण्डल

तथा उसके मध्य अर्ध-चन्द्राकृति श्वेत बिन्दु के साथ वकार-बीजान्वित वारुण मण्डल का ध्यान कर उसके मध्य प्रणववेष्टित सुवर्णाभ आदि-बीज का स्मरण कर प्रज्वलित ज्योतीरूप का ही भक्तिपूर्वक सकल संकल्प कर देवी, भूषण, आयुध तथा परिषद् गणों के साथ कल्याणगुण-निधि का पूर्व की तरह ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार का सगुण ध्यान उत्तम कहा गया है । यह ध्यान सर्वसिद्धिप्रद तथा सर्वत्र प्रयोगार्ह कहा गया है ।

मरीचि ने द्वितीय सगुण ध्यान का वर्णन अधोलिखित रूप में किया है । कहा है कि हृत्पद्माकाशस्थ वैश्वानरशिखा के मध्य अग्नि मण्डल का ध्यान कर, उस अग्नि मण्डल के मध्य परं ज्योति का ही सकल रूप में संकल्प कर देवी, भूषण, आयुध तथा परिषद्गणों से घिरी हुई यज्ञमूर्ति का ध्यान किया जाना चाहिये । इस क्रम से अग्निहोत्रादि होम भी सगुण ध्यान के अन्तर्गत आते हैं ।

तृतीय सगुण ध्यान का निरूपण करते हुए कहा गया है कि हृत्पद्माकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य अर्क मण्डल का पूर्व की तरह ध्यान कर पद्म के बीच परं ज्योति का ही सगुण रूप में संकल्प कर वरुणादित्य के समान प्रभा वाले विष्णु का पहले की तरह ध्यान किया जाना चाहिये । यह सगुण ध्यान सर्वसिद्धिप्रद तथा सर्वत्र प्रयोग-योग्य कहा गया है ।

चतुर्थ सगुण ध्यान के क्रम में कहा गया है कि हृदयकमल अन्तराकाश में वैश्वानरशिखा के मध्य सोम मण्डल का पूर्व की तरह ध्यान कर उसके बीच परं ज्योति का ही सकल रूप में संकल्प कर शुद्ध स्फटिक के समान प्रभायुक्त नारायण मूर्ति का ध्यान किया जाना चाहिये । इस तरह का सगुण ध्यान सर्वसिद्धिप्रद अतः सर्वत्र प्रयोगार्ह कहा गया है ।

उपर्युक्त क्रम से सगुण ध्यान चार प्रकार के कहे गये हैं । वैखानसों के अनुसार ये चार वैदिक ध्यान-कर्म कहे गये हैं । इनके मत में अन्य सभी ध्यान अवैदिक हैं । इन अवैदिक कर्मों को वैखानसों ने जघन्य बताया है । इस आगम ने बताया है कि उक्त छः प्रकार के ध्यानों के द्वारा नित्य ही भगवान् का ध्यान तथा अभ्यास करना चाहिये । इस प्रकार की ध्यान-समाधि के द्वारा साधक सब कुछ देखने में समर्थ होता है ।

अन्त में अष्टविध योगांग के अन्तिम अंग समाधि का वर्णन करते हुए मरीचि का कहना है कि जीवात्मा तथा परमात्मा की सम अवस्था को समाधि कहते हैं । जिस तरह अनुष्ण उपल आदित्य दर्शन के बाद उष्णता को प्राप्त करता है, उसी तरह परमात्मा के दर्शन से प्रत्यगात्मा नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव तथा परमानन्दमयता को प्राप्त कर परमात्मा नारायण को सदा देखता तथा अनुभव करता है । अष्टांग योग मार्ग से सर्वदा अणिमादि ऐश्वर्य को भी प्राप्त करता है । ऐसा जीवात्मा जीवन्मुक्त भी होता है ।

समाधि के द्वारा साधक वैष्णव जीवन के अन्तिम भाग में देहत्याग करता है । इस तरह देहत्याग भी समाधि का एक उद्देश्य मरीचि ने बताया है । इस तरह हम देखते हैं कि वैखानस वैष्णव मत में योग की अष्टांगरूपता के होते हुए भी इसके ध्यान आदि में कुछ वैलक्षण्य हैं । इस सम्प्रदाय के आराध्य देव का ध्येयत्व इसे अन्य ध्यान-योगों से सर्वथा अलग करता है ।

नाडीचक्र एवं वायु

मरीचि ने विमानार्चनकल्प के ९२वें पटल के प्रारंभ में "अथातो नाडीचक्रं वक्ष्ये" इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ देहस्थ नाडीचक्र का निरूपण आरंभ किया है । कहा है कि कन्द से उद्भूत बहत्तर हजार नाड़ियां हैं । इन नाड़ियों में अधोलिखित मुख्य हैं— इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरा, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुषा तथा गान्धारी । इनमें भी प्रथम तीन प्रमुख कही गई हैं । इन तीनों के मध्य सुषुम्ना को प्रमुख कहा गया है । यह नाडी वैष्णवी, सात्त्विकी तथा मुक्तिमार्ग प्रदायिनी है । यह सुषुम्ना कन्द मध्य में पद्मसूत्र के समान वीणा दण्डान्त निर्गत तन्त्री अलाबू की तरह वंश-अस्थि के साथ मूर्धा के अन्त तक स्थित है । उसके दक्षिण भाग में दक्षिण नासान्त पिंगला की स्थिति होती है । उस पिंगला में सूर्य का संचरण होता है । सुषुम्ना के वाम भाग में वाम नासान्त इडा की स्थिति होती है । इडा में चन्द्र की स्थिति कही गई है । ये दोनों राजस तथा तामस एव विष तथा अमृत भाग दिवारात्रि के रूप में वर्णित हैं । सुषुम्ना के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर मेढ्रान्त तक कुहू का विस्तार है । अपर भाग में ऊपर से नीचे की ओर जिह्वान्त तक सरस्वती की स्थिति कही गई है । पिंगला के पूर्व भाग में ऊपर से

नीचे की ओर दक्षिण-पादांगुष्ठान्त यशस्विनी तथा अलम्बुषा स्थित रहती है । अपर भाग में दक्षिण नेत्रान्त तक पूषा की स्थिति कही गई है । पूषा तथा अलम्बुषा के मध्य में वाम नेत्रान्त हस्तिजिह्वा की स्थिति है । यशस्विनी तथा कुहू के मध्य में ऊपर की ओर जाती हुई सर्वगामिनी दक्षिणपाणि के अंगुष्ठान्त तक वारुणी की अवस्थिति होती है । पूषा तथा सरस्वती के मध्य में दक्षिण कर्णान्त तक पयस्विनी विद्यमान रहती है । इडा के पूर्व भाग में ऊपर से नीचे की ओर वाम पादांगुष्ठान्त तक हस्तिजिह्वा स्थित रहती है । अपर में वाम नेत्रान्त तक गान्धारी की अवस्थिति होती है । हस्तिजिह्वा तथा कुहू के मध्य नीचे से ऊपर की ओर वामपाणि अंगुष्ठान्त सर्वगामिनी विश्वोदरा की स्थिति निर्दिष्ट है । गान्धारी तथा सरस्वती के मध्य वाम कर्णान्त गई हुई शंखिनी की अवस्थिति है । कन्द के मध्य ऊपर से नीचे की ओर पायुमूलाग्र तक गई हुई अश्वत्थपत्र की शिरा की तरह समुत्पन्न सर्वगामिनी अलम्बुषा कही गई है ।

मरीचि ने अगले पटल में नाडियों में प्राणादि-संचार का निर्देश करते हुए कहा है कि इन नाडियों में प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त तथा धनंजय— इन दस वायुओं का संचरण होता है । इनमें प्राणादि पांच वायु मुख्य कहे गये हैं । इन पांच मे भी प्राण तथा अपान मुख्य हैं । इन दोनों में भी प्राण को प्रधान कहा गया है । प्राण के पांच निम्नलिखित स्थान हैं— आस्य, नासिकामध्य, हृदयमध्य, नाभिमध्य तथा दोनों पादांगुष्ठ । वह प्राणवायु श्वास तथा निःश्वासकर है । प्राणवायु हृदय-कमल का समाश्रयण कर मुख तथा नासिका के द्वारा निःश्वास तथा उच्छ्वास चलाता है । इन्द्रगोप की प्रभा की तरह अपान वायु गुदाश्रित होती है । यह मलमूत्र विसर्जनकारक है । व्यान वायु संधिगत, फेन वर्ण हान-उपादान आदि चेष्टा कराता है । उदान वायु किंजल्क की तरह होता है । उसका स्थान कण्ठ कहा गया है । वह अन्नपानादि पोषण क्रियाओं का सम्पादन करता है । समान व्योमाभ होता है । क्षीर में जिस तरह घृत सर्वव्यापी होता है, उसी तरह यह वायु संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता हुआ आदान, विहरण, शयन आदि कराता है । नाग वायु श्वेत वर्ण तथा कण्ठ में समाश्रित रहने वाला कहा गया है । उद्गारादि करना इसका काम है । श्वेत वर्ण कूर्म वायु नेत्रों में रहने वाला है । यह निमीलन तथा उन्मीलन कराता है । कृष्ण वर्ण कृकल वायु उदर समाश्रित होता है । इसी के द्वारा क्षुत्, पिपासा

आदि होते है । देवदत्त वायु पीत वर्ण का होता है और यह सर्वग वायु तन्द्राकारक कहा गया है । धनंजय वायु श्यामाभ सर्वग तथा शोभादि कर्म का सम्पादक कहा गया है ।

वैखानसागम संमत मन्त्र–विचार

वैखानस आगम ग्रन्थों में वैखानस सम्प्रदाय से सम्बद्ध वैष्णवों के लिये विहित विविध क्रियाकलापों के सम्पादन क्रम में प्रमुख रूप से वैदिक मन्त्रों के प्रयोग का विधान किया गया है । इसीलिये पांचरात्र आदि आगमों की तरह वैखानस आगम में कहीं भी हु, फट् आदि तान्त्रिक मन्त्रों का प्रयोग नहीं दीखता । यही कारण है कि इस आगम के ग्रन्थों में पांचरात्र आदि आगमों की तरह मन्त्रोद्धार या मातृका–चक्र वर्णन के लिये अलग से अधिक उल्लेख नहीं मिलता । फिर भी मन्त्र से सम्बद्ध कुछ विचार अवश्य किये गये हैं । जैसे विमानार्चनकल्प के तिरासीवें पटल के आदि में— "अथातो मन्त्राणां कल्पं व्याख्यास्यामः" इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ मन्त्र से सम्बद्ध विषयों का वर्णन किया गया है । उसी के आधार पर हम आगे की पंक्तियों में वैखानसागम–संमत मन्त्रों के विषय में विवेचन का प्रयास करेंगे ।

मरीचि का कहना है कि "ओमिति ब्रह्म" इस वेदवाक्य के आधार पर मन्त्रों का प्राण प्रणव ब्रह्म स्वरूप है । इसलिये सम्पूर्ण जगत् प्रणव से पृथक् नहीं है । भगवान् को ही प्रणव के रूप में पढ़ा जाता है । प्रणव त्र्यक्षर कहा गया है । वे तीन अक्षर हैं— अकार, उकार तथा मकार । ये तीनों क्रमशः ऋग्, यजुष् तथा साममय हैं । ये क्रमशः सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण कहे गये हैं । इनके वर्ण क्रमशः श्वेत, पीत तथा कृष्ण कहे गये हैं । भूः, भुवः तथा स्वः में तीनों की क्रमशः स्थिति वर्णित है । इनके देवता क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव हैं । इन तीनों का स्वरूप–निर्देश करते हुए अकार को वलयाकार, उकार को कुटिलाकार तथा मकार को बिन्दुनादमय बताते हुए इन तीनों को प्रणव का लिपि–अंश कहा गया है । अकार तथा उकार के गुण के पश्चात् संयोग से ओकार बिन्दुनाद संयोग से 'ॐ' यह प्रणव निर्मित होता है । प्रणव के ऋषि, छन्द तथा अधिदैवत पूर्ववत् कहे गये हैं । इसका गोत्र अथर्वन् कहा गया है । प्रणव की अंशभूत लिपि आदि के विवरण के पश्चात् मरीचि ने "अथातः प्रणवस्वरूपं वक्ष्ये" इस प्रतिज्ञावाक्य के साथ

प्रणव की जीवात्मरूपता अधोलिखित रूप में प्रतिपादित की है । कहा है कि प्रणव का वर्ण पीत है । यह सहस्रशीर्ष, सहस्रबाहु, सहस्राक्ष, सहस्रोदर, सहस्रपाद, ऊर्ध्वकेश, रक्तास्यपाणिपाद, शुकपिच्छाम्बरधर, विष्णु जीवात्मा, ब्रह्मा बुद्धि, ईश कोप, चित्त सोम, तलादि सात पाद, भुजंग अंगुलियां, नदियां अप्सराएं, भूरादि सात लोक कुक्षि हैं । वसु नाभि, महाण्ड बहिरण्ड तथा वैष्णवाण्ड शीर्ष, अग्निष्टोमादि यज्ञ केश, व्योम ललाट, स्रुव दोनों मेधा, चन्द्र तथा अर्क दोनों नेत्र, शुक्र तथा बृहस्पति दोनों कान, अश्विनीकुमारद्वय नासिका, वायु दन्त, सरस्वती जिह्वा, सन्ध्या दोनों के नित्याग्निहोत्र दोनों ओष्ठ, सभी अग्निवदन, शचीपति ग्रीवा, दिशायें बाहु, रुद्र सब सन्धिहस्त, नक्षत्रगण अंगुलियां, तारागण नख, मित्रावरुण वृषण, प्रजापति उपस्थ, मरुत् पृष्ठ, पर्वत अस्थियां, मन्दर मांस, ओषधियां शोणित, शिरा नदियां, समुद्रसमूह मूत्रकोश, कांचन पुरीष, अमृत रेत, लोकालोक त्वक्, ऋषिगण रोमकूप, वर्षा स्वेद, सर्वौषधियां वसन, वेदेतिहास आभरण, सृष्टिस्थिति तथा संहार क्रीडा, कल्प व्याकरण शिक्षा निरुक्तादि चतुःषष्टिकलाएं व्याख्यान रूप कहे गये हैं । मरीचि का कहना है कि अधिक प्रलाप से क्या ? सम्पूर्ण जगत् तथा सृष्टि को प्रणव से उद्भूत समझकर यथाशक्ति त्रिसंध्या में प्रणव का जप करना चाहिये । प्रणव को त्रिमात्र या एकमात्र रूप में सभी मन्त्रों के जप के आरंभ में तीन बार उच्चरित करना तथा उसी तरह अन्त में भी उसी के उच्चारण के साथ जप की समाप्ति भी कही गई है । प्रणव के बिना यदि जप किया जाता है, तो सब विनष्ट हो जाता है । इसीलिये प्रणव के बिना कोई अन्य मन्त्र नही है ।

प्रणव के उपर्युक्त विस्तृत वर्णन के बाद विमानार्चनकल्प ने "अथ सावित्रीकल्पं वक्ष्ये" इस प्रतिज्ञा वाक्य के साथ गायत्री मन्त्र का विस्तार से वर्णन करते हुए श्रुति के आधार पर गायत्री को चतुर्विंशत्यक्षरा बताया है । कहा गया है कि सावित्री की सविता देवता होने के कारण इसे सावित्री भी कहते हैं । इसके ऋषि, छन्द तथा अधिदैवत आदि पहले की तरह कहे गये है । गायत्री त्रिपदा अष्ट-अक्षरा, तथा चतुष्पदा षडक्षरा कही गई है । जप के क्रम में त्रिपदा तथा अर्चन के क्रम में चतुष्पदा होती है ।

स्वरूप का वर्णन करते हुए गायत्री को अग्निवर्ण, षट्कुक्षि, पंचशीर्ष, शुक्लमुख, कमलेक्षण, ऋग्वेद प्रथम पाद, यजुर्वेद द्वितीय पाद तथा सामवेद को तृतीय पाद कहा है । पृथिवी चरण, पर्वत उरु,

अम्बर अस्थि, पूर्व दिशा प्रथम कुक्षि, दक्षिण द्वितीय, पश्चिम तृतीय उत्तर चतुर्थ, ऊर्ध्व पंचम तथा अधः षष्ठ कुक्षि कहा है । पुराण आंत्र, जगती दिव्यरूप, आकाश उदरान्तर, छन्दस् स्तनद्वय, धर्मशास्त्र जिह्वा, न्याय बाहु, गिरा करग्रीवा, शब्दशास्त्र प्रथम शिर, शिक्षा द्वितीय, कल्प तृतीय, निरुक्त चतुर्थ तथा ज्योतिष पंचम शिर कहा गया है । अनल मुख, इन्दुमण्डल मुख, वायु श्वसन, नक्षत्रपंक्ति अलका, सहस्र किरण मौलि, तारा कुसुम, नक्षत्रमाला हार, सभी ग्रह रत्नविभूषण, ब्रह्मा मूर्धा, शिव शिखा, विष्णु आत्मा, वेदान्त विमल मन, वेद प्राण तथा मीमांसा चित्तरूप में वर्णित है । इस प्रकार गायत्री के रूप का ध्यान तीन तरह से करने का निर्देश किया गया है, जो अधोलिखित रूप में है ।

पूर्व सन्ध्या में कौमारी रक्तवर्णा, हंसवाहिनी, अक्षसूत्र-यज्ञोपवीत-कमण्डलुधारिणी, ब्रह्मदैवत सावित्री नामक गायत्री का ध्यान विहित है । इसका आवास वह्नि में कहा गया है । मरीचि ने इसके गोत्रादि कुछ अन्य विषयों का भी निर्देश किया है । पर वह स्पष्ट नहीं है ।

मध्याह्न संध्या में यौवना रुद्राक्ष-अर्धचन्द्र-त्रिशूलधारिणी, श्वेतवर्णा, वृषभवाहिनी रुद्रदैवत गायत्री नामक गायत्री का ध्यान विहित है । इसका वास अन्तरिक्ष में कहा गया है ।

सायं संध्या में श्यामवर्णा, सर्वाभरणभूषिता, शंखचक्रधारिणी, गरुड-वाहिनी विष्णुदैवत सरस्वती नामक गायत्री ध्यातव्य है । इसका वास स्वर्ग में कहा गया है । गायत्री के इन तीन रूपों का क्रमशः त्रिकाल सन्ध्या में ध्यान करना विहित है ।

इसके बाद गायत्री के अक्षरन्यास (पादादिमूर्धान्त चौबीस अंगों में), वर्णों के रूप, उनके देवता तथा उसके फल का विस्तार से निर्देश किया गया है, जो अधोलिखित रूप में है—

क्रमांक	अंग	अक्षर	स्वरूप	देवता	फल
१.	पादांगुष्ठौ	तत्	पीताभ	ब्रह्मा	महापातक नाश
२.	अंगुलद्वय	स	श्यामाभ	प्रजापति	उपपातक नाश
३.	जङ्घाद्वय	वि	पिङ्गलाभ	सौम्य	महापातक नाश
४.	जानुद्वय	तुः	नीलाभ	ईश्वर	दुष्टपापग्रहरोगाद्युपद्रव नाश
५.	ऊरुद्वय	व	वह्निवर्ण	सौम्य	भ्रूणहत्यादिदोष नाश
६.	गुह्यदेश	रे	ज्वालारूप	बृहस्पति	अगम्यागमनपाप नाश

७.	वृषण	णि	विद्युन्निभ	इन्द्र	अभक्ष्यभक्षणदोष नाश
८.	कटिदेश	यं	हेमाभ	वैष्णवबीज	ब्रह्महत्यादिसर्वपाप नाश
९.	नाभि	भ	कृष्णाभ	अर्यमा	पुरुषहत्यादिपाप नाश
१०.	जठर	र्गो	रक्ताभ	सविता	गोहत्यादिपाप नाश
११.	स्तनद्वय	दे	श्यामाभ	त्वष्टा	स्त्रीहत्यादिपाप नाश
१२.	हृदय	व	श्वेताभ	पूषा	गुरुहत्यादिपाप नाश
१३.	कण्ठ	स्य	स्वर्णाभ	इन्द्र	कूटकृतपाप नाश
१४.	वदन	धी	पद्मसंकाश	वायु	अभक्ष्यभक्षणदोष नाश
१५.	तालु	म	पद्मरागाभ	वामदेव	जन्मान्तरकृतपाप नाश
१६.	नासाग्र	हि	श्वेताभ	मित्रावरुण	सर्वपाप नाश
१७.	चक्षुर्द्वय	धि	पुण्डरीकाभ	प्रजापति	प्रतिग्रहदोष नाश
१८.	भ्रूमध्य	यो	कपिलाभ	विश्वदेव	प्राणिहिंसापाप नाश
१९.	ललाट	यो	कपिलाभ	विष्णु	दुष्टपाप नाश
२०.	ललाट–पूर्व	नः	आदित्यवर्ण	इन्द्र	इन्द्रलोकप्रद
२१.	ललाट–दक्षिण	प्र	नीलश्याम	रुद्र	ईश्वरलोकप्रद
२२.	ललाट–पश्चिम	चो	पीतवर्ण	ब्रह्मा	ब्रह्मलोकप्रद
२३.	ललाट–उत्तर	द	शुद्धस्फटिकरूप	विष्णु	विष्णुलोकप्रद
२४.	मूर्धा	यात्	हेमाभ	चतुरानन	सर्वसिद्धिप्रद

इस प्रकार विमानार्चनकल्प ने अत्यन्त स्पष्ट रूप में गायत्री मन्त्र का विवरण प्रस्तुत किया है । कहा गया है कि तीनों संध्याओं के समय इस गायत्री मन्त्र का जप किया जाना चाहिये । सावित्री के अध्ययन से आयु श्री ब्रह्मवर्चस् प्रजा तथा धनधान्य की समृद्धि होती है । यह सर्वसम्पत्कर कहा गया है । यह ऐहिक तथा आमुष्मिक फलप्रद है । इसका जप करने वाला इस लोक में इष्ट कामों का लाभकर अन्त में मुक्ति को प्राप्त करता है ।

विमानार्चनकल्प के इक्कीसवें पटल में मरीचि ने मन्त्रों के ऋष्यादि स्मरण की आवश्यकता बताते हुए कहा है कि सभी मन्त्रों में प्रत्येक के ऋषि, छन्द तथा देवता का ध्यान करके ही उसका उच्चारण करना चाहिये । अन्यथा मन्त्रजप सर्वथा असफल हो जाता है । उसे असुर ग्रहण कर लेते हैं । सामान्य रूप से ऋष्यादि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि सभी मन्त्रों का ऋषि अन्तर्यामी, छन्द गायत्री तथा परमात्मा देवता होता है । मरीचि ने आगे के पटल में सन्ध्योपासन के क्रम में उपयोग में आने वाले मन्त्रों के ऋष्यादि का विस्तार से वर्णन किया है । पर विषय विस्तार के भय

तथा उसकी अधिक उपयुक्तता के अभाव को ध्यान में रखकर उसका वर्णन नहीं करना ही उचित होगा ।

इस प्रकार हमने वैखानस आगम में मन्त्र से सम्बद्ध विषय को देखने का प्रयास किया ।

वैखानसागमस्थ कुण्डलिनी

मरीचि ने विमानार्चनकल्प में देहोत्पति प्रकार वर्णन के पश्चात् देह के लक्षण का निर्देश करते हुए जिन विषयों का वर्णन किया है, उनमें क्रमप्राप्त विषय कुण्डलिनी के स्वरूप का वर्णन भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है । अतः कुण्डलिनी के विषय में कुछ स्पष्ट ज्ञान के लिये प्रासंगिक विषय देहलक्षण से संबद्ध विषयों की चर्चा आवश्यक है । इसलिये मरीचि के द्वारा निर्दिष्ट देहलक्षण के प्रारंभिक विषय के वर्णन के साथ कुण्डलिनी के स्वरूप का निर्देश युक्तियुक्त होगा । सामान्यतः यह विषय वैखानस आगम के अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगोचर नहीं होता । विमानार्चनकल्प ने अधोलिखित रूप में इस विषय को कहा है ।

मरीचि के अनुसार व्यक्ति का देह उसके अंगुल से छयानवे अंगुलों का होता है । उससे बारह अंगुल अधिक प्रमाण वाला प्राण प्राणायाम के द्वारा समान होता है । शरीर में गुदा से दो अंगुल ऊपर देहमध्य कहा गया है । देहमध्य में हेम की आभा से युक्त त्रिकोण वह्निमण्डल होता है । उसके बीच बिन्दुनाद के साथ रेफबीज जलता है । उसके मध्य मण्डल पुरुष यज्ञमूर्ति का स्थान है । वह यज्ञमूर्ति पिंगलाभ, द्विशीर्ष, चतुःशृंग, षण्णेत्र तथा सप्तहस्त कहा गया है । उसके दक्षिण हाथों में अभय मुद्रा, स्रक्, शक्ति, खड्ग तथा वाम हाथों में वरद रूप, स्रुक् तथा खेटक हैं । यह यज्ञमूर्ति त्रिपाद, पीताम्बरधारी, श्रीवत्सांक किरीट केयूरादि सर्वाभरण भूषित है । इस मूर्ति के वाम तथा दक्षिण भाग में क्रमशः स्वधा तथा स्वाहा का स्थान वर्णित है । इसके अलावा यह मूर्ति सभी देवताओं से परिवृत होती है ।

रेफबीज से नौ अंगुल ऊपर कन्द का स्थान है । यह चतुरंगुलोत्सेधायामयुक्त त्वगादि सप्तधातु विभूषित अण्डाकृति होता है । कन्द–मध्य नाभि में द्वादशारयुक्त चक्र होता है । उस चक्र में पुण्य

तथा पाप से प्रचोदित तन्तुपंजर के मध्य में स्थित मकड़ी की तरह प्राणारूढ़ जीव प्रवर्तित होता है ।

नाभि से ऊपर तिर्यग् भाग में नीचे से ऊपर की ओर जाती हुई अष्टप्रकृतिक अष्टधा कुटिला नागरूपा विद्याद्युन्मुख ऊर्ध्वद्वार को अवरुद्ध कर कन्द के पार्श्व भाग में स्थित कुण्डली' के रूप की तरह सर्पफणामणिमण्डल श्री से युक्त कुण्डलिनी शक्ति अपने फण से ब्रह्मरुद्राख्य सुषुम्ना नाडी रन्ध्र को छुपाकर अवस्थित है । संक्षिप्त रूप में कुण्डलिनी के विषय में यही बातें हम वैखानस आगम में पाते हैं ।

वैखानसागम–मुद्रा

वैखानस आगम–ग्रन्थों में पांचरात्र आदि आगमों की तरह मुद्रा का वर्णन नहीं किया गया है । विमानार्चनकल्प में हम मुद्रा के प्रयोग की चर्चा अत्यन्त संक्षिप्त रूप में देखते हैं । इकतालीसवें पटल में नित्यार्चन विधि का निरूपण करते हुए मरीचि ने अर्चक के देवालय प्रवेश के पश्चात्, अर्चन से सम्बद्ध विविध क्रियाकलापों के निर्देशानन्तर 'सुदर्शनम्' इत्यादि मन्त्रों के साथ दायें हाथ में सुदर्शन मुद्रा तथा 'रविपाम्' इत्यादि मन्त्र के साथ बायें हाथ में शंख मुद्रा धारण कर पूजा की आगे की प्रक्रिया को चलाने का निर्देश किया है । इस प्रसंग में या अन्य किसी प्रसंग में भी मुद्रा के सम्बन्ध में और कोई चर्चा नहीं की गई है ।

●

पाञ्चरात्र-दीक्षा का स्वरूप

-डॉ0 अशोककुमार कालिया-

समस्त तान्त्रिक-सम्प्रदायों में दीक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । इन तान्त्रिक-सम्प्रदायों से सम्बद्ध साहित्य का बहुत बड़ा भाग दीक्षा, उसके स्वरूप, उसकी विधि आदि विषयों के प्रतिपादन के निमित्त समर्पित है । पाञ्चरात्र-आगमों में भी दीक्षा और दीक्षा-विधि की विशद चर्चा हुई है । पाञ्चरात्र-साहित्य अत्यन्त व्यापक और विस्तृत है । प्रायः २५० पाञ्चरात्र-संहिताओं का उल्लेख प्राप्त होता है । इनमें से कुछ नामतः उल्लिखित प्राप्त होती हैं, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में हस्तलिखित ग्रन्थागारों में अथवा व्यक्तिगत संग्रहालयों में संरक्षित हैं तथा कुछ प्रकाशित हो चुकी हैं । स्वाभाविक है कि पाञ्चरात्र-सम्प्रदाय से सम्बद्ध किसी भी चर्चा का आधार वही साहित्य होगा, जो प्रकाशित हो चुका है और सुलभ भी है ।

समस्त पाञ्चरात्र-अनुष्ठानों में दीक्षित का ही अधिकार है[1] । अतः पाञ्चरात्र-संहिताएं दीक्षा और दीक्षा-विधि के निरूपण तथा प्रपञ्चन को अधिक महत्त्व देती हुई प्राप्त होती हैं, जो कि स्वाभाविक ही है । दीक्षा की आवश्यकता पर प्रकाश डालते हुए भार्गव-तन्त्र का कथन है—

> दीक्षया जायते योग्यस्त्रैविद्यो देवपूजने ॥
> – – – – –
> दीक्षितो देवदेवस्य कर्षणादिक्रियां चरेत् ।
> नाधिकारी भवेद्यस्तु दीक्षाविरहितो द्विजः ॥
> तस्माद्धर्यर्चनाकाङ्क्षी दीक्षेत हरिसन्निधौ[2] ।

दीक्षा शब्द का अर्थ

अनेक तान्त्रिक-सम्प्रदायों में दीक्षा शब्द के विविध अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं, तथापि पाञ्चरात्र-दीक्षा की विवेचना के अवसर पर उनकी चर्चा प्रासंगिक नहीं है । पाञ्चरात्र-ग्रन्थों में ही यदि दीक्षा

---

१. शृणु दीक्षां प्रवक्ष्यामि शिष्याणां भावितात्मनाम् ।
देवाग्निगुरुपूजासु अधिकारो यया भवेत् ॥ (जयाख्यसंहिता, १६.१)

२. भार्गवतन्त्र, २४.२७, २९, ३०

शब्द का अर्थ प्राप्त हो, तो वह हमारे लिये अधिक प्रासंगिक होगा। इस सन्दर्भ में लक्ष्मीतन्त्र की यह उक्ति द्रष्टव्य है—

यद् द्यति क्लेशकर्मादीनीक्षयत्यखिलं पदम् ॥
क्षपयित्वा मलं सर्वं ददाति च परं पदम् ।
दीक्षेति तेन तत्त्वज्ञैर्वर्ण्यते वेदपारगैः[१] ॥

इन पंक्तियों में दीक्षा शब्द का दो प्रकार से विवेचन किया गया है। प्रथम निर्वचन के अनुसार दीक्षा शब्द के अन्तर्गत आने वाला द् वर्ण 'दो' धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ "अवखण्डन"[२] अथवा "छेदन"[३] है। तथा ईक्ष वर्ण "ईक्ष्" धातु की ओर संकेत करते है, जिसका अर्थ "दर्शन" है[४]। इन धातुओं के योग से दीक्षा शब्द का प्रथम निर्वचन करते हुए कहा गया कि जो क्लेश, कर्म आदि का खण्डन करे और समस्त पदों को दिखावे अथवा प्रकाशित करे, उसे दीक्षा कहते हैं। लक्ष्मीतन्त्र में प्रदर्शित द्वितीय निर्वचन के अनुसार दीक्षा शब्द के अन्तर्गत आने वाला "द्" वर्ण "दा" धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ "दान"[५] है तथा "क्ष्" वर्ण "क्षप्" धातु की ओर संकेत करता है, जिसका अर्थ क्षान्ति[६] अथवा प्रेरण[७], अर्थात् दूर हटाना है। इन दो धातुओं के योग से दीक्षा शब्द का द्वितीय निर्वचन प्रस्तुत करते हुए लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि यह समस्त मलों को दूरोत्सारित करते हुए परम पद, अर्थात् मोक्ष को प्रदान करती है, इस कारण वेदों के पारङ्गत तत्त्वज्ञ लोग इसे दीक्षा कहते हैं।

इसी प्रकार विष्णुसंहिता में कहा गया है कि दीक्षा का दीक्षात्व यही है कि इसके द्वारा सभी सिद्धियाँ प्रदान की जाती हैं तथा ग्रन्थियाँ क्षीण हो जाती हैं। यथा—

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ४१. ५-६
२. पाणिनीय धातुपाठ, दिवादि, ३९
३. धातुरत्नाकर, दिवादि, ११४८
४. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादि, ४०५ : धातुरत्नाकर, भ्वादि, ८८२
५. पाणिनीय धातुपाठ, अदादि, ५०, : धातुरत्नाकर, अदादि, ११३७
६. पाणिनीय धातुपाठ, चुरादि, ८६
७. धातुरत्नाकरः, चुरादि, १८९२

दीयन्ते सिद्धयः सर्वाः क्षीयन्ते ग्रन्थयोऽप्यतः ।
दीक्षात्वमेवं दीक्षाया धर्माधर्महृदात्मनः[1] ॥

आचार्य के लक्षण

पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षा आदि पाञ्चरात्रिक कृत्यों के लिये उपयुक्त आदर्श आचार्य के लक्षणों का विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध होता है । यह निर्णय करना कठिन है कि किस संहिता में प्रपञ्चित आचार्य का लक्षण उदाहृत किये जाने योग्य है, क्योंकि इन सभी स्थानों पर दिये गये विवरण एक दूसरे से अधिक सुन्दर हैं । स्थालीपुलाकन्याय से लक्ष्मीतन्त्र में दिया गया विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है । शक्र ने श्री से प्रश्न किया कि हे देवि ! किस प्रकार का आचार्य तथा किस प्रकार का शिष्य होना चाहिये । मोक्ष प्राप्ति में कौन सा मन्त्र समर्थ होता है और उस मन्त्र का किस प्रकार से उपदेश किया जाना चाहिये ? लक्ष्मीतन्त्र के ही शब्दों में—

आचार्यः कीदृशो देवि शिष्यस्तस्य च कीदृशः ।
मन्त्रेषु कतमोमन्त्रः प्रभवेत् परमाप्तये ॥
कथं स चोपदेष्टव्य एतद् ब्रूहि नमोऽस्तु ते[2] ।

इस प्रकार शक्र के द्वारा पूछे जाने पर श्री ने आचार्य के लक्षणों का वर्णन किया है । श्री ने बताया है कि एक आचार्य को समस्त शुभ लक्षणों से सम्पन्न होना चाहिये, उसे एक वैदिक अथवा वेदज्ञ ब्राह्मण होना चाहिये, उसे अध्ययन-अध्यापन आदि अपने लिये विहित [3]षट्कर्मों में निरत होना चाहिये, उसे शान्त पञ्चकालपरायण शुचि पाञ्चरात्रविशारद तथा मन्त्राक्षरों की प्रकृति के ज्ञान के लिये कृतश्रम होना चाहिये, उसे स्थूल, कृश, ह्रस्व, काण, रोगी, अन्धा, बधिर, मूढ, खल्वाट, पंगु, हीनांग, अतिरिक्तांग, श्वित्री, दाम्भिक, क्रोधी, दुश्चर्मा, लोभी, अकुलीन, दुराचारी, शठ और कुटिल नहीं होना चाहिये, दया, दम और शम गुणों से सम्पन्न होना चाहिये, उसे

---

१. विष्णुसंहिता, १०.२; द्रष्टव्य-श्रीप्रश्नसंहिता, १६.१८-१९

२. लक्ष्मीतन्त्र, २१.२९-३०

३. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ (मनुस्मृति, १.८८)

भक्तिमान् तथा कर्मनिष्ठ होना चाहिये, सत्यभाषण और शील से सम्पन्न होना चाहिये, (यन्त्र आदि के लिये) रेखाकर्म में निपुण होना चाहिये, उसे जितेन्द्रिय, सुसन्तुष्ट, कारुणिक होना चाहिये, शुभ लक्षणों से और ऋजुता से सम्पन्न होना चाहिये और चारुहास वाला होना चाहिये। वैष्णव गुरु को इस प्रकार के गुणगण से आकीर्ण समझना चाहिये। लक्ष्मीतन्त्र के शब्दों में—

सर्वलक्षणसंयुक्तो ब्राह्मणो वेदपारगः ॥
षट्कर्मनिरतः शान्तः पञ्चकालरतः शुचिः ।
पञ्चरात्रार्थविन्मौनी मन्त्राक्षरकृतश्रमः ॥
न स्थूलो न कृशो ह्रस्वो न काणो नैव रोगवान् ।
नान्धो न बधिरो मूढो न खल्वाटो न पङ्गुकः ॥
न हीनाङ्गोऽतिरिक्ताङ्गो न श्वित्री न च दाम्भिकः ।
न क्रोधनो न दुश्चर्मा न लोभहतचेतनः ॥
अकुलीनं दुराचारं शठं जिह्मं च वर्जयेत् ।
दयादान्तिशमोपेतं दृढभक्तिं क्रियापरम् ॥
सत्यवाक्शीलसम्पन्नं रेखाकर्मसु कौशलम् ।
जितेन्द्रियं सुसन्तुष्टं करुणापूर्णमानसम् ॥
आर्यलक्षणसम्पन्नमार्जवं चारुहासिनम् ।
एवं गुणगणाकीर्णं गुरुं विद्यात्तु वैष्णवम्[1] ॥

प्रायः इसी प्रकार का वर्णन अन्य पाञ्चरात्र-संहिताओं में भी उपलब्ध होता है। अहिर्बुध्न्यसंहिता में वैष्णव आचार्य के स्वरूप का सुन्दर निरूपण किया है[2], जो उपर्युदाहृत लक्ष्मीतन्त्र के निरूपण की

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, २१.३०–३६

२. वेदवेदान्ततत्त्वज्ञो विद्यास्थानविचक्षणः ।
ऊहापोहविधानज्ञो दैवपित्र्यक्रियापरः ॥
अवक्ता चापवादानामकर्ता पापकर्मणाम् ।
अमत्सरी परोत्कर्षे परदुःखे घृणापरः ॥
दयावान् सर्वभूतेषु हृष्टः परसुखोदये ।
पुण्येषु मुदितायुक्त उपेक्षावान् कुबुद्धिषु ॥
तपःसन्तोषशौचाढ्यो योगस्वाध्यायतत्परः ।
पाञ्चरात्रविधानज्ञस्तन्त्रान्तरविचक्षणः ॥
तन्त्राणामन्तरज्ञश्च मन्त्राणां कृत्यतत्त्ववित् ।
पदवाक्यप्रमाणज्ञो हेतुवादविचक्षणः ॥
सामान्यस्यापवादस्य वेत्ता यन्त्रविचक्षणः ।

भावना के अनुरूप ही है । इस प्रकार आचार्य के लक्षणों का वर्णन अनेक संहिताओं में यत्र तत्र उपलब्ध हो जाता है । सनत्कुमारसंहिता में प्राप्त होने वाला आचार्य की योग्यताओं का वर्णन अपने में कुछ विशेषताएँ लिये हुए है । यहाँ प्राप्त होने वाला वर्णन अत्यन्त व्यवस्थित और विस्तृत है । आचार्य की योग्यताओं का यह विवेचन मुख्यतः पाँच शीर्षकों में विभाजित किया है—१. आचारशुद्धि, २. बुद्धिशुद्धि, ३. जातिशुद्धि, ४. लक्षणशुद्धि और ५. देहशुद्धि । आचार शुद्धि के अन्तर्गत यह बताया गया है कि आचार्य को किस प्रकार का आचरण करना चाहिये और किस प्रकार का आचरण नहीं करना चाहिये[1] । बुद्धिशुद्धि का विवेचन करते हुए कहा गया है कि आचार्य को धन का लोभ तथा गुरु का अतिलंघन नहीं करना चाहिये । वैष्णवों के प्रति अशुभ तथा समस्त प्राणिवर्ग के प्रति नृशंस बुद्धि नहीं करनी चाहिये । परधन तथा परदार के प्रति निःस्पृह होना चाहिये । इसके अतिरिक्त अहंकार, असूया, मान तथा अशुभ बुद्धि नहीं करनी चाहिये[2] । तीसरा शीर्षक है जातिशुद्धि । इसके अन्तर्गत यह विचार किया गया है कि वर्ण की दृष्टि से आचार्यत्व के योग्य कौन होगा । स्पष्ट कहा गया है कि द्विज, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही आचार्यत्व के योग्य होते हैं । किसी भी स्थिति में शूद्र आचार्य नहीं हो सकता—

> आचार्यग्रहणे योग्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
> आचार्यत्वं न शूद्रस्तु लभते जातुचित् क्वचित्[3] ॥

ब्राह्मण आचार्य के उपलब्ध न होने पर वैश्य और शूद्र वर्णों के लिये क्षत्रिय आचार्य हो सकता है तथा ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों प्रकार के आचार्यों के अनुपलब्ध होने पर शूद्र के लिये वैश्य आचार्य हो सकता है—

> चतुर्णामपि वर्णानामाचार्यो ब्राह्मणो भवेत् ।

> कुण्डमण्डलभेदज्ञः क्रियाकारविचक्षणः ॥
> अध्यात्मज्ञानकुशलः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
> सदन्ववायसम्भूत आचार्यो नाम वैष्णवः ॥ (अहिर्बुध्न्यसंहिता, २०.२–७)

१. सनत्कुमारसंहिता, इन्द्ररात्र, ९.१–९

२. वही, ९.९–१२

३. वही, ९.१३

तदलाभे क्षत्रियस्तु आचार्यो वैश्यशूद्रयोः ॥
ब्राह्मणक्षत्रियालाभे वैश्यः स्याच्छूद्रजन्मनः[१] ।

इसके पश्चात् संकर जातियों का विशद वर्णन करते हुए यहाँ बताया गया है कि उनमें कौन किसका आचार्य बनने के योग्य है[२] । जातिशुद्धि के अन्तर्गत वर्णों में तथा वर्णसंकरों में आचार्यत्व की योग्यता का निर्धारण करने के बाद ग्यारह श्लोकों में लक्षणशुद्धि का वर्णन है । इसके अन्तर्गत शारीरिक लक्षणों, अर्थात् सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि से आचार्यत्व की अर्हता निर्धारित करते हुए कहा गया है कि जिसके पैरों में और हाथों में ऊर्ध्व रेखा हो, ललाट पर त्रिपताका हो, हस्ततल (हथेली) पर सिंह, मृग, कलश, तोरण और वेदि हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसके पैरों में और हाथ में शंख, चक्र, मत्स्य और यव हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसकी हथेली पर पद्म, स्वस्तिक, भेरी और पणव का चिह्न हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसकी हथेली पर श्रीवृक्ष, अंकुश, शक्ति और वनमाला के चिह्न हों, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसके हस्ततल पर करक, मणिक, पालिका और वर्धमानक हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसके पादतल और पाणितल रक्त वर्ण के हों और जिसकी जिह्वा दीर्घ हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसके पैरों तथा हाथों के नाखून रक्त वर्ण के हों, इसी प्रकार जिसके नेत्र रक्त वर्ण के हों, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जिसकी अंगुलियाँ समवृत्त हों, नासिका तुंग हो, शिर छत्राकार हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है । जो हीनांग न हो, अतिरिक्तांग और अतीन्द्रिय से रहित हो, वह आचार्यत्व के योग्य होता है[३] । इस प्रकार लक्षणशुद्धि का विवेचन करने के

---

१. सनत्कुमारसंहिता इन्द्ररात्र, ९. १४-१५

२. वही, ९. १५-५०

३. पादयोरूर्ध्वरेखा तु यस्य हस्ते तु विद्यते ।
ललाटे त्रिपताका च स चाचार्यत्वमर्हति ।
सिंहो मृगश्च कलशस्तोरणे वेदिरेव च ॥
यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति ।
यस्य शङ्खं च चक्रं च मत्स्यश्च यव एव च ॥
वर्तन्ते पादयोः पाणौ स चाचार्यत्वमर्हति ।
पद्मं च स्वस्तिकं चैव भेरी पणवमेव च ॥
यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति ।

पश्चात् देहशुद्धि का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत यह बताया गया है कि सूतकान्न, प्रेतान्न, मांस, मधु का तथा पर्युषित अन्न का सेवन न करने वाला आचार्य शुद्धदेह होता है—

असूतप्रेतकान्नाशी न मांसमधुभोजनः ।
आचार्यः शुद्धदेहः स्यादपर्युषितभोजनः[१] ॥

उपर्युक्त विवरण में जातिशुद्धि के अन्तर्गत स्पष्ट कहा गया है कि शूद्र आचार्यत्व के योग्य नहीं होता। इस सन्दर्भ में भारद्वाजसंहिता का विवरण द्रष्टव्य है। इसके अनुसार स्त्री और शूद्र आचार्यत्व के अनर्ह हैं। अपकृष्ट वय और अपकृष्ट जाति वाला उत्कृष्ट वय और उत्कृष्ट जाति वाले का सामान्यतया आचार्य नहीं हो सकता। स्त्री, शूद्र, अन्तरोद्भव (प्रतिलोमजात) और पतित मन्त्रोपदेश करने के अयोग्य हैं। इस नियम का अपवाद भी है। ईश्वर-तत्त्व का साक्षात्कार करने वाले योगी लोग सभी योनियों में जन्म लेते हैं, इस कारण इनके कुल आदि का विचार नहीं किया जाता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि हीन कुल में उत्पन्न ये योगिजन आचार्यत्व के अनर्ह हैं। वस्तुतः वे भी आचार्यता के योग्य हैं। भारद्वाजसंहिता के शब्दों में—

आचार्यः कुलजातोऽपि ज्ञानभक्त्यादिवर्जितः ।
न च हीनवयोजातिः प्रकृष्टानामनापदि ॥
न जातु मन्त्रदा नारी न शूद्रो नान्तरोद्भवः ।
नाभिशस्तो न पतितः कामकामोऽप्यकामिनः ॥

श्रीवृत्तश्चाङ्कुशं शक्तिर्वनमाला तथैव च ।
यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यो भविष्यति ।
करकं मणिकं चैव पालिका वर्धमानकम् ॥
यस्य हस्ततले सन्ति स चाचार्यत्वमर्हति ।
रक्ते पादतले यस्य रक्ते पाणितले तथा ॥
जिह्वा यस्यास्ति दीर्घा च स चाचार्यत्वमर्हति ।
रक्ता पादनखाश्चापि तथा हस्तनखा अपि ॥
तथैव चक्षुषी चापि स चाचार्यत्वमर्हति ।
समवृत्ताङ्गुलिर्यस्तु यश्च स्यात् तुङ्गनासिकः ॥
छत्राकारशिराश्चापि स चाचार्यत्वमर्हति ।
अनूनावयवश्चापि तथा चानतिरिक्तकः ॥
अतीन्द्रियविहीनश्च स चाचार्योभविष्यति । (वही, ९.५०-६०)

१. वही, ९.६१

स्त्रियः शूद्रादयश्चैव बोधयेयुर्हिताहितम् ।
यथार्हं माननीयाश्च नार्हन्त्याचार्यतां क्वचित् ॥
किमप्यत्राभिजायन्ते योगिनः सर्वयोनिषु ।
प्रत्यक्षितात्मनाथानां नैषां चिन्त्यं कुलादिकम्[1] ॥

शिष्य के लक्षण

पाञ्चरात्र-आगमों में दीक्षा के योग्य शिष्य पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है । अहिर्बुध्न्यसंहिता में बताया गया है कि श्रेयस् का इच्छुक, समाहित, विनयव्रतशाली, द्विज, संस्कृत, शुचि, ब्रह्मचारी, धीमान्, स्वदार-निरत, बिना छल के अपने द्वारा कृत और अकृत कर्म का निवेदन करने वाला शिष्य गुरु का आश्रयण करे[2] और इस प्रकार निवेदन करे—

संसाराङ्गारमध्यस्थः पच्यमानः स्वकर्मभिः ।
भवन्तं शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः[3] ॥

अर्थात् संसाराग्नि के मध्य में स्थित अपने कर्मों से जीर्ण होता हुआ मैं आपकी शरण में आया हूँ, मुझे आप उपदेश कीजिये । इस प्रकार सम्प्रतिपन्न, सत्यवादी, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उपाधियों से अनेक प्रकार से शोधित, एक रूप, रहस्याम्नाय-रक्षक, अशठ, अनसूय, लोभ-मोह आदि से रहित शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करके उसके निष्कम्प रहने पर, अर्थात् परीक्षोत्तीर्ण होने पर विद्योपदेश करना चाहिये[4] ।

इसी प्रकार लक्ष्मीतन्त्र में भी कुछ विशेषताओं के साथ शिष्य के लक्षण उपलब्ध होते हैं । वहीं के शब्दों में—

शिष्यश्च तादृशो ज्ञेयः सर्वलक्षणलक्षितः ।
क्षान्तिशीलं सुधीमन्तं क्रोधलोभविवर्जितम् ॥
स्नानार्चनरतं नित्यं गुरुशुश्रूषणोद्यतम् ।
विप्राग्निदेवपितृषु भक्तं तर्पणशीलिनम् ॥

---

१. भारद्वाजसंहिता, १.४३
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २०.८-९
३. वहीं, २०.१०
४. वहीं, २०.११-१४

कुलीनं च तथा प्राज्ञं शास्त्रार्थनिरतं सदा ।
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं वा भगवत्परम् ॥

ईदृग्लक्षणसंयुक्तं शिष्यमार्जवसंयुतम् ।
वर्णधर्मक्रियोपेतां नारीं वा सद्विवेकिनीम ॥

विद्यादनुमते पत्युरनन्यां पतिमानिनीम् ।
एवं लक्षणकं शिष्यमाचार्यो भगवन्मयः ॥

ज्ञापयेद्विधिवन्मन्त्रान् गुरुदृष्ट्या समीक्ष्य तु[1] ।

अर्थात् आचार्य के समान ही शिष्य को भी सर्वलक्षणयुक्त होना चाहिये। शिष्य को क्षान्तिशील, बुद्धिमान्, लोभ-क्रोध से विवर्जित, स्नान-अर्चन आदि में निरत होना चाहिये । उसे सदा गुरुशुश्रूषा के लिये उद्यत रहना चाहिये । उसे ब्राह्मण, अग्नि, देव और पितृगण के प्रति भक्तिमान् होना चाहिये और तर्पणशील होना चाहिये । उसे कुलीन, प्राज्ञ और शास्त्रार्थचिन्तन में निरत होना चाहिये । वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य अथवा भगवद्भक्त शूद्र कोई भी हो सकता है । इस प्रकार से शिष्य के गुणों की समीक्षा करके भगवत्स्वरूप आचार्य उसे तथा वर्णधर्म-क्रिया में परायण, सदसद् का विवेक रखने वाली, पतिव्रता नारी को भी पति की अनुमति से विधिवत् मन्त्रोपदेश करे।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वैष्णवी दीक्षा में शूद्र और स्त्री का भी अधिकार है । इनका अलग से उल्लेख करने का प्रयोजन यह है कि वैदिक अनुष्ठानों में त्रैवर्णिकों का ही अधिकार है, स्त्री और शूद्र का नहीं । उस वैदिक परम्परा से पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर को दर्शाना भी आवश्यक है । अन्यथा ऐसी भ्रान्ति हो सकती है कि वैदिक कृत्यों के समान ही पाञ्चरात्र-अनुष्ठानों में भी स्त्री और शूद्र का अधिकार नहीं है । शूद्र के लिये 'भगवत्परम्'[2] विशेषण से यह स्पष्ट होता है कि वही शूद्र, जिसकी भगवद्भक्ति के विषय में आचार्य आश्वस्त है, वैष्णवी दीक्षा का अधिकारी है । स्त्री भी वही अधिकारिणी है, जो सदाचारिणी है, सद् और असद् का विवेक रखती है, पतिपरायणा है

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, २१.३७-४१

२. वहीं, २१.३९

तथा दीक्षा के विषय में जिसने पति से अनुमति पूर्व ही प्राप्त कर ली है[१] ।

लक्ष्मीतन्त्र में दीक्षाविधि के अन्तर्गत इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है । वहाँ दीक्षा के योग्य शिष्यों के साथ ही कन्या तथा स्त्रियों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है । यथा—

आनीय दृढसङ्कल्पं चिरकालपरीक्षितम् ॥
आचार्यः प्रणतं शिष्यं संसारानलतापितम् ।
....
सुस्नातान् धौतवस्त्रांश्च पवित्रीकृतविग्रहान् ॥
आनीय भगवद्भक्तान् शुभाः कन्याः स्त्रियस्तथा[२] ।

यहाँ दीक्षा के अधिकारियों के अन्तर्गत "शुभाः कन्याः स्त्रियस्तथा" कह कर कन्याओं तथा स्त्रियों के तान्त्रिक दीक्षा में अधिकार को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है ।

दीक्षायोग्य स्थान

दीक्षायोग्य स्थान का संक्षिप्त विवरण प्रायः सभी संहिताओं में प्राप्त होता है । परमसंहिता में समुचित स्थानों का उल्लेख इन शब्दों में प्राप्त होता है—

नदीसंगमतीर्थेषु देवतायतनेषु च ।
पर्वताग्रेषु गोष्ठेषु स्थाने वा सुमनोहरे[३] ॥

अर्थात् नदियों के परस्पर संगम-स्थल एवं नदी और समुद्र के संगम रूपी तीर्थ स्थानों पर, देवालयों में, पर्वत शिखरों पर, गोशाला के किसी प्रकोष्ठ में अथवा सुमनोरम स्थान में दीक्षाविधि सम्पन्न की जाती है । इसी प्रकार आगे चलकर यही संहिता दीक्षायोग्य स्थानों का विस्तृत विवरण इस प्रकार प्रस्तुत करती है—

तत्रैव कल्पिते स्थाने निश्छिद्रे निरुपद्रवे ।
नगरग्रामयोर्दूरे सर्वतः परिवारिते ॥

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, २१.४०–४१
२. वही, ४१.१०–१३
३. परमसंहिता, ७.४

सर्वोपकरणैर्युक्ते पूजाद्रव्यैश्च संयुते ।
वैष्णवैरभ्यनुज्ञातः कुशलैर्दीक्षितैः पुरा ॥
आदर्शतलसंकाशे वितानाम्बरभूषिते ।
पुष्पौषधिफलाद्यैश्च कलशैर्दिक्षु शोभिते ॥
अदीक्षितजनास्पृष्टे सन्निकृष्टे जलस्य च ।
आचार्यः कारयेद् दीक्षां वैष्णवस्य मनस्विनः[१] ॥

अर्थात् उस क्षेत्र में निश्चित स्थान पर, जो दोष तथा उपद्रवों से रहित है, नगर और ग्राम से दूर होते हुए भी सब ओर से घिरा हुआ है, जो सभी प्रकार के उपकरणों से तथा पूजाद्रव्यों से संयुक्त है, जहाँ यागशाला का भूतल तर्पणतल के समान निर्मल है, जो वितान से अलंकृत है, जो पुष्प, ओषधि और फलों से तथा कलशों से दिशाओं में शोभित है, जो अदीक्षित जनों से अस्पृष्ट है, जहाँ जल सन्निकृष्ट है, (ऐसे स्थान पर) आचार्य मनस्वी वैष्णव को दीक्षा प्रदान करें ।

इसी से मिलता-जुलता वर्णन सात्वतसंहिता में प्राप्त होता है—

पुण्ये देशेऽनुकूले च मनोज्ञे साधुसेविते ।
मृद्वारिफलपुष्पाढ्ये समित्कुशसमन्विते ॥
गोसस्यशालिसुभगे क्षुद्रप्राणिविवर्जिते ।
तत्र वर्णानुरूपां गां गच्छेत् पूर्वोक्तलक्षणाम्
सर्वदोषविनिर्मुक्तां सत्पक्षिमृगसेविताम् ।
या शुभायतनोद्देशैर्मठैर्गोष्ठापणैर्गृहैः ॥
तोयाशयाश्रमैः क्षेत्रैः सद्वृत्तैरन्तरीकृता ।
जलौघभयनिर्मुक्ता बलाद्युक्ता च सज्जनैः ॥
वनैरुपवनैर्ग्रामैर्नगराङ्गैः समावृता[२] ।

अर्थात् पुण्य, अनुकूल, मनोज्ञ, साधुजनों से सेवित; मृत्तिका, जल, फल और पुष्पों से समृद्ध; समित् और कुश से समन्वित; गाय, सस्य और शालि से सुभग; क्षुद्र प्राणियों से रहित क्षेत्र में वर्णों के अनुरूप भूमि

१. परमसंहिता, ७.१७-२०
२. सात्वतसंहिता, १८.५-९

पर लाना चाहिये, जो सर्व दोषों से विनिर्मुक्त हो, सुन्दर पक्षियों और मृगों से सेवित हो, जो शुभ भवनों, जलाशय से युक्त आश्रमों से परिवारित हो, जो जलौघ के भय से निर्मुक्त हो, जहाँ सज्जनों का बाहुल्य हो तथा जो वन, उपवन, ग्राम और नगरों से घिरी हुई हो ।

इसी प्रकार अन्य संहिताओं में भी दीक्षायोग्य देश का वर्णन हुआ है, किन्तु उन सभी वर्णनों में उपरि प्रस्तुत वर्णन की भावना के साथ एकरूपता ही है[१] ।

दीक्षायोग्य काल

दीक्षा के लिये किसी ऋतुविशेष का उल्लेख पाञ्चरात्र-संहिताओं में नहीं प्राप्त होता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उपनयन और अग्न्याधान के निमित्त त्रैवर्णिकों के लिये जिन ऋतुओं का विधान किया गया है, पाञ्चरात्र-परम्परा में उन ऋतुओं को उसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है । अग्न्याधान के लिये तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है—

"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः"[२], अर्थात् वसन्त में ब्राह्मण को, ग्रीष्म में क्षत्रिय को तथा शरद् ऋतु में वैश्य को अग्न्याधान करना चाहिये । उपनयन संस्कार के लिये भी यही क्रम अपनाया गया है । यथा—

"वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत ग्रीष्मे राजन्यं शरदि वैश्यम्"[३] ।

इसी परम्परा का पालन करते हुए पाञ्चरात्र-परम्परा में भी ब्राह्मण के लिये वसन्त ऋतु, क्षत्रिय के लिये ग्रीष्म तथा वैश्य के लिये शरद् ऋतु निर्धारित कर दी गयी है । वैदिक अनुष्ठानों में शूद्र तथा स्त्री का अधिकार न होने के कारण उपर्युक्त उद्धरणों में इनका उल्लेख नहीं है । पाञ्चरात्र-परम्परा के अन्तर्गत शूद्र तथा स्त्री को भी दीक्षा का अधिकार प्राप्त है । इस कारण शूद्र के लिये हेमन्त

---

१. द्रष्टव्य– समुद्रगाभिः सरिद्भिः संगमं यन्मनोरमम् ।
महोदधितटं रम्यं यत्र वा रमते मनः ॥ (नारदीयसंहिता, ७.११)

२. तैत्तिरीयब्राह्मण, १.१.२.६

३. आपस्तम्बीय धर्मसूत्र, १.१.१.१९

तथा स्त्री के लिये वर्षा ऋतुओं का निर्धारण किया गया है । इस सन्दर्भ में निम्नलिखित उद्धरण महत्त्वपूर्ण है—

वसन्ते दीक्षयेद् विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च ।
शरदः समये वैश्यं हेमन्ते शूद्रमेव च ।
स्त्रियं च वर्षाकाले तु पाञ्चरात्रविधानतः[1] ॥

अर्थात् पाञ्चरात्र-विधान के अनुसार वसन्त में ब्राह्मण को, ग्रीष्म में क्षत्रिय को, शरद् में वैश्य को, हेमन्त में शूद्र को तथा स्त्री को वर्षा काल में दीक्षित करे । यह उद्धरण सात्वतसंहिता के अलशिंगभट्ट-विरचित भाष्य में महाभारत के शान्तिपर्व के नाम से उदाहृत किया गया है, किन्तु ये श्लोक महाभारत में दिखायी नहीं देते । अलशिंगभट्ट के द्वारा इसे प्रमाण के रूप में उदाहृत किये जाने से यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि वर्णो के लिये उपर्युक्त ऋतुओं का निर्धारण सर्वसम्मत है ।

तत्तत् संक्रान्तियों की दृष्टि से दीक्षायोग्य शुभ काल का विचार करते हुए विश्वामित्रसंहिता का कथन है—

दीक्षां वक्ष्ये तु संक्षेपात् तच्छृणु द्विजपुङ्गव ।
आदित्ये मीनमेषेषु वृषनक्रेषु संस्थिते ॥
पूर्वपक्षे शुभे ऋक्षे एकादश्यां तथा निशि[2] ।

अर्थात् मीन, मेष, वृष और मकर राशियों में सूर्य के स्थित होने पर पूर्व (शुक्ल) पक्ष तथा शुभ नक्षत्र में एकादशी तिथि के होने पर रात का समय ग्राह्य है । सामान्यतया सूर्य मीन राशि में १४ मार्च से १३ अप्रैल तक रहता है । इसी प्रकार मेष राशि में १४ अप्रैल से १३ मई तक, वृष राशि में १४ मई से १३ जून तक तथा मकर राशि में १४ जनवरी से १३ फरवरी तक रहता है । इन्हीं दिनों में शुक्ल पक्ष में शुभ नक्षत्र तथा शुभ तिथि (द्वादशी) में दीक्षा कार्य करना चाहिये । यह मत विश्वामित्रसंहिता का है । अन्य प्रमुख पाञ्चरात्र-संहिताएँ राशियों के विषय में मौन हैं । सामान्यतया सभी अग्नि कार्यो. के लिये पाञ्चरात्र-संहिताओं में भिन्न-भिन्न तिथियाँ और उनके फल बताये गये हैं । जयाख्यसंहिता के अनुसार—

---

१. सात्वतसंहिता, ३९.३९-४६ (अलशिंगभट्ट-कृत भाष्य में उद्धृत, पृ० ३८५)
२. विश्वामित्रसंहिता, ९.२-३

शुभे ग्रहे सुनक्षत्रे शुक्लपक्षे तिथिष्वपि ।
द्वादश्यां धर्मकामार्थानग्निस्थः कुरुते विभुः ॥
सौभाग्यं तु त्रयोदश्यामेकादश्यां ध्रुवं जयः ।
पञ्चम्यां द्रव्यसिद्धिं च नवम्यां कीर्तिदः प्रभुः ॥

तिथयः शुक्लपक्षे तु प्रोक्ताः सौभाग्यकर्मणि ।
यथाकामं तु मोक्षार्थी पक्षयोरुभयोरपि[१] ॥

इन पंक्तियों में यह बताया गया है कि अग्निकार्य के लिये ग्रह और नक्षत्र शुभ होने चाहिये । यहाँ यह उल्लेख नहीं किया गया है कि वे शुभ ग्रह और शुभ नक्षत्र कौन से हैं । अतः यह सहज निष्कर्ष है कि ज्योतिषशास्त्र में जिन्हें शुभ ग्रह और शुभ नक्षत्र कहा गया है, उन्हीं का निर्देश उपर्युक्त पंक्तियों में किया गया है । इन कार्यों के लिये शुक्ल पक्ष को उपयुक्त माना गया है । तिथियों में द्वादशी, त्रयोदशी, एकादशी, पञ्चमी और नवमी का विधान किया गया है । फलप्राप्ति की दृष्टि से तत्तद् अनुष्ठानों के लिये तिथियों का विधान किया गया है । यथा सौभाग्य के लिये त्रयोदशी, जय के लिये एकादशी, द्रव्यसिद्धि के लिये पञ्चमी तथा कीर्ति के लिये नवमी । शुक्ल पक्ष में ये तिथियाँ सौभाग्यकारिणी होती हैं । मोक्षार्थी की इच्छानुसार दोनों पक्षों की तिथियाँ भी हो सकती हैं । ये तिथियाँ सामान्यतया शुभ हैं, किन्तु दीक्षाकार्य के लिये विशेष रूप से द्वादशी तिथि को ही उपयुक्त माना गया है । जैसा कि जयाख्यसंहिता में ही स्पष्टतया कहा गया है—

यद्यप्युक्ता मया विप्र तिथयः पूजने पुरा ।
तथापि द्वादशी श्रेष्ठा दीक्षायां पूजने हरेः[२] ॥

परमसंहिता में दीक्षायोग्य शुभ काल का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

आचार्यः कारयेद् दीक्षां वैष्णवस्य मनस्विनः ।

---

१. जयाख्यसंहिता, १५.२१५–२१८
द्रष्टव्य– वसन्तग्रीष्मयोर्दीक्षा कार्या वा कार्तिकादिषु ।
शरदाषाढयोश्चोक्तो वर्णजानामनुग्रहः ॥ (विष्णुसंहिता, १०.२)

२. वही, १६.८९

द्वादश्यां पौर्णमास्यां वा विषुवत्ययनेऽपि वा ॥
श्रोणायां वा प्रयुञ्जीत दीक्षामस्य यथाविधि[1] ॥

यह उद्धरण मनस्वी वैष्णव की दीक्षा के लिये द्वादशी या पूर्णिमा तिथि, विषुवत् (जब दिन रात समकालिक हो), अयन (मकर तथा कर्क संक्रान्ति) तथा श्रवण नक्षत्र को शुभ माना गया है । तिथियों के विषय में सभी संहिताओं में प्रायः मतैक्य है । दशमी की तिथि सम्भार संग्रह के लिये निश्चित की गई हैं । यथा—

दशम्यां सम्भरेत् सर्वान् समिदादीन् समाहितः[2] ।
अथवा
सर्वं दशम्यामाहृत्य यागोपकरणं तु वै[3] ।

दशमी के दिन सम्भार संग्रह के पश्चात् दूसरा दिन, अर्थात् एकादशी का दिन अधिवास दीक्षा के लिये निश्चित किया गया है—

एकादश्यां तिथौ स्नातः शुद्धे वासोयुगे दधत् ।
....
सायंकाले तु सम्प्राप्ते कुर्याच्चैवाधिवासनम्[4] ॥

तीसरे दिन, अर्थात् द्वादशी के दिन मुख्य दीक्षा दी जाती है । इस द्वादशी तिथि के विधान का उल्लेख पहले किया जा चुका है[5] । इस सन्दर्भ में विष्णुसंहिता का वचन भी द्रष्टव्य है—

द्रव्याण्यानाय्य संशोध्य पूर्वेद्युरधिवास्य च ।
द्वादश्यां दीक्षयेच्छिष्यानिष्ट्वा देवं विधानतः[6] ॥

यहाँ द्वादशी के दिन दीक्षा, पूर्व दिन अर्थात् एकादशी के दिन अधिवास और पूर्व दशमी के दिन द्रव्यसंग्रह का उल्लेख किया गया है ।

---

१. परमसंहिता, ७.२०–२१
२. वहीं, ९.९
३. जयाख्यसंहिता, १६.९०
४. विश्वामित्रसंहिता, ९.१०–१२
५. जयाख्यसंहिता, १६.८९
६. विष्णुसंहिता, १०.८

शिष्य की परीक्षा

दीक्षार्थ उपस्थित हुए शिष्य की परीक्षा का भी विधान पाञ्चरात्र-संहिताओं में प्राप्त होता है । यह परीक्षा चिरकाल तक चलने वाली होती है ।

आनीय दृढसंकल्पं चिरकालपरीक्षितम् ।
आचार्यः प्रणतं शिष्यं ....[१] ॥

इस परीक्षा से शिष्य के अन्य गुणों की परीक्षा के साथ ही साथ उसके दृढ निश्चय का भी ज्ञान हो जाता है । लक्ष्मीतन्त्र में परीक्षा की अवधि चिरकाल कही गई है । इस चिरकाल को परिभाषित करते हुए· अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा गया है—

भवन्तं शरणं प्राप्त उपसन्नोऽस्म्यधीहि भोः ॥
इत्येवं प्रतिपद्येत शिष्य आचार्यसत्तमम् ।
इत्येवं सम्प्रपन्नाय शिष्यायाच्छलवादिने ॥
प्रत्यक्षाभिः परोक्षाभिरुपाधिभिरनेकधा ।
शोधितायैकरूपाय रहस्याम्नायगोपिने ॥
अशठायानसूयाय लोभमोहाद्यसेविने ।
संवत्सरं परीक्ष्यैवं परितः परितो धिया ॥
निष्कम्पाय वदेद्विद्यां यावती यादृशी च सा[२] ।

अर्थात् जब शिष्य आचार्य की शरण में आवे और निवेदन करे कि मैं आपकी शरण में आया हूँ, तब आचार्य शरणागत, निश्छल, प्रत्यक्ष तथा परोक्ष उपाधियों से अनेक प्रकार से शोधित, एक रूप, एकायन-श्रुति अथवा सात्वतशास्त्र की रक्षा करने वाले, सज्जन, अनसूय, लोभ और मोह से रहित शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करके निष्कम्प शिष्य को विद्योपदेश करे । यहाँ पर लक्ष्मीतन्त्रोक्त चिरकाल परीक्षा का अर्थ "संवत्सर परीक्षा" किया गया है । संवत्सर परीक्षा, अर्थात् एक वर्ष तक चलने वाली इस परीक्षा की पुष्टि अन्य संहिताओं से भी हो जाती है । यथा—

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ४१.१०–११
२. अहिर्बुध्न्यसंहिता, २०.१०–१४

उपासितगुरोर्वर्ष विष्णोर्दास्यमभीप्सतः ।
विहिताः पञ्च संस्कारा युक्तस्यैकान्त्यहेतवः[१] ॥

गुरु की एक वर्ष तक सेवा करने वाले, विष्णु के दास्य के इच्छुक शिष्य के लिये पंचसंस्कारों का विधान किया गया है ।

इस प्रकार शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा करनी चाहिये और उसके सुयोग्य सिद्ध हो जाने पर उसे दीक्षा दी जानी चाहिये ।

दीक्षा के भेद

पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षा की विविधता चर्चित और प्रपञ्चित हुई है । मुख्य रूप से दीक्षा के दो प्रकार प्राप्त होते हैं । लक्ष्मीतन्त्र और जयाख्यसंहिता में इस विषय में मतों की समानता दिखाई देती है । इन दोनों संहिताओं में किया गया विवेचन इस प्रकार है—

लक्ष्मीतन्त्र का कथन है कि दीक्षा तीन प्रकार की होती है— १. स्थूल, २. सूक्ष्म और ३. पर । वहीं के शब्दों में—

"दीक्षा सा त्रिविधा तावत् सूक्ष्मस्थूलपरात्मना"[२] ।

इन तीनों विधाओं के अलग-अलग स्वरूप का विवेचन लक्ष्मीतन्त्र में प्राप्त नही होता । जयाख्यसंहिता मे इन्हीं संज्ञाओं से मन्त्रों के त्रैविध्य का उल्लेख किया गया है—

स्थूलं सूक्ष्मं परं चान्यद् व्याप्य तत्त्वत्रयं स्थितम् ।
....
त्रिविधे मन्त्रराशौ तु त्रिधा चैव व्यवस्थितः[३] ॥

अतः कहा जा सकता है कि इन त्रिविध मन्त्रों के उपदेश को ध्यान में रख कर ही लक्ष्मीतन्त्र में दीक्षा का त्रैविध्य कहा गया है । दीक्ष्य शिष्यों के आधार पर इस त्रिविध दीक्षा में प्रत्येक के चार चार भेद होंगे । चारों प्रकार के दीक्ष्य शिष्यों के नाम हैं— १. समयी, २. पुत्रक, ३. साधक और ४. आचार्य ।

---

१. भारद्वाजसंहिता, परिशिष्ट, २.१
२. लक्ष्मीतन्त्र, ४१.१७
३. जयाख्यसंहिता, १६.१२, १६

पुनर्दीक्ष्यविभेदेन त्रिविधा सा चतुर्विधा ।
समयी पुत्रकश्चैव तृतीयः साधकस्तथा ॥
आचार्यश्चेति दीक्ष्यास्ते तेषामन्यत्र विस्तरः[१] ॥

इन चारों प्रकार के दीक्ष्य शिष्यों का स्वरूपविवेचन लक्ष्मीतन्त्र में प्राप्त नहीं होता । "तेषामन्यत्र विस्तरः" से सम्भवतः अन्य संहिताओं में किया गया इनका विवेचन अभिप्रेत है । जयाख्यसंहिता का सत्रहवां अध्याय इन्हीं के स्वरूप विवेचन के निमित्त समर्पित है । अन्य संहिताओं में भी इन चारों के स्वरूप का विशद विवेचन प्राप्त होता है । किन्तु सनत्कुमारसंहिता में इन चारों का किया गया स्वरूपविवेचन संक्षिप्त और स्पष्ट होने के कारण द्रष्टव्य है । समयी-संज्ञक दीक्षित का स्वरूप इस संहिता में इन शब्दों में बताया गया है—

दीक्षामात्रं प्रविष्टा ये केवले समये स्थिताः ।
अतन्त्रज्ञा अदेवाश्च ते वै समयिनः स्मृताः[२] ॥

अर्थात् जिन्होंने दीक्षामात्र ग्रहण की है और जो केवल समय (सिद्धान्त, नियम) में स्थित हैं, किन्तु जिन्हें तन्त्रों का ज्ञान नहीं है और जो देवालयों में पूजा करने के अधिकारी नहीं हैं, वे समयी कहे गये हैं । पुत्रक का लक्षण करते हुए संहिता का कथन है—

दीक्षितानां तु सर्वेषां पुत्रवद् ये प्रतिष्ठिताः ।
दीक्षां प्रविष्टा निर्ग्रन्थाः पुत्रकास्ते प्रकीर्तिताः[३] ॥

अर्थात् जिन्होंने दीक्षा में प्रवेश प्राप्त कर लिया है, जो निर्ग्रन्थ हैं, अर्थात् ग्रन्थज्ञान से रहित हैं, उन दीक्ष्यों को पुत्रक कहा गया है । उन्हें पुत्रक संज्ञा देने का कारण यह है कि ये दीक्षा प्रदान करने वाले आचार्यों के पुत्र के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं । दीक्ष्यों का

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ४१.७-८
तुलनीय— दीक्षा सा त्रिविधा प्रोक्ता स्थूला सूक्ष्मा परा तथा ।
पुनर्दीक्षाविभेदेन त्रिधा सापि चतुर्विधा ।
समयी पुत्रकश्चैव तृतीयः साधकः स्मृतः ॥
आचार्यश्चेति विज्ञेयाश्चत्वारोऽपि च दीक्षिता ॥
(श्रीप्रश्नसंहिता, १६.२३-२५)

२. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, ५.१२०

३. वहीं, १२१

तीसरा प्रकार है— साधक । सनत्कुमारसंहिता में साधक दीक्ष्यों का लक्षण इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया है—

साधको मन्त्रतन्त्रज्ञस्तन्त्रपाठे विचक्षणः ।
देवताराधने सक्तः सर्वदा तत्परायणः ॥
कर्माणि साधयेन्नित्यं देवपूजाभिरेव च ।
स साधक इति प्रोक्तस्तन्त्रमन्त्रविशारदः[१] ॥

अर्थात् साधक मन्त्र और तन्त्र का ज्ञाता होता है, तन्त्रपाठ में विचक्षण होता है, देवता की आराधना में लगा रहता है और सदा देवताराधन-परायण रहता है । इन्हें देवालय में आराधना का अधिकार होता है । दीक्ष्यों का चतुर्थ और अन्तिम प्रकार है—आचार्य । आचार्य का लक्षण बताते हुए संहिता का कथन है—

व्याख्याता तन्त्रमन्त्राणां संहितानां च सर्वतः ।
संस्कर्तापि च शिष्याणामाचार्यः सोऽभिधीयते[२] ॥

अर्थात् आचार्य उसे कहते हैं जो तन्त्र, मन्त्र और संहिताओं का कुशल व्याख्याता होता है । वही शिष्यों का संस्कार भी करता है, उन्हें दीक्षा प्रदान करता है । समयी और पुत्रक संज्ञक दीक्ष्यों से साधक दीक्ष्य विशिष्ट होता है और आचार्य इनमें सबसे श्रेष्ठ होता है—

सर्वेषां समयस्थानां साधकस्तु विशिष्यते ।
साधकानां तु सर्वेषामाचार्यस्तु विशिष्यते[३] ॥

इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और पर संज्ञक त्रिविध दीक्षा के प्रत्येक उपर्युक्त समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य संज्ञक चार-चार भेद होते हैं ।

लक्ष्मीतन्त्र और जयाख्यसंहिता में अन्य प्रकार से भी दीक्षा के त्रैविध्य का प्रतिपादन किया गया है । लक्ष्मीतन्त्र के अनुसार—

महामण्डलयागेन हवनाद् वाऽथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः ॥

---

१. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, १२२–१२३
२. सनत्कुमारसंहिता, ब्रह्मरात्र, १२४
३. वही, १२५

वित्ताढ्यस्याल्पवित्तस्य द्रव्यहीनस्य च क्रमात्[१] ॥

अर्थात् यह दीक्षा पुनः तीन प्रकार की होती है—१. महामण्डलयागेन, २. केवलाद् हवनात् और ३. केवलया वाचा। इनमें महामंण्डलयाग से दी जाने वाली दीक्षा ही मुख्य है। इसी का समस्त पाञ्चरात्र-संहिताओं में विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। किन्तु यह दीक्षा वित्त-साध्य होने के कारण सर्वजनीन नहीं है। इस दीक्षा में वित्ताढ्य का ही अधिकार है। दूसरी, अर्थात् केवल हवन से दी जाने वाली दीक्षा में अल्पवित्त का अधिकार है। इसी प्रकार तीसरी, अर्थात् केवल वाणी से दी जाने वाली दीक्षा पर द्रव्यहीन, अर्थात् निर्धन का अधिकार होता है। जयाख्यसंहिता में भी यही बात इन शब्दों में कही गयी है—

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यानां तु कारयेत् ॥
वित्तयोगविमुक्तस्य स्वल्पवित्तस्य देहिनः ।
संसारभयभीतस्य विष्णुभक्तस्य तत्त्वतः ॥
अग्नौ चाज्यान्वितैर्बीजैः सतिलैः केवलैस्तथा ।
द्रव्यहीनस्य वै कुर्याद् वाचैवानुग्रहं गुरुः[२] ॥

सात्वतसंहिता में दीक्षा के अन्य प्रकार से भी भेदों का उल्लेख किया गया है। यहाँ भी दीक्षा के तीन ही भेद बताये गये हैं, किन्तु उनके नाम भिन्न हैं। यथा- १. विभव, २. व्यूह और ३. सूक्ष्म। सात्वतसंहिता के ही शब्दों में—

"विभवव्यूहसूक्ष्माख्यां दीक्षां कुर्यादनन्तरम्"[३]।

ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मीतन्त्रोक्त स्थूल, सूक्ष्म और पर इन तीन दीक्षाभेदों के लिये ही सात्वतसंहिता ने इन दूसरी संज्ञाओं का प्रयोग किया है। इन तीनों प्रकार की दीक्षाओं के फलों की चर्चा भी सात्वतसंहिता में की गयी है। यथा—

कैवल्यफलदाप्येका भोगकैवल्यदा परा ।
भोगदैव तृतीया च प्रबुद्धानां सदैव हि[४] ॥

---

१. लक्ष्मीतन्त्र, ४१.९–१०
२. जयाख्यसंहिता, १६.४–६
३. सात्वतसंहिता, १६.४–६
४. वहीं, १९.४

अर्थात् प्रथम प्रकार की दीक्षा का फल कैवल्य है, दूसरी का भोग और कैवल्य और तीसरी का मात्र भोग ।

दीक्षा-विधि

समस्त शुभ लक्षणों से विशिष्ट आचार्य दीक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से आये हुए शुभ लक्षणों से युक्त शिष्य को पाकर उसकी एक वर्ष तक सम्यक् परीक्षा करे । परीक्षा में उसके निष्कम्प रहने पर पाञ्चरात्र-विधि के अनुसार उसकी दीक्षा की व्यवस्था करे । एतदर्थ उसे दीक्षा के योग्य काल और स्थान का विचारपूर्वक निश्चय कर लेना चाहिये । जैसा कि इसके पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है, दीक्षा के लिये द्वादशी तिथि सामान्यतया शुभ होती है । दीक्षा की प्रक्रिया तीन दिन तक चलती है । यह प्रक्रिया दशमी से आरम्भ होकर द्वादशी के दिन पूर्णता को प्राप्त करती है । अतः यहाँ दशमी, एकादशी और द्वादशी के दिन होने वाले कृत्यों का पृथक् पृथक् वर्णन करने का क्रम ही स्वीकार किया गया है ।

१. दशमी के कृत्य

सर्वलक्षणसम्पन्न आचार्य दीक्षा के लिये उपस्थित हुए शिष्य की अर्हता, दीक्षा के योग्य काल और स्थान का निश्चय कर लेने के पश्चात् दशमी तिथि से ही दीक्षा कार्य का उपक्रम करता है । एतदर्थ सर्वप्रथम मण्डप का निर्माण किया जाता है । पूर्व दिशा में निर्मित मण्डप पुष्टि और श्रीवर्धक होता है, दक्षिण दिशा में निर्मित मण्डप सभी विघ्नों को शान्त करने वाला तथा यशस्कर होता है, पश्चिम दिशा में जय देने वाला और उत्तर दिशा में धन देने वाला होता है । इसी प्रकार आग्नेय, नैर्ऋत्य, वायव्य तथा ईशान दिग्भागों में भी मण्डप का निर्माण किया जा सकता है । इनमें से पूर्व पूर्व दिशा में किया गया मण्डप-निर्माण उत्तर उत्तर से श्रेष्ठ होता है[१] ।

---

१. मण्डपं पूर्वदिग्भागे पुष्टिश्रीवर्धनं भवेत् ।
सर्वविघ्नोपशमनं याम्ये चैव यशस्करम् ॥
जयदं वारुणे भागे धनदं चोत्तरे दिशि ।
आग्नेये नैर्ऋते वापि वायव्यैशे शचीपते ॥
कल्पयेन्मण्डपे चैवं पूर्वपूर्वा गरीयसी । (विष्वक्सेनसंहिता, २.३-५)

मण्डप तीन प्रकार के होते है— १. हीन, २. मध्यम और ३. उत्तम[1]। ये तीन मण्डप क्रमशः हीन, मध्यम और उत्तम अधिकारियों के लिये होते हैं[2]। इस प्रकार सर्वलक्षणसम्पन्न, चार द्वारों से युक्त, वितान आदि से अलंकृत मण्डप का निर्माण कर के[3] मण्डप के मध्य में अनुरूप वेदि का निर्माण करे। वेदि पकी हुई ईटों से निर्मित होनी चाहिये। वेदि का प्रमाण चार हाथ होना चाहिये[4]। वेदि के पश्चिम भाग में विधानपूर्वक कुण्ड का निर्माण करना चाहिये। ब्राह्मण के लिये कुण्ड का आकार चौकोर तथा परिमाण दो ताल (२४ अंगुल) होना चाहिये। क्षत्रिय के लिये वृत्ताकार तथा दो गोकर्ण परिमाण का, वैश्य के लिये धनुषाकार तथा दो वितस्ति परिमाण का और शूद्र के लिये त्रिकोणात्मक तथा दो प्रादेश परिमाण का कुण्ड होना चाहिये। कुण्ड को त्रिमेखला से युक्त तथा पश्चिम की ओर योनि से मण्डित होना चाहिये[5]।

वेदि-निर्माण के पश्चात् संभारार्जन (सामग्री-संग्रह) करना चाहिये। सात्वतसंहिता में संगृहीत की जाने वाली सामग्री की विस्तृत सूची दी गई है[6]। इस सूची में आने वाली मुख्य सामग्री इस प्रकार है— लाजा, सिद्धार्थक (श्वेत सर्षप), फल, श्रीफल (बिल्व), चन्दन, रोचना (गोरोचन) श्वेत दूर्वा, पुष्प, महीरुहमंजरी (तुलसी), हरित कुश (अग्रभाग सहित), रत्न, स्वर्ण, सर्वौषधि, त्वग् (लवङ्ग), एला आदि (ताम्बूल आदि सुगन्धित वस्तुएँ), पद्मक (कमल केशर), शंखपुष्पी, विष्णुक्रान्ता (लताविशेष), कुन्दर (कुन्दपुष्प-केशर), सप्त धान्य (सप्त ग्राम्य तथा सप्त आरण्य धान्य)[7], बड़ बीज, शालि, श्यामाक, नीवार, तण्डुल, पञ्च गोसम्भव (दुग्ध, दधि, घृत, गोमय, गोमूत्र), औदुम्बर

---

१. मण्डपं त्रिविधं प्रोक्तं हीनं मध्यममुत्तमम्। (वहीं, २.६)

२. वहीं, २.७

३. वहीं, ८.१७

४. विश्वामित्रसंहिता, ९.४

५. विश्वामित्रसंहिता, ६.९

६. सात्वतसंहिता, १८.२७-४७

७. शालिमुद्गयवा माषा गोधूमाश्च प्रियङ्गवः ॥
तिलाः सप्त इमे ग्राह्या ग्राम्या वै चरुकर्मणि।
वेणुश्यामाकनीवारा जर्तिलाश्च गवीधुकाः ॥
मर्कटाः कनकाः सप्त विज्ञेयास्तु नवोद्भवाः। (पारमेश्वरसंहिता, १८.१३४-१३६)

पात्र, अनेक उदुम्बर या कोमल पत्तों के पुट, पाण्डर (श्वेत) दुकूल, नवीन वस्त्रद्वय, यज्ञोपवीत, उत्तरीय वस्त्र, दो श्वेत धोतियाँ, कुश से निर्मित पवित्रियाँ, कङ्कण, अङ्गुलीयक, स्फटिकमाला, गणित्रकपत्राक्ष, पञ्चलोह से निर्मित द्वादश अरों वाला चक्र, पञ्चलोह से निर्मित शङ्ख, कुतुप, योगपट्ट (वस्त्र), नेत्रवस्त्र, मृगचर्म, ब्रुसीकाशांशुक, पट्ट, पादुका, उपानह, दण्ड, प्रतिग्रह (पात्रविशेष), छत्र, पूर्णगोधूमकाष्ठक (गोधूम से पूर्ण काष्ठपात्र), चार वर्णों वाली मालाएँ, सुन्दर पवित्र नील घास से मिश्रित हरे पत्ते, गुग्गुलु, मृष्टधूप, दीपक, तैल, वर्तिकाएँ, दर्पण, धूपपात्र, घण्टा, अर्घ्यादि-पात्र, रज, करणीयुग्म, पालिका, सित घटिका (श्वेत घटी), पञ्च अङ्गुल परिमाण की स्वर्ण आदि (रजत-ताम्र आदि) की शलाका, कुशपंचक, अलक्तरञ्जित सूत्र, सफेद कच्चा सूत्र, कर्तरी, क्षुर, मयूरपंख से युक्त अग्रभाग सहित अष्टकाण्ड, लोह, मृत् या काष्ठ से निर्मित चूने से रंगी हुई कुल्लिकाएँ (कुल्हड) तथा जलकुम्भ, भृङ्गार (स्वर्णनिर्मित जलपात्र), करवी, असमय उत्पन्न कुश की जड़, आधारयुक्त कलश, स्थाली, कमण्डलु, दर्वीविधान (ढक्कन), चुल्लिका (चूल्हा), चतुष्पाद (चौकोर) भद्रपीठ, मात्रावित्त, ताम्बूल, दन्तधावन संचय, शुष्कगोमय संयुक्त अरणि, अग्निज मणि, पलाश और दूर्वा की अग्रभाग सहित समिधाएँ, प्रभूत इन्धन, आज्याक्त तिल और तण्डुल, स्रुक्, स्रुवा आदि होमोपकरण तथा पक्ष्मकपर्यन्त बृहत्पात्रद्वय ।

यह सामग्री सात्वतसंहिता में बताई गई है । अन्य संहिताओं में भी सामग्री का उल्लेख किया गया है, जिसके अनुसार इस सूची में संशोधन-परिवर्धन का पूर्ण अवकाश है । इस सारी सामग्री का संग्रह दशमी के दिन ही कर लेना चाहिये । तत्पश्चात् मध्याह्न के समय स्नान करके पवित्र होकर दीक्ष्य एक बार भोजन करे—

मध्यन्दिने शुचिः स्नात एकभुक्तेन वर्तयेत्[१] ।

२. एकादशी के कृत्य

दूसरे दिन, अर्थात् एकादशी के दिन प्रातः स्नान करके शुद्ध दो वस्त्रों को धारण करते हुए श्वेत गन्ध (चन्दन) से अनुलिप्त तथा

---

१. विश्वामित्रसंहिता, ९.१०; द्रष्टव्य—
सम्भारग्रहणं कृत्वा दशम्यामेव मन्त्रवित् ।
एकादश्यामुपोष्याथ निशायामधिवासयेत् ॥ (नारदीयसंहिता, २३.३५)

श्वेत माल्य से विभूषित होकर यथोपलब्ध आभूषणों से आचार्य को समलंकृत होना चाहिये[१] । तदनन्तर सायंकाल के उपस्थित होने पर अधिवासन करना चाहिये । अधिवासन के लिये पूर्वोक्त मण्डप के चारों द्वार-देशों में प्रत्येक द्वार के दोनों पार्श्वों में दो दो (कुल आठ) कलश स्थापित करने चाहिये । इन आठ कलशों से सम्बद्ध आठ देव हैं । पूर्व द्वार के कलशों के पूर्ण और पुष्कर देवता हैं । इसी प्रकार दक्षिण द्वार के कलशों के आनन्द और नन्द, पश्चिम द्वार के वीरसेन और सुषेण तथा उत्तर द्वार के सम्भव और प्रभव देवता हैं । यथा—

द्वारेषु कलशानष्टौ न्यसेन्मन्त्रविचक्षणः ।
पूर्वद्वारे तु कलशौ द्वौ तयोः पूर्णपुष्करौ ॥
दक्षिणद्वारघटयोरानन्दं नन्दमेव च ।
वीरसेनसुषेणौ च पश्चिमद्वारकुम्भयोः ॥
सम्भवप्रभवौ द्वौ तु उत्तरद्वारकुम्भयोः[२] ।

तदनन्तर वेदिका के मध्य भाग में वस्त्र पर मण्डल का निर्माण करना चाहिये[३] ।

मण्डल-निर्माण

दीक्षाविधि में मण्डल का बहुत महत्त्व है । प्रायः संहिताओं में इस कार्यहेतु चक्राब्ज मण्डल का विधान किया गया है । लक्ष्मीतन्त्र तथा जयाख्यसंहिता में चक्राब्ज मण्डल का ही महामण्डल नाम से प्रतिपादन किया गया है । यथा—

महामण्डलयागेन वित्ताढ्यानां तु कारयेत्[४] ।

तथा—

महामण्डलयागेन हवनाद् वाऽथ केवलात् ।
वाचा केवलया वापि दीक्षैषा त्रिविधा पुनः[५] ॥

---

१. विश्वामित्रसंहिता, १०.११
२. नारदीयसंहिता, २३.३७-३९
३. विश्वामित्रसंहिता, ९.१२, १३
४. जयाख्यसंहिता, १६.४
५. लक्ष्मीतन्त्र, ४१.९

नारदीयसंहिता में चक्राब्ज मण्डल तथा भद्रक मण्डल में विकल्प का प्रतिपादन किया गया है । इसी संहिता के शब्दों में—

एवं तु मण्डलं कृत्वा चक्राब्ज भद्रकं तु वा[१] ।

तथा—

शुष्कगोमयसम्मृष्टां भूमिं दर्पणसन्निभाम् ।
कृत्वा तत्र लिखेद् विद्वान् मण्डलं भद्रकं शुभम् ।
चक्राब्जं वा सुविस्तीर्णं सर्वलक्षणसंयुतम्[२] ॥

नारदीयसंहिता में इन मण्डलों में कौन सा मण्डल किस कार्य के लिये होना चाहिये, इस विषय का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है—

एतेषु मण्डलेष्वेकं दीक्षायां च यथारुचि ॥
प्रतिष्ठायां तथा ब्रह्मन् शान्तिके पौष्टिके तथा ।
प्रायश्चित्ते तु चक्राब्जमभिचारे तथैव च ॥
व्याध्यनिष्टविनाशाय भद्रकं तु विधीयते[३] ।

दीक्षा के लिये कोई एक, प्रतिष्ठा, शान्तिक, पौष्टिक और प्रायश्चित्त के लिये चक्राब्ज तथा अभिचार और व्याधि या अनिष्ट के विनाश के लिये भद्रक का विधान किया गया है ।

यहाँ क्रमशः इन दोनों मण्डलों, अर्थात् चक्राब्ज मण्डल तथा भद्रक मण्डल के निर्माण की विधि प्रस्तुत की जा रही है ।

चक्राब्ज-मण्डल

चन्दन से आर्द्र सूत्र को पश्चिम से पूर्व की ओर और दक्षिण से उत्तर की ओर सत्रह सत्रह बार निक्षिप्त करे । ऐसा करने पर दो सौ छप्पन (२५६) कोष्ठ बन जायेंगे—

प्राञ्चि तिर्यञ्चि सूत्राणि सप्त दश च पातयेत् ।
षट् पञ्च द्वे च कोष्ठानि सन्ति........[४] ॥

---

१. नारदीयसंहिता, ९.२
२. वहीं, ७.१०६
३. वही, ८.७४-७६
४. भार्गवतन्त्र, १३.५

इन दो सौ छप्पन कोष्ठों में मध्यवर्ती छत्तीस कोष्ठों की रेखाओं को मिटाकर उसके मध्य में शंकु को स्थापित करें। उस शंकु को आधार बनाकर सूत्र की सहायता से घुमा कर समान पाँच वृत्तों की रचना करें—

....मध्येऽथ षट्त्रिषु ॥
मध्ये शङ्कुं स्थापयित्वा भ्रामयित्वाऽथ पञ्चधा।
भुवं विभज्य सूत्रेण.................................[१] ॥

इस प्रकार निर्मित पाँच वृत्तों में मध्यवर्ती क्षेत्र कर्णिका क्षेत्र होगा—

मध्यमं कर्णिकापदम्[२]।

इस कर्णिका क्षेत्र के बाहर द्वितीय वृत्त को तीन भागों में विभाजित करे। इस प्रकार द्वितीय वृत्त के निर्मित तीन भागों में प्रथम में केसर, द्वितीय में दल तथा तृतीय में नाभि की परिकल्पना करे[३]। दल-भूमि में द्वादश अम्बुज रेखाओं का निर्माण करे। इसी प्रकार दिग्विदिग् भाग में चौबीस अम्बुज रेखाओं का निर्माण करना चाहिये—

द्वादशाम्बुजरेखाश्च दलभूमौ प्रकल्पयेत्।
दिग्विदिग्भागकलिताश्चतस्रो विंशतिस्तथा[४] ॥

नाभिक्षेत्र को सूत्र की सहायता से पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाना चाहिये। परमसंहिता के शब्दों में—

नाभिक्षेत्रं तथा कुर्यात् त्रिभिः सूत्रैः समन्वितम्[५]।

इस नाभि-क्षेत्र के बाहर दो वृत्तों (तृतीय तथा चतुर्थ) में बारह अरों की रचना करे—

अरक्षेत्रं पुनर्भिन्द्याद् भागैर्द्वादशभिः समैः[६]।

---

१. भार्गवतन्त्र, ५-६
२. वही, 13.६
३. विभाजयेत् त्रिधा तेषां प्रथमा केसरावनी।
दलक्षेत्रं द्वितीयं स्थान्नाभिक्षेत्रं तृतीयकम् ॥ (विश्वामित्रसंहिता, १५.९)
४. भार्गवतन्त्र, १३.१४
५. परमसंहिता, ७.३८
६. वही, ७.३८

अरक्षेत्र के बाद पञ्चम वृत्त में नेमिक्षेत्र की कल्पना करे । यह नेमिक्षेत्र पुनः द्विधा विभक्त होगा—

नेमिक्षेत्रे पुनः कुर्याद् द्वे वृत्ते सर्वतः समे[१] ।

इस नेमिक्षेत्र के बाहर सर्वतः एक पंक्तिस्थ अट्ठाइस कोष्ठों में चतुरस्र पीठ अथवा आसन की परिकल्पना करनी चाहिये—

अष्टाविंशतिकोष्ठैः स्यादासनं परितो बहिः[२] ।

पीठ के बाहर चारों ओर दो पंक्तियों में स्थित अस्सी कोष्ठों में एक चौकोर वीथी की रचना की जानी चाहिये—

सम्भवेच्चतुरस्रं तु वीथिः कोष्ठैरशीतिभिः[३] ।

इस प्रकार वीथी की रचना करके उसके बाहर चारों ओर शेष बची हुई दो पंक्तियों के एक सौ बारह कोष्ठों में द्वारशोभा, अर्धशोभा, उपशोभा तथा कोण की रचना करनी चाहिये । प्रत्येक दिशा में दोनों पंक्तियों के मध्यवर्ती चार चार कोष्ठों के चार द्वारों की रचना की जानी चाहिये—

बहिः पङ्क्तियुगेन स्याच्चतुरस्रं च तद्बहिः ॥
कोष्ठद्वादशकं चोर्ध्वं शतं पङ्क्त्योर्द्वयोर्भवेत् ।
प्रतिदिक्केषु कोष्ठेषु कुर्याद् द्वारचतुष्टयम् ॥
पृथक्कोष्ठचतुष्केण पङ्क्तियुग्मेन काश्यप[४] ।

इन द्वारों के दोनों ओर बाहर की पंक्ति के दो कोष्ठ और अन्दर की पंक्ति के एक कोष्ठ से चारों ओर अर्धशोभाओं की रचना करे । इन अर्धशोभाओं के पार्श्व में बाह्य पंक्ति में स्थित एक कोष्ठ और अन्दर की पंक्ति में स्थित तीन कोष्ठों में चारों ओर शोभाओं की रचना करे । इन शोभाओं के पार्श्व में बाह्य पंक्ति में स्थित तीन कोष्ठ और अन्तः पंक्ति में स्थित एक कोष्ठ से उपशोभाओं की कल्पना करनी चाहिये । दोनों पंक्तियों में चारों ओर अवशिष्ट दो दो

---

१. परमसंहिता, ७.४१

२. विश्वामित्रसंहिता, १५.११

३. वहीं, १५.१२

४. वहीं, १५.१३-१४

कोष्ठों में चार शंखों की रचना करें[१] । इस प्रकार चक्राब्ज मण्डल की रेखाकृति तैयार हो जाती है । (द्रष्टव्य-चित्रसंख्या-१, पृष्ठ ६८१) । यहाँ इतना ध्यान अवश्य रखना है कि भिन्न-भिन्न संहिताओं में दिये गये विवरण के अनुसार इसमें कहीं कहीं अन्तर आ सकता है ।

रेखाकृति तैयार हो जाने पर उसमें विधिपूर्वक वर्णविन्यास करना चाहिये । कर्णिका को पीत वर्ण से, कर्णिका में स्थित बिन्दुओं को श्वेत वर्ण से, कर्णिका रेखा को पाटल वर्ण से भरना चाहिये । केशर क्षेत्र को द्विधा विभाजित करके पुनः पूर्व भाग का द्विधा विभाजन करे । इस प्रकार द्विधा विभक्त पूर्व भाग के प्रथम भाग को पीत वर्ण से और द्वितीय भाग को रक्त वर्ण से रंजित करे । इसके अन्तर्भाग में श्वेत वर्ण से बिन्दुओं की रचना करे । इसके पश्चात् रक्त वर्ण से दल की रेखाओं को, दल के अग्रभाग को रक्त वर्ण से, दलमूल को शुक्ल वर्ण से, उनके अन्तराल को श्याम वर्ण से और उसके अन्तर्वलय को रक्त वर्ण से कल्पित करे । नाभिरेखा को श्याम वर्ण से चित्रित करे । अर-रेखाओं को कृष्ण वर्ण से, अरों को रक्त वर्ण से, उनके अन्तरालों को श्याम वर्ण से और उसके अन्तर्वलय को कृष्ण वर्ण से कल्पित करे । नेमिक्षेत्र को दो भागों में विभाजित करके प्रथम भाग में कृष्ण वर्ण तथा द्वितीय भाग में शुक्ल वर्ण भरे । इसके पश्चात् पीठ को पीत वर्ण से, वीथी को शुक्ल वर्ण से, उसमें लताप्रतानादि हरे रंग से, शोभाओं को रक्त वर्ण से, उपशोभाओं को पीत वर्ण से, अर्धशोभाओं को श्याम वर्ण से रंगे । पूर्वादि चारों द्वारों को क्रमशः शुक्ल, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण से, कोणों को कृष्ण वर्ण से तथा कोणों में रचित शंखों को श्वेत वर्ण से कल्पित करे[२] । वर्ण-विन्यास के विषय में यह ध्यातव्य

---

१. प्रत्येकं शङ्खविध्यर्थं पुनः कोणचतुष्टये ॥
मार्जयेत् कोष्ठयुग्मं तु पङ्क्तियुग्मे च काश्यप ।
प्रतिद्वारं तत्समीपे पार्श्वयुग्मे महामते ॥
अर्धशोभाविधानाय बाह्यानन्तररथ्ययोः ।
कोष्ठद्वयं बहिःपङ्क्त्यामेकैकं तदनन्तरे ॥
मार्जनीयं तु शोभार्थमेकैकं चान्यतो बहिः ।
कोष्ठत्रयं मार्जनीयं प्रत्येकं द्विजसत्तम ॥
व्यत्यासेनोपशोभार्थमन्तरेकं बहिस्त्रयम् ।
संमार्जनीयं कोष्ठानां विनियोगः प्रदर्शितः ॥ (विश्वामित्रसंहिता १५.१४-१८)

२. द्रष्टव्य—परमसंहिता, ७; भार्गवतन्त्र, १३, ईश्वरसंहिता, ११ आदि ।

है कि पाञ्चरात्र-संहिताओं में वर्णों (रंगों) की कल्पना के विषय में परस्पर पर्याप्त भिन्नता है ।

भद्रक-मण्डल

दीक्षा-विधि में चक्राब्ज-मण्डल का विकल्प भद्रक-मण्डल हो सकता है, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है । अतः भद्रक मण्डल की रचना का संक्षिप्त विवरण भी अपेक्षित होगा ।

चक्राब्ज-मण्डल के समान ही सूत्र के द्वारा दो सौ छप्पन कोष्ठों का निर्माण किया जायगा । मध्यवर्ती छत्तीस कोष्ठों का पद्म की रचना के लिये मार्जन कर ले । इसके बाहर चारों ओर एक पंक्ति में शोभा और उपशोभा से युक्त द्वारों की रचना होगी । नारदीयसंहिता के अनुसार—

ततः षोडशधा दिक्षु लाञ्छयित्वा समन्ततः ॥
प्रसार्याफाल्य यत्नेन समं सूत्राणि साधकः ।
कोष्ठानां द्विगतं तत्र षट्पञ्चाशत्तथोत्तरम् ॥
षट्त्रिंशद्भिर्लिखेन्मध्ये कोष्ठकैः पङ्कजं शुभम् ।
बहिःपङ्क्त्या भवेत् पीठं ततो द्वाभ्यां तु वीथिका ॥
शोभोपशोभयुक्तानि द्वाराणि च ततः परम्[१] ।

इसके पश्चात् पद्मरचना की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि पद्म के लिये निश्चित क्षेत्र में चार वृत्तों की कल्पना करे । प्रथम कर्णिका क्षेत्र, द्वितीय केसर क्षेत्र, तृतीय दलसन्धि क्षेत्र और चतुर्थ दलाग्र क्षेत्र होगा—

विभज्य भ्रामयेच्छेषं चतुःक्षेत्रं तु वर्तुलम् ।
प्रथमं कर्णिकाक्षेत्रं केसराणां द्वितीयकम् ॥
तृतीयं दलसन्धीनां दलाग्राणां चतुर्थकम्[२] ।

निर्दिष्ट विधि से आठ या बारह दल वाले पद्म का निर्माण करना चाहिये[३] । पीठ क्षेत्र में चारों ओर कोण के तीन तीन, बीच के चार-चार कोष्ठों में पीठ की परिकल्पना करे—

---

१. नारदीयसंहिता, ८.८-११

२. वहीं, ८.१२-१३

३. वहीं, ८.१४-२०

व्योमरेखा बहिः पीठं तत्र कोष्ठानि योजयेत् ।
त्रीणि कोणेषु पादार्धद्विद्विकान्यपराणि च[१] ॥

इसके पश्चात् दो पंक्तियों का वीथिका के लिये मार्जन करे । चारों दिशाओं में चार द्वार, उनके पार्श्व में आठ शोभा, उनके पार्श्व में आठ उपशोभा तथा उपशोभाओं के पार्श्व में चारों ओर कोण की रचना की जानी चाहिये । चारों ओर प्रथम पंक्ति के मध्य के दो दो कोष्ठ और द्वितीय (बाह्य) पंक्ति के चार चार कोष्ठों से चार द्वारों का निर्माण होगा । इन द्वारों के पार्श्वों में चारों ओर प्रथम (अन्तर) पंक्ति के तीन तीन और बाह्य पंक्ति के एक एक कोष्ठ से आठ शोभाओं की रचना होगी । इन शोभाओं के पार्श्वों में प्रथम पंक्ति के एक एक और बाह्य पंक्ति के तीन तीन कोष्ठों से आठ उपशोभाओं का निर्माण होगा । चारों ओर शेष कोष्ठों में कोष्ठों की रचना होगी[२] ।

(द्रष्टव्य-चित्रसंख्या-२, पृष्ठ ६८२)

इस भद्रक-मण्डल की कल्पना करके उसमें वर्णविन्यास करना चाहिये । नारदीयसंहिता में ही वर्णविन्यास का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि कर्णिका को पीत वर्ण से तथा सभी रेखाओं को श्वेत वर्ण से रंजित करना चाहिये । दलसन्धियों को कृष्ण वर्ण से भरना चाहिये । केसर मूल में श्वेत, पृथु स्थल पर रक्त, मध्य तथा अग्र भाग में पीत, उसके अग्र भाग में श्वेत वर्ण के होंगे । तदनन्तर द्वार क्षेत्रों को श्वेत वर्ण से भरे । शोभा को रक्त वर्ण से, उपशोभा को पीत वर्ण से, नील (कृष्ण) वर्ण से कोणों को भरे ।

---

१. नारदीयसंहिता, ८.२१

२. द्वाराण्याशासु कुर्वीत चत्वारि चतसृष्वपि ।
द्वाराणां पार्श्वतः शोभा अष्टौ कुर्याद्विचक्षणः ॥
तत्पार्श्वे उपशोभास्तु तावत्यः परिकीर्तिताः ।
समीप उपशोभानां कोणास्तु परिकीर्तिताः ॥
चतुर्दिक्षु ततो द्वे द्वे विलिम्पेन्मध्यकोष्ठके ।
चत्वारि बाह्यतो मृज्याद् एकैकं पार्श्वयोरपि ॥
शोभार्थं पार्श्वयोस्त्रीणि विलिम्पेन्मण्डलस्य तु ।
तद्वद् विपर्ययात् कुर्यादुपशोभास्ततः परम् ॥
कोणस्यान्ते बहिस्त्रीणि विलिम्पेन्निर्विभेदतः ।
द्वारशोभोपशोभानाम् एवं भेदः प्रकीर्तितः ॥ (वहीं, ८.२३-२७)

कोणों में श्वेत वर्ण से शंखों को चित्रित करे । इस प्रकार भद्रक-मण्डल सुसज्जित हो जायगा[१] ।

अधिवासन

अधिवासन विधि के अन्तर्गत मण्डल के द्वारदेशों में कलश-स्थापन और वेदिका के मध्य में चक्राब्ज-मण्डल अथवा भद्रक-मण्डल का निर्माण करने के पश्चात् श्रीवैष्णव आचार्य को मण्डलस्थ देवताओं का षोडशोपचार पूर्वक पूजन करना चाहिये । इस क्रम के अन्तर्गत कर्णिकाओं में मन्त्राध्व, केसरों में तत्त्वाध्व, दलों में वर्णाध्व, नाभि में पदाध्व, अरों में कलाध्व तथा नेमि में भुवनाध्व की अर्चना और तत्पश्चात् कर्णिका में स्थित द्वादश बिन्दुओं में द्वादशाक्षर मन्त्र (ॐ नमो भगवते वासुदेवाय) के अक्षरों का पूजन करे । तदनन्तर कर्णिका में भगवान् वासुदेव का आवाहन तथा अभ्यर्चन विधिपूर्वक करना चाहिये । तत्पश्चात् केसरों में श्री आदि आठ देवियों (श्री, सरस्वती, रति, शान्ति, प्रीति, कीर्ति, पुष्टि और तुष्टि) का, दलभूमि में श्रीवत्स आदि द्वादश शक्तियों का (श्रीवत्स, वनमाला, योगमाया, वैष्णवी, विमला, सृष्टिशक्ति, उत्कर्षिणी, ज्ञानशक्ति, सत्यशक्ति, ईशान्या, अनुकम्पा, पितामही[२]), दलान्त वलय में व्याप्ति आदि चामरधारिणी शक्तियों (व्याप्ति, कान्ति, तृप्ति, श्रद्धा, विद्या, दया, क्षमा, शक्ति[३]) का, नाभि में विष्णु का, द्वादश अरों में विष्णु आदि (केशव, नारायण, माधव, गोविन्द, विष्णु, मधुसूदन, त्रिविक्रम, वामन, श्रीधर, हृषीकेश, पद्मनाभ, दामोदर) का, अरान्त वलय में मत्स्य आदि (मत्स्य, कूर्म, वराह,

---

१. कर्णिका पीतवर्णा स्याद् रेखाः सर्वाः सिताः समाः ।
श्यामेन वाथ कृष्णेन दलसन्धींस्तु पूरयेत् ।
केसरास्तु तले मूले सिताः स्युः पृथवोऽरुणाः ॥
मध्ये चाग्रे तथा पीतास्तदग्रे सितभूषणाः ।
वर्णश्रेष्ठेन रक्तेन कोणान् सम्पूर्य साधकः ।
भूषयेद् योगपीठं तु यथेष्टं सर्ववर्णकैः ॥
लतावितानपत्राद्यैर्वीथिकामुपशोभयेत् ।
पीतेनापूर्य रजसा द्वारं शुक्लेन पूरयेत् ॥
रक्तेन शोभामापाद्य पीतेनाप्युपशोभिकाः ।
नीलेन कोणान् संच्छाद्य लिखेच्छङ्खान् समुज्ज्वलान् ॥
भद्रकस्य विनिर्दिष्टम् .... । (वहीं, ८.४७-५३)

२. विश्वामित्रसंहिता, १०.१२४-१२६

३. वहीं, १०.१२७

नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, कृष्ण, कल्कि) का, प्रथम नेमि वलय में शंख आदि (शंख, चक्र, गदा, खड्ग, शाङ्र्ग, मुसल, बाण और पाश) का, आग्नेय आदि पीठकोण-चतुष्क में वराह, नरसिंह, अनन्त और हयग्रीव का, लतावीथिका में इन्द्र आदि द्वारपालों का, द्वारों में चण्ड आदि (चण्ड, प्रचण्ड, भद्र, सुभद्र, जय, विजय, धाता, विधाता) का, वीथि में विष्वक्सेन, वैनतेय, पद्म, गदा, शंख का विधिपूर्वक आवाहन और सोपचार पूजन करे[1] ।

इस प्रकार मण्डल-पूजन के पश्चात् गालित जल से पूर्ण स्वर्णादि से निर्मित कुम्भ में रत्न, स्वर्ण आदि और कूर्च (कुशमुष्टि) डालकर सूत्र से वेष्टित करके वस्त्रयुगल से लपेट कर चन्दन और माला से अलंकृत करना चाहिये । जिस द्रव्य से कुम्भ का निर्माण किया गया हो, उसी स्वर्ण आदि द्रव्य से कर्करी (करक-छिद्रयुक्त पात्र) का निर्माण करना चाहिये । सौ बार अस्त्र मन्त्र से कर्करी को अभिमन्त्रित करके गुरु को अविच्छिन्न धारा से वेदि के चारों ओर सिंचन करना चाहिये । वेदि की प्रदक्षिणा करते हुए करक और उसके कुम्भ को लाकर चक्राब्ज-मण्डल के ईशान कोण में शुभ धान्यराशि पर उसकी स्थापना करनी चाहिये । कुम्भ के अन्दर फल और उसके चारों ओर फलों का विन्यास करना चाहिये । कुम्भ के दक्षिण पार्श्व में कलश और वाम पार्श्व में करक की स्थापना करनी चाहिये । कुम्भ में मूल मन्त्र से हरि का आवाहन और पूजन करके चक्राब्ज-मण्डल में उपचार-पूर्वक देवतार्चन करना चाहिये ।

विधिपूर्वक परिवार के साथ मण्डल के पश्चिम में लक्ष्मीदेवी तथा भूदेवी से युक्त हरि शयन कर रहे हैं, ऐसी परिकल्पना करके उनकी षोडशोपचार पूर्वक अभ्यर्चना करनी चाहिये । तदनन्तर अष्टाक्षर मन्त्र के द्वारा अग्नि-मन्थन करके कुण्ड में उसकी स्थापना करनी चाहिये । वहीं पर शुद्ध तण्डुलों से चरु को पकाकर उसके चार भाग करने चाहिये । उसका एक भाग मण्डल में स्थित भगवान् विष्णु को, एक भाग कुम्भ में स्थित हरि को निवेदित करके, एक (तीसरा) भाग अग्नि में हवन करके अन्तिम एक (चतुर्थ) भाग का गुरु स्वयं भक्षण करे । अग्नि में मूल मन्त्र के द्वारा एक सौ आठ समिधाओं और उतनी ही आज्याहुतियों से हवन करके तथा उतनी ही संख्या (१०८) में पुरुषसूक्त से चरु का हवन करके पूर्णाहुति करे ।

---

१. भार्गवतन्त्र, १३.३१-४१, क्रियाकैरवचन्द्रिका, पृ० २६

तदनन्तर स्नान किये हुए, जितेन्द्रिय, नये शुभ्र वस्त्रयुगल धारण किये हुए, उत्तम आभूषणों से भूषित, चन्दनादि से अनुलिप्त अंगों वाले तथा शुद्ध माल्य से अलंकृत शिष्य को बुलाकर गुरु उसके नेत्रों को नूतन वस्त्र से नेत्रमन्त्र का जप करते हुए बाँध दे । उसे अपने दक्षिण पार्श्व में पूर्वाभिमुख बैठाकर उससे कुशपुंज से संस्पृष्ट होकर आज्य, समिधा, चरु, पुष्प और तिल से पुण्डरीकाक्ष मन्त्र[१] अथवा द्वादशाक्षर मन्त्र[२] के द्वारा द्वादश आहुतियाँ दे । इसके पश्चात् गुरु तीन बार प्रदक्षिणा करते हुए शिष्य के शिर का स्पर्श करते हुए मूल मन्त्र से कुण्डाग्नि की भस्म से ऊर्ध्व पुण्ड्र का विधान करें । तदनन्तर अस्त्र मन्त्र से दक्षिण हाथ में प्रतिसर (रक्षासूत्र) को बाँध कर उसे पञ्चगव्य (गाय का दूध, दही, घृत, गोमूत्र, गोबर) और चरु का प्राशन कराये । इसके बाद दन्तकाष्ठ से दाँतों का शोधन करा कर फेंक दे ।

गुरु उस दन्तकाष्ठ के अग्र भाग के पतन-स्थान का सम्यक् निरीक्षण करे और उससे शुभाशुभ का विचार करे । अनेक संहिताओं में इस प्रकार के शुभाशुभ के विचार का विवरण प्राप्त होता है । परमसंहिता के अनुसार न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ, प्लक्ष, दर्भ, वेणु, आत्माकर, अपामार्ग, मज्जन, धातकी, शमी आदि से निर्मित दन्तकाष्ठ से दन्तधावन कराना चाहिये । दन्तकाष्ठ को द्वादश अंगुल परिमाण का सीधा और ग्रन्थियों से रहित होना चाहिये । विद्वान् को चाहिये कि जल से धोकर मूल से दन्तकाष्ठ को चबाये । चबाते समय ब्राह्मण को उत्तर, क्षत्रिय को पूर्व, वैश्य को पश्चिम तथा शूद्र को दक्षिण दिशा की ओर देखना चाहिये । दन्तकाष्ठ से दाँतों को ऊपर नीचे से शोधित करके बीच से तोड़कर पुनः जल से धोकर बाहर फेंक दे और उसके पतन का अच्छी प्रकार से निरीक्षण करे[३] ।

---

१. श्रीप्रश्नसंहिता, १६.६०

२. क्रियाकैरवचन्द्रिका, पृ० २६

३. न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थान् प्लक्षान् दर्भांश्च वैणवान् ।
आत्माकरमपामार्गं मज्जनं धातकीं शमीम् ॥
अन्यानि च पवित्राणि कारयेद् दन्तधावनम् ।
द्वादशाङ्गुलमात्रं तदवक्रं ग्रन्थिवर्जितम् ।
मूलतो भक्षयेद् विद्वान् अद्भिः प्रक्षाल्य वाग्यतः ।
उत्तरां दिशमैन्द्रीं च प्रतीचीं दक्षिणां तथा ॥

दन्तकाष्ठ का अग्र भाग गिरने पर किस दिशा की ओर है, इस आधार पर शुभ और अशुभ का विवेचन परमसंहिता के ही शब्दों में इस प्रकार है—

पूर्वाग्रे तु भवेद् वृद्धिराग्नेयाग्रे तपो बलम् ।
दक्षिणाग्रे भवेन्मृत्युर्नैर्ऋत्याग्रे धनक्षयः ॥
वारुण्याग्रे परा शान्तिर्वायव्याग्रे रुजागमः ।
उत्तराग्रे धनावाप्तिरैशान्यग्रे परं सुखम् ॥
ऊर्ध्वाग्रे तु स्थिते तस्मिन् महती वृद्धिरिष्यते ।
इत्येतानि निमित्तानि जानीयाद् दन्तधावने[1] ॥

अर्थात् दन्तकाष्ठ का अग्र भाग पूर्व दिशा की ओर हो तो वृद्धि, आग्नेय दिशा की ओर तप और बल, दक्षिण दिशा की ओर मृत्यु, नैर्ऋत्य दिशा की ओर धनक्षय, पश्चिम दिशा की ओर परम शान्ति, वायव्य दिशा की ओर रोगप्राप्ति, उत्तर दिशा की ओर धन की प्राप्ति, ईशान दिशा की ओर परम सुख तथा ऊपर की ओर स्थित होने पर महती वृद्धि का सूचक होता है ।

इस प्रकार दक्षिण, नैर्ऋत्य और वायव्य दिशा की ओर दन्तकाष्ठ के अग्र भाग का पतन अशुभ है तथा अन्य दिशाओं में शुभ । दन्तकाष्ठ का पतन यदि अशुभ को सूचित कर रहा है, तो अशुभ की शान्ति के लिये नृसिंह मन्त्र (ॐ ट्ज्रों ट्ज्झौं नमः ज्वलनायुतदीप्तये नृसिंहाय स्वाहा) से एक सौ आठ आहुतियों से हवन करे । तदनन्तर गुरु आचमन किये हुए शिष्य का हाथ पकड़ कर भगवान् को प्रणाम करके इस गाथा का पाठ करे—

संसारपाशबद्धानां पशूनां पाशमोक्षणे ।
त्वमेव शरणं देव गतिरन्या न विद्यते ॥
पाशमोक्षणहेतुर्यस्त्वत्समाराधनात्मकः ।
तेनेमान् जन्मपाशेन पाशितान् पशुजन्मनः ॥

पश्यन्तः क्रमशो वर्णाः खादेयुर्दन्तधावनम् ।
शोधयित्वा क्रमेणैव तेन दन्तानुपर्यधः ॥
भञ्जनं मध्यतः कृत्वा जलैः प्रक्षाल्य तत्पुनः ।
बहिरेव क्षिपेद् विद्वान् पतनं तस्य लक्षयेत् ॥ (परमसंहिता, ९.३-७)

१. परमसंहिता, ९.८-१०

विपाशयामि देवेश तदनुज्ञातुमर्हसि[1] ।

श्रीप्रश्नसंहिता में "पशूनां पाशमोक्षणे" के स्थान पर "नृपशूनां विमोक्षणे" पाठ प्राप्त होता है ।

इस प्रकार भगवान् को निवेदन करके शिष्य को सूत्र से वेष्टित करे । शुक्ल, रक्त और कृष्ण वर्ण के तीन सूत्रों को तीन बार मोड़कर पुनः तीन बार मोड़कर इस मायासूत्र से शिष्य के शरीर को पैर से लेकर शिर पर्यन्त तत्त्वसंख्या, अर्थात् पच्चीस बार मूल मन्त्र से वेष्टित करे । इसी मन्त्र से घी से १०८ बार आहुति दे । इस प्रकार पूर्णाहुति करके स्वप्नदर्शन की सिद्धि के लिये गुरु स्वप्नाधिपति मन्त्र से एक सौ आठ बार आहुति देकर भूतों के लिये माष और ओदन की बलि देकर शिष्य के नेत्र के बन्धन को और मायासूत्र को खोल दे । मायासूत्र को एक शराव (प्याले) में रखकर दूसरे शराव से उसे ढक कर कुम्भ के पास रख दे । इसके बाद वहाँ भूमि पर कुशों को बिछाकर उस पर शिष्य को सुला दे । उस समय गुरु मण्डल और कुण्ड में स्थित देवताओं का उद्वासन न करे । गुरु अन्य दीक्षितों के साथ जागते हुए शिष्य के क्षेम का अनुस्मरण करते हुए वैष्णवी कथाएं करे ।

द्वादशी के कृत्य

प्रातःकाल स्नान तथा नित्य कर्म करने के बाद गुरु मण्डप में आकर स्नान किये हुए शिष्य से स्वप्न का विवरण पूछे । स्वप्न के शुभ होने पर उसकी तत्काल दीक्षा करनी चाहिये । दुःस्वप्न का दर्शन होने पर पहले शान्तिहोम करना चाहिये ।

स्वप्न-विचार

परमसंहिता का कथन है कि प्रथम याम में देखा गया स्वप्न एक वर्ष बाद फल देता है, द्वितीय याम का स्वप्न आठ महीने बाद, तृतीय याम का स्वप्न तीन महीने बाद, चतुर्थ याम का स्वप्न एक महीने बाद तथा प्रभात में देखा गया स्वप्न तत्काल फल देता है[2] ।

---

१. विश्वामित्रसंहिता, ९.३५-३६; श्रीप्रश्नसंहिता, १६.६६-६८

२. स्वप्नं तु प्रथमे यामे कुर्यात् संवत्सरात् फलम् ।
अष्टमासाद् द्वितीये तु तृतीये त्रिभिरेव च ॥
मासेनैव भवेदन्त्ये प्रभाते त्वरया फलम् । (परमसंहिता, ९.१३-१४)

इसके पश्चात् शुभ स्वप्नों का विवरण देते हुए कहा है कि रश्मियों से युक्त सूर्य, तारों से घिरा हुआ चन्द्रमा, अग्निहोत्र की प्रदीप्त अग्नि, माता, पिता, पत्नी, पुत्र, भाई, सुहृद्, मनुष्य के कच्चे मांस का पैरों से ऊपर की ओर भक्षण, दूध, सोम, सुरा, रक्त, शर्करा, दधि, घृत, सागर या नदी के जल का पान, पायसभक्षण, मनुष्य, हाथी, प्रासाद, शिबिका, फलयुक्त वृक्ष, शकट, आसन और शय्या पर सुखपूर्वक अधिरोहण करना, समुद्र तथा नदी आदि का तरण, देव, गुरु, द्विज, प्राज्ञ और साधुओं का समागम; शंख, चक्र, ध्वजा आदि, गन्धर्वनगर, वृष, छत्र, इन्द्रध्वज, वर्षा, आदर्शरत्न, चामर, तालवृन्त, कुम्भ, रुधिर, आमिष, विष्ठा से अनुलेपन, पुण्य शब्द का श्रवण, अगम्यागमन, सर्प और वृश्चिक आदि का दर्शन सम्पूर्ण शरीर का बन्धन तथा बन्धुओं के द्वारा धर्षण आदि को शुभ स्वप्न समझना चाहिये[1] ।

इसी प्रकार अशुभ स्वप्नों की भी एक सूची इसी संहिता में दी गयी है । तदनुसार नग्न रूप में, चेष्टाहीन, भग्न यान पर अधिरूढ, भग्न ध्वजा, छत्र और आयुध से युक्त स्वयं को, चाण्डाल, रजक, चित्री, म्लेच्छ, गुप्तचर और पाषण्डियों को जो देखे, उसका शुभ नहीं होता । इसके साथ ही खर, उष्ट्र, महिष, व्याघ्र और वल्मीक पर अधिरोहण अथवा तैल से अनुलिप्त होकर इन पर आरूढ होकर दक्षिण दिशा की ओर जाना, चाँदी और सोने का लाभ, मधु और तैल का पान, पङ्क से दिग्ध शरीर से नर्तन, विवाह करना, प्रवाह में बहना, पके हुए मांस का भक्षण, दाँतों का गिरना, शिरोमुण्डन, पानी में डूबना, कष्टपूर्वक सूखे वृक्ष पर चढ़ना, आतप अथवा अन्य अमांगलिक दृश्यों को स्वप्न में देख कर मनुष्य शुभ प्राप्त नही करता । कुछ अन्य स्वप्नों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो स्वप्न में घृतयुक्त पायस का भक्षण करता है, पर्वत पर स्थित होकर जो वृक्ष पर चढ़ता है, प्रासाद में स्थित होकर जो स्वयं समुद्रतरण करता है अथवा जो भूमि का भक्षण करता है, वह राज्य प्राप्त करता है । देव, ब्राह्मण, गो, लिंगी, पितृगण तथा नृप स्वप्न में जो कहते हैं, वैसा ही सत्य होता है[2] ।

---

१. परमसंहिता, ९.१५-२३

२. वहीं, ९.२४-३३

इस प्रकार गुरु को स्वप्न-विचार करना चाहिये । शुभ स्वप्न होने पर तत्काल दीक्षा दे देनी चाहिये । अशुभ स्वप्न की शान्ति पूर्ववत् शान्तिहोम से करके, स्नान करके और पवित्र होकर गुरु शिष्यसहित याग-सम्भार से युक्त मण्डप में प्रवेश करे । वहां पूर्ववत् ध्वज, तोरण और कुम्भ का पूजन करके मण्डल और कुम्भ में स्थित देवता की भक्तिपूर्वक पूजा करके पायस आदि अन्न का निवेदन करके प्रणाम तथा प्रदक्षिणा करके पूर्ववत् शिष्य का नेत्रबन्धन करके उसे अपने पास बैठाये । तत्पश्चात् गुरु मूल मन्त्र से पृथक् पृथक् समिधा, घृत और तिलों की १०८ बार आहुति देकर पूर्णाहुति करे । उस मायासूत्र को लेकर तत्त्व की संख्या में काट कर संहारक्रम से २५ प्रकृति आदि तत्त्वों को स्मरण करके, १०८ अथवा केवल ८ बार हवन करे । तत्पश्चात् गुरु अपने हृदयकमल की कर्णिका में स्थित परम पुरुष का ध्यान करते हुए उसमें शिष्य के जीव का संहार क्रम से संहार करके तथा शिष्य के देह का शोषण आदि करके तत्त्वसृष्टि के क्रम से होमपूर्वक शिष्य के स्थूल शरीर की सृष्टि करके अपने हृदय में स्थित देव का मण्डल में चिन्तन करके मण्डलस्थ देव का शिष्य में ध्यान करके उसके शरीर का स्पर्श करके मूल मन्त्र से कुम्भ-जल से प्रोक्षण करके शिष्य का नेत्रबन्ध खोल देना चाहिये । फिर दूसरे वस्त्र पहना कर चरणों को धुलाकर आचमन करवा कर दूसरे वस्त्र से नेत्रों को बाँध कर शिष्य कों अपने पास बैठावे । एतदनन्तर षडध्वशोधन करके महाव्याहृति मन्त्र से एक सौ आठ आज्याहुतियाँ दे । अवशिष्ट आज्य से आहुति देकर गुरु शिष्य के चरणों का स्पर्श करे । इसके पश्चात् तिलों से उतनी ही संख्या में आहुति देकर हुतशेष से उसकी नाभि का, पद्मों से १०८ आहुतियाँ देकर हुतशेष से शिष्य के हृदय का तथा चरु से १०८ आहुतियाँ देकर हुतशेष से शिष्य के शिर का स्पर्श करे । इसके पश्चात् गुरु को शिष्य का दाहिना हाथ अपने दाहिने हाथ से पकड़ कर कुम्भ-मण्डल में स्थित भगवान् का ध्यान करते हुए प्रदिक्षणा करनी चाहिये ।

तदनन्तर मण्डल के चारों द्वारों में से किसी भी द्वार पर स्थित होकर गुरु शिष्य की अंजलि में रत्न अथवा फूल भर दे । शिष्य गुरु की आज्ञा से अंजलि में स्थित रत्न अथवा पुष्पों को मण्डल में अर्पित करे । मण्डल के जिस भाग पर वह रत्नाञ्जलि अथवा पुष्पाञ्जलि गिरे, उसके अधिपति का नाम (केशव आदि) शिष्य

को प्रदान करना चाहिये । नाम के अन्त में गुरु स्वयं 'भागवत' अथवा "भट्टारक" पद का निर्देश कर दे । क्षत्रिय के नाम के अन्त में "देव", वैश्य के नाम के अन्त में "पाल" तथा शूद्र के नाम के अन्त में "दास" शब्द लगाना चाहिये । नामकरण के पश्चात् गुरु शिष्य का नेत्र बन्धन खोल दे तथा उसे चक्राब्ज-मण्डल का दर्शन कराते हुए उसके साथ भगवान् का ध्यान करते हुए गुरु शिष्य को मन्त्रोपदेश करे । शिष्य के दक्षिण कर्ण में सप्रणव, ऋषि, छन्द और देवता सहित अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर आदि मन्त्रों का उपदेश करना चाहिये । स्त्री, शूंद्र तथा अनुलोमज शिष्यों को नमः, स्वाहा, हूं, फट् आदि से रहित, प्रणव से वर्जित चतुर्थ्यन्त विष्णु नाम का ही उपदेश करना चाहिये ।

इसके पश्चात् शिष्य कुम्भ-मण्डल में स्थित देव की आराधना करे । अपने हाथ में चक्राब्ज-मण्डल का ध्यान करके उसे विष्णुहस्त के रूप में प्राञ्जलि शिष्य के शिर पर रख कर आचार्य शिष्य को समस्त आचारों और नियमों का उपदेश करे ।

दीक्षित शिष्य के नियम

भिन्न-भिन्न पाञ्चरात्र-संहिताओं में दीक्षित शिष्य के लिये नियमों और आचारों की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है । कुछ स्थलों को छोड़ कर प्रायः सर्वत्र एक ही प्रकार के नियम इन संहिताओं में विभिन्न शब्दावलियों में प्रतिपादित किये गये हैं । मुख्य मुख्य नियम इस प्रकार हैं— १. किसी अन्य को मन्त्र नहीं बताना चाहिये, २. अक्षमाला किसी को नहीं दिखानी चाहिये, ३. किसी को मुद्रा नहीं दिखानी चाहिये, ४. स्वयं अपनी मन्त्रसिद्धि का कथन नहीं करना चाहिये, ५. अपने गुरु का नाम नहीं कहना चाहिये, ६. गुरु के आदेशों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये, ७. गुरु के दोषों को नहीं कहना चाहिये, ८. गुरु का अप्रिय कार्य नहीं करना चाहिये, ९. गुरु के शयन आदि का लंघन नहीं करना चाहिये, १०. गुरु के पुत्र और पत्नी आदि में गुरु के समान ही भक्ति रखनी चाहियें, ११. मन्त्र, गुरु और देवता की समान बुद्धि से पूजा करनी चाहिये, १२. नास्तिकों का स्पर्श तथा उनके साथ बातचीत नहीं करनी चाहिये, १३. गुरु, देवता तथा अग्नि के सामने पैर नहीं फैलाना चाहिये, १४. देवपूजा किये बिना कुछ भी भक्षण नहीं करना चाहिये, १५. सन्ध्या के समय मन्त्र का जप, स्तोत्रपाठ और प्रणाम आदि

कृत्यों का आचरण करना चाहिये, १६. वैष्णवों और यतियों को देखकर पृथिवी पर दण्डवत् प्रणाम करना चाहिये तथा १७. जाते हुए, बैठे हुए, भोजन करते हुए तथा स्वप्न की अवस्था में भी तद्गत अन्तरात्मा से नारायण देव का ध्यान करना चाहिये, इत्यादि ।

इस प्रकार गुरु शिष्य को नियमों का उपदेश करके शान्तिहोम करता हुआ पूर्णाहुति का आचरण करे । अग्नि का विसर्जन करके तथा कुम्भ और मण्डल में स्थित देवों का उद्वासन करके गुरु प्रणत शिष्य को आशीर्वचनों से संवर्धित करे । इसके पश्चात् शिष्य अपनी सामर्थ्य के अनुसार गुरु को गाय, भूमि, आभूषण, हाथी, घोड़े, पालकी, दासी और दासों को समर्पित करे । वित्तशाठ्य न करता हुआ वह शिष्य गुरु के प्रति स्वयं को भी निवेदित कर दे । इसके पश्चात् अपनी शक्ति के अनुसार ब्राह्मणों को भोजन करावे और उन्हें दक्षिणा से सन्तुष्ट करे । वहीं अवशिष्ट अन्न का भक्षण करके मौन बैठा रहे । सूर्य के अस्त हो जाने पर चन्दन आदि से अनुलिप्त तथा अलंकृत होकर गुरु की आज्ञा से बन्धुओं के साथ अपने घर को जाय ।

इस प्रकार विधिपूर्वक दीक्षित व्यक्ति को एकान्ती, पाञ्चरात्रिक, सूरि, भागवत, सात्वत, पाञ्चकालिक—इन नामों से सम्बोधित करना चाहिये, प्राकृत जनों की भाँति अन्य नामों से नहीं ॥

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

आज हमने वैखानस और पांचरात्र मत संबन्धी दो निबन्ध सुने । वैष्णव आगम की यह जो पांचरात्र और वैखानस शाखा है, अथवा सिद्धान्त शैवदर्शन है, उसका अब इधर उत्तरभारत में प्रचार नहीं है, किन्तु दक्षिणभारत में यह अभी भी जीवित धर्म है । तिरुपति बालाजी के नाम से प्रसिद्ध जो देवमन्दिर है, वहा आज भी वैखानस पद्धति से पूजा होती है । दक्षिण भारत में श्रीरंगम् एक प्रसिद्ध मन्दिर है, उसमें पांचरात्र पद्धति से पूजा होती है । इसी तरह से चिदम्बरम् आदि के शैव मन्दिरों मे शैव सिद्धान्त पद्धति से पूजा होती है ।

कल हमने प्रसंगवश अष्टमंगल शब्द पर विचार किया था । यह अष्टमंगल शब्द जैसे प्रायः सभी तान्त्रिक शाखाओं में प्रयुक्त है, वही स्थिति प्रतिसर शब्द की भी है, जिसकी कि चर्चा आज के पांचरात्र संबन्धी निबन्ध में

हुई है । यह शब्द वेदों से लेकर आज तक चला आ रहा है, बौद्धों में तो निश्चित रूप से वर्तमान है । पाणिग्रहण के समय जो कंकण बांधा जाता है, उसको भी प्रतिसर कहते है । वह आज भी प्रचलित है । अब मै वयोवृद्ध जैन विद्वानों, प्रो० ढाकी और प्रो० टाटिया जी से निवेदन करूँगा कि वे इन दोनों निबन्धों के विषय में अपने-अपने दृष्टिकोण, अपने-अपने विचार प्रस्तुत करें ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

इस मण्डल का रूप जरा वास्तुशास्त्र को देख कर बनाना उचित होगा । उसमें शोभा का अर्थ डेकोरेशन नहीं है, नहीं था । अर्धशोभा यानी अर्ध द्वारशोभा का अर्थ द्वारशोभा ही लिया गया है । इसमें आप देख लीजिये शोभा का स्थान अलग है, प्रवेशद्वार अलग चीज है । अर्धशोभा अलग है, उपशोभा अलग है । वह विषय आपके निबन्ध में स्पष्ट नहीं हुआ है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मण्डल में द्वार, शोभा, उपशोभा, वीथि इत्यादि की जो स्थितियां है, उन पर ऊपर एक चित्र लगा हुआ है, पांचरात्र आगम का । उसमें चौदह स्थानो के नाम दिये गये है । मण्डल में भिन्न-भिन्न स्थान हैं, उनके ये नाम हैं ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

वास्तुशास्त्र में भी कोष्ठक बना के भाग करके बीच में गर्भ जैसा विच्छेद करके अमुक कोष्ठक यह है, अमुक वह । यह सब पद्धति भी बताई गई है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

उसमें और इसमें थोड़ा अन्तर है । जैसे द्वार और शोभा दो अलग-अलग जगह है । यहां पर द्वार अलग है शोभा और उपशोभा साथ में है । मण्डल के भीतर जैसे-जैसे चलते जायेंगे, वैसे ही वे भिन्न-भिन्न सारे स्थान आते जायंगे । मैं समझता हूँ इस विषय को अभी प्रो० आपटे साहब अधिक स्पष्ट रूप से बतलायेंगे ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

यह शोभा क्या होती है ?

डॉ० अशोककुमार कालिया

शोभा एक नाम है । जैसे हमारा नाम कुछ दे दिया गया । अब आप पूछे आपका यही नाम क्यों है, तो उसका कोई उत्तर नहीं होगा ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

नहीं साहब, यह मण्डल की बात है । यह मण्डल तो एक टेकनिकल चीज है । आप इसका उत्तर इस तरह से नहीं दे सकते कि शोभा यह किसी

ने नाम रख दिया । वहां शोभा शब्द का प्रयोग दूसरे अर्थ में किया गया है । मण्डल में शोभा नाम का स्थान है और उपशोभा नाम का स्थान है, तो उस शोभा और उपशोभा का कोई तकनीकी अर्थ अवश्य होगा । मै उसको नहीं जानता । मैं आप लोगों से जानने की जिज्ञासा करता हूँ ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

जहाँ-जहाँ मण्डल है—शैवो में, बौद्धों में, जैनों में और वैष्णवों में, वहां जब मण्डल की रचना होती है, मण्डल में विभिन्न देवताओं की प्रतिष्ठा होती है, तो कहां-कहां किस देवता की स्थापना होगी, उसके लिये १४-१५ स्थान निश्चित है । उन अलग-अलग स्थानों के लिये इन सबमें, तीनों आगमों में, कम से कम शैव, वैष्णव और बौद्ध आगमों में समान पारिभाषिक शब्द है । इस मण्डल के जो विभिन्न अवयव हैं, उनको परिचित कराने के लिये विभिन्न नाम दिये गये है और उस उस नाम के उन स्थानों में विभिन्न देवताओं का अर्चन होता है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

प्रश्न बहुत अच्छा है । यही प्रश्न हम भी पूछ रहे थे । पहले हमको शंका हुई थी कि यह कोई दूसरी बात है । अब हमको ऐसा लगता है कि वैखानस और पांचरात्र इन दोनों तन्त्रों से बहुत समानता रखने वाला तन्त्र यह बौद्ध तन्त्र है । उसमें शोभा का नाम दिया है अवकाश की जगह । रोशनी जहां आती है, खाली होता है, उसका नाम शोभा है । वहां आदमी आता जाता है, देवता का निवास है । इसका मतलब है शोभा यानी सफेद, यानी रोशनी, यानी खाली जगह, उसको शोभा कहा जाता है । जहां तक मेरा ख्याल है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

सर्वतोभद्र मण्डल जब हम बनाते हैं, तो उसमें यह जो शोभा का स्थान है, उसे हम रंगवल्ली से निर्दिष्ट करते है । वहां एक साथ पांच देवताओं की पूजा होती है । उस स्थान का सूचक यह नाम है, द्वादश लिंगतोभद्र, एक लिंगतोभद्र आदि मण्डलों में भी यह चीज बनायी जाती है ।

आचार्य नवङ् समतेन

आपने मण्डल आदि की रचना करने की जो बात की है, इसमें तो साधक के द्वारा साधनावस्था में इसकी कल्पना करके फिर बाद में अन्ततोगत्वा इसकी परिणति में एक मण्डल का प्रादुर्भाव होता है । ऐसी स्थिति में हमारा प्रश्न है कि मण्डल के निर्माण का और इसकी भावना करने का क्या प्रयोजन है ? दूसरा प्रश्न यह है कि दीक्षा के अन्तर्गत समय क्या चीज है ? ये जो नियम आपने बताये हैं, ये दीक्षा के अन्तर्गत आते है कि कैसे है ? तीसरा लघु प्रश्न है कि आपने आचार्य दीक्षा की जो अर्हता बताई है, उसमें स्त्री वर्जित है । क्या स्त्री आचार्यदीक्षा नहीं ग्रहण कर सकती ? और फिर स्त्री तन्त्र

के अनुसार शुरू से लेकर अन्त तक के जितने भी अनुष्ठान है, वह कर सकती है कि नहीं ? वह शिव के साथ समरस हो सकती है कि नहीं ?

डॉ० अशोककुमार कालिया

ये नियम दीक्षा के अंग नहीं है, लेकिन दीक्षा के अन्त में शिष्य को क्या क्या करना है, इसका उपदेश आचार्य करता है । दीक्षा के बाद उसको क्या करना चाहिये ? किस प्रकार से रहना है, भविष्य में उसे किस प्रकार के अनुशासन में रहना है, यह उपदेश किया जाता है । स्त्री के लिये यह है कि स्त्री को दीक्षा में तो अधिकार है, उसको दीक्षा दी जाती है । शूद्र को भी दीक्षा दी जाती है, लेकिन उसे दूसरे को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है । अब इसका कारण तो हम नहीं बता सकते, क्योंकि वहां इसका कोई कारण नहीं बताया गया है ।

आचार्य नवङ् समतेन

स्त्री आचार्य-अभिषेक प्राप्त कर सकती है कि नहीं ?

डॉ० अशोककुमार कालिया

यहां जो चार प्रकार के शिष्य बताये गये है, ये चारों प्रकार की दीक्षाएं तो सबकी होती है । इसी प्रकार की दीक्षा स्त्री की भी होगी, लेकिन वह दूसरे को दीक्षा नहीं दे सकती । मण्डल तो हमारे यहां बहुत प्रकार के बताये गये है और विभिन्न प्रकार के उद्देश्यो के लिये अनेक मण्डल हैं, लेकिन दीक्षा के अवसर पर उपयोग में आने वाला मुख्यतया चक्राब्ज-मण्डल है ।

आचार्य नवङ् समतेन

यह हम नहीं पूछ रहे हैं । मण्डलभावना या मण्डल की कल्पना का प्रयोजन हम पूछ रहे हैं ।

डॉ० अशोककुमार कालिया

मण्डल बनाकर देवता का आवाहन करते है और उसकी पूजा करते है ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

समतेन जी का प्रश्न यह है कि मण्डल तान्त्रिक साधना का प्रतीक होता है और यह नहीं होता है कि मण्डल बना कर उसकी पूजा की जाय । पूरी साधना मण्डल में अन्तर्हित होती है क्या ? जो आपने कहा है, उसके अनुसार मण्डल उस सम्प्रदाय में साधना का या साधना के प्रत्येक अंग का प्रतीक होता है कि नहीं ?

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

जैसे यहां बताया गया है, इसके अतिरिक्त भी मण्डल के कुछ उपयोग है । मण्डल का अर्थ यही नहीं है कि हम पूजा कर रहे हैं, वही मण्डल है । जिस स्थान पर पूजा की जाती है, वहां भी मण्डल की रचना की जाती है । शाक्त तन्त्र में तो यहां तक बताया गया है कि आसन-यन्त्र बनाना चाहिये और उसके ऊपर स्थिति करनी चाहिये । जब दुर्गासप्तशती के नव चण्डी के प्रयोग होते हैं, तो उसके लिये नवकोणात्मक यन्त्र बना करके और एक-एक यन्त्र को नवकोणात्मक बनाने के बाद उसमें पाठ करने वाला किस स्थान पर बैठेगा ? उसका दीपक कहां रहेगा ? उसकी पुस्तक कहां रहेगी ? उसका अर्चनापीठ कहां रहेगा ? और अन्य पात्र कहां रहेंगे, वह सब उस यन्त्र में होते है । इसलिये यह भी स्पष्ट होना चाहिये कि मण्डल केवल पूजा के लिये है अथवा उसके अन्य उपयोग भी है ।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

कल से मैं सुन रहा हूँ—"देवो भूत्वा देवं यजेत्" या "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" । मुझे ऐसा लगता है कि तन्त्रसाधना का प्रधान अंग (प्रधान साधना) यही है । बौद्ध साधना के अन्तर्गत तन्त्र की साधना उसे कहते हैं, जिसमें देवता की निष्पत्ति, देवता की भावना होती है । उसके अतिरिक्त दान है, शील है, यह सब तो अन्य पारमितानय में आता है, श्रावकयानियों में भी आता है । जैसे कि चैत्य की परिक्रमा करना, बुद्ध का स्मरण करना, यह सब तो अन्य साधनाओं में भी है । तन्त्र की साधना देवता की भावना करने से शुरू होती है । इसलिये बौद्ध तन्त्र में इसे फलयान कहा गया है, क्योंकि फल की अवस्था में जो प्राप्त होता है, उसकी मार्ग-अवस्था में ही भावना करनी पड़ती है । अर्थात् मार्ग की भावना करते समय यह देवता की भी भावना करता है । जैसे कि "शिवो भूत्वा शिव यजेत्" यहां स्वयं देवता बनकर देवता की भावना करने को कहा गया है । बौद्ध तन्त्रो का अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व की प्राप्ति, युगनद्ध काय की अधिगति कहा गया है । युगनद्ध का अभिप्राय रूप और प्रभास्वर ज्ञान का अद्वय रूप है, अर्थात् बुद्धत्व की प्राप्ति पर रूपकाय की भी प्राप्ति होती है और ज्ञानकाय का यह अद्वयभाव है । इसीलिये उसकी उत्पत्ति के लिये पुण्यसम्भार रूपकाय का उपादान कारक होता है और धर्मकाय की प्राप्ति के लिये शून्यता की भावना या प्रभास्वर की भावना करनी होती है । इन दोनों की भावना के परिणाम स्वरूप रूपकाय और धर्मकाय की प्राप्ति होती है । इसलिये तन्त्र में देवता की भावना करना अनिवार्य है । तन्त्र की विशेषता इससे सिद्ध होती है कि उसमें देवकाय की भावना है । क्या शैव, शाक्त आदि तन्त्रों में भी परम तत्त्व की प्राप्ति, परमपद की प्राप्ति के समय रूप और ज्ञान का अद्वय, युगनद्ध रूप माना जाता है । युगनद्ध रूप यदि माना जाय तो ठीक है, देवकाय की भावना करना जरूरी है । लेकिन जब हम परम पद की प्राप्ति करेंगे, उस समय रूप का अस्तित्व न हो, तो उस देवता की भावना का क्या प्रयोजन होगा ? यह एक प्रश्न है ।

दूसरी बात "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" का जो यह एक सूत्र है, यह शिव कौन है ? शिव जो है तथ्य है, सत्य है, रूपात्मक, निष्प्रपंच है, या आनन्दमय है ? प्रभास्वर है, वह तो है, लेकिन शिव का रूप क्या है ? क्या वास्तव में तथ्य रूप में शिव का कोई रूप है, जिसकी हम भावना कर रहे है, या कुछ कल्पना करके, कृत्रिम रूप से जो भावना कर रहे है, क्या शिव का वही रूप है । अगर शिव का रूप वैसा है, तो ठीक है । अगर उसकी भावना नहीं करनी है, तो वह कल्पना मात्र है, काल्पनिक है, कल्पना के द्वारा बनाया गया है । उसका क्या प्रयोजन है ? कहा जाता है कि यह सब चित्त का विस्तार है, या शिव का ही रूप है । फिर क्यों इसको परिणत करके देवता की भावना करें, जबकि हम शिव के विस्तार हैं, तो ऐसे ही रहे, ऐसे ही भावना करके बैठ जाय या अन्तिम अवस्था जैसे "अहं ब्रह्माऽस्मि" है । वह सब से सुन्दर· है । उसी में भावना करें, उसी में लीन रहे । देवता की परिणति की आवश्यकता ही क्या है ?

बौद्ध तन्त्रवाङ्मय में सबसे प्रधान रूप से व्याख्या उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम पर की गई है । उत्पत्तिक्रम का अभिप्राय है देवता की भावना करना । देवता की भावना कैसे करें और निष्पन्नक्रम में भी यही है । देवता की भावना जैसे उत्पत्तिक्रम में क्रिया-चर्या में अलग-अलग भेद है । देवता की भावना करने की विधि उत्पत्ति की विधि अलग-अलग है भिन्न-भिन्न है । मैं अन्तिम अनुत्तर तन्त्र पर ही कहूँ, तो जैसे पितृतन्त्र में त्रि-ध्यान योग के द्वारा उत्पत्तिक्रम की भावना होती है या चार योगों द्वारा उत्पत्तिक्रम की भावना होती है, तो उस समय उत्पत्तिक्रम की भावना के लिये सभी विद्वानों ने यह कहा है कि वह मनोमय है, काल्पनिक है, कृत्रिम है । उत्पत्तिक्रम में जब हम देवता की भावना करते हैं, तो सर्वप्रथम यह करना पड़ता है कि सभी धर्म शून्य हैं, शून्य-भावना करते है । फिर उसमें भी चन्द्र की भावना, फिर सूर्य की भावना, या बीजाक्षर की भावना, उसको परिणत करके देवता के रूप में भावना, यह सब मात्र कृत्रिम होता है, मनोमय होता है, काल्पनिक होता है । इस उत्पत्ति-क्रम की देवभावना विधि पर बहुत विस्तार से कहा गया है । मै समझता हूँ तन्त्र-ग्रन्थों में इसी की विभिन्न व्याख्याएं मिलती है । मुद्रा हो या अभिषेक, यह सब चीजें देवता की भावना के लिये ही है । अभिषेक और मुद्रा का उपयोग भी मात्र देवता की निष्पत्ति के लिये ही किया जाता है । जितनी भी तन्त्र की साधनाएँ है, वे सब इसी पर केन्द्रीभूत है, "देवो भूत्वा देवं यजेत्" पर निर्भर करती हैं ।

उसके बाद निष्पन्नक्रम की भावना करते समय नाडी और वायु और इसके साथ योग करके ललना और रसना में बहने वाली वायुओं को मध्यमा में प्रवेश करा कर प्रभास्वर का साक्षात्कार किया जाता है । प्रभास्वर से मायाकाय की उत्पत्ति होती है । जो युगनद्ध होता है, वह तथ्य है, वह काल्पनिक नहीं है, वास्तविक है । वास्तविक होने के कारण बुद्धत्व की प्राप्ति भी वह युगनद्ध है, मायाकाय और प्रभास्वर का युगनद्ध रूप है । अब ऐसा ही क्या अन्य तन्त्रों में अन्तिम फल की प्राप्ति को युगनद्ध रूप मानते है, मैं यह जानना चाहता

हूँ । अगर युगनद्ध माने तब देवता की भावना करने से उसका प्रयोजन नहीं है, ऐसा दिखता है । इसी के साथ मण्डल वाला प्रश्न भी उठता है । जिस प्रकार के बुद्धत्व को प्राप्त करना हो, तदनुसार मण्डल का निर्माण किया जाता है । जैसे कि गुह्यसमाज की भावना करे, तो गुह्यसमाज में ३२ देव हैं । इन ३२ देवों का अपने शरीर में न्यास करना पड़ता है । न्यास करने के बाद जब हम बुद्धत्व की प्राप्ति करें, तो गुह्यसमाज में परिवर्तित होंगे, गुह्यसमाज के रूप में आवेंगे । उस समय मण्डल भी साथ में होना चाहिये, जिसे विमान-मण्डल कहते हैं ।

मण्डल के भी दो भेद हैं— विमान-मण्डल और आश्रय-देवमण्डल । ये दोनों मण्डल बुद्धत्व प्राप्ति के समय विद्यमान रहते हैं, जैसे कि यह जमीन है, भवन है, या जो कुछ भी है, यह विमानसदृश है, देवता के विमान के जैसा मण्डल है और उसमें जो चित्त स्थित है, वह आश्रित देव के रूप में है । इस तरह से बुद्धत्व के साथ मण्डल भी जुड़ा हुआ है । इसलिये मण्डल की भावना करनी पड़ती है । नहीं तो उस मण्डल का प्रयोजन ही क्या होगा ? क्यो हम मण्डल की भावना करते रहे ? वह काल्पनिक हो तो कल्पना से कल्पना उत्पन्न करके क्या करें ? वह तो कृत्रिम है, त्याज्य है । यह सब कुछ कहा है, तब भी उसकी आवश्यकता है, तथ्य और सत्य है, तो मण्डल का प्रयोजन होना चाहिये और देवता की भावना का प्रयोजन होना चाहिये । काल्पनिक है, तो यह सब व्यर्थ है । कहने का मतलब है कि मैं स्पष्टीकरण चाहता हूँ कि "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" यहां शिव क्या चीज है ? वह रूपात्मक है या नहीं ? स्पष्टीकरण के अभाव में तो तन्त्र वैसा ही रह जाता है । तन्त्र का सम्बन्ध तो चित्त से है, प्रबन्ध तन्त्र का आशय कहा गया है, प्रबन्ध चित्त की निरन्तरता को कहा गया है, चित्त की अद्वयरूपता को कहा गया है । जब तक हम तन्त्र को ही स्पष्ट नहीं कर पावेंगे, यह सब लिखना-पढ़ना मैं समझता हूँ कोई आवश्यक नही है । जब साधक स्वयं शिव हो गया हो तो अंगुली पर "ॐ नमः शिवाय" जप कर क्या करना है ? जब स्वयं ही शिव है, तो न्यास क्यों करें ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

"शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" यह तो शैव आगमों का वाक्य है । यहां आपने जो निबन्ध पढ़ा है, वह वैष्णव आगम से सम्बद्ध है । जिन पंचविध तन्त्रो की यहां चर्चा चल रही है, वे सब अद्वैतवादी हो यह जरूरी नहीं है । शैव दर्शन और वैष्णव दर्शन में द्वैतवाद का भी स्थान है । किन्तु "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्" इसमे जो भावना है, वह भावना प्रत्येक तन्त्र मे है । यह तन्त्र में ही नही, वेद का जो दर्श-पूर्णमास प्रकरण चलता है, जब व्यक्ति दर्श-पूर्णमास करने के लिये बैठता है, वहां एक वाक्य है "इदमहम् अनृतात् सत्यमुपैमि" । वहां कहा गया है—"अनृतं वै मनुष्याः सत्यं देवाः" । यहां अनुष्ठाता मनुष्यभाव से अमृतभाव को, सत्यभाव को प्राप्त कर रहा है । इसकी प्रक्रिया तो वहां नहीं बताई गई, किन्तु आगमों मे और तन्त्रो में भूतशुद्धि और प्राणप्रतिष्ठा के रूप में

इसकी प्रक्रिया वर्णित है । मैं समझता हूँ बौद्ध तन्त्र वसन्ततिलक में भी इसका कुछ विवरण है । अपना यह जो शरीर है, वह पांचभौतिक शरीर भले ही अद्वय तत्त्व, तथागतकाय हो जाय, किन्तु प्रारम्भ में वह तथागतकाय नहीं है । प्रारम्भ में मल से आवृत है, मल से आवृत होने से उसके मल के अपसारण के लिये जब हम देवता की उपासना कर रहे हैं, तो हम कुछ न कुछ तो देवभाव के पास जाँय, इसके लिये भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा की जाती है । "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इस वाक्य का यही अभिप्राय है । हम बौद्धों की उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की साधना की सहायता से इसको समझ सकते हैं ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

द्विवेदी जी यह बात नहीं है, डॉ० वङ्छुग् दोर्जे ने जो प्रश्न उठाया है, वह बौद्ध तन्त्र या वैष्णव तन्त्र की बात नहीं है । तन्त्रशास्त्र का यह एक मूलभूत प्रश्न है । उन्होंने प्रश्न उठाया है कि जब मण्डल है, तो मण्डल का अभिप्राय क्या है ? उस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए उन्होंने सारी व्याख्या की । अब वह अद्वैत हो या द्वैत हो । द्वैत में मण्डल का क्या प्रयोजन होगा ? अगर पांचरात्र द्वैत है, तो मैं पुनः यह प्रश्न उठा रहा हूँ । अगर "शिवो भूत्वा" वाली बात नहीं है, तो मण्डल का साधना से जो सम्बन्ध है और सारी चीजों से सम्बन्ध है, वह पांचरात्र में किस प्रकार से है ? दूसरा प्रश्न यह हो रहा है कि दीक्षा में गुरु क्या बताते हैं ? जब वह दीक्षा के बाद कुछ करने का उपदेश देते है । दीक्षा में तो सारा शील, प्रतिज्ञा, सारी वस्तु, सारी प्रक्रिया यह दीक्षित होने वाले शिष्यों को बता दी जाती है और उसको मण्डल का भी परिज्ञान कराया जाता है । बौद्ध तन्त्रों में अन्तिम बात होती है गुरु के साथ मण्डल में प्रवेश । सारी चीजें गुरु पहले बता देता है । उनका प्रश्न यह है कि यदि पांचरात्र आगम में मण्डलविधान है, तो उसका मूलतः अभिप्राय क्या है ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मण्डल का मूल सिद्धान्त यह है कि यह उपास्य देवता का मन्दिर है । यहां मुख्य देवता का मध्य में स्थान है । फिर उसके चारों ओर सहचर देवताओं की स्थिति है । श्रीचक्र या श्रीयन्त्र की भी यहीं स्थिति है । चक्र और मण्डल में स्वरूपगत थोड़ा भेद होता है, किन्तु श्रीचक्र के मध्यबिन्दु पर विराजमान भगवती त्रिपुरसुन्दरी प्रधान देवता है । उसके बाद यहां नवावरण, याने नौ आवृत्तियां देवताओं की विद्यमान हैं । जब हम मण्डल की या चक्र की आराधना करते हैं, तो त्रिपुरा सिद्धान्त के अनुसार मुख्य चक्रेश्वरी की ये सारी रश्मियां है । दो तरह की पूजा वहां होती है— सृष्टि क्रम से या संहार क्रम से । सृष्टि क्रम से मूल देवी की पहले पूजा होगी, संहार क्रम में बाह्य नवम आवरण में स्थित देवताओं की पूजा पहले होगी और क्रमशः हम मुख्य देवी की अन्त में आराधना करेंगे । जहां द्वैत दृष्टि है, वहां अपने को उपासक मानता है कि वह जो मण्डल का देवता है, वह उपास्य है, किन्तु श्रीचक्र की केवल बाह्य उपासना नहीं होती । जैसे कि आप मण्डल के लिये कह रहे है । देह

में भी उसकी उपासना होती है । इनको क्रमशः बाह्यार्चन पद्धति और आन्तर पद्धति कहा जाता है । जैसे बाह्य में मण्डल बनाया या चक्र बनाया, उनमें सब देवताओं की उपासना की, ठीक उसी तरह से प्रत्येक मण्डल का जो देवता है, मूल देवता है, उसकी शरीर के भीतर किस-किस स्थान में स्थापना करनी है, वहां उसकी भावना की जाती है । यह तो एक चीज हुई मण्डल के बारे में ।

दीक्षा वाला जो प्रसंग है, वह तो सर्वत्र समान है । दीक्षा में सबसे पहले अधिवास दीक्षा होती है । उसमें शिष्य एक स्थान पर शयन करता है । उसके पहले ही गुरु उसकी सुरक्षा की व्यवस्था करता है । फिर जब वह प्रातःकाल जगता है, तो दन्तकाष्ठ इत्यादि के परित्याग से तथा स्वप्न के आधार पर कौन सा मन्त्र शिष्य को दिया जाय, इसका निश्चय किया जाता है । ऋणधन-चक्र आदि का भी यहां विचार किया जाता है । मन्त्रदीक्षा में शैव या पांचरात्र की द्वैतवादी प्रक्रिया बाह्य ही रहती है, किन्तु जब कौल दीक्षा दी जाती है, त्रिपुरा की या तारा आदि महाविद्याओं की दीक्षा होती है, उसमें बहुत कुछ प्रक्रिया बौद्ध तन्त्रों से मिलती-जुलती है । इन सब विधियों को गुरु वहां शिष्य को बताता है । जहां तक युगनद्ध का प्रश्न है । यहां युगनद्ध की स्थिति नहीं है, किन्तु ये जो अद्वैतवादी आगम हैं, वे यह मानते हैं कि शिव या विष्णु या जो भी कोई देवता हो, वह मनुष्य से भिन्न नहीं है । वह मैं ही हूँ, वही मेरा इष्टदेव भी है ।

मल की भी चर्चा बौद्ध तन्त्रों में आती है । शैव-शाक्त तन्त्रों में तीन मल बताये गये हैं— आणव मल, मायीय मल और कार्म मल । आणव मल का मतलब है— वह जो अनन्त आनन्द स्वरूप ब्रह्म है, उसको भूल कर व्यक्ति अपने को अणु उसका एक अंश मानने लगता है । ये तीनों मल अनादि काल से चले आ रहे हैं । कार्म मल के कारण अनन्त काल से अनन्त जन्मों से जो उसका कर्म संचित है, उन कर्मों के आधार पर वह नाना प्रकार की प्रवृत्ति करता है । माया ईश्वर की शक्ति मानी गयी है । इस माया के कारण भी उसमें मलिनता आ जाती है । इन्ही तीन मलों के कारण वहां जीवों को तीन कोटि में रखा गया है— विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल । जो केवल आणव मल से ग्रस्त है, वह जीव विज्ञानाकल है, आणव और कार्म मल से सम्बद्ध प्रलयाकल है और तीनों मलों से संवृत सकल कहलाता है । गुरु जब दीक्षा देता है, तो उस दीक्षा से पाशक्षपण होता है, पाश कटता है, तो यह पाश मल ही है । इस मल का जब क्षपण होता है, तो मल के क्षपण से वह अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । जहां द्वैतवादी दृष्टि है, वहां वह देवस्वरूप हो जाता है, रुद्रस्वरूप हो जाता है । उन दोनों में अन्तर इतना ही है कि वह जो ईश्वर है, वह सृष्टि-स्थिति-संहार करने में समर्थ है, किन्तु मुक्त जीव, जिसको वहां सिद्ध की संज्ञा दी गई है, वह शिवभाव को तो प्राप्त हो जायगा, किन्तु शिव की जो शक्तियां है, वे उसमें नही रहेंगी । यही द्वैत और अद्वैत में अन्तर है । वहां शिव के सारे गुण उसमें अभिव्यक्त हो जायेंगे, किन्तु सृष्टि, स्थिति, संहार में वह समर्थ नहीं होगा । जो अद्वैतभाव को प्राप्त हो गया, वहां

तो सृष्टि-स्थिति-संहार का प्रश्न ही नहीं है । यही संक्षेप में उनका दर्शन है, जो प्रत्येक आगम के विद्यापाद में बताया गया है । इन सबकी शिक्षा, आगमों के चारों पादों में वर्णित ज्ञान, क्रिया, चर्या और योग संबन्धी विविध विधि-विधानों की शिक्षा गुरु देता है ।

प्रो० नथमल टाटिया

प्रधान रूप से आज हम मण्डलों की चर्चा कर रहे हैं । उसी मूल प्रश्न पर मैं पुनः चर्चा करना चाहता हूँ । यह मण्डल की जो रचना है, यह प्रतीक है । जैसे यह मण्डल है, इसमें द्वार है, परिक्रमा है, गर्भ है । यह एक बड़ा प्रासाद है, यह प्रासाद का एक प्रतीक है । अधिकारी शिष्य को गुरु उसमें प्रवेश करने का रास्ता बतायेगा, जिससे वह मण्डल में रह सके, उसका वह एक अंग बन जाय । वैष्णवों में, शैवों में, जैनों में, मण्डल सबमें है । उस मण्डल का अधिकारी बनाने के लिये दीक्षा दी जाती है और यह दीक्षा खीष्ट धर्म में भी है । इस तरह की दीक्षा सभी धर्मों में है । मैं गलत हो सकता हूँ, मण्डल का अर्थ है एक सोसायटी, एक रिलीजियस कम्पोनेयनशिप, उसमें प्रवेश करने का अधिकार गुरु देते हैं । गुरु खुद उसमें प्रविष्ट होते हैं । उनको दीक्षा देने का अधिकार है । जो प्रविष्ट है, उसको दूसरे को प्रवेश दिलाने का अधिकार है । मैं समझता हूँ : मण्डल एक प्रतीक है, एक धार्मिक व्यूह है, एक आध्यात्मिक चक्र है, जिसमें जाने का अधिकार गुरु देते हैं ।

प्रो० येशे थपख्ये

मुझे ज्यादा कहना नहीं है । बौद्ध तन्त्र में कालचक्र की उपासना करने वाला साधक कालचक्र देवता का रूप बन जाता है । इसीलिये कालचक्र के देवता का रूप बनाने के लिये, बन जाने के लिये अभी से हम कालचक्र तो नहीं है, फिर भी उसके रूप की भावना करते है । इस भावना के करने से धीरे-धीरे सूक्ष्म वायु, सूक्ष्म ज्ञान दोनों के अभ्यास से बाद में, भविष्य में कालचक्र देवता बन जाते है । इस हेतु के लिये, साधारण हेतु के लिये, कालचक्र बन जाने के लिये अभी से हमारे पास असाधारण हेतु होना चाहिये । उस हेतु को संगठित करने के लिये उसकी भावना करते है । उसी तरह जहां हम जो कालचक्र देवता बन जाते है, उसके लिये शुद्ध क्षेत्र होना चाहिये, उस क्षेत्र की शुद्धि के लिये वह मण्डल का अभ्यास करता है, भावना करता है । सही मण्डल तो है नहीं, सही मण्डल तो नहीं देखा गया, फिर भी हम सोचते हैं । भावना करके इसमें यह देवता है, उसमें यह है, अब हम इधर है, यह सब भावना करते है । बौद्ध तन्त्र में देवता और मण्डल की भावना करने का अर्थ है भविष्य में स्वयं बुद्ध हो जाना । उस क्षेत्र को शुद्ध क्षेत्र बनाने के लिये और देवता बनाने के लिये असाधारण हेतु के लिये, अभी से हम हेतु संचित करने के लिये अभ्यास करते है । अब जो आप अभी कह रहे है, बौद्धेतर तन्त्र में देवता तो बना जाता नहीं, जैसे हम शिव नहीं बन सकते है, तो शिव की भावना तो करते है, शिव के मण्डल की भी भावना करते है ? तो इसका प्रयोजन क्या है ? हमको स्वय बनना नहीं है, हमारे क्षेत्र में वह

मण्डल आता भी नहीं है, भविष्य में हमें उसी में रहना भी नहीं है, तो इसका प्रयोजन क्या है ? यह हमें पूछना है ।

डॉ0 मार्क डिच्कोफस्की

धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्त्तिक में एक प्रसंग है । वहां वे साबित करते है कि हिन्दू लोग जिसे ईश्वर कहते है, वह पारमार्थिक नहीं है । चन्द्रकीर्ति ने भी ऐसा ही तर्क प्रस्तुत किया है । तब बौद्ध सम्प्रदायों में ईश्वर की आराधना करना, ईश्वर की पूजा, या ईश्वर का अद्वयभाव, यह सब वास्तविक हो, इसका कोई तुक ही नहीं है । वहा यह सब आगन्तुक है । ऐसी स्थिति में मुझे ऐसा लगता है कि वहा भावना का आधार कोई बन ही नहीं पावेगा । भावना शब्द के नाना अर्थ है । बौद्ध सम्प्रदाय में जो तान्त्रिक सम्प्रदाय है, वहां भावना शब्द का मतलब है विज्युलाइजेशन । पहले भावक देवता को उत्पन्न करता है शून्यता से, शून्यता को देखकर तब बीजमन्त्र से निकाल कर । बीज मन्त्र से नाना प्रकार की, याने नाना रंग की रश्मियां निकलती है । नाना रंग की रश्मियों से देवता बनता है । तब उस देवता को देखकर सोचना चाहिये कि मैं अमुक देवता हूँ, जिसका नाम है दिव्य गर्भ या दिव्य अभिमान । दिव्य अभिमान की भावना से यह सोचना चाहिये कि मैं वह देवता हूँ । लेकिन देवता का क्या स्वरूप है, देवता का स्वरूप है शून्य । तो इसका अभिप्राय क्या है ? शून्यता को पाने के लिये यहां देवता से योग किया जाता है । हिन्दू सम्प्रदायों में, या हिन्दू तान्त्रिक सम्प्रदायो में वह सब नहीं है । ईश्वर तो परमार्थतः है ही । शिव या विष्णु काल्पनिक है, यह कहीं नहीं आता । लक्ष्मणजू स्वामी जी का अभी देहान्त हुआ है । उनका कहना था कि हम लोगों का शैविज्म विज्युलाइजेशन नही है । आप लोगो ने विचार के दो स्तर बना लिये है— परमार्थ सत्य और संवृति सत्य । सवृति सत्य के रूप में कह सकते है कि मैं कालचक्र हूँ, मैं हेवज्र हूँ, पारमार्थिक रूप से क्या मतलब ? मैं हूँ या नहीं ? हम तो नहीं है, न हेवज्र है, न कुछ है, तो कैसे कह सकते है कि कुछ है । यह स्थिति है । लेकिन तन्त्रशास्त्र का जहाँ तक विषय है, द्वैत या अद्वैत हो यह सब चक्कर नहीं है, दो स्तर मानने की आवश्यकता नहीं है । मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि "शिवोऽहम्" या "शिवो भूत्वा" यह काल्पनिक है या नहीं ? तो इसी दृष्टिकोण से आप विचार कीजिये कि यह युगनद्ध का क्या मामला है ? बौद्ध मत में क्या होता है कि आप क्रिया, चर्या और योगतन्त्र तक जाकर पहले अकेले रहते है, जैसे वज्रसत्त्व ध्यानसमाधि में लीन हुये । तब अनुत्तर योग से आपको युगनद्ध स्थिति में पहुँचना होगा । शैव सम्प्रदायों में युगनद्ध के स्वरूप को अन्तिम स्थान नही दिया जाता, क्योंकि इसको आप लोग जो संवृति और परमार्थ सत्य दो रूपो में विभाजित करते हैं, इसके स्थान पर अद्वैत शैव आगमो में पहले अपने को शक्ति बनाना पड़ता है । शक्ति का वह रूप शक्ति के रूप में शिव के साथ मिल जाता है । तब दोनों का अनुत्तर या पूर्ण विच्छेद या अन्तिम स्थान मे लय हो जाता है, जैसे कि श्रीविद्या के बीच के मण्डल मे अद्वैत पूजा की जाती है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

देखिये यहाँ हिन्दू शब्द का प्रयोग अनुचित है । हिन्दू कोई तन्त्र नहीं है । शैव है, शाक्त है, वैष्णव है । यह एक भारतीय प्रजा में विभेद (वैमनस्य) पैदा करने के लिये गढ़ा गया शब्द है । वस्तुतः हिन्दू शब्द की कोई स्थिति नहीं है । मण्डल के बारे में आपने निवेदन किया । शाक्त तन्त्र में शिष्य, गुरु, मण्डल, मन्त्र और उनकी देवता— इन सबको एक माना गया है । वह जो एकता की प्राप्ति है, उसमें गुरु-शिष्य पहले है । गुरु-शिष्य के बाद यहाँ मण्डल का या पूजा का जो विधान है, वहां उन सबके माध्यम से अपना जो इष्टदेव है, वहां तक पहुंचा जाता है और अन्त में इन सबका अभेद हो जाता है । अन्तिम अवस्था जो यहां बताई गई है, उसको जीवन्मुक्त अवस्था कह सकते हैं । जीवन्मुक्त अवस्था इसलिये है कि वह शरीर जिन प्रारब्ध कर्मों से बना है, जिनका कार्य प्रारम्भ हो गया है, उन कर्मों का जब तक भोग पूरा नहीं हो जायगा, तब तक शरीर की मुक्ति, शरीर का पात नहीं होगा, मुक्ति नहीं मिलेगी । वहाँ पर आणव मल बचा रहता है । इस आणव मल के बचे रहने पर भी जो जीवन्मुक्त दशा में पहुंच गया, वह कर्म भी करता रहेगा, किन्तु वहां उपनिषद् से लेकर आगम तक में यह बताया गया है कि वह सिद्ध योगी जो पुण्य करता है, वह उसके मित्रों को, उसकी सहायता करने वालों को मिल जाता है और जो उसके साथ द्वेष करता है, उसका पाप कर्म उसके पास चला जाता है । अब वह नये पाप-पुण्य कर्म से लिप्त नहीं होता और अन्त में मुक्त हो जाता है । मैं अधिक समय न लेकर डॉ० आपटे से निवेदन करता हूँ कि वे अपनी बात कहें ।

डॉ० पी० पी० आपटे

पांचरात्र सम्प्रदाय की मण्डलाराधना के विषय में आज की अवस्था क्या है ? यह मैं बताना चाहता हूँ । एक बात तो यह है कि बौद्ध धर्म में मण्डल की भावना का जो विषय है, इसी प्रकार की मण्डलाराधना का कोई स्रोत वैष्णव आगम में आया होगा । पौष्करसंहिता में जो मण्डल का वर्णन आया है, उसमें जो सूचना मिलती है, उसमें ऐसा कहा है—"यत्र रुद्ध्वा विमुच्यते" । ऐसा कहा गया है कि शिष्य को मण्डलाराधन करने से पहले कुछ धनसंग्रह करना चाहिये, याने जैसे कोई वैदिक यज्ञ चलता है, उस प्रकार का एक मण्डप निर्माण करना है । वहाँ पर मण्डलों की रचना करना और उपासना करना, उसमें चार साल का एक अभ्यासक्रम है, जिसमें एक-एक साल की मण्डल की उपासना करने से समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य स्थिति की प्राप्ति उस शिष्य को होती है । पौष्करसंहिता का काल ई. तीसरी शताब्दी है । गुह्यसमाज, मञ्जुश्रीमूलकल्प यही ग्रन्थ उसके पास आते हैं । शायद उसका प्रभाव होगा । अब आज जो पौष्करसंहिता उपलब्ध है, उसमें पच्चीसवें परमानन्द मण्डल का वर्णन पूरा लुप्त है, ग्रन्थपात है । आजकल की वैष्णव मन्दिरों की परम्परा में इन मण्डलों का स्वायत्त कोई उपासना-क्रम दिखाई नहीं देता । आजकल वैष्णव मन्दिरों की उपासना पद्धति में चतुःस्थानार्चन नाम की प्रक्रिया प्रचलित है । उसमें

मूर्तिपूजा एक है । दूसरे मे कुण्डपूजा है, वह्निपूजा है । उसमें वैदिक परम्परा को सुरक्षित किया गया है । तीसरी है कुम्भपूजा और चौथी है मण्डलपूजा । इस चतुःस्थानार्चन की आज की अवस्था यह है कि एक समय में चार स्थानों पर भगवान् विष्णु का आवाहन करके पूजन और विसर्जन किया जाता है । मण्डल में भी भगवान् विष्णु का आवाहन होता है, वह्नि में भी भगवान् विष्णु का आवाहन होता है, कुम्भ में भी और मण्डल में भी । इस तरह से भगवान् विष्णु एक समय इन चार स्थानों मे पूजित होते है । पाँचवा स्थान है हृदय । इस प्रकार आज की मण्डलपूजा की अवस्था है ।

डॉ० एस० एस० बहुलकर

आप सब जो बता रहे हैं, मण्डल क्या है ? यह बता रहे है, लेकिन मण्डल क्यो है ? यह आपने अभी तक बताया नहीं है । इस सम्प्रदाय में अन्तिम लक्ष्य क्या है और अन्तिम लक्ष्य मोक्ष को कुछ भी नाम दें, उस प्रक्रिया में मण्डल की आवश्यकता क्यों रहती है ? मण्डल का स्थान कहा रहता है ? तो उस प्रश्न का उत्तर देना चाहिये । बौद्ध सम्प्रदाय में मण्डल का महत्त्व क्या है, मण्डल का साधन कैसे किया जाता है और वहा जो बाह्य मण्डल है, आन्तर मण्डल है, उसमे एकता, उसमें अभेद की भावना की जाती है । जो देवता मण्डल में है, वह स्वयं हम ही हैं, ऐसी भावना की जाती है, जैसे शैव सम्प्रदायो में भी है । पांचरात्र मत में ऐसे मण्डल का उद्देश्य क्या है ? आप जो कह रहे है, वह तो केवल मण्डल की पूजा का विधान है कि मण्डल की पूजा ऐसे होती है ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

बौद्ध तन्त्रों मे, जिसकी परम्परा जीवित है, भारत में भले ही वह लुप्त हो गई हो, लेकिन भोटदेश (तिब्बत) ने उसको जीवित रखा है, मण्डल-रचना पर काफी वहा सुरक्षित सामग्री है । क्या उस प्रकार की सामग्री अथवा वाङ्मय, चाहे वह दीक्षा के बाद ही शिष्य को प्राप्त हो, यह मण्डल की रचना से संबद्ध सामग्री वहा है ? यहा मण्डल ऐसे बनता है, उसमे जो यह तान्त्रिक पूजा और तान्त्रिक साधना होती है, उसको अलग अभी छोड़ दे, उसको देखकर ही आप मन्त्र-मुग्ध हो जायगे कि यह क्या कला है । ढाकी साहब ने जो प्रश्न उठाया, वह उससे अभी भी सम्बद्ध है । मैने डॉ० ढाकी के ही सूत्र को पकड़ कर यह सारी बाते शुरू की है कि क्या पांचरात्र आगम में और वैष्णव तन्त्र मे ऐसी कोई सामग्री है ? आपने थोड़ा सा इंगित किया, इसके पहले अभी कोई सूचना नही मिली थी । हम लोग आपके बहुत कृतज्ञ हैं । मण्डल-रचना के बारे में वाङ्मय भी उपलब्ध है अथवा नहीं, यह आप हमें बतावें ।

डॉ० पी० पी० आपटे

अभी इसका जो दूसरा हिस्सा ढाकी साहब ने बताया, उसके बारे में मुझे दोपहर को विस्तार से बोलना है । इसलिये मैने इसकी चर्चा अभी नहीं की । लेकिन यह जो प्रश्न उठा तो अब ऐसी अवस्था में डॉ० कालिया ने

बताया या वीरशैव, शैव और वैखानस, पांचरात्र इस सबमें जो दीक्षा का सम्बन्ध है, उस दीक्षा के सम्बन्ध में चक्राब्ज-मण्डल का आज कल उपयोग होता है । इसीलिये चक्राब्ज-मण्डल का वर्णन पूरी तरह सब संहिताओं में मिलता है । लेकिन बाकी जो मण्डल है, मोक्ष की प्राप्ति के लिये मण्डल की उपासना करना, यह विषय आज पांचरात्र की परम्परा में विद्यमान नहीं है । शायद एक समय ऐसा होगा कि बौद्ध परम्परा के समान या उसके परस्पर प्रभाव के कारण इसको प्रोटोटाइप टेम्पल कहा जा सकता है कि मन्दिर-निर्मिति के पहले शायद वैदिक यज्ञों के समान मण्डलों की उपासना चलती थी और उससे मोक्ष-प्राप्ति भी की जाती थी । वह शायद, भावना जिसको कहते है, "यत्र रुद्ध्वा विमुच्यते" होगी । कला की दृष्टि से तो मै दोपहर में बोलूंगा । पांचरात्र की जो संहिताएं है, उनके आधार पर आगे चल कर रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि ने अपने-अपने विशिष्टाद्वैत, द्वैत मत बनाये है । एक किताब ऐसी आयी है—"अद्वैतिक अप्रोच टू पांचरात्र" । पांचरात्र संहिताओं में मुक्त चिन्तन है, जैसे उपनिषदों में आता है । एक उदाहरण मात्र मै बताता हूँ । एक प्रश्न ऐसा आता है कि जो मुक्त जीव है, उसका स्वरूप क्या रहता है ? पाद्मसंहिता में चर्चा आयी है और भगवान् विष्णु उत्तर देते है कि "अहमेव भवन्त्येते न भेदोऽस्ति कथञ्चन" । ऐसा लगता है कि यह पूरा अद्वैत बन गया, लेकिन पंक्ति यह है "यथाऽहं विहराम्यत्र तथैव विहरन्ति ते" । वैकुण्ठ में मुक्त जीव जैसे में विहार करता हूँ, वैसे ही विहार करते है । यह इसलिये है कि पांचरात्र संहिताओ में मुक्त चिन्तन है । बाद में रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य आदि ने उसी से कुछ चिन्तन लेकर अपने अपने सिद्धान्त स्थापित किये ।

डॉ० अशोककुमार कालिया

एक बात थोड़ी स्पष्ट करनी है । यह जो निबन्ध हमने प्रस्तुत किया है, यहा मण्डल-याग से होने वाली दीक्षा का जो वर्णन किया है, यह अब कही प्रचलित नहीं है । इस समय जो दीक्षा दी जाती है, वह पंचसंस्कार प्रधान है और उसमें पचसंस्कार— ताप, पुण्ड्र, मन्त्र, नाम आदि होते हैं । ऐसा लगता है कि किसी समय बहुत पहले यह मण्डलविधान प्रचलित रहा होगा । अब मण्डल से दी जाने वाली दीक्षा का रूप परिवर्तित हो गया है, आज पंचसंस्कार के द्वारा ही दीक्षा दी जाती है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

मण्डल है तो लिनियर, जो लाइन ड्राइंग पद्धति पर होता है, लेकिन इमारत के बड़े रूप में भी ये बनते थे, जैसे बोरोबुदुर का स्तूप है । वहां जो द्वार की बात है, द्वार प्रवेश सभी जगह द्वारशोभा तोरण है । यह बात जो मै कह रहा था, उसे लाइन में कैसे बतायेंगे । आज यह जो हम कह रहे हैं, द्वारशोभा इसी तरह होती है, द्वारशोभा नाम तो तब आवेगा । खाली लाइन रख देने से थोड़ी शोभा होती है । उसका जब त्रिपार्श्विक स्वरूप बनेगा, तब आप देख पावेंगे ।

प्रो० पी० पी० आपटे

इसके बारे में मै दोपहर को बोलूंगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

हम तो यह समझते है कि एक वाक्य आता है—"अहं द्वैताद् अद्वैतं व्रजामि" इस तरह से यह जितने भी मण्डल है, या यन्त्र है, या अन्य आकृतियां है, उन सबका यही प्रयोजन है । प्रतीक रूप में प्रवेश पाने के लिये प्रारम्भिक साधक को इस मार्ग से प्रवेश करना चाहिये । जैसे जैनों में भी सिद्ध चक्र बनते है । पंचनमस्कृति चक्र बनते है, ऋषि मण्डल बनता है, तो यह सारी आन्तरिक भूमिका का उपक्रम है । हमारी दृष्टि में यही समझ में आता है । दूसरा क्या है कि देवता कहां विराजमान है, इसके लिये शास्त्रों ने वर्णन किया है । जैसे भगवती त्रिपुरसुन्दरी के लिये कहा गया है कि वह मणिद्वीप-निवासिनी है । मणिद्वीप का क्या आकार है ? दुर्वासा ने एक स्तोत्र लिखा है । उस स्तोत्र में तो मणिद्वीप तक पहुंचने के लिये कितने योजन का विस्तार और कहां कौन-कौन बैठा है, उसका भी उसमे स्वरूप दर्शन किया है । साथ ही एक बात यह भी है कि जब हमको किसी प्रधान व्यक्ति के पास पहुंचना होता है, तो उनके परिकर को भी प्रसन्न करना अत्यन्त आवश्यक है । यह मण्डल क्या है ? उनके परिकर देवताओ का, परिवार देवताओ के समूह का उसमें स्मरण होता है और उसकी पूजा के बाद मूल तक पहुचते है । वहां जाकर हम तदाकार बन जाते है । जैसा कि आपने बताया या पूछा गया कि वह शिव ही होता है या विष्णु भी होता है ? तो यह जैसा जैसा साधक जिस जिस दीक्षा में जिस मन्त्र से दीक्षित होता है, वह उसी को प्राप्त करता है । हमारे यहां भी लिखा है—"भैरवोऽहं शिवोऽहम्", कही लिख दिया "देवी चाहं न चान्योऽहम्" इत्यादि । अपने इष्टदेव से ही सम्बद्ध मान करके साधक चक्र में प्रवेश करता है और तदाकाराकारित वृत्ति से, जिसको हम भ्रामरी वृत्ति कहते है, वह अनुप्राणित हो जाता है । उदाहरण के रूप मे साधारण कीट भ्रमर के गुंजन को सुनकर उसका स्मरण करता हुआ अन्त मे भ्रमर रूप को प्राप्त करता है, इसी तरह से जीव भी, साधक भी अन्त मे जाकर देवभाव को प्राप्त करता है ।

Prof. N. R. Bhatt

Regarding maṇḍalas, there are a lot of confusions. There are specific maṇḍala and rituals for specific purpose. The deities are worshipped and the Śiṣya is given a name in the Dīkṣā ritual.

So everything prescribed in the maṇḍala is prescribed for a special purpose, and it has to be done with the *bhāvanā.* Once you get the *dīkṣā,* then you are fit for the bhāvanā, mokṣā and some thing like that. Each *Upāsanā* is done in a certain way, maṇḍala is one of them. It is simple. It is not bhāvanā.

Prof. L. N. Tiwari

As you said Dr. Bhatt, that is not the thing as far as the Maṇḍala is concerned. As we know about taking dīkṣā, one takes it from a Vajrācārya who is the Guru.

Acharya N. Samten

If Maṇḍala remains outside then that become something like a temple or Caitya. That becomes only the external thing, external phenomenon. But the maṇḍala whether it is in dust form, or it is in a *rekhāṅkita* form, whichever form it may be, that is simply a blue print for us. That is the blue print for our meditation. On the basis of that blue print, we are to meditate and conceptulise that all these things are the basis of what we wish to attain in that very maṇḍala. That is the basic idea behind this. Otherwise then if we make just simply is kind of maṇḍala, that remains simply an external form; it does not have anything to do with what we find with the temple and Caityas.

Dr. S. S. Bahulkar

Although there are maṇḍala drawn in various ways, various sects, the approach seems to be different. The approach of the Buddhist and perhaps, the Śaiva sampradāya in different from what we see in Pāñcarātra. And it seems that in Pāñcarātra the diagrams or Maṇḍala are merely an instrument for the worship, while in Buddhist Tradition, the Maṇḍala have got more significance. Construction of a maṇḍala itself is meditation and Prof. Tucci in his, *Tibetan Painted Scrolls* has made it clear that in Tibetan tradition, to paint is to evoke. So painting a maṇḍala or constructing a maṇḍala itself is a meditation while in Pāñcarātra and other traditions, the approach is different. And in that case maṇḍala is just an instrument for worship. You have made a reference to Vedic tradition, you can trace the origin of these diagrams and maṇḍala even in Vedic sacrifices, where a particular form of Vihāra, particular form of *iṣṭakā*s and *Citi* are constructed. So, these are all particular diagrams, which have some siginificance and I think this has nothing to do with Buddhist text.

Prof. L. N. Tiwari

In Pāñcarātra too, maṇḍala must have some significance. I don't agree till now, that maṇḍalas are not meant for meditation even in Pāñcarātra.

Prof. N. R. Bhatt

I don't know whether you agree or not. The question is not of agreeing. It is the way of thinking. Which is different in different texts. I am examining here ritual has to discribed in a certain way. The same thing is performed inside also, maṇḍala can be meditated upon and a worship could be done there. So I don't see the difference in *Bahiryoga Dīkṣā* and *Āntaryoga Dīkṣā*.

●

MVT/TA

पौष्करसंहिता–मण्डलाकृति परिचय

-डॉ0 प्रभाकर आपटे-

[धन्यवाद देकर निबन्ध प्रारम्भ करता हूँ । अन्त में धन्यवाद वितरण करते है लोग, तो मै शुरू में ही करता हूँ । मुझे यहाँ बुलाकर, इस भारतीय तन्त्रशास्त्र की संगोष्ठी में पांचरात्र सम्प्रदाय का जो कुछ विशेष योगदान है, उसके बारे में कुछ कहने के लिये मौका दिया गया, इसके लिये मैं आभारी हूँ । अभी पहले सत्र में दार्शनिक और तत्त्वचिन्तन के आयाम पर बहुत चर्चा हो गई । लेकिन उस समय प्रो0 ढाकी जी ने जो प्रश्न उपस्थित किया था, उसमें स्थापत्यशास्त्रीय, वास्तुशास्त्रीय कुछ आयाम उपस्थित किये गये थे । उसके बारे में मेरे निबन्ध में कुछ कहा जायगा । वैसे तो इस निबन्ध को "पौष्करसंहिता मण्डलाकृति परिचय" ऐसा शीर्षक मैंने दिया है । सच कहा जाये तो "मण्डल डायग्रफ्स् एण्ड आरटिस्ट एप्रोच" इस दृष्टि से मैं आपके सामने यह रखना चाहता हूँ । उसके तीन आयाम हैं— १. मण्डल का आलेखन, जिसमें शास्त्र आता है । २. रंजनविधि, यानी रंग का समायोजन, रंगपूरण और ३.तीसरा भाग है पूजनविधि । पूजनविधि के बारे में मैंने पहले कहा है कि जयाख्यसंहिता में भी जो नवपद्म मण्डल का वर्णन आया है, वहाँ पर भी पूजनविधि दी गई है । जैसे मूर्तिपूजा की विधि रहती है, उसी प्रकार की यह एक विधि है । चतुःस्थानार्चन के विषय में मैंने कहा है कि भगवान् विष्णु को चार स्थानों पर आवाहित करना, उनका पूजन करना और विसर्जन करना, यही प्रकार आजकल चल रहा है । चक्राब्ज मण्डल की ऊपर चर्चा आई कि यह सब वैष्णव पांचरात्र मन्दिरों में उपलब्ध होता है और उसका उपयोग दीक्षा के समय मण्टप की सजावट जैसा ही है । लेकिन पौष्करसंहिता के समय में मण्डलाराधन एक स्वतन्त्र संस्था थी, वह आज विद्यमान नहीं है । उसके पच्चीसवें मण्डल का नाम परमानन्द मण्डल है । पहला तो भद्रक या सर्वतोभद्र से चालू होता है और खास करके ऑर्किटेक्चर में जो पैटर्न्स आते है, उसमें एक सर्वतोभद्र आता है और स्वस्तिक आता है । पौष्करसंहिता में जो स्वस्तिक कहा गया है, उसका स्वरूप थोड़ा अलग है । जो कुछ चार ऐसे ब्लॉक्स है, उसकी जो सीमा रेखा है, उससे एक स्वस्तिक बनता है । वह एक अलग प्रकार का नमूना है । अब मैं मण्डल के बारे में अपने संक्षिप्त निबन्ध को पढूँगा ।]

पौष्करसंहिता (ई. स. ३००) का प्रारंभ गुरु–शिष्य संवाद से होता है, जिसमें मण्डल–याग के लिये धनसंग्रह का आदेश गुरु शिष्य को देता है । उसके बाद चार प्रकार के मण्डलों की— १. पद्मोदर, २. अनेक–कजगर्भ, ३. चक्राब्ज व ४. महाख्य नवनाभ—रचनाविधि पौष्करसंहिता में बतायी गयी है । इन चार प्रकारों के मण्डलों के लेखन, रंजन और पूजन से शिष्य को क्रमशः समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य इन सीढियों पर अग्रसर कराते हैं । यह अध्ययनक्रम

चार साल का बताया गया है, जो तान्त्रिक उपासना की दृष्टि से अवश्यंभावी क्यों न हो, किन्तु केवल चित्रकला पाठचक्रम की दृष्टि से भी चार साल का एक परिपूर्ण अध्ययनक्रम है, जिसमें चित्रकला स्नातक के लिये उपयोजित प्रगत भूमिति और रंग-संयोजन की विधि अन्तर्भूत है । सत्रह सौ साल पुराने चित्रकला विषयक विवरण पढ़कर उसमें वर्णित मण्डल-चित्रों का पुनरारेखन व रंगपूरण करने में हमें जो सफलता मिली, इसका एकमात्र कारण है— ग्रन्थकार की अर्थवाही शैली । ग्रन्थगत वर्णन में भूमितीय आकृति विभाजन के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों का पूरा हिसाब पाठकों के सामने यथावत् प्रस्तुत किया गया है । उसी प्रकार मुख्य रंग, मिश्रित रंग, रंगछटाएँ इतनी बारीकी से बतायी गयी हैं कि जिससे आज उपलब्ध रंग मंजूषा से हूबहू रंग चुनने में कोई कठिनाई न हो । उदाहरणार्थ—हरा रंग दो रूपों में प्रस्तुत किया गया है— मरकताभ और शुकपक्षनिभ । आकाश के नीले रंग को अंग्रेजी में जहाँ पर केवल 'स्काई ब्लू' कहा जाता है, वहाँ पौष्करसंहिता में शरद्गगनसंकाश (ऑटम्नल स्काई ब्लू) कह कर 'स्काई ब्लू' की अधिक गहरी छटा बताई गई है ।

मण्डलाकृतियों में पहले आता है वास्तुमण्डल, जो ऐतिहासिक दृष्ट्या वास्तुशास्त्र को दी गयी पांचरात्र आगमों की अनोखी देन है । इस शिल्पशास्त्र के विद्यमान ग्रन्थों की अपेक्षा यह वर्णन पुरातन है । इस आकृति की एक विशेषता यह भी है कि इसके कोष्ठ अष्टदल और चतुर्दल कमलों से मण्डित हैं । वैसे ही शिल्पशास्त्र ग्रन्थों के विपरीत इस आकृति में चतुर्मुख ब्रह्मा की स्थापना मध्यकोष्ठ के बदले चारों कोनों में चतुर्दल कमलों में की गई है और मध्य कोष्ठ में ब्रह्मा के स्थान पर विश्वरूप विष्णु विराजमान हैं । इसकी तीसरी विशेषता है आन्तरिक चतुष्क में 'अ'कारादि 'ह'कारान्त ४९ वर्णों का सन्निवेश ।

पौष्करसंहिता के पंचम अध्याय में मण्डलों के पहले वर्ग पद्मोदर की पच्चीस मण्डलाकृतियों का वर्णन प्राप्त होता है । इस वर्णन का पहिला अंश भूमितीय कोष्ठगणनपरक और दूसरा भाग रंगसंसूचनपरक है । सर्वप्रथम मण्डल सर्वतोभद्र ७×७=४९ कोष्ठों का बनता है और अन्तिम परमानन्द मण्डल ३१×३१=९६१ कोष्ठों का है । छठे अध्याय में मण्डलाकृतियों के मध्यस्थ याने उदरस्थ पद्माकृतियों का वर्णन है । अगले अध्यायों में अनेक कजगर्भ, चक्राब्ज, मिश्रचक्र, नवनाभ इत्यादि प्रकारों का वर्णन आया है, लेकिन

उन अध्यायों में महान् ग्रन्थपात है। [1]प्रदर्शनी में रखा हुआ चित्रसंग्रह प्रायः पांचवें और छठे अध्याय पर आधारित है। मण्डलाकृतियों के आरेखन के लिये चतुरस्र क्षेत्र का चतुरस्र कोष्ठों में विभाजन अपेक्षित है और पद्माकृतियों के लिये मध्यस्थ चतुरस्र में वर्तुलाकृति का चतुर्धा विभाजन अपेक्षित है।

मण्डलाकृतियों का स्थूल विभाजन छह अवयवों में किया जाता है, यथा— १. पद्म, २. पीठ, ३. वीथी, ४. द्वार, ५. शोभा, ६. कोण। इनके अतिरिक्त इन्हीं अवयवों से संलग्न उप–अवयव भी मण्डलाकृतियों की प्रगतावस्था में पाये जाते हैं, यथा— उपपीठ, उपद्वार, उपशोभा, पीठगात्र, पीठकोण और बिम्ब। पद्माकृतियों के लिये वर्तुल त्रिज्या के चार विभाग करके पहले में कर्णिका, दूसरे में केसर, तीसरे में दलसन्धि और चौथे में दलाग्र की योजना की जाती है। हर एक दल के अन्दर दो या तीन केसरों की योजना की जाती है। पौष्करसंहिता गत पद्मों की रचना पूरी तरह भूमितीय है। उसमें चित्रकारिता के लिये मुक्तहस्तता नहीं है। कमलदलों की दोहरी मोड़ पाने के लिये दो वर्तुल खण्ड, नियत स्थान पर केन्द्रबिन्दु चुन कर नियत त्रिज्या के आधार पर आरेखित करने पड़ते हैं, जिसके लिये जटिल भूमितीय गणन की जानकारी अवश्यंभावी है। चतुरस्र आकृतियों का आरेखन करते समय क्रमशः विषम और सम संख्या में कोष्ठ उपलब्ध होते हैं, जैसे कि, ७×७=४९, ८×८=६४ इत्यादि। इन कोष्ठों के चयन अपचयन के आधार पर उपरिनिर्दिष्ट मण्डलावयव साकार होते हैं। इनका मूलाधार है एक चतुरस्र कोष्ठ। लेकिन अपवादरूप कोष्ठों का तिर्यक् विभाजन भी वर्णित है। उस विभाजन का उपयोग विशिष्ट मण्डलावयव की उच्चावचता दिखाने में होता है, जिससे पीठ जैसे अथवा कुण्ड जैसे अंगों का ऊँचा अथवा गहरा आयाम सूचित होता है (elevation या depression)। मण्डलाकृतियों पर पद्मों की संख्या निर्भर है और वे त्रिदल से बढ़ते हुए सप्तविंशति दल तक पहुंचते हैं। मण्डलाकृतियों में सबसे भीतर वाला चतुरस्र पद्माकृति के लिये निहित है और उसके बाहर के आवरण क्रमशः पीठ, वीथी और द्वारशोभा कोणाकृतियों के लिये निहित है। पीठ की दिशाओं का अभिमुख भाग पीठगात्र और विदिशाओं का अभिमुख भाग

---

१. द्रष्टव्य—पौष्करसंहिता, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान संस्करण, सन् १९९१ और प्रकृति, खण्ड–३, इन्दिरा गांधी कला केन्द्र, नई दिल्ली, सन् १९९५

पीठकोण कहलाता है । विशाल मण्डलाकृतियों में पीठ का बाहरी आवरण उपपीठ से मण्डित होता है और उसके बारह रिक्त आवरण वीथी, भ्रमणी या गममार्ग कहलाता है । बौद्ध परम्परा में विशाल मण्डलाकृतियों के अन्दर द्वारों से प्रवेश और वीथी से प्रदक्षिण संचार किया जाता है, ऐसा वर्णनानुसार प्रतीत होता है । वीथी के बाहर का आवरणद्वय द्वार, उपद्वार, शोभा, उपशोभा, कोण इत्यादि अवयवों के लिये निहित है । दो आवरणों में द्वार के कण्ठ और उपकण्ठ तथा तीन आवरणों में कण्ठ, उपकण्ठ और आधार ये अवयव अवस्थित होते हैं । चारों दिशाओं में स्थित चारों द्वारों के उभय पार्श्व में शोभा, उपशोभा अथवा उपद्वार और उसके बाद चारों कोणों में चार बाह्य कोण रहते हैं । मण्डलाकृतियों के बाहर आवरण रेखाएँ लिखी जाती हैं । पौष्करसंहिता में मण्डलाकृतियों का वर्णन इतना शास्त्रसिद्ध है कि ३१×३१=९६१ कोष्ठों वाले पच्चीसवें मण्डल का वर्णन यद्यपि ग्रन्थपात के कारण लुप्त है, तथापि मण्डलों की विकसनशील योजना का अध्ययन करके उस मण्डलाकृति का पुनर्निर्माण करने में हमें सफलता मिली है । इसका रहस्य यह है कि उत्तरोत्तर वर्णित हर एक मण्डलाकृति भूमितीय दृष्टि से उसके पहले आने वाली सम और विषम संख्यावाली मण्डलाकृतियों से अंशतः तालमेल रखती है । लेकिन यह संकेत रंगसमायोजन के लिये पर्याप्त नहीं है । भूमितीय गणना के आधार पर ग्रन्थसंशोधन में कुछ लाभ होता है । इसका एक उदाहरण है—"क्षेत्रं द्वादशधा कृत्वा भवेत् शतचतुष्टयम्" । इस पंक्ति में व्याकरण-दृष्ट्या कोई गलती नहीं है, लेकिन १२×१२ से ४०० नहीं होते, केवल १४४ होते हैं । इसलिये द्वादशधा के स्थान पर 'द्विर्दशधा' ऐसा पाठशोधन करना चाहिये ।

रंग-संयोजन

पौष्करसंहिता में रंग के लिये वर्ण, राँग, रंजन ऐसे शब्द प्रयुक्त किये गये हैं और रंग-समायोजन के लिये लेपयेत्, रञ्जयेत् इत्यादि क्रियापद और रंग मिटाने के लिये मर्दयेत्, मार्जयेत्, लोपयेत् ऐसे क्रियापद प्रयुक्त किये हैं । पौष्करसंहिता में प्रमुख वर्ण चार माने गये हैं, यथा— सित, रक्त, पीत और कृष्ण । इन्हीं के पर्याय शब्द हैं— श्वेत या शुक्ल, कृष्ण या असित इत्यादि । इसके अतिरिक्त नील, हरित और मिश्र रंगों में अरुण, रक्तारुण, पाण्डुरक्त, गोक्षीरपाण्डु इत्यादि प्राप्त होते हैं । किसी रंग का प्रकर्ष उज्ज्वल शब्द से और

अपकर्ष गुण शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है । यथा— रक्तोज्ज्वल, पाण्डरोज्ज्वल और पाण्डरगुण । रंगों का अप्रत्यक्ष निर्देश किसी फूल, पक्षी, रत्न इत्यादि उपमानों से किया जाता है । रंग का निर्देश करते समय आभ, निभ, संकाश इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया जाता है । इसी संदर्भ में आकृति निर्देश के विपरीत 'आकार' शब्द का प्रयोग रंगनिर्देश के लिये होता है, यथा— मरकताकार । कुल मिला कर ४२ उपमानवाचक शब्दों का प्रयोग किया गया है, जिनसे २२ रंगछटाएं निर्दिष्ट होती हैं । पांचरात्र आगम में जो चार मूल वर्ण माने गये हैं, उनको सितादिचतुष्क कहते हैं । यही चार रंग चातुर्वर्ण्य, चतुर्व्यूह और चतुर्युगों के निर्देश के लिये प्रयुक्त किये गये हैं । रंगसमायोजन के लिये ये चार रंग सामान्य जनों के लिये रंगोली, कुमकुम, हल्दी और अबीर (बुक्का) के रूप में उपलब्ध हैं । मण्डललेखन के लिये "यथावित्तानुसारतः" इस नियम का अवलम्बन किया है ।

भूमौ हेमशलाकाद्यैर्वित्ताभावात् प्रयत्नतः ।
पूजयेत् फलपुष्पाद्यैरारण्यैर्नित्यसंभवैः ॥

यह पौष्करसंहिता का वचन इसकी पुष्टि करता है । इसी संदर्भ में कुछ अनुसन्धाताओं की समस्याओं का निर्देश भी आवश्यक है । यथा— राजाश्म या राजोपल शब्द है । इसका अर्थ कोशों में उपलब्ध नहीं है । केवल रंगसंगति का विचार करके इसका रंग कृष्ण वर्ण निश्चित करके पुनरारेखन में प्रयोग किया है । रंगो के सुसंवाद (सिमेट्री) और विसंवाद का भी अन्तर्भाव किया है ।

पौष्करसंहिता में वर्णित मण्डलाकृतियों का पुनरालेखन करते समय "नामूलं लिख्यते किञ्चित्" इस तत्त्व का अवलम्बन किया है । जहाँ पर वर्णन उपलब्ध नहीं, वह अंश रिक्त रखा है । पच्चीसवें मण्डल का वर्णन लुप्त होने पर भी आन्तर रचना के आधार पर उसका पुनरारेखन संभव हुआ और बाद में पौष्करसंहिता की भाषा शैली का अनुकरण करते हुए उसका वर्णन श्लोकबद्ध करने में सफलता मिली । इस प्रकार पौष्करसंहिता में अनुसन्धान योग्य बहुविध आयाम लिए, उन्हें साकार करके विद्वज्जनों के समुख परिशीलनार्थ प्रस्तुत किया है ।

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रो० आपटे जी ने बहुत ही सुन्दर निबन्ध प्रस्तुत किया । हमारे विभाग में जो दुर्लभ ग्रन्थ शोध योजना का कार्य चल रहा है, उसमें अनेक समस्याएं उपस्थित होती है । उनमें से एक है, इन पारिभाषिक शब्दों को समझने की । मण्डल सम्बन्धी उन समस्याओं को आपने सुलझा कर हम लोगों को अत्यन्त अनुगृहीत किया है । प्रातःकाल यह चर्चा चली थी कि मन्दिर निर्माण की पद्धति और मण्डल निर्माण की पद्धति शायद समान है । मैं ढाकी साहब से निवेदन करूँ कि इस प्रसग में यदि कुछ समानता हो तो आप हमें बतलावें ।

प्रो० पी० पी० आपटे

ढाकी साहब ने जो सुबह पूछा था, उसके बारे में यह कहा जा सकता है कि द्वारशोभा, उपशोभा इत्यादि मण्डल के अवयवों का यहाँ पर वर्णन आया है और पारमेश्वरसंहिता इसी पौष्करसहिता की अर्थोपपादिका है, ऐसा उसकी प्रस्तावना में दिया है । उसमें श्रीरंगम् मन्दिर के देवताओं का वर्णन है और उधर द्वा शो उ इत्यादि संक्षिप्त शब्दों में द्वार, शोभा उपशोभा, उपद्वार आदि शब्दो का प्रयोग वहां आया है । मतलब पारमेश्वरसहिता एक ऐसी संहिता है, जो यह द्विमिति मण्डलाकृतियों का, त्रिमिति मन्दिरों से सम्बन्ध जुटाती है और उसी सहिता में एक जगह पर कुछ पर्वों मे चार शालाओं का पूजन-विधान है । शाला तो त्रिमिति है, तो उसमें यह वर्णन आया है कि अघनिर्मोचन शाला, षडध्व शाला, धर्माख्य शाला, सर्वतोभद्र शाला, यह पहले जो चार मण्डल हैं, यही नाम पारमेश्वरसंहिता में चार शालाओं के लिये कहे गये हैं । मतलब इन मण्डलों का वहां से कुछ सम्बन्ध होगा, लेकिन विस्तृत स्वरूप में यह मिलता नहीं है । यह जो मैंने बताया कि यह डायगनल बाईसेक्शन करके एक प्रकार का एलेवेशन या डिप्रेशन बताया गया होगा और एक इसका पाठभेद है । "तत्र मूर्त्यासनं मध्ये" यहाँ पर मूर्त्यासन, यह जो पद्म है, पद्म का जो आसन है, तो उसमें मुख्यासन प्रमुख पाठ है । लेकिन उसका एक पाठभेद "मूर्त्यासनम्" आया है । मतलब शायद बीच में थोड़ा एलेवेटिड प्लेटफॉर्म होगा, जहाँ पर कुछ मूर्ति रखी जाती होगी और उसकी पूजा होती होगी बौद्ध परम्परा में । प्रो० टुची की किताब मे इसका संकेत है शायद । १९३३ में पेकिंग में तब पचेनलामा या तबके जो लामा थे वह गये थे और वहाँ पर एक बड़ा मण्डल निकाला हुआ था । उसके जो चित्र हैं, उससे ऐसा दिखाई देता है कि बीच में वह थोड़ा एलेवेटिड प्लेटफॉर्म हो और बाहरी आवरण रेखा है वहाँ पर भी कुछ पेन्टिंग जैसा दिखाई देता है तो शायद इसमें कोई टु डिमेन्शनल नहीं तो, थ्री डिमेन्शनल, कोई पार्शल पोर्शन होगा, ऐसा लगता है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

अब आपकी परिभाषाओं पर मैं थोड़ी चर्चा करूँगा । द्वारशोभा का प्रयोग उत्तर के शास्त्रों में तोरण के अर्थ में हुआ है और दक्षिण के द्रविड़

वास्तुशास्त्रों में प्रतोली के ऊपर एक शाला याने वलभी शिखर के लिये है । यहाँ जो आपने अर्थ किया है या इससे वहां जो अभिप्रेत है, इस हिसाब से वास्तुशास्त्र में जिसको अट्टालक कहते हैं, द्वार के बगल में, वह है । आपके अंग्रेजी वर्शन में जिसको आधार (सॅपोर्ट) कहा है, उसको अंग्रेजी में बट्रिस कहते है । हम गॉथिक आर्किटेक्चर वगेरे मे बगल में जो रखते हैं, उसको बट्रिसिंग करने के लिये । अब जो चतुर्दिग् में शाला की बात है, वह चतुर्दिशा में भद्र जहां रहते है, वह मुख्य, सेन्ट्रल ऑफसेट के ऊपर वलभी बनाने के लिये है । वलभी और शाला पर्याय रूप हैं और शाला का यूँ तो अर्थ उत्तर में है, इसको हम अंग्रेजी में नेव कहते है । लम्बी, क्योंकि उसके ऊपर का जो शिखर होता है, वह वलभी छन्दज होता है । इसीलिये द्राविड़ी शास्त्रों में शाला कह दिया, यानी शिफ्ट ऑफ मीनिंग । शाला तो ऊपर का खपरा नहीं है, बल्कि आकार का नाम है । तो शाला का अर्थ वलभी से है । वलभी तो आपने देखी होगी चित्रों में । डाइग्रैम में तो वलभी दिखायेंगे नहीं । इसीलिये थर्ड डिमेन्शन इज़ इम्प्लाइड् हीयर । इसके बिना नहीं हो सकता, क्योंकि उसे रिप्रेज़ेन्ट नहीं कर सकते इसमें । इसीलिये इन्होंने ऐसा बताया । मरकत शब्द आया है, न कि मरकट । पन्ना मरकत शब्द से संस्कृत में, फारसी और ग्रीक मरकतौस् उससे आया । क्योंकि इसको मरकत के अर्थ में पन्ना और तार्क्ष्य कहा गया है ।

प्रो० पी० पी० आपटे

मरतक ऐसा कॅन्सिस्टेन्ट्ली इसमें आता है, मरकत नहीं आया, मरतक आया है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

लेकिन मरकत ज्यादा सही है, क्योंकि ग्रीक या पर्शियन में भी ऐसे ही यह शब्द उल्टा–सुल्टा हो गया होगा, लिपि दोष के कारण है ।

प्रो० पी० पी० आपटे

आपने जो अभी बताया, इसके बारे में हमारे अनुसन्धाताओं की जो कुछ सीमाए हैं, उसमें हम तो यह कह सकते है कि यहाँ पर वर्णन आया है ग्रन्थगत और उसका हम आधुनिक सामग्री लेकर उसका रि–कन्स्ट्रक्शन किया है और जो–जो वर्णन इन्टरप्रेट हुआ वैसे–वैसे किया है और उनके जो शब्द हैं जैसे समझे वैसे यहा पर रखे है और उसका यदि कुछ आर्किटेक्चरल पोटेन्शियल होगा या नहीं इस पर तो हम काफी हिचकिचाहट करते हैं ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

आपकी बात सही है । इसमें एक और बात यह है कि यह आपने मुख्यासन जो कहा, अब वहाँ नन्दीशवर द्वीप जो जैनागमों में वर्णित है, उसके मध्यभाग में मणिपीठिका का उद्भव करके उसके ऊपर चतुर्मुख 'जिन' की प्रतिमा बनाने का सवाल है और आगे मानस्तम्भ वगैरह का वर्णन है, उसमें यह मणि पीठिका का समानान्तर रूप है ।

प्रो० पी० पी० आपटे

अब यह स्वस्तिक का आकार है, यहाँ पर द्वार, शोभा जैसे पोर्शन्स यह ऐसे सटे हुए है कि उसकी जो सीमा रेखा है, और यहाँ पर यदि एक दर्पण रखा जाये तो उसके पूरे यह प्रतिबिम्ब आ जाते है, अर्थात् स्वस्तिक की सिमेट्री है, वह इस प्रकार की उसका प्रतिबिम्ब यहाँ है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

चतुर्दिशा मे मिलाप हो जाने से स्वस्तिक पूरा बन जायगा ।

प्रो० पी० पी० आपटे

आधार के बारे में आपने कहा, बाहरी आवरण जब तीन पंक्तियों का होता है, तो इस द्वार को कण्ठ कहते है, उपकण्ठ कहते है । बाहर के हिस्से को आधार कहा है ।

डॉ० एम० ए० ढाकी

अब प्रबन्धों में उपकण्ठ का अर्थ तालाब का किनारा होता है । यहां बाहरी रेखा को उपकण्ठ कहा गया हैं । प्राकार की बाहर की रेखा को उपकण्ठ कहते हैं ।

प्रो० पी० पी० आपटे

अब सिमेट्री के बारे मे मै इतना कहना चाहता हूँ कि यहाँ पर जो पीठ है और पीठ के जो हिस्से हैं, इनमें एक ईशान कोण जो है, वह सित है, सित रक्त पीत और वृषभ तथा फिर यह जो पीठगात्र है और उत्तर पीठ में उसमें सित रक्त पीत कृष्णा हैं, मतलब यह है कि तीन सित पोर्शनस को अलग रखा है । पीत, कृष्ण और रक्त यानी एसिमिलेशन करते समय भी उन्होंने एक कोलेशन किया है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मै समझता हूँ यह एक ऐसा विषय है कि आज का पूरा समय हम लोग इसी में लगा सकते है, किन्तु समय की एक सीमा होती है । अब मै पाठक जी से निवेदन करता हूँ कि वह अपना निबन्ध प्रस्तुत करें ।

प्रो० पाठक का यह निबन्ध और उस पर हुआ विद्वानों का विचार-विनिमय बौद्ध तन्त्रों के खण्ड में प्रकाशित किया जा चुका है ।

●

स्मार्त एवं शाक्त तन्त्र

दिनांक १० फरवरी को पूर्वाह्ण में सम्पन्न हुए सत्र में दो निबन्ध पढ़े गये । इनमें से पहला स्मार्त तन्त्र से और दूसरा पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत से सम्बद्ध था । "दश महाविद्या और स्मार्ततन्त्र परम्परा" शीर्षक निबन्ध के लेखक इलाहाबाद स्थित गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के प्रवाचक डॉ0 किशोरनाथ झा थे । इन्होंने स्वयं उपस्थित होकर अपना निबन्ध पढ़ा और विचार-विमर्श में भाग लिया । "पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत" शीर्षक निबन्ध यद्यपि शैव तन्त्र से संबद्ध था, तो भी अत्यधिक व्यस्ततावश अन्य शैव तन्त्रों के साथ इसका वाचन नहीं हो सका था । इस निबन्ध के लेखक प्रस्तुत कार्यशाला के संयोजक पं0 व्रजवल्लभ द्विवेदी थे । दोनों निबन्धों का वाचन हो जाने के बाद उन पर एक साथ विद्वानों का विचार-विनिमय हुआ । इसमें प्रो0 नथमल टाटिया, प्रो0 एन0 आर0 भट्ट, प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी, डॉ0 किशोरनाथ झा, प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी, डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर, डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी, आचार्य नवङ् समतेन, डॉ0 शीतलाप्रसाद उपाध्याय, डॉ0 मधु खन्ना, डॉ0 गोकुलचन्द्र जैन, डॉ0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय, डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी, डॉ0 रामरक्षा त्रिपाठी, प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक, श्री पेमा तेनजिन आदि विद्वानों ने भाग लिया ।

पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत के साथ कौल और क्रम मत पर भी निबन्ध तैयार कराने की योजना थी । किन्तु जिस विद्वान् को यह कार्य सौंपा गया, अस्वस्थतावश वे इस कार्य को पूरा न कर सके । इसके अभाव में शाक्त मत पर प्रकाश डालने का पूरा भार प्रसिद्ध तान्त्रिक उपासक तथा साहित्यशास्त्र के उद्भट विद्वान् पण्डित बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते पर आ पड़ा । अस्वस्थ होते हुए भी इन्होंने दिनांक १० फरवरी के अपराह्णकालीन सत्र में स्वयं उपस्थित होकर "निगम, आगम तथा उनकी शाखाएं" शीर्षक अपना निबन्ध पढ़ा और विचार-विनिमय में भाग लिया । विचार-विनिमय में भाग लेने वाले अन्य विद्वान् थे डॉ0 शीतलाप्रसाद उपाध्याय, डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी, डॉ0 मधु खन्ना, प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी, प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक, पण्डित हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती, डॉ0 मार्क डिच्कोफस्की, डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर और प्रो0 एन0 आर0 भट्ट ।

इसी सत्र में प्रो0 जे0 सी0 सिकदर का जैनतन्त्र की साधना पद्धति पर एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत हुआ । प्रो0 सिकदर स्वयं उपस्थित न हो सके, अतः इस संस्थान के सम्पादक श्री लोसंग नोरबू शास्त्री ने उसका वाचन किया । इस निबन्ध का और उस पर हुए विचार-विनिमय का विवरण जैन तन्त्र सम्बन्धी खण्ड में दिया जा चुका है ।

दस महाविद्या और स्मार्ततन्त्र परम्परा

-डॉ0 किशोरनाथ झा-

देवीभागवत में कहा गया है कि सभी द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) सबसे पहले शाक्त हैं, न कि शैव या वैष्णव । क्योंकि प्रत्येक द्विज आदिशक्तिस्वरूपा वेद की जननी गायत्री की उपासना

अवश्य करता है[१]। यही आदिशक्ति ईश्वर की ईशना शक्ति तथा ब्रह्म की माया कहलाती है और सृष्टि का मूल कारण है। अथर्वशीर्ष उपनिषद् में वर्णित है कि देवताओं ने देवी से उनका परिचय पूछा, तो उन्होंने परब्रह्म के रूप में, अर्थात् सृष्टि के मूल कारण के रूप में अपना परिचय दिया और अपने को प्रकृतिपुरुषात्मक, जड़चेतनात्मक इस जगत् के उद्भव का कारण बताया[२]। महाकालसंहिता के सुधाधारा स्तोत्र तथा सिद्धितत्त्व स्तोत्र में भी आदिशक्ति का यही स्वरूप वर्णित है—

अचिंन्त्यामिताकारशक्तिस्वरूपा प्रतिव्यक्त्यधिष्ठानसत्तैकमूर्तिः ।
गुणातीतनिर्द्वन्द्वबोधैकगम्या त्वमेका परब्रह्मरूपेण सिद्धा ॥
× × × ×
या व्याप्य शक्त्या निजया जगन्ति विष्टभ्य भूतानि तथाखिलानि ।
वर्वर्ति सर्वोपरि चित्प्रकाशा सा गुह्यकाली परिपातु विश्वम् ॥

दुर्गासप्तशती की शक्रादिस्तुति में भी इसका संवाद मिलता है—

देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निःशेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या ।

शङ्करभगवत्पाद ने सौन्दर्यलहरी के प्रथम पद्य में इस ओर संकेत किया है—

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।

आदिकाल से ही साधक-आराधक अपनी रुचि तथा क्षमता के अनुसार निराकारा चिन्मयी इस आदिशक्ति के अनन्त रूपों की कल्पना कर इनके उन विविध रूपों की आराधना करते आ रहे हैं। कुलार्णवतन्त्र में निराकार ब्रह्म के विषय में कही गयी बात यहाँ भी लागू होती है—

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः ।
उपासकानां कार्यार्थे ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

---

१. सर्वे शाक्ता द्विजाः प्रोक्ता न शैवा न च वैष्णवाः ।
आदिशक्तिमुपासन्ते गायत्री वेदमातरम् ॥ (११.२१.६)

२. सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः । काऽसि त्वं महादेवीति । साऽब्रवीत्–अहं ब्रह्मस्वरूपिणी, मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगदित्यादि (७.१) ।

महाकालसंहिता में भी स्पष्ट कहा गया है कि निर्गुणा निराकारा शरीर रहिता एवं रूपरहिता भी भगवती चिन्मयी शरीर का परिग्रह कर सगुणा तथा आकृतिमती होती है[१]।

यही कारण है कि [२]आगमों में इनके विविध रूपों की उपासना निर्दिष्ट है। सृष्टि की मर्यादा की रक्षा के लिये शिष्टानुग्रह के साथ दुष्टनिग्रह भी अपेक्षित होता है। अतः यही एक आदिशक्ति सौम्य तथा उग्र दोनों ही रूपों में देखी जाती है।

सौम्यस्वरूपमपहाय करालरूपं या दैत्यदानववधाय बिभर्ति गुह्या।
सा नः सदा वसतु चेतसि वाचि काये तापत्रयप्रबलपावकवारिधारा[३]॥

सर्वत्र आगमों में प्रतिपादित है कि सौम्यस्वरूप की परम अवधि भगवती त्रिपुरसुन्दरी है और विकराल रूप की परम अवधि भगवती काली।

सौम्यानां कोटिमूर्तीनां सौन्दर्यमयताजुषाम्।
या मूर्तिर्मम विख्याता नाम्ना त्रिपुरसुन्दरी॥
सर्वासामेव मध्ये सा विज्ञेया परमावधिः।
× × × × × ×
सतीषु तासु घोरासु मूर्तिषु प्रार्थितासु मे।
नहि कामकला काली सदृश्युग्रा जगत्त्रये॥
उग्राणां मम मूर्तीनामियं हि परमावधिः[४]।

जैसे पुराणों में भगवान् विष्णु के दस मुख्य अवतार प्रसिद्ध हैं, इसी तरह आगमो मे इस चिन्मयी आदि शक्ति के भी दस अवतार दस महाविद्याओं के रूप में माने गये हैं। दस दिशाओं में भगवती आदिशक्ति का प्राकट्य ही 'दस महाविद्या' कहलाती हैं।

---

१. निर्गुणा सगुणा जाता निराकारापि साकृतिः।
अदेहापि सदेहाऽभूदरूपा रूपधारिणी॥ (म. सं., गु. ख. २.२६)

२. आगमादिपुराणेषु वाः काश्चिच्छिवशक्तयः।
श्रूयन्ते वाथ दृश्यन्ते मूर्तयो हि ममैव ताः॥
सुरैर्भवदिदृक्षार्थं तत्र काश्चन मूर्तयः।
मयैव निर्मिता देवाः सौम्योग्राश्चित्स्वरूपया॥ (म. सं. का. ख. १४.२२-२३)

३. म. सं. सिद्धितत्त्वस्तोत्र।

४. द्रष्टव्य—म. सं. कामकला खण्ड, पटल १४, पद्य २५-२६, ३१-३२

चामुण्डातन्त्र में इन महाविद्याओं का जो परिचय मिलता है, वही अधिक प्रचलित है । इसके अनुसार काली, तारा, त्रिपुरसुन्दरी, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगलामुखी, मातङ्गी और महालक्ष्मी महाविद्या कहलाती हैं, इन्हें सिद्धि विद्या भी कहा जाता है, क्योंकि ये देवताओं की उपासिता होने पर शीघ्र अभीष्ट की सिद्धि करती हैं[1] । शक्तिसङ्गमतन्त्र में भी इसकी यथावत् पुष्टि की गई है—

> काली तारा छिन्नमस्ता सुन्दरी वगला रमा ।
> मातङ्गी भुवना सिद्धिविद्या च भैरवी तथा ॥
> धूमावती च दशमी महाविद्या दश स्मृता ।

शाक्तानन्दतरंगिणी में उद्धृत मालिनीविजयतन्त्र के वचन इससे थोड़ा सा परिवर्तित नामों का निर्देश करते हैं । इसमें दस महाविद्या से काली, नीला, महादुर्गा, त्वरिता, छिन्नमस्तका, वाग्वादिनी, अन्नपूर्णा, प्रत्यङ्गिरा, कामाख्यावासिनी बाला एवं शैलवासिनी मातंगी का परिग्रह किया गया है[2] । किन्तु इन देवताओं की प्रसिद्धि महाविद्या रूप में नहीं हुई, ऐसा प्रतीत होता है ।

दस से अधिक महाविद्याओं का विवरण भी तन्त्र ग्रन्थों में दिया गया है । शक्तिसंगमतन्त्र में विरूपाक्ष के अनुसार त्रयोदश महाविद्याएँ स्वीकृत हैं[3] ।निरुत्तरतन्त्र में अष्टादश महाविद्याओं की चर्चा है[4] । महाकालसंहिता में इक्यावन महाविद्याओं का उल्लेख है[5] । किन्तु प्रसिद्धि चामुण्डातन्त्र में अभिहित दश महाविद्याओ की ही है ।

---

१. काली तारा महाविद्या षोडशी भुवनेश्वरी ।
भैरवी छिन्नमस्ता च विद्या धूमावती तथा ॥
बगला सिद्धिविद्या च मातङ्गी कमलात्मिका ।
एता दश महाविद्याः सिद्धिविद्याः प्रकीर्तिताः ॥

२. काली नीला महादुर्गा त्वरिता छिन्नमस्तका ।
वाग्वादिनी चान्नपूर्णा तथा प्रत्यङ्गिरा पुनः ।
कामख्यावासिनी बाला मातङ्गी शैलवासिनी ॥ (शाक्तानन्दतरंगिणी, उल्लास ३)

३. द्रष्टव्य—शक्तिसंगमतन्त्र, ताराखण्ड ११.३

४. द्रष्टव्य—निरुत्तरतन्त्र, परिच्छेद १५

५. द्रष्टव्य—महाकालसंहिता कामकलाखण्ड ८.२०१–२०१

महाभागवतपुराण में कहा गया है कि इस आदिशक्ति महादेवी की यद्यपि बहुत सी मूर्तियाँ प्रसिद्ध हैं, तथापि उनमें दशमहाविद्या के रूप में विख्यात उनकी मूर्तियाँ अधिक उत्कृष्ट है । ये महाविद्याएँ उपासिता होकर शीघ्र ही भक्तों की कामना पूरी करती हैं[1] ।

इन महाविद्याओं के आविर्भाव के प्रसंग में महाभागवतपुराण के अष्टम स्कन्ध में एक रोचक कथा कही गयी है[2]—

दक्ष प्रजापति के द्वारा आयोजित यज्ञ में भाग लेने के लिये अनाहूता भगवती सती ने जब भगवान् शिव से अनुमति मांगी, तो शिव ने कहा कि तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं है, अपमान हो सकता है । प्रजापति दक्ष ने जान बूझकर ही तुम्हें आमन्त्रित नहीं किया है । किन्तु भगवती सती ने जाने के लिये जब अधिक हठ किया, तो रुष्ट होकर शिवजी ने कहा कि जब तुम अपने ही मन का करना चाहती हो, तो जो चाहो सो करो, फिर मुझसे पूछने की क्या जरूरत थी[3] । इस पर भगवती भी रुष्ट हो गई । भगवती ने सोचा कि भगवान् शिव पत्नी के रूप में मुझे पाकर मेरे यथार्थ स्वरूप को भूल गये हैं । दर्प से ग्रस्त इनको तथा अपने पिता को छोड़कर कुछ समय तक मैं स्वेच्छा से अपने असली रूप में रहूँगी[4] ।

भगवती सती दश दिशाओं में अपना भयंकर रूप धारण कर खड़ी हो गई । फिर तो भगवान् शिव जिस ओर भी देखते देवी का भयानक रूप ही दिखाई देने लगता । अन्त मे वे आँख मूँदकर खड़े हो गये । कुछ क्षणों के बाद पुनः आँखें खोलने पर देखते है कि स्थिति वही है । अन्ततः शिव जी ने जिज्ञासा की कि यह विकराल रूपा श्यामवर्णा आखिर तुम हो कौन ? मेरी अर्धांगिनी देवी सती कहाँ है ? अब अवसर पाकर सती ने उत्तर दिया कि आप मुझे क्यों नही पहचान रहे हैं, मैं सती ही हूँ । मैं ही इस चराचर

---

१. एताः सर्वाः प्रकृष्टास्तु मूर्तयो बहुमूर्तिषु ।

२. पण्डितवरेण्य चक्रेश्वर दलै प्रणीत शाक्तदर्शन से संगृहीत ।

३. जानामि वाग्बहिर्भूतां त्वामहं दक्षकन्यके ।
यथारुचि कुरु त्वं च ममाज्ञां किं प्रतीक्षसे ॥

४. त्यक्त्वैनमपि दर्पिष्ठं पितरं च प्रजापतिम् ।
संस्थास्यामि कियत्कालं स्वस्थानं निजलीलया ॥

जगत् की सृष्टि, संहार और पालन किया करती हूँ । आपकी पत्नी के रूप में मैं गौरवर्णा थी । दशों दिशाओं में मेरी ही ये दश मूर्तियाँ हैं । आप भयभीत न हों । मैं इस सृष्टि का मूल कारण हूँ, अत एव आदिशक्ति के रूप में जानी जाती हूँ[1] । इसका संकेत महाकालसंहिता के कामकला खण्ड में भी मिलता है । भगवती ने यहाँ कहा है कि राक्षस आदि के वध के लिये मैं भयानक रूप धारण करती हूँ और परशिव को भी मोहने के लिये सौम्य रूप धारण करती हूँ[2] । इन दस महाविद्याओं की स्थिति शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है— शिवजी मध्य में विराजमान हैं, उनके संमुख उत्तर दिशा में काली, ऊपर की ओर तारा, पूर्व में छिन्नमस्ता, पश्चिम में भुवनेश्वरी, दक्षिण में बगलामुखी, अग्निकोण में धूमावती, नैर्ऋत्य कोण में त्रिपुरसुन्दरी, वायुकोण में मातंगी, ईशानकोण में षोडशी (कमला) और अधोभाग में भैरवी विराजमान है[3] ।

---

१. अहं तु प्रकृतिः सूक्ष्मा सृष्टिसंहारकारिणी ।
अभवं त्वद्वनितायै त्वदर्थं गौरदेहिका ॥
× × × × ×
दशदिक्षु महाभीमा या एता दशमूर्तयः ।
सर्वा ममैव मा शम्भो भयं कुरु महामते ॥

२. रक्षो दानवदैत्यानां मारणाय भयानकाः ।
सौम्याः परशिवस्यापि मोहार्थमुपपादिताः ॥ (१४.२४)

३. येयं ते पुरतः कृष्णा सा काली भीमलोचना ।
श्यामवर्णा तु या देवी स्वयमूर्ध्वे व्यवस्थिता ॥
सेयं तारा महाविद्या महाकालस्वरूपिणी ।
दक्षे सव्येतरेयं या विशेषातिभयप्रदा ।
इयं देवी छिन्नमस्ता महाविद्या महामते ।
वामेतरेयं या देवी सेयं तु भुवनेश्वरी ॥
पृष्ठतस्तव देव्येषा वगला शत्रुसूदिनी ।
वह्निकोणे तवेयं या विधवारूपधारिणी ॥
सेयं धूमावती देवी महाविद्या महेश्वरी ।
नैर्ऋत्यान्तरे या देवी स्वयं त्रिपुरसुन्दरी ॥
वायौ या तु महाविद्या सेयं मातङ्गनायिका ।
ऐशान्यां षोडशी देवी महाविद्या महेश्वरी ॥
अहं तु भैरवी भीमा शम्भो मा त्वं भयं कुरु ॥
× × × × ×
भक्त्या संभजतां नित्यं चतुर्वर्गफलप्रदाः ।
सर्वाभीष्टप्रदायिन्यः साधकानां महेश्वर ॥

साधकों की धारणा रही है कि चूँकि भगवती के ये स्वेच्छाकल्पित रूप हैं तथा इसे देखकर भगवान् शिव भी मोह में पड़ गये थे, अत एव यह उपासनैकसाध्या भगवती अपने उपासकों की सभी प्रकार की कामनाओं की शीघ्र सिद्धि प्रदान करती है और सिद्धिविद्या के रूप में प्रसिद्ध होती हैं । इन विद्याओं के मन्त्र प्रकारान्तर से या किसी प्रक्रिया के द्वारा सिद्ध नहीं किये जाते, अपि तु स्वतः सिद्ध हैं । केवल इनका गुरु के द्वारा उपदेश अपेक्षित है । इस कारण से भी ये महाविद्याएँ सिद्धिविद्या कहलाती हैं ।

तन्त्र ग्रन्थों में विष्णु के प्रसिद्ध दस अवतारों के साथ भी इन महाविद्याओं के अभेद की कल्पना की गयी है । यद्यपि इस कल्पना का कोई आधार निर्दिष्ट नहीं है, साथ ही सभी तन्त्र-ग्रन्थों में इस प्रसङ्ग में मतैक्य भी नहीं है, तथापि उद्देश्य तो सभी तन्त्रों का एक ही प्रतीत होता है । पौराणिक और आगमिक देवताओं में क्रमशः प्रधान कृष्ण और काली के ऐक्य प्रदर्शन में प्रायः बहुत तन्त्रों का मतैक्य है । महाकाल-संहिता कहती है कि सम्पूर्ण संसार की स्त्रियों के कामोन्माद के प्रशमन हेतु द्वापर में काली ने वंशीधारी कृष्ण का रूप धारण किया था[1] । तोडलतन्त्र में प्रतिपादित है कि तारा मीनावतार हैं, वगला कूर्मावतार हैं, धूमावती वराहावतार हैं, छिन्नमस्ता नरसिह हैं, भुवनेश्वरी वामन हैं, मातङ्गी राम हैं, त्रिपुरसुन्दरी परशुराम हैं, भैरवी बलभद्र हैं, महालक्ष्मी बुद्ध हैं, दुर्गा कल्कि भगवान् हैं और भगवती काली स्वयं श्रीकृष्ण हैं[2] । मुण्डमालातन्त्र में कहा गया है कि कालिका कृष्ण हैं, तारा राम हैं, भुवनेश्वरी वराह हैं, भैरवी नरसिह हैं, धूमावती वामन हैं, छिन्नमस्ता परशुराम हैं, कमला मीन

---

१. स्त्रीणा त्रैलोक्यजाताना कामोन्मादैकहेतवे ।
वशीधर कृष्णदेह द्वापरे सञ्चकार ह ॥ (म. स., गु. ख. १३.३४१)

२. तारा देवी मीनरूप वगला कूर्ममूर्तिका ।
धूमावती वराह स्याच्छिन्नमस्ता नृसिंहका ॥
भुवनेश्वरी वामनः स्यान्मातङ्गी राममूर्तिका ।
त्रिपुरा जामदग्न्य स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी ॥
महालक्ष्मीर्भवेद् बुद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ।
स्वय भगवती काली कृष्णमूर्तिसमुद्भवा ॥
इति ते कथित देवावतार दशमेव हि ॥ (तोडलतन्त्र, उल्लास १०)

भगवान् हैं, वगलामुखी कूर्म भगवान् हैं, मातङ्गी भगवान् बुद्ध हैं और त्रिपुरसुन्दरी कल्कि भगवान् हैं[1] ।

आगमरहस्य में थोड़ा सा यहाँ परिवर्तन देखा जाता है—काली कृष्ण है, इन्होंने कभी कृष्ण का रूप धारण कर ऐसी बंशी बजाई कि सम्पूर्ण संसार ही मोहित हो उठा था । तारा राम है, भुवनेश्वरी वामन है, सुन्दरी परशुराम है, भैरवी बलराम है, छिन्नमस्ता नरसिंह है, वगलामुखी कूर्म भगवान् है, कमला बुद्ध भगवान् है और धूमावती मीन भगवान् है । यहाँ मातङ्गी किस अवतार से संबद्ध है, यह नहीं कहा गया तथा दुर्गा को कल्कि भगवान् का रूप माना गया है[2] ।

इन दस महाविद्याओं की प्रतिमाएँ पृथक् पृथक् मन्दिरों में महाराज दरभंगा ने (स्वनामधन्य रमेश्वर सिंह बहादुर ने) अपने आलय में स्थापित की हैं । आज भी उनकी सविधि पूजन की व्यवस्था मिथिला के राजनगर में देखी जा सकती है । एक ही स्थान पर इस प्रकार से एकत्र दस महाविद्याओं के मन्दिर एवं उनकी प्रतिमाएँ प्रायः अन्यत्र उपलब्ध नहीं हैं ।

प्राचीनकाल से ही मिथिला में प्रायः प्रत्येक घर में इन्हीं दस महाविद्याओं में से किसी एक की प्राणप्रतिष्ठापूर्वक स्थापना एवं कुलदेवता के रूप में आराधना होती आ रही है । घर के एक भाग में प्रायः पूर्व-दक्षिण कोण में मिट्टी की पीड़ी बनाई जाती है

---

१. कृष्णस्तु कालिका साक्षाद् राममूर्तिश्च तारिणी ।
वराहो भुवना प्रोक्ता नृसिंहो भैरवेश्वरी ॥
धूमावती वामनः स्याच्छिन्ना भृगुकुलोद्भवः ।
कमला मत्स्यरूपः स्यात् कूर्मस्तु वगलामुखी ॥
मातङ्गी बौद्ध इत्येषा षोडशी कल्किरूपिणी ॥ (पुरश्चर्यार्णव, तरङ्ग १)

२. कदाचिदाद्या ललिता पुंरूपा कृष्णविग्रहा ।
वेणुनादसमारम्भादकरोद् विवशं जगत् ॥८७४॥
कदाचिदाद्या श्रीतारा पुंरूपा रामविग्रहा ।
समुद्रनिग्रहादीनि कुर्वाणा ख्यातिमागता ॥८७५॥
छिन्नमस्ता नृसिंहः स्याद् वामनो भुवनेश्वरी ।
जामदग्न्यः सुन्दरी स्याद् मीनो धूमावती भवेत् ॥८७६॥
वगला कूर्ममूर्तिः स्याद् बलभद्रस्तु भैरवी ।
महालक्ष्मीर्भवेद् बौद्धो दुर्गा स्यात् कल्किरूपिणी ॥८७७॥
(आगमरहस्य, पूर्वार्ध, पृ. ८०-८१)

यहाँ मातङ्गी के स्थान पर दुर्गा को लिया गया है ।

और उस पीढ़ी के सामने दीवाल पर सिन्दूर से अष्टदल कमल चित्रित कर उसे छोटे से रेशम के झालरदार चादर से सुशोभित किया जाता है । साथ ही 'गोसाँउनि' शब्द से उनका परिचय कराया जाता है । इनकी पूजा, घर की प्रधान महिला करती हैं । अदीक्षित स्त्री या पुरुष को इनकी पूजा का अधिकार नहीं होता ।

मिथिला में क्या स्त्री और क्या पुरुष, प्रत्येक व्यक्ति इष्टदेवता के रूप में इन्हीं दस महाविद्याओं में से किसी एक महाविद्या विशेष का मन्त्र दीक्षा के अवसर पर ग्रहण करता है और तभी वह कुलदेवता की आराधना का भी अधिकार प्राप्त कर लेता है । यहाँ प्राचीनकाल से ही संस्कार के रूप में इस दीक्षा को लिये जाने की प्रथा प्रचलित है । जैसे द्विजत्वलाभ के लिये उपनयन संस्कार की अनिवार्यता लोक एवं शास्त्र सिद्ध है, वैसे ही आगमिक उपासना हेतु दीक्षा भी मिथिला में अनिवार्य मानी गयी है । जैसे वेदाध्ययन एवं सन्ध्यावन्दन आदि कर्मों में उपनयन के बिना किसी का भी अधिकार नहीं होता, वैसे ही अदीक्षित व्यक्ति तान्त्रिक उपासना का अधिकारी नहीं होता । गौतमीयतन्त्र में इसका स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है[1] । अतः दीक्षा परम आवश्यक है । रुद्रयामल में कहा गया है कि अदीक्षित व्यक्ति द्वारा किये गये जप, न्यास तथा पूजा आदि पत्थर पर बोये गये बीज की तरह निष्फल हैं । अदीक्षित को न तो सिद्धि मिलती है और न तो उसकी सद्गति ही होती है । अतः प्रयत्न करके गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक होता है[2] । बृहत्तन्त्रसार कहता है कि धार्मिक कर्मों के अनुष्ठानरूप तपस्या और जप आदि का अधिकार दीक्षित होने पर ही मिलता है । अतः व्यक्ति चाहे जिस किसी भी आश्रम का हो, उसे प्रयास करके दीक्षा लेनी चाहिये । सभी प्रकार की दीक्षा का फल परम पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति है और इसके अविरोध से ही ऐहिक अभ्युदयों का लाभ भी संभव है[3] ।

---

१. द्विजानामनुपनीतानां स्वकर्माध्ययनादिषु ।
नाधिकारोऽस्त्यतः कुर्यादात्मानं शिवसंस्कृतम् ॥ (गौ. त., अ. ५)

२. अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः ।
न भवन्ति प्रिये तेषां शिलायामुप्तबीजवत् ॥
देवि दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत् ॥ (रुद्रयामल, उत्तरतन्त्र, परिच्छेद ३)

३. दीक्षामूलं जपं सर्वं दीक्षामूलं परं तपः ।

कुलार्णवतन्त्र कहता है कि स्पर्शमणि के सम्पर्क से जैसे लोहा सोना बन जाता है, उसी तरह दीक्षा के लेने से ही आत्मा शिवत्व को प्राप्त हो जाती है । दीक्षारूपी अग्नि में अपने कर्मों को जलाकर उपासक सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है और कर्मबन्धनों के छूट जाने पर वह शिवत्व को स्वतः ही प्राप्त कर लेता है[१] ।

आगमिक व्युत्पत्ति के अनुसार दीक्षा से दिव्य ज्ञान का लाभ एवं पापों का नाश होता है । अनेक तन्त्रों में इसका स्पष्ट प्रतिपादन देखा जाता है[२] । दीक्षा के माध्यम से गुरु अपनी चिन्मयी शक्ति शिष्य में समारोपित कर उसे प्रबुद्ध बनाता है । इससे शिष्य की आध्यात्मिक शक्ति उद्‌बुद्ध होती है और उसमें आत्मविश्वास एवं इच्छाशक्ति का विकास होता है—

विलोकयन् दिव्यदृष्ट्या तं शिशुं देशिकोत्तमः ।
आत्मस्थितं तच्चैतन्यं पुनः शिष्ये नियोजयेत्[३] ॥

साधना के क्षेत्र में विश्वास एवं गुरुपरम्परारूप सम्प्रदाय का अलग ही महत्त्व है । परशुरामकल्पसूत्र स्पष्ट कहता है कि सम्प्रदाय और विश्वास से सभी प्रकार की सिद्धि होती है[४] । यह विश्वास

दीक्षामाश्रित्य निवसेद् यत्र कुत्राश्रमे वसन् ॥
सर्वासामपि दीक्षाणां मुक्तिः फलमखण्डितम् ।
अविरोधाद् भवन्त्येव प्रासङ्गिक्यस्तु सिद्धयः ॥ (बृ. त. सा., पृ. ८)

१. रसेन्द्रेण यथा विद्धमयः सुवर्णतां व्रजेत् ।
दीक्षाविद्धस्तथैवात्मा शिवत्वं लभते प्रिये ॥
दीक्षाग्निदग्धकर्मासौ यावद् विच्छिन्नबन्धनः ।
गतस्तस्य कर्मबन्धो निर्जीवश्च शिवो भवेत् ॥
(प्राणतोषिणी में उद्‌धृत, द्वि. का. च. परि.)

२. (क) दिव्यज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापक्षयं यतः ।
तस्माद् दीक्षेति सा प्रोक्ता सर्वतन्त्रस्य संमता ॥
(प्राणतोषिणीतन्त्र, २ काण्ड, ४ परि.)

(ख) दिव्यभावप्रदानाच्च क्षालनात् कल्मषस्य च ।
दीक्षेति कथिता सद्भिर्भवबन्धनमोचनात् ॥
(कुलार्णवतन्त्र, उल्ला. १७)

(ग) "दद्याच्च दिव्यभावं क्षिणुयाद् दुरितान्यतो भवेद्दीक्षा" (प्रपञ्चसार, ५.३)

३. शारदातिलक, (५.९६) ।

४. सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः (१.९) ।

गुरु से विधिवत् दीक्षा लेने पर ही अन्तःकरण में स्थिर होता है । कुलार्णवतन्त्र इसका स्पष्ट प्रतिपादन करता है[१] ।

अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक साधना या उपासना के क्षेत्र में विश्वास के बिना एक कदम भी अग्रसर होना संभव नहीं है । गुरुवाक्य और शास्त्र वचनों में तो आँख मूंदकर विश्वास करना ही होगा, क्योंकि यहाँ बहुत से ऐसे विचार एवं आचार हैं, जिन्हें तर्क या विचार-विमर्श से नहीं समझा जा सकता । गुरु का उपदेश ही यहाँ प्रमाण होता है । अत एव गुरु का उपदेश-निर्देश ही साधना में प्रवर्तक होता है । परशुराम-कल्पसूत्र की वृत्ति में यह बात स्पष्ट कही गयी है—

शास्त्रैकगम्या ये ह्यर्था न तांस्तर्केण दूषयेत्[२] ।

यहीं पर सम्प्रदाय और विश्वास की परिभाषा भी मिलती है—

सम्प्रदायो गुरुपरम्परानुसरणम् । विश्वासो मन्त्रेषु फलसाधनत्व-विषयको निश्चयः[३] ।

इस दीक्षा के अनेक प्रकार तन्त्रों में वर्णित हैं । उपासना के द्वैविध्य से इसके पहले दो भेद प्रसिद्ध हैं—वैदिक और तान्त्रिक । गायत्री मन्त्र का ग्रहण वैदिकी दीक्षा है और दस महाविद्याओं में से किसी देवता का या आगमिक किसी देवता का मन्त्र-ग्रहण तान्त्रिकी दीक्षा है । मिथिला में द्विजों की दोनों ही प्रकार की दीक्षा देखी जाती है, किन्तु महिला की केवल तान्त्रिकी दीक्षा होती है । शारदातिलक एवं विश्वसारतन्त्र में दीक्षा के चार प्रकार कहे गये हैं—क्रियावती दीक्षा, कलावती दीक्षा, वर्णमयी दीक्षा और वेधमयी दीक्षा[४] । क्रियावती और कलावती दीक्षा में अनुष्ठान का विस्तार देखा जाता

---

१. यया दीक्षितमात्रेण जायन्ते प्रत्ययाः प्रिये ।
सा दीक्षा मोक्षदा ज्ञेया शेषास्तु जनसेविकाः ॥
(कुलार्णवतन्त्र, उल्लास-१४)

२. परशुरामकल्पसूत्रवृत्तिः (१.१०) ।

३. वही (१.९) ।

४. (क) चतुर्विधा तु सा दीक्षा ब्रह्मणा भाषिता पुरा ।
क्रियावती कलावती वर्णवेधमयी पुनः ॥
(प्राणतोषिणीतन्त्र, काण्ड २, परि. ४)

(ख) शारदातिलक ४.३१

है । पहली दीक्षा क्रियावती है । इसमें गुरु शिष्य के देहस्थित षडध्वों[१] का शोधन कर उसमें चैतन्य का संक्रमण कराता है । अत एव अभिषेक आदि विधियाँ यहाँ दीक्षा के अंग रूप में विहित्र हैं ।

दूसरी दीक्षा में विशेष बात यह है कि गुरु शिष्य के शरीर में पैर से लेकर शिर तक पांच कलाओं का न्यास और ध्यान करता है । पुनः संहार क्रम से शिव आदि का संयोजन कर शिष्य को दीक्षित करता है, अर्थात् इष्ट मन्त्र का दान करता है । पञ्चकला से यहाँ निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति और शान्त्यतीता विवक्षित है ।

वर्णमयी दीक्षा में गुरु शिष्य के शरीर के शास्त्रनिर्दिष्ट स्थानों में वर्णों का न्यास करता है और प्रतिलोमक्रम से उन सब वर्णों को तथा शिष्य के चैतन्य को परमात्मा में लीन करता है तब् उन वर्णसमूहों का तथा शिष्य के चैतन्य का न्यास शिष्य के शरीर में अनुलोमक्रम से कर देता है ।

वेधमयी दीक्षा मानस दीक्षा है । इस दीक्षा में गुरु ध्यान से ही शिष्य को दीक्षित कर देता है । गुरु के इस ध्यान का विवरण शारदातिलक के पंचम पटल में दिया गया है । इसका सारांश यह है— गुरु शिष्य के शरीर के मूलाधार में विद्यमान चतुर्दल कमल के मध्य त्रिकोण में कुलकुण्डलिनीरूपा शक्ति का ध्यान करता है । पुनः शिष्य के षट्चक्र का भेदन करके सहस्रार में अवस्थित परमशिव के साथ उसका सम्मेलन कराता है । अब गुरु की आज्ञा से शिष्य के इस तरह ध्यान करने पर उसके त्रिविध पाशों का छेदन हो जाता है और वह दिव्यभाव को प्राप्त कर शिव हो जाता है ।

यह वेधमयी दीक्षा सबसे अधिक उत्कृष्ट है, क्योंकि इससे शीघ्र सिद्धि मिलती है । इस दीक्षा से साधक को गुरु, देवता और मन्त्र में ऐक्य का भान होता है तथा उससे अपने को संबद्ध कर वह शिव हो जाता है । अन्य दीक्षा से इस अवस्था तक पहुँचने में समय लगता है । कुलार्णवतन्त्र में इसकी प्रशंसा की गई है—

---

१. ६ मार्ग है षडध्व । तीन शब्द के मार्ग हैं— वर्ण, पद और मन्त्र । पद वर्ण के आश्रित है और मन्त्र पद के आश्रित है । इसी तरह तीन अर्थ के मार्ग है— कला, तत्त्व और भुवन । यहाँ भुवन तत्त्व के और तत्त्व कला के आश्रित है ।

वेधदीक्षाकरो लोके श्रीगुरुर्दुर्लभः प्रिये ।
शिष्योऽपि दुर्लभस्तादृक् पुण्ययोगेन लभ्यते[१] ॥

यद्यपि दीक्षा के अनेक प्रभेद तन्त्रों में वर्णित हैं, जो उन उन ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं, तथापि सबका फल एक ही है और वह है पुरुषार्थ की सिद्धि—ऐहिक सुखभोग तथा अपवर्ग का लाभ । कहा गया है कि देवी के चरण-कमलों के आराधक के लिये भोग और मोक्ष हस्तगत ही रहता है[२] । अतः किसी एक पद्धति से किसी प्रकार की दीक्षा लेकर व्यक्ति आत्मोन्नति कर सकता है ।

अभिप्राय यह है कि भारतीय संस्कार आचार-विचार, धर्म-दर्शन एवं कर्म-ज्ञान से अनुप्राणित है । अत एव पुरुषार्थ-सिद्धि के उपाय के रूप में उपर्युक्त युग्मकों को समान भाव से लिया जाता है । इन युग्मकों में दाम्पत्य की तरह परस्पर घनिष्ठ संबन्ध है । आचारानुरूप विचार और विचारानुकूल आचार ही लोक-यात्रा में सर्वविध अभ्युदय का साधक होता है । पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्रसिद्धि रहने पर भी मुख्यतः वे दो ही हैं— काम और मोक्ष । संसार में जब तक जीवन है, सुख चैन बना रहे और संसार छूटे तो फिर सर्वदा के लिये ही छूटे । इसलिये पुरुषार्थ के साधक क्लेशसाध्य उपायो में भी लोगों की प्रवृत्ति देखी जाती है । दुःखमय इस संसार में बार बार कोई भी आना नहीं चाहता । चूंकि धर्म और अर्थ के बिना उन दोनों मुख्य पुरुषार्थों की सिद्धि संभव नहीं है, अतः मुख्य पुरुषार्थ के साक्षात् एवं प्रधान साधन होने के कारण इन दोनों को भी पुरुषार्थ मान लिया गया है । पुरुषार्थ के साधक उपायों के प्रदर्शन में ही प्रत्येक शास्त्र का पर्यवसान है । अत एव तन्त्र से भी यही फलित होता है । तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान आदि यदि भारतीय दर्शनों में निर्दिष्ट पथ से पुरुषार्थ के साधक हैं, तो इष्टदेवता का अनुग्रह भी आगमिक उपासना के माध्यम से उसके साधन के रूप में प्रसिद्ध है । साथ ही इस उपासना का प्रथम सोपान है दीक्षा, जिसका स्वरूप, व्युत्पत्ति, महत्त्व, प्रयोजन, प्रभेद एवं प्रक्रिया आदि आगमो में विस्तार से वर्णित हैं ।

---

१. कुलार्णवतन्त्र, उल्लास १४

२. देवीपदाम्भोजयुगार्चकाना भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ।

दीक्षा की प्रक्रिया लम्बी है । इसके लिये पहले गुरु एवं शिष्य का निर्वाचन अपेक्षित है । अनुभव के आधार पर कहा जा सकता है कि यहाँ प्राक्तन संस्कार भी काम करता है । पूर्व जन्म के संस्कार के बिना दीक्षा में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । देवताभेद, उपासनाभेद, सम्प्रदायभेद आदि का भी निदान यह प्राक्तन संस्कार ही है । प्रत्येक व्यक्ति मे रुचि का वैचित्र्य देखा जाता है—कोई भगवान् विष्णु का भक्त है, तो कोई शिव की आराधना में लगा हुआ देखा जाता है, कोई सूर्य की उपासना करता है, तो कोई शक्ति की आराधना में तत्पर है । जन्म-जन्मान्तर से जो जिस देवता की आराधना करता आ रहा है, वह इस जन्म में भी उसी देवता की उपासना मे प्रवृत्त होता है । अत एव कोई वैष्णव गुरु के पास जाता है, तो कोई शैव या शाक्त गुरु का वरण करता है ।

चूँकि गुरु का शिष्यत्व स्वीकार करके ही दीक्षा लेने की विधि शास्त्रों में निर्दिष्ट है, अतः गुरु का वरण आवश्यक है । साधक को जिस सम्प्रदायविशेष का आश्रयण इष्ट है, उस सम्प्रदाय के लब्धप्रतिष्ठ उपासक का ही गुरु के रूप में वरण करना चाहिये । गुरु भी स्वेच्छा से किसी भी देवता का मन्त्र किसी शिष्य को नहीं दे सकता । किस शिष्य के लिये किस देवता का मन्त्र उपयुक्त एवं फलप्रद होगा, इसका निर्णय शास्त्र में निर्दिष्ट उपायों से करना आवश्यक है । राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अकथहचक्र, अकडमचक्र, ऋणधनचक्र तथा सिद्धादिचक्र से इसका निर्णय करने का विधान है । बृहत्तन्त्रसार में इसका विचार विस्तार से किया गया है । गुप्तसाधनतन्त्र का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति के प्रसंग में मन्त्र के चार प्रकार सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध और अरि निर्दिष्ट हैं । इनमें से सुसिद्ध या सिद्ध क्रमशः प्रशस्त है, साध्य मन्त्र भी लिया जा सकता है, किन्तु अरिमन्त्र नहीं लेना चाहिये[1] । प्राणतोषिणीतन्त्र में कहा गया है कि साधक की आन्तरिक श्रद्धा जिस देवता पर हो, वह उस देवता की

---

१. सिद्धसाध्यसुसिद्धारिविचारपरिवर्जितः ।
नास्ति सत्यं महेशानि नक्षत्रादिविचारणा ॥
राश्यादिगणन नास्ति शङ्करेणेति भाषितम् ।
(शाक्तानन्दतरङ्गिणी, उल्लास २, में उद्धृत)

उपासना कर सकता है । उसके लिये उपयुक्त मन्त्र का शास्त्रीय प्रक्रिया से निर्णय अपेक्षित नहीं है[1] ।

तन्त्रों में दीक्षा से पहले ग्राह्य मन्त्र का संस्कार आवश्यक माना गया है । इसका विवरण गौतमीयतन्त्र में मिलता है—जनन, जीवन, ताडन, बोधन, अभिषेक, विमलीकरण, आप्यायन, तर्पण, दीपन और गोपन— मन्त्र के ये दश संस्कार होते हैं[2] । इन सबका विशेष परिचय बृहत्तन्त्रसार में वर्णित है । किसी किसी तन्त्र में मन्त्रों के दोषों के शोधन की प्रक्रिया भी निर्दिष्ट है, क्योंकि छिन्न आदि अनेक मन्त्र-दोष तन्त्रों में कहे गये हैं । मन्त्र में चैतन्य लाने की विधि भी तन्त्र-ग्रन्थों में निर्दिष्ट हैं । इन सबका परिचय तथा इसकी आवश्यकता सद्गुरु के उपदेश से ही ज्ञात हो सकती है, केवल शास्त्र देख कर इसमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ।

दीक्षा के समय, स्थान एवं विधि-विधान के विषय में प्रपंचसार तथा शारदातिलक में विस्तार से कहा गया है । शुभ लग्न, शुद्ध समय, नवरात्र या ग्रहणकालिक समय, सुखरात्रि आदि इसके लिये प्रशस्त है । भूशोधन, कुण्ड-मण्डप निर्माण, द्वारपूजा, मण्डपप्रवेश मधुपर्कादि से गुरुवरण, भूतशुद्धि, प्राणायाम, दिग्बन्ध, हंसादिन्यास, कलशस्थापन, स्वस्त्ययन, पुण्याहवाचन, देवता का आवाहन पूजन, कुण्डपूजन, षडध्वशोधन, शिष्य के देह में आत्मचैतन्य संयोजन, पूर्णाहुति हवन आदि विधान दीक्षा में आवश्यक कहे गये हैं[3] ।

शिष्य का भी विशेष कृत्य इसके लिये तन्त्रों में निर्दिष्ट है । जैसे शिष्य मन्त्रग्रहण के एक दिन पहले क्षौर कर्म आदि कराकर हविष्य भोजन से एकभुक्त करता है । दूसरे दिन शरीर-शुद्धि हेतु तीर्थ में या आवाहित तीर्थ में स्नान करता है तथा गायत्री का एक सहस्र जप करता है । नित्य कृत्य गणेशादि की पूजा करके स्वयं

---

१. स्वान्तःकरणवृत्तेर्वा यत्र श्रद्धा गरीयसी ।
सैवोपास्या प्रयत्नेन विचारस्तत्र निष्फलः ॥
(प्राणतोषिणी, काण्ड २, परि. ३)

२. जननं जीवनं पश्चात्ताडनं बोधनं तथा ।
अथाभिषेको विमलीकरणाप्यायने पुनः ॥
तर्पणं दीपनं गुप्तिर्दशैते मन्त्रसंस्क्रियाः ।
(गौतमीयतन्त्र वचन, बृहत्तन्त्रसार में उद्धृत)

३. प्रपञ्चसार षष्ठ पटल ।

नवीन वस्त्रादि से अलंकृत होकर यथाविभव वस्त्र-फल-पुष्प-माल्य एवं द्रव्य आदि लेकर गुरु का वरण करता है । गुरु अपने इष्टदेवता की तथा देय मन्त्र के अधिष्ठातृ देवता की यथाविधि पूजा करके शिष्य के शरीर में न्यास द्वारा देवता का संचारण कराता है । तदुपरान्त तीन बार कान में मन्त्र कहता है । पश्चात् शिष्य से तत्काल उस देवता की यथाविधि पूजा, अष्टोत्तरशत या अष्टोत्तरसहस्र उस मन्त्र का जप कराता है । अन्त में गुरु को शिष्य साष्टांग प्रणाम करता है और गुरु आशीर्वाद देकर उसे उठाता है । मिथिला में महिला भी गुरु होती हैं । माता या उसके ही समान अभ्यर्हित महिला से दीक्षा लेने की प्रथा है । तान्त्रिक उपासना में माँ से दीक्षा लेना प्रशस्त माना गया है । आगमकल्पद्रुम में इसकी पुष्टि की गई है[1] ।

यहाँ तीन बातें ध्यान देने योग्य है । पहली बात यह है कि पूजा के अन्त में देवता से गुरु प्रार्थना करता है कि भगवती आप भक्तवत्सला है, इस शिशु पर अनुग्रह कीजिये । यह बँधा हुआ है, इसे आप मुक्त कीजिये । इसे ऐहिक सुख, अपवर्ग और अपने चरण-कमलों में भक्ति दीजिये[2] । यहाँ परम सत्ता के रूप में उपास्य देवता के प्रति उपासक का अटूट विश्वास तथा उसकी निरतिशय निष्ठा अभिव्यक्त होती है । दूसरी बात है गुरुभक्ति । शिष्य गुरु को देवता मानकर उनके समक्ष नतमस्तक होता है—

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे ।
सर्वदेवस्वरूपाय सर्वमन्त्रमयाय च ॥
घोरान्मृत्युमहापाशान्मोचितः कृपया त्वया ।
त्वत्प्रसादादहं नाथ कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः ॥

---

१. स्त्रियो दीक्षा शुभा प्रोक्ता मातुश्चाष्टगुणा स्मृता ।
अप्रलुब्धा च या नारी तत्र नास्ति विचारणा ॥
(आगमकल्पद्रुम)

२. कारुण्यनिलये देवि सर्वसन्निधिसंश्रये ।
शरण्ये वत्सले मातः कृपामस्मिन् शिशौ कुरु ॥
आणवप्रमुखैः पाशैः पाशितस्य सुरेश्वरि ।
दीनस्यास्य दयाधारे कुरु कारुण्यमीश्वरि ॥
ऐहिकामुष्मिकैर्भोगैरपि सम्बध्यतामसौ ।
स्वभक्तिः सकला चास्मै दीयतां निष्कलाश्रये ॥
(आगमकल्पद्रुम)

गुरु की महिमा अन्यत्र भी गायी गई है । पुराण कहते हैं कि अज्ञानरूपी अन्धकार में भटकते हुए अन्धे की आँखें ज्ञान का अंजन लगाकर जिसने खोल दी हैं, उस गुरु को मैं प्रणाम करता हूँ[1] । तान्त्रिक व्युत्पत्ति भी इसकी पुष्टि करती है । तन्त्रों में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार कही गयी है—

गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तस्य भेदकः ।
द्वाभ्यां गुरुश्च संप्रोक्तः स एव हि प्रकाशकः ॥

महाभारत का कहना है कि यह सच है कि माता-पिता जन्म देते हैं, किन्तु वह जन्म तो नश्वर है और आचार्य के द्वारा जो जन्म होता है, वही पुण्य-जनक है तथा वही अजर और अमर होता है[2] । अत एव गुरु, देवता और मन्त्र के ऐक्य-चिन्तन का विधान है । यहाँ देवता का मध्य में निवेश देहली दीपक न्याय से उभयत्र समान निष्ठा के लिये किया गया है । महाकालसंहिता कहती है कि गुरु का उपदेश पाकर ही जप, न्यास तथा पूजा में प्रवृत्त होना चाहिये । अन्यथा केवल शास्त्र देखकर इन सब कर्मों में प्रवृत्त होने पर महान् अनिष्ट होता है । देवी क्रुद्ध होकर उसके कुल की परम्परा को ही नष्ट कर देती है—

न शास्त्रमालोक्य वदेन्नाचरेन्न जपेदपि ।
न पश्येन्नोपदिश्याच्च न कुर्यान्नैव साधयेत् ॥
गुरूपदेशतो लब्धे जपन्यासार्चनादिके ।
पश्चात् तत्साधयेत्सर्वं सदा तद्भावभावितः ॥
यस्य कस्यापि नाख्येयमाख्याते ब्रह्महा भवेत् ।
देवी क्रुद्धा च तं पापं सान्वयं पातयत्यधः[3] ॥

तन्त्रालोक की व्याख्या में जयरथ ने भी कहा है कि ग्रन्थ में निर्दिष्ट मन्त्र शक्तिशाली नहीं होता । वही गुरुमुख से मिलने पर सर्वसिद्धिकारक होता है—

लिपिस्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।

---

१. अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
२. शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यशास्ता या जातिः सा पुण्या साजरामरा ॥
३. महाकालसंहिता, बीजकोष, उपक्रमभाग ।

तात्पर्य यह है कि गुरु का महत्त्व आगमिक उपासना में अत्यधिक है और प्रायः यहाँ आगमों में ऐकमत्य है कि गुरु का उपदेश ही मन्त्र में चैतन्य का संचार करता है । यहाँ तीसरी बात है शुभाशीर्वाद की; जहाँ गुरु शिष्य को मुक्त कह कर उत्साहित करता है, आचार-परिपालन का उपदेश देता है तथा उसके अभ्युदय की कामना करता है—

उत्तिष्ठ वत्स मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव ।
कीर्तिश्रीकान्तिमेधायुर्बलारोग्यं सदास्तु ते[१] ॥

दीक्षा के बाद साधक उपासना में प्रवृत्त होता है । उपासना का अर्थ है—सान्निध्यं की प्राप्ति और इसके स्वरूप हैं— श्रवण, मनन और निदिध्यासन ।

आत्मज्ञानरूप वैदिक उपासना के स्वरूप श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन उपनिषदों में भी वर्णित है । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च' इत्यादि बृहदारण्यक की उक्ति प्रसिद्ध ही है । इसी का पल्लवन अधोलिखित कारिका में भी देखा जाता है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः[२] ॥

अगमिक उपासना में भी इस पद्य के भाव अक्षरशः संलग्न होते है । स्मृतिवाक्यरूप में गुरु का उपदेश ही यहाँ श्रवण है और मनन की प्रगाढ़ता एवं निरन्तरता है ध्यान । आचार्य उदयन ने कुसुमाञ्जलि में इसका उपोद्बलन किया है—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता[३] ॥

अतः यह कहना संगत होगा कि उपासना की अन्वर्थकता उपास्य की भावना के नैरन्तर्य में है । पूर्व जन्म के संस्कार अथवा उपास्य का अनुग्रह यहाँ सहायक होता है । महाकालसंहिता में स्पष्ट

---

१. पुरश्चर्यार्णव, पञ्चम तरङ्ग ।
२. बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.३०४ में उद्धृत ।
३. कुसुमाञ्जलि, आरम्भिक अंश ।

कहा गया है कि ध्यान, अर्चन, जप, न्यास, होम तथा बलि आदि में जिसकी जैसी भावना रहती है उसको वैसी ही सिद्धि मिलती है—

ध्यानेऽर्चने जपे न्यासे होमे च बलिकर्मणि ।
भावना यादृशी यस्य सिद्धिः स्यादेव तादृशी[१] ॥

तीन प्रकार की उपासना आगमों में वर्णित है—योग, मानसपूजा तथा बाह्यपूजा । उत्तम कोटि की उपासना है योग, मध्यम कोटि की मानसपूजा तथा अधम कोटि की बाह्यपूजा[२] । वायु को रोक कर षट्चक्र के भेदन से स्वाधिष्ठानस्थित कुण्डलिनी शक्ति तथा सहस्रार में स्थित सदाशिव का परस्पर संयोगरूप सामरस्य[३] योगियों के साध्य और गुरुगम्य उपासना सर्वसुलभ नहीं हो सकती । आन्तर पूजा या मानस पूजा में ध्यान की प्रधानता होती है । आत्मा और अन्तःकरण की शुद्धि एवं तन्मयता यहाँ अपेक्षित है । यहाँ ध्येय का स्वरूप या तो विराट् माना गया है या वह निराकार है । अत एव इस उपासना में उपचारों का समर्पण भी मानस ही होता है । उत्कट चंचल तथा निरन्तर क्रियाशील मन सांसारिक विषयों में आसक्त होकर स्वच्छन्दता से जहाँ कहीं भी विचरण के लिये सदा उद्यत रहता है । अतः ऋषियों ने इसके निग्रह पर बल दिया है । कहा गया है कि बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है[४] । मन को स्थिर करके उपास्य के निरन्तर मनन में लगा देना ही उसका निग्रह है और वही है मानस पूजा । इन दोनों ही उपासनाओं के सोपान एवं साधारण लोक की क्षमता के अनुरूप उपासना है बाह्यपूजा, जो अधिक प्रचलित एवं सुलभ है ।

यहाँ सम्प्रदायों के भेद से उपासना या पूजा की प्रक्रिया में भेद देखा जाता है । शैव, कौल तथा स्मार्त आदि अपनी-अपनी पद्धति से इस पूजा का सम्पादन करते आ रहे हैं । इन सम्प्रदायों

---

१. महाकालसंहिता ७.२०७-८ ।

२. उत्तमो योगमार्गेण मध्यमो ध्यानसंश्रयात् ।
पूजाध्यानादिभिर्ज्ञेयोऽप्यधमाराधनक्रमः ॥ (वही, ७.२०१-२)

३. मूलाधारे कुण्डलिनी सहस्रारे सदाशिवः ।
तयोर्यथा सामरस्यं .... ॥

४. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

में "स्मार्त तन्त्र परम्परा" भी एक है । इस परम्परा में तीन मुख्य तत्त्व अनिवार्य रूप से देखे जाते हैं—

(१) वर्णाश्रम धर्म का परिपालन, (२) वेद, पुराण तथा आगम में समान निष्ठा और (३) ब्रह्म या पराशक्ति के रूप में प्रधानतया पञ्चदेवता की उपासना । मनुस्मृति में कहा गया है कि एक ही परमेश्वर या आदिशक्ति पाँच मूर्तियों से पाँचों महाभूतों को व्याप्त करके विराजमान हैं तथा जन्म, वृद्धि और क्षय (सृष्टि, स्थिति और संहार) करते हुए चक्र की तरह प्राणियों को इस संसार में पर्यटन कराते रहते हैं । इस तरह जो सभी प्राणियों में अपना ही रूप देखता है, वह ब्रह्म को प्राप्त करता है, अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है[1] । इससे प्रतीत होता है कि भगवान् मनु से ही पञ्चदेवताओं की उपासना प्रचारित हुई । कालिका पुराण में कहा गया है कि शिव, सूर्य, अग्नि, विष्णु और भगवती अम्बिका की पूजा न करने पर स्वर्ग से भी व्यक्ति अधोगति को प्राप्त करता है[2] । पञ्चदेवता से ये ही पाँचों देवता परिगृहीत होते हैं । कहीं कहीं अग्नि के स्थान पर गणेश का नाम निर्दिष्ट है[3], किन्तु इसी बात का संवाद उस स्थल में भी दिया गया है ।

वर्णधर्म तथा आश्रमधर्म आदि स्मृतियों में ही प्रतिपादित हुए हैं । अतः स्मृति के अनुगामी स्मार्त के लिये आवश्यक है कि वे इसका पूर्णतः परिपालन करें । वेद की तरह तन्त्रों में भी शिष्टों की निष्ठा देखकर ही कुल्लूक भट्ट को कहना पड़ा होगा कि श्रुति से वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही श्रुतियाँ परिगृहीत होती हैं—

"वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा कीर्तिता श्रुतिः" । (हारीतस्मृति)

---

१. एष सर्वाणि भूतानि पञ्चभिर्व्याप्य मूर्तिभिः ।
जन्मवृद्धिक्षयैर्नित्यं संसारयति चक्रवत् ॥
एव यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना ।
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम् ॥
(म. स्मृ. १२.१२४-१२५)

२. शिवं भास्करमग्निं च केशवं कौशिकीमपि ।
मनसाऽभ्यर्चयन् याति स्वर्गलोकादधोगतिम् ॥ (कालिकापुराणम्)

३. नारायणं गणं रुद्रमम्बिकां चैव भास्करम् ।
एषु भेदो न कर्तव्यो यः कुर्याद् विप्रहैव सः ॥

दूसरी बात यह है कि भारतीय धारणा केवल वेद को ही नहीं, उसके साथ इतिहास और पुराण को भी स्वीकार करती आ रही है । "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" यह शास्त्र का स्पष्ट निर्देश है । आगमीय विधियों का अनुपालन परम्परा से होता आ रहा है । अतः उसका समादर करना स्वभावसिद्ध है ।

चूँकि जन्म संस्कारवश स्मार्त धर्मावलम्बी भी भगवती आद्याशक्ति की उपासना अपनी पद्धति से करते आ रहे हैं, अतः इन उपासनाओं में "स्मार्ततन्त्र परम्परा" ने भी अपना स्थान चिरकाल से बना रखा है । शङ्कर भगवत्पाद ने प्रपञ्चसार में इस सम्प्रदाय को प्रधान रूप से पुष्ट किया है तथा अपने प्रसिद्ध पाँच पीठों में (बदरिकाश्रम, श्रीजगन्नाथपुरी, द्वारका, काञ्ची तथा शृंगेरी में) श्रीयन्त्र की स्थापना एवं श्रीविद्या की उपासना करके शक्तिपूजा को प्रश्रय दिया है, जो आज तक अक्षुण्ण रूप से चल रही है । महाकालसंहिता, ईशानशिवगुरुदेव पद्धति, शारदातिलक तथा मेरुतन्त्र आदि ग्रन्थों में इस सम्प्रदाय की उपासना-विधि विस्तार से वर्णित है ।

महाकालसंहिता में निर्दिष्ट श्रुति एवं स्मृति में विहित कर्मों के अनुष्ठान के साथ देवी की उपासना "स्मार्ततन्त्र परम्परा" का प्रधान कृत्य है । वेदानुमत आगमिक आचार के पालन तथा वेदविरोधी आगमिक आचार के त्याग की बात यहाँ स्पष्टतः प्रतिपादित है । फलतः आगम तथा वेद के विहित कर्म भी कुछ त्याज्य तथा कुछ ग्राह्य हैं । यथा वेद में विहित नरास्थि के स्पर्श का निषेध यहाँ मान्य नहीं है, क्योंकि आगम में जप के लिये दन्तमाला प्रशस्त मानी गयी है । इसी तरह आगम में विहित नरकपाल में पान, भोजन वेदविरुद्ध होने से त्याज्य हैं । जैसे हंस दूध और जल के मिश्रण से दूध का ग्रहण कर जल का त्याग कर देता है, इसी तरह आगमोक्त शुभ (शुद्ध) का ग्रहण एवं अशुभ (अशुद्ध) का त्याग यहाँ किया जाता है[१] । भगवान् मनु ने कहा है कि नीच से भी उत्तम

---

१. श्रुतिस्मृत्युदितं कर्म देव्युपासनमेव च ।
उभयं कुर्वते देवि मदुदीरितवेदिनः ॥
वेदाविरुद्धं कुर्वन्ति यद्यदागमचोदितम् ।
आगमादेशितमपि जहति श्रुत्यदेशितम् ॥
श्रुतौ नरास्थिसस्पर्शात् सचैल स्नानमीरितम् ।
आगमादिप्रसिद्धत्वाद् रुद्रस्य वचनादपि ॥

विद्या, दुष्कुल से भी कन्यारत्न, उन्मत्त से भी महामन्त्र और अपवित्र से भी सुवर्ण का ग्रहण कर्तव्य है । अत एव कापालिक सम्प्रदाय के शुभाचरण का ग्रहण तथा अशुभाचरण का त्याग यहाँ दर्शाया गया है[1] ।

जिज्ञासा होती है कि जब एक ही शिव के मुख से सभी सम्प्रदायों का उद्भव हुआ है, तब उनमें परस्पर भेद क्यों देखा जाता है ? इसके समाधान में [2]महाकालसंहिता में बहुत ही रोचक ढंग से विस्तारपूर्वक कहा गया है, जिसका सारांश यह है कि साधकों के स्वभाव का वैविध्य ही विभिन्न सम्प्रदायों के प्रवर्तन का मुख्य कारण है । इसका सम्पोषण महिम्नस्तोत्र में पुष्पदन्त ने भी किया है—

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति ।
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च ॥
रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव[3] ॥

किञ्चिद् हातव्यमुभयोः किञ्चिद् ग्राह्यं द्वयोरपि ।
कापालिकमते त्याज्ये करोटौ पानभोजने ॥
अस्पर्शश्च तथामुष्याः श्रुत्युक्तो हेय ईश्वरि ।
न मालाकरणे दोषो जपार्थं तस्य कश्चन ॥
पानभोजनपात्रादिकरणे दोष एव हि ॥
× × × ×
तेषां ये हि कदाचारा निन्दिताः श्रुतिवर्त्मनि ।
अस्माभिस्ते परित्यक्ता यद् भद्रं तदुरीकृतम् ॥
मिश्रिताभ्यां पयोऽम्बुभ्यां क्षीरं हंसो यथा पिबेत् ।
शुभाशुभाभ्यां हि तथा शुभमेव श्रयेत् सुधीः ॥
(म. सं., १२.२५६–२६२)

१. यदुक्तं मनुनार्थेऽस्मिन्नवधेहि तदीश्वरि ।
नीचादप्युत्तमां विद्यां कन्यारत्नं सुदुष्कुलात् ॥
अप्युन्मत्तान्महामन्त्रममेध्यादपि काञ्चनम् ।
अत एव महेशानि यद्यत्प्रोक्तं स्थले स्थले ॥
कापालिकैः शुभं वाक्यं तन्मयात्रोपवर्णितम् ।
तेषामेव परित्यक्तं यदसद् यौक्तिकं वचः ॥
(म. सं., गु. ख., १२.२६३–६५)

२. द्रष्टव्य–महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड, १२.२३२–७०

३. महिम्नस्तोत्र, श्लो. ७

उपासना के अनेक सम्प्रदायों एवं अनेक मार्गों के रहने पर भी यह उपासक की अपनी इच्छा पर निर्भर है कि वह किस सम्प्रदाय या मार्ग का अवलम्बन कर उपासना करे । जिस उपासक की जिस देवता में भक्ति होती है, जिस सम्प्रदाय में विश्वास जमता है, वह उसके अनुरूप गुरु का अवलम्बन कर उनसे उपदेश पाकर उपासना में प्रवृत्त होता है । पथों के वैविध्य के रहने पर भी लक्ष्य एक ही होता है, जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है ।

वर्णाश्रम धर्म के परिपालन में नैसर्गिक निष्ठावान् यह स्मार्ततन्त्र परम्परा शाक्त उपासना में भी आचार की शुचिता पर अधिक बल देती आ रही है । अभिप्राय यह है कि आगमिक उपासना का अधिकार जैसे द्विज को है, वैसे अन्त्यज को भी । जिसकी जैसी रुचि एवं प्रवृत्ति रहती है, वह उसके अनुरूप ही आचरण करता है । अत एव उसकी उपासना भी रुचि के अनुरूप ही होगी । शास्त्र से भी इसकी पुष्टि होती है । शास्त्र कहता है कि व्यक्ति स्वयं जिस अन्न का ग्रहण करता है, उसके देवता और पितर भी उसी अन्न का ग्रहण करते हैं—

स्वयं यदन्नो भवति तदन्नास्तस्य देवताः ।
तदन्नास्तस्य पितर इत्येवं वैदिकी स्थितिः ॥

यहाँ अन्न पद आचार, विचार, व्यवहार तथा उपासना आदि सभी विषयों का उपलक्षक है ।

अत एव आगमिक पद्धति का बहुत अंश तक अनुसरण करती हुई यह स्मार्ततन्त्र परम्परा तीन विधियों में अपना परिष्कार प्रस्तुत करती है । ये तीन विधियाँ हैं— प्रसन्नाविधि, शक्तिपूजा और पशुबलि । महाकालसंहिता के कामकला खण्ड में कहा गया है कि दिन में सम्पाद्य पूजाविधि का ही ब्राह्मण अधिकारी है, रात्रि में सम्पाद्य पूजाविधि शूद्र के लिये विहित है[१] । दूसरी बात यहाँ कही गई है कि ब्राह्मण सात्त्विक द्रव्य से ही पूजा करें[२], राजस या तामस द्रव्य से नहीं । इसका भी तात्पर्य यही है । शक्तिपूजा तथा प्रसन्नाविधि आदि रात्रिकृत्य हैं । प्रसन्नाविधि से मदिरार्पण अभिप्रेत है,

---

१. द्विजादीनां तु सर्वेषां दिवाविधिरिहोच्यते ।
शूद्राणां तु तथा प्रोक्तं रात्रिदृष्टं महामतम् ॥ (३.७३)

२. सात्त्विकेनैव द्रव्येण ब्राह्मणः पूजयेच्छिवाम् । (गु. ख. ६.४०१-३)

स्मार्तों के लिये इसका स्पष्ट निषेध विशद रूप से गुह्यकाली खण्ड के षष्ठ पटल में किया गया है[१]। कामकला खण्ड में भी कहा गया है कि शीघ्र सिद्धिलाभ के लिये शूद्रों का इसमें अधिकार है, ब्राह्मणों का नहीं[२]। कामकलाखण्ड में स्पष्ट निर्देश है कि ब्राह्मणों को प्रसन्नाविधि का अधिकार नहीं है। ब्राह्मण मधु, दुग्ध, घृत, नारियल के जल या फलों के रस से इस विधि को पूरा कर सकता है[३]। पारिभाषिक शक्तिपूजा का अधिकार भी स्मार्त को नहीं है। महाकालसंहिता में स्पष्टतः प्रतिपादित है कि शैव, स्मार्त और याज्ञिक इसको नहीं करते। अपनी पत्नी या दूसरों की पत्नी का आकर्षण कर ब्राह्मणों को जप नहीं करना चाहिये। लोभवश यदि कोई यह करेगा, तो उसकी अधोगति होगी। देवता का त्याग, मद्य का पान तथा शूद्रभार्या का उपभोग—इन तीनों से ब्राह्मणों का सद्यः अधःपतन होता है[४]।

स्मार्तों के लिये यहाँ पशुबलि के बदले ईख का रस, कूष्माण्ड या वन्य फलों के अर्पण का विधान किया गया है। खोया या चावल के चूर्ण से अर्पणीय पशु की प्रतिमा बनाकर बलि के रूप में व्यवहार करने का भी विधान है। फलविशेष की बलि पशुविशेष के अनुकल्प के रूप में भी यहाँ निर्दिष्ट हुई है। जैसे महिष का अनुकल्प कूष्माण्ड है तथा छाग का ककड़ी। सात्त्विक स्वभाव के

---

१. महाकालसंहिता, गुह्यकाली खण्ड, ६.४०५-३५

२. श्रूयते यत्फलाधिक्यं तन्त्रादौ मद्यदानतः ।
तद्धि शूद्रपरं ज्ञेयं न तु द्विजपरं प्रिये ॥

३. द्विजातेः केवलं तीर्थे नाधिकारः प्रशस्यते (१०.८) ।
× × × ×
मधु क्षीरं तथाज्यं च नारिकेलोदकं प्रिये ।
ब्राह्मणानामिदं शस्तं फलानां च रसास्तथा ॥

४. शैवाः स्मार्ताः याज्ञिकाश्च तां न कुर्वन्ति पार्वति ।
× × × ×
स्वयोषां परयोषा वा नैवाकृष्य द्विजो जपेत् ।
लोभाद् यदि चरेदेवमधो याति द्विजस्तदा ॥
इहामुत्र फलं नास्ति हीनायुरपि जायते ।
देवत्यागान्मद्यपानाच्छूद्रभार्याप्रयोगतः ॥
तत्क्षणाज्जायते वामो ब्राह्मणो नात्र संशयः ।
(कामकलाखण्ड, ५.१४१-४३)

व्यक्ति के लिये जीव-हत्या का स्पष्ट निषेध यहाँ मिलता है[1] । ताराभक्तिसुधार्णव में मैथिल तान्त्रिक नरसिंह ठक्कुर ने भी कहा है कि वामाचारी ब्राह्मण भी मद्य एवं मांस का व्यवहार न करें तथा स्वकीया या परकीया महिला का आकर्षण कर जप न करें[2] । इससे स्मार्त-शाक्त उपासना ही पुष्ट होती है ।

पशुबलि के प्रसंग में एक रोचक कथा महाकालसंहिता में प्रस्तुत हुई है— देवता और ऋषियों में विवाद हुआ कि बलि छाग आदि पशु से सम्पन्न की जाय या फलमूल से । ऋषिगण सात्त्विक स्वभाव के कारण केवल फल-मूल के ही पक्षपाती रहे और देवगण तो पशुबलि के भी पक्षधर रहे । दोनों ही पक्षों का विचार हुआ कि तात्कालिक राजा वसु से इसका निर्णय कराया जाय । वसु ने सात्त्विकता के कारण ऋषियों के पक्ष में अपना निर्णय सुनाया और हिंसाजन्य पाप से असंस्पृष्ट होने की बात युक्ति रूप में प्रस्तुत की । इसकी प्रतिक्रिया में देवगणों ने क्रुद्ध होकर उनको तत्काल ही पातालवास का अभिशाप दिया । पश्चात् दोनों पक्षों में समझौता होने पर यह निश्चय हुआ कि मर्त्यलोक में जिसको जिस पक्ष में रुचि हो, वह उसके अनुसार बलि अर्पित कर सकता है । ऋषियों ने वसु की सात्त्विकता तथा देवगण से अभिशप्त देखकर निर्णय किया कि प्रत्येक यज्ञ में वसु महाराज की अंशप्राप्ति अपेक्षित है और उसी दिन से वसुधारा देने की प्रथा चली, जो आज भी प्रतिपालित होती है ।

इस "स्मार्त शाक्त सम्प्रदाय" में पूजा, जप, होम तथा न्यास आदि में किसी भी सम्प्रदाय से कोई विशेष भेद नहीं है । प्रत्येक सम्प्रदाय में न्यास को अनिवार्य कहा गया है । बाह्य पूजा में इसका अलग ही महत्त्व है । न्यास से उपासक में उपास्य का आधान

---

१. इक्षुदण्ड च कूष्माण्ड तथा वन्यफलादिकम् ।
क्षीरपिण्डैः शालिचूर्णैः पशुं कृत्वा चरेद् बलिम् ॥
तत्तत्फलविशेषेण तत्तत्पशुमुपानयेत् ।
कूष्माण्ड महिषत्वेन छागत्वेन च कर्कटीम् (५.१३६-३७)
× × × ×
सात्त्विको जीवहत्यां हि कदाचिदपि नो चरेत् ॥ (५.१३५)

२. वामागमोऽपि विप्रस्तु मद्यं मांसं न भक्षयेत् ।
स्वकीयां परकीयां वा नाकृष्य ब्राह्मणो यजेत् ॥
(ताराभक्तिसुधार्णव)

होता है । "न्यासस्तन्मयताबुद्धिः" इस वचन में तत्पद से देवता ही अभिप्रेत है । शास्त्रों में इसके अनेक भेद-प्रभेद वर्णित हैं । करन्यास एवं षडंगन्यास आदि इसके सामान्य प्रभेद हैं, मातृकान्यास, पीठन्यास आदि मध्यम प्रभेद हैं और महाषोढ़ा, षोढ़ा तथा लघुषोढ़ा, आदि इसके विशेष प्रभेद हैं । महाकालसंहिता में पचीस से भी अधिक महत्त्वपूर्ण न्यासों का विधान किया गया है, जिनके साथ रोचक तथा माहात्म्यबोधक कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं । न्यास कर लेने पर "देवो भूत्वा यजेद्देवम्" इस आगमिक सिद्धान्त का अनुपालन होता है । अत एव सर्वत्र शास्त्रों में इसका आवश्यक कृत्य के रूप में निर्देश है ।

उपसंहार

दस महाविद्या तथा स्मार्त शाक्तसम्प्रदाय की विधि से उनकी उपासना के परिचय के साथ दीक्षा के माहात्म्य एवं विधि के प्रसंग में संक्षिप्त परिचय यहाँ यथामति प्रस्तुत किया गया है । बहुत विषयों का प्रामाणिक परिचय लघु लेख में संभव नहीं है । अत एव "मकारपंचक" आदि के विषय में चाह कर भी विवेचन संभव नहीं हो सका ।

यहाँ यह अवधेय है कि ज्ञान, योग, क्रिया तथा चर्या रूप चार चरणों से युक्त तन्त्र का प्रथम चरण यदि कश्मीर में समृद्ध हुआ, द्वितीय चरण ने यदि सम्पूर्ण विश्व को आकृष्ट किया, तृतीय चरण यदि भारत के दक्षिण प्रान्तों में पल्लवित हुआ तो चतुर्थ चरण का विकास विष्णुक्रान्ता क्षेत्र में अधिक हुआ । नेपाल, मिथिला, अंग, वंग, कलिंग तथा आसाम आदि विष्णुकान्ता क्षेत्र के रूप में प्रसिद्ध हैं । इन क्षेत्रों के निवासियों के संस्कार में शाक्त-परम्परा इस तरह अनुस्यूत है कि प्रत्येक व्यक्ति जाने-अनजाने उसका अनुव्रजन करता हुआ देखा जाता है । प्रत्येक घर में पूज्य यन्त्र अलग होता है और धारणीय यन्त्र का आम प्रचार है । मत्स्य-मांस भक्षण की वैधता धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित है । शारदीय नवरात्र में कुमारीपूजन अनिवार्यतः सम्पादित होता है । सहस्रनाम एवं कवच आदि के साथ सप्तशती का पाठ तथा इष्टमन्त्र के जप का प्रचार-प्रसार अधिक है । योग को परिष्कृत कर देने से ही उपासना भी हो जाती है, जो ऐहिक अभ्युदय के साथ अपवर्ग की प्राप्ति कराती है । अत एव कृच्छ्र तपसे साध्य वैदिक उपासना की अपेक्षा विष्णुक्रान्ता क्षेत्र के

लोगों ने इस आगमिक उपासना का अवलम्बन किया होगा, ऐसी संभावना की जा सकती है ।

दूसरी बात यह है कि वैदिक उपासना करने पर भी कर्मबन्धनों से सुलभतया छूटना संभव नहीं है । ज्ञानाग्नि से संचित एवं संचीयमान कर्मों के नाश होने पर भी प्रारब्ध कर्मों का भोग यहाँ करना ही पड़ता है । अत एव—"ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन" इस पद्य में कर्म से संचित एवं संचीयमान कर्म अभिप्रेत है और "नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि" इस पद्य में कर्म से प्रारब्ध कर्म विवक्षित है । अत एव दोनों पद्यों में आपाततः प्रतीयमान विरोध का परिहार हो जाता है । आगमिक उपासना इससे विलक्षण है । यहाँ इष्ट के आराधन से अनुग्रह-लाभ होने पर सभी कर्मों के बन्धन छूट जाते हैं । अत एव एक उपासना में यदि कर्मवाद की प्रधानता है, तो अपर उपासना में अनुग्रहवाद का जयघोष होता है ।

•

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

[स्मार्त सम्प्रदाय संबन्धी निबन्ध के लिये झा जी को बहुत बहुत धन्यवाद । इसमें भी आपने देखा होगा कि जिन विषयों का हमने चुनाव किया है, यहां भी उनका स्वरूप अन्य तन्त्रों से बहुत भिन्न नहीं है । मैं अपना भी निबन्ध अभी प्रस्तुत कर रहा हूँ । इसके पहले झा जी के निबन्ध के संबन्ध में एक दो बाते मैं कह देना चाहता हूँ । एक तो पंचायतन पूजा के प्रसंग में मनुस्मृति का नाम आपने दिया है । मनुस्मृति का वह उद्धरण, जिसमें पांच देवों के नाम हो, अभी कोई आवश्यकता नहीं है, बाद में भी बतला देंगे । दूसरी बात अभी आपने वसु उपरिचर की कथा की चर्चा की । यह कथा महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में भी मिलती है । वहां इसका स्वरूप थोड़ा भिन्न है । वहां प्रसंग तो यही है कि अज कोई पशु होगा या अन्न होगा । वहाँ वसु उपरिचर देवताओं के पक्ष में निर्णय देते हैं । उनका नाम था वसु उपरिचर । अर्थात् आकाशगमन की सामर्थ्य उनमें थी, किन्तु जब उन्होंने पशु-हिंसा का समर्थन किया, तो वह उनकी सामर्थ्य नष्ट हो गई । यहाँ आकर कथा भिन्न हो जाती है । मैं समझता हूँ कि यह वह काल था, जब कि बुद्ध और महावीर की अहिंसा का प्रभाव महाभारत में भी यत्र तत्र उपलब्ध होता है । इतना कहने के बाद मैं अपना निबन्ध प्रस्तुत करता हूँ ।]

पाशुपत, कालामुख और कापालिक मत

-प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी-

कृष्ण और शुक्ल यजुर्वेद के शतरुद्रियाध्याय में रुद्र की महान् महिमा वर्णित है । यहां रुद्र को स्तेनों, तस्करों, शूद्रों और अतिशूद्रों का भी आराध्य देव बताया गया है । मैत्रायणी संहिता (२.९.१, १०) और तैत्तिरीय आरण्यक (२०.४२-४७) में रुद्र के अघोर, वामदेव आदि पांच मन्त्रों का और भस्मोद्धूलन विधि का वर्णन मिलता है । पाशुपतसूत्रकार लकुलीश ने इन्हीं का अनुसरण किया है । धम्मपद (१४१ गाथा) में भी इस विधि के अनुयायियों का उल्लेख है । महाभारत (१२.३४९.६७) में उमापति, भूतपति, श्रीकण्ठ को पाशुपत मत का आद्य प्रवर्तक माना गया है । इनकी ऐतिहासिकता के विषय में विद्वानों में परस्पर वैमत्य है, किन्तु हड़प्पा और मोहेंजोदड़ो की खुदाई में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर शैव मत की सत्ता उस समय विद्यमान थी, यह बात निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुकी है ।

शिवपुराण (७.१.३२.११-१७) में दो प्रकार के शिवागमों की चर्चा है— एक श्रौत और दूसरा स्वतन्त्र । कामिक आदि २८ शिवागम स्वतन्त्र तथा पाशुपत मत श्रौत माना गया है । सिद्धान्त शैवमत इस निबन्ध का विषय नहीं है । शिवपुराण के अनुसार पाशुपत मत में क्रिया, तप, जप, ध्यान और दान नामक पांच विषयों का प्रधानतः प्रतिपादन मिलता है । रुरु, दधीचि, अगस्त्य और उपमन्यु नामक चार आचार्यों ने इस पाशुपत मत का उपदेश दिया । धौम्य ऋषि के अग्रज उपमन्यु द्वारा श्रीकृष्ण को उपदिष्ट पाशुपत व्रत और ज्ञान का स्वरूप महाभारत (अनु0 १४.६४-३७७) के अतिरिक्त शिवपुराण की वायुसंहिता के उत्तर भाग तथा कूर्मपुराण (१.२४) में भी वर्णित है ।

श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्तित इस श्रौत पाशुपत मत का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नही है, किन्तु विशुद्धमुनि की कृति आत्मसमर्पण में श्वेत से लेकर लकुलीश पर्यन्त २८ पाशुपत योगाचार्यों की नामावली मिलती है । इन योगाचार्यों में से प्रत्येक के चार-चार, अर्थात् ११२ शिष्यों का नामोल्लेख अनेक पुराणों में मिलता है । शिवपुराण में दो स्थलों पर दो तरह की नामावलियाँ मिलती हैं । इनमें से प्रथम वायुपुराण का और दूसरी लिंगपुराण का अनुसरण करती है । २८ योगाचार्यों और उनके ११२ शिष्यों की नामावली कूर्मपुराण

और स्कन्दपुराण में भी उपलब्ध हैं । इनमें से प्रथम और अन्तिम नाम सर्वत्र समान हैं, किन्तु बीच के नामों में बहुत अन्तर मिलता है । हमने "पुराणवर्णिता योगाचार्याः" शीर्षक से "पुराणम्"[१] में प्रकाशित निबन्ध में इन सभी नामावलियों की तुलनात्मक समीक्षा प्रस्तुत की है । इन आचार्यो में कपिल, आसुरि, पंचशिख, पराशर, बृहस्पति, कुणि, श्वेतकेतु, शालिहोत्र, अग्निवेश, अक्षपाद, कणाद जैसे नाम हमारे लिये विशेष रूप से अवधेय हैं । ये आचार्य सांख्य, पांचरात्र, आयुर्वेद, चार्वाक दर्शन और न्याय-वैशेषिक दर्शन से जुड़े हुए हैं ।

श्रीकण्ठप्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत स्वतन्त्र सिद्धान्त शैवमत से किस रूप में भिन्न था, इसको जानना हमारे लिये अत्यन्त दुष्कर कार्य है, क्योंकि लकुलीश से पहले विद्यमान महाभारत-वर्णित श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत के स्वरूप को बताने वाला कोई ग्रन्थ हमें अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है । शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद की संहिताओं, ब्राह्मणों और आरण्यकों में, रामायण और महाभारत में, पुराणों और स्मृति-ग्रन्थों में, योगशास्त्र के प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाशुपत मत और योग की चर्चा मिलती है । कहीं-कहीं पूर्वपक्ष के रूप में पाशुपत दर्शन का उल्लेख मिलता है । उन्हीं के आधार पर श्रीकण्ठ-प्रवर्तित पाशुपत मत का हम स्वरूप जानने का प्रयत्न कर सकते हैं । हमारी जानकारी में यह कार्य अभी तक सम्पन्न नही हो सका है ।

लकुलीश पाशुपत मत की स्थिति इससे भिन्न है । कारवण-माहात्म्य में बताया गया है कि ब्रह्मा के मानस पुत्र अत्रि थे । अत्रि से आत्रेय, आत्रेय से अग्निशर्मा, अग्निशर्मा से सोमशर्मा, सोमशर्मा से विश्वरूप और विश्वरूप से लकुलीश की उत्पत्ति हुई । लकुलीश से लेकर विद्यागुरु पर्यन्त १८ पाशुपताचार्यों की नामावली जैन आचार्य गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चयटीका और राजशेखरकृत षड्दर्शनसमुच्चय में मिलती है, जो इस प्रकार है— लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुष, ईशान, पारगार्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, (अपर) कुशिक, अत्रि, पिंगल (पिंगलाक्ष), पुष्पक, बृहदार्य (बृहदाचार्य), अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु । इनमें से प्रथम लकुलीश पंचाध्यायी पाशुपतसूत्रों के रचयिता और १७वें राशीकर पंचाध्यायी भाष्य के

---

१. पुराणम्, वर्ष २४, अंक २, जुलाई सन् १९८२, काशीराज ट्रस्ट, रामनगर, वाराणसी । "निगमागमीयं संस्कृतिदर्शनम्" में भी यह निबन्ध समाविष्ट है ।

प्रणेता हैं । विद्याधिपति के अनुभवस्तोत्र और प्रमाणस्तुति के कुछ वचन हमें उद्धृत मिलते हैं । ये विद्याधिपति विद्यागुरु से अभिन्न हो सकते हैं । [1]गणकारिकाव्याख्या में लकुलीशादि राशीकरपर्यन्त तीर्थकरों का ही उल्लेख है ।

बड़ौदा के पास कायावरोहण (कारवण) नामक एक प्राचीन तीर्थस्थान है । विश्वरूप की भार्या से ईसा की दूसरी शताब्दी में लकुलीश का जन्म यहां हुआ, ऐसा शिलालेख आदि के प्रमाण से डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय आदि विद्वानों ने लिखा है । डॉ० लोरेंजन इस मत से सहमत नहीं हैं । वे ४थी-पांचवीं शताब्दी में इनकी स्थिति मानते हैं । शिलालेखों में इनके कौशिक (कुशिक), गर्ग, मित्र और कौरुष नामक चार शिष्यों के नाम भी मिले हैं । क्षेमराज ने लाकुल, मौसुल, कारुक और वैमल नामक चार पाशुपत मतों का उल्लेख किया है । इनमें से लकुलीश विरचित पाशुपतसूत्र कौण्डिन्य (राशीकर) विरचित पंचार्थभाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित हो चुके हैं । विशुद्धमुनि विरचित यमप्रकरण और आत्मसमर्पण, अज्ञातकर्तृक कारणपदार्थ, हरदत्ताचार्य कृत गणकारिका, भासर्वज्ञकृत गणकारिकाटीका—ये सब ग्रन्थ कारवणमाहात्म्य के साथ गणकारिका में बड़ौदा से प्रकाशित हुए है । स्वरचित सत्कार्यविचार और टीकान्तर का भासर्वज्ञ ने अपनी टीका (पृ० १०) में उल्लेख किया है ।

न्यायसार और न्यायभूषण के रचयिता प्रसिद्ध नैयायिक भासर्वज्ञ गणकारिकाटीका के भी रचयिता हैं । मूल गणकारिका हरदत्ताचार्य की कृति है, भासर्वज्ञ की नहीं, यह बात सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में स्थित लकुलीश पाशुपत दर्शन (पृ० ६०) को देखने से स्पष्ट हो जाती है । भासर्वज्ञ अपनी टीका (पृ० ९, १९) में संस्कारकारिका के साथ गणकारिका की किसी अन्य टीका का भी उल्लेख करते हैं । इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भासर्वज्ञ से पहले भी किसी आचार्य ने इसकी व्याख्या की थी । [2]पंचार्थभाष्यदीपिका और आदर्शकार के साथ कुछ अन्य वचन भी सायण-माधव के उक्त ग्रन्थ (पृ० ६२, ६४-६५) में उद्धृत हैं । इन सबसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मत के अन्य ग्रन्थ भी इनके समय तक उपलब्ध

---

१. "भगवँल्लकुलीशादीन् राशीकरान्तांश्च तीर्थकरान्" (पृ० १९) ।

२. "तत्पप्रञ्चस्तु पञ्चार्थभाष्यदीपिकादौ द्रष्टव्यः" (पृ० ६२) सायण-माधव द्वारा उद्धृत यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है ।

थे । इन सब ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के समय आदि के विषय में डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने "शैवदर्शनबिन्दु" (पृ० २७-३३) नामक ग्रन्थ में विचार किया है । इनके मत की संक्षिप्त समीक्षा हमने "आगममीमांसा" (पृ० ३०) में की है और बताया है कि पंचार्थप्रमाण नामक ग्रन्थ का उल्लेख क्षेमराज के स्वच्छन्दोद्योत (१.४३) में मिलता है । लुप्तागमसंग्रह के उपोद्घात (भा० २, पृ० ११६) में हमने इसी मत के "हृदयप्रमाण" नामक ग्रन्थ की चर्चा की है ।

लकुलीश के जन्मकाल (द्वितीय शताब्दी) से लेकर १४वीं शती के अचलगढ़ शिलालेख के काल तक पाशुपत मत का प्रचार उत्तर भारत के गुजरात, राजस्थान और उत्तरप्रदेश में मथुरा तक तथा दक्षिण भारत के भी कुछ प्रदेशों में था, इसके स्पष्ट प्रमाण हमें मिलते हैं । आजकल भी उदयपुर के पास एकलिंग जी में पंचवक्त्र पशुपतिनाथ के साथ लगुडहस्त लकुलीश की उपासना होती है । गोआ के नीचे कर्णाटक राज्य के समुद्रतटवर्ती गोकर्ण तीर्थ के, जिसका कि उल्लेख महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश (८.३३) में किया है, निवासी पाशुपतों के वंशज ही आजकल भी नेपाल स्थित पशुपतिनाथ के पुजारी हैं । इन सब प्रमाणों से पाशुपत मत की सत्ता और विशिष्टता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

शिव के पांच मन्त्रों की ऊपर चर्चा आई है । शैवागमों में ये शिव के पांच मुखो के रूप में अथवा पंचमन्त्रतनु शिव के रूप में वर्णित हैं । शिव के इन पांच मुखों से सिद्धान्तशैव, गारुड़, भूत, दक्ष और वाम तन्त्रों की उत्पत्ति मानी जाती है । वैरोचन के प्रतिष्ठालक्षणसारसमुच्चय (२.११२-१२८) में इन सबका सभेदोपभेद वर्णन मिलता है । इनमें से कामिक आदि दस शिवतन्त्र और विजय आदि अठारह रुद्रतन्त्र मिलकर २८ आगम सिद्धान्त शैव नाम से प्रसिद्ध हैं । श्रीकण्ठीसंहिता के प्रमाण से जयरथ का कहना है कि शिवागम द्वैतवादी और रुद्रागम द्वैताद्वैतवादी हैं । डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय सभी २८ शिवागमों को द्वैतवादी और लकुलीश पाशुपत को द्वैताद्वैतवादी मानते हैं ।

शिवपुराण, वामनपुराण, जैनाचार्य गुणरत्नकृत षड्दर्शनसमुच्चय-टीका, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य एवं भामतीटीका, ब्रह्मसूत्र के भास्कर, रामानुज आदि के अन्य भाष्य, यामुनाचार्य कृत आगमप्रामाण्य आदि में चतुर्विध शैव मतों का उल्लेख मिलता है । यहां इनके नामों के

अनेक पाठान्तर मिलते हैं । उन सबका सिद्धान्तशैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक विभागों में समावेश किया जा सकता है । हमारी "तन्त्रयात्रा" में संगृहीत दो निबन्धों में, डॉ० वी० एस० पाठक के ग्रन्थ "हिस्ट्री ऑफ शैव कल्ट इन नार्दर्न इण्डिया" तथा डॉ० डेविड एस० लोरेंजन के ग्रन्थ "दि कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" में इनका विस्तार देखा जा सकता है ।

हमने "आगममीमांसा" (पृ० ५५) में मैत्र्युपनिषत्, याज्ञवल्क्यस्मृति, ललितविस्तर और गाथासप्तशती के वचनों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि काषायवस्त्र, त्रिदण्ड, खट्वांग आदि का धारण और भस्मोद्धूलन आदि विधियाँ लकुलीश के प्रादुर्भाव से पहले भी श्रीकण्ठप्रवर्तित पाशुपत मत में प्रचलित थीं । ऊपर धम्मपद की चर्चा आई है । गाथासप्तशती के वचन से यह भी ज्ञात होता है कि कापालिक दीक्षा में स्त्रियों का भी अधिकार मान्य था । वराहमिहिर की बृहत्संहिता और बृहज्जातक की टीकाओं में, हर्षचरित, कादम्बरी, दशकुमारचरित, मालतीमाधव, कथासरित्सागर, यशस्तिलकचम्पू, मत्तविलासप्रहसन, कर्पूरमंजरीसट्टक, नलचम्पू, प्रबोधचन्द्रोदयनाटक आदि में वर्णित कापालिक मत का स्वरूप कुल, कौल, क्रम, मत और त्रिक सम्प्रदायों में प्रतिपादित विधियों से ही नहीं, बौद्ध तन्त्रों में वर्णित विधियों से भी बहुत-कुछ मिलता-जुलता है । डॉ० आर० सी० भाण्डारकर ने जिन तीन शाक्त तत्त्वों का उल्लेख किया है, वे सब उक्त शैव और बौद्ध तन्त्रों में भी उपलब्ध हैं । पाशुपत और कापालिक मतों की आजकल दक्षिण और वाम नाम से प्रसिद्ध तन्त्रों के उद्भव और विकास में क्या भूमिका रही, इस विषय पर गंभीरता से विचार होना चाहिये ।

दसवीं शताब्दी के आसपास कर्णाटक राज्य में कालामुख सम्प्रदाय की प्रवृत्ति के प्रमाण शिलालेखों से मिलते हैं । इसके स्थान पर आजकल वहां वीरशैव सम्प्रदाय प्रतिष्ठित है । यामुनाचार्य द्वारा वर्णित कालामुख सम्प्रदाय के स्वरूप से यह भिन्न है । हम समझते हैं कि सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार उसमें परिवर्तन हुआ । इस कार्यशाला में वीरशैव मत पर भी अलग से निबन्ध प्रस्तुत हुआ है । अतः हम यहां उसकी चर्चा छोड़कर यामुनाचार्य द्वारा "आगमप्रामाण्य" (पृ० ९३-९४) में वर्णित कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का स्वरूप प्रदर्शित कर रहें है, क्योंकि इन दोनों सम्प्रदायों का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ हमें अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है ।

कापालिक मत में छः प्रकार की मुद्राओं के विज्ञान से और उनको धारण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, ब्रह्म की अवगति (ज्ञान) से नहीं । छः प्रकार की मुद्राओं के तत्त्व को जानने वाला, पर-मुद्रा में विशारद व्यक्ति निर्वाण को प्राप्त कर सकता है । कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत— ये ही छः मुद्राएं कही जाती हैं । उपमुद्रा में कपाल और खट्वांग परिगृहीत हैं । इन मुद्राओं को धारण करने वाले का पुनर्जन्म नहीं होता, अर्थात् वह मुक्त हो जाता है ।

कालामुख सम्प्रदाय के अनुयायी मानते हैं कि समस्त शास्त्रनिषिद्ध कपालपात्र में भोजन, शवभस्म से स्नान तथा उसका प्राशन, लगुडधारण, सुराकुंभस्थापन, उस कुंभ में देवताओं का अर्चन आदि विधियों से ही समस्त दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं ।

रामानुजाचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र के अपने श्रीभाष्य में कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का इसी रूप में वर्णन किया है । संभवतः इसी प्रकार की आलोचना से आन्दोलित होकर कर्णाटक राज्य में सिद्धान्त-शैवागमों के आधार पर कालामुख सम्प्रदाय के संशोधित स्वरूप वीरशैव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हुई हो, यद्यपि इस सम्प्रदाय की लिंगधारण आदि विधियां हमें मोहेंजोदड़ो के काल तक ले जाती हैं । इस प्रसंग में हम उस समय वहां प्रचलित जैन सम्प्रदाय की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं कर सकते ।

कापालिक और कालामुख सम्प्रदाय का परिचय डॉ0 डेविड एन0 लोरेंजन ने "दि कापालिक्स एण्ड कालामुख्स" नामक अपने ग्रन्थ में बड़े परिश्रम से प्रस्तुत किया है । इसको हम पूरी परीक्षा के बाद ही ग्रहण कर सकते हैं । लकुलीश से प्राचीन पाशुपत मत की सत्ता को मानने के लिये वे तैयार नहीं हैं । लकुलीश को भी वे उतना प्राचीन नहीं मानते, जितना कि डॉ0 आर0 सी0 भाण्डारकर आदि ने उनको बताया है । उनकी ये सारी उक्तियां पाश्चात्य विद्वानों के एक पूर्वनिर्धारित निश्चित लक्ष्य को उजागर करती हैं । वस्तुतः लकुलीश पाशुपत यह नाम ही इससे प्राचीन पाशुपत मत की सत्ता को स्वीकार करता है । यह शोचनीय स्थिति है कि पाश्चात्य विद्वानों के अनुकरण पर कुछ भारतीय विद्वान् भी अपनी पूरी परम्परा पर बिना ध्यान दिये भारतीय विद्या के प्रत्येक क्षेत्र में विदेशी प्रभाव

को खोजने में अधिक परिश्रम करते हैं । यह भारतीय मनीषा का आत्मसमर्पण ही तो है ।

हरदत्ताचार्य विरचित आठ श्लोकों वाली गणकारिका की ऊपर चर्चा आई है । इन आठ श्लोकों में लकुलीश-पाशुपत मत की समस्त मान्यताएं अतिसंक्षेप में संगृहीत कर दी गयी हैं । इस गणकारिका के और पाशुपत मत के अन्य ग्रन्थों के आंधार पर सायण-माधव बन्धुओं ने अपने सर्वदर्शनसंग्रह में लकुलीश-पाशुपत मत को इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

गुरु

पाँच-पाँच भेद वाले आठ और तीन भेदवाले एक, कुल नौ गणों का वेत्ता, शिष्य को संस्कार से सम्पन्न करने वाला ही यहां गुरु कहा गया है । १. लाभ, २. मल, ३. उपाय, ४. देश, ५. अवस्था, ६. विशुद्धि, ७. दीक्षाकारी और ८. बल नामक आठ गणों के पांच-पांच भेद होते हैं और नवम गण में तीन प्रकार की वृत्तियों का समावेश किया गया है ।

१. लाभ

विधीयमान उपाय के फल को लाभ कहा जाता है । इसके ज्ञान, तप, नित्यत्व, स्थिति और शुद्धि नामक पांच भेद माने गये हैं, अर्थात् आगे बताये गये पांच प्रकार के उपायों से साधक को ज्ञान, तप आदि की प्राप्ति होती है, अथवा इन उपायों के अनुष्ठान से साधक के चित्त में पूर्व में अनभिव्यक्त भावों की अभिव्यक्ति होती है ।

२. मल

आत्मा में छिपे हुए दुष्ट भाव (विचार) ही यहां मल के नाम से जाने जाते हैं । मिथ्याज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु, च्युति और पशुभाव का कारण होने से इस मल के भी पांच प्रकार हो जाते हैं । शास्त्रों में इसको हेयकोटि में रखा गया है ।

३ उपाय

साधक के मिथ्याज्ञान आदि पांच प्रकार के मल को दूर कर उसके चित्त की शुद्धि के साधन को ही उपाय कहा है । वास, चर्या, जपध्यान, सदा रुद्रस्मृति और प्रसाद ये ही वे उपाय हैं, जिनसे

ज्ञान, तप आदि का लाभ (प्राप्ति) होता है । सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ६१) में प्रसाद के स्थान पर प्रपत्ति शब्द प्रयुक्त है, किन्तु कौण्डिन्य (पृ० १३०) ने उपायों में प्रसाद की ही गणना की है ।

४. देश

जिनका आश्रय लेकर, अर्थात् जहाँ निवास कर अर्थ का अनुसन्धान करते-करते साधक अपने ज्ञान और तप की वृद्धि कर सकता है, उन्हें यहां देश कहा गया है । गुरु, जन, गुहादेश, श्मशान और रुद्र, ये पांच इसके भेद माने जाते हैं ।

५. अवस्था

ऊपर प्रदर्शित पांच प्रकार के लाभ की प्राप्ति तक एक निश्चित मर्यादा में साधक को रहना पड़ता है । यह स्थिति ही यहां अवस्था के नाम से जानी जाती है । इसके व्यक्त, अव्यक्त, इन्द्रियजय, छेद और निष्ठा नामक पांच भेद हैं । सर्वदर्शनसंग्रह (पृ० ६१) में छेद के स्थान पर दान शब्द प्रयुक्त है । यह इसलिये है कि छेदावस्था में मुमुक्षु योगी अपने सर्वस्व का परित्याग कर देता है । छेद और निष्ठा शब्दों पर आगे विचार किया जायगा ।

६. विशुद्धि

ऊपर वर्णित मिथ्याज्ञान आदि पांच प्रकार के मल का आत्यन्तिक अपोहन, पूरी तरह से निवृत्ति ही विशुद्धि मानी जाती है । मिथ्याज्ञान आदि प्रतियोगियों (विपरीत भावों) के कारण यह पांच प्रकार की होती है । जैसे कि मिथ्याज्ञान की हानि, अधर्म की हानि, आसक्ति बढ़ाने वाले कारणों की हानि, अपने निर्मल स्वभाव से च्युति का ज्ञान और पशुभाव की हानि, अर्थात् अपने निर्मल स्वरूप में अवस्थान ।

७. दीक्षाकारी

दीक्षाकारी नामक सप्तम गण में द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु की गणना की जाती है, अर्थात् ये पांच दीक्षा के कारक तत्त्व हैं, इनकी सहायता से साधक की आत्मा के निर्मल होने पर उसे दीक्षा की पात्रता प्राप्त होती है ।

८. बल

बल नाम के अष्टम गण में गुरुभक्ति, मति का प्रसाद, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को जीतने वाली बुद्धि, धर्म और अप्रमाद का समावेश किया गया है ।

९. वृत्ति

पाँच प्रकार के मल धीरे-धीरे कृश होते चले जाय, इसके लिये अन्न, वस्त्र आदि की अर्जन के शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय ही यहां वृत्ति के नाम से जाने जाते है । इसके भैक्ष्य, उत्सृष्ट और यथालब्ध नामक तीन भेद है । गणकारिकाव्याख्या (पृ० ४-५) में इनका लक्षण और ऊपर वर्णित व्यक्त, अव्यक्त आदि अवस्थाओं के भेद से इनकी व्यवस्था दिखाई गई है ।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" इस वचन के अनुसार मनुष्य की सारी प्रवृत्तियां किसी न किसी लाभ के लिये होती हैं । इसलिये गणकारिका में लाभ को सबसे पहले निर्दिष्ट किया गया है, किन्तु बिना उपाय के कोई वस्तु मिल नहीं सकती और उपाय का अनुष्ठान कोई कमजोर व्यक्ति नहीं कर सकता । इसलिये इन आठ गणों का निरूपण करते समय यहां पहले **बल** का निरूपण किया है (पृ० ५-७) । मोक्षशास्त्र में तो वीतराग व्यक्ति की ही प्रवृत्ति होती है, यहां बल की क्या आवश्यकता है, ऐसा प्रश्न हो सकता है । उसी के समाधान के लिये **विशुद्धि** का विवरण उपस्थापित है कि अज्ञान, अधर्म आदि की हानि (नाश) के लिये ही यहां बल (दृढ़ संकल्पशक्ति) की अपेक्षा है (पृ० ७) । बल और विशुद्धि के भेद से जीव की **अवस्था** में भेद हो जाता है, अतः आगे अवस्था का विवरण है (पृ० ८) । अवस्था के भेद से अधिकार के भेद निश्चित है । तदनुसार ही यहां **दीक्षा** के उपादानों का निरूपण है (पृ० ८-९) । दीक्षा-प्राप्ति के बाद ही ज्ञान आदि का **लाभ** होता है (पृ० ९-१६), यह लाभ विशिष्ट **देश** आदि में नियमों के अनुसार ही मिल सकता है (पृ० १६-१७) और इसके लिये वास, चर्या आदि **उपायों** का सहारा लेना पड़ता है (पृ० १७-२२) । अतः इसी क्रम में गणकारिका और उसकी व्याख्या में इनका निरूपण है । प्रस्तुत निबन्ध में द्वितीय श्लोक के उद्देश क्रम के अनुसार इनका निर्देश किया गया है । उपायों के अनुष्ठान से केवल मल की निवृत्ति ही नहीं होती, अपितु पांच प्रकार के लाभों

की प्राप्ति भी होती है । इस प्रक्रिया को पूरा करने के लिये ही साधकों के लिये त्रिविध **वृत्ति** का विधान है । इनमें से लाभ, मल, उपाय और देश का निरूपण कौण्डिन्यभाष्य (पृ० १३०) में भी मिलता है ।

पंचार्थ

गणकारिका प्रतिपादित इन नौ गणों के अतिरिक्त लकुलीश पाशुपत मत में १. कार्य, २. कारण, ३. योग, ४. विधि और ५. दुःखान्त नामक पांच पदार्थो का सविशेष वर्णन मिलता है । लकुलीश विरचित पाशुपत सूत्रों के पांच अध्यायो में शिव के ऊपर वर्णित पांच मन्त्रों के साथ इन पांच पदार्थो का भी निरूपण हुआ है और कौण्डिन्य के भाष्य में इनकी व्याख्या की गई है । इन पांच पदार्थों की व्याख्या करने के कारण ही यह पंचार्थभाष्य के नाम से प्रसिद्ध है । इनका स्वरूप हम यहां संक्षेप में इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—

१. कार्य

इस जगत् में जो कुछ भी अस्वतन्त्र, अर्थात् पराधीन है, उसका कार्यकोटि में समावेश होता है । इसके **विद्या**, **कला** और **पशु** नामक तीन भेद हैं । इन तीनों के यथार्थ स्वरूप को जान लेने पर व्यक्ति के संशय आदि की निवृत्ति हो जाती है । इनमें से विद्या पशु का गुण है । यह दो प्रकार की है— बोध-स्वभाव और अबोध-स्वभाव । बोधस्वभावा विद्या के विवेकप्रवृत्ति और अविवेकप्रवृत्ति नामक दो भेद होते हैं । इसी का नाम **चित्त** भी है । सभी प्राणी इस चित्त की सहायता से ही बोधात्मक प्रकाश से अनुगृहीत होकर सामान्य रूप से विवेचित अथवा अविवेचित अर्थ को जानने में समर्थ होते हैं । इनमें से विवेक-प्रवृत्ति प्रमाणों की सहायता से सक्रिय हो पाती है । अबोधस्वभावा विद्या में पशुभाव के प्रयोजक धर्म और अधर्म का समावेश माना गया है । **कला** स्वयं अचेतन है और यह चेतन तत्त्व के अधीन रह कर कार्य करती है । इसके दो भेद है—कार्याख्या और कारणाख्या । कार्याख्या कला के दस भेद हैं— पृथिवी आदि पांच तत्त्व और रूप आदि पांच गुण । कारणाख्या कला के तेरह भेद है—ज्ञानेन्द्रियपंचक, कर्मेन्द्रियपंचक एवं अध्यवसाय, अभिमान और संकल्पनामक वृत्तियों के भेद से त्रिधा विभक्त बुद्धि, अहंकार और मन नामक त्रिविध अन्तःकरण । पशुभाव से युक्त

जीव को **पशु** कहा जाता है । यह भी दो प्रकार का है— सांजन और निरंजन । शरीर और इन्द्रियों से संयुक्त पशु सांजन तथा इनसे रहित निरंजन कहलाता है[1] । इस विषय पर आगे विचार किया जायगा ।

२. कारण

समस्त जागतिक पदार्थों की सृष्टि और संहार करने वाला, उन पर अनुग्रह करने वाला तत्त्व ही कारण पदार्थ है । यह एक ही है, किन्तु गुण और कर्म के भेद से इसके पति और साद्य नामक दो भेद होते है । इनमें से पति निरतिशय दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न है और इसीलिये निरतिशय ऐश्वर्य से भी सदा सम्पन्न रहता है । जो भविष्य में इन सब शक्तियों से सम्पन्न होता है, उसे साद्य पति[2] कहा जाता है ।

३. योग

चित्त के माध्यम से आत्मा और ईश्वर के परस्पर के सम्बन्ध को स्थापित करने वाले साधन को ही योग कहते हैं । इसके क्रिया लक्षण और क्रियोपरम लक्षण दो भेद हैं । [3]जप, ध्यान आदि का

---

१. सिद्धान्तशैव मत में अनादिमुक्त और मुक्त शब्द इनके लिये प्रयुक्त हैं । मुक्त जीव में भी शिव के समान सर्वज्ञता आदि छः प्रकार के ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति हो जाती है, किन्तु उनको ये गुण शिव के प्रसाद से ही मिलते हैं । देखिये तत्त्वप्रकाश का यह श्लोक—"मुक्तात्मानोऽपि शिवाः किन्त्वेते यत्प्रसादतो मुक्ताः । सोऽनादिमुक्त एको विज्ञेयः पञ्चमन्त्रतनुः ॥" (श्लो. ७) ।

२. सायण-माधव का कहना है कि पति और साद्य का स्वरूप आदर्शकार आदि तीर्थकरों ने विस्तार से बताया है ।

३. यहाँ जप को भी क्रियालक्षण योग का एक अंग माना गया है । सूत्रकार (५.२१-२३) का भी कहना है कि मन्त्र के पाठ से और ॐकार में ध्यान एवं धारणा को स्थिर करने पर साधक योगी निष्ठा योग की सहायता से रुद्र के सायुज्य को प्राप्त करता है । जप की यह योगांगता वैष्णव और शैव आगमों में भी वर्णित है । जयाख्यसंहिता (३३.११) के योगाख्यान पटल में और मृगेन्द्रागम के योगपाद (श्लो० ३) में इसको देखा जा सकता है । वाचिक, उपांशु और मानस नामक त्रिविध जप का तो निरूपण सर्वत्र मिलता है, किन्तु लक्ष्मीतन्त्र (३९.३५) में जप का ध्यानात्मक चौथा प्रकार भी दिखाया गया है । सात्वतसंहिता के भाष्य (पृ० ८५, ११५) में भी यह विषय देखा जा सकता है । जयाख्यसंहिता के चौदहवें जपविधान पटल में

क्रिया लक्षण योग में समावेश माना जाता है, क्योंकि इसमें शारीरिक क्रियाओं की प्रधानता रहती है । क्रियोपरम लक्षण योग निष्ठा, संवित्, गति आदि नामों से जाना जाता है । इस योग में किसी शारीरिक क्रिया की अपेक्षा नहीं रहती, केवल मन पर नियन्त्रण स्थापित किया जाता है ।

४. विधि

धर्म और अर्थ के साधक व्यापार को विधि कहते हैं । यह व्यापार दो प्रकार का है— एक प्रधानभूत और दूसरा गुणभूत । इनमें से प्रथम प्रधानभूत व्यापार साक्षात् धर्म का निष्पादक है । इसे चर्या कहते हैं । यह चर्या दो प्रकार की है— व्रत और द्वार । भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार, जप और प्रदक्षिणा को व्रत कहा जाता है । उपहार के छः अंग हैं— हसित, गीत, नृत्य, हुडुक्कार, नमस्कार और जप । द्वार चर्या में क्राथन, स्पन्दन, मन्दन, शृंगारण, अवितत्करण और अवितद्भाषण का समावेश होता है । इन सारी द्वारचर्याओं का उपयोग यहां समाज से अपने को अलग करने के लिये किया जाता है, जिससे कि साधना में किसी प्रकार का सामाजिक विघ्न उपस्थित न हो । गुणभूत विधि ऊपर वर्णित चर्या की सहायिका मानी जाती है । इसमें अनुस्नान, निर्माल्यग्रहण, लिंगधारण आदि का समावेश होता है । भिक्षाग्रहण, उच्छिष्टभक्षण आदि से उत्पन्न होने वाली घृणा की निवृत्ति के लिये इनकी उपयोगिता मानी गई है ।

५. दुःखान्त

आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक के भेद से त्रिविध दुःख की निवृत्ति को ही यहां दुःखान्त कहा गया है । केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही इसकी प्राप्ति होती है । ज्ञान अथवा वैराग्य से भी इसकी उपलब्धि असंभव है । यह दुःखान्त अनात्मक और सात्मक भेद से दो प्रकार का है । सभी प्रकार के दुःखों का अत्यन्त उच्छेद अनात्मक दुःखान्त है । न्याय-वैशेषिक मत में मोक्ष का यही स्वरूप है । दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति लक्षण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति सात्मक दुःखान्त है । इनमें से दृक्शक्ति यद्यपि एक ही है, किन्तु

इसका विस्तार देखा जा सकता है । ऐसा लगता है कि जप की योगांगता का सर्वप्रथम निरूपण पाशुपत मत में हुआ । सगर्भ और अगर्भ जप का भी शास्त्रों में विधान है ।

दर्शन, श्रवण, मनन, विज्ञान और सर्वज्ञता के भेद से इसके पांच प्रकार हो जाते हैं । इनमें से समस्त सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट चाक्षुष एवं स्पर्शनेन्द्रियजन्य ज्ञान को दर्शन, समस्त शब्दविषयक ज्ञान को श्रवण, समस्त चिन्तनविषयक ज्ञान को मनन, समस्त शास्त्रों के ज्ञान को विज्ञान और उक्त-अनुक्त समस्त विषयों के संक्षेप और विस्तार से स्वाभाविक रूप से स्वतः प्रादुर्भूत होने वाले, [१]सदोदित ज्ञान को सर्वज्ञत्व के नाम से जाना जाता है । यह सब धीशक्ति (दृक्शक्ति) का प्रपंच है । क्रियाशक्ति यद्यपि एक ही है, किन्तु इसके स्वरूप को समझाने के लिये इसके तीन भेद किये जाते हैं— १. मनोजवित्व, २. कामरूपित्व और ३. विकरणधर्मित्व । अत्यन्त तीव्र गति से सम्पन्न होनेवाली क्रिया पहली, कर्म आदि की अपेक्षा किये बिना स्वेच्छा से विविध रूपों वाले नाना भावों को निष्पन्न करने वाली क्रिया दूसरी और सभी प्रकार के साधनों के उपसंहृत हो जाने पर भी सदा निरतिशय ऐश्वर्य की सम्पन्नता तीसरी क्रियाशक्ति है ।

लकुलीश पाशुपत मत की विशेषता

अन्यत्र दुःखनिवृत्ति मात्र को दुःखान्त माना गया है, यहां दुःख की निवृत्ति के साथ इस अवस्था में परम ऐश्वर्य की प्राप्ति भी होती है । अन्यत्र अनित्य पदार्थों का ही कार्यकोटि में समावेश किया गया है, यहां नित्य पशु की भी इसी में गणना की गई है । अन्यत्र कारण की सापेक्षता मानी गई है, यहां सर्वनिरपेक्ष भगवान् का ही कारणकोटि में समावेश माना गया है । अथवा अन्यत्र अस्वतन्त्र प्रधान, परमाणु आदि का कारणकोटि में समावेश है, किन्तु यहां स्वतन्त्र भगवान् की ही कारणता स्वीकृत है । अन्यत्र योग का फल कैवल्य-लाभ मात्र है, यहां दुःखान्त के साथ पारमैश्वर्य की प्राप्ति भी मानी गई है । अन्यत्र पुनरावृत्तिफलक स्वर्ग आदि ही विधि का प्रयोजन है, किन्तु पाशुपत मत की विधि के अनुष्ठान से साधक पुनरावृत्ति से मुक्त होकर पति के साथ सामीप्य आदि का लाभ करता है । न्याय-वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा पाशुपत मत की यह भी विशेषता है कि सांख्यदर्शन के समान यहां सत्कार्यवाद स्वीकृत है, असत्कार्यवाद नहीं ।

---

१. परब्रह्म की सततोदित (नित्योदित) और शान्तोदित नामक दो दशाओं का वर्णन शैव और वैष्णव आगमों में मिलता है । देखिये अष्टप्रकरण (पृ० २२) और सात्वतसंहिता (पृ० २१-२३) का उपोद्घात ।

निष्कर्ष

इस पूरी सामग्री को एवं गणकारिकाव्याख्या और पाशुपत सूत्रों के कौण्डिन्य भाष्य को देखकर हम इस कार्यशाला के लिये निर्दिष्ट दीक्षा आदि विषयों के स्वरूप पर कुछ प्रकाश डाल सकते हैं ।

गुरु–शिष्य

गुरु की संक्षेप में चर्चा ऊपर आ चुकी है । गणकारिकाव्याख्या (पृ० ३) में बताया गया है कि सुपरीक्षित ब्राह्मण का दीक्षाविशेष से और पंचार्थज्ञान से संस्कार करने वाला व्यक्ति ही गुरु कहलाता है । आचार्य, आचार्याभास, गुरु और शिष्य के लक्षण गणकारिकाव्याख्या (पृ० ४,६–९) और कौण्डिन्यभाष्य (पृ० ३–४) में मिलते हैं । दशविध यमों में यहां गुरुशुश्रूषा भी परिगणित है । इस प्रसंग में भाष्य (पृ० २८) में अनेक श्लोक मिलते हैं, जिनमे तन्त्रों की अन्य शाखाओं के समान ही गुरु और आचार्य की महिमा वर्णित है । गणकारिका में गुरु को देश (आश्रयस्थल) और दीक्षाकारी बताया है और गुरुभक्ति को बल–प्राप्ति का अंग माना है । साधक और आचार्य के भेद को बताते हुए व्याख्याकार (पृ० ३) कहते हैं कि जो साधना के सहारे केवल अपने लिये अपवर्ग की कामना करता है, वह साधक है और आचार्य वह है, जिसको दूसरों को भी दीक्षा द्वारा मुक्त कराने का अधिकार प्राप्त है । उसके लिये ऊपर निर्दिष्ट नौ गणों का ज्ञाता होना अपेक्षित है । आगे चलकर तन्त्रशास्त्र की विभिन्न शाखाओं में समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य नामक चार भेद माने जाने लगे । इनमें से दूसरों को दीक्षा देने का अधिकार केवल आचार्य पद पर अभिषिक्त व्यक्ति को ही दिया गया है । शिष्य के विषय में भाष्य (पृ० ४) में विशेष बात यह मिलती है कि वह ब्रह्मावर्त में उत्पन्न हुआ हो, कुलीन हो, जिज्ञासासम्पन्न हो और उसकी इन्द्रियां पटु (तीक्ष्ण) हो । व्याख्याकार (पृ० ९) ने आचार्य के पर और अपर नामक दो भेद बताये हैं । गुरु के रूप में अपर आचार्य की चर्चा ऊपर हो चुकी है । यहां भी अपर आचार्य संबन्धी दो [१]श्लोकों को उद्धृत करने के उपरान्त भगवान्

---

१. शास्त्रानुगे प्रचारे योऽभिनिविष्टः प्रकृष्टधीः कुशलः ।
स भवति मतः किल सतामाचार्यो ज्ञानहेतुश्च ॥
आचारे स्थापयन् शिष्यान् यस्मादाचरति स्वयम् ।
आचिनोति च शास्त्रार्थमाचार्यस्तेन कीर्त्यते ॥ (पृ० ९)

महेश्वर को पर गुरु कहा गया है । योगसूत्र (१.२६) में भी ईश्वर को "पूर्वेषामपि गुरुः" कहा गया है । "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥" इस उपनिषद् वचन की योजना भी हम इसी प्रसंग में कर सकते हैं ।

दीक्षा

गणकारिका (श्लो० २, ५) में दीक्षाकारी गण के अन्तर्गत द्रव्य, काल, क्रिया, मूर्ति और गुरु की गणना की गई है, अर्थात् ये पांच दीक्षा के कारक तत्त्व हैं । इनकी सहायता से ऊपर सूचित शिष्य की आत्मा के निर्मल होने पर उसे दीक्षा की पात्रता प्राप्त होती है । इनमें से द्रव्य में विद्या, कला और पशु नामक पूर्व वर्णित त्रिविध कार्य का समावेश है, किन्तु इनकी व्याख्या यहां भिन्न प्रकार से की गई है । शिष्य में विद्यमान विद्या उसे दीक्षा का अधिकार प्रदान कराती है और आचार्यगत विद्या दीक्षा का सम्पादन करती है । कला में दर्भ, भस्म, चन्दन, सूत्र, पुष्प, धूप और मन्त्र का समावेश है । ये दीक्षा के अंग हैं । पशु का अर्थ संस्कारयोग्य ब्राह्मण है । दीक्षा का काल पूर्वाह्ण माना गया है । कारणमूर्ति (शिवप्रतिमा) और शिष्य का संस्कार क्रिया कहलाती है । व्याख्याकार का कहना है कि इसका क्रम संस्कारकारिका में दिखाया गया है । शिवमन्दिर में शिवलिंग के समीप दक्षिण दिशा में विद्यमान भूप्रदेश को मूर्ति कहते हैं । गुरु की चर्चा ऊपर हो चुकी है । इस पूरे प्रकरण का अभिप्राय यह है कि विद्यासम्पन्न गुरु विद्या-सम्पन्न शिष्य की परीक्षा कर दर्भ आदि कलाओं की सहायता से शिष्य के पशुभाव की निवृत्ति के लिये उसको देवमन्दिर में बैठाकर उसका संस्कार करता है । यह संस्कार ही दीक्षा है । यहां बताया गया है कि इस तरह की विशिष्ट दीक्षा का विधान केवल पाशुपत दर्शन में ही है । यहां विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि दीक्षा, प्रतिष्ठा आदि यहां निर्दिष्ट सारे विषय शैवागमों के क्रियापाद में ही मिलते हैं । गुरु और शिष्य की विद्या का संबन्ध हम विद्यापाद से जोड़ सकते हैं ।

मन्त्र

ईशान, तत्पुरुष, अघोर, सद्योजात और वामदेव नामक पांच मन्त्रों की और इन्हीं नामों से प्रसिद्ध शिव के पांच मुखों से विनिर्गत पंचस्रोतस् आगमिक वाङ्मय की चर्चा कार्यशाला के विषयोपस्थापन में हो चुकी है । विमलप्रभाकार (४।७०) ने भी इनका उल्लेख किया

है । शैवागमों में शिव को पंचमन्त्रतनु कहा गया है और इन पांच मन्त्रों को पांच भूतों का प्रतिनिधि माना गया है । अन्य तत्त्वों का विकास और संकोच इन्हीं में होता है और ये भी अन्ततः निष्कल तत्त्व में विलीन हो जाते हैं । ये पांच मन्त्र शैवागमों में पंचब्रह्म के नाम से जाने जाते हैं । इस शब्द का प्रचलन तन्त्रशास्त्र की अन्य शाखाओं में भी देखने को मिलता है । वहां इसकी व्याख्या अपने-अपने सम्प्रदाय के अनुसार की गई है ।

मातृका, न्यास, पीठ आदि का उल्लेख हमें उपलब्ध पाशुपत वाङ्मय में नहीं मिलता । मन्त्रों का भी यहाँ बहुत विस्तार नहीं है । इस प्रकार इस मत को वैदिक और तान्त्रिक मतों को जोड़ने वाली कड़ी माना जा सकता है । हम देश शब्द को ही लें । गुरु, जन, गुहा, श्मशान और रुद्र ये पांच भेद इसके माने गये हैं । ऋग्वेद और यजुर्वेद में पर्वताग्र, नदीतीर और नदीसंगम पवित्र स्थल के रूप में वर्णित हैं । शून्यागार, चतुष्पथ आदि का भी उल्लेख मिलता है । बौद्ध ग्रन्थ महामायूरी में उन स्थानों की चर्चा है, जहाँ यक्षों का निवास माना गया था । शैवागमों में २२४ भुवनों की चर्चा है । इसी तरह पीठों की विभिन्न नामावलियां हमें उपलब्ध होती हैं । इनमें अनेक नाम एक सरीखे हैं । यह सब देश का ही तो विस्तार है । यह सामान्य मानवीय अवधारणा है कि कुछ विशेष स्थलों पर सिद्धिलाभ सरलता से होता है । पीठों की भी कल्पना इसी आधार पर हुई है । कापालिकों की मुद्राओं और उपमुद्राओं का उल्लेख ऊपर हो चुका है । ये तन्त्रशास्त्र की अन्य शाखाओं में वर्णित मुद्राओं से भिन्न हैं, किन्तु बौद्ध तन्त्रशास्त्र में इनको मान्यता प्राप्त है ।

चर्या और योग

ऊपर चर्या की उपाय में गणना की गई है । पाशुपत चर्या तान्त्रिक चर्या के अधिक समीप है । श्मशानवास, शृंगारण आदि द्वार चर्याएं, हसित-गीत-नृत्त आदि षडंग उपहार, चित्त की अति निर्मलता के लिये निरन्तर योगाभ्यास का विधान— इन सबका यहां विधि और योग में समावेश किया गया है । पाशुपत योग और विधि की चर्चा ऊपर हो चुकी है । यमों की संख्या यहां दस बताई गई है । ये दस प्रकार के यम योग और विधि के समान रूप से अनुग्राहक हैं । चर्या को यहां प्रधान विधि में स्थान दिया गया है और चर्या

की अनुग्राहक भस्मस्नान आदि विधियों को गौण स्थान मिला है । ऊपर विधि के प्रसंग में चर्या की चर्चा आ चुकी है । व्याख्याकार (पृ० १७-१९) ने इसका विस्तार से विवरण दिया है । आगे (पृ० २१) इन्होंने इसे धर्म का अंग माना है, साथ ही (रुद्र) स्मृति को स्थिति (मुक्ति) का । द्विविध चर्या के अनुष्ठान से निर्मल-चित्त साधक की योग में रुचि जगती है और योग के अभ्यास से साधक योगी को दूरदर्शन, दूरश्रवण, मनन और विज्ञान की प्राप्ति होती है । ऐसे योगी को यहां सिद्ध कहा गया है । अहिंसा, ब्रह्मचर्य, सत्य, असव्यवहार, अस्तेय, अक्रोध, गुरुशुश्रूषा, शौच, आहार-लाघव और अप्रमाद इन दस यमों का कौण्डिन्य के भाष्य (पृ० १५-३४) में अतिविस्तार से वर्णन है । अनेक पुराणों में भी दस यमों की चर्चा मिलती है । अन्तिम यम [१]अप्रमाद को यहां विशेष स्थान दिया गया है । इन दस यमों के विषय में बताया गया है कि जब ये चर्या के अनुग्राहक रहते हैं, तो विधि में इनका अन्तर्भाव माना जाता है और जब ये योग की प्रक्रिया के सहायक बनते हैं, तब योग में । इस प्रकार यमों की चर्या (विधि) और योग दोनों में स्थिति मानी गई है । क्रिया और विद्या की ऊपर चर्चा हुई है । इनके साथ योग और चर्या (विधि) को मिलाने से शैवागमों में विद्या, क्रिया, योग और चर्या नामक चारों पादों के विषय संगृहीत हो जाते हैं । पाशुपत मत में योग के बाद विधि की गणना है, उसी तरह शैवागमों में भी योगपाद के बाद ही चर्यापाद आता है । बौद्ध तन्त्रों का क्रम इससे भिन्न है । वहां का क्रम है— क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग ।

असंव्यवहार का अर्थ वर्णाश्रम धर्म का पालन करने वालों के साथ लौकिक व्यवहार का निषेध बताया गया है । इसीलिये कूर्मपुराण आदि में पाशुपतों के लिये अत्याश्रमी शब्द प्रयुक्त है । शैवागमों में शास्त्रों के लौकिक, वैदिक, आध्यात्मिक, आतिमार्गिक और मान्त्रिक

---

१. "यथाविहितविधियोगानुष्ठाने सततमेवोद्यमोऽप्रमादः । अयं च प्रधानभूतो यमः । तथा चोक्तम्—

यतिधर्मस्य सद्भावः श्रूयतां गुणदोषतः ।
अप्रमादात् परा सिद्धिः प्रमादान्नरकं ध्रुवम् ॥ इति ।

गणकारिकाव्याख्या (पृ० १४) में उद्धृत इस वचन के साथ-"अप्रमादी गच्छेद् दुःखानामन्तमीशप्रसादात्" (५.४०) यह सूत्र भी अप्रमाद के महत्त्व का प्रदर्शक है । अप्रमाद की ऊपर बल में भी गणना की गई है ।

नामक पांच विभाग किये गये है । कुछ विद्वान् पाशुपतों को भी अतिमार्गी बताते हैं ।

निष्ठा

यहां अनेक स्थलों पर निष्ठा शब्द प्रयुक्त है । कौण्डिन्य ने इसको योग का ही एक प्रकार बताया है । दूसरा प्रकार क्रियायोग है । पातंजल योगसूत्र और पुराणों में क्रियायोग की चर्चा मिलती है, किन्तु निष्ठायोग का वहां कोई उल्लेख नहीं मिला । व्यक्त, अव्यक्त आदि अवस्थाओं में इसका पांचवां स्थान है । अन्य आचार्य इसी को सिद्धावस्था कहते हैं । पूर्व की चार अवस्थाएं साधकावस्था कहलाती हैं । निष्ठावस्था निरंजन पशु की अन्तिम अवस्था है । सांजन और निरंजन भेद से पशु के दो प्रकारों को बताने के बाद व्याख्याकार (पृ० ११) ने निरंजन पशु के तीन भेद किये हैं— संहृत, कैवल्यगत और निष्ठायोगयुक्त । आगे वहीं (पृ० १५) अतिगति, सायुज्य और स्थिति शब्दो को निष्ठा का पर्याय बताया गया है । अवधूत सिद्ध के मत से वही सिद्धावस्था है । उनका कहना है कि सिद्धावस्था के प्राप्त हो जाने पर सिद्धों के प्रति शिव का कोई अधिकार नहीं बचा रहता है (शिवः सिद्धान् प्रति उपरताधिकारः) । दूसरी तरफ सूत्रकार लकुलीश (५.२०) कहते हैं कि ऐसा सिद्धयोगी पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता । भाष्यकार को उद्धृत कर भासर्वज्ञ (पृ० १३) ने भी कहा है कि जप, तप, ध्यान आदि से सिद्ध योगी के पुण्य और पाप दोनों का क्षय हो जाता है । शैवागमों में कर्मसाम्य को शक्तिपात का कारण माना गया है और इस कर्मसाम्य की चर्चा महाभारत शान्तिपर्व के नारायणीय प्रकरण में भी है । "सुहृदः साधुकृत्या दुर्हृदः पापकृत्याम्" उपनिषद् का यह वचन भी सिद्ध योगी की सेवा करने वालों में उसके पुण्य की और उसको पीड़ा पहुँचाने वालों मे पाप की संक्रान्ति बता कर इसी विषय की ओर इंगित करता है ।

इस तरह से "सिद्ध" शब्द मुक्तावस्था और जीवन्मुक्तावस्था दोनों के लिये प्रयुक्त मिलता है । इन दोनों अवस्थाओं के सूक्ष्म अन्तर को स्पष्ट करने के लिये ही यहां मुक्तावस्था के लिये निष्ठा शब्द प्रयुक्त है । व्याख्याकार (पृ० ८) ने सिद्धावस्था से निष्ठावस्था को पूरी तरह से भिन्न माना है । इनके मत से पांचवीं अवस्था निष्ठा है, सिद्धावस्था नहीं । वृत्तियों का निरूपण करते समय इन्होंने

बताया है कि निष्ठावस्था में शरीर के अभाव में वहां किसी वृत्ति की अपेक्षा नहीं रहती । स्पष्ट है कि यहां पशु की मुक्तावस्था को ही "निष्ठा" कहा गया है, जीवन्मुक्तावस्था को नहीं, क्योंकि जीवन्मुक्तावस्था में तो शरीर की स्थिति मानी गई है । यह भी ध्यान देने की बात है कि अवधूत सिद्ध द्वारा प्रयुक्त "सिद्ध" शब्द भी मुक्त जीव के लिये ही प्रयुक्त है । इस विषय का विश्लेषण हम इस रूप में कर सकते हैं कि सिद्ध शब्द के इस दोहरे अर्थ को देखते हुए ही यहां मुक्तावस्था के लिये "निष्ठा" शब्द का प्रयोग किया गया है । इस स्थिति में छेदावस्था से यहां जीवन्मुक्तावस्था का ग्रहण किया जा सकता है । छेदावस्था के योगी की वृत्ति "यथालब्ध" मानी गई है । इस अवस्था के योगी अपना सब कुछ दूसरों को दे देते हैं ·। पाप और पुण्य भी उनका अपना नहीं रह जाता, सारे संसार-जाल से उनका संबन्ध विच्छिन्न हो जाता है । मात्र करुणावश जीवों के उद्धार के लिये वे जीवित रहते हैं । हम उन सिद्धों के प्रति नतमस्तक हैं ।

निरंजन जीव की ऊपर चर्चा आई है । यह निरंजन निष्ठावस्थापन्न योगी ही है । "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" (३.१.३) मुण्डकोपनिषद् के इस वचन में इसी की चर्चा की गई है । निरंजन शब्द सिद्धों और नाथों के साहित्य से भी जुड़ा है । लगता है वहां इसका अर्थ कुछ भिन्न हो गया है । ऊपर "निष्ठा" के पर्याय के रूप में अतिगति, सायुज्य और स्थिति शब्दों का उल्लेख हुआ है । एक पाशुपत सूत्र (५, ३३) में भी रुद्रसायुज्य चर्चित है । यहां सायुज्य शब्द साम्य का पर्यायवाची माना जा सकता है । यहां मात्र बन्ध से मुक्ति को ही मुक्ति नहीं कहा गया है, किन्तु इस स्थिति में पशु पति के सायुज्य को प्राप्त कर लेता है, अर्थात् स्वयं शिव के समान हो जाता है । शिव की समानता कैसे प्राप्त होती है, इस विषय में शैवशास्त्रों में चार मत निर्दिष्ट है— उत्पत्ति, संक्रान्ति, समावेश और अभिव्यक्ति । कालामुख सम्प्रदाय के अनुसार शिव की समानता का अर्थ है जीव में सर्वज्ञत्व आदि की उत्पत्ति । इनके मत से मुक्त जीव में मोक्षावस्था में पतिसदृश गुणों की उत्पत्ति होती है । पाशुपत मत में संक्रान्ति पक्ष अभिप्रेत है । इनका कहना है कि मोक्षावस्था में मुक्त आत्मा में पति के गुण उसी प्रकार संक्रान्त हो जाते हैं, जैसे कि कस्तूरी की सुगन्धि वस्त्र में आ जाती है । कापालिक समावेश पक्ष को मानते हैं । इनके मत से जीव के शरीर

में जैसे भूत, प्रेत आदि आविष्ट हो जाते हैं, उसी तरह से मुक्त पुरुष में शिव के गुणों का समावेश होता है । अभिव्यक्तिपक्ष को स्वीकार करने वाले शैवों का कहना है कि जीव में शिव के गुण तो विद्यमान ही हैं, किन्तु संसार दशा में मल से अवरुद्ध होने के कारण वे प्रकाशित नहीं होने पाते । मोक्ष दशा में मल के हट जाने से निजी स्वरूप प्रकट हो जाता है । संभवतः यह मत सिद्धान्तशैव मत के अनुयायियों का है । "प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्याऽऽगन्तवो मलाः" यह बौद्ध वचन भी इसी ओर इंगित करता है ॥

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

इन दोनों निबन्धों पर चर्चा प्रारम्भ करने से पहले मैं एक बात निवेदन करना चाहता हूँ । कल प्रो० समतानी जी ने भगवान् बुद्ध के तीन कायों में से संभोगकाय में तान्त्रिक रहस्यवाद को खोजने की कोशिश की थी, किन्तु ये तीन काय महायान सम्मत है । चतुर्थ काय जो सहजकाय या महासुखकाय है, उसमें रहस्यवाद खोजा जा सकता है । संभोगकाय से उसका कोई संबन्ध नहीं है । केवल बौद्ध तन्त्रों में ही नहीं, शैवागम के विद्वान् यहां बैठे है, शैवों और वैष्णवों मे भी भगवान् के लय, भोग और अधिकार नामक तीन कायों की कल्पना की गई है । यहाँ लयकाय भगवान् बुद्ध के धर्मकाय से मिलता जुलता है । भोगकाय संभोगकाय से और अधिकारकाय भगवान् बुद्ध का निर्माणकाय है । इस प्रकार इन तीन कायों में कोई रहस्यवाद नही है । चतुर्थ काय में इसको खोजा जा सकता है, किन्तु वह हमारी इस कार्यशाला का विषय नहीं है । इसके तो विषय निर्धारित है । उन निर्धारित विषयों तक ही हम सीमित रहे और बाकी का जो विषय है, हमारे बीच अनेक योग्य साधक है, उन साधकों के लिये हम उसको छोड़ दें तो अच्छा होगा । मैं समझता हूँ योग्य साधक के सामने ही तन्त्र की चर्चा होनी चाहिये, यही सोचकर जिन पांच तिब्बती विद्वानों को निमन्त्रित किया गया था, वे यहां उपस्थित नहीं हुए है । ऐसी कोई अनधिकार चेष्टा हम लोग नहीं करना चाहते ।

तन्त्र के रहस्यवाद से दो तरह के व्यक्ति जुड़े हुए हैं । वे है योग्य साधक या आजकल के तथाकथित योगी या ब्रह्मचारी । इनमें से सिद्ध लोगों के लिये आध्यात्मिक रहस्य छोड़ दे और उसका दुरुपयोग करने वाले बाबाओं के लिये दूसरा विषय छोड़ दे । आगम और तन्त्रशास्त्र में लौकिक कल्याण के जो मुख्य तत्त्व है, आज की सामाजिक परिस्थिति के लिये जिनकी आवश्यकता है, उन्हीं विषयो की चर्चा तक हम सीमित रहना चाहते है ।

सिद्धियों की बाबत भी मैं दो शब्द कह दूं । सिद्धियों की भी चर्चा हमें नहीं करनी है । वैयक्तिक साधना से जो लाभ मिलता है, वह व्यक्ति तक ही सीमित रहता है । इसका उदाहरण कविराज जी हैं । उनके गुरु श्री श्री विशुद्धानन्द जी महाराज थे । उनमें जो अलौकिक शक्ति थी, उन्हें जो सिद्धियां प्राप्त थी, वे कविराज जी में संक्रान्त नहीं हो सकी । योगसूत्र में बताया गया है कि कुछ सिद्धियां जन्म-जात होती हैं । तन्त्रशास्त्र के सामाजिक पक्ष को लेकर यह कार्यशाला आयोजित है, वैयक्तिक पक्ष को लेकर नहीं । वैयक्तिक साधना से जो मिलेगा, वह एक व्यक्ति तक ही सीमित रहेगा । आपने यहां सुना है कि बौद्ध और जैन वाङ्मय में सिद्धियों का निषेध किया गया है । निषेध करने के बाद भी अनेक अपक्व साधक सिद्धि के पीछे लगे रहते हैं । योगसूत्र में भी बताया गया है कि सिद्धियां तो मुक्ति के लिये अन्तराय है—"मुक्तौ अन्तराया व्युत्थाने सिद्धयः" । व्युत्थान दशा में ही सिद्धि की प्राप्ति होती है । अतः हम रहस्यवाद और सिद्धियों की चर्चा को छोड़ कर तन्त्रशास्त्र का सामाजिक विश्लेषण प्रस्तुत करना चाहते हैं ।

मुक्ति के विषय में बौद्ध तन्त्र और प्रत्यभिज्ञा दर्शन, दोनों कहते है कि बन्ध और मोक्ष ये दोनों विकल्प है । इस विकल्प से मुक्त होना ही मुक्ति है । उपनिषद् में भी "तत्रैव समवलीयन्ते" कहकर प्रायः यही सिद्धान्त प्रतिपादित है । शैवागमों में इसकी चार प्रकार की व्याख्या की गई है । तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाओं में एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त प्रतिपादित है । "काश्यां मरणान्मुक्तिः" काशी में जो यह मान्यता है, वह भी इसी सिद्धान्त को स्वीकार करती है। स्पष्ट है कि साधक स्वयं अपनी साधना के बल से अपने इष्टदेव के रूप में परिणत हो सकता है। उसका यह जो परिणाम है, वही मुक्ति है। इसके अतिरिक्त बन्ध और मोक्ष कुछ नही है ।

प्रो० नथमल टाटिया

अभी आज के जगत् के लिये यह बहुत ही काम की बात है, यह सत्य है । मैंने जापान मे देखा, आपको सुनकर आश्चर्य होगा । वहां एक जोडो शिन्शु सम्प्रदाय है, बौद्ध सम्प्रदाय है, भक्तिवादी सम्प्रदाय है । मैंने पूछा कि पुनर्जन्म आप मानते हैं कि नहीं ? उन्होंने कहा— पुनर्जन्म हमारे लिये कोई महत्त्वपूर्ण नही है । हम अमिदा के, अमितायु के भक्त हैं । उनमें विश्वास करते हैं । एक ही जन्म है। इस जन्म के बाद हम सुखावती में, यदि हमारा विश्वास पक्का है, तो हम वहां जायेंगे । पुनर्जन्म में हम लोग विश्वास नहीं करते । हम तो विश्वास इसी जन्म में करते हैं और इसी जन्म में भक्ति रखेंगे तो हम वहां चले जायेंगे । प्रायः जापान में जितने बौद्ध सम्प्रदाय है, उनमें यह बात है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

यह सिद्धान्त बौद्धो तक ही सीमित नहीं है । तन्त्रयान के सभी अनुयायी इसी जन्म मे मुक्ति की बात को स्वीकार करते है । अवधूत सिद्ध ने

एक श्लोक लिखा है । उसका अभिप्राय यह है कि आप तो अनेक जन्म मानते हैं, जैसे गीता में कहा है—"अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" । जब आपके यहां अनेक जन्म लेना है, तो इस जन्म में आप हमारे यहां आ जाइये, मुक्त हो जायेंगे । आप मुक्त नहीं होते है, तो आपके लिये तो अनेक जन्म पड़े ही हुए हैं ।

प्रो० नथमल टाटिया

आप ईसाई धर्म को लीजिये । वहा जन्म तो एक ही है, दूसरा जन्म तो मिलने वाला नहीं है । इस जन्म में यदि आप ठीक रास्ते गये तो जिस दिन जजमेन्ट होगा, उस दिन आपकी परीक्षा होगी, एक प्रासंगिक बात है । सूफी मुसलमान होते है । एक सूफी ने मुझसे कहा कि मुहम्मद साहब के भी अभी मन में यह निश्चित नहीं है कि उनका जजमेन्ट कैसा होगा ? वह भी संदेह में पड़े है, भयभीत है । मुहम्मद साहब ही नहीं, सभी लोग भयभीत है, क्या होगा ? जैसे कन्फ्युशियस है । वे तो पुनर्जन्म मानते नहीं । वे कहते है कि जो कुछ होना है, इसी जन्म में होना है या नहीं होना है । यह बात तो प्रायः सभी धर्मों में है । खाली हमारे यहाँ कुछ धर्म हैं, उनमें पुनर्जन्म की बात आती है । पुनर्जन्म की बात ईसाई धर्म में कहा है ? पुनर्जन्म की बात इस्लाम में कहा है, पुनर्जन्म की बात कन्फ्युशियस में कहा है ? लेकिन वह मुक्ति मानते हैं, सिद्धि मानते हैं, सब मानते हैं, बौद्ध धर्म भी । जापान के जो–जित्सु मत को मै जानता हूँ । वे कहते है कि मुक्ति नहीं है, है तो वह यहीं है, नही तो नही है । आपने जो बात कही और हम लोग अभी चर्चा कर रहे थे, वह तो पुनर्जन्म को लेकर और व्यक्ति की मुक्ति को लेकर है । वहा पर जो समाज की मुक्ति कन्फ्युशियस में भी है । जैसे कन्फ्युशियस का मैने थोड़ा अध्ययन किया है, उनका कहना था कि व्यक्ति कभी न समझे कि मैने अपने धर्म का पालन पूर्ण रूप से कर लिया है । हमेशा समझे कि मै अपूर्ण हूँ, मुझे पूर्ण होना है और यह भी कि मैं इसी जन्म में पूर्ण हो जाऊँगा । प्रायः सभी धर्मों में यह बात है । अपने यहां बात दूसरी तरह की है

कन्फ्युशियस धर्म का सार यही है कि पहले मां–बाप की भक्ति करो । मां–बाप का कर्तव्य है कि बच्चे के प्रति स्नेह, पड़ोसियों के प्रति स्नेह और सारे मानव समाज के प्रति स्नेह रखे । मानव समाज की सेवा करनी है । इसी जन्म में करनी है । यह कभी नहीं सोचना है कि मेरी सेवा पूर्ण हो गयी है या समाप्त हो गयी है । इसी को लेकर चलना है । इन सब बातों पर अपने यहां क्या है ? ये लोग चार्वाक नहीं है । चार्वाक नाम से घबराइये मत । ये चार्वाक नहीं है । ये भलाई में विश्वास करते हैं, सेवा में विश्वास करते हैं, ये आगे बढ़ने में विश्वास करते है । बिना चार्वाक हुए ये लोग मानते है कि इसी जन्म में मुझे करना है । एक हमारे वहां चीनी विद्यार्थी है, मुझे कह रहा था कि जैन लोग मानते है कि मरने के बाद देवता होकर

वह करोड़ों-अरबों वर्ष तक बैठा रहता है, पर वह वहां करता क्या है ? आपको इस तरह के प्रश्नों पर भी कुछ विचार करना चाहिये ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

मैं एक विचारणीय बात यहां रखना चाहता हूँ । ये सारे तन्त्रशास्त्र, चाहे वह शैव तन्त्र हो, शाक्त तन्त्र हो, बौद्ध तन्त्र हों, उनमें इतने प्रकार के विधि-विधान, पूजा और मन्त्र, परिक्रमा और चिह्न-धारण, क्या क्या सब है । ये सारी चीजें तो विकल्प को बढ़ाने वाली है और विकल्प से मुक्ति नहीं होती । तब ये मुक्ति के साधन कैसे हो सकते हैं ? हम जब गुरुमुख से कुछ सुनते हैं, यह तत्त्व है, वह तत्त्व है, यह देव है, वह देवी है, यह उपाय है, तो जब शब्द से श्रवण करते हैं, तो हमारे मन में उन शब्दों के अर्थों के कुछ संस्कार होते हैं । उन संस्कारों की वजह से, उन वासनाओं की वजह से कुछ आकृतियां हमारे मन में पैदा होती है और वे सभी में समान रूप से नहीं होती । इसमें भाषा का, संस्कार का, परिवार का, अध्ययन का भी योगदान होता है । एक शब्द को सुन कर एक ही प्रकार की आकृति सबके मन में उत्पन्न होती, तो शिष्यों में मतभेद नहीं होते कि गुरु ने यह कहा था या नहीं कहा था । एक शब्द को सुन कर दो भाषा-भाषी लोगों में, जो कि एक दूसरे की भाषा नहीं जानते, समान आकृतियां पैदा नहीं होती । इसका मतलब यह है कि वह वास्तविक नहीं है । हमारे संस्कार, अध्ययन और हमारे शब्दार्थ के संबन्धों का जो संस्कार है, यह कई परिवेशों में सब मिल करके सब पैदा होती है । हम तन्त्र में जाते हैं, या कहीं पर भी जाते हैं, तो गुरु से उपदेश सुनते है, एक आकृति बना लेते है । हम समझते है कि यह तत्त्व है, जो कि तत्त्व नहीं है, उसकी साधना करने लगते हैं, पूजा करने लगते हैं, उसके साक्षात्कार का प्रयास करने लगते हैं । सभी कहते हैं कि सत्य के साक्षात्कार के बिना मुक्ति नहीं है । सत्य का साक्षात्कार होना चाहिये, तो सत्य क्या है ? सत्य की खोज का मतलब होता है अज्ञात की खोज, जिसको हम जानते नहीं । यदि हम जानते है तो सत्य को जानने की चेष्टा क्यों करें । हमारे सारे शास्त्र हमको पहले ही सत्य बता देते हैं, तो हम सत्य की खोज क्या करें । मैं सिर्फ यह कहना चाहता था कि जैसे देवी-देवता हैं और सारी चीजें हैं । यह सब तो हमको कल्पनालोक में विचरण कराती है, कल्पना जगत् की ओर ले जाती है, मुक्ति की ओर नहीं ले जाती । बौद्ध तन्त्र में ये सारे देवी-देवता और जितना जो कुछ है, सबको पहले शून्यता में विलीन कर दिया जाता है कि यह कुछ है नहीं । इसके बाद कल्पना से सब पूजासामग्री और सारी विधियां खड़ी करके उनका पूजन किया जाता है और जब उपसंहार होता है, तो उसको भी शून्यता में विलीन कर लिया जाता है, लेकिन यह मान करके चला जाता है कि यह सब शून्यता से उद्भूत है और शून्यता में ही यह सब विलीन हो जाता है । क्या यह इस प्रकार का विधान अन्य तन्त्रों में भी है ? क्या उनकी वास्तविक सत्ता मानी जाती है ? यह मेरा प्रश्न था ।

दूसरी बात यह कि आप विश्वास कीजिये इसमें । विश्वास के बिना काम नहीं चलेगा । हम किस चीज पर विश्वास करेंगे ? अपनी कल्पना से रचित मूर्तियो के प्रति विश्वास करें ? और यदि हम विश्वास करते है तो हम तो कहीं नहीं जाते, हम तो वही अपने जो सुबह से शाम तक जो कल्पना करते हैं, धन की कल्पना न की, देवी की मूर्ति को कल्पना कर ली, इससे क्या फर्क पड़ेगा, चाहे धन को प्राप्त करें या देवी की मूर्ति को प्राप्त करें, बराबर ही हो जाता है, तो यहां विश्वास का कितना मूल्य है ?

द्विवेदी जी के निबन्ध में था कि ये जो कुछ चिह्न हैं, पाशुपत मत में, उनके धारण करने से मुक्ति मानी जाती है, ज्ञान से मुक्ति नहीं मानी जाती । तो क्या बाह्य चिह्नों के धारण मात्र से मुक्ति संभव है ? यह भस्म लगाना और नरमुण्ड का धारण करना, यह सब तो कोई भी आदमी धारण कर लेगा, तो क्या वह मुक्त हो जायेगा ? ऐसी स्थिति में ज्ञान को मुक्ति का साधन न मान कर ऊपरी चिह्नों को मुक्ति का कारण मानना यह कहां तक युक्तिसंगत है ? इतनी बात कहता हूँ ।

डॉ० किशोरनाथ झा

जहां तक विश्वास की बात है, यह तो साधना-क्रम की बात है । साधना में अगर विश्वास नहीं करेंगे, तो प्रवृत्ति नहीं होगी और मैं समझता हूँ कि परशुराम कल्पसूत्र में इसीलिये "सम्प्रदायविश्वासाभ्यां सर्वसिद्धिः" यह सूत्र बना । इसलिये विश्वास को लेकर के चलना पड़ेगा । हरेक शास्त्र अपनी-अपनी प्रक्रिया से मोक्ष की पद्धति बताता है, हरेक शास्त्र में मोक्ष की पद्धति वर्णित है । लेकिन साधना मार्ग में विश्वास करके अपनी गुरु-परम्परा से सीख कर अगर उपासक जिस किसी को माने, उसके प्रति अगर निष्ठा है, तो उसको सफलता जरूर मिलेगी । टाटिया साहब ने अभी जो कहा कि इसी जन्म में मुक्ति है । वही तो अनुग्रहवाद का फल है । देवी का अनुग्रह अगर प्राप्त हो जाय, उसके लिये हमारी साधना सात्त्विक है, तो मै समझता हूँ कि वह अवश्य फलित होगी ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अनुग्रह के बिना क्या इस जन्म में मुक्ति नहीं हो सकती ? और अनुग्रह किसका, किसका अनुग्रह ?

डॉ० किशोरनाथ झा

देवी का, देवता का, उपास्य का ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

हम किसी देवी-देवता को ऐसा नही मानते कि हमारे ऊपर अनुग्रह करेगा और हम अपने परीक्षण के द्वारा विकल्पो को समाप्त करके वास्तविकता का साक्षात्कार कर सकते है । जेन बुद्धिज्म की अभी प्रो० टाटिया जी ने बात

की । जेन बुद्धिज्म वाले लोग तो क्षण-मुक्ति मानते हैं । अभिसमयालंकार में एक क्षण में मुक्ति हो, एक जन्म में नहीं, एक क्षण में मुक्ति की, एकक्षणाभिसंबोधि की बात कही गई है । तब बिना अनुग्रह के मुक्ति नही होती, यह आप कैसे कह सकते हैं ?

डॉ० किशोरनाथ झा

नहीं नहीं, बिना अनुग्रह के मुक्ति नही हो सकती, यह मै कहां कह रहा हूँ । हमारी पद्धति में अनुग्रह से भी मुक्ति होती है । साधना मार्ग में अनुग्रह से भी मुक्ति होती है और कर्मवाद का सिद्धान्त तो बहुत ही प्रचलित है । भारतीय परम्परा तो कर्मवाद को मान कर ही चलती है ।

डॉ० एस० एस० बहुलकर

हर एक सम्प्रदाय की विशेषता रहती है । प्रो० टाटिया जी ने बताया है कि जापान में बौद्ध धर्म में अनुग्रह की, विशेष कर जो अमिताभ सम्प्रदाय है, उसमें अनुग्रह की ही विशेषता है । सभी सम्प्रदायो में अनुग्रह की बात नहीं मानी जाती, किसी सम्प्रदाय में मानी जाती है । जैसे झा साहब ने बताया कि उपासना के द्वारा मुक्ति हो सकती है, ऐसे विभिन्न पन्थ हैं । किसी पन्थ में अनुग्रह से मुक्ति मिल जाती है, इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अनुग्रह के बिना मुक्ति नहीं है । भारतीय परम्परा में "ज्ञानान्मोक्षः" यह भी है और अपने प्रयत्नों से भी मोक्ष मिलता है, भक्ति से भी मोक्ष मिलता है, अनुग्रह से भी मोक्ष मिलता है । इन विचारधाराओं में भिन्नता रहते हुए भी उनमें आपस में कोई संघर्ष नही है ।

प्रो० नथमल टाटिया

दुनियां में ऐसा कोई मत नहीं है, जो अनुग्रह को मुक्ति के लिये आवश्यक न मानता हो । अनुग्रह दो प्रकार का है— एक तो स्वयं वरण करना या यह कि स्वयं स्वयं को वरण करना "स तेन लभ्यः" । आप विश्वास की बात करते हैं कि विश्वास किसमें ? विश्वास इसमें है कि मैं प्रपंच में रुका हूँ, किन किन प्रपंचों से निकलने की शक्ति मुझ मे है ? यह जो विश्वास है, यह अनुग्रह है । इस अनुग्रह के द्वारा अपने आप अनुगृहीत करने की शक्ति है । अनुग्रह के बिना मुक्ति होगी नहीं ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

एक बात मै भी निवेदन करना चाहता हूँ । सुभाषित में कहा गया है—"दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरा सुधाऽपि मधुरैव । तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्" ॥ उपनिषदों में भी कहा है—"एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" । मनुष्य का मस्तिष्क एक प्रकार की चिन्तन-प्रणाली है, उसकी बुद्धि का वैशद्य विभिन्न रूपों से विभिन्न वस्तुओं को ग्रहण करने के लिये आतुर रहता है । इसीलिये हमारे पूर्वाचार्यो ने, साधकों ने, या जिन्होंने अच्छे मार्गों का प्रशस्त रूप से अध्ययन किया हो, उसके द्वारा जो उचित मार्ग उनको लगा हो, उसको

उन्होंने प्रस्तुत किया और वह विभिन्न मार्गों से किया । इसीलिये तन्त्र–मार्ग में विविधता है । वह विविधता भी ऐसी है कि वह ऐक्यानुसंधान कराने वाली है । आपने जो यह बात कही कि क्या चिह्नों के धारणमात्र से मुक्ति हो जाती है ? हम इसका हां में उत्तर देंगे । पहले आप जिस पर भी विश्वास करेंगे, तो उससे आपको आगे बढ़ने का मार्ग मिलेगा । इसलिये हमें जिस कार्य को करना है, उस पर विश्वास करके आगे चलना पड़ेगा कि मुझे यही करना है और इसीसे मुझे मुक्ति मिलेगी । इसके अभाव में आदमी भटकता रह जायगा । अन्त में विवेक तो अपना ही काम आता है । आपको गुरु ने लाख उपदेश दे दिया, आपको लगा कि गुरु जी ने क्या कह दिया, यह तो बहुत खट्टा है, इसको खाने से तो हमारा मन बिगड़ जाता है, स्वास्थ्य खराब हो जायेगा तो फिर आप गुरु ने कितना ही कहा हो, उसको खायेंगे नहीं । हम देखते हैं कि यज्ञोपवीत आदि संस्कारों में पंचगव्य के प्राशन का दृढ़ विधान है । उसके बिना हमारी शुद्धि नहीं होगी । आज का युग ऐसा है कि उनको पंचगव्य देते हैं, तो उसके साथ ही गुरु साथ में पंचामृत ले खड़ा रहता है । वह अपनी जिह्वा लगावे, उसके पहले उसके मुंह में पंचामृत उड़ेल दिया जाता है । इसी तरह के दूसरे काठिन्य हमारे समक्ष आते हैं, शिखाछेदन का और क्षौर कर्म का । सौ में से निन्यानबे लोग आज कल ऐसे हो गये हैं कि साहब हम लाख रुपये खर्च कर देंगे यज्ञोपवीत उत्सव के लिये, पार्टी के लिये, किन्तु यह लड़का बाल नहीं कटावेगा और इसका विवाह हो जायगा । यह स्थिति है । इसीलिये विश्वास करने का, उसको हृदय पर जमाने का यदि हमारा प्रयत्न होगा, तो हमको उसका फल मिलेगा । अन्यथा सब कुछ नष्ट हो जायगा । ऐसा मैं मानता हूँ ।

भिक्षु नवङ् समतेन

परलोक नहीं है । यह लोक ही है, इस तरह से हम स्वयं अपने पर अनुग्रह कर रहे हैं, इस विश्वास का भी कोई फल होगा क्या ?

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

हां, यह बात आपकी बड़ी मार्मिक है, किन्तु ऐसा है कि कोई भी जिज्ञासु अपने विश्वास के आधार पर ही प्रवृत्त होगा । यदि लोकशिक्षण की दृष्टि से उसका शास्त्रों पर विश्वास है, गुरु पर विश्वास है, तब तो वह परलोक को मानेगा और परलोक के द्वारा प्राप्त जो सिद्धि है या सुख है, उसके लिये प्रवृत्त होगा । किन्तु आजकल लोग यही कहते हैं कि क्या है स्वर्ग में ? मैंने अपने एक मित्र को एक दो पंक्तियां सुनाई थी कि यहां हमें किसी मिनिस्टर के साथ या किसी महापुरुष के साथ एक चाय का कप मिल जाय, तो इस भूमण्डल को छोड़कर कौन स्वर्ग जाय, जहां स्वर्ग में न होटल है और न ढाबा । आज की जो संस्कृति है, वह तो यह कहती है— "विराम सखे होटलेषु क्रियन्ताम्" और "तथान्ते च हास्पीटलेषु म्रियन्ताम्" । होटल में खाओ, होटल में रहो और हास्पिटल में जाकर के मर जाओ । ऐसे में हमारा तन्त्रशास्त्र चलेगा नहीं, हमारा तन्त्रशास्त्र तो शास्त्र पर ही आधारित है । शास्त्रार्थ तन्त्र पर ही चलना चाहिये ।

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय

दस महाविद्याओं में काली का नाम आता है, वह तन्त्रालोक की द्वादश कालियो से कैसे भिन्न है ? यह मेरा पहला प्रश्न है । दूसरा प्रश्न है कि भगवती तारा की जो दस महाविद्याओं में गणना हुई, उनका स्रोत क्या है ? क्योंकि उनके एक स्तोत्र में मिलता है—"वेदानां नहि गोचरा कथमपि प्राज्ञैर्नु-तामाश्रये" । इनके साथ ही मुझे यह भी पूछना है कि क्या इन महाविद्याओं का कोई क्रम है ? अथवा ये स्वतन्त्र हैं इन प्रश्नों को जरा आप स्पष्ट करें ।

डॉ० किशोरनाथ. झा

दस महाविद्याओं में काली को प्रधान माना गया है । द्वितीया तारा कहलाती है । यहां दो क्रम हैं । श्रीविद्या प्रधान होती है, षोडशी कहिये, ललिता कहिये, और काली प्रधान होती है । अधिक जगह काली की पूजा होती है और श्रीविद्या की पूजा होती है । तारा की उपासना काली सम्प्रदाय वाले करते है । श्रीसम्प्रदाय वालों के साथ हमारा परिचय नहीं है । इसलिये हम नहीं बता सकते । तन्त्रालोक की काली से इनका बहुत मतभेद नही है, इसका पूरा विवरण आपको महाकालसंहिता की भूमिका में देखने को मिलेगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

बात यह है कि जैसा आपने कहा, हमारे यहा शाक्त साधना मे मुख्यतः दो कुल माने गये है । एक श्रीकुल है दूसरा कालीकुल । कालीकुल अत्यधिक विस्तृत है ! उसमें क्रमदीक्षा होती है और क्रम से आगे बढ़ते हैं । काली-क्रम में आद्या काली ही अकेली काली नही है, गुह्यकाली और अन्यान्य कालियों के नाम हमें मिलते है । वह उपासना कालक्रम से होती है । उसमें पंचकाल की उपासना है । प्रातःकाल की, मध्याह्न की, सायंकाल की, अनाख्या काल की और भासा काल की या भासा और अनाख्या काल की । उसमें काली के विभिन्न नाम हैं । श्रीविद्या में एक सरलता है कि आप बाला, पंचदशी, षोडशी और महाषोडशी तक बहुत जल्दी पहुंच जाते है । इसलिये यह एक स्वल्पायाससाध्य क्रम माना जाता है । कालीकुल की उपासना केवल आद्या से काली तक ही सीमित न रहकर द्वादश काली तक पहुंचती है । तारा के भी एकजटा, उग्रतारा, महोग्रतारा इत्यादि अनेक भेद हैं । इनका क्रम किस रूप में निर्धारित होता है ? मूल तथ्य यह है कि वह आम्नाय के आधार पर निर्धारित है और आम्नाय दिशा से निर्धारित होते हैं । चार दिशाओं के आधार पर पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, उत्तराम्नाय, दक्षिणाम्नाय ये चार प्रमुख आम्नाय हैं । इनके अतिरिक्त भगवान् शिव के मुख से संबद्ध यदि हम इनको मानते है, तो पांचवां आम्नाय अधराम्नाय होता है । परन्तु विद्वानों ने, आचार्यों ने, या भगवान् ने, जिन्होंने तन्त्र का प्रवर्तन किया, उन्होंने कहीं कहीं ऊर्ध्वाम्नाय भी बताया है । श्रीविद्या मे ऊर्ध्वाम्नाय को अधिक महत्ता दी गयी है । इसके अतिरिक्त दो दो दिशाओं के बीच में मिल कर चार कोण बनते हैं । इन चार कोणों के भी अलग अलग आम्नाय हैं । उनकी भी एक साधनाविधि है, उसमें भी इन देवियों के विभिन्न

रूपों की आराधना की जाती है । ये ही दस महाविद्याएं है, जो दस आम्नायों से सम्बद्ध है । इनका वर्णन शास्त्रों में मिलता है । झा जी ने दस महाविद्याओं की उत्पत्ति के प्रकरणों में अनेक तरह के रूप बतलाये है । एक स्थान पर आता है कि जब सती ने अपनी देह को दक्ष–यज्ञ में अग्नि को समर्पित कर दिया, अन्तर्लीन या हुत कर दिया, तो उस समय वहां से बहुत से लोग भागने लगे थे कि कहीं यहां उत्पात न हो जाय । तब भगवती ने दशावतार धारण कर दसों दिशाओं से उन लोगो को अवरुद्ध कर दिया, "मा भैषीः, मा भैषीः" ऐसा कह कर, मैं तुम्हारी रक्षा करूंगी, मैं कोई यहां जली नहीं हूँ, मेरा कोई विनाश नहीं हुआ है ।

डॉ0 शीतलाप्रासद उपाध्याय

श्रीविद्या में सहादि और कहादि का भी विधान आता है । इसके क्या स्रोत हो सकते हैं ?

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

देखिए सादि, कादि, हादि, सहादि, कहादि का जो विषय है, यह बड़ा रहस्यमय है । हमारा उत्तर भारत अभी इस विषय को ग्रहण नहीं करता है, या इतना गुप्त रखा है कि उसे बताते नहीं है, किन्तु जिस तरह से महाषोडशी है, महाषोडशी के ऊपर का जो क्रम है, जैसे सप्तदशी महासप्तदशी, अष्टादशी इत्यादि, उसको हम सबके सामने तो बता नहीं सकते, किन्तु उनका ज्ञान गुरु से प्राप्त करना चाहिये ।

डॉ0 मधु खन्ना

अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो ये दस महाविद्याएं दस देवियां है । एक समय ऐसा रहा होगा, जब इन दस देवियों को इकट्ठा किया गया, एक चक्र स्वरूप में । इसमें देखिये तारा और छिन्नमस्ता बौद्ध देवियां है । त्रिपुरसुन्दरी, बगलामुखी और धूमावती तन्त्र की देवियां है । भुवनेश्वरी और कमला यह वैदिक देवियां है । जैसा मैं समझती हूँ कि इन तीनों प्रणालियों को, तीनों धाराओं को जोड़ा गया है । इस विषय में आपकी क्या राय है ?

डॉ0 किशोरनाथ झा

दस महाविद्याओं की अवधारणा महाभागवत पुराण में है । यहां दस संख्या को लेकर विचार चल रहा है । मैं समझता हूँ कि भगवान् के दशावतारों से भी इसका सम्बन्ध होगा, जैसे कि विष्णुसहस्रनाम को लेकर के अनेक सहस्रनामों का निर्माण हुआ है ।

डॉ0 मधु खन्ना

नहीं–नहीं इनके स्वरूप अलग–अलग हैं, हर एक के स्वरूप अलग–अलग है । कुछ देवियां ऐसी हैं, जिनका तामसिक स्वरूप है । कुछ ऐसी है,

जिनका राजसिक स्वरूप है, कुछ का सात्त्विक स्वरूप है । ऐसा क्यों किया गया ?

डॉ० किशोरनाथ झा

इनके सौम्य और तामस स्वरूप का विवरण महाकालसंहिता के कामकला खण्ड के चौदहवें पटल में बड़े स्पष्ट रूप से दिया गया है । विष्णु और शिव भगवती से पूछते है और वह उनका जबाब देती है ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

डॉ० मधु खन्ना ने जो प्रश्न उठाया, उसका उत्तर मिल नहीं रहा है । प्रश्न ऐसा है कि ये जो दस महाविद्याएं हैं, वे विभिन्न परम्पराओं की मूलतः प्रतीत होती है, जिनका एक जगह समन्वय हुआ है । ऐसा ऐतिहासिक दृष्टि से प्रतीत होता है । इसके विषय में आपकी राय क्या है ?

डॉ० किशोरनाथ झा

हम उसके बारे में बहुत नहीं बता सकते । हमारा अध्ययन इतना ही है कि तीन क्रमों से हमने देखा है कि दस संख्या का निर्धारण हुआ है । एक पं० आशुतोष चौधरी है । जोगमाया आश्रम से उन्होंने तन्त्ररहस्य करके पुस्तक छापी है, बंगला में है । उसमें उन्होंने क्या किया है कि नवद्वार शरीर को नव देवताओं का अधिष्ठाता माना और सहस्रार की अधिष्ठाता देवता काली को माना है । एक मत यह है । 'कल्याण' के शक्ति अंक में मोतीलाल जी जयपुर वालों का एक निबन्ध बहुत प्रामाणिक है । वेद के साथ उन्होंने दस महाविद्याओं को जोड़ा है कि नौ संख्या है इसलिए नौ है, और एक जो है समष्टि के रूप में है । यह उन्होंने वहाँ इन दस महाविद्याओं को समष्टि को लेकर चर्चा की है । तीसरा पक्ष महाभागवत पुराण का है । महाभागवत पुराण प्रकाशित हो चुका है । चौथा पक्ष मैं समझता हूँ कि भगवान् के दस अवतारों से यह संबद्ध है। उसके आधार पर यहां भगवती के भी दशावतार का विवरण दिया गया है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं समझता हूँ कि अब हमारे पास बहुत कम समय बचा है । जैन साहब पहले बोलेंगे, फिर उपाध्याय जी से मैं निवेदन करूँगा और पाठक जी से भी । ये लोग बोल लेते है और कुछ समय बचता है तो फिर अन्य वक्ता भी बोलेंगे ।

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

निबन्धों से सम्बद्ध दो बाते है । झा जी के निबन्ध में वसु के संदर्भ के साथ बलिप्रथा की बात आयी और दो बातें स्पष्ट हुई कि ऋषियों ने पशुबलि को स्वीकार नहीं किया और देवताओं ने पशुबलि को स्वीकार किया । इसी तरह से द्विवेदी जी के निबन्ध में मुक्त या सिद्ध अवस्था में गुणों की

अभिव्यक्ति की बात आयी । जैन परम्परा में बलि के संदर्भ में ऋषियों की बात को प्रमाण माना गया है । ऐसा कुछ उनकी अहिंसक प्रकृति के कारण लगता है । इसीलिये साधनापद्धति में पशुबलि का सर्वथा निषेध किया गया है । यहाँ तक है कि अभी भी अनुष्ठान में बलि शब्द प्रयुक्त है, पूजा के अर्थ में । नाभिप्रतिष्ठा जब होती है, तो नारियल को काट करके कहते हैं कि एक बलि कार्य किया गया । किन्तु आटे का कोई पशु का आकार बनाकर के उसकी भी बलि करने का निषेध किया गया है । यशस्तिलकचम्पू का जो संदर्भ द्विवेदी जी ने दिया था, पूरा का पूरा ग्रन्थ, पूरी की पूरी कथा आटे का मुर्गा बना करके और चण्डमारी के समक्ष उसकी बलि देने के एक दुष्परिणाम स्वरूप सात जन्मों तक उसको, यशोधर को भटकना पड़ता है । साधनापद्धति में पशुबलि का प्रवेश होने के कारण ही प्रस्थानों में भिन्नता आयी क्या ? इसी तरह से सिद्धावस्था में गुणों के प्रकट होने, अभिव्यक्ति की बात और गुणों के समावेश की बात है । जैन प्रस्थान में गुणों की अभिव्यक्ति को माना गया है । गुण कहीं से आगन्तुक नहीं है, उसमें विद्यमान हैं, वही प्रकट होते है, इस बात को माना गया है। क्या ऐसा है कि जिस समय अभिव्यक्ति की बात गौण होने लगी और पशुबलि का आगमन हुआ, तो पशुबलि के आगमन के साथ अनुष्ठान के सन्दर्भ में जैनों ने, जैन शब्द उस समय न भी प्रयुक्त रहा हो, श्रमणों की उस अहिंसक परम्परा ने अपने आपको उस पशुबलि वाले साधनामार्ग से अलग करके ऋषियों के साधनामार्ग को अंगीकार किया और इसी तरह सिद्धावस्था में गुणों की अभिव्यक्ति को स्वीकारा और इस बात को नहीं माना कि गुण कहीं से आगन्तुक हैं और उस सिद्ध अवस्था में या मुक्त अवस्था में उसमें प्रविष्ट हो जाते हैं । इस सम्बन्ध में आदरणीय द्विवेदी जी से और झा जी से थोड़ा अधिक जानना चाहेंगे ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

जैन जी से एक निवेदन है कि जैसे वह गुणों की अभिव्यक्ति मानते हैं, दोषों की क्या स्थिति है जैन दर्शनों में ? वह भी अभिव्यक्त होते है कि बाहर से आते हैं ?

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

संसारी अवस्था में जब जीव विद्यमान रहता है, तो दोष ही कर्म हैं, कल्मष है । साधना मार्ग से दोषों की समाप्ति के बाद गुण स्वतः अभिव्यक्त होते है । इसका एक शास्त्रीय उदाहरण है जो अनेक शास्त्रों में विद्यमान है । वह है सूर्य का प्रताप और प्रकाश की अभिव्यक्ति । जैसे बादल इत्यादि के द्वारा या अन्य किसी आवरण के द्वारा सूर्य का प्रताप और प्रकाश अभिव्यक्त नहीं हो पाता, किन्तु वह उसमें विद्यमान है । जैसे ही वह आवरण दूर होता है, वह प्रताप और प्रकाश अभिव्यक्त हो जाता है, इसी प्रकार जो गुण विद्यमान हैं, वे ही गुण–कर्म के आवरण–क्षय से, जोकि साधना–मार्ग से ही सम्भव है, अभिव्यक्त हो जाते है और वही सिद्धावस्था है । इसीलिये एक सिद्ध का दूसरे सिद्ध में विलय का भी सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया गया । प्रत्येक सिद्ध की,

प्रत्येक मुक्त की स्वतन्त्र अवस्था को स्वीकार किया गया है और सिद्धों में एक अव्यावाद गुण माना है, जिससे भीड़ नहीं होती और उनमें धक्का-मुक्की नहीं होती । "एकसिद्ध सिद्ध अनन्त जान । अपनी-अपनी सत्ता प्रमान ॥" उनकी स्वयं की सत्ता का विनाश नहीं होता और एक सिद्धशिला में अनेक सिद्ध रह सकते है, क्योंकि वहां शरीर तो है नहीं, केवल गुण है । इसीलिये गुणों की अभिव्यक्ति और सिद्धों की स्वतन्त्र सत्ता को जैन प्रस्थान स्वीकार करता है ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

मेरी जिज्ञासा यह है कि दस महाविद्याओं की प्राचीनतम अवधारणा हमें कहाँ मिलती है ?

प्रो०. व्रजवल्लभ द्विवेदी

शिवपुराण में । शिवपुराण में शिव के दस स्वरूपों के साथ दस महाविद्याओं का निरूपण मिलता है । पुराणों का कोई निश्चित काल तो मानना मुश्किल है, किन्तु दसवीं शताब्दी से पहले यह सुनिश्चित था ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

और तारा के सम्बन्ध में ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

सुबन्धु का गद्यकाव्य है वासवदत्ता । उसमें सबसे पहले शायद तारा का उल्लेख है । "कल्ट आफ तारा" नामक पुस्तक अमेरिका से निकली है, उसमें जो सबसे पहला ऐतिहासिक उद्धरण है, वह वासवदत्ता से ही लिया गया है ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

तान्त्रिक बौद्ध ग्रन्थों में और अवैदिक ग्रन्थों में जो विवरण मिलते हैं तथा अन्य भारतीय तन्त्रशास्त्रों में जो ग्रन्थ मिलते है, उनमें कितना साम्य और वैषम्य है ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

वह तो अलग-अलग पद्धति है । मैं एक निवेदन कर दूँ । यह जो ऐतिहासिक पक्ष है, उसमें अपेक्षित परिवर्तन होता रहता है । मान लीजिये तारा के संबन्ध में सुबन्धु का वचन मिला । कोई दूसरी जगह उससे भी पहले का वचन मिल जायगा, तो फिर वही पक्ष स्वीकार होगा । यहाँ दो धाराएं है । ऐतिहासिक धारा को हम लोग बहुत प्रमाण नहीं मानते । जो बात शास्त्र कहता है, उसको हम प्रमाण पहले मानेंगे । शास्त्र की जो अनादि परम्परा मानता है, जो भी मानता है, जिस सम्प्रदाय की परम्परा है, वह हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है । उसके बाद यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखना चाहते है, तो जहाँ तक प्रमाण मिला, उसको कह देंगे, किन्तु वह सत्य है, अन्तिम सत्य है, इसे मानने को हम लोग तैयार नही हैं ।

मैं एक दो बातें त्रिपाठी जी के प्रश्न के बारे में बतला दूँ । उन्होंने शून्यता में सबका विलय होने की बात की थी । प्रत्यभिज्ञा दर्शन में सब कुछ शिव का विलास ही माना गया है । वह शिव षडध्व रूप में, शब्द और अर्थ के रूप में परिणत होता है । जब दीक्षा होती है, वहाँ षडध्वविलापन की प्रक्रिया है, मानो सारा जगत् शिव में विलीन हो जायगा । दूसरा प्रश्न शक्तिपात (अनुग्रह) से संबद्ध है, शक्तिपात को द्वैतवादी आगम, कर्मसाम्य से या ईश्वर के अनुग्रह से जोड़ते हैं । इन दोनों पक्षों का खण्डन करके तन्त्रालोककार ने स्वतन्त्र शक्तिपात माना है, याने किसी के अनुग्रह की अपेक्षा नहीं है । वह जो साधक की अपनी साधना है, वही उसमें प्रमाण है । अन्य तन्त्रों में गुरु को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है, वह स्थान भी यहां नहीं दिया गया । मैं समझता हूँ कि वसन्ततिलक में भी इस तरह का एक वचन है कि गुरु उपदेश करता है और उसको मुक्ति का मार्ग दिखला देता है । जैसे वैद्य ने दवा दी, तो उससे रोग की निवृत्ति प्रारम्भ होगी । अब वह यदि पथ्य से रहेगा तब तो वह रोग निवृत्त हो जायगा, कुपथ्य करेगा तो रोग निवृत्त नहीं होगा । ठीक उसी तरह से गुरु के द्वारा दीक्षा जब हो गयी तो दीक्षित व्यक्ति अपना प्रयत्न प्रारंभ करेगा । जब उसको आवश्यकता पड़ेगी, तो वह गुरु के पास जायगा या शास्त्र का अध्ययन करेगा । अन्त में उसकी जो अपनी प्रतिभा है, उसका अपना जो प्रातिभ ज्ञान है, वही उसको मुक्ति का मार्ग दिखलावेगा । वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि जब अन्त में स्व-स्वरूप का साक्षात्कार होता है, या साधक का अन्त में जो शिवभाव में विलापन होता है, या शिवभाव की अभिव्यक्ति होती है, इसमें अलग-अलग पक्ष हैं । इनके बारे में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है कि कोई कुछ बात कहता है, कोई कुछ मानता है, रुचि की विचित्रता ही इसमें प्रमुख कारण है । कश्मीर सम्प्रदाय में तीन उपाय बतलाये हैं— आणव उपाय, शाक्त उपाय और शाम्भव उपाय । अनुपाय भी बतलाया गया है, जो सहज उपाय ही है । वहाँ अन्त में दिया गया है कि प्रत्येक मार्ग से एक ही तत्त्व प्राप्त होता है । आणव उपाय से भी वही तत्त्व प्राप्त होगा, जो अनुपाय प्रक्रिया से प्राप्त होगा ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

पातंजल योग में यमों और नियमों की संख्या पांच-पांच ही है, जब कि शारदातिलक की टीका में इनकी संख्या दस-दस मिलती है । ऐसा क्यों ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

कौण्डिन्य-भाष्य में यमों और नियमों की दस-दस संख्या बताई गई है । यह यद्यपि योगसूत्र के विपरीत है, तथापि प्रायः प्रत्येक पुराणों में योग का वर्णन आया है, वहाँ अनेक स्थानों में १० यमों का और १० नियमों का विवरण मिलता है । वैखानस आगमों और उनके पुराणों में भी ऐसा ही है । शारदातिलक की टीका में भी उसी का अनुसरण किया गया है । यह तो अलग-अलग दृष्टियां हैं । पांच यम-नियम का पहले विधान था और बाद में उसकी संख्या दस कर दी गई । पाशुपत मत में अप्रमाद की गणना अन्तिम यम

के रूप में की गई है । योगी सब कुछ करते हुए यदि प्रमाद के वशीभूत हो गया, तो उसकी सारी साधना व्यर्थ चली जायगी ।

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

क्या हम पक्षभेद से पांच और दस यम-नियमों की व्यवस्था नहीं कर सकते ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

पाशुपत मत का पूरा साहित्य अब उपलब्ध नहीं है, किन्तु पुराणों में जहाँ भी जो कोई बात किसी भी मत की हो, वह उनको अच्छी लगी, तो उन सबका समावेश बिना किसी भेदभाव के किया गया है । ऐसे अनेक मतों का वहां संग्रह है । दुर्वासा के उन्मत्तव्रत का जो वहां वर्णन है, वह उन्मत्तव्रत बौद्ध तन्त्रों में वर्णित है, अन्यत्र भी वर्णित है । मार्कण्डेय पुराण में उसकी चर्चा है । वह पुराणों में कैसे कहाँ से आया, इसको जानने का साहित्य के अभाव में हमारे पास कोई साधन नहीं है ।

प्रसंगवश साथ में मैं यह बता दूँ कि यम-नियम के विषय में काणे साहब ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में लिखा है कि तान्त्रिक विधि-विधानों के अनुकूल न पड़ने से इनकी वहाँ आवश्यकता नहीं थी, इसलिये इनको छोड़ कर षडंग योग का बौद्ध तन्त्रों में प्रतिपादन किया गया । पर शायद उनके ध्यान में यह नहीं आया होगा कि षडंग योग कुछ उपनिषदों में भी वर्णित है । यम और नियम तन्त्रशास्त्र में उपासना के अंग मान लिये गये हैं और आसन भी तान्त्रिक पूजा का आवश्यक अंग है ही । इन तीन को छोड़कर अष्टांग योग के जो पांच अंग बचे, उनके साथ कहीं अनुस्मृति, कहीं ऊह, कहीं तर्क को जोड़कर षडंग योग को सर्वत्र मान्यता मिली है और तन्त्रशास्त्र की सभी शाखाओं में तथा भगवद्गीता के भास्करभाष्य में भी इनका उल्लेख एवं विवरण मिलता है ।

डॉ० किशोरनाथ झा

शक्ति अंक में इसका उत्तर मोतीलाल जी ने कुछ दिया है । उसको देखने से यह स्पष्ट हो जायगा । वहाँ वैदिक परम्परा से इन दस महाविद्याओं को जोड़ा गया है । जैन साहब का एक प्रश्न था बलि के बारे में । महाकालसंहिता में स्पष्ट लिखा हुआ है—"शालिचूर्णे दुग्धपिण्डे तत् तत् पशुमुपानयेत्" । शालिचूर्ण का अर्थ है चावल का आटा, दुग्धपिण्ड माने खोया । इसी से पशु की आकृति बना कर उसकी बलि दी जाती है । उसके अनुकल्प में फल की भी गणना है—"छागत्वेन च कर्कटी" । अर्थात् एक छाग के बदले में ककड़ी की बलि देनी चाहिये । इसी तरह से अन्य फलों के बारे में भी कहा गया है । इस तरह से अहिंसावादी दृष्टि वहाँ व्याख्यात है ।

डॉ0 गोकुलचन्द जैन

पशुबलि के विकल्प में फलों के विधान की बात कही आपने । मै इससे भिन्न बात कहता हूँ कि मूलतः संभवतया पशुबलि का विधान नहीं था, लेकिन बाद में पशुबलि का समावेश किया गया । इसलिये ऋषियो ने उसको अस्वीकार किया । वसु देवों का पक्ष लेने के कारण नरक में गया । सभी प्रस्थानों में यह कथा किसी न किसी रूप में विद्यमान है । साधनापद्धति में जब यह विकार आया, पशुबलि का विधान आया, तो जैनो ने ऋषियों वाले पक्ष को स्वीकार किया और स्पष्ट कहा कि पशुबलि वाला विधान उचित नहीं है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

अहिंसा की जहाँ तक चर्चा है, जैन और बौद्ध धर्म में ही इसको अंगीकार किया गया हो, ऐसी बात नहीं है । पांचरात्र आगम में भी इसका उल्लेख है और सबसे प्राचीन उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में मिलता है । छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी के पुत्र कृष्ण और घोर आंगिरस का संवाद है । वहाँ उन्होंने अहिंसा, सत्य और अस्तेय इन तीन गुणों का उपदेश किया है । मै समझता हूँ कि अब हम किसी धर्म के घेरे में, किसी बात को सोचेंगे, वह बहुत अच्छा नहीं होगा । अनेकों उपादान भारतीय संस्कृति को उन्नत करने वाले हैं, भारतीय संस्कृति को आज भी प्रतिष्ठा देने वाले है । उन सबका हमको बिना किसी भेदभाव के संग्रह करना होगा । अहिंसा की प्रतिष्ठा में आई वसु उपरिचर की कथा महाभारत के शान्तिपर्व के नारायणीय उपाख्यान में है । वह महाभारत के शान्तिपर्व का अन्तिम भाग है । उसमें उल्लिखित है कि हिंसा का समर्थन करने के कारण वसु उपरिचर की आकाशगमन की सामर्थ्य नष्ट हो गई ।

महाभारत की अन्य दो कथाओं का उल्लेख मै यहां करना चाहता हूँ । वहाँ उपनिषद् के—"प्लवा ह्येते ह्यदृढा यज्ञरूपाः" इस वचन की बहुत स्पष्ट व्याख्या में, इसकी साकार कल्पना में नकुल का उपाख्यान है । जब युधिष्ठिर ने यज्ञ किया, उसमें दुर्योधन को उन्होंने दानाध्यक्ष बनाया था, जो सदा यह सोचता था कि इनका सारा धन दान में दे दूँ । वह जो यज्ञ हुआ, उसकी भस्म में एक नेवला लोटने लगा । उसका एक तरफ का शरीर सोने का था । कुतूहलवश लोगों ने पूँछा कि तुम क्या कर रहे हो ? उसने उत्तर दिया कि भाई एक ब्राह्मण ने सत्तू दान में दिया था । उस सत्तू के स्पर्श से मेरा यह दाहिना अंग सुवर्णमय हो गया है । यहाँ इतना बड़ा यज्ञ हुआ है । मैने सोचा कि यहाँ तो मेरा वह शेष शरीर भी सुवर्णमय हो जायगा, पर वह नहीं हुआ । तो यह महाभारत की कथा है ।

दूसरी कथा में अंगूठे के ऊपर खड़े होकर तपस्या कर रहे एक मुनि का वर्णन है । पेड़ पर बैठी चिड़िया ने उस पर बीट कर दी । महात्मा जी ने गुस्से में उसे देखा तो वह भस्म होकर नीचे गिर पड़ी । उनको यह अभिमान हो गया कि मै सिद्ध हो गया हूँ । भिक्षा माँगने के लिये वे एक परिवार में गये । वहाँ जो गृहिणी थी, वह अपने पति की सेवा कर रही थी । एक दो बार पुकारने पर भी जब वह नहीं आयी, तो महात्माजी को

गुस्सा आ गया । गृहिणी ने कहा महाराज मैं चिड़िया नहीं हूँ । आप अतिथि हैं । आपका स्वागत करना मेरा धर्म है । पर अतिथि से भी परम श्रेष्ठ मेरे पति रुग्ण हैं । उनकी सेवा करना मेरा पहला कर्तव्य है । तुम्हें यह घटना कैसे मालूम हो गई, इसके उत्तर को जानने के लिये उस गृहस्थ स्त्री ने महात्मा जी को एक कसाई के पास भेज दिया । अतिसंक्षेप में इस कथा में एक महात्मा की अपेक्षा कर्तव्यनिष्ठ स्त्री और शूद्र को वरीयता दी गई है ।

प्रो० नथमल टाटिया

लेकिन एक बात है, जैन लोगों का सुदृढ़ विश्वास है कि भारत में दो संस्कृतियाँ रही, अनादिकाल से, एक श्रमण, एक ब्राह्मण । श्रमण अहिंसावादी थे और ब्राह्मण यज्ञवादी थे । ऐसी बात है क्या ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अवश्य था, किन्तु आगमीय एवं पौराणिक वाङ्मय ने इस भेद को बहुत कुछ मिटा दिया और परवर्ती तान्त्रिक वाङ्मय में हमें इनमें अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है ।

प्रो० नथमल टाटिया

लेकिन मुझे इसमें विश्वास नहीं । एन्थ्रोपॉलोजी विज्ञान की एक नई शाखा है । उसके आधार पर देखें तो अहिंसा बहुत बाद में आयी । सारी मानव संस्कृति हिंसा से शुरू होती है, बाद में सुसंस्कृत होते होते अहिंसा आती है । फिर अहिंसा का विकास होते होते ऐसी अहिंसा आ गयी, जो अव्यवहार्य हो जाती है । यह कहते थे डॉ० भाण्डारकर । भाण्डारकर कलकत्ता यूनिवर्सिटी में थे । भाण्डारकर और डॉ० बरुआ में शाश्वत विरोध था, श्रमण–ब्राह्मण जितना । डॉ० बरुआ अशोक के शिलालेख वगैरह के प्रमाण से कहते थे कि भारत में नई संस्कृति बौद्धों ने दी, अशोक ने उसको बढ़ाया । भाण्डारकर कहते थे अशोक ने उस संस्कृति को गिरा दिया । चन्द्रगुप्त मौर्य ने सारे भारतवर्ष में एक साम्राज्य की स्थापना की, जिसको आप चाणक्य के अर्थशास्त्र में देख सकते हैं । उसके पौत्र अशोक ने उस संस्कृति के सार्वभौम स्वरूप को गिरा दिया । यह भाण्डारकर का मत था । ठीक उसके विपरीत था बरुआ का मत । कलकत्ता यूनिवर्सिटी में यह संघर्ष चलता रहा । अब इस संघर्ष पर आप कुछ कहना चाहते हैं ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

इस संघर्ष का कारण आपके वक्तव्य में ही मिल जाता है । भारत में दो प्रकार की संस्कृतियां कभी रहीं और उक्त दोनों आचार्य उन्हीं परस्परविरोधी दो दृष्टियों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे । आगम और तन्त्रशास्त्र की, पौराणिक वाङ्मय की समन्वयप्रधान दृष्टि से इन महानुभावों का परिचय नहीं हो पाया था, श्रद्धेयचरण कविराज जी के अवदानों से ये परिचित नहीं हो पाये थे, यही इनके

दृष्टिभेद का मुख्य कारण है । वस्तुतः आगम-तन्त्रशास्त्र ने श्रमण-ब्राह्मण के भेद को मिटा दिया है । प्रस्तुत कार्यशाला का यही अन्तिम निष्कर्ष है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

जहाँ तक शब्दों का सवाल है, उनको हम खोजेंगे तो बड़े विस्तृत वाङ्मय में सब जगह सब शब्द मिल जायेंगे । लेकिन किस पर कौन जोर देता है, इसको इनकार नहीं करना चाहिये । जैसे कि जैन धर्म ने अहिंसा के ऊपर ज्यादा जोर दिया । इसका यह मतलब नहीं कि उसके पहले अहिंसा शब्द नहीं था या अहिंसा की प्रशंसा नहीं होती थी । हिंसा भी साथ-साथ में चलती थी और लोग उसको सहन कर लेते थे । लेकिन अहिंसा के ऊपर सारा जैन दर्शन आधारित है, अहिंसा उसमें से निकाल दी जाय, तो कुछ नहीं बचेगा । करुणा शब्द सब जगह है, लेकिन बौद्धो में जरा ज्यादा ही इसके ऊपर जोर दिया जाता है । किसी विशेष विचार पर जोर देने के कारण उनकी विशेषता मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि भारतीय संस्कृति में सब तत्त्व सब जगह विद्यमान है ।

डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी

कार्यशाला के विषयों में एक यह भी है कि मुद्रा क्या है ? उसके सम्बन्ध में भी हम जाने ? इसी सम्बन्ध में आपने यहाँ पर कापालिक मत में छः प्रकार की मुद्राओं के विज्ञान से, उनके धारण करने से मुक्ति की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है, तो मुद्रा क्या चीज है ? जैसे बौद्धों में कभी-कभी तत्त्वों को मुद्रा कहा गया है, शून्यता को भी मुद्रा कहा गया है । उसके बाद मन्त्र में प्रवेश लेने के पश्चात् पूजा में आने वाली हस्तमुद्राओं को भी मुद्रा कहते हैं या आगे चल करके फिर साधना में कर्ममुद्रा आदि आती है । उसके साथ महासुख की उत्पत्ति के लिये धर्ममुद्रा, उसी प्रकार समयमुद्रा और फिर महामुद्रा की व्याख्या की गयी है । उसी के अनुरूप बौद्धेतर तन्त्रों मे या आगमों में मुद्रा का क्या स्वरूप है ? मुद्रा का साधना में किस प्रकार प्रयोग किया जाता है ? उसका साधनपक्ष क्या है, दार्शनिक पक्ष क्या है ? इसका स्वरूप क्या है ? अगर इन प्रश्नों पर प्रकाश पड़े तो अच्छा हो । पाशुपत मत में मुद्राओं के विज्ञान से और उनको धारण करने से मुक्ति की बात कही गई है । यहाँ विज्ञान का अभिप्राय क्या है ? धारण करने का तो अर्थ समझ में आता है कि खड्ग को धारण करे या वज्र को धारण करे ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

विज्ञान का मतलब गुरुमुख से उनके रहस्य को, सही स्वरूप को जानने से है । इन मुद्राओं के रहस्य को जान करके उनको धारण करे, इसका अभिप्राय यह है कि पाशुपत इन छः मुद्राओं में और दो उपमुद्राओं में ही अपने दर्शन को समाहित करते है । इनका मोटा मोटा रूप तो आजकल भी नाथ योगियों की परम्परा में चला आ रहा है । यहां जो छः मुद्राएं दी गई हैं, बौद्ध सिद्धों में भी उनका प्रचलन था और नाथ सिद्धों में भी । वे अभी तक

चल रही हैं, किन्तु उनकी दार्शनिक व्याख्या को जानने का हमारे पास कोई साधन नही है ।

साधना में मुद्राओं के कई प्रकार प्रचलित है । श्री जनार्दन पाण्डेय जी ने जितने प्रकार की मुद्राएं तन्त्रशास्त्र में प्रचलित हैं, उन सबका परिचय 'धीः' पत्रिका के पाँच-छः निबन्धों में दिया है । खेचरी मुद्रा के प्रसंग में क्षेमराज ने संविद्गगनचरी मुद्रा का वर्णन किया है । संविद्गगनचरी का अर्थ, ज्ञानाकार मुद्रा में विचरण करना, अर्थात् अपने आध्यात्मिक ज्ञान से ओतप्रोत हो जाना । वहां इसको भी मुद्रा ही बतलाया है, आन्तर मुद्रा कहा है । जैसे महामुद्रा का बौद्ध साहित्य में वर्णन है, ठीक उसी प्रकार का वर्णन संविद्गगनचरी मुद्रा का है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

द्विवेदी जी, एक बात और बता दें आप । आपने कहा है कि लाभ को सबसे पहले स्थान उसमें दिया गया है । उसके प्रतिपादन के सिलसिले में आपने लिखा है—"प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते" । तो लाभ उसमें इसलिये पहले आया कि प्रयोजन के बिना, लाभ की आकांक्षा के बिना कोई मन्द भी प्रवृत्त नहीं होता । तो क्या लाभ के लिये प्रवृत्त होना तृष्णा को बढ़ाने वाला नहीं है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रश्न उस दर्शन की पृष्ठभूमि में ही होना चाहिये । यहां दुःखान्त को मोक्ष माना गया है । दुःख का अन्त होगा और फिर ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति, तो यह जो दुःख का अन्त हुआ, ऐश्वर्य की उपलब्धि इसी का पूर्व स्वरूप है । बौद्ध तन्त्रों में कुछ उपाय तन्त्र है, कुछ फल तन्त्र है । उपाय तन्त्र में मुक्ति का मार्ग बताया है । फलतन्त्र फल के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है । ठीक इसी प्रकार यहाँ की प्रक्रिया है । वे कहते है कि अज्ञान की निवृत्ति इससे होगी । चित्त की विशुद्धि की प्रक्रिया यहां बताई गई है । एक एक करके अन्त में चित्त की विशुद्धि होगी । क्रमशः ये पाँच लाभ उसको होंगे । इससे एक आश्वस्तता उसको मिलेगी कि पहला लाभ मुझे मिल गया, तो मै आगे क्रमशः बढ़ रहा हूँ । मै समझता हूँ, इतना ही उसका प्रयोजन है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

यहां दुःखान्त से क्या समझा जाय ? यह जो सुखप्राप्ति या महासुख है, उसको ये लोग नहीं मानते । ऐश्वर्य तो शक्ति है, शक्ति प्राप्त हो गई, लेकिन सुख की अनुभूति का उसमें स्थान नही है ? दुःखान्त पर ज्यादा जोर देने का क्या अर्थ है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

दर्शन स्थिर तत्त्व है । अक्षपाद ने जो कह दिया, आज का नैयायिक उसी का समर्थन करता है । नागार्जुन ने जो प्रतिपादन कर दिया, आज का

उसका शिष्य भी उसी का प्रतिपादन करता है । इसी तरह से धर्म भी एक स्थिर तत्त्व है, किन्तु धार्मिक दर्शन निरन्तर विकसित होता गया है। आगमिक और तान्त्रिक दर्शन इसका जीता-जागता प्रमाण है । तर्कशास्त्र को यहां बहुत वरीयता नहीं दी गई है । साधना के लिये बोधगम्य बातों का ही यहां बिना किसी लाग-लपेट के सुबोध भाषा में संक्षिप्त स्वरूप बना दिया गया है और उसमें हम यह देख सकते है कि वह निरन्तर गतिशील रहा है । तत्त्वरत्नावली में अद्वयवज्र ने चारों बौद्ध प्रस्थानों की समलता को प्रदर्शित कर चित्त की प्रभास्वरता के लिये मन्त्रनय की वरीयता प्रदर्शित की है । सिद्ध कम्बलपाद ने अपनी आलोकमाला में शून्यता की परिभाषा बदल दी है ।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

जैन साहब ने प्रश्न उठाया था । उस विषय में मैं अपना विचार रखना चाहता हूँ । ब्राह्मण-परम्परा और श्रमण-परम्परा में पशुबलि को, जहाँ तक हमें सामान्य गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ है, परमावश्यक नहीं माना जाता है । वह तब तक आधार बनाये रखते हैं, जब तक कि मुक्ति के लिये साधना हमारी प्रवृत्त नहीं होती। जब हम अपना लक्ष्य भौतिक उपलब्धियों के लिये साधना को बनाते हैं, वहाँ तक तो उसको अपनाते है । श्रमण-परम्परा में खास करके मुक्ति के लिये साधना ही अपनायी गयी । ब्राह्मण-परम्परा में भी जहाँ मुक्ति के लिये साधना अपनायी गयी, वहाँ हम उस पशुबलि की जगह पर अपने विषयों को देवता के सामने समर्पित करते हैं और वही हमारा लक्ष्य होता है । वहाँ पशुबलि आवश्यक नहीं होती । हमारा निवेदन यह था कि ब्राह्मण-परम्परा में भी जहाँ मोक्ष लक्ष्य होता है, मुक्ति के लिये साधना अपनाते है, तो वहाँ तन्त्र में भी पशुबलि आवश्यक नहीं होती । वहां हम अपने विषयों को ही समर्पित करते हैं ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

जैन साहब ने जो बात उठाई है, बहुत ही कीमती है । मैं एक ऐसे संस्कार से आ रहा हूँ, जहाँ वैष्णवाचार के साथ ही बलि का भी प्रयोग होता है । वैष्णवाचार का प्रयोग कैसे होता है ? जहाँ पर दुर्गा के लिये, दुर्गापूजा के समय देवी दुर्गा के लिये जब वारुणी देनी पड़ती है, मद्य देना पड़ता है, तो पंचमकार के साधन के साथ उस समय कांस्यपात्र में नारियल के पानी को वारुणी कह कर उसका समर्पण किया जाता है या निवेदन किया जाता है । दूसरी ओर नवमी तिथि में देवी के सामने बलिदान की बात आती है, तब सचमुच वहाँ जो मन्त्र है, उस मन्त्र का कोई पूजक अपने अन्तर में ध्यान रख कर उस क्रिया को करे, तो मेरे ख्याल में उसमें हिंसा की कोई जगह नहीं है । वहाँ का जो मन्त्र है, परिस्फुट रूप में उसमें यही कहा जाता है, जैसा हमारे त्रिपाठी जी ने कहा कि हमारे जितने भोगासक्ति के विषय हैं, उनका ही मैं बलिदान दे रहा हूँ, किसी जीव का नहीं । सबसे गहरी बात यह है कि बलिदान करने की जो क्रिया है, वह पूजक को अपने करनी पड़ती है, क्योंकि वह खड्ग को लेकर उस मन्त्र के साथ खड्ग को रुधिरतृप्त करने के प्रयास में

अपने कन्धे पर छोटा सा घाव कर लेता है । इस प्रकार शास्त्रीय रूप में जहाँ तक है, वहाँ हिंसा की कोई बात नहीं है ।

डॉ० किशोरनाथ झा

यह तो उपलक्षण में माना जाता है । यह तो अनुकल्प की बात है ।

श्री पेमा तेनजिन

अन्यत्र सभी परम्पराओं में गुरु के द्वारा शिष्य को जहाँ दीक्षा देने की बात आयी है, वहाँ गुरु की योग्यता का वर्णन किया गया है । आपकी इस परम्परा में महिला भी गुरु हो सकती है । तान्त्रिक उपासना में माँ से दीक्षा लेना प्रशस्त माना गया है, तो यहाँ माता की योग्यता के बारे में कुछ कहा गया है या नहीं ? जिस प्रकार गुरु होने के लिये गुरु की कुछ योग्यता होती है, उसी प्रकार तान्त्रिक उपासना में माता से दीक्षा लेना हो, तो उसमें कुछ शक्तियाँ या कुछ योग्यताएँ होनी चाहिये या सामान्य माता से दीक्षा ले सकते है, एक प्रश्न है । दूसरा आपने पांच देवताओं की उपासना की बात कही और उसमें आपने कालिकापुराण के प्रमाण से यह कहा कि शिव, सूर्य, अग्नि, विष्णु और भगवती अम्बिका की पूजा न करने पर स्वर्ग से भी व्यक्ति की अधोगति होती है । तो क्या स्वर्ग से अधोगति आप व्यक्ति की मानते है या देव की मानते है ? इस पर आप थोड़ा प्रकाश डालें ।

डॉ० किशोरनाथ झा

जहाँ तक महिला गुरु की बात है, मिथिला में आज तक यह प्रचलित है । हम भी महिला गुरु से दीक्षित है । मिथिला में दो तरह की दीक्षा चलती है—एक वैदिक दूसरी तान्त्रिक । वैदिक दीक्षा का अधिकार पिता का है, पिता के अभाव में या पिता की अनुमति से पितामह भी गुरु होता है । पितामह का अधिकार नहीं बनता । हमारे यहाँ की जो परम्परा है, हम उसे ही बता पावेंगे । माता के आचार्यत्व का कोई लक्षण नहीं दिया गया । माता रूप में ही वह दीक्षा देती है । हमारे यहाँ यही परम्परा है । गंगानाथ झा जी ने भी अपनी माँ से दीक्षा ली थी । कम से कम हम इतना मान सकते है कि उनको जरूर सिद्धि मिली थी, क्योंकि बिना उपासना के इतनी बड़ी प्रतिष्ठा, इतना बड़ा यश मिल नहीं सकता । दूसरा कालिकापुराण का जो वचन है, वह साधक के लिये है । देवता का अवरोहण नहीं होता । अर्थवाद वचन भी होते है, जैसे अन्यत्र वेद में है । इसी तरह से पुराण में और हमारे आगम में भी है । फलश्रुति क्या है ? अर्थवादी ही तो है । मैं समझता हूं कि कालिकापुराण का उक्त वचन भी अर्थवाद कोटि में ही आवेगा ।

प्रो० एन० आर० भट्ट

मिथिला में ही नहीं, दक्षिण भारत में भी स्त्री के द्वारा दीक्षा का अधिकार मान्य है । रामेश्वर में एक बड़ा दीक्षित था जोशी । वह कुछ नहीं पढ़ा था । वह कभी एक वृक्ष पर चढ़ा था । वहीं गुरु जी आ गये और

उसे दीक्षा दी । वह बड़ा शिक्षित हो गया, शास्त्र-प्रवचन करता था । उसने अपनी भार्या को दीक्षा का अधिकार दिया । इस तरह से भार्या को दीक्षा देने का अधिकार दक्षिण भारत में प्रचलित है, अधुनापि यह परम्परा प्रचलित है ।

बलि के विषय में हमारा यह कहना है कि तन्त्रशास्त्र में बलि का प्रचलन है । दुर्गा देवी को पशुबलि दी जाती थी । बौद्ध और जैन परम्परा की अहिंसा के प्रभाव से तन्त्रशास्त्र में इसमें परिवर्तन आया । पशु के स्थान में नारियल, कूष्माण्ड के साथ कुमकुम ऐसा बलि का प्रवर्तन हुआ । तो भी मन्दिर के बाहर की शिला पर भक्तजन जीवबलि देते थे । अभी तो यह भी बन्द हो गया । गवर्नमेन्ट ने बन्द कर दिया । परन्तु बलि का विधान तो था ही । नरबलि का भी प्रचलन था । आप बहुत अच्छी तरह से जानते हैं विश्वामित्र की कथा को । बुद्ध के प्रभाव से यज्ञ भी गया और बलि भी गई ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

"यदन्नो वै पुरुषस्तदन्नो वै देवः" । पूजा-विधान की जो प्रक्रिया है, उसके मूल में यही है कि हम अपने जितने भी कर्मादि हैं, जो बाह्य कर्म हैं, उनको परमात्मा को अर्पण कर दें । इसलिये जो लोग जिस परम्परा में पले हुए है, जो नित्य उनके आस्वाद भोजन आदि में आता है, वह भगवान् को अर्पण करते हैं । घर में जो भी नैवेद्य बनता है, वह भगवान् को या अपने इष्टदेव को अर्पण करते हैं । इस तरह से जो लोग इस प्रक्रिया में, मांसभक्षण की प्रक्रिया में प्रवृत्त हैं, वे आज भी उसको करते हैं, भविष्य में भी करेंगे । उनको छोड़ने का कोई रूप मालूम नहीं पड़ता । वहाँ मूल वृत्ति आत्मार्पण की है, सर्वस्वार्पण की है । बलि के सम्बन्ध में मेरी दृष्टि में एक ही समाधान हो सकता है कि जो जैसा खाता है, वैसा ही अपने इष्टदेव को अर्पण करता है ।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

एक छोटी सी जिज्ञासा है । सौभाग्य से हमारे बीच में भट्ट साहब जैसे परम्परागत विद्वान् उपस्थित है और यह चर्चा चल रही है हिंसा-अहिंसा वाली । मैं आपसे यह जानना चाहूँगा, जैसा कि आपने बताया, तन्त्र में हिंसा की व्यवस्था थी, तो क्या वह हिंसा मुक्तिप्रदान करने में समर्थ थी ? पूजा के प्रसंग में पंचोपचार पूजा बतायी गयी है । "हं आकाशात्मकं पुष्पं समर्पयामि, वं वाय्वात्मकं धूपं समर्पयामि", इत्यादि । उसका अभिप्राय क्या है ? क्या इस प्रकार की पूजा-व्यवस्था में हम पंचभूत की परिकल्पना करके उसको समर्पित नहीं करते रहे हैं ? क्या मुक्ति के लिये भी आवश्यक थी हिंसा ? यह छोटी सी जिज्ञासा है । मैं इसका समाधान चाहता हूँ ।

डॉ० किशोरनाथ झा

भट्ट साहब तो इस विषय में कहेंगे ही, हमारे यहाँ यह हिंसा आई कहाँ से ? हिंसा जो है, वह तो वेद से ही आई । गोमेध, नरमेध आदि याग वहाँ वर्णित हैं । "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" कहते हैं हम । जो प्रचलित धारणा

रहती हो, उसी को आगम भी मानता है और पद्धति भी चलती है । उसमें परिष्कार होना स्वाभाविक है । परिष्कार यह हुआ कि हिंसा का पहले अनुकल्प हुआ फिर उसके बदले में फल आ गया । जहाँ तक मुक्ति का प्रश्न है, साधक जिस समय साधना करता है, वह ऐहिक सुख के लिये ही साधना नहीं करता, उसमें प्रवृत्ति नियामक होती है । हर एक व्यक्ति की अपनी अलग-अलग रुचि होती है, यह तो मानना ही पड़ेगा । नहीं तो सब एक ही रास्ते से चलते । जब रुचि का भेद आप स्वीकार करेंगे, यहाँ यह भी मानना पड़ेगा कि जो ऐहिक सिद्धि में विश्वास करता है, वह भी पूजा करता है । नहीं तो "अभावे तोयभक्तिभ्यां सत्यं तुष्टा भवाम्यहम्" जब यह वचन है, तो फिर चौसठ उपचार की क्या आवश्यकता है ? चौसठ उपचार भी करते हैं और जल से भी हम पूजा करते हैं, अनुकल्प भी देते हैं । जहाँ तक हिंसा की बात है, वह हमारे यहाँ प्रचलित रही । उसमें बाद में परिष्कार किया गया । शाक्त तन्त्र की बात हो, चाहे पांचरात्र की बात हो, जहाँ शाक्त तन्त्र में चाण्डाल को भी अधिकार है, तो उसकी रुचि के अनुरूप उसका स्वरूप होगा, हमारी रुचि के अनुरूप भी स्वरूप होगा । इन दोनों मे जरूर निश्चित भेद होगा ।

प्रो0 एन0 आर0 भट्ट

I just want to tell you something. Here we are discussing the texts. We are telling what the texts say, the religion based on texts. We are not *sādhakas*,The texts prescribe *bali* and it is believed that the *bali* would lead to *mokṣa*. Now it is replaced and no *bali* is generally offered. But there are some places where the *bali* is still offered. No one can stop it.

The *bali* should be offered according to the injunctions given in the text and it should lead to *mokṣa*. We cannot deny it.

डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर

अभी हिंसा की बात चल रही है । वेदकाल में तो यज्ञ में हिंसा होती ही रहती थी । पशु के बिना किसी प्रकार का सोमयाग करना संभव नहीं था । यद्यपि कुछ विद्वान् ऐसा मानते है, आर्यसमाजी भी मानते हैं कि संहिताओं में पशु की हत्या नहीं थी, लेकिन वह ठीक नहीं है । यज्ञ में पशु अत्यावश्यक भाग है । इसीलिये वहाँ हिंसा होती थी, फिर भी यह हिंसा होना कदाचित् ठीक नही है । ऐसा भी विचार वहाँ होगा, इसीलिए यज्ञ में जो हिंसा होती है, वह हिंसा नहीं है, ऐसा विचार प्रस्तुत किया जाता था । इष्टि-विधान में शाखाहरण ऐसी विधि है । वह शाखा तोड़ने के समय एक मन्त्र ऐसा है— "स्वधिते मैनं हिंसीः" तोड़ना तो है, लेकिन इसकी हिंसा मत करना ऐसा मन्त्र है, जिसको कदाचित् कहा जाता है । दूसरी बात विपरीत बात करना, अच्छी तरह से बात करना, ऐसा उसका अर्थ हो सकता है । क्योंकि वहां यज्ञ का दृष्टिकोण मोक्ष नहीं था, उनके लिये स्वर्ग ही मोक्ष था, इसीलिये "अग्निष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" स्वर्ग के अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह तो परवर्ती विचार है, विशेष कर उपनिषद् काल में और ब्राह्मण भागो के अन्त काल में । यहां इतने

कर्मकाण्ड का प्राधान्य बढ़ गया, तो एक प्रकार से उसकी प्रतिक्रिया होगी ही और "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" ऐसा भी विचार शुरू हुआ । यह उपनिषद् काल का प्रभाव है । इसीलिये हिंसा कम होती गई । आज भी जो वैदिक परम्परा से यज्ञ किया जाता है, सोमयाग किया जाता है, दक्षिण भारत में, वहां तो पशु-हत्या कभी कभी होती ही है, लेकिन समाज के प्रभाव के कारण हमने अब देखा है, पशुवध नहीं किया जाता । कभी कभी पशु लाकर के छोड़ देते है । कभी कभी पिष्टपशु का विकल्प रहता है । ऐसे कुछ विकल्प माने गये है, क्योंकि उत्तर काल में हिंसा करना और यज्ञ में हिंसा करना ठीक नहीं समझा जाता था । इसीलिये मनु ने भी कहा है—"न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां निवृत्तिस्तु महाफला " उत्तर काल में यह विचार बढ़ता जाता है । इसीलिये हिंसा का प्रभाव कम हुआ, लेकिन यज्ञकाल, वैदिककाल में हिंसा थी और उत्तर काल में तन्त्र तक वह चलती आयी है, ऐसा दिखाई देता है ।

●

निगम, आगम तथा उनकी शाखाएं

–प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते–

[निबन्ध के पढ़ने के पूर्व वक्ता कैसा है ? इसका परिचय देना आवश्यक है । वक्ता के नाम का परिचय नहीं, उसका बुद्धिस्तर क्या है ? वह क्या लिखना पढ़ना चाहता है ? मैं मूलतः साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी रहा, उल्टी सीधी कविताएं लिखता रहा । लेकिन संयोग ऐसा था बाल्यकाल से ही कि कुछ ऐसे गुरुजनों के पास बैठने का अवसर मिला—जैसे पूज्यपाद महामहोपाध्याय गोपीनाथ कविराज जी, मेरे पूज्यपाद पिता श्री म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते जी और मेरे दीक्षा गुरु गोडबोले जी महाराज । इन लोगों के सान्निध्य में बैठने पर जिन बातों को सुनता था, उससे आगम शास्त्र और वैदिक वाङ्मय की तरफ प्रवृत्ति काफी बढ़ती रही । यह जो निगमागम शास्त्र है, वह ग्रन्थों की अपेक्षया वृद्ध जनों के सम्पर्क में जाने से ज्यादा सुलझता है, ऐसी मेरी भावना है । फिर मैंने एक प्रोजेक्ट लिया था दिल्ली से, उसमें मैंने भास्करराय पर काम किया । तन्त्रशास्त्र मेरा अभ्यास का विषय नहीं है । रुचि बहुत थी । उसके अनुसार जो कुछ मुझसे बन पड़ा, मैं यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ । हमारे मित्रवर पं० व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने मेरे पास प्रपत्र भेजा था । उसमें मुझे कुछ भ्रान्तियां प्रतीत हुई । उनके निराकरण का प्रस्तुत निबन्ध में प्रयास मैंने किया है । अब मैं अपना निबन्ध प्रस्तुत करता हूँ ।]

नामरूपात्मकं विश्वं यस्य लीलामयं वपुः ।
प्रकाशाय नमस्तस्मै सविमर्शाय शम्भवे ॥

वाराणसी के इस प्रतिष्ठित केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान, सारनाथ में बौद्ध दर्शन एवं तन्त्रों के प्रकाशन के प्रसंग में आपने इस गोष्ठी का आयोजन किया, यह एक अभिनन्दनीय प्रयास है । आपने मुझे भी इसमें भाग लेने का अवसर दिया है, अतः मैं आपका आभार मानता हूँ ।

प्रत्येक अध्येता अपनी शिक्षा और परम्परा के अनुसार विषय की आलोचना करता है । उसकी एक दृष्टि होती है, भले ही वह सर्वसंमत हो या न हो । मैं अपने कुछ विचारों को आपके संमुख रखने का अल्प प्रयास कर रहा हूँ ।

आपके द्वारा प्रेषित प्रपत्र में अनेक शास्त्रों, सम्प्रदायों का उल्लेख है । उन सब पर विचार करना तो समय साध्य है और बहुत सी बातें आज भी प्रायः अज्ञात हैं । सभी के मर्मदर्शी विद्वान्

भी दुर्लभ हैं, तो भी यथामति उन पर विचार अपने ज्ञानक्षेत्र के अनुसार करना चाहिये ।

सामान्य रूप से निगम और आगम इन दो धाराओं का पृथक् उल्लेख किया गया है । निगम, अर्थात् वेद या वेदमूलक वाङ्मय, आगम, अर्थात् तन्त्रात्मक वाङ्मय । मेरी दृष्टि में निगम और आगम मूलतः एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं । इनको आपाततः पृथक् देखने पर भी उनका अन्तःसम्बन्ध स्वीकार करना पड़ता है । वैदिक वाङ्मय समस्त भारतीय सभ्यता, शास्त्रों तथा कलाओं का मूल स्रोत है । मनु आदि स्मृतिकारों ने कहा ही है—

प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा यस्तूपायो न बुद्ध्यते ।
एनं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता ॥
पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम् ।
अशक्यं चाऽप्रमेयं च वेदशास्त्रमिति स्थितिः ॥

वेद शब्द से केवल संहिता-ब्राह्मण ग्रन्थों का ग्रहण नहीं होगा, किन्तु समस्त अंगों-उपांगों और पुराणों-स्मृतियों का भी ग्रहण करना होगा । अन्यथा वेदार्थ की पूरी प्रतीति स्पष्टतया नहीं होगी । इतिहास-पुराण वेदार्थ के उपबृंहक हैं—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

निगमधारा में त्रैवर्णिक से इतरजातीय लोगों को मोक्ष का अधिकार नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता । वर्णाश्रम की परम्परा में अपने-अपने नियत कर्मों को करने पर अन्ततः प्रत्येक मनुष्य परमपद या मोक्ष का अधिकारी होता है । अधिकारी के भेद से कर्म की व्यवस्था है । "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः" यह उक्ति प्रसिद्ध है । मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने भी कर्मकाण्ड का विस्तार कर अन्ततः ब्रह्मस्वरूपावाप्ति ही सबका फल बताया है । सुप्रसिद्ध पण्डित शेषकृष्ण ने 'शूद्राचारशिरोमणि' नामक ग्रन्थ शूद्रों के लिये लिखा है, जिसमें त्रैवेर्णिक की तरह, परन्तु पुराणोक्त मन्त्रों से, शूद्रों के सभी संस्कार एवं विधियों का उल्लेख है । यह अवश्य है कि वैदिक मर्यादा वर्ण और आश्रम की सीमा से बँधी हुई है । यह सामाजिक और आध्यात्मिक व्यवस्था उस समय मानी गई थी । नीतिशास्त्र का वाक्य है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

वेद अपौरुषेय हैं । प्रति कल्पान्त में महर्षिगण उनका साक्षात्कार करते रहे हैं ।

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥

आगम भी स्वप्रकाश एवं अपौरुषेय हैं । भले ही शिव–शक्ति संवादरूप से या गुरु–शिष्य संवादरूप से उनकी अवतारणा हुई हो ।

परमशिव या परमब्रह्म कोई भिन्न तत्त्व नहीं है । दोनों धाराओं का उद्‌गम उन्हीं से है तथा इनके मूल ग्रन्थों या आदि सूत्रों को इतिहास के पिंजरे में बाँधना असम्भव है, बाद के निबन्ध–ग्रन्थों का इतिहास भले ही मिल जाय । इस विषय में स्व० म० म० पण्डित गोपीनाथ कविराज महोदय का एक लेख "वेदानां वास्तविकं स्वरूपम्" जो अमरभारती पत्रिका में मुद्रित है, द्रष्टव्य है ।

"धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः" इत्यादि वचनों के अनुसार यह सारी सृष्टि प्रवाहशील है । शास्त्र भी पुनः पुनः प्रकाश में आते रहते हैं ।

एक दृष्टि से भगवान् परमशिव ही समस्त वैदिक, अवैदिक या अन्य समस्त शास्त्रों के प्रथम आविर्भावक हैं, यह मान्यता है । श्रुति कहती है—"ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिः" इत्यादि । अष्टादश विद्याओं के प्रथम उपदेष्टा भी वही हैं—

अष्टादशानामेतासां विद्यानां भिन्नवर्त्मनाम् ।
आदिकर्ता कविः साक्षात् शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥

अन्य प्रमाणों की अपेक्षा शब्दप्रमाण अधिक वस्तुतत्त्व का ग्राहक है । "आप्तस्तु यथार्थवक्ता" यह आप्त का लक्षण है । परमेश्वर ही यथार्थ वक्ता हैं । अतः परमशिव प्रणीत होने से सभी विद्याओं का प्रामाण्य सुव्यवस्थित है । "अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्युक्तान्यशेषतः" के अनुसार अधिकारी के अनुसार ही आचार्य उपदेश देते हैं । अतः आस्तिक–नास्तिक सभी दर्शनों या उपासना–पद्धतियों के प्रथमोपदेष्टा शिव ही हैं ।

वेदों में आगमों के तत्त्व-रहस्य यथा स्थान उपलभ्य है । आगमों में भी वैदिक विचारों का परिग्रह किया गया है । इसलिये निगम और आगम दोनों एक ही कल्पवृक्ष की दो शाखाएँ हैं । इनकी परस्पर बीजाङ्कुरन्याय से सापेक्षता है । इस विषय में एक प्रमाण भी मिलता है—

> यन्मूलं वेदवृक्षस्य सम्पूर्णानन्तशाखिनः ।
> फलं तस्यैव यं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम् ॥

आगम के स्वरूप का विचार करते हुए तन्त्रालोक में "अविगीतैव प्रसिद्धिरागमः" लिखा है, अर्थात् गुरुपरम्परा से प्राप्त विशुद्ध ज्ञान ही आगम है । जयरथाचार्य ने एक उद्धरण दिया है—

> प्रसिद्धिरागमो लोके युक्तिमानथवेतरः ।
> विद्यायामप्यविद्यायां प्रमाणमविगानतः ॥

'अविगीतत्व' का अर्थ है— शिष्टाचार प्राप्त तथा शिष्टसंमत । प्रायः न्यायशास्त्र में इस शब्द का प्रयोग देखा गया है—"मङ्गलं कर्तव्यम्, अविगीतशिष्टाचारविषयत्वात्" इत्यादि । आचार्य अभिनवगुप्त का और भी लक्षण है—"आगमस्तु अनवच्छिन्नप्रकाशात्मकमाहेश्वरविमर्शपरमार्थः" । इसको आगम की भाषा में "परप्रमातृविमर्शशक्तिमयः" भी कहा है । जैसे सूर्य या दीपक के प्रकट होने पर अन्धकार से आवृत सभी पदार्थों का अवयवशः स्पष्ट ज्ञान होता है, इसी तरह आगमदीप के आलोक से भी लौकिक या अलौकिक विषय स्पष्ट प्रतीत होते हैं । वेदप्रामाण्यवादी हों या वेदाऽप्रामाण्यवादी हों, उन दोनों के लिये सामग्री वेद और आगमों से ही प्राप्य है ।

> गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ।
> प्रश्नोत्तरपरैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ॥

इस वचन के अनुसार गुरुशिष्यक्रम से शास्त्रों की भूतल में अवतारणा हुई । ऊर्ध्व देश से अधो देश में आना ही अवतरण है । दिव्यौघ, सिद्धौघ तथा मानवौघ क्रम से शास्त्र भूमण्डल पर आया । इस पर 'परात्रीशिका' में शिव-शक्ति के प्रश्नोत्तर के विषय में आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने गम्भीर विवेचन किया है । इसी तरह आचार्य शंकर की उक्ति भी द्रष्टव्य है—

> चतुष्षष्ट्या तन्त्रैः सकलमभिसन्धाय भुवनं
> स्थितस्तत्तत्सिद्धिप्रसवपरतन्त्रः पशुपतिः ।

पुनस्त्वन्निर्बन्धादखिलपुरुषार्थैकघटना–
स्वतन्त्रं ते तन्त्रं क्षितितलमवातीतरदिदम् ॥

भगवान् शिव ने विविध संस्कारशाली जीवों की भूमिका के अनुसार चतुःषष्टि तन्त्रों का उपदेश दिया और अन्त में भगवती के विशेष आग्रह से सम्पूर्ण पुरुषार्थप्रद स्वतन्त्र तन्त्र की अवतारणा की । पूर्वोक्त दोनों श्लोकों में अवतरण शब्द हैं, जो गुरुशिष्य–परम्परा का सूचक है ।

इस श्लोक में कहीं 'अतिसन्धाय' पाठ है, जो प्रामादिक है, क्योंकि 'अतिसन्धाय' का अर्थ ठगना होता है और उससे परमशिव पर प्रवंचना का आरोप लगेगा । चतुःषष्टि संख्या एक उपलक्षण है, क्योंकि सम्प्रदाय के भेद से चतुःषष्टि तन्त्रों की गणना नाना प्रकार की है । प्रसंगतः त्रिपुरारहस्य में निर्दिष्ट वेद और आगम की स्थिति भी द्रष्टव्य है—

वेदार्थः परमो यस्तु त्रिपुरैव तु सा भवेत् ।
अतस्त्रैपुरसंसिद्धौ साधनं वेद उच्यते ॥
वेदार्थस्यैव व्यसनं पुराणं व्यास ऊचिवान् ।
वेदो ह्यागमभागः स्यात् शब्दराशिस्तथागमः ॥
तस्या मूर्तिरतः सर्वं प्रवृत्तं तस्य संश्रयात् ।
त्रैवर्णिकाधिकारेण वेदरूपः प्रवर्तते ॥
दयया परमेशानः सर्वानुद्धर्तुमिच्छया ।
वेदम् आगमसंज्ञानं विभावयदनुत्तमम् ॥
आगमः परमेशस्य विमर्श इति निश्चयः ।
क्रमेण ब्रह्ममुख्यानां मुखादुद्भावयन्तु तम् ॥
अपारो ह्यागमाम्भोधिः सर्वलोकेषु सङ्गतः ।
कालेन मन्दधिषणान् कृपणानभिलक्ष्य तु ॥
ऋषिभिस्तमागमाब्धिं मथित्वा प्राज्यया धिया ।
सारसंग्रहरूपात्मतन्त्रामृतमनुत्तमम् ॥
देशभेदविभेदेन पृथगेवं विभावितम् ।
वेद एव हि तन्त्रं स्यात् तन्त्रं वेदः प्रकीर्तितम् ॥
नाऽनयोर्विद्यते भेदो लेशांशेनाऽपि कुत्रचित् ।

त्रिपुरारहस्य के इस उद्धरण से वेद और तन्त्रों की स्थिति स्पष्ट होती है । इसमें आगम में ही वेद का अन्तर्भाव किया गया

है और आगमों से ही तन्त्र का निर्माण माना गया है, जो यथार्थ लगता है ।

भगवद्‌गीता को किसी एक सम्प्रदाय से नहीं बांधा जा सकता । यद्यपि औपनिषद सिद्धान्त, सांख्य, योग, भक्ति आदि सभी विचारधाराओं का उसमें समाहार हुआ है, साथ ही शैव सिद्धान्तों की भी उसमें पर्याप्त छाया है । आचार्य अभिनवगुप्त की प्रत्यभिज्ञापरक टीका भी उस पर है । महार्थमंजरीकार ने उसमें क्रमदर्शन का भी विवेचन किया है । विश्वरूप दर्शन में कालसंकर्षण योग की व्याख्या की गई है । इसलिये गीता एक सार्वभौम दर्शन का स्रोत है ।

अब वेद के द्वारा भी आगमप्रामाण्य की रीति जाननी चाहिये । श्रुति में एक वचन है— "यत्किञ्चित् मनुरवदत् तद्भेषजम्", अर्थात् साधारण जनसमाज के लिये मनु की वाणी औषधि की तरह हितकर है, परन्तु विशेषाधिकारी या शक्तिपात के योग्य पुरुषों के लिये भगवान् शिव की वाणी ही परम औषधि है । रुद्राध्याय में कहा है—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वान् जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

इसका अर्थ है— अधिकं वक्तुम् अधिवक्ता=सामान्य मन्वादिशास्त्र से ऊपर की बात कहने में समर्थ, प्रथमो दैव्यो भिषक्=सर्वादिभूत देवताओं का भी चिकित्सक अर्थात् गुरु, अध्यवोचत्=यह प्रयोग अधिवदतु इस अर्थ में है, हमें उपदेश प्रदान करें । आगे उसकी शक्ति का निर्देश है— "शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे" उसी शिव में अभिन्न रूप से रहने वाली शिवा कल्याणकारिणी अनुग्रहात्मिका शक्ति औषधि है । उससे अज्ञानरूप मृत्यु से हमारी रक्षा करें, यह साधक की प्रार्थना है । इस उद्धरण से सिद्ध होता है कि विशेष अधिकारियों के लिये शिव ने आगम-शास्त्र का उपदेश किया ।

पांचरात्र तथा पाशुपत आदि आगम भी दो प्रकार का है— एक तो वेदसंमत और दूसरा वेदबाह्य । किसी कारण से वैदिक परम्परा का लोप होने पर पुनः वेदमार्ग की ओर आने के लिये बीच में तन्त्र के द्वारा ही मार्ग मिलता था । इस विषय में यह उक्ति है—

श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्तप्रायश्चित्ते भयं गतः ।
क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥

इस प्रकार तन्त्रमार्ग से उनकी अधिकारिता बनती थी ।

पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वैखानसाभिधम् ।
वेदभ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान् ॥

पाशुपत और पांचरात्र मत के दो-दो प्रकार थे, यह विद्वत्परम्परा में प्रसिद्ध है । आचार्य शंकर ने "पत्युरसामञ्जस्यात्" इत्यादि अधिकरण में वेदबाह्य पाशुपत मत का ही खण्डन किया है, न कि वेदसंमत का । सेतुबन्ध में इस पर विचार किया गया है ।

मध्ययुगीन वैष्णव सम्प्रदायों तथा शैव सम्प्रदायों पर इनका पर्याप्त प्रभाव देखा जाता है । वैष्णवागम में भी द्वैतभाव और अद्वैतभाव दोनों की उपासना देखी जाती है । श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में है—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥
य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः ।
विधिनोपचरेद् देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् ॥

इन श्लोकों पर सुप्रसिद्ध सन्त एकनाथ विरचित मराठी टीका 'एकनाथी भागवत' नाम से प्रसिद्ध है । ऊपर दिये गये श्लोकों पर श्री एकनाथ जी ने अत्यन्त विस्तार के साथ तान्त्रिक शैली में पूजापद्धति का निरूपण किया है, जो शिवागमों की सरणि के पूर्णतया समान है ।

सन्त एकनाथ श्री ज्ञानेश्वर के बाद महाराष्ट्र में हुए थे । श्री ज्ञानेश्वर तो पूर्णरूप से शिवागमानुयायी मालूम होते हैं । उनकी रचनाओं में विविध तन्त्रों और आगमों की उक्तियाँ प्रतिबिम्बित हुई हैं । उत्पलदेव की शिवस्तोत्रावली तथा अन्य स्तोत्रों की छाया उनकी रचना में यत्र तत्र दृष्टिगोचर होती है । इन सन्तों में अद्वैतभाव की उपासना ही दृष्टिगोचर होती है । इस प्रकार अद्वैत प्रधान वैष्णव धर्म की शाखाओं पर शिवागमों का पर्याप्त प्रभाव विचारणीय है ।

श्री ज्ञानेश्वर की अन्य कृति "अनुभवामृत" में शिव-शक्तिसमावेश प्रकरण पूर्णतः प्रत्यभिज्ञा सिद्धान्त की सरणि पर प्रतिष्ठित है । महाराष्ट्र के प्राचीन सन्तों पर दत्तात्रेय गुरु की परम्परा का प्रभाव है । भगवान् दत्तात्रेय अवधूत सम्प्रदाय एवं श्रीविद्या के प्राचीनतम आचार्यों में हैं । श्री भास्करराय प्रभृति विद्वानों का मत वेदमूलक तन्त्रप्रामाण्य मानने का है । उनके ग्रन्थों में शतशः उद्धरणों

से यह बात हृदयंगम होती है । श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य प्रभृति आचार्य आगमों को ही प्राधान्य देते हैं, परन्तु उससे विषय पर दोनों तरह से पूर्ण प्रकाश मिलता है । वेदों में भी तान्त्रिक आधारों को प्रकट करते हुए श्री अभिनवगुप्तपाद ने यागप्रकरण में लिखा है—

पञ्चगव्ये पवित्रत्वं सोमचर्णनपात्रयोः ।
विधिश्चाऽवभृथस्नानं हस्ते कृष्णविषाणिता ॥
न पत्न्या च विना यागः सर्वदैवततुल्यता ।
सुराहुतिर्ब्रह्मसत्रे वपान्त्रहृदयाऽऽहुतिः ॥

TA

इत्यादि । फिर इस पर शंका करते हुए कहा है कि अद्वयमार्ग की बातें मायापदस्थित वैदिक मार्ग में कैसे दिखायी गयी ? इसका उत्तर आचार्य ने इस तरह दिया है— शीतकाल की अँधेरी रात में जैसे बादलों में बिजली चमक कर अन्धकार हटाती है, उसी तरह वैदिक विधि में भी आगम का प्रकाश आता है । श्लोक है—

पाशवेष्वपि शास्त्रेषु तददर्शि महेशिना ।
घोरान्ध्यहैमननिशामध्यगाऽचिरदीप्तिवत् ॥

बौद्ध और जैन तन्त्र या सम्प्रदाय भी अत्यन्त प्राचीन हैं और इन पर भी शिवागमों का पर्याप्त प्रभाव है । अन्य आगमों के साथ इनका भी उल्लेख मिलता है । ललितासहस्रनाम में 'नित्यशुद्धा' और 'नित्यबुद्धा' इन दो नामों की व्याख्या करते हुए श्री भास्करराय ने लिखा है—

"शुद्धबुद्धौ जिनविशेषौ, तौ नित्यौ यस्याः प्रसादात्", "षड्दर्शनपूजायां जैनदर्शनोपास्यत्वेनापि देव्याः पूजादर्शनात् तदुपास्यतारानामकदेवीरूपा" । श्रीविद्या के क्रम में षड्दर्शनों की देवताओं का भी पूजन विहित है । उन्हीं का उल्लेख यहाँ किया गया है । इसी तरह 'निजाज्ञारूपनिगमा' इस नाम की व्याख्या में वैदिक और अवैदिक तन्त्रों का विभाग किया गया है— "सन्ति वेदानुयायीनि शैवतन्त्राणि कामिकादीन्यष्टाविंशतिः, वेदविरुद्धानि कापालभैरवादीनि च । तेषु वैदिकानि निगमपदवाच्यानि, परमेश्वरस्य मुखादुद्भूतत्वादाज्ञारूपाणि, न पुनर्नाभ्यधोभागादुत्पन्नानि वेदविरुद्धानीत्यर्थः" । इसमें प्रमाणस्वरूप देवीभागवत और स्कन्दपुराण के वचन भी दिये गये हैं ।

अब थोड़ा विचार वेद और आगम की मूल दृष्टि पर करना आवश्यक है । सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति यज्ञपरक है । सभी शारीरिक, वाचिक या मानसिक क्रियाएँ यज्ञ में पर्यवसित होती हैं । यज्ञ है— "परमेश्वरार्पणरूपी क्रियाविशेषः" । वेदों में तो "मनो यज्ञेन कल्पताम्, प्राणो यज्ञेन कल्पताम्, यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्" इत्यादि शतशः प्रयोग है । यज्ञ के अनेक भेद हैं, जिसका व्यावहारिक रूप 'अग्निहोत्र' है । वेदों में वर्णित 'अग्नीषोम' ही आगम के शिव-शक्ति हैं और इनका वास्तविक तत्त्व आत्मचैतन्य ही है । इस आत्मयाग को वेदों ने भी स्पष्ट किया है । त्रिसुपर्ण के मन्त्रों में कहा है—"तस्यैवंविदुषो यज्ञस्यात्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिध्मं उरो वेदिर्लोमानि बर्हिर्वेदः शिखा हृदयं यूपः काम आज्यं मन्युः पशुः" इत्यादि । इस यज्ञ का फल स्वर्गप्राप्ति या परमतत्त्व की प्राप्ति माना गया है । आगम में आत्मचैतन्य ही अग्नि है । उसी में बाह्य क्रियाओं या मानसिक क्रियाओं से अशेष विषयों की आहुति देकर अन्ततः साधक परशिव दशा को प्राप्त करता है । परन्तु यह मार्ग गुरु, सम्प्रदाय, शास्त्र-परम्परा और शिष्य की अधिकारिता—इन सब बातों की स्थिति पर निर्भर है ।

चित्तवृत्ति तथा स्थिति के भेद से उपासना के स्तर भी आगमों में भिन्न हैं । इसीलिये शास्त्रों में गुरु के लक्षणों में प्रधान लक्षण है—"गुरुत्वं हितवेदिता", अर्थात् जो शिष्य का वास्तविक हित कर सकता हो । आगमों के नाना भेदों में इसी अधिकार-भेद के कारण अनेक प्रकार हैं, जो उन उन अवस्थाओं में स्थित प्राणियों के लिये उपयुक्त होते हैं । तन्त्रालोक में आहुति प्रकरण में 'स्वाहा' शब्द पर इस प्रकार व्याख्या की गई है—

स्वा इत्यमृतवर्णेन वह्नौ हुत्वाऽऽज्यशेषकम् ।
चरौ हेत्यग्निरूपेण जुहुयात् तत्पुनः पुनः ॥

इस पर जयरथाचार्य की व्याख्या है—"अमृतवर्णेनेति सवयोराप्यायकारित्वात् । अग्निवर्णेनेति हस्य शिवाभिधायितया प्रमातृरूपत्वात्" । वैदिक परम्परा में स्वाहा और स्वधा अग्नि की ये दो पत्नियाँ हैं । तात्पर्य यह है कि वेद या पुराणों में जो बाह्य कर्म निर्दिष्ट किये गये हैं, उनका अन्तःस्वरूप ही आगमों ने तत्तद् विशेष अधिकारियों के लिये प्रकाशित किया गया है । इस प्रकार ये दोनों धाराएँ भारतभूमि पर समान गति से चलती रहीं और आज भी वर्तमान हैं ।

अब थोड़ा आगम सम्प्रदायों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है—

आगमों में शैवागम और श्रीविद्यागम दो प्रधान है । शैवागमों में कामिकादि दस द्वैतोपासनाप्रधान हैं । रौद्रागम सुप्रभेदादि अठारह द्वैताद्वैत या मिश्र उपासनापरक हैं और चतुःषष्टि संख्या वाले भैरवागम अद्वैत प्रधान है । आगमों मे पांच स्रोतों के भेद से देवताओं की तथा उनकी उपासना की व्यवस्था है । अधिकारी के भेद से, उपासक की रुचि के भेद से उन उन विशिष्ट भूमिकोचित विधियों से देवताओं तथा मन्त्रों का विधान है । सम्पूर्ण शैवागमों में भैरवशासन श्रेष्ठ है—

दक्षिणादुत्तमं वामं वामात् सिद्धान्तमुत्तमम् ।
सिद्धान्तादुत्तमं कौलं कौलात् परतरं नहि ॥

यह भैरवागम का वचन है ।

यह विषय शैवागमों में द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत इन तीन प्रक्रिया-भेदों से व्यवस्थापित दक्षिण, वाम, सिद्धान्त, कुलसंज्ञक सम्प्रदायपरक है । उक्त चारों में भैरवकुल श्रेष्ठ है । कालीकुल भी भैरवकुल के ही समकक्ष है । इस प्रकार त्रिकशास्त्र भी भैरव-कालीकुल की ही समान श्रेणी में आता है । महार्थप्रक्रिया ही कालीकुल की उपासना का सार है । भैरवकुल में प्रधानतया आनन्दभैरव-आनन्दभैरवी, अमृतेश्वर-अमृतेश्वरी, स्वच्छन्दभैरव-अघोरेश्वरी संज्ञक देवताओं की उपासना प्रधान है । पांच स्रोतों के भेद से भैरवागम में उन्हीं की व्याप्ति दिखाई देती है । कालीकुल की महार्थ प्रक्रिया में पञ्चवाहादिक्रम, सृष्टयादि भासान्तक्रम प्रदर्शित है । त्रिकशास्त्र में इस सरणि के अनुसार शिव ने अपरा, परापरा, परा इन तीन देवियों तथा क्रम से नवात्मभैरव, रतिशेखरभैरव, सद्भावभैरव इन देवताओं की पूर्व निर्दिष्ट क्रमानुसार द्वैत आदि भावनाओं से उपासना का प्रतिपादन किया गया है ।

इन भूमिकाओं के बाद उत्तर भूमिका के रूप से त्रैपुर सिद्धान्त आगमों में उपवर्णित है । त्रैपुरकुल तो भैरवकुल, कालीकुल, त्रिकादि सम्प्रदायों का सारभूत है और उसकी समष्टि का रूप है । इसी आशय से योगिनीहृदय में कहा गया है—

वागुरामूलवलये सूत्राद्याः कवलीकृताः ।
तथा मन्त्राः समस्ताश्च विद्यायामत्र संस्थिताः ॥

अतः श्रीविद्या निखिल आगमशास्त्रों की मूलग्रन्थिस्वरूप है । उसमें सभी मन्त्रों का समावेश है और इसी विद्या के कारण या इसके ही सहयोग से अन्य सभी विद्याओं की वीर्यवत्ता है । इसीलिये वामकेश्वर-तन्त्र में कहा गया है— "त्रिपुरा परमेशानी आज्ञा ज्ञानादितः प्रिये" । आशय यह है कि त्रिपुरा भेदप्रथामय ज्ञातृ-ज्ञान-ज्ञेयरूप में भासमान सभो त्रिपुटियों से भी आदि स्थान में है । अत एव उसे 'जगद्योनि' भी कहा गया है । वामकेश्वरीमत की व्याख्या में जयरथ में लिखा है— "अस्मद्दर्शनमुख्योपास्या महात्रिपुरसुन्दर्यैव" । त्रैपुर सिद्धान्त में भी अवान्तर भेदादिपरक व्याख्या है । इस प्रकार आगमाम्भोधि अनन्त विस्तारशाली है । इसके अन्तर्गत सभी आस्तिक-नास्तिक सम्प्रदायों का विस्तार है ।

यह एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इसमें संभावित त्रुटियों के लिये क्षमा माँगते हुए वक्तव्य पूर्ण कर रहा हूँ । महाकवि कालिदास की उक्ति है—

बहुधाऽऽप्यागमैर्भिन्ना पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

•

विचार-विनिमय

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

आप लोगों के सामने आगम और निगम का सम्बन्ध जोड़ने वाला और आगमो के विभिन्न भेदों को बताने वाला यह निबन्ध प्रस्तुत हुआ है । इस निबन्ध के प्रस्तोता आचार्य खिस्ते जी यहां संस्कृत विश्वविद्यालय में साहित्य विभाग के आचार्य थे । यह हमें ज्ञात है कि कश्मीर की परम्परा में अभिनवगुप्त आदि आचार्य साहित्य के भी धुरन्धर विद्वान् थे और तन्त्रशास्त्र के भी । यही गुण हमारे खिस्ते जी में विद्यमान है और इनमें श्रीविद्या पारम्परिक रूप से प्रतिष्ठित है । त्रिपुरा सम्प्रदाय में एक महनीय आचार्य हुए है—भास्कर राय । भास्करराय की तीन सौ वर्ष की जो परम्परा है, हम लोगों के यहां जो सम्प्रदाय शब्द से जानी जाती है, उसको अपने जीवन में, अपनी साधना में आप सजोये हुए है । मै अब उपस्थित विद्वानों से निवेदन करूँगा कि वे इस निबन्ध के ऊपर अपने अपने विचार प्रस्तुत करें ।

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय

पूज्य गुरुजी से मैं एक प्रश्न पूछूँगा । अपने निबन्ध में उन्होंने यह नहीं बताया है कि क्रमदर्शन के बीज वेदों मे मिलते हैं अथवा नही ? क्रमदर्शन के स्रोत भी क्या वेदों में मिल सकते हैं ? उसके विषय में जरा आप प्रकाश डालें ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

ललितासहस्रनाम के भाष्य में 'विश्वरूपा' नाम के प्रसंग में यह आया है । वेद में दिन और रात्रि का नाम है—मधुवृषा और मधुकृत । तैत्तिरीयसंहिता में "दर्शा दृष्टा दर्शिता" इत्यादि ऐसे नाम हैं, उन सबका क्रम बताया गया है । शुक्ल पक्ष से कृष्ण पक्ष और कृष्ण पक्ष से शुक्ल पक्ष तक का क्रम है । इसका विलोम क्रम भी है । उन रात्रियों के नाम भी हैं । वे आती जाती रहती हैं । यह कालचक्र का संचालन करती हैं । एक एक कलाएं हैं । यह कहा गया है कि जो इनको नहीं जानता और केवल बाह्य उपासना करता है, उसका इष्टापूर्त बिल्कुल लुप्त हो जाता है, इसका बाह्य याग लुप्त हो जाता है । जो यह जानता है, उसका इष्टापूर्त अलुप्त रहता है । बिना अन्तर्याग के बहिर्याग निरर्थक है । इस आशय से कहा है कि जो इन कलाओं के अन्तः और बहिः दोनों तरह के विस्तार को नहीं समझता, इनके अनुसार अनुसंधान नहीं करता, केवल बाह्याध्ययन करता है, ये कलाएं उसका भक्षण कर जाती हैं । फिर इसको भी जानना चाहिये । इस विषय पर प्रमाण देते हुए भास्करराय ने 'कालसंकर्षिणीतन्त्र' को उद्धृत किया है । यही क्रमदर्शन का मूल है । अब जैसे आपने पूछा तो क्रम-दर्शन में द्वादश कालिकाएं सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्या और भासा जिनमें प्रत्येक कालियों में चक्र है, इसी तरह से श्रीचक्र में भी सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार अपने आप नव चक्रों में एक क्रम चलता रहता है । वह क्रम इसमें भी आता है । यह भी श्रीविद्या से संबद्ध हो जाता है । यह स्वतंत्र विषय है, यह सब आता है । इसका प्रसार कम है । इसकी परम्परा लुप्तप्राय है, तो भी कुछ है और मिलता भी है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

आपने श्रीचक्र की बात कही है और इस चक्र के जो आपने अलग अलग स्वरूप बताए है, जैसे कि सृष्टि-सृष्टि, सृष्टि-स्थिति, सृष्टि-संहार आदि, उनके विभाजन का क्या क्रम रहा है । केवल सृष्टि, स्थिति, संहार तीन का ही स्वरूप आपने बताया, फिर अनाख्या और भासा के लिये क्या विधि निर्दिष्ट है और साथ ही सृष्टि-स्थिति का मिश्रण या स्थिति और संहार का मिश्रण इस तरह के क्रम के लिये हमें क्या आधार प्राप्त होता है ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

इस समय मुझे स्मरण नही है । इसका क्रम वरिवस्यारहस्य में दिया गया है और सेतुबन्ध में भी कुछ विषय आया है । हम लोग बहुत सुनते आये

है । यह शुद्ध है, या अशुद्ध है, यह कहना बहुत मुश्किल है । सेतुबन्ध में इतना उहापोह किया गया है कि किस सम्प्रदाय में कितने प्रकार का श्रीचक्र लिखा जाता था । भिन्न भिन्न तन्त्रों में इसकी परम्परा है । इदमित्थं निर्णय करना बहुत कठिन है । इसी में पंचवाह क्रम आ जाता है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

अभी मैं एक ग्रन्थ का संपादन कर रहा हूँ । आपके यहां का ही है । उसका नाम है— सुन्दरीमहोदय और उसे शंकरानन्दनाथ ने लिखा है । उन्होंने श्रीयन्त्र में जो दल है, अष्टदल, षोडश दल की बात है, तो वे कहते है कि केशर सहित निर्माण करने की भी पद्धति है । उन्होंने करीब उसके छः प्रकार दिये है अलग अलग । मुख्यतः वे ज्ञानार्णव के आधार पर चलते है और उसी की व्याख्या की है उन्होंने । तो अब केशर वाले यन्त्र भी क्या कहीं देखने में आये हैं ?

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

देखने में तो नहीं आये, किन्तु ग्रन्थों में आता है । सुन्दरीमहोदय के कुछ अंशों की भास्करराय जी ने आलोचना भी की है ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

एक प्रश्न और भी है । एक भिड़े शास्त्री हुए हैं, जो पूना में रहते थे और उन्होंने सौन्दर्यलहरी के ऊपर एक टीका लिखी है, जो मूलतः शायद मराठी भाषा में है । वह मेरे देखने में आयी । उन्होंने पीछे श्रीयन्त्र के कुछ प्रकार दिये है और उसके नीचे श्लोक भी दिये है और उनके बारे में ग्रह का संकेत किया है । उसमें यह भी उन्होंने बताया है कि यह बीज का त्रिकोण है, लम्ब त्रिकोण होगा तो वह इस योग में आवेगा । नीचे की तरफ झुका हुआ या नीचे या नीचे वाले उस चक्र को स्पर्श करता रहेगा, तो उसका यह स्वरूप होगा । यहां स्वरूप तो दिये हैं, पर उसकी विधि कोई स्पष्ट समझ में नहीं आयी । क्या उसके बारे में आप कुछ प्रकाश डालेंगे ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

यह रेखागणित का विषय है । उसमें हम पटु नहीं हैं । श्रीयन्त्र का शुद्ध लेखन भी अभी बहुत कठिन काम है । आप तो अध्ययनशील हैं । श्रीचक्र लेखन के कई प्रकार सेतुबन्ध में है, उसमें बहुत कुछ का उत्तर मिल जायगा ।

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी

इसी प्रसंग में या कालीक्रम में, कालीकुल में जो श्रीचक्र की उपासना है, उसमें बृहद्वडवानल तन्त्र को ही प्रधानता दी गयी है । बृहद्वडवानलतन्त्र ग्रन्थ अब कहां है, भगवान् जाने, मिलता नहीं है । नेपाल में मै गया था, वहां भी बहुत तलाश की, क्योंकि धनशमशेर राणा ने श्रीचक्र के बारे में जहां जहां

लिखा है और कुछ श्लोकों का उद्धरण दिया है, उन सबके लिये वह कहते हैं कि बृहद्वडवानल तन्त्र का यह विषय है । क्या कभी कहीं आपको वह देखने में आया है, क्योंकि उसमें ऐसे बहुत से विशेष विषय दिये हैं । प्रायः सभी साधक नौ आवरणों की पूजा करते हैं । यदि हम वृत्त की पूजा को भी उसमें शामिल करते हैं तो वह दशावरण की हो जाती है । आचार्य कहते है कि वृत्त का मान तो आवरण में आता है, किन्तु बिन्दु कोई आवरण नहीं है, बिन्दु प्रधान देवता का पीठ है, इस तरह से नवावरण हो जाते हैं । वृत्त चक्र की जो उपासना हैं, या उसकी जो आवरण पूजा है, वह मातृका मण्डल से होती है । कालरात्र्यादि से होती है और अणिमादि की जो मुद्रायें है, उनसे होती है । इस पर आपका क्या मत है ?

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

जहां तक मैंने देखा है, कुछ लोग वृत्त को मानते हैं, नहीं भी मानते । वृत्त में देवता मानते हैं, नहीं भी मानते । ऐसा तन्त्रभेद से है ।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

श्रीचक्र में जो स्पन्दीचक्र माने गये हैं, उनकी पूजा का विधान आपके निबन्ध में नहीं है । स्पन्दीचक्र से उनका तात्पर्य यह है कि श्रीयन्त्र के जो कोण है, उन कोणों के बीच में जो अवकाश का स्थल रहता है, उसको स्पन्दीचक्र को संज्ञा दी गयी है । उस स्पन्दीचक्र की संज्ञा को देते हुए आवरण पूजा में षोडशावरण वन्दना का विधान है । सोलह आवरण की पूजा में स्पन्दीचक्रों का समावेश करके उसमें गायत्री के चालीस वर्णों की पूजा होती है । षोडशावरणों का विवरण खड्गमाला में भी मिलता है ।

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

श्रीचक्र के लेखन और पूजन के सम्बन्ध में इतना विशाल साहित्य है कि कोई भी पुरुष अगर सौ वर्ष क्या, डेढ़ सौ वर्ष तक जीवित रहे और उनको खोजे तो वह पार नहीं पावेगा । इसलिये भगवान् परशुराम ने अपने कल्पसूत्र में इसका सार दे दिया है और इसको ऐसा बांधा है कि उसमें कुछ न छूटे । भास्करराय जी के जैसा उद्भट विद्वान् तन्त्रशास्त्र में मिलना दुर्लभ है । वे मीमांसा-न्याय की दृष्टि से जहां जहां कुछ त्रुटि देखते हैं; वहां गुणोपसंहार न्याय से "अत एव कल्पसूत्रकार आह" इस तरह से कल्पसूत्रकार के प्रमाणो से सारे दोषों का निराकरण कर मुख्य सिद्धान्त की स्थापना करते हैं ।

डॉ0 रुद्रदेव त्रिपाठी

मुझे एक पाण्डुलिपि मिली है, उसका नाम है त्रिपुरामंजरी । वह गजाधर भट्ट की लिखी हुई है । बहुत विशाल ग्रन्थ है, तीन चार सौ बड़े बड़े पृष्ठों में है । उसमें श्रीयन्त्र के ७२ आवरणों की पूजा का विधान है ।

डॉ० मधु खन्ना

वेद और तन्त्र में अन्तर क्या है ? आपका जो दृष्टिकोण है, उसके अनुसार तो इसमें कोई अन्तर ही नहीं है, तो फिर तन्त्र को तन्त्र क्यों कहा गया ? वैदिक वाङ्मय से भिन्न प्रकृति का विशाल तान्त्रिक वाङ्मय क्यों उपलब्ध होता है ?

As one treading the path of tantric learning, I believe that the right perception of tantra will emerge only when scholars can determine the *defining boundaries of the tantric tradition* in India and its pan-Indian influences in other cultures such as China, Japan and South-East Asia. This definition must take into consideration the following questions and categories for further discourse :

1. Certain Sanskrit terms do not convey any special meaning, but as in case of the word, *tantra*, the meaning of this word is many faceted. We have therefore to determine the usage of the word *tantra*, the evolution of its meaning and locate the origin of the tantric tradition, through time and history both in the light of the usage of the word and in terms of tantra as an independent school of thought with its distinctive theology and ritual dynamics.

2. First regarding the tenuous but indissoluble relationship of Veda to Tantra. Veda is the main current of Brahmanical tradition and tantra, in many forms, represents a radical movement away from the orthodoxy. How much of Veda does presuppose tantra ? Which aspects of tantra are absorbed in Vedic ritual today ? Why was it necessary for Tantra to absorb Vedic injunctions in their liturgy ?

3. The various substrata and forms of tantric culture in Indian thought : Śaiva tantra, Śākta tantra, Jaina and Buddhist tantra, tantra in tribal— and village— based communities, tantra in oral tradition, different schools and sub-sects of it.

4. The extent and nature of tantric scriptures both, in terms of schools and locale.

5. The essential difference between *siddhi*- oriented tantra and *mokṣa*-oriented tantra. Do these two threads run parallel, overlap or are separate ?

6. Tantric practice in different centres of tantric worship as in Bengal, Kashmir, Kerala, Tamilanadu etc.

7. The various perceptions of tantra both in terms of its own system—how do the tantrics percieve themselves and how did other schools outsidse the tantric fold perceive the tantrics ?

8. The uniqueness and contribution of tantra to Indian culture specifically and world culture more generically.

9. The relationship of ontology and philosophy of tantra to its practice.

10. The tools and methods of scholarship adopted for a critical study of the tantras.

11. The uniquencess of tantra art and iconography, the fundamental aesthetic module of tantra and its relation to mainstream art of India.

12. The Indian worldview and its relation to the micro-macro tantric world view with special reference to the following categories: the structuralism of binary oppositions, the paradigm of the cosmic traid and its geometrical movements in art expressions, attitude towards the body and the senses. The concepts that have given Tantra its special identity and significance in Indian thought.

13. The relevence of Tantra in the context of contemporary spirituality and emerging new awareness on global consciousness. The modernity of tantric metaphysics and physics.

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

दोनों भगवान् की देन है । जैसा अधिकारी है, वैसा ही दिया गया ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

इसी से सम्बद्ध एक प्रश्न मैं भी पूछ लूं आपसे । आपने अपने निबन्ध में लिखा है—"मायापद पर स्थित वैदिक मार्ग" यहां वैदिक मार्ग को मायापद मे माना है । एक दूसरा उद्धरण है—"सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदा वेदात् सिद्धान्तमुत्तमम् । सिद्धान्तादुत्तमं वामं वामाद् दक्षिणमुत्तमम् ॥" इत्यादि, यहां जो क्रम बताया गया है, इसमें पहले तो कह दिया गया कि "सर्वेभ्यश्चोत्तमा वेदाः", किन्तु उसके बाद वाम, दक्षिण आदि तन्त्रों को वेदों से उत्तम मान रहे हैं और यहां मायापद का मार्ग बतला रहे हैं । तो वेद शिव–शक्ति का प्रतिपादक मार्ग नहीं है, पांच शुद्ध तत्त्वों का भी वह मार्ग नहीं है । यह तो मायापद का मार्ग है । ऐसा क्यों ?

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

श्रौत और स्मार्त संस्कार होने पर भी आगम की दृष्टि से वह मायापद में ही स्थित है । माया याने अविद्या । इसका मतलब यह है कि श्रौत–स्मार्त संस्कार प्रथम भूमिका है । इनसे ब्राह्मण का द्वितीय जन्म होता है । तृतीय जन्म दीक्षा से होता है । जब त्रिज होता है, आगम का अधिकारी होता है । आगम का अधिकारी होने पर वह अविद्या से बाहर चला गया । उसके नीचे का पद अविद्या में है । वेद भी अविद्या में आता है, ऐसा तन्त्रालोक का आशय है । आगम की दृष्टि का यही अभिप्राय है ।

प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक

वेद और विद्या में क्या अन्तर है ?

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

यह जो भेदगर्भ ज्ञान है, वही अविद्या है । वह ध्येय नहीं है । जब तक आप वैदिक कर्मकाण्ड में लगे हैं, स्मार्त कर्मकाण्ड में भी लगे हैं, यह सब भेदगर्भ ज्ञान है । इसके अनुष्ठान से पुण्य होगा, पाप होगा । उसी के अनुसार वह जीवन चल रहा है । साधक अतीत होना चाहता है । यही विद्या है, शुद्ध ज्ञान है । यही इन दोनों का अन्तर है ।

पण्डित हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती

आगम पद का आप क्या अर्थ करते है ?

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

आगम का अर्थ है प्रसिद्धि । यह प्रसिद्धि क्या है ? "प्रकृष्टा सिद्धिः, गुरु-परम्परायातं विशुद्धं ज्ञानं प्रसिद्धिः"। आगम शब्द की प्रवृत्ति इसी अर्थ में होती है ।

डॉ0 मार्क डिच्कोफस्की

हरेक परम्परा में, वह चाहे बौद्ध हो या, वैष्णव या शैव या जो भी हो, उनमें परस्पर बहुत ही सार्थक ज्ञान का सम्मेलन होता है । अनेक प्रकारों के मिले जुले होने से उनमें अनेकों प्रकारों का मिश्रण होने से एक तरह की नयी विद्या की उत्पत्ति होती है, नयी परम्परा बन जाती है । जैसे अभिनवगुप्त कहते है कि इस संसार में परम तत्त्व चैतन्य से हर चीज उद्भूत हुई है । सभी है, लेकिन वे सब इस तरह मिली है, जैसे आज हम लोग अभी देखते है कि मिले जुले है । इसी तरह का कुछ लगता है कि जैसे ईटों को मिलाकर घर बनता है, या इमारत बनती है छोटी या बड़ी अनेक प्रकार की, इसी तरह मुझे लगता है कि जो अनेक तान्त्रिक सम्प्रदाय हैं, इसी तरह की इष्टकाओं से सब बनते रहते है । थोड़ा इस तरफ मिलने जुलने से थोड़ा उस तरफ मिलने जुलने से । इस पर एक तरफ का अन्वेषण भी हो सकता है, जैसे कि मैं कोशिश कर रहा हूं या थोड़ी तैयारी की है । इसमें जरा यह देखना है कि किस तरह की इष्टका मिली जुली है और कैसे मिली जुली है ? जैसे एक उदाहरण है कालीपूजा का । काली देवता है । काली देवता की अनेक प्रकार की पूजा इतिहास से ज्ञात होती है । जैसे एक प्रकार हुआ क्रम की परम्परा का, जो कश्मीर में निष्पन्न हुआ ज्ञाननेत्र के द्वारा । यह एक सम्प्रदाय है । यदि हम तन्त्रशास्त्र का इतिहास खोजना चाहते है, यह एक बहुत अच्छा उदाहरण है कि कैसे इसमें कुछ अन्य सम्प्रदायों के तत्त्व मिले जुले है, उसमें नया क्रम निष्पन्न होता है । नया तरीका, नया दृष्टिकोण उससे बनता है । क्रम नय में क्या होता है ? दो तीन स्तर का है इसका इतिहास । मार्कण्डेय पुराण स्थित दुर्गा सप्तशती के अनुसार काली दुर्गा के क्रोध से उत्पन्न हुई है । तो मानिये एक तन्तु वही है । इसका दूसरा तन्तु तन्त्रों में है । जैसे एक बहुत प्रसिद्ध तन्त्र है, लेकिन अभी तक इसका संस्करण नहीं हुआ है, जिसका नाम तन्त्रराज या जयद्रथयामल है । उसके चौथे षट्क में, जिसको माघवकुल कहते है, विस्तृत

रूप से कालीक्रम का वर्णन है । इसको हम कालीपूजा का अलग तन्तु मान सकते है । बंगाल की कालीपूजा का स्तर इनका संमिलित रूप है ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

आपको क्रम बताते है हम । क्रम शब्द के अनेक अर्थ हैं । "क्रमु पादविक्षेपे" से यह शब्द बनता है । जैसे हम एक के बाद दूसरा कदम रखते है, ठीक उसी तरह से क्रममत मे द्वादश कालियों की पूजा के द्वादश क्रम हैं, और भी क्रम है । क्रम इसलिये है कि क्रम मार्ग के द्वारा अक्रम में जाना है । अक्रम में प्रवेश का मार्ग क्रम ही है ।

डॉ० मार्क डिच्कोफस्की

जैसा आपने कहा है, एक तरफ तो यह पूजा के विधान का क्रम है, लेकिन दूसरी तरफ से यह चित्त का भी क्रम है । यह बहुत अच्छी बात है कि कुछ नयी चीजे आगमशास्त्र में आयी हैं, जो कि बौद्धों से निकली है । चित्त के क्रम का वर्णन बौद्ध तन्त्रों मे मिलता है ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

क्रम शब्द के स्थूल और सूक्ष्म अनेक अर्थ है । क्रम शब्द मे जहां जो लागू हो, वह दे दीजिये । आज विज्ञान का युग है, कम्प्यूटर का निर्माण हो चुका है । हमारे यहां कहा गया है कि जो परमशिव है, वह सबसे बड़ा कम्प्यूटर है और उसके बाद जितना स्रष्टव्य जगत् है, उसका पूरा संस्कार प्रत्येक प्राणी के, जीव-जन्तु के प्रत्येक संस्कार का टंकण उसके अन्दर है । वह सब जीवों को उत्पन्न करता है । वह जो संस्कार देता है, वही शास्त्र है ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

आपके निबन्ध से ऐसा प्रतीत होता है कि निगम और आगम में कोई भेद नही है । लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय, तो आगम का वेदों से कोई साक्षात् सम्बन्ध नही है । किन्तु उनको एक संमानित स्थान दिलाने के लिये वेदों से उनका सम्बन्ध जोड़ा गया है । हम देख सकते हैं कि अथर्ववेद को भी पहले मान्यता नहीं थी, त्रयी को ही मान्यता थी, क्योंकि अथर्ववेद का जो कर्मकाण्ड है, प्रधानतया उसमें अभिचार वगैरह है, ऐसा दोष लगाते हैं । इसलिये उपनिषदों में कभी कभी त्रयी और कभी कभी वेदचतुष्टय ऐसा उल्लेख मिलता है । इसीलिये अथर्ववेद के ब्राह्मण या अथर्ववेद के कुछ परिशिष्टों में यही एक वेद हैं, यही एक महत्त्वपूर्ण वेद है, ऐसा कुछ प्रतिपादन किया गया है । इसको हम कहते है कि जिन्हें मान्यता पहले मिलती नहीं है, उनकी ऐसी धारणा रहती है, उनका प्रतीकार करते है और ऐसा अभिनिवेश उनमें उत्पन्न होता है कि हम ही श्रेष्ठ है, जैसा अथर्ववेद-परम्परा में देख सकते हैं । वैसे ही तन्त्रों की परम्परा को भी स्थान प्राप्त कराने के लिये उनका वेदों से सम्बन्ध जोड़ा गया और इसीलिये वही वेद है और वेदों से उसका कोई भेद नहीं है, ऐसा प्रतिपादन किया गया, ऐसा हमे लगता है ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

शास्त्रों की भी एक दृष्टि है । मीमांसाशास्त्र है हमारे यहां । मीमांसाशास्त्र बड़ा महत्त्वपूर्ण है । कैसा भी ग्रन्थ लगाना हो, उसका समाधान वहां मिलता है । आप पहले देखिये शिव से विष्णु उत्पन्न हुए, विष्णु से शिव उत्पन्न हुए । विष्णु पूजा की अपेक्षा शिव पूजा का महत्त्व न्यून है, ऐसा कहा गया है । इस तरह बराबर चलता है, तो यहां "विधेस्तावकतया" न्याय प्रवृत्त होता है । उससे यह विधेय का स्तावक है, इतर का निन्दक नहीं है । इस तरह से परस्पर-विरोधी प्रतीत हो रहे वाक्यों का वहां समन्वय किया जाता है । मैं इतिहास के पक्ष में जाता ही नहीं हूं । मूलविद्या हमारी स्थिर है । आगमों के मूल ग्रन्थों में भले ही भेद हो, वे अनादि हैं, वे चलेंगे, चलते रहेंगे । व्याख्या-ग्रन्थ आदि का काल मिलता हो, वह दूसरी चीज है । इसलिये जिस प्रसंग में जो कहा गया, जैसे वेद में अर्थवाद होता है— "स्वधिते मैनं हिंसीः", "शृणोत ग्रावाणः" इत्यादि अर्थवाद वाक्य हैं । "हे पत्थरों, सुनों", यहां इसका तात्पर्य सामवेद की मधुरता में है । उसी तरह से वहां विधेय जो वस्तु है, जो पूज्य है, उसको महत्त्व देने के लिये सबसे श्रेष्ठ कहा जाता है । इसमें न तो किसी की निन्दा है और न ही स्तुति है । विधेय (करणीय) की स्तुति करना हमारी शास्त्रीय प्रणाली है ।

प्रो० एन० आर० भट्ट

यदि हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखेंगे, तो वेदों के साथ आगमों का कोई संबन्ध नहीं है । वैदिक परम्परा भिन्न है और आगम परम्परा भिन्न है । वेदों में संहिता, ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् समाविष्ट है । संहिता भाग में केवल देवताओं की स्तुतियां हैं । ब्राह्मण भाग में यहां की विधि निर्दिष्ट है । उपनिषद् भाग में प्रधानतः वेदान्त के उच्च विचारों के दर्शन होते हैं । श्रौतसूत्र और गृह्यसूत्र भी गृहस्थों के द्वारा संपादनीय यज्ञीय पद्धति की और संस्कारों की व्याख्या के साथ गृहस्थ के द्वारा प्रातःकाल से लेकर रात्रि पर्यन्त संपादनीय देवपूजा आदि कर्तव्य धर्मों का निर्देश करते हैं । यदि आगम वेद का भाग होता, तो उसकी गतार्थता तो गृह्यसूत्रों से हो जाती । हम देखते हैं कि इस पूरे वैदिक वाङ्मय में भिन्न प्रकार की आराधना-पद्धति का वर्णन आगमों में मिलता है । इससे स्पष्ट होता है कि भारतवर्ष में कभी ये दोनों भिन्न भिन्न स्वभाव की वैदिक और तान्त्रिक विधियां अलग अलग फल-फूल रही थी । बाद में इन दोनों पद्धतियों में समन्वय करने का प्रयत्न किया गया । अथर्ववेद का भी त्रयी में समावेश नहीं माना गया है । आगमशास्त्र से उसका अधिक नजदीकी संबन्ध है । इसीलिये मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने वैदिक और तान्त्रिक द्विविध श्रुति का प्रतिपादन किया है । इस प्रसग में हारीत धर्मशास्त्र भी अवलोकनार्ह है । बाद में त्रिपुरोपनिषद् आदि की व्याख्या के रूप में वैदिक और तान्त्रिक श्रुति में समन्वय करने का प्रयत्न भास्करराय जैसे मनीषियों ने किया, यही हमें युक्तिसंगत लगता है ।

•

प्रायोगिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

पहले हमारे यहां जो कार्यशाला हुई थी, उसमें उद्‌घाटन सत्र का अध्यक्ष ही पूरी सप्तदिवसीय गोष्ठी का भी अध्यक्ष था । तदनुसार आज इस पद पर शैवागम के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो0 एन0 आर0 भट्ट अध्यक्षता कर रहे हैं । पांच दिन हम लोगों ने बौद्ध, जैन, शैव, वैष्णव और शाक्त तन्त्रों के आधार पर यहां कुछ विषयों पर विचार किया और उसमें यह पाया कि देवता-भेद होते हुए भी प्रत्येक शाखा में दीक्षा आदि की पद्धति एक सरीखी है । हिन्दू शब्द को यहां जान-बूझकर छोड़ा गया है । यह एक भ्रामक शब्द है और भारतीय प्रजा को विभक्त करता है । हम आज जो समस्याएं देख रहे हैं, उनमें से अधिकांश समस्याएं हिन्दू शब्द के कारण ही हैं । शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन आदि विभिन्न मतों के अनुयायी वर्षों से यहां शान्तिपूर्वक रह रहे हैं । उनके जीवन में बहुत कुछ समानता है । इन समान मूल्यों की अवधारणा तन्त्रशास्त्र की देन है । आज जो नये सम्प्रदाय यहां उद्भूत हुए हैं और जो अब तक भारतीय संस्कृति से जुड़ नहीं रहे हैं, उनको जोड़ने का प्रयास तन्त्रशास्त्र के माध्यम से किया जा सकता है । यह कार्य हम किस रूप में कर सकते हैं ? तन्त्रशास्त्र का यहां क्या अभिप्राय लिया गया है ? यह मैं थोड़े में आप लोगों को बताना चाहता हूँ, जिससे कि यहां हो रहे विचार-विनिमय को एक सही दृष्टिकोण दिया जा सके और इस कार्यशाला का उद्देश्य पूरा हो सके ।

'तन्त्र' शब्द आज बदनाम सा हो गया है । मात्र जादू-टोना, मारण-मोहन आदि षट्कर्म और तन्त्र-मन्त्र आदि के इर्द-गिर्द ही आज यह शब्द सीमित कर दिया गया है । धर्म अथवा संस्कृति के इतिहास के ग्रन्थों में भी तान्त्रिक धारा की पूर्ण उपेक्षा की गयी है । इतिहास के ग्रन्थों में शैव और वैष्णव धारा का वर्णन मिलता है, किन्तु उनका सम्बन्ध तान्त्रिक वाङ्मय से न जोड़ कर पुराणों से जोड़ा जाता है । भारतीय इतिहास, विशेष कर उसके धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास की इस त्रुटि का अब परिमार्जन होना चाहिये । मैंने कुछ वर्ष पहले आगम और तन्त्रशास्त्र पर एक निबन्ध लिखा था । उसका प्रथमतः मराठी भाषा में अनुवाद छपा, क्योंकि मूल प्रेरणा उन्हीं लोगों की थी । पूना की वेदशास्त्रोत्तेजक सभा के पचास वर्ष पूरा होने पर वहां से भारतीय विद्या पर एक ग्रन्थ छपा था और सौ वर्ष पूरा होने पर भी दूसरा ग्रन्थ निकला । उसका नाम है— "भारतीय विद्येंचे पुनर्दर्शन" । उसमें मेरा निबन्ध "आगम आणि तन्त्रशास्त्र" के नाम से छपा था । निबन्ध मैंने हिन्दी में ही लिखा था । उसका थोड़ा सा अंश मै सुनाना चाहता हूँ ।

आगम और तन्त्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं इनकी ऐतिहासिक प्रवृत्ति के सम्बन्ध में इस विषय के प्रायः सभी ग्रन्थों में विस्तार और संक्षेप में लिखा गया है । हमें यहां इतना ही कहना है कि ये दोनों शब्द आजकल भारतीय वाङ्मय की एक शाखाविशेष में रूढ़ हैं, जो पहले 'आगम' और बाद में 'तन्त्र' शब्द से

अभिहित हुई । प्रोफेसर विन्टरनित्ज़ का कहना है कि ठीक ठीक कहा जाय तो
संहिता वैष्णवों के, आगम शैवों के तथा तन्त्र शाक्तों के पवित्र ग्रन्थ है । इस
पर इतना ही कहा जा सकता है कि आगम शब्द से जैसे आजकल शैव और
वैष्णव दोनों ही तरह के आगम-ग्रन्थों की अभिव्यक्ति होती है, वैसे संहिता शब्द
से केवल वैष्णवागमों का ही बोध नहीं होता । वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त
आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण आदि से सम्बद्ध संहिता नाम से अभिहित होने वाले
ग्रन्थों की एक विशाल राशि विद्यमान है । इसीलिये आगे वे कहते है—वस्तुतः
इन शब्दों में कोई स्पष्टतः भेद करने वाली रेखा नहीं है और 'तन्त्र' शब्द का
प्रयोग बहुधा इस प्रकार के सम्पूर्ण ग्रन्थों के लिये हुआ है । इन सारे ग्रन्थों की
कुछ समान विशेषताएं है । ये पवित्र ग्रन्थ द्विजातियों के लिये ही नहीं, बल्कि
शूद्रों और स्त्रियों के लिये भी हैं ।

श्री चार्ल्स इलियट ने सन् १९२१ ईशवी में प्रकाशित अपने ग्रन्थ में
भागवतों और पाशुपतों के प्रकरण में उक्त विषय पर विचार करते हुए लिखा था
कि तन्त्र, आगम और संहिताओं ने अपने प्रतिपाद्य विषय को चार भागों में बांटा
था— ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या । बौद्ध तन्त्रों में ज्ञान के स्थान पर अनुत्तर
नाम मिलता है । यह सही है कि केवल शैवागम और कुछ पांचरात्र संहिताएं
ही उक्त नाम के चार पादों में विभक्त हैं, किन्तु बिना पादविभाग के ये सभी
विषय प्रायः सभी तन्त्र-ग्रन्थों में प्रतिपादित हैं । इस प्रकार आगम अथवा तन्त्रशब्द
से समान प्रकृति और विशेषताओं वाले एक विशाल भारतीय वाङ्मय का बोध
होता है । प्रो० विन्टरनित्ज़ यद्यपि इलियट की उक्त परिभाषा को मानते हैं और
तदनुसार संक्षेप में शैवागमों और पांचरात्र संहिताओं का परिचय भी देते है, किन्तु
आगे चलकर वे कहते हैं— पर जब हम तन्त्रों की बात करते है, तब हमारा
ध्यान शाक्तों के पवित्र ग्रन्थों पर जाता है । ऐसा कहते समय वे इलियट की
उस उक्ति को भूल जाते है और कहते है कि यह सब तान्त्रिक है, इसका
मतलब यह नहीं है कि सब शाक्त है, किन्तु शाक्त मूलतः आनुपूर्वी से सिद्धान्त
और व्यवहार में विशुद्ध तान्त्रिक है । इसके बाद इस शास्त्र का परिचय वे उन
ग्रन्थों के आधार पर देते है, जिनका आविर्भावकाल नितान्त परवर्ती है । वे इस
निष्कर्ष पर पहुँचते है कि पुराणो और तन्त्रों का अध्ययन कोई आनन्ददायक कार्य
नहीं है । यह बात तन्त्रो के बारे में अधिक सही है । ये सारे के सारे
हीन कोटि के लेखकों की कृतियां है और प्रायः असंस्कृत और व्याकरण के
नियमो से अछूती भाषा में लिखे गये है ।

तन्त्रशास्त्र पर किये गये इस तरह के आक्षेपों का भारतरत्न
महामहोपाध्याय पी. वी. काणे महोदय ने प्रतिवाद किया है । उनके महान् ग्रन्थ
"धर्मशास्त्र का इतिहास" में एक खण्ड तन्त्रशास्त्र के ऊपर ही है । भारतरत्न
महामहोपाध्याय पी. वी. काणे लिखते है—लोग तन्त्र से तात्पर्य लगाते है शक्ति,
याने कालीपूजा, मुद्राएं, मन्त्र, मण्डल, पंचमकार, दक्षिण मार्ग, वाम मार्ग और
ऐन्द्रजालिक क्रियाएं । जिनके द्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त होती है । इसी तरह
से शक्तिवाद और तन्त्रों के उद्भव और विकास के विषय में जानकारी देते हुए
वे कहते हैं कि इन्होंने पुराणों पर कुछ प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा

पुराणों के द्वारा मध्यकाल की भारतीय धार्मिक रीतियों और व्यवहारों को प्रभावित किया । यहां वे 'तन्त्र' शब्द का प्रयोग विन्टरनित्ज़ के इसी संकुचित अर्थ में करते है, यद्यपि वे इस प्रसंग में जयाख्यसंहिता, अहिर्बुध्न्यसंहिता, प्रपंचसार, शारदातिलक, ईशानशिवगुरुदेवपद्धति जैसे वैष्णवागम और शैवागम के ग्रन्थो को भी प्रमाण रूप से उद्धृत करते है, जो इन शाक्त तन्त्रों के अन्तर्गत नहीं आते । इसका कारण यह है कि सर चार्ल्स इलियट की पद्धति पर इस शास्त्र का अध्ययन नही किया गया । इसके विपरीत सर जान वुडरफ के ग्रन्थों को इस शास्त्र के अध्ययन मे आवश्यकता से अधिक प्रमाण मान लिया गया । इस विद्वान् के द्वारा तन्त्रशास्त्र की की गयी सेवाओं के प्रति पूर्ण आस्था व्यक्त करते हुए भी हमें यह कहना पड़ता है कि इनका प्रायः संपूर्ण अध्ययन उन ग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत किया गया है, जिनका आविर्भावकाल अपेक्षाकृत परवर्ती है ।

जब प्रो0 विन्टरनित्ज़ कहते हैं कि तन्त्रों का उद्भव बंगाल में हुआ मालूम पड़ता है । जहां से वे तन्त्र असम और नेपाल में गये तथा भारत के बाहर बौद्ध धर्म के माध्यम से तिब्बत और चीन में भी पहुंचे, तब वे परवर्ती काल में आविर्भूत इस शास्त्र की ओर ही इंगित करते है, क्योंकि यह सही है कि परवर्ती काल का यह सारा साहित्य बंगाल में ही आविर्भूत हुआ था । किन्तु यह वह साहित्य नहीं है, जो कि असम तथा नेपाल में और बौद्ध धर्म के माध्यम से तिब्बत और चीन मे गया था । यह निर्यातित ज्ञान अभिनवगुप्त के पूर्व भारत के विभिन्न क्षेत्रों में ग्यारहवीं शताब्दी से पहले ही आविर्भूत हो चुका था । इसके विपरीत परवर्ती काल का पूरा साहित्य इस्लाम के आक्रमण के कारण पूर्ववर्ती साहित्य के प्रायः नष्ट हो जाने के बाद नेपाल और तिब्बत में सुरक्षित तन्त्रों की सहायता से पुनरुद्धार के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इसका मुख्य केन्द्र बंगाल था । जब कुछ विद्वान् भारतीय तन्त्रशास्त्र पर विदेशी प्रभाव की बात करते है, तब उनकी यह बात इसी परवर्ती काल में आविर्भूत शास्त्र पर लागू होती है ।

वस्तुस्थिति यह है कि भागवतों याने पांचरात्रों और पाशुपतो ने एक ऐसी पूजाविधि का आविर्भाव किया था, जिसमें आराधक आराध्य के साथ आन्तर और बाह्य वरिवस्या (पूजा) के द्वारा तादात्म्य स्थापित करने के उद्देश्य से भूतशुद्धि, प्राणप्रतिष्ठा, न्यास, मुद्रा आदि की सहायता से स्वयं देवस्वरूप हो जाता था । 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' यह उनका सिद्धान्त-वाक्य था । स्वयं देवस्वरूप होकर वह अपने आराध्य को इसी विधि से मूर्ति, पट, मन्त्र, मण्डल आदि में प्रतिष्ठित करता था और इस प्रकार अपने इष्टदेव की बाह्य वरिवस्या (पूजा) संपादित करता था । बाह्य वरिवस्या की पूर्णता के लिये यहां व्रत, उपवास, उत्सव, पर्व आदि का विधान था और आन्तर वरिवस्या के लिये वह कुण्डलिनी योग का सहारा लेता था । वैदिक कर्मकाण्ड से विलक्षण इस कर्मकाण्ड की निष्पत्ति के लिये जिस शास्त्र का आविर्भाव हुआ, वही आज 'आगम' अथवा 'तन्त्रशास्त्र' के नाम से अभिहित है । अपने आराध्य की आन्तर वरिवस्या के लिये इसका अपना दर्शन और यौगिक पद्धति है और बाह्य वरिवस्या के लिये मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण तथा उनकी आराधना की विविध विधियां उनमें वर्णित हैं ।

इन्हीं के आधार पर प्रत्येक आगम में विद्या याने ज्ञान, योग, क्रिया और चर्या नाम से चार पादों का विधान था । शिव और विष्णु के अतिरिक्त शक्ति, सूर्य, गणेश और स्कन्द आदि देवताओं की आराधना भी इसी पद्धति से होने लगी थी ।

इन पूर्ववर्ती शैव और वैष्णवागमों की तथा परवर्ती शाक्त तन्त्रों की ऊपर वर्णित आराधना-विधि में कोई अन्तर नहीं है । भारतीय वाङ्मय में कहीं श्रुति के समकक्ष, कहीं पुराणों और धर्मशास्त्र के समकक्ष इनका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है । इस सम्बन्ध में इलियट का यह कहना एकदम सही है कि तन्त्रशास्त्र मानवमात्र के धर्म-ग्रन्थ हैं और जातिवाद पर बहुत कम बल देते हैं । इनको और इनके पूजाविधान को दीक्षा प्राप्त कर लेने के बाद गुरु की सहायता से ही समझा जा सकता है । तान्त्रिक चर्या अधिकतर मन्त्रों के रहस्यात्मक अथवा संस्कारयुक्त मातृकाओं और वर्णों के, मन्त्रों और संकेतों के यथार्थ प्रयोग पर आधृत है । इसका मूल लक्ष्य यह है कि भगवान् के पास पहुंचने की अपेक्षा भगवान् को ही पूजक के पास लाने के लिये उद्यम किया जाय ।

तन्त्रशास्त्र का दूसरा लक्ष्य है भक्तों को भगवान् के साथ संयुक्त करना और वास्तव में उसको रूपान्तरित करके भगवान् बना देना । मनुष्य विश्वातीत के साथ सम्बन्ध रखते हुए विश्व के साथ ही सम्बन्ध रखता है । यह मानव शरीर विश्व की व्यापक और स्पन्दात्मक शक्तियों का छोटा प्रतिरूप है । इस विश्व के छोटे बड़े सभी अंशों में ये शक्तियाँ समान रूप से कार्यरत हैं । यह बात आगम और तन्त्रशास्त्र के नाम से अभिहित होने वाले पूरे साहित्य पर लागू होती है । केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आगम नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव पहले और तन्त्र नाम से अभिहित होने वाली धारा का प्रादुर्भाव बाद में हुआ ।

यह आश्चर्य की बात है कि चार्ल्स इलियट जैसे विद्वानों के द्वारा इन दोनों धाराओं की अनुस्यूतता पर ध्यान आकृष्ट कराये जाने पर भी भारतीय विद्या के प्रायः सभी विद्वानों ने तन्त्रशास्त्र के अध्ययन के प्रसंग में आगम शास्त्र की एकदम उपेक्षा कर दी है और इसीलिये वे अनेक विसंगतियों के शिकार हो गये हैं । वस्तुतः कहा जा सकता है कि न केवल तन्त्रशास्त्र ने, अपितु इनसे पहले आगम शास्त्र ने पुराणों पर गहरा प्रभाव डाला और प्रत्यक्ष रूप से तथा पुराणों के द्वारा न केवल मध्यकालीन, अपितु बुद्धोत्तरकालीन भारतीय धार्मिक-रीतियों, व्यवहारों तथा आचारों को भी प्रभावित किया । "तन्त्र का स्वरूप, आविर्भाव और भेद", "काश्मीरीय शैवदर्शन", "तान्त्रिक बौद्ध साधना", "तान्त्रिक दृष्टि", "वैष्णव साधना और साहित्य", "सहजयान और सिद्धमार्ग" आदि निबन्धों में तथा अपने संदर्भ-ग्रन्थ "तान्त्रिक साहित्य" में श्रद्धेय कविराज जी ने आगमशास्त्र एवं तन्त्रशास्त्र में समाविष्ट सम्पूर्ण साहित्य का दार्शनिक और सांस्कृतिक स्वरूप प्रस्तुत किया है । इससे इस साहित्य की विशालता और दार्शनिक गंभीरता के साथ व्यवहारपरकता का भी परिचय मिलता है । इस विशाल आगमिक और तान्त्रिक वाङ्मय की पृष्ठभूमि में किया गया अध्ययन इस शास्त्र के विषय में उत्पन्न की

गयी अनेक भ्रान्तियों को स्वतः निर्मूल कर देगा और भारतीय विद्या के विद्वानों के लिये नूतन दिशानिर्देश करने में समर्थ होगा ।

इस भूमिका के साथ अब मैं इस कार्यशाला के विषयोपस्थापन में आज के इस सत्र के लिये विचारणीय विषयों पर पुनः विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ । विषय-उपस्थापन की प्रति आप लोगों की सेवा में भेजी गयी थी । वहां आज का विषय इस तरह प्रस्तुत किया गया था— तन्त्रशास्त्र के सही अध्ययन में उपस्थित होने वाली बाधाओं की भी यहां चर्चा कर देना आवश्यक है । मन्त्रों और बीजाक्षरों के उद्धार की तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा की अपनी- अपनी पद्धति है । इस प्रक्रिया से सम्बद्ध कुछ कोश-ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, किन्तु इनमें परस्परविरुद्ध अनेक संकेत मिलते हैं । यदि प्रपंचसार आदि की तरह किसी ग्रन्थ में अपनी परिभाषा नहीं दी गयी है, तो इनमें से किसको कहां प्रमाण माना जाय, इसको जानने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है । बीजाक्षरों और विशेष कर पिण्ड मन्त्रों के लिखने की पद्धति भी अलग अलग है । हस्तलेखों में स्वभावतः अनेक पाठान्तर मिलते हैं । ऐसी स्थिति में इनके सही स्वरूप को जानने की क्या पद्धति हो सकती है ? यह पहला आज की कार्यशाला का मुख्य विचारणीय विषय है ।

दूसरा शाक्त तन्त्रों में चक्रों और वैष्णव तन्त्रों में मण्डलों का विशेष विस्तार मिलता है । बौद्ध तन्त्रों में ये दोनों ही स्वरूप उपलब्ध हैं । इन मण्डलों और चक्रों के निर्माण की प्रक्रिया के प्रसंग में अनेक पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त होते हैं । सामान्य मुद्राओं और नृत्य मुद्राओं की एवं पादविन्यास की विविध स्थितियों के निरूपण के प्रसंग में भी इसी प्रकार के शब्द प्रयुक्त हुए हैं । कभी कभी नाम की एकता होने पर भी इनके स्वरूप में अन्तर मिलता है । अब इसमें चक्रों और मण्डलों की जो समस्या थी, वह पांच दिन के विचार-विनिमय में बहुत कुछ समाहित हो गयी है, किन्तु तब भी नृत्य-मुद्राएं हैं । इनके साथ पादविन्यास के लिये भी यहां कुछ पारिभाषिक शब्द हैं । इन पर यदि कोई विद्वान् प्रकाश डाल सके तो वह अच्छा रहेगा । इसको जानने का सही उपाय तो गुरुपरम्परा ही है । किन्तु तन्त्रशास्त्र की अनेक शाखाओं की यह परम्परा लुप्त हो चुकी है । ऐसी स्थिति में हम क्या करें ? तन्त्रशास्त्र की अध्ययन की यह एक ज्वलन्त समस्या है ।

जालन्धर, ओडियान पूर्णगिरि आदि पीठों की बाह्य स्थिति से भी हम बहुत कुछ अनभिज्ञ हो गये हैं । ये चार पीठ मैं समझता हूं बौद्धों और शैव-शाक्त तन्त्रों में अत्यन्त प्रसिद्ध है, आन्तर स्थिति इनकी कहां है, यह हम जानते हैं और उनका ध्यान करते हैं, किन्तु इस दुनिया में उनकी भौगोलिक स्थिति कहां है, इसका हमें ज्ञान नहीं रह गया है । कामरूप पीठ की स्थिति निश्चित है कि कामरूप पीठ आसाम में है । अन्य जो बाकी पीठ हैं, उनके स्थान का निर्धारण निर्विवाद रूप से नहीं हो पाया है । इनको जानने का भी हमें प्रयत्न करना चाहिये । इस प्रकार की विषयगत समस्याओं के समाधान के साथ तन्त्रशास्त्र के ऐतिहासिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवदान के रूप में हम

कायपूजा, एक ही जन्म में मुक्ति, रागादि क्लेशों का मार्गीकरण, प्रातिभ ज्ञान, अर्थात् स्वानुभव की वरीयता, प्रभास्वरचित्त, समता, पाशाष्टक जैसे विषयों पर भी विहगम दृष्टि डाल सकते है । कायपूजा के लिये अभिनवगुप्त ने कहा है कि जो कुछ बाहर है, वह इस शरीर के अन्दर भी है और अन्य बाह्य पूजा की अपेक्षा अपने काय की ही पूजा करना चाहिये । अभिनवगुप्त की दृष्टि में इस दृष्टि का सर्वप्रथम प्रवर्तन लकुलीश ने किया ।

मैंने ये कुछ समस्याएं यहां उपस्थित की है । इनके ऊपर हम चाहेंगे कि विद्वान् अपने विचार व्यक्त करें । मैं सबसे पहले आदरणीय डॉ0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय जी से यह निवेदन करूं कि आगम और तन्त्रशास्त्र के विषय में यहां जो ऐतिहासिक पक्ष प्रस्तुत किया गया, वह सही है या गलत है, इसके ऊपर वे पहले प्रकाश डालें, फिर अलग अलग विषयों के ऊपर विचार किया जायगा ।

प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, व्रजवल्लभ द्विवेदी जी और अन्य उपस्थित मित्रों ! तन्त्रशास्त्र और आगमशास्त्र के इतिहास के विषय में द्विवेदी जी का मत हमने सुना । अभी तक प्राचीन साहित्य के इतिहासकारों ने प्रायः उनके उद्भव को अलग अलग बताया है और तन्त्र के उद्गम को परवर्ती काल में रखा है, क्योंकि तन्त्रशास्त्र के नाम से जो विशुद्ध ग्रन्थ प्रायः मिलते है, वे परवर्ती हैं, किन्तु पहली बात यह है कि मैं तान्त्रिक और आगमिक साहित्य को अलग नहीं मानता । मैं तो यह भी मानता हूं कि वास्तव में निगम, आगम, तन्त्र इन सबके भेद बहुत स्थिरता से निश्चित नहीं किये जा सकते । साहित्य की पुस्तकों के भेद पुस्तकालय विज्ञान के वर्गीकरण के लिये तो बहुत उपयोगी होते है, किन्तु यह कहना बहुत कठिन होता है कि ये पुस्तकें, यह ग्रन्थराशि सिर्फ इसी विषय की हैं और सिर्फ इसी नाम से जानी जानी चाहिये ।

आप लोगों ने देखा होगा कि डॉ0 दयाकृष्ण ने वेदों के समालोचन प्रकाशित किये है । उन्होंने बहुत विस्तार से आलोचना करते हुए कहा है कि कौन सा ग्रन्थ वेद है, यह कहना कठिन है । वेदों की अनेक शाखाएं हैं, उनमें परस्पर भेद मिलते हैं । क्या उनको एक ही नाम से कहा जा सकता है ? अनेकानेक शंकाएं वहां प्रस्तुत की गई है । मैंने तो संक्षेप में उनसे कहा कि वास्तव में वेद कोई पारिभाषिक चीज़ नहीं है । इसी तरह से निगम, आगम, तन्त्र इन तीनों की कोई समीचीन परिभाषा देना कि प्रत्येक ग्रन्थ के बारे तय हो सके कि वह किस कोटि में जाता है, दूसरी में नहीं जाता है, यह साहित्य के और इस प्रकार के विचारों के विकास के इतिहास के अनुरूप नहीं पड़ता । मैं मानता हूं कि आगम एक व्यापक शब्द है । आगम में वेद भी आते हैं । जो भी ग्रन्थ एक प्राचीन परम्परा से चले आते हैं, वे सब आगम ही कहलाते हैं । यानी आगम शब्द सामान्यतया परम्परावादी है और उसमें वैदिक आगम है और ऐसे आगम भी हैं, जो अपने को अवश्य शुरू से अलग करते थे, किन्तु हमेशा अलग नहीं करते । पांचरात्रों के बारे में आक्षेप शंकराचार्य ने किया है कि वे वेदों को प्रमाण नहीं मानते, लेकिन आगमप्रामाण्य के अनुसार

वेदों को मानना ही चाहिये । कहते है कि वेदों में जो बात है, वहीं बाद में अन्य ग्रन्थों में प्रकाशित हुई । गोस्वामियों ने भी लिखा है कि वेदों का प्रमाण है, लेकिन ये कठिन है, इसलिये पुराणों का प्रवर्तन हुआ और पुराणों में भागवत पुराण मुख्य है । इस तरह से वेदों के बारे में मान्यता है कि वे नित्यवचन है और निश्चित है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टिकोण से यह मानना बहुत कठिन है कि कोई ग्रन्थराशि नित्य है । इतिहासकार के लिये तो वेद भी वैसे ही मानवकृत ग्रन्थ है, जैसे कि और ग्रन्थ है ।

धार्मिक साहित्य के विकास में सबसे प्राचीन वैदिक ग्रन्थ मिलते है, यह बात सही है । आगम-पुराण की जो संहिताएं है, चाहे पांचरात्र की हो, चाहे भागवत संहिताएं हों, चाहे शैव-शाक्त ग्रन्थ हों, ये सब अपेक्षाकृत परवर्ती है । बौद्ध और जैन भी अपने आगमो की चर्चा करते है । यह वैदिक साहित्य से परवर्ती है और बौद्धों में जो तान्त्रिक साहित्य है, वह उनके अन्य साहित्य की अपेक्षा परवर्ती है, सामान्यतः लोग ऐसा मानते है । इतिहास की दृष्टि में वैदिक साहित्य के बाद बौद्ध, जैन, पांचरात्र, पाशुपत ये सम्प्रदाय प्रारम्भ हुए । इनकी संहिताएं इनके आगमिक ग्रन्थ प्रादुर्भूत हुए, किन्तु वहां बौद्ध और जैन प्राचीन आगम तो शेष है । अनेक जैन मानते है कि उनके प्राचीन ग्रन्थ शेष नहीं है । अधिकांश लोग उनमें कुछ शेष मानते है । लेकिन जो पांचरात्रों के या पाशुपतो के मूल ग्रन्थ थे, उनका तो कोई पता नहीं लगता, क्योंकि जो उनकी संहिताएं इस समय शेष है, वे उतनी प्राचीन नहीं है, जितना कि उनका उद्गम है । अगर महाभारत के लेखन से भी माना जाय कि बुद्ध और महावीर के समकालिक पांचरात्र उद्गम था और भगवद्गीता के जो कृष्ण भगवान् है, जिनको भागवत धर्म का मूल माना जाता है, उनको ऐतिहासिक व्यक्ति माना जाय, उनकी स्थिति उत्तर वैदिक काल में निश्चित होती है । छान्दोग्य के उद्धरण में कृष्ण को जो घोर आंगिरस ने उपदेश किया, वे देवकीपुत्र कृष्ण है । लेकिन जिन्होंने भगवद्गीता का उपदेश किया, उनको अवतार माना गया है और वह वासुदेव के रूप में प्रसिद्ध है । वैसे ही पांचरात्र मत का और कृष्ण की पूजा का मेगास्थनीज़ के यात्रा-विवरण में उल्लेख आता है । मथुरा के आसपास शूरसेन लोगो में भागवत धर्म का प्रादुर्भाव बुद्ध से पहले ही हो चुका था । उनकी नौवीं शताब्दी ईसापूर्व तिथि निश्चित की गई है । भगवान् कृष्ण की द्वारका के जो समुद्र के अन्दर के उत्खनन हुए हैं, उनसे द्वारका प्राचीन मालूम पड़ती है । वह तो १३वीं शताब्दी ईसापूर्व के आसपास के हैं ।

मेरा यह कहना है कि यह तो निश्चित है कि यदि कृष्ण को वासुदेव और भागवत सम्प्रदाय का मूल माना जाय, तो उनका मूल साहित्य उतना प्राचीन होना चाहिये, लेकिन इस समय जो उपलब्ध साहित्य है, जो संहिताएं हैं, वे संहिताएं तो पांचवीं शताब्दी से पहले की कोई नहीं मिलती । चाहे जयाख्यसंहिता हो चाहे अहिर्बुध्न्यसंहिता हो, ये सभी संहिताएं गुप्तकाल से प्राचीनतम है, ऐसा नही माना जाता । उनकी भाषा, उनमें जो वास्तुनिर्माण के प्रकार लिखे हुए है, इन सबसे तो प्राचीन पुराण युक्तियुक्त प्रतीत होते है । प्राचीन पुराणो का, यानी जैसे विष्णुपुराण है या हरिवंशपुराण है, वायुपुराण है, मार्कण्डेय है, इनका उद्भव

डॉ० हाज़रा ने बहुत विस्तृत विश्लेषण से रखा है कुषाण काल में, यानी मूल पुराण प्राचीन थे, यह तो निश्चित है । पुराणों का उल्लेख पहले भी आता है । जैसे भविष्यपुराण का, वह सूत्रकालीन है । किन्तु सूत्रकाल से पहले के पुराण उपलब्ध नहीं हैं, जो उपलब्ध हैं, वह कुषाण काल से प्राचीन नहीं है । यही स्मृतियों की कथा है । मनु नाम तो बहुत पुराना है, किन्तु जो मनुस्मृति विद्यमान रूप में मिलती है, उसमें तमाम शकों, खसों आदि का उल्लेख आता है और उनसे सम्बद्ध अंश उतने प्राचीन नहीं माने जा सकते । इसको दूसरी शताब्दी ईसा से पूर्व की कोई नहीं मानता आजकल । ऐसे ही लकुलीश को ऐतिहासिक पुरुष ज़रूर माना जाता है, किन्तु लकुलीश के काल के बारे में निश्चय नहीं है । पंचाध्यायी भाष्य की स्थिति कितनी पुरानी है, यह भी अनिश्चित है । इस विश्लेषण से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वैदिक साहित्य प्राचीनतम है ।

दूसरी बात है कि पांचरात्र और पाशुपत सम्प्रदायों के जो प्राचीन आगम थे, प्राचीन साहित्य रहा होगा, ऐसी कल्पना की जाती है, उस साहित्य को उस रूप में नहीं उपलब्ध किया जा सका है । जो आगम का साहित्य मिलता है, वह पौराणिक युग का है । यह पौराणिक युग कुषाण काल से प्रारम्भ होता है । ईसापूर्व पहली शताब्दी का और अधिकांश रूप में यह गुप्तकाल का है । बहुत से उतना भी नहीं मानते । वास्तव में इन संहिताओं पर आलवारों का क्या प्रभाव है, इस पर भी अनेक मत हैं । आलवारों के साहित्य का, आलवारों की स्थिति का काल तो स्वयं संदिग्ध है । कोई इनको कुछ पहले रखते हैं, लेकिन प्रायः सातवी–नवीं शताब्दी के बीच में इनकी स्थिति को मैं भी मानता हूं । इस साहित्य से पुरानी हैं मूल पांचरात्र संहिताएं । इस दृष्टि से उनको गुप्तकाल में ही रखना ठीक है । शैव आगमों में प्राचीनतम निःश्वाससंहिता है, जिसके विषय में डॉ० बागची ने कहा है कि छठी शताब्दी में इसका उल्लेख मिलता है, तो उसे और पुरानी होनी चाहिये । वह कितनी पुरानी है, यह कहना कठिन है । गुप्तकाल से प्राचीनतर है, यह मानना कठिन है । बौद्ध साहित्य की भी यही स्थिति है । गुह्यसमाज को प्राचीनतम माना जाता है । तो भी कोई तृतीय शताब्दी या ईसा से पहले नहीं रखता उसको । चाहे बौद्ध तन्त्र हों, चाहे पांचरात्र संहिताएं हो, चाहे शैव संहिताएं हो, कुषाण–गुप्तकाल में ही इनका उद्भव प्रतीत होता है । इन सबको मूल तान्त्रिक साहित्य माना जा सकता है, क्योंकि इनमें तान्त्रिकता विशिष्ट रूप से विद्यमान है ।

नौवीं शताब्दी के बाद या दशवीं शताब्दी के बाद एक और प्रकार का विशाल तान्त्रिक साहित्य पैदा हुआ, जो पहले बौद्धों में मिलता है । यह सरहपाद से लेकर बाद के सिद्धों का युग है । उसमें मूल साहित्य तो अधिकांश में लुप्त है, अनुवाद में मिलता है और इसके साथ सम्बन्ध होने से, प्रभाव होने से बहुत कुछ तान्त्रिक साहित्य कापालिकों का, शाक्तों का, नाना शैव सम्प्रदायों का नौवीं शताब्दी के बाद हुआ । नौवीं शताब्दी से इनके बहुत से सम्प्रदायों के मठों का उल्लेख मिलता है अभिलेखों में । लेकिन उस युग का साहित्य भी अधिकांश शेष नहीं है । जो तन्त्र–साहित्य किताबों से लिखा है, कुछ हस्तलेख

है, जिनका कविराज जी ने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया है, अधिकांश साहित्य मध्यकाल का है और बाद का है । लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि तन्त्र की परम्परा अर्वाचीन है, मध्यकालीन है । जैसे महानिर्वाण तन्त्र है । महानिर्वाण तन्त्र को बहुत से लोग कहते थे कि यह तो उन्नीसवीं शताब्दी का है, लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है । वह भी राजा राममोहन राय से प्राचीन है, उसमें संशोधन भले ही हुआ हो कुछ अंश में । कितना प्राचीन है, यह नहीं कहा जा सकता । एक तो तिथि के बारे में यह मत है कि अधिकांश तन्त्र साहित्य ग्यारहवी शताब्दी के बाद का है और जो उपलब्ध है, वह और बाद का, मध्यकाल का, किन्तु शैव, शाक्त और भागवत सम्प्रदायों में जो बहुत सारी सहिताएं और कुछ कुछ ग्रन्थ शुद्ध रूप से जो तान्त्रिक हैं या प्रचलित हैं, वे सब छठीं से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच की हैं ।

मूल रूप से भागवत (पांचरात्र) संहिताओं का काल और पुराना हो सकता है । यानी उसको कुषाण-गुप्तकाल का माना जा सकता है । इस तरह से पहला स्थान वैदिक साहित्य का है । उसके बाद जो मूल आगमिक साहित्य था, चाहे बौद्ध, चाहे जैन हो, वह कुछ अंश में शेष है । जो पांचरात्र-पाशुपत कुल का है, वह बिलकुल शेष नहीं है । फिर दूसरी शताब्दी ईशवी से छठी ईशवी शताब्दी तक जो वर्तमान प्राचीन संहिताएं हैं, वह पांचरात्र एवं शैव संहिताएं हैं, उनका जन्म होता है । छठीं शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी के बीच का अधिकांश काश्मीर शैव साहित्य है । ग्यारहवी शताब्दी के बाद एक अन्य प्रकार का तन्त्र-साहित्य पैदा हुआ, जिसका कि काल बहुत परवर्ती है । मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि निगम-आगम में ठीक-ठीक भेद करना कठिन है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं पाण्डेय जी से एक प्रश्न कहना चाहता हूं । हम लोगों के यहां दो शब्द है— आगम और निगम । ठीक इसी तरह से दो प्रकार की श्रुतियों का भी निर्देश है— वैदिकी और तान्त्रिकी । इनका जो विभेदक तत्त्व है, वह यह है कि वैदिक वाङ्मय तीन वर्णो को अधिकार देता है और आगम इस अधिकार का विस्तार करता है । फिर यह वैदिक वाङ्मय में निर्दिष्ट यज्ञयागादिक अनुष्ठान "भस्मान्तं शरीरम्" जैसे है । किन्तु आगमिक संस्कृति ने जो दिया, वह मन्दिर और मन्दिर के साथ मूर्ति, उसकी पूजा प्रतिष्ठा । आगमों में यह स्पष्ट निर्दिष्ट है और पुराणों ने भी उसे स्वीकार किया है । नारदपुराण को हम उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर सकते है । वहां बताया गया है कि आगमों में ही मूर्तिप्रतिष्ठा इत्यादि विषय वर्णित है, वेदों में नहीं । स्पष्ट है कि निगम और आगम ये दो अलग अलग शास्त्र है, इसमें कोई विवाद नहीं है । ऐतिहासिक दृष्टि से दो अलग अलग शास्त्रों का विकास कब हुआ, यही विचारणीय विषय है ।

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

मैने आपके प्रारम्भिक नोट को पढ़ा है, लेकिन यह ठीक नहीं मालूम पड़ता, क्योंकि वेद के बारे में यह मत बाद का है । स्वयं मीमांसासूत्र मे बादरि का मत उल्लिखित है, जोकि वेद में चारो वर्णो का अधिकार मानते है । शूद्रो के अधिकार की उसमें चर्चा पूर्वपक्ष के रूप मे उपन्यस्त है । ऐसे ही कवष ऐलूष आदि तीन वर्णो मे नहीं आते हैं, लेकिन वह सब ऋषि थे । ऐसी बात नहीं है कि प्रारम्भ से ही वेद में तीन वर्णो का ही अधिकार माना जाता रहा हो ।

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी

यह जो अन्तर तान्त्रिकी श्रुति और वैदिक श्रुति के आधार पर हो रहा है, इसको अधिकारियो के आधार पर न करके उसकी जो अपनी शब्दराशि है, उसका जो अपना साहित्य है, उसकी विधा के आधार पर किया जाय, तो ज्यादा अच्छा होगा ।

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

तीन वर्णो का जिसमें अधिकार है, उसको निगम कहा है व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने । मैने यह कहा कि वेद मे तीन वर्णो के ही अधिकार का जो सिद्धान्त है, यह परवर्ती सिद्धान्त है । यह सिद्धान्त वेद में नहीं माना जा सकता ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

वेद को निगम कहा जाता है और इसको आगम भी कहा गया है । बौद्ध भी अपने त्रिपिटक को आगम कहते है । हम यह जानना चाहते है कि वेद कैसे आगम हो गया ।

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

मै यह कह रहा हूं कि वेद के बारे मे यह नही कहा जा सकता कि प्रारम्भ से ही उसमें अधिकार संकुचित था । दूसरी बात यह भी नहीं कही जा सकती कि वैदिक युग में किसी प्रकार की मूर्तिपूजा नही थी । बहुत से विद्वानों ने इस पर तर्क किया है कि वैदिक युग में भी मूर्तियां प्रतीत थी । तीसरी बात कि बौद्ध-जैन आगमों मे भी प्राचीन युग में मूर्तिपूजा प्रतीत नही थी । न मूर्तियां थीं, न मन्दिर होता था । बौद्धो में मूर्ति का प्रारम्भ पहली शताब्दी ईशवी से पूर्व कही भी नहीं था । यह जो मूर्तियों का और मन्दिरो का प्रचलन हुआ है, ये दूसरी शताब्दी ईसापूर्व से प्रारम्भ हुआ है सब जगह । बौद्धों में भी, जैनों में भी, भागवतों में भी, पाशुपतो मे भी । यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि मूर्ति और मन्दिर का सम्बन्ध निगम और आगम से नही । यह विकास के युग की बात है और उसके बाद वैदिक मन्दिर मिलते है और बौद्ध भी, जैन भी, भागवत भी और शैव-शाक्त भी, इस तरह से यह भी नहीं कहा

जा सकता है कि निगम और आगम का भेद या तो अधिकार पर आश्रित है, या मूर्तिनिर्माण पर आश्रित है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, बौद्ध-जैन और पांचरात्र-पाशुपत मतों के विषय में कहा गया है कि ये सब मत अवैदिक है । दूसरी तरफ महाभारत का नारायणीय उपाख्यान है । उसमें दिया है—"सांख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । स्वयं प्रमाणानि" । ये दो दृष्टियां है । इनमें एक दृष्टि वेद का प्रतिनिधित्व करती है और दूसरी दृष्टि आगमों का प्रतिनिधित्व करती है । इस पर आपका क्या कहना है ?

प्रो0 गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

रामानुज आदि के भाष्य में यह बात नही है । उन्होंने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में यह नही माना है कि यह अवैदिक मत है । न रामानुज मानते है, न उनके पूर्ववर्ती नाथमुनि और यामुनाचार्य ही ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

पांचरात्र मत का आंशिक प्रामाण्य तो शंकराचार्य ने भी मान लिया है । वैष्णव मत के सभी आचार्य पांचरात्र को वेदसंमत सिद्ध करते हैं । जो शैवाचार्य है, जिन्होंने शैव दृष्टि से वेदान्तसूत्र पर भाष्य किया है, वे पाशुपत मत को वैदिंक सिद्ध करते है, वे पांचरात्र को प्रमाण नहीं मानते और वैष्णव पाशुपत को प्रमाण नही मानते । यह जो दृष्टि है, वह आज तक चली आ रही है । इससे स्पष्ट है कि दो धाराएं है भारतीय संस्कृति की । एक, जो कि सीमित है । दूसरी सार्वजनिक है । आगम और निगम शब्द मैं समझता हूं कि इन दोनों सस्कृतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं ।

प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी

मै सार्वजनिक शब्द की व्याख्या चाहता हूं । एक को अधिकार मात्र दे देने से वह सार्वजनिक नहीं हो जायगी । क्योंकि तन्त्र भी सार्वजनिक नहीं है । कोई भी तन्त्र हो, चाहे बौद्ध तन्त्र हो, चाहे शैव, शाक्त, वैष्णव तन्त्र हो, सर्वत्र अधिकारी अपेक्षित है । दूसरी बात कुल्लूक भट्ट का उदाहरण लेने पर हमें इतिहास को बिलकुल छोड़ देना पड़ेगा । भारतीय दृष्टि में इतिहास का कोई महत्त्व नही है । डॉ0 पाण्डेय हमारे गुरु हैं । मैं चाहता हूं कि गुरु जी इस विषय को नये ढंग से प्रतिपादित करें । भारतीय वाङ्मय में इतिहास की दृष्टि मानने पर सारी गड़बड़ी हो जाती है । गड़बड़ी कैसी ? जैसे अभी यह बात हुई कि पुराण की चीजें कनिष्ककालीन हैं तो महाभारत ऐसा है, जैसा लोगों ने तय किया । हमारी दृष्टि विदेशी तिथिक्रम से आक्रान्त है । वेद की भी संरचना की तिथि, यह सब हमें जो बता दिया गया, उससे हम परेशान हैं और सबके मूल में ईसामसीह जी है कि ईसा के जन्म के पूर्व इस देश की संस्कृति इतनी उन्नत कैसे हो सकती है ? यह परेशानी है पाश्चात्य लोगों की । उस

परेशानी को उन्होंने हमारे सर पर रखा और हमने अपनी सारी परम्परा को भुला कर उसको स्वीकार कर लिया । पाश्चात्य दृष्टि से भी जो अनुसन्धान कार्य पुरातत्त्व के आधार पर हुए हैं, उनमें यह आता है कि वैदिक भाषा की तिथि चार हजार वर्ष ईसापूर्व की है । मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूं । हंगरी के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० हरमत्ता की दृष्टि है कि वैदिक भाषा की प्रतिष्ठा चौथे मिलेनियम बी. सी. में होकर इसके शब्द शायद यहां से बीच में पड़ने वाली भाषाओं के माध्यम से साइबेरिया तक जा चुके थे । यह मैं प्रो० हरमत्ता का विचार कह रहा हूं । सन् १९७९ में दुषान्ते की कान्फ्रेन्स में उन्होंने पेपर पढ़ा, १९८१ मे मास्कों से यह प्रकाशित है । उसमें उन्होंने यह प्रतिपादित किया है । कालक्रम की दृष्टि से जब हम विचार पर आते हैं, तो हमारे गुरु जी ने जो कहा वही स्थिति हो जाती है । हम इस दृष्टि को छोड़ कर इस विद्वन्मण्डली के समक्ष प्रश्न छेड़ते है । मेरा कोई अपना विचार नहीं है । मैं प्रश्न छेड़ता हूं कि क्या भारतीय वाङ्मय के लिये या भारतीय संस्कृति के लिये यह जो पाश्चात्य काल वाली दृष्टि है, इसको हम कुछ परिवर्धित या संशोधित नहीं कर सकते, क्योंकि मैक्समूलर ने जो १८६९ में कहा और उसके विपरीत १८९६ में गिफर्ट लेक्चर में लंदन में स्वयं कह दिया कि वेदों की तिथियां, वेदों का काल निर्धारित करना अत्यन्त कठिन है, फिर भी पूरे देश में मैक्समूलर की तिथि पढ़ाई जा रही है । हम यह कहना चाहते हैं कि क्या हम उस दृष्टि से तन्त्र के इतिहास को देखें ? शाम शास्त्री का कथन है कि ईरान में कुछ सिक्के मिले हैं, सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व के । उन पर कुछ तान्त्रिक चिह्न हैं । उसके आधार पर प्रथम सहस्र शताब्दी तक इनका काल जाता है । यद्यपि जो तान्त्रिक वाङ्मय प्राप्त है और हमारे गुरु जी ने भी जो स्थापना की है कि इसका सर्वांश अर्वाचीन नहीं है । लेकिन यह कहना कठिन है कि कितना अंश प्राचीन है और कितना अंश अर्वाचीन है । हम भगवान् बुद्ध को लें, उनका जो प्रवज्यासूत्र है, सुत्तनिपात का अथवा मज्झिमनिकाय का सुत्त है, उनकी प्राचीनता स्वयं सिद्ध है । इसमें उन्होंने अपनी साधना का जो उल्लेख किया है कि मैंने यह किया, मैंने यह किया, बड़ा विचित्र है । हो सकता है कि गुरुओं के पास ये साधनाएं किसी नियमित सिद्धान्त के आधार पर गुह्य रूप से विद्यमान हों और लिखित रूप में वह न हो, जो अधिकारी शिष्यों को उस समय प्रदान की जाती हो, तो इस दृष्टि से भी हमको विचार करना चाहिये कि यह ऐसा है या नहीं ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

आपने दीक्षा के बारे में प्रश्न किया है । शिवदृष्टि सोमानन्द की रचना है, उसमें कहा है—"तदुक्तं कालपादायां श्वपचानपि दीक्षयेत्" । यहां दीक्षा में कुल, जाति या वर्ण के विधान की परीक्षा नहीं है । "ज्ञानदाने विचारयेत्" जब आगे ज्ञान दिया जायगा, तब शिष्य की परीक्षा होगी, नहीं तो "श्वपचानपि दीक्षयेत्" यह कहकर किसी भी प्रकार की दीक्षा में कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया है । दूसरा जो तान्त्रिक वाङ्मय की प्राचीनता का प्रश्न है, इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि तन्त्रालोक का, अभिनवगुप्त का काल निश्चित

है और उन्होंने शताधिक ग्रन्थों का और ग्रन्थकारों का उल्लेख किया है । इससे आजकल के इतिहास-ग्रन्थों की स्थापना निरस्त हो जाती है, क्योंकि जितने ग्रन्थों और ग्रन्थकारों का, जितने मत-मतान्तरों का नाम उन्होंने दिया, वे सब उस समय विद्यमान थे ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अधिकारभेद की जो चर्चा यहां अभी चली और जिसमें कहा गया कि तन्त्र में भी अधिकारी को ही दीक्षा दी जाती है, वहां पर भी अधिकारभेद है, जैसे कि वेद में है । मेरा निवेदन यह है कि गुणों के आधार पर अधिकारभेद की चर्चा करना और जाति के आधार पर, जन्म के आधार पर अधिकारभेद की चर्चा करने में हम लोगों को फ़र्क करना चाहिये और शायद यहां जो कहा जा रहा है, तन्त्र में वह इसी दृष्टि से कहा जा रहा है कि जातिभेद के आधार पर कोई बहिष्कृत नहीं है और गुण के आधार पर तो स्वाभाविक है कि होना चाहिये । हर किसी को हर कोई चीज प्रिय नहीं होती और न वह उसके योग्य होता है ।

इतिहास का जहां तक सवाल है, मैं समझता हूँ कि इतिहास के विद्वान् भी परम्पराओं की तिथियो का निर्धारण नहीं करते । जो उपलब्ध साहित्य है, उसी को बतलाते हैं या उनको जो सामग्री उपलब्ध होती है, कोई अवशेष प्राप्त होते हैं, उन्हीं के विषय में वे कहते हैं कि यह इस शताब्दी का है । परम्पराएँ तो प्राचीन हैं । मान लीजिये कि मैं किसी इष्ट-देव की साधना कर रहा हूं । स्वप्न में आकर वह इष्टदेव मुझे आगे का मार्ग बतला देता है या उस साधनाविधि का उपदेश करता है कि तुम इस तरह से करो तो तुम्हारा विकास होगा और मै वैसा ही करता हूं, जैसा मुझे प्राप्त हुआ और मैंने फिर उसको ग्रन्थ के रूप में लिख दिया । इस प्रकार की परम्पराओं का इतिहास न तो इतिहास के लोग बताते हैं और न हमको समझना चाहिये । लेकिन इतिहास की जहां तक दृष्टि है, हम हर मन्दिर को पाण्डवों का बनाया हुआ कह देते हैं, तो इस दृष्टि को सुरक्षित रखने की जरूरत नहीं है । उसकी ईंट की बनावट, उसका पत्थर, उसकी कला इत्यादि के आधार पर जो शताब्दियों के आधार पर किस शताब्दी में कितना विकास हुआ, इसके आधार पर वह लोग जो निर्णय लेते हैं, वह सर्वथा भ्रामक नहीं है । फिर भ्रम की गुंजायश तो हर जगह रहती है, हर परम्परा में रहती है । इसीलिये विवेक की हर जगह आवश्यकता होती है ।

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

जहां तक आपकी स्थापना है, निगमागम के भेद की, तो इसमें मेरे दो संशोधन है । एक तो यह है कि यह बात सही नहीं है कि प्रारम्भ से ही वेद में अधिकार सीमित था । दूसरी बात यह है कि यद्यपि मैं स्वयं मानता हूं कि जो पांचरात्र-पाशुपत सम्प्रदाय हैं, ये प्रारम्भ में वेद-शब्दों को स्वतः प्रमाण मानते थे, किन्तु बाद में वे ऐसा नहीं मानते । उस तरह से इनका अवैदिकत्व

भी एक क्वालिफाइड रूप मे ही सही है । जहां तक अधिकार की बात है, यह सही है कि अधिकांश जो बौद्ध, जैन, पांचरात्र, भागवत, पाशुपत सम्प्रदाय है, इनमें जातिकृत अधिकार-भेद नहीं है और वैदिक परम्परा में स्मार्त युग से यह संकीर्णता जरूर रही है, लेकिन जैसा मैने कहा कि जहां तक भारतीय संस्कृति की मूल धाराओ का प्रश्न है, इनके बारे में अनेक मत है । निगम और आगम को भी लोग मानते है । रवीन्द्रनाथ आदि ने कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय परम्पराएं दो विभिन्न परम्पराएं है । मै अक्सर मानता हू कि ब्राह्मण-श्रमण परम्परा, इस प्रकार का मूल भेद है । दो ही भेद या दो ही धाराएं बताई जायं तो इसके बारे में कैटीग्राइजेशन नहीं हो सकता कि यही दो धाराएं है । इसी दृष्टिकोण से आप इस तरह का वर्गीकरण कर सकते है । लेकिन मेरा कहना है कि वास्तव में यदि वैदिक-आगमिक परम्पराओ के भेद का मूल इसमें है कि वैदिक परम्परा मे ज्ञान का स्रोत एक नित्य शब्द माना जाता है, नित्य अपौरुषेय ज्ञान, पर सभी आगमों का ज्ञान मानवीय दिव्य पुरुष के द्वारा अभिव्यक्त ज्ञान है । इससे साधना में फर्क पड़ जाता है । उपासना मे फर्क पड़ जाता है । उपासना के बिना कोई धर्म नहीं होता, चाहे वैदिक हो चाहे अवैदिक हो, लेकिन उपासना किस प्रकार की है, इसमें एक मौलिक भेद रह सकता है । मुझे ऐसा लगता है कि वैदिक उपासना मे ज्ञान और बाद मे विशुद्ध भक्ति का प्राधान्य था, प्रारम्भ में कर्म का प्राधान्य था ।

कर्म में विधि मुख्य बात थी । लेकिन जितनी भी धार्मिक सम्प्रदायों में उपासनाएं है— भागवत, पाशुपत, शैव, शाक्त—इनमें बौद्ध लोग नहीं आते । बौद्ध परम्परा इस मायने में ज्ञानप्रधान है, जैसे कि वेदान्त की । लेकिन शैव, शाक्त और प्रारम्भ में पांचरात्र इन सबमें मूल तत्त्व या पारमार्थिक तत्त्व में इस तरह का द्वैत, द्वैताद्वैत कहिये था, जिसमें कि सत्ता और शक्ति दोनों विद्यमान है और यह जो शक्ति का अंश है मूल तत्त्व में, इसी के साथ साधना या उपासना जो भी हो विद्यमान थी । यही तान्त्रिकता का मूल तत्त्व है और इस अर्थ में यह धर्म तो प्रागैतिहासिक माना जाता है । यद्यपि सभी प्राचीन मानव-धर्मो में क्रियाप्रधान उपासना लक्षित होती है और यह बात वैदिक धर्म में भी है । तमाम वैदिक अनुष्ठानो में, यज्ञों में, वेदों में संकेत ऐसे है, जो इसी प्रकार के है और इसलिये बहुत लोग मानते है कि तन्त्र का मूल वेद मे है । तन्त्रो का मूल वेद से अलग है और बाद में विकसित हुआ यह एकदेशीय मत है, यह सार्वत्रिक मत नही है । वैदिक उपासना अनेक प्रकार की है । तमाम जो तन्त्रों के ऋषि माने गये है, वे वैदिक ऋषि हैं । अगस्त्य है, लोपामुद्रा है और उनके साथ उपासनाएं सम्बद्ध है । मै यह नही कह रहा हूं कि तान्त्रिक उपासना मध्यकाल में प्रारम्भ हुई है, मैने तो यह कहा है कि जो उपलब्ध तान्त्रिक-साहित्य है, यह बाद का है ।

अभिनवगुप्त ११वीं शताब्दी के है । अभिनवगुप्त से पहले तन्त्र-साहित्य था ही नहीं, यह तो मैने नहीं कहा । छठी शताब्दी की कई संहिताएं मिलती है । मै कह रहा था कि तन्त्रशास्त्र का जो उपलब्ध साहित्य है, उसे गुप्तकाल के प्रारम्भ में रखा जा सकता है । दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा से पहले जो रहा

होगा, वह साहित्य अब उपलब्ध नहीं है । तान्त्रिक उपासना वैदिक काल में किस प्रकार की थी, वेदों से पहले किस प्रकार की थी, इसका पता नहीं चलता । हमें जो प्रागैतिहासिक जातियां हैं, उनके धर्म के बारे में परिचय मिलता है । उनकी पद्धतियां बहुत सी ऐसी हैं, जो उसी प्रकार की है, जिनमें मन्त्र भी हैं और मूर्तियां भी है, जिनमें उपासनायें भी होती हैं, बलि भी होती है । तरह तरह के मन्दिर भी बनते थे और मन्दिर में यन्त्र भी बनते थे । माया सभ्यता के लोगों में यह मिलती है । ईजिप्शियन लोगों में मिलती है, अब उनका पूरा पूरा परिचय नहीं मिलता । तान्त्रिक परम्परा हर रूप में बाद की है, यह तो मैं नहीं कहता हूं, यह तो कोई मानता भी नहीं । इसमें ऐतिहासिकता का यह आग्रह नहीं है कि आपके विश्वासों का कोई मूल प्राचीन और सनातन नहीं है । सनातन तो कोई भी चीज हो सकती है, आप तय कर लीजिये । लेकिन इतिहास का प्रयोजन एक संशोधन का होता है कि जो आपके विश्वास है, वे कहां तक प्रमाण से समर्थित होते है । एक कथा छोटी सी सुनाऊं आपको । चौदहवीं शताब्दी में फीरोज़ तुगलग ने अशोक का जो स्तम्भ था, उसे दिल्ली महरौली में मंगवा लिया, जो कोटला में था । उन्होंने सब ब्राह्मणों को बुलाया कि पढ़ो कि इसमें क्या लिखा है, तो सबने यह कहा कि यह तो भूतलिपि है । यह मनुष्यों की लिखी नहीं है, इसको पढ़ने से तो अनिष्ट होगा । अब यह उनका ज्ञान था । चीन में ऐसी बात नहीं थी । चीन में दो हजार साल पुरानी लिपि को खट से पढ़ लेते थे और पढ़ते हैं ।

मैं यह कहता हूं कि इतिहास तो जो जानी–बूझी घटनाएं है, उनके काल–क्रम को निर्धारित करता है । जिस बात को आप घटना मानते ही नहीं, उसके बारे में इतिहास क्या कहेगा भला ? लेकिन आपको स्वयं इसको सोचना चाहिये कि जो हम बात कह रहे है, वह कितनी प्राचीन है कि यह हम सही बात कह रहे है । आपको विश्वास है तो ठीक है उसमें प्रायः प्राप्त प्रमाण मान लीजिये, मुझे कोई आपत्ति नहीं है । मैं खुद भी यह मानना चाहता हूं । मैं मानना चाहता हूं कि वेद का कोई भी मूल नहीं है, लेकिन यह देखा जाता है कि वैदिक भाषा में लिखी हुई भाषा मानवीय भाषा है । वह भाषा का रूप ऐसा है कि वह अनादि नहीं हो सकता, क्योंकि उसी भाषा के और प्राचीनतर रूप अन्य भाषाओं की तुलना से पता चलते हैं । यह कैसे कहा जाये कि वह अपने वर्तमान रूप में अनादि है, या कि वह किसी अन्य मूल रूप में रही हों । मैं यह मानने को तैयार हूं कि जब संहिताएं बनीं, उनसे पहले जो उपासना की परम्परा थी देवताओं की, वह और प्राचीन रही होगी । मैं यह स्वयं मानता हूं और मैंने लिखा भी है कि उस का प्राचीनतर मूल होते हुए भी वर्तमान रूप में उपलब्ध संहिताओं को कोई न अनादि कह सकता है और न चार हजार साल से पहले कह सकता है । यह सब उपलब्ध साहित्य की तिथियों का आकलन है, न कि उनके पीछे की जो आध्यात्मिक परम्पराएं हैं, उनके विषय में तो वहीं तक कहा जा सकता है, जहां तक वह पुस्तकों में उपलब्ध होती है । जैसे बौद्धों के तन्त्र हैं, तो मैं यह कहता हूं कि गुह्यसमाजतन्त्र प्राचीनतम तन्त्र उपलब्ध है, यह लोग मानते है और उसकी तिथि

दूसरी–तीसरी शताब्दी ईशवी में रखते है । तान्त्रिक लोग कहते हैं कि भगवान् बुद्ध ने खुद तान्त्रिक उपासना की थी, तो अब इसका कोई प्रमाण ऐतिहासिक ग्रन्थों में नही मिलता । यह उनका विश्वास है । जैसा मैंने कहा कि प्राचीन ग्रन्थों में अनेक धर्मचक्र प्रवर्तन का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता । महायान ग्रन्थों में मिलता है, तो हो सकता है कि उसकी गुह्य अव्यक्त परम्परा ऐसे ग्रन्थों में रही हो, जो अब लुप्त हो गई हैं, लेकिन अब इस बात को तत्काल मानना भी नहीं चाहिये, यानी जो चीज अनुपलब्ध है, उसकी सत्ता को स्वीकार अथवा अस्वीकार हम नहीं कर सकते, क्योंकि स्वीक़ार करने के लिये भी विश्वास चाहिये । अब यह विश्वास आपमें है, ठीक है, मुझे उसमें कुछ नहीं कहना है ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

इस विषय में मैं कुछ कहना चाहता हूं । प्रो० पाण्डेय जी ने ऐतिहासिक दृष्टि के विषय में बहुत अच्छा विवरण प्रस्तुत किया और उनका यह कहना ठीक ही है कि जो साहित्य में उपलब्ध है, उस साहित्य की दृष्टि से हम काल का विभाजन कर सकते है । उन्होंने अपने वक्तव्य में ऐसी स्थापना की है कि वेदों का अधिकार वर्ण तक सीमित नहीं था, मेरी समझ में यह सही नहीं है, क्योंकि वेद का जो धर्म है, जिसे यज्ञ–धर्म या श्रौत–धर्म कहते हैं, वहां कई जगह यज्ञ का अधिकार त्रिवर्णो तक सीमित है, ऐसा विधान है । कहीं भी शूद्र को यजमान नहीं बनाया जाता । हो सकता है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णो की व्याख्या तो परवर्ती काल में जातिनिष्ठ हुई, वह न हो । लेकिन वहां भी चार वर्ण थे और यज्ञ–धर्म त्रिवर्णो का ही था, यह बात निश्चित है । शूद्रों को कभी कभी यज्ञ में स्थान दिया जाता था, जैसे महाशूद्र का कुछ वहां स्थान है । सोमानयन की विधि में भी शूद्र सोम लाते हैं । वहां सोमक्रय का विधान है । ऐसे कुछ अपवाद मात्र है । किन्तु उन्हें प्रधान स्थान नहीं दिया जाता था, यह बात तो निश्चित है । दूसरा आपने मन्दिर के विषय में और मूर्ति के विषय में कहा । वेदों में मन्दिर का या मूर्ति का कोई भी निर्देश नहीं है, उल्लेख नहीं है । सूत्रकाल में कभी कभी अपवाद मात्र ऐसा विधान पाया जाता है । "यदा देवता नृत्यन्ति श्चोतन्ति" वह तो अद्भुत शान्ति के लिये यह विधान है, जब देवताओं का नर्तन दिखाई देता है, तो अद्भुत है, अद्भुत हो रहा है, ऐसा कुछ कुछ विधान है, लेकिन मन्दिर का या मूर्ति–पूजा का श्रौत–धर्म में कोई स्थान नहीं है । श्रौत–धर्म के साथ साथ जो गृह्य–धर्म है, वह भी श्रौत–धर्म का ही एक अंग है । उसमें कभी कभी जो लौकिक आचार हैं, उनको स्थान दिया जाता था, जैसे आश्वलायन गृह्यसूत्र में विवाह के सम्बन्ध में कहा है— "उच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्मश्च भवन्ति" । तो जनपद–धर्म और ग्राम–धर्म जो है, उनका समावेश किया जाता था, लेकिन उसका भी श्रौत–धर्म से साक्षात् सम्बन्ध नहीं है । हम ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो श्रौत–धर्म और स्मार्त–धर्म या पौराणिक–धर्म ऐसा विभाजन होना आवश्यक है और आज भी जो श्रौत–धर्म अपवाद रूप से चला आया है, कही कहीं उसका अनुष्ठान किया जाता है । इसलिये हमें काल का भी भेद देखना चाहिये ।

उपासना पद्धति के विषय में भी ऐसा है । जो उपासना पद्धति है, जो मन्दिरनिष्ठ या मूर्तिनिष्ठ है, वह परवर्ती काल की है । उसमें वैदिक साहित्य का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है । इसलिये श्रौत-धर्म के विषय में परवर्ती काल में स्मृतियों में "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" ऐसा विधान किया है । उस काल में वर्णों की जातिनिष्ठता स्थापित हो गई थी, तो हमें ऐसा भेद करना चाहिये ।

प्रो0 तिवारी जी ने जो मैक्समूलर का वचन उद्धृत किया है और ऐसा कहा है कि आज भी मैक्समूलर की तिथियों को माना जाता है, यह सही नहीं है । उसका खण्डन भी हो रहा है । पाश्चात्यों ने जो कुछ हमारे मस्तिष्क में उत्पन्न कर दिया है, काल के विभाजन के विषय में, वह कोई गलत बात नहीं है, हमें उनके आभारी होना चाहिये, क्योंकि किस काल-खण्ड में किस धर्म का उद्भव और विकास हुआ, हमारे लिये यह देखना ज़रूरी है, नहीं तो अनुसंधान की कोई आवश्यकता ही नहीं रहेगी, ऐसा मेरा कहना है ।

तन्त्र के विषय में भी ऐसा कहा जाता है । यद्यपि तन्त्र का मूल प्राचीनतम होगा, यह हम मान सकते है और उसका मूल, उसका कुछ अंश वेदों में भी है, यह भी हम मान सकते हैं । वहां कुछ उल्लेख भी मिलते हैं, तो सब शास्त्रों का मूल वेदों में मानना, यह तो भारतीय परम्परा है और हम उसका विरोध नहीं करते । लेकिन मूल मानना इसका अर्थ यह रहता है कि किसी शास्त्र को पवित्र करने के लिये, किसी शास्त्र को प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिये उसका मूल वेद में ही है, ऐसा मानने की परम्परा है । उसका विरोध नहीं करना चाहिये । फिर भी उसका जो विकास है, उद्भव है, वह परवर्ती काल में है, इसमें असम्भव कुछ नहीं है । वेदोत्तर काल में भी जो विद्याओं का निर्देश पाया जाता है, जैसे शतपथ ब्राह्मण के पारिप्लव आख्यान में विद्याओं का निर्देश है, वहां भी कोई तन्त्र का निर्देश नहीं है । पुराण का निर्देश है । लेकिन उस पुराण और हमें उपलब्ध हुए पुराणों में अन्तर हो सकता है । इसी लिये जो आज मान्य काल-खण्ड है, वैदिक और वेदोत्तर काल-खण्ड, बुद्धपूर्व काल-खण्ड और बुद्धोत्तर काल-खण्ड इस प्रकार हम टेन्टेटिव डिस्टिंक्शन कर सकते हैं । खास कर हम इसी काल में ऐसा हुआ यह कह नहीं सकते, लेकिन ईशवी के पूर्व या ईशवी परवर्ती काल में ग्रन्थों का निर्माण हुआ, इतना तो हम कह सकते है और उस विषय में तीन निकष आवश्यक रहते हैं— एक तौलनिक धर्मशास्त्र और देवताशास्त्र का निकष, दूसरा तौलनिक भाषाशास्त्र का निकष और तीसरा पुरातत्त्व विद्या का निकष । वाङ्मयीय आधार और पुरातत्त्वीय आधार जब जहां जहां मिलते हैं, सुसंगत रहते हैं, वहां हम काल के विषय में निश्चित रूप से कह सकते है । जैसे बौद्धों का अवदान साहित्य है, संस्कृत में जो है, कुषाणो के काल के आसपास ही कहीं उसका निर्माण हुआ, ऐसा विद्वानों का कथन है, क्योंकि उसमें दीनार का उल्लेख मिलता है । जो ऐसे निकष है, उनके आधार पर ही हम काल का विभाजन कर सकते हैं और जब हमें यह प्रतीत होता है कि किसी तन्त्र का निर्माण गुप्त-काल के बाद हुआ, तो उसमें कोई खेदजनक बात नहीं है । उसका मूल तो वेदों में होगा, वेदोत्तर काल में

भी होगा, लेकिन इसी को विकसनशील देवताशास्त्र रिवल्युशनरी मैथोलॉजी ऐसा कहा जाता है और इस विकास का ध्यान हमें रखना चाहिये, ऐसा मुझे कहना है ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

जहां तक ऐतिहासिक और सामाजिक अध्ययन की चर्चा चल रही है, इसमें दो-तीन बातें हमारे सामने आती है । विशेष कर जब मै, बौद्ध परम्परा की दृष्टि से देखता हूं । उस दृष्टि से परम्परागत रूप में भगवान् बुद्ध ने विशेष विशेष अधिकारी या देवलोक के सामने तन्त्र को विकसित या प्रकट किया था । यह परम्परा की बात है । दूसरी और हमारे सामने जो अब तक शास्त्र मिले हैं, उनमें हम लोगों को जो मिल पाता है, उससे एक दूसरा स्वरूप आता है । विशेष कर मै मञ्जुश्रीमूलकल्प को लेता हूं, जिसकी अवधि संभवतः ईसा पूर्व से लेकर आठवीं-नवीं सदी तक आती है । इसको एक संकलन ग्रन्थ कहा जाता है । तीसरी ओर हमारे सामने बहुत प्रतीकात्मक चित्रायन या मूर्तिकला और मण्डलकला का विकास यहां मिलता है । इस समूचे विषय को लेकर यदि हम देखें तो मेरे ख्याल से काल-विभाजन वाली जो चर्चा यहां हो रही है, इसमें दो चार शब्द कहे जा सकते हैं । पहली बात यहां हमारे अग्रज डॉ० पाण्डेय जी ने बड़े अच्छे ढंग से उठाई कि ब्राह्मण और शूद्र के भेद को थोड़ा सा देखना चाहिये । पहली बात आती है कि ब्राह्मण जन्मगत कब से हुआ या चरित्रगत कब तक था । ये दो बातें इसमें आती हैं, क्योंकि उपनिषद् में जब ऋषिगण बोलते हैं कि ब्राह्मण के पिता-पितामह की बात क्यों पूछे रहे हो ? वेद ही उनका पिता है, वेद ही उनका पितामह है । फिर जब गुरु गौतम के सामने जाबाला के पुत्र की कहानी आती है, वह भी उपनिषद् की कहानी है, जिसमें हम लोग देखते हैं कि चरित्रगुण से ही जो श्रेष्ठ है, वही ब्राह्मण है, जन्मगत रूप से नहीं है । इसके लिये आर० सी० मजूमदार ने अपने "कार्पोरेट लाइफ ऑफ हिन्दू" ग्रन्थ में सारे विचार प्रस्तुत किये है । प्रश्न तो पहले यह आता है कि शूद्र किसको कहा जाता है ? शास्त्र के अनुसार शूद्र वह है, जो शोकग्रस्त होते हैं और जो सत्यवादी है, वही ब्राह्मण है । दूसरी बात हमारे सामने आती है, वह है तन्त्र का विषय । तन्त्र क्रियाप्रधान एक वैज्ञानिक प्रायोगिक ज्ञान है । वैदिकीकरण के समय उसके कई आचारों को स्वीकार किया गया था ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

अभी हमारे बन्धु ने कहा है कि मैक्समूलर का खण्डन किया गया है । किन्तु भारतीय शिक्षा के पाठ्यक्रम में ऐसी स्थिति नहीं है । क्हां तो सन् १८९६ में व्यक्त किये गये मैक्समूलर के विचारों का भी समावेश नहीं किया गया है । यूरोपियन विद्वानों के मत से गौतम बुद्ध से ही ऐतिहासिक काल प्रारम्भ होता है, उसके पूर्व सब कुछ काल्पनिक (हाइपोथेटिकल) माना जाता है । दूसरी चीज जो हमारे एक बन्धु ने अभी कही, मैने जाति के आधार पर आपत्ति नही की थी, मैने तो सार्वजनिक शब्द पर आपत्ति की थी कि अधिकारी

को ही तन्त्र की दीक्षा दी जाती है, यह नहीं कि प्रत्येक आदमी को हम तन्त्र देते फिरेंगे । मेरा सार्वजनिक शब्द से हटकर अधिकारी शब्द पर आना था, न कि उसके द्वारा जाति को प्रतिपादित करना । बौद्ध तन्त्र में भी कहते हैं कि वज्रयान की देशना उसी को होगी जिसने शून्यवाद और विज्ञानवाद में दक्षता प्राप्त कीं है, सबको तन्त्र की देशना नहीं दी जायगी, जितने आदमी है हरेक आदमी तन्त्र का अधिकारी नही हो जायगा । जिसको योग्य समझेगा, उसी को शिष्य बना कर दीक्षा देगा ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

प्रो० तिवारी जी ने इतिहास के विषय में कहा, उसका मैं विरोधी नहीं हूं । मै इतना ही कह रहा था कि अभी पाठ्य-पुस्तकों में, स्कूल में या कालेज में वही उद्धृत किया जाता है, यह मुझे भी पता है । अभी बंगलोर में एक सेमीनार हुआ था "आर्यन प्रॉब्लम" के विषय में । उस सेमीनार का निष्कर्ष यह था कि आर्य बाहर से आये, इसके लिये पूरा प्रमाण जब मिलता नहीं है, तब ऐसा विषय पाठ्य-पुस्तकों से हटाये जांय, ऐसी वहां मांग की गई । पाठ्य-पुस्तकों में क्या गलतियां है और भारत में क्या पढ़ाया जाता है, मेरे कथन का इनसे सम्बन्ध नहीं है, मैं तो संशोधक विद्वानों के विषय में कह रहा हूं कि अन्य विद्वान् मैक्समूलर के विषय के वह डेटिङ को, उसके क्रोनोलोजी को मानते नहीं है । बाकी उनसे मेरा कोई विरोध नहीं है । सार्वजनिक शब्द के विषय में यहां अभी त्रिपाठी जी ने सही बताया कि सार्वजनिक ऐसा क्यों कहा गया ? जाति के आधार पर वेदों का अधिकार त्रिवर्ण को ही है और तन्त्र मे कोई भी व्यक्ति भले ही वह किसी भी जाति का हो, उसको अधिकारी मानना चाहिये । यह बड़ा महत्त्वपूर्ण भेद है । इस अर्थ में हम तन्त्र के विधान को सार्वजनिक कह सकते है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अब मैं सोचता हूं कि इस चर्चा को पूरा किया जाय । मैं डॉ० पाण्डेय जी से निवेदन करता हूं कि वे इस विषय का उपसंहार कर दें ।

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय

मैं पहले तो यह कहना चाहता हूं कि डॉ० पाठक जी ने जो बात कही, उसके अधिकांश से मैं सहमत हूं, आभारी हूं उनका । उन्होंने उसी मत का समर्थन किया, जिसका मैंने उल्लेख किया था । मुझे डॉ० बहुलकर जी की बातों के बारे में यही कहना है कि वास्तव में श्रौत-धर्म और वैदिक युग की बातें एक नहीं हैं, जो बाद की श्रौत परम्परा है, सूत्रों में और स्मृतियों में संरक्षित है, उसमें तो यह सही बात है कि वेदों का अधिकार शूद्रों का नहीं माना जाता, लेकिन वैदिक युग मे ऐसी बात थी ऐसा नहीं है । उसके कई कारण है । पहला तो यह कि प्राचीन वैदिक युग में चार वर्ण थे ही नहीं । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीन का ही उल्लेख आता है और उनमें भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य का जन्ममूलक भेद नहीं था । दूसरी बात जब शूद्रों का आविर्भाव

हुआ, उत्तर वैदिक काल में, तब भी यह निश्चित नहीं था कि शूद्रों का अधिकार नहीं है, इसका प्रमाण जैसा मैंने पहले कहा कि मीमांसा और वेदान्तसूत्र में है । यहां एक अपशूद्राधिकरण है, उसमें बादरि आदि के जितने भी पूर्वपक्ष हैं, वही प्रमाण इसमें है कि कुछ लोग थे जो कि यह मानते थे कि शूद्र को अधिकार है, अधिकांश ब्राह्मणों में शूद्रों को अनुपयुक्त कहा गया है, किन्तु ब्राह्मणों में जो बात कही गयी है, वह वेद की व्याख्या के रूप में थी । वह स्वयं तब अनर्ह नहीं माना जाता था, वह तो उन ऋषियों के द्वारा रचित सूक्तों से प्रमाणित है । फिर डॉ० पाठक जी की वह बात सही है कि शूद्रों के आने पर भी वैदिक काल में चातुर्वर्ण्य सर्वथा जन्ममूलक था, यह निश्चित नहीं था । वेद यानी जो मूल मन्त्र थे, उनमें अधिकार तीन वर्णों का ही था, तीन जातियों का था, यह कहने में हम जो वेद के परवर्ती युग की परम्परा है, उसको प्राचीन युग में आरोपित कर देते हैं, क्योंकि यह चार वर्णों की व्यवस्था धीरे धीरे पैदा हुई है, धीरे धीरे जन्माश्रित हुई है । प्राचीनतम युग में तीन ही वर्ण थे और चार वर्ण होने के बाद भी वह प्रारम्भ में सहसा जन्मना नहीं थी और उनके आविर्भूत होने पर भी अनेकों का यह मत था कि यह वेद का अधिकार सिर्फ तीन वर्णों को ही नहीं है । इसलिये मेरा कहना है कि वेद का मूल लक्षण यह नहीं कहा जा सकता कि वह जातियों के अनुसार नियन्त्रित त्रैवर्णिक है । यह बाद की वैदिक परम्परा का लक्षण है, यह बात सही है, लेकिन बाद में पैदा हुआ लक्षण बदल भी सकता है । मूल वेद क्या है, मूल वैदिक धर्म क्या है ? इसकी व्याख्या सूत्रों के हिसाब से क्यों की जाय ? सूत्रों के अन्दर भी बदलती हुई बातें हैं, इसलिये मैं इस आधार पर वेद और निगम-आगम का भेद करना ठीक नहीं समझता, इसमें तो बाद की दो सामाजिक परम्पराओं का भेद है, यह कोई मूल धर्म का भेद नहीं है, यह मैं कहना चाहता हूं । इतिहास के बारे में बहुत चर्चा होती है । इतिहास तो कोई सर्वग्राही प्रमाण नहीं है, कोई यह नहीं कहता कि इतिहास से सब कुछ पता चलता है । इतिहास का अर्थ सामान्यतः यही होता है कि जो विदित मानवीय घटनाएं हैं, मानवीय सामाजिक घटनाएं, उनके कालक्रम में कार्य-कारण सम्बन्ध देखकर आप उनके बारे में समझने की चेष्टा करते हैं । कार्य-कारण सम्बन्ध, कालक्रम के विषय में सब बातें समझ में नहीं आती । कुछ समझ में आती हैं, कुछ समझने में सहायता मिलती है । जो बात सूत्रों में लिखी है, उसको आप मान लेंगे कि यह वेद की ही बात है, ऐसी बात तो नहीं है । वेद के बारे में जो श्रौतसूत्रों में है या गृह्यसूत्रों में या धर्मसूत्रों में है, स्मृतियों में है, वह सब वैदिक युग का था या पूरा वैदिक साहित्य प्राचीन से अर्वाचीन तक एक ही है, जो प्राचीन मन्त्र है संहिता का वही काल है, जो कि ब्राह्मणों का है, जो उपनिषदों का है । वह सब मानने से भ्रान्ति हो सकती है । आप कहेंगे यह सारा वाङ्मय एक ही युग का है । हजारों-हजारों वर्ष का है वैदिक युग ही, मुझे ऐसा लगता है । इतना विशाल है, जितना कि पूरा परवर्ती वेद का काल है ।

चार हज़ार वर्ष पूर्व आप मानते है ईसा से, तो कम से कम एक हजार ईसापूर्व तक आता है संहिताओं के संग्रह का काल । तीन हज़ार वर्ष

तक समय है, तो सारे वेद को एक साथ संग्रह कर देना और उसके लक्षणों को वेद के बाद की जो परम्परा बनी है, उसके हिसाब से निर्धारित कर देना, यह एक ऐतिहासिक भ्रान्ति ही है । वैसे विश्वास की दृष्टि से तो आप मान ही सकते हैं । कह भी सकते है कि यही वास्तविक तात्पर्य था । यह कह सकते है कि बाद में कहा, लेकिन वह उपेक्ष्य है । यही वास्तविक था, उस ज़माने मे भ्रामक बात कह रहे थे । वह तो अपनी निष्ठा की बात है । इस पर मै कुछ नहीं कहना चाहता । शंकराचार्य ने अपशूद्राधिकरण में यह कहा है कि शूद्रों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है । इसमें स्मृतियों को इन्होंने उद्धृत किया है । उन्होंने यह भी बाद में कहा—लेकिन ज्ञान के बारे में अधिकार का प्रश्न उठता ही नहीं है । ज्ञान है तो शूद्र है तो क्या ज्ञान तो हो ही जाता है । उनके मन मे मुख्य बात यही थी कि ज्ञान ही असली चीज़ है और उसमें जाति नहीं है और जो उनसे संबद्ध प्रसिद्ध कथा है कि चाण्डाल के साथ उनका सम्पर्क काशी में हुआ, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है । इसलिये कि अगर ऐतिहासिक नहीं होती तो चौदहवीं शताब्दी में इसकी कोई कल्पना नही कर सकता था कि चाण्डाल को अधिकार दिया जाय, चाण्डाल को अलग न माना जाय । यह जो तर्क दिया है कि चाण्डाल और ब्राह्मण का भेद तो शरीरगत भेद है, यह तो आध्यात्मिक भेद नहीं है, तो आप कैसे अद्वैत को मानते हुए दोनों को अलग-अलग मान रहे हैं, उन्होंने कहा कि यह तो भ्रान्ति है तो इस तरह की बात मध्ययुग में नही हो सकती थी । ऐतिहासिक नहीं होती तो इसका उल्लेख इतिहास में आता ही नहीं । इसलिये मैं यह कहता हूं कि पुरानी परम्परा क्या थी, इसको समझने के लिये इतिहास एक उपयोगी साधन है, किन्तु उससे सब बातें सिद्ध नहीं होती और सब बातें प्रभावित नहीं होती, यह मैं कहना चाहता हूं । देखिये ये सारे विषय, जिनकी आप चर्चा कर रहे हैं, उन पर बहुत मतभेद हैं । इस तरह का आग्रह नहीं होना चाहिये कि जो बात हमने कही है, या प्रकाशित की है, वही एक बात सर्वसम्मति से स्वीकृत हो जायगी । वैदिक युग में वर्णों के सहयोग के ऊपर मेरे कई सौ सफे प्रकाशित हुए हैं, जिनमें कि सारे वेदों के उद्धरण दिये गये है, उनका विमर्श किया हुआ है । मैं यह नहीं कहता कि इस मत को आप स्वीकार कीजिये, लेकिन मैं यह कहता हूँ कि यह कहना बहुत ही संदिग्ध लगता है कि वेद और आगम का भेद इस बात पर पूरी तरह से आधारित है कि उसमें अधिकार किसका है ? यह बात दूसरी है कि बाद की परम्पराओं में ऐसा भेद मिलता है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

अब इस चर्चा को हम लोग यहीं समाप्त करें । अन्य जो विषय है, उनमें से एक है पीठ । तन्त्रों में चार पीठ प्रसिद्ध हैं । उनमें से कामरूप पीठ के विषय में विवाद नहीं है, किन्तु जालन्धर, ओडियान और पूर्णगिरि ये तीन पीठ कहाँ स्थित हैं, इसके विषय में विवाद है । इस विषय में बहुत संक्षेप मे ही चर्चा हो तो अच्छा रहेगा । कायपूजा तन्त्र की एक विशिष्ट पूजा है । उसके साथ जुड़ा हुआ है एक ही जन्म में मुक्ति का प्रसंग । पहले पीठों के बारे में यदि कोई सही-सही जानकारी दे सकें, तो हम लोग बहुत

उपकृत होंगे । इस विषय को मैं थोड़ा स्पष्ट कर दूं । ओडियान पीठ के विषय में विद्वानों में दो तरह के मत हैं । एक मत के अनुसार ओडियान पीठ उड़ीसा में स्थित है, दूसरा मत कहता है कि ओडियान पीठ कश्मीर में है । ओडियान पीठ की जो देवता है, वह है त्रिपुरा और त्रिपुरा का आविर्भाव ओडियान पीठ में हुआ यह भी प्रसिद्ध है । इसका प्राचीन साहित्य कश्मीर में ही मिलता है । इन्द्रभूति इत्यादि बौद्धाचार्य ओडियान पीठ के ही निवासी माने जाते है । मैं समझता हूं कि ओडियान पीठ कश्मीर में होना चाहिये, उड़ीसा में नहीं । पूर्णगिरि पीठ के बारे में यह मान्यता है कि पूर्णगिरि आज का कोल्हापुर (महाराष्ट्र) है, जहां महालक्ष्मी का मन्दिर विद्यमान है । किन्तु इन चारों पीठों की स्थिति हिमालय के अन्तराल में होनी चाहिये । ज्वालामुखी के मन्दिर की जालन्धर पीठ के रूप में मान्यता है । कांगड़ा में वज्रेश्वरी देवी का मन्दिर है और वज्रेश्वरी देवी इस पीठ की, जालंधर पीठ की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है । मेरी समझ में यह पीठ यहीं होना चाहिये, जिसका पुराना नाम नगरकोट था । अब यदि हम इस पर चर्चा चला सकते हों तो अच्छा है, नहीं तो इस विषय को यहीं रोक कर आगे कायपूजा और एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त पर विचार कर सकते है । एक जन्म में मुक्ति का प्रसंग काशी से जुड़ा हुआ है । काशी में एक ही जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त "काश्यां मरणान्मुक्तिः" इस वचन से सिद्ध है । अब मैं विद्वानों से निवेदन करूं कि इसके विषय में कुछ चर्चा हो ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

"काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह तन्त्र में आ गया ?

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

यह इसलिये आ गया कि तन्त्र के एक ही जन्म में मुक्ति के सिद्धान्त से मैं उसको जुड़ा हुआ समझता हूं ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

पीठों के बारे में अभी प्रश्न उठा है । पूर्णगिरि तो मुझे नहीं मालूम । पूर्णगिरि नाम का पीठ इधर दूसरे तन्त्रशास्त्रों में मिलता है । पीठों के बारे में जो पुराणों में विवरण मिलता है और बौद्ध तन्त्रों में जो विवरण मिलता है, उन दोनों में कुछ साम्य है, लेकिन बौद्ध तन्त्रों में पूर्णगिरि नाम हमको नहीं मिलता ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

पूर्णगिरि का एक मन्दिर कुमायूं में है, उसकी इष्टदेवी त्रिपुरसुन्दरी है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

यह किस जगह है ?

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

अल्मोड़ा के आगे ।

पं० जनार्दन पाण्डेय

टनकपुर से आगे चल करके एक स्थान है पूर्णगिरि । नाम कुछ बदल गया होगा, आजकल उसे पुण्यगिरि कहते हैं और यह देवी का पीठ है । मुझे यह मालूम था पहले से ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

पुण्यगिरि तो पुराना नाम है, पूर्णगिरि आजकल का नाम है । वह सिद्ध-पीठ है या नहीं, इसका शास्त्रीय विवरण हमें नहीं मिला । दूसरा आपने जालन्धर पीठ का जो प्रश्न उठाया, उसमें कुछ आचार्यों का विवरण भी मिलता है । आजकल के जालन्धर शहर से हट करके थोड़ी दूर पर एक छोटा गांव है । उस गांव में छोटा सा पुराना मन्दिर है । उस मन्दिर के नीचे बहुत बड़ी शिला है । उस शिला का रूप बायां हाथ नीचे करके सोई हुई स्त्री के जैसा है । उसके ऊपरी स्थान पर वह मन्दिर बना हुआ है । उस मन्दिर को जालन्धर पीठ कहा जाता है । जालन्धर पीठ का प्रतीक वही है । ज्वालामुखी का स्थान उसके आसपास आता है, वह पौराणिक विवरण से मिलता है, लेकिन वह तान्त्रिक पीठ उससे थोड़ा हटकर है । दूर तो नहीं है, लेकिन उससे कुछ दूसरा है ।

ओडियान का जहां तक प्रश्न है वह इधर बौद्ध तन्त्रों में भी मिलता है । आचार्यों के ग्रन्थों में इसका विवरण भी मिलता है, जो इस समय उपलब्ध है । उसके मुख्य स्थान को निर्धारित करने के लिये यह बताया गया है कि जहां सिन्धु नदी समुद्र में प्रवेश करती है, उसके तट पर यह पीठ है । वहां वज्रगज नाम का बहुत बड़ा मठ-विहार था । वहीं से सारे तान्त्रिक ग्रन्थ निकले हैं या लाये गये हैं । जैसे कि आचार्य गूढपाद का विवरण है । वहां के जितने योगतन्त्र हैं, उनको भारत देश या मगध देश में लाया गया है । वह पीठ जहां तक मेरा ख्याल है, शिवागम से संबद्ध प्रतीत होता है । इस पीठ की जो देवता है और देवी है, या अधिष्ठात्री और अधिष्ठाता है, उसके बारे में भी जो विवरण मिलता है, वह शिव से सम्बद्ध है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं श्रीमती पाण्डेय का आभारी हूँ कि उन्होंने जिस स्थान का परिचय दिया, पीठों की जो शृंखला है, उसमें वह स्थान आता है, क्योंकि हिमालय की जो शृंखला है, उसीमें ये चारों पीठ होने चाहिये और आपने जो स्थान बतलाया, वह सम्भवतः यह हो सकता है । इसके बारे में यदि और कुछ जानकारी लोग दे सकें, तो अच्छा होगा ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

अब मै इस विषय में और खोज करूँगी, यह मै आपको आश्वासन देती हूं ।

प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र

इस विषय में यह निवेदन करूंगा कि श्रीमती पाण्डेय जी की यह सूचना निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि पूर्णगिरि का सम्बन्ध शांकर-पीठो से भी है और जो उत्तराम्नाय ज्योतिर्मठ है, वहां के देवता नारायण और देवी पूर्णगिरि ही है । शांकर-परम्परा में त्रिपुरसुन्दरी का पूजन परम्परा से चला आ रहा है । वहां नाम तो नही दिया गया है, लेकिन देवता का नाम पूर्णगिरि ही रखा गया है । श्रीमती पाण्डेय की उक्ति से यह बात स्पष्ट हो गई कि वहां त्रिपुरसुन्दरी की पूजा होती है, नाम पूर्णगिरि अवश्य है, किन्तु अधिष्ठात्री देवी त्रिपुरसुन्दरी ही होगी । हम समझते है कि शांकर-परम्परा के जो साधक आचार्य हैं, उनसे सम्पर्क किया जाय तो वह सम्भवतः इस विषय मे और प्रकाश डालेंगे अथवा उस क्षेत्र में रहने वाले, जैसे श्रीमती पाण्डेय ने बतलाया, और भी कोई संन्यासी या विद्वान् हों तो उनसे सम्पर्क किया जाय, तो इस दिशा मे काफी सूचना मिल सकती है ।

पं० जनार्दन पाण्डेय

इस सम्बन्ध में मेरा एक निवेदन है । इसके लिये सूचना की आवश्यकता ही नहीं है । आदि शंकराचार्य ने जो चार पीठ स्थापित किये, उनमें जोशीमठ भी एक पीठ है । चारो पीठों के लिये उन्होंने व्यवस्था बनाई है, मठाम्नाय नामक ग्रन्थ में । यह पुस्तक सर्वत्र मिलती है । उसमें उन्होंने चारों पीठों के लिये किस पीठ का कौन देवता है, कौन उसके आचार्य हैं और कौन उपाचार्य है, यह सारा विवरण दिया है । उसमें पूर्णगिरि को ज्योतिष्पीठ और देवी को पूर्णगिरी माना है और त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के आधार पर उसकी पूजा होती है । हमारी भी वही इष्टदेवी है । इसलिये हम उस विषय में जानते हैं । वह पूर्णगिरी देवी भी है और पूर्णगिरि पीठ भी है । वहां कोई मन्दिर नही है । सती के अंगों का जब क्षरण हुआ, उस समय नासिका उस स्थान पर गिरी । इसलिये वह नासिका के आकार का एक पर्वत है । केवल उस पर्वत को ही पूरा पीठ मान लिया गया है । इस पर्वत के शिखर पर लोग जाते है और वही स्थापित प्रस्तर-खण्ड की देवी के रूप में पूजा होती है । इसी को पूर्णगिरि पीठ माना जाता है ।

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय

त्रिपुरसुन्दरी का मन्दिर कहां है ?

पं० जनार्दन पाण्डेय

त्रिपुरसुन्दरी की पूजा के विधान के आधार पर उसकी पूजा होती है, इसलिये लोग उसके त्रिपुरसुन्दरी मानते है । मठाम्नाय ग्रन्थ को देखें, जो बहुत प्रसिद्ध है । उसमें स्पष्ट निर्देश है कि जोशीमठ का जो पीठ है, उसी का नाम पूर्णगिरि है और उसकी देवी भी पूर्णगिरि हैं, इन्हें भगमालिनी भी कहते हैं ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

पीठ के लिये क्या मन्दिर का होना आवश्यक है ?

पं० जनार्दन पाण्डेय

पीठ के लिये मन्दिर होना आवश्यक नहीं है । पीठ का तो मतलब होता है आधार, जहां पर बैठ कर आराधना करने से सिद्धि मिलती है ।

डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी

मैंने वह ग्रन्थ देखा है, परन्तु उसकी भाषा ऐसी नही है कि उसे कोई प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सके । जिस मठाम्नाय ग्रन्थ की बात आप कर रहे हैं, उसे मैंने देखा है । बीच में कुछ शंकराचार्यों के झगड़े का प्रश्न आया था, तो उस समय वह ग्रन्थ देखने की आवश्यकता पड़ी थी, परन्तु वह जिस संस्कृत में लिखा गया है, वह संस्कृत अवश्य ही अत्यन्त बाद की संस्कृत है और उस ग्रन्थ की प्रामाणिकता पर मुझे पर्याप्त संदेह है । इसलिये उसके आधार पर कोई निर्णय लेना मेरी दृष्टि से उचित नहीं है ।

पं० जनार्दन पाण्डेय

मठाम्नाय ग्रन्थ की संस्कृत आधुनिक है, इसलिये उसको प्रामाणिक नही माना जा सकता, यह एक दूसरी बात है, परन्तु जो चार पीठ हैं, उन पीठों के लोग उस आधार पर पूजा करते है और करते आ रहे है, यह तो आप मानेंगे । मठाम्नाय की संस्कृत को आप न माने, आधुनिक माने, प्रामाणिक न माने, लेकिन उन पीठों में आद्य-शंकराचार्य के समय से आज तक जिस परम्परा से पूजा हो रही, जो उसके आचार्य माने जाते हैं, उपाचार्य माने जाते हैं, जो पीठ माने जाते है, जो देवी मानी जाती है, वह तो परम्परा चली आ रही है । उस पर आपको कोई सन्देह नही होना चाहिये ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

प्रश्न यह है कि मठाम्नाय तो अलग है । इस पर बड़ा विवाद है कि उत्तर में शंकराचार्य जी गये थे या नहीं । उनकी केदारनाथ की यात्रा और वहां पर शरीरत्याग की बात पर भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है । पन्द्रहवीं शताब्दी के बाद यह बात प्रचलित हुई कि उत्तर में भी एक मठ शंकराचार्य जी ने स्थापित किया था । दूसरी बात यह है कि यहां तो प्रत्येक चीज पर विवाद है कि जोशीमठ सही है कि नहीं ? मठाम्नाय आधुनिक है या उसमें प्राचीन तथ्य है ? दो प्रश्न व्रजवल्लभ द्विवेदी जी ने उठाये है— एक तो किसी पीठ की

भौगोलिक स्थिति और दूसरी शरीर में स्थिति । एक तो बताइये भूगोल में पीठ और दूसरा बताइये साधक के शरीर में पीठ कहां है ? तो ये दो प्रश्न है । कुछ उड्डियान को अफगानिस्तान में भी कहते है, उड़ीसा में भी कहते है और कुछ लोग कहते हैं कि कामरूप के बगल में है । महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री जी ने इस पर बड़ा विवाद किया है । उनके पुत्र विनयतोष भट्टाचार्य ने और कुछ लिखा है, तो यह तो विवादित विषय है, इसको हम कहां से तय कर सकते है । यह तो अपनी अपनी श्रद्धा के अनुसार मानने का विषय है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

जहां तक आन्तर पीठ की स्थिति है, वह तो स्पष्ट है । हम लोग इतना अन्तर्मुख हो गये कि बाहर का सब भूल गये । पूर्णगिरि के बारे में जो परिचय मिला, वह तो मैं समझता था ठीक है, किन्तु वहां शास्त्रों में उसकी देवी भगमालिनी बताई गई है । यह वहां नहीं है, तो यह फिर विवाद का विषय हो गया । अभी हम लोगों के बीच में खिस्ते जी आये है । प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते इन चारों पीठों की स्थिति पर यदि कुछ प्रकाश डाल सकें, तो अच्छा हो । हमारे बीच में पंडित दिव्यवज्र वज्राचार्य जी भी हैं, वह भी इस बारे में कुछ कह सकें, तो हमारे ज्ञान में वृद्धि होगी ।

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

यह पीठ जो है, यह प्रतीक है और यह मन्त्रात्मक है । यह स्थूल रूप में भी है, मूर्त देवता के रूप में भी यह हो सकता है । कालान्तर में साधकों ने अपने निकट प्रान्त में इन पीठों का प्रतिबिम्ब मान लिया हो, जो दूर से नहीं जा सकते थे, ऐसा कई जगह हुआ है । इसलिये उस देवता के भिन्न भिन्न कई मन्दिर मालूम पड़ते है । पूजा इस क्रम से है— कामरूप, पूर्णगिरि, जालन्धर और उड्डियान । इनका पीठन्यास आदि में विन्यास होता है । उनका सूक्ष्म रूप है, स्थूल है और बाह्य रूप भी है, तो इस पर विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं है ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

ओडियान के विषय में इस समय भ्रान्ति हम लोगों को भी है और लोगों को भी है । ओडियान और ओडिविष्टपम् यह दो अलग चीज हैं, दोनों को आज हमने एक कर दिया है, इसलिये मिश्रित हो गया है और इसीलिये वह भ्रान्ति हो गई है । ओडिविष्टपम् यह उड़ीसा है । ओडियान सिन्धुघाटी वाला जो हमने कहा था, प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने कहा—इन्द्रभूति का जो स्थान है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक ही जन्म में मुक्ति की चर्चा शैव तन्त्र हो, या शाक्त तन्त्र हो, या बौद्ध तन्त्र, सर्वत्र हुई है । पुराणों में भी जहां वाराणसी इत्यादि का प्रसंग आता है, उसी जन्म में मुक्ति की बात स्वीकार की गई है । शिव की उपासना करने से, शक्ति की उपासना करने से या भगवान् बुद्ध की उपासना करने से व्यक्ति

एक ही जन्म में मुक्त हो जाता है, यह सिद्धान्त गीता के, "अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्" इस सिद्धान्त से विपरीत पड़ता है । ठीक इसी प्रकार का सिद्धान्त महायान में भी है कि व्यक्ति अनेक जन्मों के उद्योग के बाद ही मुक्ति पा सकता है । मन्त्रयान में कहा गया है कि यहां ऐसी स्थिति नहीं है, यहाँ तो एक जन्म में, दो जन्म में, या तीन जन्म में ही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है । अवधूतसिद्ध का भक्तिस्तोत्र अब प्रकाशित हो चुका है, उसमें एक श्लोक है । वे कहते हैं कि आपके मत में तो अनेक जन्म हैं, आपको अवसर है कि अपने मत में रह करके आप कभी मुक्ति प्राप्त कर लीजिये । किन्तु हमारे यहां तो एक ही जन्म में मुक्ति मिल जाती है—"यत् तीर्थिकैर्जगति जन्मभिरप्रमेयैर्नासाद्यते पदमिति स्वमतेषु गीतम् । तच्चैकजन्मिकमिति ब्रुवता निगृह्य तेषां त्वया ननु कृतश्चरणः शिरस्सु ॥" (श्लो. ३०) । यह प्रतीकात्मक भी हो सकता है, किन्तु यह सिद्धान्त आज की भारत की सामाजिक स्थिति के लिये बहुत उपयोगी है । आज भारत में ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायी भी बसते हैं । वे एक ही जन्म मानते है, दूसरा जन्म मानते ही नहीं । उनके सामने परेशानी यह है कि वे तब तक कहां किस अवस्था में रहते है, जब तक कि उनके विषय में कोई अन्तिम निर्णय नहीं हो जाता । क्या आज की इस सामाजिक स्थिति के लिये यह तान्त्रिक सिद्धान्त कुछ उपयोगी हो सकता है ?

दूसरी बात यहां जो पाशाष्टक है, उसमें जाति को आग्रह बतलाया गया है । आजकल जाति-तोड़ो आन्दोलन बहुत होते हैं, पर मैं समझता हूँ कि जाति को तोड़ पाना मुश्किल है, किन्तु उसके साथ एक जो तन्त्र का सिद्धान्त है समता का, इस समतादृष्टि को हम ला सकते है । ऊँच-नीच की जो भावना हम लोगों में है, उसको हम कम कर सकते है । इसके लिये तन्त्रों में ही नहीं, पुराणो में भी प्रयत्न हुआ है । मुकुटसंहिता का एक श्लोक मैं आपको सुना दू—

ब्राह्मणेनं कृतं पापं शूद्रेण सुकृतं कृतम् ।
किमत्र कारणं जातिः पुण्यापुण्येषु शस्यते ॥

पुण्य और पाप के लिये, कोई उच्च वर्ण का व्यक्ति पुण्य ही करेगा और जिसको हम नीच वर्ण का कहते है, वह पाप ही करेगा, यह जरूरी नहीं है । कोई भी पाप और पुण्य कर सकता है । तो हम जो पुण्य करता है, जो पवित्र काम में लगा हुआ है, उसको वरीयता दे और जो निकृष्ट काम करता है, उसको वरीयता न दें । गुणों के आधार पर यदि हम श्रेष्ठता और कनिष्ठता का निर्णय करें, तो तन्त्रशास्त्र के इस सिद्धान्त की हम आज के परिप्रेक्ष्य में किस तरह स्थापना कर सकते हैं, इसके बारे में थोड़ा आप बतलावें ।

आचार्य नवंग समतेन

चूँकि यहां तन्त्रशास्त्र की अनेक परम्पराओं के विद्वान् हैं, इसलिये मै यह पूछना चाहता हूँ कि जैसे एक ही जन्म में सिद्धि की बात कही जाती है, यह

तो बौद्धों के अनुत्तर तन्त्र की विशेषता मानी जाती है कि हम कषाय युग के हैं, अर्थात् साठ-सत्तर, अस्सी वर्ष में ही बुद्धत्व की प्राप्ति की जा सकती है, लेकिन जो क्रियातन्त्र आदि में एक जन्म में सिद्धि की बात की जाती है, उसमें अपने जन्म को बढ़ा कर, सैकड़ों-सहस्रों वर्ष तक का करके उसीमें की जाती है, न कि कषाय युग के एक जन्म में। इस तरह की अनेक परम्पराएं हैं। इसके विषय में हम आपसे स्पष्टीकरण चाहते हैं।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

एक ही जन्म में मुक्ति की जो प्रक्रिया है, वह स्पष्ट है। वहां बतलाया गया है कि मानव का चित्त मल से आवृत है। मल की अलग-अलग परिभाषा हो सकती है। मणि जमीन में दबी पड़ी है तो उसकी कान्ति स्पष्ट नही रहती, जब वह साण पर चढ़ जाती है तो वह चमकने लगती है। ठीक इसी प्रकार साधना के बल से मल के हटने पर मन चमकने लगता है। उसको बौद्ध दर्शन में प्रभास्वर-चित्त नाम दिया गया है। यह प्रभास्वरचित्तता ही अन्य दर्शनों में जीवन्मुक्ति कही गई है। इस स्थिति में काश्मीर दर्शन के अनुसार केवल आणव मल बचा रहता है, मायीय और कार्म मल तब समाप्त हो जाते हैं। केवल आणव मल इसलिये रहता है कि जिन प्रारब्ध कर्मों से यह शरीर मिला, उन सबका जब तक भोग पूरा नहीं हो जायगा, तब तक शरीर रहेगा। अब इस भोग के पूरा होने में भी अनेक प्रसंग है। योगी अनेक शरीर धारण करके बहुत जल्दी भी उनका भोग कर सकता है या स्वाभाविक रूप से जितना हो उसका भोग कर सकता है। किन्तु अन्त में दोनों प्रकार के अज्ञान का नाश हो जाने पर साधक मुक्त हो जाता है। पौस्न और बौद्ध (बुद्धिगत) के भेद से द्विविध अज्ञान यहां वर्णित है। मन की प्रभास्वरता से बौद्ध (बुद्धिगत) अज्ञान तो नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्ध कर्मों के उपभोग के साथ पौस्न अज्ञान भी जब निवृत्त होगा, तो उसे प्रत्यभिज्ञा का लाभ होगा। यह सारी प्रक्रिया एक ही जन्म में पूरी हो जाती है। इसमें मुख्य उपादान चित्त की प्रभास्वरता है। यह अनुत्तर तन्त्र से भी प्राप्त हो सकती है और क्रियातन्त्र से भी। साधक के प्रयत्न के उत्कर्ष के साथ ही काल की अल्पता अथवा दीर्घता को जोड़ा जा सकता है।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

बौद्ध तन्त्रों की दृष्टि से यदि प्रो० येशे थपख्ये जी या प्रो० सेम्पा दोर्जे जी इस पर प्रकाश डालें, तो अच्छा रहता कि इसी जन्म में परम पद की प्राप्ति कैसे होती है। फिर भी मैं संक्षेप में अपने विचार रख रहा हूं। इसी जन्म में बुद्धत्व की प्राप्ति को तन्त्र की विशेषता बतलाया गया है। मैं तो यह देखता हूँ कि बुद्धत्व की प्राप्ति, युगनद्ध की ही प्राप्ति बौद्धों में है, बौद्धों में परम पद की प्राप्ति को युगनद्ध की प्राप्ति कहा गया है। युगनद्ध में रूपकाय का उपादान कारक केवल तन्त्र में ही वर्णित है। देवता की भावना करना या अपने शरीर को परिणत करके उसमें देवत्व की भावना करना तन्त्र की विशेषता है। पारमितानय में यह नहीं है। पारमितानय में रूपकाय की प्राप्ति के कारण

दान देना, शील पालन करना, संवर का पालन करना, क्षान्ति पारमिताओं का आचरण करना, ये सब बताये गये हैं । उसके द्वारा रूपकाय की प्राप्ति बहुत संभव नहीं है । संवर भी रूपकाय का उपादान कारक नहीं बनता, उसी प्रकार क्षान्ति, समाधि, ये सब भी उपादान कारक नहीं बन सकते । पारमितानय में तत्त्वों की भावना, चतुष्कोटि निष्प्रपंच की भावना, शून्यता की भावना तो है, जो धर्मकाय की प्राप्ति के उपादान कारक माने जाते हैं, लेकिन रूपकाय की प्राप्ति का उपादान कारक अन्य यानों में नहीं है । वह मात्र तन्त्रयान में है । तन्त्र में देवभावना ही उपादान कारक है । यद्यपि देवभावना क्रिया, चर्या और योग तन्त्रों में भी है, लेकिन उन सबमें नाड़ी और वायु के योग के द्वारा, कुंभक, रेचक और पूरक प्राणायाम के द्वारा विकल्पों को रोक कर, वायु को रोक कर प्रभास्वरता का प्रत्यक्षीकरण करने की साधनाविधि क्रिया-चर्या तन्त्रों में नहीं है, यह मात्र अनुत्तर योगतन्त्र में है । अनुत्तर योगतन्त्र की इस विशेषता के द्वारा, वायुयोग के द्वारा रूपकाय की परिनिष्पत्ति होती है, प्रभास्वर से रूपकाय का साक्षात्कार होता है । नाड़ी-वायु-योग द्वारा रूपकाय की उत्पत्ति प्रभास्वर से होती है । अनुत्तर तन्त्र की यह विशेषता है कि उसमें प्रदर्शित विधि से रूपकाय की प्राप्ति इसी जन्म में, इसी शरीर से हो सकती है । अरूपकाय में बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती । अरूप धातु का सत्त्व भी बोधि की प्राप्ति का अधिकारी नहीं है, क्योंकि वहां वायु नहीं है, नाड़ी नहीं है, वज्रदेह नहीं है । रूपधातु में भी यह संभव नहीं है, मात्र कामधातु में जिसके पास संपूर्ण वज्रदेह उपलब्ध है, उस वज्रदेह के द्वारा इसी शरीर में बुद्धत्व की प्राप्ति होना देवकाय की विशेषता है, अर्थात् तन्त्र की एक ही जन्म में मुक्ति की प्राप्ति का कारण नाड़ी, वायु, तिलक योग ही हैं, ऐसा लगता है ।

आचार्य ज्ञलछन नमडोल

एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने की बात पर चर्चा चल रही है । एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये पारमितायान के चरमभविक सत्त्व की स्थिति पर पहुंचे व्यक्ति की विशेषता आवश्यक है । तदनुसार अति-तीक्ष्ण बुद्धिवाला व्यक्ति ही एक जन्म में मन्त्रनय के आधार पर बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है । प्रश्न है कि यह अति-तीक्ष्ण बुद्धि किस कारण से होती है ? अति-तीक्ष्ण बुद्धि प्राप्त करने के लिये पूर्व जन्म में इसने जो कुछ किया है, उसकी स्थिति कैसी होनी चाहिये ? पारमितायान में जो चरमभविक स्थिति में पहुंच जाता है, उसकी जैसी स्थिति होनी चाहिये या उसके अलावा होनी चाहिये ? वैसे तो उसकी स्थिति अलावा होना चाहिये, क्योंकि तन्त्रशास्त्र की यह अपनी विशेषता है । वे भी इसी जन्म में बुद्धत्व प्राप्त कर सकने की जो बात कहते हैं, वह भी सब सामान्य आदमियों में नहीं हो सकती, वे भी केवल तीक्ष्ण बुद्धि वाले खास आदमियों में ही होने की बात कहते हैं । खास व्यक्ति किस तरह का होना चाहिये, उसमें क्या क्या गुण अपेक्षित हैं और किस किस गुण के न होने पर बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती ? इस विषय पर विचार करना बहुत ज़रूरी है । अगर तीक्ष्ण बुद्धि वाला खास हेतु के न रहने पर भी बुद्धत्व प्राप्त करता है, तब तो एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त करना सबके लिये आसान

हो जायगा । वैसा तो नहीं हो रहा है । इसलिये तीक्ष्ण बुद्धि का क्या कारण होना चाहिये, यह विद्वानों के विचार का विषय है ।

आचार्य पी० ओग्यन तेनजिन

कुछ बातें मुझे भी कहनी हैं । यहां बड़े-बड़े विद्वान् लोग बैठे हुए है । काशीवास से व्यक्ति मुक्त हो जाता है, इस बात पर मुझे कुछ पूछना है । अगर कोई आदमी पटना में रहता है, वहां वह साधना करता है, तो उसकी मुक्ति नहीं होगी, केवल वाराणसी में ही आकर साधना करने से मुक्ति होगी, क्या ऐसी बात है ? या किसी विशेष व्यक्ति की कोई विशेष स्थिति है, जो पटना में साधना करते-करते मरने के समय काशी आ जायगा । इस विषय में हमको विशेष रूप से जानना है ।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

इस सम्बन्ध में मैं अपना संक्षिप्त विचार रखना चाहता हूँ । जैसी यहां की परम्परा है, स्कन्दपुराण और काशीखण्ड इत्यादि के माध्यम से ऐसा हम लोगों को बताया जाता है । काशी से बाहर मरने वालों की मुक्ति नहीं होती, ऐसी कोई बात नहीं है । अन्यत्र भी मुक्ति हो सकती है, अपनी तपस्या से, कर्मफल के अनुसार साधना के बल से । लेकिन काशी में जीवमात्र का प्राण-त्याग होने पर उसकी स्वाभाविक मुक्ति होती है, पुनर्जन्म नहीं होता । उसके लिये तान्त्रिक आधार भी माना जाता है कि भगवान् शिव उस मरने वाले प्राणी के पास पहुंच कर उसको तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं । इससे उसको ज्ञान प्राप्त हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है । इसीलिये व्यवहार में देखा जाता है कि कहीं अन्यत्र मरने वाले प्राणी को भी यहां लाकर मणिकर्णिका में उसका शवदाह किया जाता है । ऐसा भी लोग मानते हैं कि मरे हुए प्राणी का यहां शवदाह करते समय जो कपालक्रिया की जाती है, तब तक उसमें प्राणवायु रहती है, वह जब तक नष्ट नहीं होती, निकलती नहीं, तब तक वह पूरा मरा हुआ नहीं माना जाता । इसलिये उसको भी मुक्ति का अधिकार है, ऐसी मान्यता है । जीव को अपने अनन्त जन्म के पुण्यों के फल से ही काशी में मृत्यु प्राप्त होती है, यह परम्परा चली आई है और व्यवहार में भी माना जाता है, शास्त्रों में भी इसका उपदेश मिलता है । कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि काशी में मरने के लिये लोग रहते हैं, लेकिन अन्त समय में काशी से बाहर चले जाते हैं, उनका सस्कार पूरा नहीं होता, उनका पुण्य-फल पर्याप्त नहीं होता । इसलिये उनको मुक्ति नहीं मिलती । अब उसमें एक बात और उठती है कि काशी में तो हर तरह के लोग मरते है, तो क्या वे सब मुक्त हो जाते हैं ? उसके लिये भी मान्यता यह है कि यहां भैरवी यातना मिलती है, अन्य शरीर प्राप्त नहीं होता, पुनर्जन्म नहीं होता, लेकिन भैरवी शरीर, भैरवी यातना से उनको अपने कर्मों का फल भोगना पड़ता है । इसके बाद वे मुक्त हो जाते है ।

डॉ0 किशोरनाथ झा

इस विद्वत्समिति से हमारी एक जिज्ञासा है कि जितने हमारे शास्त्र हैं, जितने दर्शन हैं, प्रायः मोक्ष के ही उपाय बताते है । अगर उस उपाय का अनुसरण किया जाय तो क्या उसको मुक्ति नहीं मिलेगी ? पुनर्जन्म की बात तो कर्मवाद पर आधारित है और तन्त्रशास्त्र के अनुग्रहवाद से प्रायः कर्मबन्धन छूट जाते है । इसलिये शाक्त साधना हो, वीरशैव साधना हो, वैष्णव साधना हो और उसी तरह से शास्त्रान्तर में भी जो विधि बताई गई है, उस विधि का पूर्णतः परिपालन करने पर इस जन्म में अवश्य मुक्ति होगी । तब तो "ज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगमः", "यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः" ये जितने हमारे शास्त्र हैं, वैदिक कर्मकाण्ड, तान्त्रिक कर्मकाण्ड हैं या ज्ञानोपदेश हैं, उपनिषद् हैं, सबके सब व्यर्थ हो जायगे, अगर उसका तात्पर्य इतना ही है । मैं समझता हूँ कि उसको समझकर उसका अनुसरण करे तो व्यक्ति अवश्य मुक्त होगा ।

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

इन सबमें एक स्तर है, तत्तत् शास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति एक एक स्तर से आगे बढ़ता है । न्यायशास्त्र के पढ़ने से बुद्धि विशद होगी, धर्मशास्त्र व्यक्ति के कर्म को नियन्त्रित करेगा, आदि आदि ।

डॉ0 किशोरनाथ झा

लेकिन हम यह बात कैसे मानेंगे, क्योंकि पहला सूत्र तो गौतम का है—"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाऽधिगमः" । यहाँ तत्त्वज्ञान को निःश्रेयस का कारण बताया गया है ।

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

तत्त्वज्ञान निःश्रेयस का कारण तो हो ही जायगा, लेकिन क्रमशः होगा । प्ररोचना है वह ।

डॉ0 किशोरनाथ झा

यहां भी अर्थवाद नहीं है, इसको कौन मानेगा ।

प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी

हमने मुक्ति को मृत्यु से जोड़ दिया है । मरने के बाद मुक्ति, परन्तु पौराणिक सदर्भ ऐसे हैं, जिनमें सशरीर अमृतत्व की प्राप्ति की चर्चा है । आप उस अमृतत्व को मुक्ति कहेंगे अथवा नहीं, शरीर से अमृतत्व की प्राप्ति होने के बाद मुक्ति का कोई स्थान रहेगा अथवा नहीं ? यह भी विचारना होगा । मैं स्पष्ट रूप में यह निवेदन करूँ कि नर्मदा खण्ड में अनेक इस प्रकार के आख्यान दिये गये है, जिनमें शरीर से व्यक्ति अमर हो जाता है । यदि शरीर हमारा अमर हो गया, तो हमारा दर्शन क्या होगा ? क्या हमारा दर्शन यही होगा जो निर्वाण का दर्शन है, या कहीं परलोक में जाने का दर्शन है ? क्या हम

बैठे समाधि लगाये रहेंगे ? या हम कुछ दूसरा कर्मकाण्ड करते रहेंगे ? या शिव और पार्वती के समान विचित्र आख्यानों के द्वारा अपना समय बितावेंगे । समय भी, कालचक्र भी वहां पर आपके साथ रहेगा अथवा नही ? विद्वानों से अनुरोध है कि उस तरफ भी ध्यान दें । यह अलग प्रश्न है ? आवश्यक है या अथवा नही ? यदि मुक्ति है तो उसका क्या स्वरूप है ?

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

जो देह में मुक्त हो गये है, वे काय में रहते हुए भी कालातीत रहते है, कालचक्र से याने काल से अतीत होते है । इसके उदाहरण वाराणसी के महात्मा. तैलंग स्वामी और महात्मा कीनाराम हैं, जो काय से संयुक्त होते हुए कालातीत भी थे ।

प्रो0 रेवाप्रसाद द्विवेदी

काल तो वहां रहेगा ही नहीं, मृत्यु और मुक्ति का सम्बन्ध भी यहां नहीं है । इसलिये वह मृत्युंजय है और वह पूर्ण रूप से मुक्त भी । एक बात और समझने की है । अभी बौद्ध विद्वानों ने मुक्ति के स्थान पर बुद्धत्व की प्राप्ति शब्द का प्रयोग किया है । हम समझते है कि यह केवल शब्दमात्र का अन्तर है, जिसे हम जीवन्मुक्त कहते है, उसी को कदाचित् आप बुद्धत्व कह रहे है ।

डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी

जीवन्मुक्त और बुद्धत्व में बहुत फरक है । इस प्रसंग में सर्वप्रथम हमें सर्वज्ञता पर विचार करना होगा । जहां तक बौद्धों की सर्वज्ञता है, तथागत बुद्ध (शाक्यमुनि) पहले हमारी तरह ही पृथग्जन थे, सामान्य व्यक्ति थे । शुद्धोदन के पुत्र गौतम भी पूर्व में सामान्य जन ही थे । इन्होंने कल्पों-कल्पों में पुण्य का संचय किया और उसके पश्चात् उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया । बुद्धत्व की प्राप्ति के पश्चात् वे दशबल आदि अनेक गुणों से युक्त हो जाते है और तब वे धर्मकाय, संभोगकाय, निर्माणकाय का स्वरूप बन जाते है । उसी प्रकार यदि अन्य सामान्य जन भी पुण्य का संचय कर क्लेशमुक्त हो बोधि का अर्जन करते हुए बोधिचित्त के उत्पाद के बाद दस पारमिताओं की साधना और तन्त्र की सभी साधना करेगा, तो वह अवश्य बोधि को प्राप्त करेगा, सर्वज्ञता को प्राप्त करेगा ।

प्रो0 येशे थपख्ये

अभी जो विद्वानो ने मुक्ति के बारे में कहा, उस पर मुझे भी कुछ कहना है । बौद्ध सिद्धान्त में, बौद्ध तन्त्रों में मुक्ति की बात नहीं आती, सर्वज्ञता की बात आती है । हमारा मन जब क्लेशों से, क्रोध-मोह आदि से शुद्ध हो जाता है, उसी को मुक्त कहा जाता है । साधक इसी शरीर में रहते हुए मुक्त हो सकता है । उसके मर जाने के बाद क्या होता है ? वह जन्म नहीं लेता । फिर भी एक शरीर चाहता है । वह जैसा हमारा शरीर है, वैसा नही है । उसको कहा जाता है मनःकाय । योगी जब साधारण लोगों के सामने

मनःकाय धारण करेगा, तो वह अन्य व्यक्तियों को उसी रूप में दिखाई देगा, उसको समाप्त करना भी उसके हाथ में रहेगा । साधारण मनुष्य को कर्म और क्लेशों के द्वारा जन्म लेना पड़ता है, इसको छोड़ना भी पड़ता है । अपने वश में कुछ नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है । ऐसी स्थिति मुक्त की नहीं है । वह मुक्त होने के बाद पूर्ण रूप से खत्म हो जाता है, ऐसा नहीं है । एक वैभाषिक बौद्ध मत के अनुसार मुक्त हो जाने के बाद व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से विनाश हो जाता है । न ज्ञान रह जाता है, न शरीर रह जाता है, न भेद रहता है, कुछ नहीं रहता । पांच स्कन्ध पूर्ण रूप से समाप्त हो जाते है । लेकिन महायान और मन्त्रयान वाले यह कहते है कि मुक्ति के बाद भी इनकी स्थिति रह जाती है, आत्मा रह जाता है, पांच स्कन्ध रह जाते हैं, लेकिन वे सास्रव, अर्थात् क्लेशों की वासना से उत्पन्न पांच स्कन्ध नहीं रह जाते । मुक्त होने के बाद करुणा से प्रेरित हो दूसरों के लिये लाभदायक काम करना उसका लक्ष्य रह जाता है । कल्याण करने के लिये सर्वज्ञता अपेक्षित है । सर्वज्ञता प्राप्त हो जाने के बाद एक क्षण भी ऐसा नही रहता कि वह लोककल्याण न करता हो ? जहां जहां उसका जो उपयोग होना चाहिये, वहां वहां वह पहुंच जाता है । एक जन्म में सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है, दो जन्म में भी, तीन जन्म में भी प्राप्त कर सकता है । एक जन्म में नहीं, तीन महीने में भी इसे प्राप्त कर सकता है । आयु बढ़ाने से भी वह हो सकता है ।

पहले बोधिचित्त हो, बोधिचित्त और करुणा से शून्यता का ज्ञान हो और शून्यता का ज्ञान होने के बाद तन्त्रमार्ग में प्रवेश कर चक्रों और उनमें स्थित सूक्ष्म नाडियों और वायुओं का ज्ञान प्राप्त कर वह तत्काल उनकी सहायता से अपनी वासनाओं का क्षय कर लेता है । मध्यमा में वायु का प्रवेश कराने के लिये ध्यान करता है कि वायु उसमें प्रविष्ट हो और उसके बाद उसमें स्थिर हो । यह जो माता-पिता से प्राप्त होता है, हम लोग उसे श्वेत और रक्त धातु कहते है । हम वृक्ष पैदा करते है, उसमें बीज बचा रह जाता है । उसी तरह से इस शरीर में भी होता है, उसी में सूक्ष्म वायु रहती है । उसमें वायु का पहले प्रवेश हो, फिर स्थिर हो, फिर विलीन हो जाय, विलीन हो जाने के बाद यह हो जाता है कि हम लोग मर जाते हैं । मरते समय इस जन्म की कल्पना सब भूल जाते हैं । सब भूल जाने के बाद जैसा आसमान शुद्ध हो, वैसा विचारशुद्ध ज्ञान केवल शुद्ध ही रहता है । उसमें कुछ प्रपंच नहीं रहता, केवल सूक्ष्म ज्ञान रहता है । वह मरने के समय सबमें होता है । वह मरने के पहले से जो वायु है, यहां स्थिर करके विलीन हो जाने से वह सब शून्यता का ज्ञान हो जाता है और सूक्ष्म ज्ञान से सूक्ष्म मन उत्पन्न हो जाता है, उसके द्वारा शून्यता का ज्ञान हम करते है । उसी रूप में वह देवता के रूप में अनुभव करता है । ऐसा करते करते सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म वायु दोनों भिन्न हो जाते है । सूक्ष्म वायु का वह साधक जैसा अभ्यास करता है, जिस इष्टदेव का हो, उसी के रूप में बन जाता है । अब यह सब देख रहा है, फिर विलीन हो जाता है । सब शून्यता ज्ञान में विलीन कर लेता है । फिर हम उसी रूप में प्रकाश में आ जाते हैं । वैसा करने के बाद यह हो जाता है कि सही

ढंग में सूक्ष्म वायु और सूक्ष्म मन अभिन्न हो जाते है । वे देवता के रूप बन जाते है । उन्हें पुराने शरीर से अलग भी निकाला जा सकता है ।

उस समय जो शून्यता का ज्ञान हो गया, सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा शून्यता का ज्ञान हो गया, उसी ज्ञान की देवता की दीप्ति के रूप में जो अभ्यास किया है, उसी सूक्ष्म वायु वाला वह बन गया है, तो इस शरीर से अलग होता है । उसको वह कहता है कि यह मायाकाय है, वज्रकाय है । वज्रशरीर भी उसे कहा जाता है । मतलब यह है कि सूक्ष्म ज्ञान और सूक्ष्म वायु दोनों अभिन्न हैं, वह जो जैसा पहले से अभ्यास किया है, वैसा ही बन गया है । मायाकाय प्राप्त हो गया है तो इसके बाद में और कुछ वही जो वायु विलीन हो जाना, शून्यता के ज्ञान प्राप्त करना, फिर अभ्यास हो जाना ये जो मण्डल या देवधातु के रूप में, प्रकाश हो जाना, फिर वह विलीन हो जाना, ऐसा करके अन्त में सभी ज्ञान जैसा हम जब तक रूप में सोचते हैं । रूप है, ज्ञान भी है, शरीर भी है, वही सर्वज्ञ हो जाता है । तब वह सर्वज्ञान प्राप्त हो जाता है । इसीलिये ऐसा नियम है कि बहुत सूक्ष्म बुद्धिवाला बहुत जल्दी से सर्वज्ञता प्राप्त कर सकता है । इसमें तन्त्र की अपनी विशेषता है । इसमें यह सब पहले जो कहा गया है, उसमें मण्डल की वासना करना कहाँ कहाँ विलीन होना है, ये सब ऐसा अवश्य ठीक ढंग से बोलने का शब्द यह जो तन्त्र वाला आता नहीं ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं अब अध्यक्ष महोदय से निवेदन करता हूं कि वे हमें अपने ज्ञान से लाभान्वित करने की कृपा करें ।

Prof. N. R. Bhatt

In this conference, we are meeting to discuss something on a common platform. If we have to discuss on a common platform, I think that an historical investigation is absolutely necessary. This kind of historical investigation has been started by Europeans. But it does not mean that we have to accept whatever they have told, because Europeans lack Indian wisdom. If Europeans come to India, work together with the people of wisdom in India, have discussion, make a historical study, then the historical study will be useful. In India, there existed many religions side by side, even before Vedic culture. The tantric religion existed side by side with Vedic religion-tantric and Vedic religions are absolutely different, they have no connection. That does not mean that tantric religion is anti-Vedic, or the tantric religion is not the essence of Vedas. Both are ways to approach the goal. Each religion has stressed the approach in its own way. Tantric or Vedic literature prescribes the real approach to the supreme. Why ? Because everybody wants eternal happiness. There are two kinds of happinesses; a limited happiness as could be obtained from the sacrifices such as *Jyotiṣṭoma*. You perform a sacrifice just for *svarga*, you live there for some time and come back. It is immediate happiness. Even in this world itself, you can have some happiness. That is why in tantric literature the *ṣaṭkarma* has entered.

Ṣaṭkarma is only one part, it is given to people, because some people are really in need of some happiness in this world. So they have to practise something. So provision is made in the tantras. *Ṣaṭkarma* is only a part that was necessary sometime for the people suffering in this world. Tantra is a means to remove the suffering of the people. So the temporary happiness is *ṣaṭkarma* . But it is not the main point at all. The main intention of the *śāstra* is to perform the *ṣaṭkarma* to attain the supreme goal as early as possible. This depends upon the *guru* and the *śiṣya*. The *śiṣya* should find a proper guru. Guru must accept the *śiṣya* and there should be an initiation. Without initiation this does not happen. Normally the way of *dīkṣā* is explained in *maṇḍala, mantra* etc. But it is not necessary. The *guru* sees whether the *śiṣya* is fit and gives a *dīkṣā*. He sees the *śiṣya* and the latter obtains *mokṣa* immediately. Dīkṣā is something true and can lead a disciple to the supreme bliss.

Now about the *varṇa* and Vedas. In early age, there was no *varṇa* system at all. The *varṇa* system entered the Vedic culture later at the time of Manu. And it is not a *jāti*, it is *varṇa*. If a person was treated as a scholar, he was a Brahmin. A son of a Brahmin becomes a Brahmin. Like this, a *paramparā* came into existence. The *varṇa* became a *jāti*. But in tantra system nobody prescribes any *varṇa* or *jāti*. In south India today there are no four castes at all. There are only two castes, Brāhmaṇas and Śūdras. Temple is the centre of tantric worship. Archaeologists think that temples existed from the 7th cent. A.D. You are aware that a *liṅga* existing 3000 years ago was excavated in Srī Lanka. So with the archaeology or inscriptions you cannot decide the things here. What is the history of India after all ? Purāṇas are the history of India. You get all these things in Purāṇas. What are Purāṇas ? They are just stories of different times in India. Collect them together. So historical investigations will help. Tantras existed in India since long. The *ācāryas* were different and the methods were different, but there was only one supreme principle. It may be called by any name. But it should not be necessary that there should be only one way. You can't stop a man from thinking. So, each man finds his own way. As all rivers go to the ocean, we have so many cults in India, so many different paths, and each of them is true. Each path is true, each tantra is true, and whatever is prescribed in that tantra is true. After Śaṅkara's time, tantra also has become Vedic. So, now in the 20th century, a Tāntrika is a Vaidika. Because if he is a Vaidika, he thinks that tantra is the essence of Veda, though he can't find anything about tantra in Vedas. And about the existence of temples even before, you can see in Kauṭilya's *Arthaśāstra*. The text tells how to build a city and how many temples will there be in each plot, Śiva in this part, Viṣṇu in this part, Buddha in this part. In Veda itself, there are historical evidences of the existence of tantra. And even the Gṛhya Sūtras— though they did not describe temple-worship— do accept it. In *vivāha* cermony, the newly married couple goes home. When they go near a temple, they should go by *pradakṣiṇā*. The Vedic people knew there were systems, they knew about the festivals etc., but they did not perform it. They had no interest. This is another path. Tantras and Vedas are definitely two cultures and today in the 20th century they have become one. But even a Vaidika can't become a Tāntrika without an initiation. A Vaidika undergoes *upanayana*; but when he becomes a Tāntrika, he must have a Tāntrika *Dīkṣā*. Even in Pāñcarātra,

Vaidikas perform worship in a Vaiṣṇava temple. But they have a special initiation to do the worship in the temples. So the tantric religion is something separate from the Vedic religion. In the religious sects of ancient times we see Śiva worship, Śakti worship, serpent worship etc. And you know historically, the Buddha came later and also the Jainas. They were also Hindus, I mean *bhāratīyas.* They have their own different cults.

But these cults of tree worship, serpent worship and Śakti worship have been grouped into the Śaiva religion, and today in Śaiva temples, you have a Śakti, the Goddess of the temple, you have trees, *sthala vṛkṣa,* you have a serpent which is an ornament. In a Viṣṇu temple, it is a part of *śayana* for Viṣṇu and for Śiva it is an ornament. So the tree worship and the serpent worship became the means of the worship of Śiva and Śakti. Śakti does every thing. Śiva is *niṣkriya*, is supereme, beyond conception. It is Śakti which does the creation etc. Somebody has said about *mukti.* The conception of *mukti* in Buddhism is different. But what is *mukti* really ? Mukti means the release of all the sufferings. So, by whatever name you call it, it is *mukti*. An initiation is given in the Śaiva system also. The initiation is given for two things, *bhoga* and *mokṣa.* There *bhoga* does not mean having happiness in this world. There are 225 worlds. Each person goes to some world and enjoys for sometime and after enjoying, he can go to *mokṣa. Mokṣa* is also of different kinds. One would say that one can be united with the supreme, another person would say that one would stay with the supreme side by side; another person would say that one stays near the god like a servent and worships him. Another person would say that there does not exist anything. Any way, the main essence is that there are no more sufferings. This is most important. This is what we have to investigate. This is historical approach. There are hundreds of mss. of each text. We have to find them out, make a critical edition, find the truth, the real path, and the correct procedures, so that the *śiṣya* will follow the correct procedure. He will follow whatever is told in the text and by *guru,* and obtain the bliss which is the real aim of each and every person born in this world.

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

अध्यक्ष महोदय के इस सारगर्भित भाषण से हम लोग बहुत लाभान्वित हुए है । यहां उपस्थित विद्वानों ने अपने जो विचार प्रकट किये, उनसे भी हमें लाभ मिला है । मै यहां उपस्थित सभी विद्वानों के और विशेष कर अध्यक्ष महोदय के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ । इस सत्र के लिये निर्धारित विषय अब समाप्त हो रहा है । तीन बजे हमलोग फिर यहां उपस्थित होंगे और तन्त्र के सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करेंगे ।

●

सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

हमने प्रातःकाल तन्त्रशास्त्र के प्रायोगिक, ऐतिहासिक और सामाजिक पक्ष पर विचार किया है । अब हम उसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करने जा रहे हैं । कार्यशाला का मुख्य प्रयोजन सामान्यतया हमारी अपनी समस्याओं का समाधान करना है, किन्तु इसके साथ इसका जो सामाजिक पक्ष जुड़ा हुआ है, जो सांस्कृतिक पक्ष जुड़ा हुआ है और जो दार्शनिक पक्ष है, उसका आज के समाज के लिये भी कोई उपयोग हो सकता है या नहीं ? इस पर भी साथ में यदि विचार करें, तो इस कार्यशाला की अधिक सार्थकता रहेगी । प्रारम्भ में भूमिका के रूप में आमन्त्रण के साथ भेजे गये पत्रक में इस विषय में कुछ लिखा गया है । इस विषय के स्पष्टीकरण के लिये यहां कुछ और निवेदन करना चाहूंगा ।

श्रद्धेय कविराज जी का यह निश्चित मत था कि परवर्ती अद्वैतवादी तान्त्रिक दर्शन में शून्यतावादी बौद्ध-दर्शन और मायावादी शांकर-दर्शन की त्रुटियों का परिमार्जन कर भारतीय दर्शन को अलीकवाद से हटाकर यथार्थवाद के उच्च शिखर तक पहुंचाया गया था । महार्थमंजरीकार महेश्वरानन्द ने अपने ही ग्रन्थ की स्वोपज्ञ परिमल टीका में इस विषय को अनेक मनोरंजक युक्तियों के सहारे प्रतिष्ठित किया है । विगत ढाई हज़ार वर्षों में विकसित यह यथार्थवादी साहित्य क्यों भारतीय विद्वानों की दृष्टि में उपेक्षित हो गया, जिसके बिना हम न तो बौद्ध धर्म की महायान शाखा के और न जैन तथा पौराणिक धर्म के विकास का ही यथार्थ स्वरूप जान सकते है । बौद्ध और जैन धर्म के स्वरूप को परिवर्तित करने में तथा पौराणिक धर्म की प्रतिष्ठा मे आगमिक साहित्य के अवदान को समझने का प्रयास अभी तक नहीं किया गया है । इतना ही नहीं, पूरे देश में, उत्तर और दक्षिण में विकसित भक्ति साहित्य का, सिद्धों और सन्तों के साहित्य का तथा सूफी सन्तों के विचारों का भी अध्ययन आज वेदान्त दर्शन की विभिन्न शाखाओं की पृष्ठभूमि में तो किया जाता है, किन्तु अद्वैत वेदान्त को छोड़कर अन्य सभी आचार्यों का वेदान्ती दर्शन इन्हीं शैवों और वैष्णव आगमों से प्रभावित था । इस विषय पर सर्वाधिक प्रकाश डालने वाले प्रथम व्यक्ति श्रद्धेय कविराज जी थे । उन्होंने अपने अनेक निबन्धों और प्रवचनों में विस्तार से समझाया है कि सूफी मत किस प्रकार अद्वैतवादी शांकर दर्शन की अपेक्षा शैव प्रत्यभिज्ञा दर्शन एवं अद्वैतवादी शाक्त दर्शन से अधिक प्रभावित है । वज्रयान, सहजयान और शाक्त दर्शन की विभिन्न धाराओं की अनुस्यूतता पर भी उन्होंने पर्याप्त प्रकाश डाला था । आज उनकी इन अवधारणाओं की पृष्ठभूमि में पूरे भारतीय साहित्य के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है ।

आगमिक तथा तान्त्रिक वाङ्मय का सांस्कृतिक एवं दार्शनिक विवेचन ही कविराज जी को प्रिय था । कर्मकाण्ड की चर्चा में उन्होंने कभी रस नहीं लिया । जहां तक योग का प्रश्न है, व्यासभाष्य, विज्ञानभैरव और

विरूपाक्षपंचाशिका ये तीनों ग्रन्थ उनको अत्यन्त प्रिय थे । उन्होंने इन ग्रन्थों को शताधिक शिष्यों को बड़े ही मनोयोगपूर्वक उनकी अथाह गंभीरता को उद्भावित करते हुए पढ़ाया, था । उनका अखण्ड महायोग इसी मन्थन की चरम परिणति थी । उनका यह निश्चित मत था कि यह अखण्ड महायोग ही विश्व में शान्ति और सौहार्द की प्रतिष्ठा कर सकेगा, पूरे विश्व में अखण्ड एकता स्थापित कर सकेगा, मैं इस प्रसंग में अरविन्द के दर्शन की भी चर्चा करना चाहता हूँ, जिन्होंने मनुष्य के मन के विकास की कल्पना की है कि यह मनुष्यता से ऊपर उठकर देवभाव तक पहुंचेगा । इस मार्ग की यात्रा मैं समझता हूँ तान्त्रिक दर्शन और तान्त्रिक संस्कृति की सहायता से ही पूरी हो सकती है ।

इन सब विषयों पर शायद हम इस स्वल्प समय में विचार न कर सकें, जो कि विषयोपस्थापन में बतलाये गये है, अतः चित्त की प्रभास्वरता पर ही अभी हम विचार करें तो उत्तम होगा । इस विषय की चर्चा प्रायः सभी तन्त्रों में मिलती है । आदरणीय भट्ट जी से मुझे ज्ञात हुआ है कि दक्षिण भारत में 'शिवज्ञानबोधम्' के आधार पर विकसित हुआ शैव दर्शन अद्वैतवादी था । वीरशैव मत का देवीकालोत्तर नामक ग्रन्थ भी इस विषय में सजग है । दार्शनिकों का प्रायः जनता से संपर्क नहीं रहता, इनका उपयोग प्रधानतः शास्त्रार्थ के लिये किया जाता है, किन्तु धर्माचार्यों को इसकी चिन्ता थी, अतः धर्म से सम्बद्ध दर्शन का निरन्तर विकास होता रहा, हमको दर्शन के इसी स्वरूप पर विचार करना चाहिये ।

प्रसंगवश एक बात मैं हिन्दी के विद्वानों के लिये कहना चाहता हूँ । पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, पं० रामचन्द्र शुक्ल, पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र आदि भारतीयता से संबद्ध विद्वानों की वहां की परम्परा समाप्त हो चुकी है । आगे के अधिकांश हिन्दी विद्वान् कुछ छलावे में हैं, ऐसा मुझे लगता है । उनमें से अधिकांश ने भारतीयता से नाता तोड़ लिया है और वे सब पाश्चात्य प्रभाव में डूब चुके हैं । वह शोचनीय स्थिति है ।

मैं मालिनीविजय के एक प्रसंग को यहां उपस्थित करने के बाद विद्वानों से निवेदन करूँगा कि वे इसके सांस्कृतिक और दार्शनिक पक्ष पर विचार करें । मालिनीविजय प्रत्यभिज्ञा दर्शन के तीन ग्रन्थों में प्रमुख है । यहां ये श्लोक हैं—

नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिर्न वर्णादिविचारणम् ।
न द्वैतं नापि चाद्वैतं लिङ्गपूजादिकं न च ॥

न चापि तत्परित्यागो निष्परिग्रहतापि वा ।
सपरिग्रहता वापि जटाभस्मादिसंग्रहः ॥

तत्त्यागो न व्रतादीनां चरणाचरणं च यत् ।
क्षेत्रादिसंप्रवेशश्च समयादिप्रपालनम् ॥

परस्वरूपलिङ्गादि नामगोत्रादिकं च यत् ।
नास्मिन् विधीयते किञ्चिन्न चापि प्रतिषिद्ध्यते ॥

विहितं सर्वमेवात्र प्रतिषिद्धमथापि वा ।
किन्त्वेतदत्र देवेशि नियमेन विधीयते ॥

तत्त्वे चेतः स्थिरीकार्यं सुप्रयत्नेन योगिना ।
तच्च यस्य यथैव स्यात् स तथैव समाचरेत् ॥

तत्त्वे निश्चलचित्तस्तु भुञ्जानो विषयानपि ।
न संस्पृशेत दोषैः स पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

विषापहारिमन्त्रादिसन्नद्धो भक्षयन्नपि ।
विषं न मुह्यते तेन तद्वद् योगी महामतिः ॥

सहजयोग का मूल मन्त्र यहां छिपा है । आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण में भी ठीक उसी प्रकार के श्लोक मिलते है, इसी तरह के विचार वीरशैव मत के ग्रन्थ देवीकालोत्तर में भी मिलते है और विज्ञानभैरव के अन्त में यही सब बताया गया है । इस पृष्ठभूमि में अब मैं विद्वानों से अपने अपने विचार प्रस्तुत करने का निवेदन करता हूं । प्रो0 युगेश्वर जी से मैं सर्वप्रथम प्रार्थना करता हूं कि वे इसके सांस्कृतिक पक्ष पर अपने विचार प्रस्तुत करें ।

प्रो0 युगेश्वर

मेरा यह दुर्भाग्य है कि मैं इस कार्यशाला में छठे दिन आया हूं । इसलिये मैं इस कार्यशाला में प्रस्तुत सभी विचारों को सुन न सका । बिना सुने कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी । फिर भी अज्ञानियों को बोलने की आदत होती है । इसी दृष्टि से मैं कुछ कहना चाहूंगा । पहली बात जो मुझे सबेरे से अब तक ज्ञात हुई, वह यह है कि आपका सारा चिन्तन करीब-करीब एक हजार वर्ष पुराना है । एक हजार वर्षो में भारतीय भाषाओं में जो विचार हुए हैं, उनको एक एक कर हम देखें तो आधुनिक भारतीय आर्य भाषा या द्रविड भाषा को करीब करीब छोड़ दिया गया है, ऐसा मुझे लगा । मै विशेष कर हिन्दी का विद्यार्थी हूँ । इसलिये मैं इस बात को कहना चाहूंगा कि सबेरे कही भी किसी हिन्दी लेखक की चर्चा नहीं हुई । पिछले हजार वर्षो में विकसित हिन्दी, कर्नाटकी, गुजराती, बंगाली, असमिया आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं या द्रविड भाषाओं में विपुल साहित्य है, जिनमें इन बातों पर विचार किया गया है । मै दो-एक उदाहरण देना चाहूंगा । सबेरे मुक्ति के बारे में बात उठी थी । हम लोगों का हिन्दी के माध्यम से संस्कार बना है । वह संस्कार यह बना है कि तुलसीदास जी बहुत स्पष्ट ढंग से कहते हैं—
"सगुणोपासक मुक्ति न लेहीं । तिनगति निजराम भगकहँ देही ॥"

इतना ही नहीं, तुलसीदास जी ने एक जगह गजब ही किया है । राम-रावण युद्ध समाप्त होता है । दोनों तरफ की सेनाएं मरी पड़ी हैं । इन्द्र आते हैं । राम इन्द्र से कहते है— तुम इनको जिला दो । इन्द्र ने अमृत छिड़का । अमृत छिड़कने के बाद एक विचित्र घटना हो गयी । अमृत का प्रभाव एक ओर हुआ, दूसरी ओर नहीं हुआ—"सुधा बरसि गई दो दल माही ।

जिये भालु कपि निशिचर नाही ॥" भालु-कपि तो जी गये । भाई, समझ में तो नहीं आता । बहरहाल कपि क्यों जी गये और क्यों नहीं निशिचर जी गये ? तो तुलसीदास जी उसके बाद यह कहते है कि उन लोगों को मोक्ष मिल गया, याने राक्षसों को तो मोक्ष मिल गया और जो राम की सेना थी भालु-कपि की, उसको मोक्ष नही मिला, वह रह गये । मुझे लगा कि यहां तुलसीदास जी कहते है कि मोक्ष किसको मिलता है ? मोक्ष का अधिकारी कौन है ? और दूसरे लोग जो राम के साथ है, वे मोक्ष के अधिकारी नहीं है । तब मुझे तुलसीदास जी की दूसरी बात याद आती है । वे कहते है—"धरम न अरथ न काम रुचि, गति न चहौ निर्वाण ॥" निर्वाण बौद्ध-परम्परा में ज्यादा है दूसरी वैदिक परम्परा मे भी है । "गति न चहौ निर्वाण । जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन ।।" याने हमें ओर कुछ नही चाहिये, हमें मोक्ष बिलकुल नहीं चाहिये । फिर हमने यह देखा कि यह जो सन्त-परम्परा है, उसमें भी कबीरदास जी बहुत स्पष्ट कहतें है—"राम मोहि तारि कहां ले जइयो" । हे राम मुझे मुक्त करके कहां ले जाओगे, याने मेरे लिये मुक्ति कोई जरूरी नहीं है । हमने देखा कि भागवत में भी कहा जाता है कि मुक्ति तो पिशाचिनी है ।

पिशाच शब्द की सबेरे चर्चा आई । उसे भूतभाषा बताया गया । पैशाची प्राकृत हमारे यहां प्रसिद्ध है । उसका दूसरा नाम भूत-पैशाची प्राकृत भी है । कही उस अर्थ में तो उन्होंने नहीं कहा था । पर चूँकि फारसी में कहा, फारसी से अंग्रेजी मे आया, अंग्रेजी से आधुनिक पण्डितों के यहां आया । इतने जाने-आने में कितना परिवर्तन हो गया । मै केवल यह कह रहा था कि इस तरह के विचार मुक्ति के बारे में हुए है ।

दूसरी बात मै यह कहना चाहूंगा, जैसा कि द्विवेदी जी ने इसके सामाजिक पक्ष की बात उठाई । गोरखनाथ जी की हिन्दी में प्रायः उपेक्षा हुई है, हम हिन्दी वाले यह समझते है कि सामाजिक एकता या धर्मो की एकता कबीरदास जी ने शुरू की । मै इससे भिन्न राय का हूँ । मै यह मानता हूँ कि कबीरदास जी ने कोई एकता शुरू ही नहीं की । कबीरदास जी एक ऐसे भक्त हैं, जो किसी को छोड़ते नहीं, किसी एक जगह टिकने को वे तैयार नहीं है । जहा सगुण की बात आयी तो वहां से हट जाते है खट से । गोरखनाथ जी का एक वाक्य याद करता हूँ । गोरखनाथ जी बहुत अच्छी बात कहते हैं । "उत्पति हिन्दू, जोगी जरना, अकल परी मुसलमानी" । मै उत्पत्ति से हिन्दू हूँ, साधना से योगी हूँ और मुझ पर जो प्रभाव पड़ा है विद्या का, वह मुसलमानी का पड़ा है । इस प्रकार से उन्होंने एकता करने की कोशिश की । अब मैं इस एकता के सूत्र को ढूंढ़ने की जरूरत समझता हूँ कि आपकी कार्यशाला इसमें योग देगी ।

मै एक बात और यह कहना चाहता हूँ कि यह जो तन्त्रशास्त्र है, जैसा मैंने समझा, यह मूलतः कर्मकाण्ड है । अब मै बिलकुल व्यावहारिक स्तर पर बात करना चाहता हूँ । इसका दार्शनिक पक्ष अलग है, लेकिन अभी मैंने जो प्रदर्शनी देखी, यह कर्मकाण्ड और शायद भयानक कर्मकाण्ड है । इतना बड़ा

कर्मकाण्ड है कि इससे उलझ कर, मुझे क्षमा किया जाय, आदमी जैसे उसमें मर जायगा तो नहीं कहूंगा, डूब जायगा, फिर निकलना बड़ा मुश्किल है । इस देश का सारा जो झगड़ा है, वह झगड़ा कर्मकाण्ड का है । दार्शनिक दृष्टि से, वैचारिक दृष्टि से और साधना के उच्च स्तर पर मैं समझता हूँ कि कोई मतभेद इस दुनियां में कहीं नही है, उनको राम देखें, चाहे रहीम देखें, चाहे अल्लाह कहें, चाहे कुछ भी कहिये, लेकिन दार्शनिक उच्चता की दृष्टि से, साधना की दृष्टि से जहां पहुचना है, जिस बिन्दु पर, उस बिन्दु पर कोई मतभेद नहीं है । सारे जो मतभेद हैं, वे ये है कि जब एक आदमी कान में उंगली डाल के चिल्ला रहा है तो दूसरा चाहता है कि वह न सुने और दूसरा जब घण्टा बजाने लगता है, तो घण्टा बजाना उसकी, मन्दिर की मजबूरियां है । शंख बजाना और कान मे उँगली डाल करके चिल्लाना उसकी मजबूरी है । संपूर्ण मध्यकालीन साहित्य में हिन्दी को देखें और विशेष करके कबीरदास जी को, वे इन दोनों चीजों को नापसंद करते है—"कान में मुल्ला बाग दे क्या बहिरा भया खुदाई "। मै आपसे यह निवेदन करना चाहता था कि जो तन्त्रसाहित्य है, क्या वह मूलतः एकता स्थापित कर पावेगा, क्योंकि यह कर्मकाण्ड है और इसको छेड़ना बड़ा कठिन काम है । इसलिये आप तन्त्रसाहित्य का जो दार्शनिक पक्ष है, उस पर विचार करें ।

भाई, पांच तन्त्रों को तो आपने मिला दिया, लेकिन ये पांचों तन्त्र करीब करीब एक ही सोर्स के हैं, इन तन्त्रों के माता-पिता एक है । भारतीय मूल से निकलने वाले सभी धर्म एक बात में विश्वास करते है कि मनुष्य पहले भी था और आगे भी रहेगा । मतलब सभी पुनर्जन्म में विश्वास करते है, सभी के सभी चाहे वह बौद्ध हों, चाहे वह जैन हों, चाहे वह वैदिक हों, चाहे शैव हों, शाक्त हों, जो भी हो, सब एक बात में विश्वास करते है और देवता भी थोड़ा बहुत मिला कर, रंग बदल बदल कर, थोड़ा कहीं नाक बदल दिया, कहीं कान बदल दिया, कहीं उम्र बदल दिया, करीब करीब सब एक से है, लेकिन जो धर्म बाहर से आये है, उनकी दो प्रकार की विशेषताएं हैं— एक धर्म है जो हलकी दवा देकर, होमियोपैथिक दवा देकर धर्मान्तरण करता है और दूसरा तलवार के बल पर धर्म-परिवर्तन करता है । यहां कठिनाई यह होती है और सब जगह मै यही देखता हूँ कि कभी ये सब लोग सामने नहीं रहते । जितने विचार होते हैं, चाहे वह राजनीतिक विचार हो, चाहे सांस्कृतिक विचार हो, चाहे धार्मिक विचार, सबकी यही स्थिति है । मैंने द्विवेदी जी से कहा था कि जब तक वे उपस्थित नहीं होते, वे दृढ़तापूर्वक अपना पक्ष नहीं कहते और आपके पक्ष को नहीं सुनते, तब तक हमारा आपका (उनका और आपका) यह समन्वय होना बड़ा कठिन है । मूल समस्याएं इस समय भारत देश की दो हैं— एक तो बाहर से आये धर्मो के आक्रामक रूप को कैसे झेला जाय, क्योंकि बड़ा आक्रामक रूप है दोनों का । जैसा कि मैंने आपसे कहा एक होमियोपैथिक गोली, मीठी गोली खिलाता है बड़े अच्छे ढंग से । चार राज्य तो मोटे तौर पर बन गये इस देश में पश्चिमी धर्मो के, जो छोटे-छोटे राज्य पांच लाख, सात लाख, आठ लाख आबादी वाले हैं । दूसरा जो बहुत आक्रामक धर्म है,

उसके बड़े दो राज्य बन गये । वे खतरनाक राज्य भी हैं और आने वाले दिनों में उसकी संभावनाएं और बढ़ेगी और भी राज्य बनेंगे । वैदिक धर्म से या भारतीय धर्म से विकसित धर्म भी करीब करीब आक्रामक होते जा रहे हैं, तो इन आक्रामकताओं से किस तरह से आप इन तन्त्रों के माध्यम से निपट सकेंगे ? यह हमारे सामने बहुत बड़ी समस्या है ।

अभी द्विवेदी जी ने एक बात हिन्दी के बारे में कही थी, उस पर मैं एक निवेदन करना चाहूंगा कि दो-तीन नाम लिये उन्होंने, जिनके बाद हिन्दी में भारतीयता की परम्परा प्रायः खत्म हो गयी, यह बात बिल्कुल निन्यानवे प्रतिशत सच है । सबसे बड़ी कठिनाई क्या हो रही है कि भारतीय विश्वविद्यालयों का पढ़ा-लिखा आदमी जो पश्चिम है, उसी को भारतीय मान रहा है और पश्चिम किस ढंग से उनके मन में भारतीय बनकर घुसा हुआ है, इसकी आप कल्पना नहीं कर सकते । वह विचारा समझता ही नहीं कि वह क्या कह रहा है ? वह कह रहा है पश्चिम की, वह सब कुछ पश्चिम की बात करता है ।

अभी मैं अयोध्या गया था । वहां एक विषय रखा गया था— रामकथा और भारतीय संस्कृति । एक भाजपा के व्यक्ति उसके संयोजक थे । मैंने पूछा कि महाराज जी जब मैं बनारस से चलने लगा तो तुलसीदास जी साक्षात् खड़े हो गये, कहने लगे कहां चले बच्चा । हमने कहा— अयोध्या । कहने लगे कि किस बात पर विचार होगा ? मैंने कहा भारतीय संस्कृति पर । उन्होंने कहा पगला— कही हमने संस्कृति शब्द का प्रयोग किया है क्या ? तुमको भारतीय साहित्य में कहीं संस्कृति शब्द मिला है क्या ? अब आप देखिये, आप मानियेगा इस बात को कि संस्कृति शब्द भारतीय साहित्य में नही है, यह एकदम पश्चिम का शब्द है, जो कल्चर का अनुवाद होकर के आया है । एक उदाहरण मैंने आपको दिया । हम लोग तो धर्म पर विचार करते थे, हम लोग तो आचार पर विचार करते थे । आचार और विचार हमारे यहां दो ही शब्द थे । इसके साथ धर्म था । अब हमने धर्म को छोड़ा, भक्ति छोड़ी, योग को छोड़ा, उपासना को छोड़ा, सब छोड़-छाड़ कर केवल संस्कृति पर आ टिके हैं । उसी पर हम चल रहे हैं और इतना मोटा मोटा वेतन ले रहे हैं । भारतीय विश्वविद्यालय का अध्यापक विचारा अगर इसको छोड़ दे, तो खायेगा क्या ? उसकी समस्या यह भी है और उसमें समझदारी का अभाव भी हो गया है ।

द्विवेदी जी से मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि दो एक नाम और हिन्दी में आप लेंगे । उनमें पश्चिम कितनी बुरी तरह से घुस गया था । एक नाम मैं आपको बताना चाहता हूँ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का । वे हिन्दी के अब तक के सबसे बड़े आलोचक माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भारतीय परम्परा का आलोचक माना जाता है । मैं बहुत नम्रतापूर्वक कहना चाहता हूँ कि पश्चिम को भारतीय शब्दावली में जितने अच्छे ढंग से आचार्य जी ने व्यक्त किया, उतना किसी ने नहीं किया । मैं कभी कभी मजाक नहीं, गंभीरतापूर्वक इस बात को कहता हूँ और कहते समय मैं खुद डरता रहता हूँ

कि पता नहीं पश्चिम कहां से हमारे ऊपर हावी हो गया । इस बात का बराबर ध्यान रखिये कि किसी भी सेमीनार या किसी भी कार्यशाला में अदृश्य रूप से होमियोपैथिक गोली की तरह वह घुसा हुआ है और हमको आज तक इस बात की चिन्ता नहीं है कि हम पश्चिम से कितने आक्रान्त हैं । मेरा निवेदन यही है, अब आप जो करना चाहें करें ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं यह निवेदन करना चाहता हूं कि तन्त्रशास्त्र की शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि शाखाओं के संस्कृत ग्रन्थों में जो चिन्तन था, वही सारी भारतीय भाषाओं में विविध रूपों में आया । अब यदि हिन्दी के विद्वानों का संस्कृत से सम्पर्क होता, तो वे यह बता सकते थे कि इसमें कितना तो दसवीं शताब्दी तक का था और कितना बाद में विकसित हुआ ? दोनों को जोड़ने वाली कड़ी के अभाव में हम कह देते है कि कबीरदास जी ने जो कुछ कहा, वह उनकी अपनी प्रतिभा है, किन्तु अभी मैंने आपको कुछ श्लोक सुनाये हैं । इसी प्रकार के वचन तन्त्रशास्त्र की प्रत्येक शाखा में आपको मिल जायंगे । विज्ञानभैरव में कहा गया है कि साकार उपासना मातृमोदक है । कड़वी दवा माँ खिलाती है, तो बच्चे को लड्डू देती है, जिससे कि वह दवा खा ले । इसी तरह से निराकार तक पहुंचने के लिये साकार उपासना है । होना यह चाहिये था कि प्रत्येक क्षेत्र में उनकी कड़ी देखी जाय । सिद्धों के ऊपर हिन्दुओं का प्रभाव था या बौद्धों का, यह बड़ा रोचक विषय है हिन्दी वालों का । पर सिद्धों के लिये हम आजकल प्रचलित धर्मनिरपेक्ष शब्द का प्रयोग कर सकते है, यद्यपि मैं इस शब्द के पक्ष में नहीं हूं । आज के अर्थ में धर्मनिरपेक्ष होना तो भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं है । चार पुरुषार्थों में धर्म और मोक्ष प्रधान हैं । आज इनको हमने छोड़ दिया है तथा अनियन्त्रित अर्थ और काम के लिये अन्धी दौड़ लगा दी है ।

अस्तु आपने अभी तुलसीदास जी का मुक्ति विषयक विचार बतलाया । उस विचार के मूल में भगवान् बुद्ध हैं, जिन्होंने प्राप्त हुई बोधि (निर्वाण) को नहीं चाहा । इस विषय का एक श्लोक भी है । वह कहां का है, नहीं मालूम, पर वह बौद्ध दृष्टि से प्रभावित है—

न चाहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम् ॥

भक्तिशास्त्र की विचारधारा भी कुछ-कुछ इसी पद्धति पर चली है । वहां भक्त भगवान् से कभी जुदा नहीं होना चाहता, वह अपने उपास्य की उपासना में ही सदा तल्लीन रहना चाहता है । इसीलिये वह मुक्ति को भी इस कार्य में अन्तराय (विघ्न) मानता है ।

आपने कहा संस्कृति शब्द पाश्चात्य देन है, इस विषय पर गीता के इस वचन को हम स्मरण कर सकते हैं— "नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते" । ज्ञान कहीं का भी रहे, किन्तु उस ज्ञान का सचेत अध्ययन होना चाहिये, जैसा

कि आचार्य नरेन्द्रदेव ने कहा था । यह संस्कृति शब्द पूरे विश्व को जोड़ने वाला है । इसमें यदि हम भारतीयता के उपादानों का समावेश करें, तो वह बहुत अच्छा होगा । भगवान् बुद्ध ने ही यह कहा था कि मैं कहता हूं, इसलिये तुम विश्वास मत करो, उसकी परीक्षा करो और तब ग्रहण करो । महाकवि कालिदास भी कहते हैं— "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते" । जब आप तन्त्रशास्त्र का सचेत अध्ययन करेंगे, तो उसमें आप देखेंगे कि वहां केवल कर्मकाण्ड ही नहीं है, ज्ञान और योग भी वहां है । यहां तन्त्रशास्त्र के विषय की चर्चा हुई है, उसके विषय में बहुत संक्षेप में आपको बता देना उचित होगा कि उसमें चार भाग है, जो पाद कहे जाते हैं । वे बौद्ध तन्त्रों में भी हैं और अन्य तन्त्रों में भी है । इसमें क्रिया और चर्या के साथ योग और ज्ञान भी जुड़ा हुआ है । वह ज्ञान उतना ही है, जितना साधक के लिये पर्याप्त है । शायद इस ज्ञान से वह शास्त्रार्थ करने में प्रवीण नहीं हो पावेगा, किन्तु अपने जीवन का संचालन करने में, अपने मन को पवित्र करने में उसका उपयोग कर सकेगा ।

प्रो0 युगेश्वर

मै केवल एक बात कहूंगा । पहले जैसे आपने कहा कि हिन्दी वालों को संस्कृत परम्परा का ज्ञान नहीं है, वह बिल्कुल सही है । लेकिन इसी के साथ एक चीज और जोड़ ले । जैसे हमें अपने माता-पिता का ज्ञान नही है, वैसे आपको अपने पुत्रों का ज्ञान नहीं है । यह भी होना चाहिये था । यही मैं कहना चाहता हूं । मेरा एक निवेदन है । देखिये इसमें बाधा क्या होती है ? आप अगर भारत की एक हजार वर्ष की परम्परा को देखेंगे तो आप बड़ी विचित्र बात देखेंगे । साधक जितने हुए हैं, वे तो विभिन्न जातियों के हुए है । विशेष कर बड़ी लम्बी परम्परा शूद्र साधकों की है, सभी राज्यों में शूद्र साधकों की बड़ी-लम्बी परम्परा है । यह आलवारों में भी, नायनारों में भी, वीरशैवों में भी है, यह आग्रह आप करेंगे ही, क्योंकि यह आग्रह भी बड़ा भारी संकट है । एक हजार वर्षो में आप देखेंगे कि भारतीय भाषाओं के माध्यम से असंख्य शूद्र साधक और कवियो का हमें साक्षात्कार होता है । लेकिन एक विचित्र बात मुझे दिखाई देती है कि आचार्य जितने है, उनमें एक आचार्य भी मेरी जानकारी में शूद्र नही है । रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, मध्व, यामुनाचार्य, नाथमुनि, रामानन्द, राघवानन्द— जो ये तमाम आचार्य है, इनमें शूद्र एक भी नही है । यह बात समझ में नहीं आती । ये सभी शूद्र जो है, इन्हीं को अपना गुरु मानते है । इसका क्या कारण है ?

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

स्पष्ट है कि ये दो धाराए है— वैदिक और तान्त्रिक । यह भारत का सौभाग्य समझिये या दुर्भाग्य, यहां ये दोनो धाराएं शुरू से लेकर आज तक चल रहीं है और इनमें कोई विरोध नहीं है । वेदो को भण्ड-धूर्त-निशाचरों की रचना बताने वाले चार्वाक दर्शन के प्रवक्ता देवगुरु बृहस्पति माने गये है । दूसरी धारा के दर्शन आप रैक्व जानश्रुति, महिदास ऐतरेय, सत्यकाम जाबाल, याज्ञवल्क्य

की पत्नी मैत्रेयी आदि के रूप में उपनिषदों में भी कर सकते हैं । वहां से लेकर यहां तक, सन्तो–आचार्यों तक एक लम्बी परम्परा है, जो कि सबको, पूरे वाङ्मय को, पूरी संस्कृति को अपना मानती है । दूसरी एक धारा है, जिसको आप आचार्यों की धारा कह सकते हैं । वह केवल अपने शास्त्र को, अथवा वेद को प्रमाण मानती है और आज भी ये दोनों धाराए जीवित है । आप मुझे क्षमा कीजियेगा, जैसे कि वेदान्तसूत्र के तर्कपाद में बाकी सब मतों को अवैदिक सिद्ध कर दिया गया, वैसे ही सत्यार्थप्रकाश में भी किया गया है । मुझे बताया गया है कि जब सिक्खों ने अलगाववादी आन्दोलन शुरू किया, तो सत्यार्थप्रकाश के उस अंश की लाखों प्रतियां पूरे पंजाब में वितरित की गई थीं । तो ये दोनों स्थितियाँ यहां निरन्तर शुरू से लेकर अब तक चली आ रही है । विगत एक हजार वर्ष में जब आक्रमण–प्रत्याक्रमण हुए, तो आचार्यों वाली परम्परा प्रभावी हो गई और जो तन्त्रशास्त्र की परम्परा थी, जिसमें शूद्रों को, स्त्रियों को और चाण्डाल को भी दीक्षा का समान अधिकार दिया गया था, वह पिछड़ गई । विरोधी धर्मो का मिथ्या प्रचार भी इसमें सहायक बना है । इनमें से आचार्य–परम्परा को आप रूढ़िवादी कह सकते है, पर इस रूढ़िवादी परम्परा का सबसे बड़ा अवदान यह है कि आज भी भारतीय संस्कृति बची हुई है । यदि यह रूढ़िवादी परम्परा न होती, तो पूरा देश इस्लाम का अनुयायी हो गया होता । जिनको आप रूढ़िवादी कहते है, उन आचार्यों और उनके शिष्यों ने इस देश की रक्षा की, इस संस्कृति की रक्षा की । तो आप एक को पूरी तरह से हटा दें और दूसरे को पूरी तरह से ग्रहण कर ले, यह ठीक नहीं है । कालिदास की "सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते" इस उक्ति की पृष्ठभूमि मे आचार्यो का क्या अवदान है ? वैदिक संस्कृति का क्या अवदान है और तान्त्रिक संस्कृति का क्या अवदान है ? इन दोनों की हमें आज बिना पक्षपात के समीक्षा करनी होगी ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

इसमें तो कोई दोष नहीं है कि संस्कृति शब्द को हम ग्रहण करें, क्योकि संस्कृत मे अनेक शब्द म्लेच्छ भाषाओं से भी ग्रहण किये गये है । "प्रोटोमुण्डा वर्ड्स इन संस्कृत" यह कूपर की एक डिक्शनरी है, चार सौ पन्नों की, उसको छोड़ दें और अन्य भाषावैज्ञानिकों की बात भी छोड़ दें, लेकिन स्वयं कुमारिलभट्ट इसकी चर्चा करते है कि काक, पिक, तामरस जैसे शब्द हैं, ये म्लेच्छ भाषा से आये है, तो इनका कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाय ? वे कहते हैं कि अर्थ तो वही ग्रहण करना पड़ेगा, जो म्लेच्छ भाषा में है । तब प्रश्न उठा कि म्लेच्छ भाषा के शब्द देववाणी में कैसे प्रयुक्त होंगे ? तो कहा गया कि इनकी व्युत्पत्ति अपनी प्रकृति से करो, धातु–प्रत्यय लगाकर, म्लेच्छों वाली बात छोड़ दो, ऐसा बना दो कि रूप ही बदल जाय । मै सोचता हूं कि हमारे युगेश्वर जी को इसमें कोई आपत्ति नहीं है कि अन्य शब्दों का प्रयोग हो, जहा तक मै इनको समझता हू । लेकिन वे कहते हैं कि संस्कृति शब्द भी हमको बाध्य होकर पकड़ना पड़ा । यद्यपि हमारे यहां उसके लिये आचार–विचार और धर्म शब्द थे ।

द्विवेदी जी ने मालिनीविजय को उद्धृत किया । ऐसा तो प्रथम शताब्दी के पूर्व भी आता है । लेकिन वह दार्शनिक पक्ष को द्योतित करने के लिये आ रहा है, जिनको कि महायान के नौ अंगों में गिना जाता है । चन्द्रकीर्ति अपनी प्रसन्नपदा व्याख्या में स्वभावपरीक्षा में कहते हैं—

अस्तीति नास्तीति उभेऽपि अन्ता
शुद्धी अशुद्धीति इमेऽपि अन्ता ।
तस्मादुभे अन्त विवर्जयित्वा
मध्येऽपि स्थानं न करोति पण्डितः ॥

ये वहां पर—"न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः । उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥" माध्यमिककारिका के इस वचन की व्याख्या करते हुए वह कच्चायन सूत्र के संस्कृत रूपान्तर को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि हे कात्यायन, अस्ति यह भी एक स्थिति है, नास्ति यह भी एक स्थिति है और इसके बीच की जो स्थिति है, वह भी है । पण्डित को चाहिये कि वह इन चारों से अलग चतुष्कोटि-विनिर्मुक्तता में रहे, शून्यवाद के बाद विज्ञानवाद और विज्ञानवाद के बाद बौद्ध तन्त्र की वज्रयान वाली स्थिति आती है । बहुत से आधुनिक विद्वानों का विचार है कि तन्त्र के कारण ही बौद्ध धर्म इस देश में नष्ट हो गया । लेकिन अगर इस साधना से बौद्ध धर्म नष्ट हो गया, तो शाक्त तन्त्र मे भी तो वही चीज थी । उसके कारण यह हिन्दू धर्म क्यों नहीं नष्ट हो गया ? हेवज्रतन्त्र के संपादक स्नेलग्रोव ने अपनी भूमिका में इस प्रश्न को उठाया है और उन्होंने इशारा किया है कि हजारों बौद्ध भिक्षु मुण्डित मस्तक होने के कारण और काषाय वस्त्र पहनने से सरलता से पहचान में आ जाते थे । अफगानिस्तान से ही वे मिल रहे थे, परिचित थे । वहां से लेकर बंगाल के जगदल विहार तक सबको नष्ट कर दिया, तो समाज में बताने वाला कौन था ? हिन्दुओं ने जड़ पुरोहित को गांव गांव में रखा था, जो अशुद्ध संस्कृत में संकल्प कराता था और उसने रक्षा कर दी । शंकराचार्य ने हिन्दू धर्म की रक्षा नही की । मैं आप लोगों से बिलकुल अलग विचार रखता हूं कि गांव में जो पुरोहित था, जो कम पढ़ा था, जो छोटा कर्मकाण्ड कराता था, उसने हिन्दू धर्म की रक्षा की । कोई सामान्य हिन्दू शंकराचार्य को नही जानता । अगर उत्तर का है, तो तुलसीदास को जानेगा । वह दोपहर को स्नान करेगा, एक लोटा जल लेगा, सूर्य की तरफ खड़ा होकर उसे चढ़ा देगा, तो इससे हिन्दू धर्म की रक्षा हुई ।

आपने प्रश्न उठाया कि घोर कर्मकाण्ड है तन्त्र मे, तो यह जो आप कर्मकाण्ड देखते है, वह वास्तविक नहीं है । जैसा कि द्विवेदी जी ने कहा यह कर्मकाण्ड उसके अन्दर प्रवेश कराने और यथाभूत दर्शन को ज्ञापित करने के लिये साधन है । उसके बाद कर्मकाण्ड को तान्त्रिक या साधक, ऐसे ही छोड़ देता है, जैसे गंगा पार करने के बाद आप नौका को छोड़ देते हैं । अगर आप नाव में से उतरना नहीं चाहते, तो आप उसमें बैठे रहिये । यथाभूत दर्शन को प्राप्त करने के लिये कर्मकाण्ड उपाय है । लेकिन कर्मकाण्ड मे कुछ लोगों

को मजा आ जाता है, तो जब तक कर्मकाण्ड को वे लोग छोड़ेंगे नहीं, उसको यथाभूत दर्शन प्राप्त नहीं होगा । जहाँ तक मैं दर्शन की बात समझता हूँ कि राग है, द्वेष है, मोह है, क्लेश है, इनको अतिक्रान्त करके, इनको छोड़ करके मुक्ति की ओर चलता है आदमी, लेकिन जब माध्यमिक दर्शन से, शून्यवाद से यह सब गड़बड़ाया और फिर दर्शन में नई अवधारणा होने लगी कि अर्हत्पद से फिर आदमी गिर सकता है । इस पर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ प्रथम शताब्दी में । यह जो वज्रयान वाली बात है कि महाराग के साथ हम सामंजस्य स्थापित करें, लोक से लोकातीत होकर पुनः लोग में प्रतिष्ठित हों । यह बड़ा कठिन कार्य है । दो तरह के इश्क हैं— इश्क मिजाजी और इश्क हकीकी । मुक्ति के लिये जो इश्क है साधक का, यह बड़ा कठिन इश्क है । सबको इसका अधिकारी नहीं बनाया जा सकता । इसीलिये द्विवेदी जी को हम बार-बार अधिकारी के विषय में सचेत करना चाहते हैं । बौद्धों में तो यह है । अन्य तन्त्रों में मैं नहीं जानता, किन्तु तन्त्र सभी शिष्यों को पढ़ाने के लिये नहीं है, वह चुने हुए शिष्यों को दिया जाता है । अभी भी बौद्ध परम्परा में तन्त्र का कालेज है अरुणाचल में, वहाँ सब लोग नहीं पढ़ पाते । मैं यह कहना चाहता था कि तन्त्र के बारे में जो सामान्य धारणा होती है कि यह जादू-टोना है । समाज की जो यह स्थिति है, उसको हम लोगों को दूर करना चाहिये और तन्त्र की वास्तविक प्रतिष्ठा पर, उसके दर्शन पर अब हमें विशेष बल देना चाहिये, क्योंकि साधना तो गुह्य है, हम लोग क्या बतावेंगे ? बस मुझे इतना ही कहना है ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

वैसे तो मैं बहुत आभारी हूँ कि संस्कृति शब्द पर थोड़ी सी आलोचना हुई । अंग्रेजी में कल्चर शब्द है, एन्थ्रोपोलोजिकल शब्द है । काल के साथ थोड़ा सा जुड़ा हुआ लिंग्विस्टिक है भाषा की ओर से, लेकिन इन्होंने इनकी व्याख्या कर दी है कि समग्र जीवन के एक पूर्ण चित्र के लिये कल्चर शब्द है और इसका तरह-तरह के हिसाब रखा गया है । मेटीरियल ट्रैट्स, स्प्रीचुअल ट्रैट्स लैंग्वय्ज ट्रैट्स आदि-आदि करके । हमारे यहां तो इसके लिये कृष्टि शब्द था, जैसे शिष्य शब्द था वैसे कृष्टि शब्द था । अभी कल्चर के साथ मिला-जुला कर एक दूसरा शब्द चल रहा है— कुलाचार । वह शब्द भी इतना जँचता नहीं और गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसके लिये कृष्टि शब्द का प्रयोग करते है । कृष्टि शब्द पर उनका एक लेख भी है । लेकिन कृष्टि शब्द से हमें असुविधा. होती है । संस्कृति शब्द को तुरन्त हम लोग वैयाकरणी रूप में सांस्कृतिक बना लेते हैं, ऐसे ही कृष्टि शब्द से क्रैष्टिक बनाने के लिये बड़ी दिक्कत होती है ।

अभी तन्त्र के सम्बन्ध में सबेरे हमारे महाभाग सभापति डॉ० भट्ट जी ने बताया है । मैं यही सोचता हूँ कि भारतीय संस्कृति की धारा सचमुच दो नहीं है, कई धाराएं चलती रही है । मेरे लेख में लोकायत तन्त्र की बात उठाई गई है । हिमालय के प्रत्यन्त प्रदेश में मेरा थोड़ा आना जाना रहा है, मै उस प्रदेश

से परिचित हूं । अभी हिन्दुस्तान में कई सम्प्रदाय हैं, जो सूर्य-चन्द्र के सिवाय किसी की उपासना नहीं करते । मैं अभी अरुणाचल के दनीपुल की बात कहता हूँ । वहां जो सम्प्रदाय प्रचलित है, उसके पुजारी को नीबू कहा जाता है । उनके लिये हमारी भारत सरकार ने करीबन ढाई लाख रुपया दे कर के एक बड़ी उपासना की जगह बना दी । बड़े आश्चर्य की बात है कि उन्होंने सारे मन्दिर को छोड़ दिया । बाहर आकर उन्होंने फिर लकड़ी बाँध दी, यह बेम्बु कल्चर है, बंशी की कल्चर है, संस्कृति है या कृष्टि कहिये, जो कुछ है । वे दो बाँसों को बाँध कर उन्हीं में सूर्य-चन्द्रमा की पूजा करते हैं । उनकी यही परम्परा चली आ रही है । हमारे यहाँ शबर परम्परा है, मतङ्ग परम्परा है । न जाने कितनी परम्पराओं को हम लोग खो चुके हैं । उनमें से कुछ छिटपुट हमें बची मिलती हैं ।

तिब्बती भाषा में ग्रामिलतन्त्र मिलता है । ग्रामिलतन्त्र का तिब्बती भाषा में जो अनुवाद है, उससे हम थोड़ा कुछ संस्कृत ला सकते हैं । लेकिन मैं देखता हूँ कि कई जगह खटकता है । "चीली चीली मिली मिली इली इली किली किली" जैसे धारिणी मन्त्र हैं । अभी प्रोटोमुण्डा वाली बात आयी । ऐसे कुछ शब्द ग्रामिलतन्त्र में मिलते हैं । विशेषकर नाग की आराधना के लिये जो कुरुकुल्ला की साधना के मन्त्र है, इसमें जो धारणी मन्त्र हैं, वे सब ग्रामिलतन्त्र की परम्परा के लगते हैं । अभी परम्परा की बात चल रही है, इस पर कृष्टि की दृष्टि से, अभी मैं संस्कृति को छोड़ देता हूँ, हम विचार करें, तो मैं सोचता हूँ कि इसमें भारतीय संस्कृति का, जिसको आजकल अवरजंग कहा जाता है, या सामान्य रूप में शुद्ध शब्द प्रयोग करने की यहाँ रुचि नहीं है । जिसको सामान्य जनकृष्टि कहा जाता है, उसके समग्र रूप को एक जगह मिलाने के लिये क्या हम एक संस्थान बना सकते हैं ? जहां इन सबको एक आधार मिले और हमको इनके विभिन्न स्वरूपों को समझने में सहायता मिले ।

प्रो० सेम्पा दोर्जे

संस्कृति के बारे में यहाँ चर्चा हो रही है । एक तो युगेश्वर जी ने संस्कृति के कालिक क्रम को देखने या परखने की चेष्टा की । आपने हम लोगों के सामने कुछ मुद्दे रखने का प्रयत्न किया है । इससे बहुत अच्छा दिग्दर्शन मिला है । दूसरा प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी जी ने दर्शन और तन्त्र के साथ संस्कृति को जोड़ने वाली अवधारणाओं को कुछ विस्तार से समझाया है । बहुत अच्छी बात है । द्विवेदी जी ने भारतीय संस्कृति को मानव संस्कृति के साथ जोड़ने का संकेत किया है, पर इससे कुछ कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं । यदि हम आज से शुरू करें, तो आज से लेकर हजार वर्ष पूर्व तक की हमारी संस्कृति है, हिन्दी के या अन्य भारतीय भाषाओं के माध्यम से जो सांस्कृतिक अवधारणाएं अभिव्यक्त हुई हैं, या संस्कृति की जो परम्परा जीवित हैं, उसके बारे में मेरा एक दृष्टिकोण बन रहा है । वह यह कि यह संस्कृति अत्यन्त क्षेत्रीय हो गई है । यह कार्य उस सतह पर नहीं हुआ, जो संस्कृत भाषा के माध्यम से, पालि भाषा के माध्यम से हमारे यहां पूरे उपमहाद्वीप में

फैला है । उसकी संतति में यह जुड नहीं पा रहा है । एक विशेष क्षेत्र में ही वह सब पनपता रहा और विशेष क्षेत्र में ही उसके विकसित रूप बदलते या परिवर्तित होते रहे है ।

दूसरा द्विवेदी जी का जो कहना है कि हम एक हजार वर्ष पूर्व के सांस्कृतिक अवदान को देखें । एक हजार क्या है, हम लोग तो दो चार-हजार वर्ष पहले तक ले जाते हैं । इसमें कोई दिक्कत नहीं है । वह कम से कम भगवान् बुद्ध और पाणिनि तक तो ले ही जा सकते है । भाषा की दृष्टि से पाणिनि तक और विचारों की दृष्टि से उपनिषद् तक, भगवान् बुद्ध तक ले चलते है। भगवान् बुद्ध के समय की, उपनिषद् के समय की जो भाषा है, वह हम लोग आज भी बोल रहे हैं, वही विचार आज भी हम समझा रहे हैं, अपने बेटों को समझा रहे है या विद्यार्थी को समझा रहे है । गुरु जी मानकर बैठे हैं कि वह परम्परा जीवित है हमारे यहाँ । किसी न किसी रूप में जीवित है । वह उस रूप में तो जीवित नहीं है, वह प्रभावशाली वर्चस्व का समय था, वह तो आज नहीं है । आज बहुत कुछ मर चुका है । वह जा भी चुका है । लेकिन वह अभी भी जीवित लगता है । मैं खुद ही आदिवासी हूँ, बहुत दूर हिमालय के उस पार का, लेकिन वहाँ भी भगवान् बुद्ध के संस्कारों का एक प्रभाव है और उसके साथ-साथ तन्त्र का प्रभाव है, तन्त्र की परम्परा है या तान्त्रिक संस्कृति है ।

संस्कृति शब्द से हम लोगों को कुछ आपत्ति हो या न हो, उसका एक संस्कार है । उसे आप संस्कृति कहिये, या संस्कार कहिये, या कल्चर कहिये, या धर्म कहिये, एक संस्कार है । वह संस्कार आप अभी भी पावेंगे । गिलगिट से लेकर, कश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक मुसलमानों के घर में भी किसी कोने में यह संस्कार बैठा हुआ है, आपकी पूजा की सामग्री में बैठा हुआ है । वह ढका हुआ है । उसे खोलने नहीं देंगे, खोलेंगे तो कहेंगे महाराज इसको मत खोलो । यह क्या है ? भाई यह क्या है ? पूंछने पर उत्तर मिलता है कि यहाँ पर बौद्धों का कुछ रखा हुआ है या किसी तन्त्र का कुछ रखा हुआ है । तो आप लोग क्यों फेंक नहीं देते उसे, आप लोग तो इससे घृणा करते हैं ? उत्तर मिलता है कि यह हमारे खान-दान की चीज है, हम नहीं फेंक सकते इसको । इसे वह किसी को छूने नहीं देते । वह रखा हुआ है, किनारे में ढक करके रखा हुआ है । इस तरह से कई जगह मूर्तियाँ हैं, कई जगह स्तूप है । एक जगह तो तन्त्र का ग्रन्थ भी है । इसको भी वहाँ पर खोलने नहीं देते । हाथ से लिखा हुआ है, तालपत्र पर लिखा हुआ है । हमने दो चार जगहों पर देखा है वैसा । गिलगिट की सीमा पर है वह ।

इस तरह से पूरे उपमहाद्वीप में फैले इस साहित्य का भाषान्तर कालान्तर में मंगोल, चीन, जापान तक चला गया । जापान के किसी आदमी से यदि आप मिलेंगे, तो उसके चेहरे पर अपनत्व झलकेगा । लंदन में जाकर आप किसी मित्र से भी मिलेंगे, तो उसके चेहरे पर वह आत्मीयता नहीं मिलेगी । वह क्या है ? अन्दर अन्दर हमारे संस्कारों का एक अनुशीलित प्रभाव वहां चल रहा

है, वह काम कर रहा है, उसके चेहरे पर कुछ चमक रहा है। इसी तरह से किसी संस्कृति का प्रभाव, उसका फैलाव धर्म की वजह से होता है, दर्शन की वजह से होता है । धर्म-दर्शन के तत्त्वचिन्तन से यहां ज्यादा मतलब नही है । उसके पीछे मान्यताएं जुड़ी हुई है, यह मान्यता ही संस्कृति बन जाती है । धर्म का एक तरह से अवशेष जीवन में रह जाता है, वही संस्कृति होती है । यह चीज आज हमें सारे उपमहाद्वीप में तो साफ साफ दिखाई पड़ेगी, अन्य जगहों में भी दिखाई पड़ेगी । यही भारतीय संस्कृति को जोड़ने वाला तत्त्व है ।

इसीलिये मंगोलिया में एक तम्बू में रहने वाला आदमी जब बुद्धगया के चित्र को देखता है, तो वह उसे शिर पर रख कर प्रणाम करेगा । क्या मतलब है उसका, यह सीधे संस्कृति का प्रभाव है । उसके अन्दर संस्कृति बैठी हुई है । संस्कृति के साथ जो मान्यताएं हैं, पवित्रताएं हैं, या उसके प्रति जो आत्मीयता है, एकत्व है, तान्त्रिक मान्यताएं है, उसके पीछे जो देव-देवी की मान्यताएं है, मोक्ष की मान्यताएं है और सिद्धियों की मान्यताएं है, मन्त्र जपने से उसके लाभ की जो मान्यताएं है, ये सब जुटी हुई हैं ।

इसीलिये आपने विश्वसंस्कृति को या भारतीय संस्कृति को एक जोड़ने वाला तन्तु कहा है, तो वह जोड़ने वाला तन्तु एक तरह से सर्वत्र दृष्टिगत होता है । हमारा एक और निवेदन है कि अभी द्विवेदी जी ने मालिनीविजय का और आर्यदेव के चित्तविशुद्धिप्रकरण का उल्लेख किया है, गुरु जी ने समाधिराजसूत्र का उद्धरण दिया है, इन सबका तो जातिविहीन या जातिवाद का निषेध करने वाले विचारों से बहुत ज्यादा सम्बन्ध मेरे ख्याल में नहीं है । वह तो तत्त्वचिन्तन से संबद्ध है । इससे कोई बात न हम समाज को समझा सकते है, न समाज उस बात को समझ सकता है, न वह व्यवहार में आ सकता है । यह तो चिन्तन के क्षेत्र में है । वह सबके लिये नहीं है । जैसा अभी आपने कहा, वह तो सहजावस्था की एक प्रतीति है, उससे एक अवधारणा बनती है । हमको घृणा नहीं करनी चाहिये, शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये । लेकिन वह सब सबके लिये सुलभ या उपयोगी नहीं हो सकेगी ।

एक बात और है कि संस्कृति के साथ भाषा की बहुत बड़ी समस्या है । आप लोगों ने पश्चिम के प्रभाव की भी बहुत अच्छी समीक्षा की है । पश्चिम के प्रवाह की समीक्षा करना ठीक है । यूं उसके पीछे हम लोगों की जो भावना बोल रही है, सीधे रूप में जो हम उसकी समीक्षा कर रहे हैं, उसके पीछे, क्षमा करेंगे, एक विशेष बात है । यहां प्रकारान्तर से हम अपने में हीनता का बोध कर रहे है, हम उसी से पीड़ित है । वह हमारे सिर पर चढ़कर बोल रही है । पहले हमे उसे उतार कर रखना होगा । पहले उसका प्रतिद्वन्दी या उसके मुकाबले का प्रतिरूप हमें तैयार करना होगा, तब जाकर हम कह सकते है कि तुम बैठो पहले । जब हम उसे नहीं छोड़ सकते हैं, उसके सामने खड़े ही नहीं हो सकते हैं, तो हम उसके लिये चिल्लाकर भी क्या करेंगे । हमारे विश्वविद्यालय, हमारी पूरी शिक्षा गलत रास्ते पर चल चुकी है । हमारे दिमाग़ का निर्माण जिस मशीनरी में हो रहा है, जब तक उसमें

सुधार नहीं होगा, देश का सुधार नहीं होने वाला है । हम भारतीय रहेंगे यां नहीं रहेंगे, अब यह एक चिन्ता का विषय है । यदि इस देश को जीवित रखना है, तो हमारी इस परम्परागत संस्कृति को पुनः उज्जीवित करना ही होगा ।

प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी

यह बड़ा सौभाग्य का विषय है कि आदरणीय खिस्ते जी यहां पर है । मैं एक प्रश्न यहां उठाना चाहता हूँ । बार बार यह चर्चा आ रही है— "श्रुतिर्द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च" । यह बहुत अच्छी चीज है कि इसकी ओर यहां इशारा हुआ है । इस विषय पर एक निबन्ध रखना चाहिये था । आजकल प्रचलित हमारा कर्मकाण्ड तीन बटा चार तान्त्रिक है । याने तन्त्र के कर्मकाण्ड से ही स्मार्त पूजापद्धति भारतीय परम्परा में आयी है, श्रौत परम्परा से इसका सम्बन्ध कम है । विद्वानों का विश्वास है कि तान्त्रिक कर्मकाण्ड से पूजा और तान्त्रिक उपासना से उपासना, ये दोनों वस्तुएं आयीं । तन्त्र उतना अर्वाचीन नहीं है, तन्त्र के ग्रन्थ अर्वाचीन हो सकते है, लेकिन तान्त्रिक परम्परा अर्वाचीन नहीं है । डॉ0 चिन्ताहरण चक्रवर्ती को आप पढ़िये, उन्होंने प्रारम्भ में ही साफ किया है कि तन्त्र कितना प्राचीन है । उन्होंने वेद में भी तन्त्र को दर्शाया है । इस पूजा-पद्धति पर आदरणीय खिस्ते जी कुछ कहें, तो अच्छा होगा ।

प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते

मै कुछ कहना ही चाहता था कि बहुत सी भ्रान्तियाँ हैं । कल मैंने अपना लेख पढा था । उसमें निगम और आगम की एकवाक्यता बताई गई थी । वेद और तन्त्र एक ही वृक्ष के दो फल है । कल मैंने एक श्लोक पढ़ा था । वह किसी शिवागम का है—

यन्मूलं वेदवृक्षस्य सम्पूर्णानन्तशाखिनः ।
तस्यैव यत्फलं प्राहुस्तं वन्दे भैरवागमम् ॥

ये एक दूसरे से अन्योन्य सापेक्ष हैं और भारतीय जीवन में इनका गहरा प्रभाव है । स्मार्त पूजापद्धति जो कुछ है, इसका पचहत्तर प्रतिशत तन्त्र से सम्बद्ध है । श्रौत कर्म इनसे एकदम भिन्न है । श्रौत कर्म की कुछ सामाजिक व्यवस्था भी है । इस समाज-व्यवस्था के लिये कल मैंने कहा था । वर्णाश्रम-धर्म और स्मार्त-परम्परा यह समाजरक्षा का एक कवच है, क्योंकि नीतिशास्त्र का वचन है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः ।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥

उदाहरण के लिये एक सोना सुरक्षित है और उसका दूसरा भाग विनिमय में उपयुक्त होता है । एक स्वर्ण है वेद पुरुष, दूसरा सुवर्ण है आगम । समय समय पर उनसे काम लिया जाता है । इनमें आपस की कोई टकराहट नहीं है, इसमें प्रशासन की व्यवस्था है । इसलिये वर्णाश्रम-धर्म, श्रौत-धर्म और स्मार्त-धर्म

राष्ट्र का सुरक्षित कोश (सुवर्ण) है । इस सुवर्ण का राष्ट्र में आपत्ति आने पर उपयोग होता है । तन्त्र एक जीवन-पद्धति है । प्रातःस्मरण से लेकर शय्या पर जाने तक इस चर्या का बड़ा महत्त्व है । अन्ततोगत्वा यह एक ही है । "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" एक सामान्य सिद्धान्त है, अन्ततोगत्वा तन्त्र क्रिया से मुक्ति मानता है । अभिनवगुप्तपाद तन्त्रालोक में कहते है—"विनाऽपि ज्ञानयोगाभ्यां चर्यामात्रेण सिद्ध्यति" । यहां क्रिया के साथ-साथ ज्ञान सम्मिलित हो जाता है, यही इसकी विशेषता है । इस लोक को चलाने के लिये जीवन में तन्त्र की बड़ी आवश्यकता है ।

द्विवेदी जी ने जो विषय मालिनीविजय का उठाया, वह एक विशेष भूमिका का विषय है । जिस भूमिका की आपने चर्चा की, वह ऊर्ध्व भूमिका है । अभिनवगुप्त के अनुसार इस ऊर्ध्व भूमि में सुख-दुःख, भोग-मोक्ष आदि की कोई पृथक् सत्ता नही रह जाती । सब कुछ एकाकार हो जाता है । यही परम उपेय स्थिति है । गुरुजनों से जो कुछ मैंने सुना है या कुछ कल्पना की है, तदनुसार मेरा कहना है कि जब वैदिक संस्कृति का कुछ ह्रास हो रहा था, तो हमारे वैष्णवाचार्यों ने परिभ्रमण शुरू किया और इनको भगवन्नाम से उद्धार का मार्ग बताया, पांचरात्र, वैखानस, सात्वत तन्त्र आदि के माध्यम से । वल्लभाचार्य का उदाहरण लीजिये । वे गुजरात में गये थे । देखा कि पराङ्मुख हो गये लोग भिन्न सम्प्रदायों मे चले गये । उनके प्रभाव से फिर उनका आकर्षण हिन्दू धर्म में हुआ । इनको "श्रीकृष्णः शरणं मम" इस भगवन्नाम का उपदेश किया उन्होंने । "श्रुतिभ्रष्टः श्रुतिप्रोक्ते प्रायश्चित्ते भयं गतः । क्रमेण श्रुतिसिद्ध्यर्थ मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत् ॥" यह एक रास्ता है । वह अगर आगे चलना चाहता है, तो धीरे धीरे शुद्ध होकर वह आगे तक जा सकता है । किसी का रास्ता रुका हुआ नहीं है ।

अब मैं एक आधुनिक उदाहरण दे रहा हूं । सिक्ख सम्प्रदाय में गुरु नानकदेव जी भक्त थे । पहले उन्होंने लोगों को अत्याचार से पराङ्मुख करने के लिये भक्ति का मार्ग दिखाया, गुरु गोविन्दसिंह ने स्थिति पर विचार किया । अनार्य धर्म का आक्रमण हो रहा था, उन्होंने आगम को आगे किया । आपके यहां भारत में तीन तरह के क्षत्रिय माने जाते है— सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी, अग्निवंशी । परमार भोजराज थे, उनके ताम्रपत्र में देखियेगा । वह अपने को परमार क्षत्रिय कहते हैं । वशिष्ठ यज्ञ कर रहे थे, तो विघ्न उपस्थित हो जाता है । इसके परिहार के लिये उन्होंने एक वीर उत्पन्न किया अग्नि से—"परांस्तु मारयतीति परमारः" । अब इसी तरह गुरु गोविन्दसिंह ने यज्ञ के द्वारा क्षत्रियों का निर्माण किया । यज्ञ के बाद पंच प्यारे शिष्यों का प्रोक्षण किया । अमृत से प्रोक्षण करके जिसको प्रसाद दिया, वह शिष्य हो गया; तो वह क्या है । यहां संविदैक्य हो जाता है, वह शक्ति जागरूक हो जाती है । इनका जो दुर्गास्तोत्र है, पंजाबी उच्चारण संरियं, हरियं, कलियं इत्यादि मन्त्र-बीज तो आगमोक्त हो गया और देखिये हिन्दू धर्म की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया, इनको गर्भ से केश रहता है । उसके बाद स्पर्शास्पर्श का दोष उत्पन्न नहीं होता धर्मशास्त्र के अनुसार । इसलिये आक्रान्ता इनको भ्रष्ट नहीं कर सकता । मन्त्र है— वाहे

गुरु, अर्थात् गुरुर्जयति । अब हमारे यहां गुरु सबसे बड़ा मन्त्र है । हिन्दू-संस्कार की रक्षा के लिये आगम ने कितना बड़ा काम किया । इस तरह का हमारे जीवन में आगम का बहुत महत्त्व है । इस समय वेद से ज्यादा इसने काम किया । बात ये जो कह रहे हैं मन्त्र-तन्त्र पूजापाठ, तो इसकी तीन स्थिति हैं— स्थूल, सूक्ष्म, पर । स्थूल है मूर्ति या उनकी आकृति, देवता-ध्यान कर्मकाण्ड । सूक्ष्म है मन्त्र, उसमें बड़ी शक्ति मानी गई है । इनमें किसी को छोड़ा नहीं जा सकता । सब तीनों मिलकर चलते है और उत्तरोत्तर भूमिका बनने पर उसका पीछे का छूट जाता है, जैसे आपने कहा नाव को छोड़ दो वह अपने आप छूट जायगा । इस क्षेत्र में भक्ति का भी बहुत उपयोग है । "भक्तिः पञ्चमपुरुषार्थः" अद्वैतभाव को धारण कर "शिवो भूत्वा शिवं व्रजेत्" यह तन्त्र का दर्शन है । इसी तरह की कुछ और भी बाते हैं । बस, अभी मैं इससे अधिक कुछ नहीं कहना चाहता ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

इस चर्चा को समाप्त करने से पहले मैं एक दो बातें स्पष्ट कर देना चाहता हूं । एक तो यह कि संस्कृति शब्द प्रायः वर्तमान अर्थ में ही शुक्लयजुर्वेद की माध्यन्दिनसंहिता (७.१४) में मिलता है । "यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्" विश्वभारती में प्रसिद्ध यह वाक्य भी यजुर्वेद का ही है । अतः इसके लिये कृष्टि जैसे शब्दों की कोई आवश्यकता नहीं है । मालिनीविजय का जो मैंने उद्धरण पढ़ा, उस पर विद्वानों का विचार है कि यह उच्च स्थिति में पहुंचे हुए व्यक्तियों के लिये है । यहां आभिजात्यवाद हमारा पिण्ड नहीं छोड़ रहा है । इस सहज स्थिति से तो प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक मानव गुजर सकता है और अपने मन को परिष्कृत कर सकता है । यहां कहा गया है कि जितना तुमसे हो सकता है, वह करो । जो नहीं हो सकता, वह मत करो, किन्तु इतना अवश्य करो कि मन निर्मल होता जाय । मन की निर्मलता मूलतः सामाजिक और सांस्कृतिक समस्या है । योगी अरविन्द का सपना है कि कभी मनुष्य का मन दैवी मन बन जायगा, तो उसका रास्ता इस तरह के वचनों में ही है । तान्त्रिक दीक्षा के अधिकारी के विषय में भी यहां चर्चा हुई । तान्त्रिक रहस्यवाद की चर्चा हम छोड़ देते हैं, तो उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक आलोक से लाभान्वित होने का मानव मात्र को अधिकार है । सिद्धों और सन्तों की पूरी परम्परा इसका समर्थन करती है । इस लिये एक हजार वर्ष से पहले जाने से हमारा यह अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सांस्कृतिक एकता का ताना-बाना तो उसी समय बुना गया था, जिसकी कि चर्चा अनजाने में ही प्रो० युगेश्वर जी ने कर दी है कि करीब-करीब सब एक से हैं । हीनता-बोध से पीड़ित होने की भी चर्चा हुई है । इसके विषय में तो इतना ही कहा जा सकता है कि विदेशी प्रचार से आक्रान्त और अपसंस्कृति का वरण करने वाले व्यक्ति ही इसके शिकार हो सकते हैं । संस्कृति का एक ही दोष हमें नजर आता है कि प्रायः प्रत्येक धर्म का अनुयायी अपने धर्म के विनाश का खतरा इसमें देखने लगता है ।

मैं अब इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर दार्शनिक चर्चा प्रारम्भ करना चाहता हूं । मैं यहां दो श्लोक सुनाना चाहता हूं । ये शैव दर्शन के ग्रन्थों में उद्धृत है, एक नागार्जुन के 'नाम से और दूसरा बिना नाम के, किन्तु अब कम्बलपाद की आलोकमाला उपलब्ध हो गई है । वहां यह मिलता है । ये दोनों श्लोक शून्यता की व्याख्या करते हैं । नागार्जुन के नाम से जो श्लोक उद्धृत है, वह माध्यमिककारिका में उपलब्ध नहीं है । वे श्लोक ये हैं—

सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वतत्त्वैरशेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥

दूसरा है—

विरुद्धत्वात् तमोवृत्तेर्नावकाशं ददाति सा ।
सावस्था काप्यविज्ञेया मादृशां शून्यतोच्यते ॥
न पुनर्लोकरूढ्यैव नास्तिक्यार्थानुपातिनी ।

यहां शून्यता की व्याख्या की गई है, किन्तु उसका स्वरूप नागार्जुन के द्वारा प्रतिपादित शून्यता से भिन्न है । स्पष्ट है कि शून्यता के पारिभाषिक अर्थ में भी अन्तर आया । तान्त्रिक दर्शन की प्रत्येक शाखा में दार्शनिक विचारों के विकासक्रम की स्पष्ट झलक मिलती है । अभिनवगुप्त स्पष्ट रूप से कहते हैं कि मायावाद, विज्ञानवाद और आगमिक द्वैतवाद की परिणति है प्रत्यभिज्ञा दर्शन । इस प्रक्रिया पर हमें विचार करना चाहिये ।

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी

नागार्जुन कहते है—"अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम् । तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेते विचक्षणैः ॥" इस कारिका की व्याख्या करते हुए चन्द्रकीर्ति कहते है—"न वयं नास्तिका अस्तित्वनास्तित्वद्वयवादनिरासेन मध्यमपुरगामिनो वयं निर्वाणपथं विद्योतयामः" । आप जो कह रहे है, इसके नजदीक तो नागार्जुन आते हैं । नागार्जुन तो यही कहते है कि सारी भ्रान्ति हट गयी तो, हो गई हमारे दर्शन की स्थापना । जैसे खण्डनखण्डखाद्य में श्रीहर्ष कहते हैं कि हमारे पास तो दुधारी तलवार है । यदि तुम कहो कि ब्रह्म की परिभाषा नहीं हो सकती, तो क्या यही परिभाषा नहीं हो जायगी कि उसकी परिभाषा नहीं हो सकती ? ज्ञानसारसमुच्चय संस्कृत में नहीं मिलता, जिसको बौद्धों के खण्डन के समय वाचस्पति मिश्र ने भ्रान्ति के प्रसंग में उद्धृत किया है । उसका तिब्बती अनुवाद है । यह ग्रन्थ आर्यदेव का है । उसे हम लोगों को देखना चाहिये ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

ऊपर के श्लोक में एक शब्द है—"तमोवृत्तेः" । मैं समझता हूं बौद्ध दर्शन का यह शब्द नहीं है । सत्त्व, रज तमः— इन शब्दों का प्रयोग बौद्ध दर्शन में होता है या नहीं, मैं नहीं जानता, क्योंकि मैं उसका विद्यार्थी नहीं हूं । यह तो एक यात्रा है । इस तरह की भारतीय दर्शन की यात्रा पर पहले हम विचार करें ।

दूसरा विषय यह है कि सूफी मत पर शांकर वेदान्त का, जिसकी कि यहां अभी आचार्यों के दर्शन के रूप में चर्चा हुई है, प्रभाव है या तान्त्रिक दर्शन का । ये दो प्रश्न हम लोगों के सामने हैं । मैं पहले पं० कमलेशदत्त जी को दार्शनिक पक्ष उपस्थित करने के लिये और सूफीमत के लिये प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी से निवेदन करूँगा ।

प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी

अध्यक्ष महोदय, उपस्थित विद्वद्वृन्द ! आगम के तात्त्विक पक्ष और दार्शनिक पक्ष की ओर कुछ संकेत करने के लिये मुझे कहा गया हैं । पहले हमारे मन में यह स्पष्ट अवधारणा रहनी चाहिये कि हमारी दार्शनिक समस्या क्या है ? भारतीय चिन्तन की केन्द्रीय दार्शनिक समस्या क्या है ? जिसका उत्तर एक ओर वैदिक प्रस्थान देता है और दूसरी ओर आगमिक प्रस्थान ।

मुझे ध्यान आता है कि इस प्रश्न को हमारे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के दर्शन के पूर्व विभागाध्यक्ष स्वर्गीय प्रो० रमाकान्त त्रिपाठी ने कुछ वर्षों पहले उठाया था और संक्षेप में उनके सारे उपस्थापन का निष्कर्ष यह था कि समस्त भारतीय चिन्तन की मूल दार्शनिक समस्या है— अहंकार पर विजय पाना । उन्होंने उस तरफ संकेत करते हुए जो बातें कही थी, तत्काल मुझे यह लगा कि वाक्यपदीयकार ने भी इधर सुस्पष्ट संकेत किया है । "प्राप्त्युपायोऽनुकारश्च तस्य वेदो महर्षिभिः । एकोऽप्यनेकवर्त्मेव समाम्नातः पृथक् पृथक् ॥" इस कारिका पर स्वोपज्ञ वृत्ति लिखते हुए आरम्भ में ही वे प्राप्ति की परिभाषा करते हैं— "ममाहमित्यहङ्कारग्रन्थिसमतिक्रममात्रं ब्रह्मणः प्राप्तिः" । ब्रह्म की संप्राप्ति अथवा मोक्ष वस्तुतः 'अहं और मम' इस अहंकार ग्रन्थि से समतिक्रमण है । यह बात समस्त भारतीय दर्शनों पर लागू होती है । इस मूल दार्शनिक समस्या का समाधान जिस तरह से दिया गया, उधर भी प्रो० त्रिपाठी ने संकेत किया था । जब यह अहंकार गहन आग्रह के रूप में लिया जाय, घोर आग्रह के रूप में लिया जाय, जिस आग्रह की ओर हमारे प्रो० युगेश्वर जी ने संकेत किया है, वह आग्रह नित्य सत्ता को स्वीकार करने, ध्रुव आत्मतत्त्व को स्वीकार करने के कारण हो सकता है कि वह गहन आग्रह भी वहां आ जाय । इसीलिये बौद्ध चिन्तन में शून्यवाद की परिनिष्पत्ति हुई और वहां उस आत्मतत्त्व को एक तरह से शून्यतत्त्व के रूप में देखा गया । दार्शनिक रूप से जिसकी चिन्ता हमारे भाई श्री तिवारी जी ज्यादा साफ तरह से करेंगे, उसको हम छोड़ते है ।

लेकिन दूसरी ओर इस दार्शनिक समस्या का जैन दर्शन में जो उत्तर दिया गया, वह भी उस आग्रह का ही उत्तर है । आग्रह यही है न कि हमारी दृष्टि अत्यन्त शुचि है, सही है, यह कैसे हो सकता है ? उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया, वह स्याद्वाद और एकान्तवाद के द्वारा दिया । अब हम यह देखें कि इस दार्शनिक समस्या का उत्तर आगम किस रूप मे देते है । मुझे लगता है कि अत्यन्त संक्षेप में अगर इस बात को मैं कहना चाहूं तो आगम इस मूल समस्या का उत्तर दो तरह से देते है । एक तरफ तो आगम के वे प्रस्थान है, जो वेदान्त से अपना सामरस्य बनाते हुए चलते हैं । यह बात भी यही मैं कह

दूं कि इस पर वाक्यपदीयकार का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण संकेत है । वैदिक और तान्त्रिक जो दो धाराएं हैं, वे क्या परस्पर विलक्षण और विरुद्ध हैं ? अथवा उनका कहीं पर सामरस्य है । प्रो० खिस्ते जी ने इधर हमारा ध्यान दिलाया है । यह बड़ी अद्भुत बात है कि वाक्यपदीयकार स्वयं व्याकरण के बारे में दो तरह के दावे करते हैं । "प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः" । व्याकरण प्रथम वेदांग है, इसलिये सुस्पष्ट रूप से व्याकरण वैदिक परम्परा में आता है । दूसरी ओर स्वयं वाक्यपदीयकार यह घोषित करते हैं—"लुप्तो व्याकरणागमः", "पर्वतादागमं लब्ध्वा", "न चागमादृते धर्मस्तर्केण व्यवतिष्ठते", "ऋषीणामपि यज्ज्ञानं तदप्यागमपूर्वकम्" इनसे ऐसा लगता है कि एक साथ व्याकरण वैदिक परम्परा में भी है और आगम परम्परा का तो वह अत्यन्त उत्कृष्ट और मूलभूत आकर ही है । व्याकरण में जहां एक ओर वैदिक परम्परा है, वहीं दूसरी ओर आगमिक परम्परा एक साथ समुपस्थित है । इसीलिये वैदिक दृष्टि से वे कहते हैं—"सत्या विशुद्धिस्तत्रोक्ता विद्यैवैकपदागमा । युक्ता प्रणवरूपेण सर्ववादाऽविरोधिनी ॥" उस समस्त वैदिक वाङ्मय में जो सर्वविशुद्ध सत्य है, वह सर्वविशुद्ध सत्य प्रणव के रूप में उपस्थित है । "तस्यार्थवादरूपाणि निश्रिताः स्वविकल्पजाः । एकत्विनां द्वैतिनां च प्रवादा बहुधा मताः ॥" यह जो एकत्व या द्वैत, जो कुछ भी है, यह सब वस्तुतः अर्थवाद के ऊपर आधारित प्रवाद है । प्रवाद शब्द का एक निश्चित पारिभाषिक अर्थ में वाक्यपदीयकार ने प्रयोग किया है, जिसे उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति सुस्पष्ट करती है । इस तरह से एक ओर तो उसी व्याकरण दर्शन में वैदिक परम्परा है और इसी व्याकरण दर्शन में पुनः आगम भी उपस्थित होता है ।

यह आगम क्या है ? आगम वस्तुतः वह ज्ञान है, जिस ज्ञान की ओर आदरणीय द्विवेदी जी ने प्रातःकाल और अभी भी संकेत किया है कि यह चार पादों के रूप में अनिवार्य रूप से समस्त आगमों में समुपस्थित है और जिसका पार्यन्तिक रूप है ज्ञान । यह ज्ञान ही वस्तुतः आगम का परमार्थ है । आगम के अन्य अन्य अर्थ भी है । वाक्यपदीयकार ने उनको बड़े विस्तार से स्वोपज्ञ वृत्ति में भी दिया है । वे कहते हैं— "न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः" । यदि तत्त्व अविचारित होता है, तो अतत्त्व कहलाता है । जहां विचार है, वहां विचार के भीतर निहित जो तात्त्विक ज्ञान है, वह तात्त्विक ज्ञान ही वस्तुतः आगम का परमार्थ है । इसीलिये आगम का जो परमार्थ है, निष्कृष्ट अर्थ है, वह संवित् है । अब प्रश्न यह होता है कि वैदिक परम्परा का भी पर्यवसान ज्ञान में है और आगम का भी पर्यवसान ज्ञान में है । तब वह किस रूप में एक दूसरे से भिन्न है । यहीं पर आगम की विशिष्ट दार्शनिक भूमिका है ।

प्रातःस्मरणीय कविराज जी का जो संकेत आरम्भ में ही द्विवेदी जी ने दिया है, मैं उसी सूत्र को पकड़ कर आगे बढ़ना चाहता हूं । अद्वैत वेदान्त ने जो बात की थी या ऐसे ही दर्शनों ने जो बात की थी, वे सब ठीक हैं, अनादि है । समस्त आगम के दर्शन का पर्यवसान उस 'इन्टीग्रल फिलोसॉफी' में है, उस समग्र दर्शन की उपस्थिति में है, जहां विश्व की पूरी की पूरी व्याख्या

भी सम्भव है । इसीलिये चाहे कोई भी आगम हो, चाहे कोई भी तन्त्र हो, उसका पर्यवसान एक सोपान की कल्पना के रूप में करना पड़ता है । अन्ततः इस सोपान का पर्यवसान उस समग्र तत्त्वदृष्टि के भीतर आता है, जिसमें विश्व भी उसी का वैभव है, उसी का विलास है, उसी का प्रसर है । जिन भी शब्दों का प्रयोग हो, यह समस्त आगम-चिन्तन में लागू होगा और इसके लिये जो एक विशिष्ट मार्ग वेद से होता हुआ आता है, उसमें वाक्तत्त्व की अत्यन्त विशिष्ट भूमिका है । इसीलिये मैंने व्याकरण का संकेत करते हुए आगम के तात्त्विक चिन्तन की ओर आपका ध्यान दिलाने का प्रयास किया है । समस्त आगमिक दर्शन, समस्त तात्त्विक दर्शन और विशेष रूप से, सबके ऊपर कहने का मेरा दावा नहीं है, शाक्त और शैव सम्प्रदायों में जो वाक् की अतिविशिष्ट भूमिका है, वह अतिविशिष्ट भूमिका व्याकरण दर्शन से होती हुई आती है । कश्मीर शैव दर्शन में जो विचार हैं, जो पारिभाषिक शब्द हैं, आज उन पर विस्तार से कहने का अवसर नहीं है, लेकिन ऐसा लगता है कि ये सब व्याकरण दर्शन से आये है । वैसे श्रुति में सब विद्यमान है । "विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोऽभयं सह", व्याकरण दर्शन में भी विद्या और अविद्या दोनों है और दोनों उस पर-तत्त्व की शक्ति के रूप में है । वहां से जो विचार समुत्थ होता है, वह व्याकरण दर्शन में— "अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् । विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥", "सर्वपरिकल्पातीतं तत्त्वं भेदसंसर्गसमतिक्रमेण समाविष्टं सर्वाभिः शक्तिभिर्विद्याविद्याप्रविभागरूपमप्रविभागं कालभेददर्शनाभ्यासेन मूर्तिविभागभावनया च व्यवहारनुपातिभिर्धर्माधर्मैः सर्वावस्थासु अनाश्रितमनादिनिधनं ब्रह्म इति प्रतिज्ञायते"— इस तरह से प्रतिज्ञात है ।

व्याकरण दर्शन की यह प्रतिज्ञा है और व्याकरण दर्शन का जो विवेच्य विषय है, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या कर देता है— "अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितिलक्षणाः । अन्वाख्येयाश्च ये शब्दा ये चापि प्रतिपादकाः ॥" हेलाराज ने यहां प्रश्न किया है कि व्याकरण का मुख्य प्रतिपाद्य क्या है ? और उत्तर में कहा कि— "अष्टौ पदार्था व्याकरणस्य मुख्यं प्रतिपाद्यम्" । यह बात व्याकरण परम्परा से अनुमोदित नहीं है । स्वयं वाक्यपदीय से भी अनुमोदित नहीं है । इस शास्त्र का जो प्रतिपाद्य है, वह है विविध शब्द, विविध अर्थ, विविध सम्बन्ध, विविध प्रयोजन । व्याकरण का एक दूसरा अंश है, जो स्मृति है । स्मृति का मतलब क्या होता है ? जहां धर्माधर्मव्यवस्था है, वह स्मृति है । व्याकरण का वह अंश, जहां धर्माधर्मव्यवस्था की ओर संकेत है, वह उसका स्मृत्यंश है । जहां प्रक्रिया का विवेचन है, वह उसका शास्त्रांश है और जहां ज्ञान का विवेचन है, वह उसका आगमांश है । इस दृष्टि से वाक्यपदीय मुख्यतः आगम का ग्रन्थ है । "समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च, शास्त्रपूर्वकप्रयोगे धर्मनियमः" । अशुद्ध वाक्य का प्रयोग करने से कोई फांसी नहीं लगती, कोई पाप नहीं होता, लेकिन शुद्ध शब्द का प्रयोग करने से धर्म की निष्पत्ति होती है, धर्म की निष्पत्ति से विशुद्धि होती है, उस विशुद्धि से अधिकार बनता है और फिर उस अधिकार के द्वारा शब्दपूर्वयोग की सम्प्राप्ति होती है । शब्दपूर्वयोग के संबन्ध में हमारे गुरु आचार्य रामेश्वर झा जी से पढ़ते हुए हमने जाना कि शब्दपूर्वयोग का अर्थ क्या

है ? अमरकोष को उद्धृत करते हुए उन्होंने बताया था कि पूर्व का अर्थ है अतीत । शब्दपूर्वयोग शब्द से अतीत होने का योग है । शब्द से शब्दातीत को, क्रम से अक्रम को पकड़ना ही इसका लक्ष्य है । इसीको एक जगह क्रमसंहारयोग नाम दिया गया है और दूसरी ओर यह शब्दातीतयोग है । समस्त विकल्प से उत्तीर्ण होना आवश्यक है और वह विकल्प हमेशा शब्द से गर्भित है— "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । अनुविद्धमिदं सर्वं ज्ञानं शब्देन भाषते ॥" अत एव समस्त विकल्पात्मक स्थिति से उत्तीर्ण होने में व्याकरणशास्त्र का महनीय योग है । व्याकरण का एक विशिष्ट योग है । व्याकरण दर्शन की अपनी तत्त्वप्रक्रिया है । वह उसे आगम से जोड़ती है और इस आगम में वाक् की विशिष्ट भूमिका है । परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी यह चतुर्विधा वाक् है या त्रिविधा, इस बहस में मैं पड़ना नहीं चाहता । लेकिन चतुर्विधा वाक् की जो समुपस्थिति है, वहां पर जो विमर्श है, जो प्रत्यवमर्श है—"न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी"— वह इस ग्रन्थ से ही प्रमाणित है । यहां प्रकाश-विमर्श की जो तात्त्विक अवस्थिति है, इन सबकी भूमिका में आगम के दर्शन की, विशेषतः शैव और शाक्त दर्शन की जो तात्त्विक स्थिति है, जो दार्शनिक स्थिति है, उस पर विचार किया जाना चाहिये ।

अगर संस्कृति की बात आप करते है, तो पहले हमें यह बताना होगा कि इस देश की संस्कृति के केन्द्रीय मूल्य क्या है ? जिसके इर्द गिर्द यह सारी संस्कृति घूमती है । अगर इसको आप ध्यान से देखना चाहे, तो पहले पश्चिम की संस्कृति से विलक्षण भारतीय संस्कृति के मूल्यों को आप बताइये और तब बताइये कि उसकी संरक्षा के लिये इस आगम ने क्या किया । तभी बात स्पष्ट होगी । इस देश के सांस्कृतिक केन्द्रीय मूल्य की बात प्रो० डी० डी० कोशाम्बी ने अपने ग्रन्थ "हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर एण्ड सिविलाइजेशन" में उठाई है । उन्होंने कहा है कि अगर दो ही शब्दों में भारतीय संस्कृति के केन्द्रीय मूल्यों को बताना है, तो मैं कहूंगा कि वह केन्द्रीय मूल्य पहला धर्म और दूसरा प्रेम है । पश्चिम के केन्द्रीय मूल्य को अगर कहना चाहे, तो पहला 'प्रॉवेस' और दूसरा 'लव' है । कोशाम्बी कहते है कि जब अपकर्ष में देखना चाहे तो ज्यादा साफ दिखाई पड़ता है । जब लव का, प्रेम का अपकर्ष होता है, तो वह सेक्स होता है और जब धर्म का अपकर्ष होता है, तो उसके दो रूप बनते हैं— एक तत्त्वचिन्तापरक रूप और दूसरा आचारपरक रूप । जब आचार का अपकर्ष होगा, तो भ्रष्टाचार होगा और जब तत्त्व का अपकर्ष होगा, तो क्या होगा, यह बात उन्होंने नहीं कही ।

मैं स्वयं अपने से इस विषय में सोच रहा हूं कि जब धर्म का अपकर्ष होगा, जब आचार का अपकर्ष होगा तो भ्रष्टाचार होगा और जब तत्त्व की दृष्टि से अपकर्ष होगा, तो वह अन्धविश्वास होगा । समस्त भारतीय सांस्कृतिक अपकर्ष के मूल में आज एक ओर भ्रष्टाचार, दूसरी ओर अन्धविश्वास और तीसरी ओर है काम, जो—"ग्रह-गृहीत पुनि ताप वश तापर बीछी मार । ताहि पियाई वारुणी कहहु कवन उपचार ॥" इस वचन को सार्थक करता है । पश्चिम का अपकर्ष भी जब आपमें आकर मिल जाय सेक्स और प्रॉवेस का जब

अपकर्ष हो, तो वह है 'पालिटिक्स ऑफ पावर' । और प्रॉवेस का जब अपकर्ष होगा, तो वह 'वायलेंस' होगा । समस्त पश्चिमी संस्कृति का अपकर्ष उसकी हिंसापरकता में है। जब वह हिन्दुस्तान में आ जाय, तो पंजाब का आतंकवाद बनेगा, कश्मीर का आतंकवाद बनेगा । यह आतंकवाद चीज क्या है ? यह कहां से आ गया ? ये जो वह आततायी हैं, वे हिंसा के इस अपकर्ष को ले लेने के कारण हैं ।

अब मैं यहां आता हूं कि हमारे आगम ने भारतीय धार्मिक आचारपरक जीवन को, तत्त्वचिन्तापरक जीवन को क्या दिया ? और प्रेम को क्या मिला ? इसका उत्तर यह है कि प्रेम के दो प्रकार हैं— रागगत और अहंकारगत । राग का अगर उदात्तीकरण किया जाय, तो एक ओर भक्ति बनेगी, प्रेम का जो उदात्तीकरण है, ऊर्ध्वीकरण है, वह एक ओर भक्ति-प्रस्थान के रूप में आया और दूसरी ओर प्रेम का उदात्तीकरण तन्त्र के मार्ग से आया, जहां पंचमकार को भी स्वीकार किया गया । यह संस्कृति के मूल तत्त्व को ऊपर ले जाने की एक चेष्टा है । इसलिये समस्त तान्त्रिक चर्या में प्रेम को लेकर एक विशेष प्रकार का विस्तार किया गया है । और इस केन्द्रीय तत्त्व को उत्कर्ष भी दिया गया है ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

हम लोग तो इस कार्यशाला में ज्ञानवर्धन के लिये आये हुए हैं । हमारा तन्त्र के अध्ययन की ओर कुछ झुकाव हो, इसलिये इसको समझने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन मुझे कभी कभी ऐसा लगता है कि हम लोगों ने बहुत विशाल विषय चुन लिया है, जिसके कई उपविषय भी है और समय के अभाव में उसके साथ न्याय नहीं हो सकता। हमारे विचार में जैसे कल ही प्रो० जी० सी० पाण्डेय से बात हुई, महापुरुषों के वचन बड़े सरल थे । बुद्ध ने उपदेश बहुत सरल रूप में दिया था, जिसमें कोई भी इस प्रकार की बात नहीं थी जो आदमी को समझ में न आवे। फिर भी जैसे किसी वस्तु का विकास होता है, मानव समाज का भी उसी प्रकार विकास हुआ है । बौद्ध धर्म के विकास में भी तन्त्र का प्रवेश स्वाभाविक ही था । लेकिन मेरे विचार में इधर हम बौद्ध ग्रन्थो का अध्ययन करेंगे, तो हमें मिलेगा कि उसकी आरम्भिक स्थिति में तान्त्रिक प्रभाव उसमें कम नजर आता है, जो धीरे धीरे विकसित हुआ ।

अब हम देखें कि बौद्ध धर्म की मूल देशना क्या है ? अगर 'फन्डामेन्टल्स ऑफ बुद्धिज्म' पर एक दृष्टिपात करें तो जो बात नजर आती है, इसके बारे में किसी को संदेह नहीं हो सकता न विवाद । भगवान् बुद्ध ने दुःख और दुःखनिरोध की देशना की । दो मुख्य सिद्धान्त भगवान् ने कहे थे कि दुःख है, लेकिन दुःख का निवारण भी है तथा उसका उन्होंने मार्ग भी बतलाया, जिसे दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् या आर्याष्टांग मार्ग कहा जाता है । उसको आप शील, समाधि एवं प्रज्ञा में विभाजित कर सकते हैं । ये तीनों ही शब्द एक बात को बतलाते है । आर्य मार्ग जब शील, समाधि और प्रज्ञा में

विभाजित हुआ, तो व्यक्तियों की भी तीन श्रेणियां देखी गई । कोई शील-प्रधान व्यक्ति है, जो शील पर आधारित अपना जीवन चलाना चाहता है । कोई समाधि-प्रधान है, जिसको समाधि में रस (जिसे आस्वादना कहते हैं) आता है और समाधि में ही वह अपना जीवन बिताना चाहता है । तीसरा व्यक्ति प्रज्ञाशील बन जाता है और जिसको आधुनिक भाषा में इन्टेलेक्चुअल कहा जाता है । यद्यपि 'प्रज्ञा' केवल बुद्धि का विलास नहीं है, वह तो सम्यक्दृष्टि का ही दूसरा नाम है । ये तीन प्रकार के व्यक्ति आज भी पाये जाते हैं । इन्टेलेक्चुअल ओरेन्टेड, अध्ययनशील होता है । कुछ एक एकाग्र होकर कुछ काम करते हैं, किसी भी कार्य में दत्तचित्त हो जाते है और कुछ एक्शन (कर्म) ओरेन्टेड है, सदैव काम करना चाहते हैं, जिसको हम वीर्य· प्रधान कहते हैं । ये तीनों वर्गीकरण बौद्ध धर्म में नजर आते है । इधर हम देखें कि इसका जो विशद विश्लेषण हुआ है और बौद्ध धर्म के सारे सिद्धान्त विश्लेषण प्रक्रिया पर आधारित हैं ।

हम जब गहरे जायेंगे तो देखेंगे कि भगवान् बुद्ध ने दो बलों का प्रतिपादन किया है— प्रतिसंख्यान-बल और भावना-बल । ये धम्मसंगणि में भी आये हैं और इधर संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिसंख्यान-बल और भावना-बल की चर्चा है । ये दोनों पावर्स (शक्तियां) है । एक प्रज्ञा का पावर है, परन्तु वह मात्र इन्टेलेक्चुअल पावर नहीं है, जिससे कभी कभी लगता है कि यह सारा संसार आक्रान्त है । यदि ढंग से प्रज्ञा-बल का प्रयोग किया जाय, तो इसमें मार्ग भी निकल सकता है और ये न्यूक्युलर बम के खतरे को प्रज्ञा द्वारा ही खतम कर सकते हैं । यदि सही दृष्टि को प्रस्तुत करें, तो विनाश के काम को इन्टेलेक्चुअल ही रोक सकते है । प्रतिसंख्यान-बल के अतिरिक्त दूसरा भावना-बल है । प्रज्ञा की महत्ता तो इससे ही स्पष्ट है, पूरा प्रज्ञापारमिता-साहित्य विकसित हुआ । लेकिन इस साहित्य में शील पर भी कोई कम बल नहीं दिया गया और समाधि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । समाधि-भावना के भी कई वर्गीकरण हैं । उसमें एक विशेष भावना पर हम आपका ध्यान दिलाना चाहेंगे । वह है ऋद्धिपाद । अब ऋद्धिपाद का समावेश समाधि के ही अन्तर्गत है । समाधि भावनाओं में ऋद्धिपाद भी आ जाती है और ऋद्धिपाद भी एक भावना-बल की मानो प्रकर्ष स्थिति है । मेरे विचार में जो ऋद्धियां प्राप्त होती थी, उसके लिये कुछ लोग लगे रहते थे । भगवान् बुद्ध के उपदेश जो है, उसमें एक महत्त्वपूर्ण शब्द का प्रयोग है, वह है 'अधिमुक्ति' । प्राचीन वैदिक साहित्य में यह शब्द किस प्रकार प्रयुक्त हुआ मुझे पता नही, लेकिन 'आगम' और 'अधिमुक्ति' इन दोनों का बौद्ध साहित्य में काफी प्रयोग मिलता है । भगवान् बुद्ध जब भी उपदेश देते थे, सत्त्वविशेष की अधिमुक्ति (हिन्दी मे 'झुकाव' कह सकते है) को जानकर देते थे ।

अधिमुक्ति 'आशय' से सम्बद्ध है, कुछ इस प्रकार के अधिमुक्ति वाले लोग थे, जो मेरे ख्याल में तन्त्र की तरफ झुकने वाले थे । तन्त्र को भी एक बड़ा पावर समझा गया और उस पावर को लेने के लिये संघर्ष आज भी है । हमारे भाई त्रिपाठी जी ने एक बात कही कि जो आज एकॉनामिक (आर्थिक)

पावर है, उस पावर के पीछे जो आदमी की एक अधिमुक्ति है, उसके कारण मेरे विचार में इधर तान्त्रिक बौद्ध धर्म का विकास हुआ। तान्त्रिक बौद्ध धर्म को जैसा हमारे विद्वान् मित्र द्विवेदी जी ने ठीक रूप से कहा कि उसको केवल कर्मकाण्ड से नहीं जोड़ना चाहिये, लेकिन वह पावर है। आज अंग्रेजी में कई किताबें आ रही है। जैसे "पावर ऑफ तन्त्र" इत्यादि। मैं समझता हूं कि इस प्रकार के शीर्षकों से पुस्तकें विदेशों में छप रही है और तन्त्र एक पावर है, उस पावर को लेने में सब आदमी लगे रहते हैं। जीवन में हर व्यक्ति पावर चाहता है। घर में भी आप देखेंगे कि पति पावरफुल बनना चाहता है, पत्नी भी पावर की बात करती है, परन्तु पावरफुल कौन है ? पावर के पीछे एक अधिमुक्ति होती है, जो शक्ति विकसित होती है, मैं समझता हूं, वही तन्त्र का विकास करती है। अब सवाल आता है कि तन्त्र का विकास वह जो पावर लेना है, वह क्या लोगों की भलाई के लिये है या लोगों के नुकसान के लिये ? वह निश्चित ही लोककल्याण के लिये है, वह सर्व सत्त्वों के हित के लिये है। किसी को नुकसान पहुंचाने के लिये नहीं है। मुझे याद है कि किसी ने कहा कि अरे भाई वह तो बड़ा दुश्मन है उसे ठीक कीजिये, अतः कुछ तन्त्र का साधन कीजिये। इस स्थिति में तन्त्र की साधना दूसरो को नुकसान पहुंचाने के कारण कितनी गलत है, हेय है। तान्त्रिक शक्ति का विकास दार्शनिक दृष्टि से देखा जाय तो यह बिल्कुल ही स्वाभाविक है। बौद्ध तन्त्रों में वह दूसरो के भले के लिये है और सत्त्वों के कल्याण के लिये है। इसमें रत्ती मात्र भी सन्देह नही। इन शब्दों के साथ मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूं।

प्रो० युगेश्वर

पश्चिम ने दो बिन्दु बनाए थे। एक प्रॉवेस और दूसरा पावर। मैं कहना चाहता हूँ कि पावर दो तरह के होते हैं। आप अगर संतुलित पश्चिमी विचारधारा को देखें, तो वह पावर केवल अपने लिये इकट्ठा करता है। वह पावर देता नहीं किसी को, वह पावर लेता है। अगर आप यह माने कि पावर उसकी संस्कृति का आधार है या उसकी सभ्यता का आधार है, तब आपको मानना पड़ेगा कि भारत मे जब अंग्रेज आया था तो पावर देने आया था और इस दृष्टि से जिन लोगों ने अंग्रेजों को यहा से भगा दिया, वे नितान्त गलत लोग थे, क्योंकि जो पावर दे रहा था उसको निकाल दिया गया। हिन्दुस्तान में ऐसे लोगो की बड़ी भारी संख्या है, जो यह मानते है कि अंग्रेज हमको पावर देने आये थे। मेरा निवेदन यह है कि डॉ० डी० डी० कोशाम्बी को यह समझने में कठिनाई हुई। क्षमा करेंगे कि वे पावर देने नहीं, वे हिन्दुस्तान का पावर लेने आये थे और यह पावर लेना किसी सभ्य समाज की विशेषता नही• हो सकती, यह किसी असभ्य समाज की विशेषता हो सकती है। जब कोई कहता है कि वह पावर उसकी संस्कृति का अंग है, तो मैं उसको असुर समाज का मानता हूं। मेरे साथ और लोग भी है, मैं अकेला नही हूँ।

दूसरी बात जिस प्रेम की कही जाती है, इसी संदर्भ में आप अगर भारत को देखेंगे तो जब यह पावर देता है, तो दूसरे ढंग का पावर देता है, हिन्दुस्तान जब धर्म की बात करता है, वह एक ऐसे धर्म का विकास करता है, जो मानवीय धर्म है, जो सबके लिये है । दूसरी बात जो प्रेम की है, उनके प्रेम का भी एक निश्चित दायरा है । वह प्रेम एक व्यक्ति देगा, वही सबका कल्याण करेगा । यह जो प्रेम है, यह प्रेम भी एकाधिकार का प्रेम है, याने यह अधिनायकवादी प्रेम है । भारत जब धर्म और प्रेम की बात करता है, तो वह सभी बन्धनों से मुक्त है ।

प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी

मै बहुत संक्षेप में यह कहना चाहता हूं कि आपने व्याकरण पर इतना कहा और शुद्ध शब्दों के प्रयोग पर जोर दिया, किन्तु तन्त्र तो शब्दातीत है, मन्त्र की शुद्धि पर कौन व्याकरण लगेगा ? अभी पाठक जी ने एक मन्त्र सुनाया--"किलि किलि गिलि गिलि चिलि चिलि लिलि लिलि" । इस पर कौन सा व्याकरण लगेगा ? प्रो0 सम्तानी जी ने कहा कि बौद्ध धर्म में पहले धारणियां नहीं थीं । हमारा कहना है कि यह आटानाटीसूत्र क्या है ? चुल्लवग्ग में जो सर्प की धारणी बतायी भगवान् बुद्ध ने, वह क्या है ? जो अंश प्राचीन है, यद्यपि उनमें विद्याओं का निषेध मिलता है, लेकिन इस निषेध से ही उनकी स्थिति का अन्दाजा हो जाता है । व्याकरण शास्त्र के अनुसार तो हमारा जितना नवांग महायान साहित्य है, उसको पढ़ना ही नहीं चाहिये, क्योंकि व्याकरण के अनुसार यह सब अशुद्ध है । कोई वैयाकरण भाषा नहीं बनाता । महाभाष्यकार चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं पस्पशाह्निक भूमिका में कि शब्दार्थ संबन्ध के निश्चित होने पर ही व्याकरण की प्रवृत्ति होती है और यह सारा व्याकरण वर्णागम, वर्णलोप, वर्णविकार आदि से भरा है । यह भी कहा गया है कि सन्देह की स्थिति में शिष्टों को प्रमाण मानना चाहिये । प्रश्न उठता है कि शिष्ट कौन हैं ? महाभाष्यकार ने शिष्टों की जो परिभाषा दी है, उसके अनुसार आज हमें कोई शिष्ट नहीं मिलेगा । यहां व्याकरण या भाषा की शुद्धि-अशुद्धि की चर्चा नहीं हो रही है । यहां तो तान्त्रिक दर्शन की चर्चा चल रही है, उसी पर विचार व्यक्त किये जाने चाहिये ।

प्रो0 कमलेशदत्त त्रिपाठी

दो बातों की मै संक्षेप में चर्चा करना चाहता हूं । मै यह दावा करके नहीं बैठा हूं कि आज सारे प्रश्नों का निर्णय हो जायगा । संगोष्ठी की सफलता होती है प्रश्नों को उठाने में । सबका समाधान हो, यह कोई जरूरी नहीं है । जहां तक डॉ0 युगेश्वर जी का कहना है कि पावर की पश्चिमी अवधारणा, प्रेम की पश्चिमी अवधारणा और भारतीय शक्ति की अवधारणा और प्रेम की अवधारणा में भेद है । इसको मानने मे किसी भी विचारशील व्यक्ति को कतई आपत्ति नहीं होगी । अंग्रेज यहा शक्ति देने आये थे, यह बात डॉ0 डी0 डी0 कौशाम्बी ने कही नही कही है । मुझे केवल इतना कहना है कि मूल केन्द्रीय मूल्य है क्या ? अगर केन्द्रीय मूल्य प्रेम है, तो उसका अपकर्ष क्या है ? और आगम

ने उस प्रेम को किस तरह से देखा । आगम ने एक ओर उसे भक्ति के रूप में देखा और दूसरी तरफ उस प्रेम का ऊर्ध्वीकरण किया । ऊर्ध्वीकरण की प्रवृत्ति आगम की प्रवृत्ति है और यह उसका सांस्कृतिक अवदान है ।

दूसरी जो बहुत महत्त्वपूर्ण बात तिवारी जी ने उठाई, उस पर मेरा इतना ही निवेदन है कि शब्द से शब्दातीत की यात्रा आगमिक दर्शन का मुख्य लक्ष्य है । इसमें वाक् की भूमिका क्या है ? वाक् को यहां शक्ति के रूप में मान्यता दी गई है । तत्त्व को शक्ति से युक्त मानना और शक्ति को वाग्रूप मानना और उनकी विमर्श–प्रत्यवमर्श के रूप में व्याख्या करना समस्त शाक्त और शैव आगमों का मुख्य विषय है और यही व्याकरण दर्शन की मुख्य भूमिका है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं एक निवेदन करूं । यह चर्चा अब कार्यशाला के विषय से अलग जा रही है । मैं अपने विषय पर आने के लिये डॉ0 बहुलकर जी से निवेदन करता हूँ ।

डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर

मैं इतना ही कहने वाला था, जो आपने कहा । मुझे ज्यादा कुछ कहना नहीं है, क्योंकि मेरी अपेक्षा दार्शनिक पक्ष के विषय में जब चर्चा होने वाली है, तो बौद्ध तन्त्र या दूसरे जो तन्त्र हैं, उनका अन्तिम लक्ष्य क्या है, उसके दर्शन का स्वरूप क्या है और उसके दार्शनिक पक्ष की पूर्वपीठिका क्या है, कौन सा दर्शन किस तन्त्र से सम्बद्ध है ? इस विषय पर चर्चा होना चाहिये, ऐसी मेरी अपेक्षा है । अभी इस विषय में मैं कुछ कहना नहीं चाहता ।

प्रो0 सेम्पा दोर्जे

शब्दशुद्धि, वाक्शुद्धि और शक्ति के साथ शब्द के संबन्ध में डॉ0 कमलेशदत्त जी ने जो कुछ कहा, उस पर मैं कोई आपत्ति नहीं उठाता । उसका खण्डन भी है, मण्डन भी है, यह शास्त्रों में बहुत हो चुका है । लेकिन एक प्रश्न यह आता है कि तन्त्र के दर्शन या तान्त्रिक संस्कृति के बारे में विचार करते समय तन्त्र में प्रयुक्त शब्दों को उसी अर्थ में हम लोग ग्रहण नहीं कर सकते, जो बोला जाता है, या लिखा जाता है । तान्त्रिक भाषा प्रायः व्यञ्जनाप्रधान होती है, वह संध्याभाषा होती है । यहां माता, भगिनी, पिता आदि शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं । पंचभूत बुद्ध की बात कह रहे हैं, वैरोचन की बात कह रहे हैं । इस तरह से जितने तान्त्रिक शब्द हैं, वे प्रायः उस अर्थ में प्रयुक्त नहीं होते, जो कि लोक में प्रचलित है । हम वाच्यार्थ के आधार पर तन्त्र को समझ नहीं सकते । इसलिये व्याकरण दर्शन के आधार पर उसको समझने की चेष्टा करेंगे, तो उसमें थोड़ी असंगति पैदा हो जायगी, अर्थ का अनर्थ होने लगेगा । तान्त्रिक दर्शन की अवधारणाएं दूसरे ढंग से चलती है, तान्त्रिक दर्शन का पूरा ढांचा और उसकी मान्यता थोड़ी भिन्न है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं यह निवेदन करता हूं कि शून्यता की परिभाषा मैंने सुनाई है । अब प्रश्न यह है कि नागार्जुन की परिभाषा से इसमें समानता है या नहीं ?

प्रो० सेम्पा दोर्जे

जहां तक ख्याल है, वह नागार्जुन के नाम से उद्धृत है, किन्तु हमें लगता है कि यह समाधिराजसूत्र या अक्षयमतिसूत्र का वचन है। समाधिराज में इस तरह के कई श्लोक है । अक्षयमतिसूत्र में भी इस तरह का एक श्लोक आता है । चन्द्रकीर्ति ने इस तरह के श्लोकों को बार बार उद्धृत किया है । नागार्जुन के द्वारा माध्यमिक शास्त्र में प्रतिपादित शून्यता को तत्सम्मत मान लेने में कोई दिक्कत नहीं है । दूसरी बात यह है कि शब्दों की संरचना के पीछे एक अर्थ भी जुड़ा रहता है, उसका अभिप्राय भी रहता है । आभिप्रायिक दृष्टि से यदि कोई इसका दूसरा अर्थ हो तो उसे हम नही बता सकते । परम्परागत अध्ययन ही इसकी परम्परा को बता सकता है । पूरे अध्ययन की प्रासंगिकता के बिना सीधे हम श्लोक के सही अर्थ को नहीं बता सकते । यदि बता भी दे तो यह ईमानदारी नहीं होगी ।

तन्त्र के दर्शन के बारे में जहां तक प्रश्न है, इधर तो सब जगह बौद्ध परम्परा में कह दिया जाता है कि जो महायान दर्शन है, शून्यवादी दर्शन है या विज्ञानवादी दर्शन है, उससे तन्त्र का दर्शन अलग नहीं है । दर्शन से मेरा मतलब तत्त्वमीमांसा से है, कर्मकाण्ड की पद्धति से नहीं । तत्त्वमीमांसा का मतलब तत्त्वज्ञान से है । पारमितानय में प्रतिपादित जो ज्ञानमीमांसा है, इसके अतिरिक्त यहां ज्ञानमीमांसा की अलग से व्यवस्था नहीं है, ऐसा बौद्धाचार्यों का कहना है । कभी कभी ऐसी भी अवस्था आती है कि तत्त्वविषयक दृष्टि में बहुत ज्यादा फरक नहीं आता, लेकिन प्रतिपादक ज्ञान या उसी तत्त्वज्ञान को विषय बनाने वाले ज्ञान में बहुत फरक आ जाता है । इसीलिये यहां दर्शन की तत्त्व-मीमांसा के संदर्भ से एक तो उसके विषय का निर्णय, दूसरे उसके विषयी ज्ञान का निर्णय ये दोनों आते है । इस फरक को बताना मेरे ख्याल में संभव नहीं है, संकेतमात्र किया जा सकता है कि उसमें कुछ ज्ञान-विशेष की अवस्था रहती है और उस पर चर्चा की जा सकती है ।

डॉ० एस० एस० बहुलकर

डॉ० एस० वी० दासगुप्ता ने ऐसा एक विधान किया है कि बौद्ध तन्त्रों में माध्यमिकों की शून्यता के सिद्धान्त का और योगाचार की त्रिस्वभाव की कल्पना का मिश्रण किया गया है । इस विषय में आपकी क्या धारणा है, यह मैं सुनना चाहता हूँ ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

यह कहा जाता है कि तन्त्र में प्रवेश उसका नहीं हो सकता, जो योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन को नहीं जानता । अर्थात् तन्त्र के तत्त्वज्ञान

को समझने से पहले उसे योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन में परिपक्व होना चाहिये । यह भी कहा जाता है कि तन्त्र में साधनापक्ष है, याने इसमें वे उपाय प्रदर्शित हैं, जिनकी वजह से एक ही जन्म में बुद्धत्व प्राप्त किया जा सकता है । दर्शन की दृष्टि से तन्त्रयान और पारमितायान में फर्क नहीं होता । पारमितायान के दर्शन शून्यवाद और विज्ञानवाद की दृष्टि से तन्त्रयान का फर्क नहीं किया जाता, बल्कि पारमितायान में जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये असंख्येय कल्पों तक पुण्य-संभार और ज्ञान-संभार का अर्जन करना पड़ता है, वहीं तान्त्रिक साधक जगत् के कल्याण के लिये महाकरुणा से प्रेरित हो शीघ्र से शीघ्र बुद्धत्व प्राप्त करना चाहता है, इसके लिये वह तन्त्र-मार्ग का अवलम्बन करता है । मार्ग में फर्क है । बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये त्रिकाय की प्राप्ति की जाती है । पारमितायान में बुद्ध के रूपकाय को प्राप्त करने का सम्यक् उपाय प्रदर्शित नहीं है । भगवान् का जो धर्मकाय है, वह तो ज्ञानात्मक है । इसलिये प्रज्ञा उसका उपादान कारण हो जाती है, वह प्रज्ञा धर्मकाय के रूप में परिणत हो जाती है । लेकिन भगवान् का जो रूपकाय है, उसके उपादान कारण की साधना पारमितायान में वर्णित नहीं है और तन्त्रशास्त्र में रूपकाय का उपादान कारण वर्णित है । उसके माध्यम से चट से रूपकाय की सिद्धि मिल जाती है । कहने का मतलब यह है कि तन्त्र का दर्शन योगाचार दर्शन और माध्यमिक दर्शन है ।

मुझे यह ज्ञात है कि वसुबन्धु के शिष्य स्थिरमति ने मूल-माध्यमिककारिका पर टीका लिखी है । उसमें प्रदर्शित किया गया है कि माध्यमिककारिका का अभिप्राय विज्ञानवाद में है । नागार्जुन को माध्यमिक दर्शन का आचार्य माना जाता है । उसमें भी एक ही प्रकार के माध्यमिक नहीं है । उसमें स्वातन्त्रिक माध्यमिक है, प्रासंगिक माध्यमिक है । स्वातन्त्रिक के भी दो भेद है— सूत्राचार स्वातन्त्रिक और योगाचार स्वातन्त्रिक । हमें ऐसा लगता है कि योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक, जो चित्त को अद्वय तत्त्व मानते हैं और परमार्थतः चित्त को निःस्वभाव मानते है, वह तन्त्र के दर्शन से ज्यादा अनुकूल है । तिब्बती परम्परा तन्त्र के दर्शन को प्रासंगिक माध्यमिक से जोड़ती है, लेकिन वह भी सही है कि वे अपनी व्याख्या करते है, प्रासंगिक माध्यमिक से भी उसको जोड़ा जा सकता है, लेकिन योगाचार स्वातन्त्रिक माध्यमिक का दर्शन ही मेरे ख्याल से ज्यादा युक्तियुक्त मालूम पड़ता है, उसमें ज्यादा क्लिष्ट कल्पना नहीं करनी पड़ती ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

प्रो० त्रिपाठी जी को मैं एक सूचना देना चाहता हूँ । अद्वयवज्र ने अपनी तत्त्वरत्नावली में बताया है कि वैभाषिक आदि चारों सम्प्रदाय चित्त की प्रभास्वरता में पूर्णतया उपयुक्त नहीं हैं, इनसे कुछ न कुछ मल बचा रह जाता है, उसका परिशोधन मन्त्रनय से ही होता है । इस पृष्ठभूमि में मैं समझता हूँ कि नागार्जुन की जो शून्यता की परिभाषा थी, वह परस्पर के विचार-संघर्ष से

बदल करके इस रूप में उपस्थित हुई है। मेरा प्रश्न यह है कि ऐसा हुआ है या नहीं ? यह आप बताइये।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

हमारा ख्याल है कि प्रासंगिक माध्यमिक के नय से तो ऐसा नहीं हो सकता, विज्ञानवादी दृष्टि इसमें हो सकती है—

> सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्त्वैरशेषतः ।
> सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्यं परमार्थतः ॥

इससे ऐसा लगता है कि शून्यता में भी विज्ञान की स्थिति रहती है, जैसा कि मध्यान्तविभाग में लिखा है—"अभूतपरिकल्पोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते। शून्यता विद्यते तत्र" अर्थात् शून्यता में भी अभूत-परिकल्प रहता है, इसलिये वह एक दम निस्वभावता नहीं है, बल्कि विज्ञान की सत्ता उसमें रहती है. । द्वयरहित, ग्राह्य-ग्राहक के द्वैत से रहित जो अद्वय चित्त है, उसकी सत्ता इसमें मालूम पड़ती है। इसलिये "न शून्यं परमार्थतः" का अर्थ इसमें लगता है। कम्बलपाद की आलोकमाला को मैंने भी पढ़ा है। इस पर विज्ञानवाद का प्रभाव ज्यादा है।

डॉ० वङछुग् दोर्जे नेगी

एक जगह पर तन्त्र में ऐसा भी है, मेरा तो अपना विचार यही है। प्रसज्य और पर्युदास के भेद से शून्यता भी दो प्रकार की है। प्रसज्य शून्यता निषेधात्मक और पर्युदास शून्यता विधिरूप है। शून्यता का विधिरूप भी है। अभी उद्धृत वचन इसी के साथ मिलता जुलता है। यह डाकार्णवतन्त्र का है या बुद्धकपाल का, मैं स्पष्ट नहीं कह सकता, किन्तु वहां नागार्जुन द्वारा प्रतिपादित शून्यता गर्भ में बच्चे के अभाव की तरह है, जिसकी आगे कोई परम्परा नहीं चलती और तन्त्र वाली शून्यता गर्भ की जैसी है, सन्तति के रूप में जिसकी परम्परा आगे बढ़ती है, अर्थात् उसमें विधिरूपता स्पष्ट होती है। इससे यह सिद्ध हो रहा है कि तन्त्र की शून्यता पर्युदासात्मक है, विधिरूप है। उसे ऐसा होना भी चाहिये। उस विधि का स्वरूप कैसा है ? वह निष्प्रपंच है, लेकिन यह निष्प्रपंच तत्त्व नित्य या कूटस्थ नहीं है। उसका स्वरूप निष्प्रपंच है, लेकिन चित्त में उसकी स्थिति माननी पड़ेगी, जिसे हम प्रभास्वरता कह सकते है, उसकी स्थिति को हमें मानना होगा। हम जब दर्शनों को देखते है, तो कुछ निष्क्रिय जैसा ही खोजते रहते हैं, किन्तु कहीं कुछ भी प्राप्त नहीं होता। तन्त्र की साधना इससे संभव नहीं हो सकती। तन्त्रशास्त्र के अनुसार बुद्ध का शरीर तो नैरञ्जना में है, लेकिन उनका सूक्ष्म चित्त ऊपर आकर तन्त्र की देशना करता है, जैसा कि शाक्यमित्र आदि ने कहा, उसी प्रकार बुद्ध गृध्रकूट में प्रज्ञापारमिता की देशना देते है, सूक्ष्म प्राण-चित्त से धान्यकटक में जाकर कालचक्र की देशना करते हैं। इन सब चीजों के आधार के रूप में यदि हम चित्त-प्रभास्वरता को स्वीकार न करें, तो तन्त्र खड़ा ही नहीं हो सकता। इसलिये मेरा तो यही कहना है कि चित्त प्रभास्वर स्वरूप है, उसको तन्त्र में स्वीकार करना ही होगा। हर कोई मत बौद्ध हो या बौद्धेतर हो, चाहे

सूफी हो, चाहे अन्य मत, सबको चित्त को निप्रपंच रूप में समाहित रहना पड़ता है । सभी धर्मो और दर्शनों में सिद्ध और महापुरुष उत्पन्न हुए है, चित्त की प्रभास्वरता ही इसका मुख्य कारण है । उसका साक्षात् होने पर ही ऋद्धि-सिद्धि या जो कुछ भी हो, उसकी प्राप्ति होती है । यह प्रभास्वरता ही पूरे तान्त्रिक वाङ्मय का तत्त्व-दर्शन होगा, ऐसा मैं समझता हूँ ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

आप कहते हैं कि उपदेश और कल्याण कार्य करने के लिये प्रासंगिक वाली, प्रसज्य प्रतिषेध वाली शून्यता को नहीं माना जा सकता । ऐसा उपदेश शून्यता थोड़े देती है । प्रासंगिक माध्यमिक के मत में भी चित्त तो रह जाता है और वह प्रभास्वर ही रहता है ।

डॉ० वङछुग् दोर्जे नेगी

आचार्य नागार्जुन की निषेधात्मक पद्धति के अनुसार हम जो प्रतिवाद करेंगे, उससे हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा, ऐसी स्थिति में तन्त्र की साधना ही हमारा मार्ग-दर्शन कर सकती है ।

आचार्य नवाङ् समतेन

मै समझता हूँ पारमितायान और तन्त्रयान की दार्शनिक दृष्टि में कोई भेद नहीं है, क्योंकि पारमितायान के अनुसार भी शून्यता के साक्षात्कार से ही क्लेशावरण का प्रहाण मामा जाता है और इसी से अर्हत्व की भी प्राप्ति होती है, क्योंकि यह सत्तामात्र का निषेध नहीं करती, उसके स्वभाव का निषेध करती है । जब हम साधना में प्रवृत्त होते है, तब पारमितायान और मन्त्रयान में एक अन्तर यह होता है कि पारमितायान में जब शून्यता का साक्षात्कार मार्ग-अवस्था में करते है, तो उस समय वह विध्यात्मक नही होती, वहां केवल शून्यता का ही साक्षात्कार होता है, उसका ही ध्यान करना होता है, जब कि तन्त्रयान में इन दोनों में साथ-साथ चलना पड़ता है । कई विद्वानों का मत यह भी है कि इसे वज्रयान इसलिये भी कहा जाता है कि शून्यता का आभास होते हुए भी हम देवता और मण्डल का भी ध्यान करते हैं और उनका आभास भी होता है । यही तन्त्रयान की विशेषता है । इसे ही वज्रयान कहा जाता है । पारमितायान में दोनों को एक साथ नहीं किया जा सकता । शून्यता का जब ध्यान करते है, तो केवल शून्यता ही रहती है । जब कि मन्त्रयान में इन दोनों का एक साथ ध्यान किया जा सकता है ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

हमारा एक प्रश्न है कि जैसा आप लोग कह रहे हैं; पारमितायान पूर्ण नहीं है, तन्त्रयान का सहारा लेने पर उसको पूर्णता प्राप्त होती है । हम लोग क्या ऐसा मानकर चले कि पारमितायान की पूर्णता के लिये तन्त्रयान की अत्यन्त आवश्यकता है ?

प्रो० येशे थपख्ये

यह जो अभी चर्चा चल रही है, इसके बारे में मैं भी कुछ कहना चाहता हूँ । प्रज्ञापारमितासूत्र मे शून्यता की व्यवस्था है और तन्त्र में भी शून्यता की व्यवस्था है । ये दोनों सूक्ष्म-स्थूल धाराएं हैं, ऐसा कहने वाले बहुत से बौद्ध विद्वान् हैं । दूसरे विद्वान् इन दोनों के बीच भेद नहीं मानते । प्रज्ञापारमितासूत्र में शून्यता की जो व्यवस्था है, तन्त्रयान में भी वही है । इनमें सूक्ष्म और स्थूल का भेद नहीं होता । फरक यह होता है कि तन्त्र में जो सूक्ष्म ज्ञान है, मन के अवधूती में प्रवेश के कारण वायु के स्थिर हो कर विलीन हो जाने पर जीवन का जितना भी आभास है, वह सब खतम हो जाता है । उसके बाद एक दम शुद्ध, आकाश में आलोक के समान एक दम शुद्ध ज्ञान का आलोक फैल जाता है । इसकी हम महासुख के रूप में पहचान कर सकते है । शुक्र की जो गति है, उसी के वेश में महासुख को प्राप्त किया जाता है । ज्ञान भी अतिसूक्ष्म होता है । प्रज्ञापारमितासूत्र में इसकी भी व्याख्या उसी तरह से की गई है । एक दम उसको अलग नहीं किया जा सकता । उस ज्ञान में शून्यता का विषय क्या है, विषयी क्या है, इसको अलग नहीं किया जा सकता ।

इसीलिये बौद्ध विद्वानों का मत है कि जो निषेध हो जाता है, उसमें भी विधि रह जाती है । यही शून्यता का पर्युदास पक्ष है । सब कोई इसमें एक दम एक मत नहीं है, किसी एक का यह मत है । लेकिन इसमें अधिकतर बोलने का फरक है, वास्तविक रूप में ज्यादा फरक नहीं है । शून्यता में जो ज्ञान रहता है, उस ज्ञान को अलग नहीं गिना जा सकता । शून्य कहें या शून्यता का ज्ञान कहें, उस समय ज्ञान अलग से नहीं रहता । इसीलिये वह विधि के रूप में है, सूक्ष्म ज्ञान की दृष्टि से वह विधि के रूप में है । कहने का मतलब यह है कि आचार्य चोङ्खापा ने प्रबल तर्क द्वारा यह सिद्ध किया है कि शून्यता में कोई फरक नहीं है, लेकिन उसको जानने वाले ज्ञान में बहुत फरक है । अभी आपने जो श्लोक पढ़ा, उसमें शून्यता की परमार्थता चर्चित है इस पर हमारा कहना यह है कि परमार्थ दो प्रकार का होता है— एक परमार्थ शब्द, जो ज्ञान के सामने रहता है, आर्यज्ञान के सामने रहता है, उसको परमार्थ सत्य कहा जाता है । दूसरे स्वतः सिद्ध को भी परमार्थ कहा जाता है । इसलिये शून्यता परमार्थ नही है, इसका मतलब होगा कि शून्यता भी एक शून्यता है, वह कभी परमार्थ नहीं है । ऐसी भी व्याख्या उस श्लोक की कर सकते हैं ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

गेशे जी के कहने का मतलब यह है कि शून्यता में फर्क न हो, फिर भी शून्यता को जानने वाला जो ज्ञान है, वह पारमितायान का और तन्त्रयान का भिन्न है । पारमितायान में जो शून्यता को जानने वाला ज्ञान है, वह स्थूल ज्ञान है और तन्त्र का जो ज्ञान है, वह अत्यन्त सूक्ष्म है, जो मनुष्य के जीवन में कभी कभी प्रकट होता है । यह मृत्यु के बाद होता है । इसीलिये बौद्ध

साधक उस शून्यता-ज्ञान का साक्षात्कार करने के लिये मृत्यु की साधना करते हैं । उत्पत्तिक्रम और निष्पन्नक्रम की पद्धति से सारे पंचमहाभूतों को विलीन कर दिया जाता है । फिर आलोक होता है, आलोकाभास होता है, आलोकोपलब्धि होती है और वह आलोक की उपलब्धि की अवस्था में एकदम शून्य हो जाता है । फिर एक प्रभास्वरता पैदा होती है । सूक्ष्म ज्ञान व्यक्ति के भीतर है और सूक्ष्म प्राण से संयुक्त है । लेकिन वे दोनों भी शून्य हैं । सूक्ष्म ज्ञान अपनी शून्यता में "चन्द्रचन्द्रिकयोरिव" भेदाभेद रूप में अवस्थित है । यह चीज पारमितायान में नहीं है । उस शून्यता से युक्त ज्ञान को प्रकट करना ही बुद्ध का धर्मकाय है और इसी के लिये सारी तन्त्र की साधना होती है ।

डॉ० वङ्छुग् दोर्जे नेगी

विषय निष्प्रपंच है, इसमें दो राय नहीं । तन्त्र में जहां कहीं भी हो, नागार्जुन की निष्प्रपञ्चता से अधिक कुछ भी नहीं है, लेकिन जो निष्प्रपञ्चता का बोध कर रहा है, वह क्या है ? विषयी वह भी निष्प्रपंच है या नहीं ? उसका विधि रूप है या नहीं ? उसका अस्तित्व है या नहीं ? प्रश्न यह है । अगर उसको हम स्वीकार नही करते, तो तन्त्र-साधना व्यर्थ जायगी ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

मैं जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जो नागार्जुन का पहला शून्यता का लक्षण है, वह चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है । आलोकमाला के उक्त श्लोक में दिया गया लक्षण उससे भिन्न है । भारतीय दर्शन के दो पक्ष हैं— एक तो शास्त्रार्थ वाला पक्ष है, जो नागार्जुन के पक्ष को आज भी उसी रूप में प्रस्तुत करता है । दूसरा पक्ष विकासशीलता को दिखाता है । शून्यता का दूसरा लक्षण इसी का साक्षी है । भारतीय दर्शन की प्रत्येक शाखा में यह हमें देखने को मिलेगा । परस्पर के घात-प्रतिघात से, एक दूसरे के साथ हुए वाद-विवाद से ऐसा हुआ, इस निष्कर्ष से आप सहमत हैं कि नहीं ?

प्रो० सेम्पा दोर्जे

उक्त श्लोक के बारे में हम जो कह रहे है, यहां माध्यमिक दर्शन की दो परम्पराएं हैं— एक नागार्जुन की परम्परा है दूसरी अद्वयवज्र वाली है । नागार्जुन की परम्परा को सर्व-शून्यवाद कहा जाता है और अद्वयवज्र की परम्परा को संवित्तिवाद (माया) कहा जाता है । पहले शून्यवाद को माध्यमिक, प्रासंगिक माध्यमिक, मायासंवृतिवाद, मायोपम संवृतिवाद, मायोपम स्वभाववाद कहते है, उसका यह लक्षण इसमें है । वह तो सर्वशून्य की बात नहीं कह रहे है यहां पर, इसलिये ये दो श्लोक थोड़ा भिन्न हो जाते है ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक

उस शून्यता का स्वरूप क्या है ? स्वच्छन्दतन्त्र में कहा गया है—

अशून्यं शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स तु विज्ञेयो यत्र भावा क्षयं गताः ॥

जिसमें सब भावो का निषेध है, वह शून्य रूप है, वही शून्य है शिव । यह निष्कर्ष शिव की चर्चा करते समय वहां बताई गई है। यह दृष्टि बौद्धो के ग्रहण करने योग्य है, या ग्रहण के अयोग्य है ? एक बात और है, जिस शून्य की चर्चा तन्त्र-ग्रन्थों में आई है, छः शून्यों की चर्चा है, उसमें पंचशून्य हेय है और एक शून्य ग्राह्य है । इस विषय में आपकी क्या धारणा है ?

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

उसमें यह देखना पड़ेगा कि यहां परभाव-शून्यता को कहा जा रहा है या स्वभाव-शून्यता को ? सबसे शून्य है, लेकिन स्वयं में यदि शून्य नहीं है, याने स्वतः उसका अस्तित्व है, तो वह शून्य भी हो जायेगा और रह भी जायगा । इसमें नागार्जुन वाली परतः शून्यता तो है, लेकिन स्वतः शून्यता नही है । यह फर्क पड़ता है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

अब हम इस चर्चा को यहीं समाप्त करते है । इस पूरे विचार-विमर्श में डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी और प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक के विचारो को देखने से स्पष्ट होता है कि महायान की और मन्त्रनय की शून्यता की परिभाषा में अन्तर आ गया था । भारतीय दर्शनों का अध्ययन अभी इस दृष्टिकोण से हो नही पाया है, अतः विचार-विनिमय में कठिनाई उपस्थित हो यह स्वाभाविक है । कार्यशाला की सर्वांगपूर्णता के लिये अब एक विषय बचा है कि सूफी मत पर तन्त्रशास्त्र का प्रभाव है या नहीं ? मै प्रो0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय जी से निवेदन करता हूं कि वे सूफीमत के बारे में अपने विचार प्रस्तुत करें ।

प्रो0 नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

बहुत संक्षेप मे मै अपनी बात कहूँगा । पहली बात तो यह है कि सूफीमत का प्रचार भारतवर्ष में आठवी शताब्दी के आसपास हुआ और लगभग सत्रहवीं शताब्दी तक यह बड़े विस्तार से चलता रहा । इसमें भी उत्थान-पतन के कई अवसर आये । प्रारम्भिक अवस्था में इस्लाम के प्रति जो उसकी प्रतिबद्धता थी, वह प्रतिबद्धता आगे चलकर और बढ़ी । फिर परिवर्तन हुआ । मन्सूर हल्लाज के ऊपर वेदान्त का प्रभाव पड़ा, ऐसा बताया जाता है और उसमें उन्होने अपने को ही ब्रह्म या अल्लाह कहने की जो कोशिश की, उसका परिणाम यह हुआ कि उन्हे सूली पर चढ़ा दिया गया । यह ९२२ ई0 की घटना है । बाद मे उन्हें जला दिया गया । समय ने पल्टा खाया और सूफीमत पुनः इस्लाम के अनुकूल हो गया । परिवर्तन फिर हुआ और उसने एक ऐसी स्थिति बनायी कि हम इस्लाम के विरोध में कुछ नहीं कहेगे, लेकिन अपनी बात अवश्य कहेंगे । सत्रहवीं शताब्दी में औरंगजेब के समय में फिर परिवर्तन हुआ और उसने सूफीवाद का उन्मूलन करने की घोषणा कर दी । हिन्दी में लिखे गये प्रेमाख्यानों के अध्ययन से ये सारे परिवर्तन बहुत अच्छी तरह से स्पष्ट हो जाते है ।

दूसरी बात यह है कि सूफीमत के ऊपर नाथ सम्प्रदाय का भी, जो काश्मीर के शैव मत से अच्छी तरह से सम्बद्ध है, प्रमुख प्रभाव माना जाता है । प्रायः सभी विद्वान् इसे मानते हैं । सूफी ग्रन्थों में, विशेष करके प्रेमाख्यान के ग्रन्थों में दो बातें विशेष रूप से दिखाई पड़ती हैं— पहली बात तो योग, यानी वह तान्त्रिक योग, जिसमें चक्रयोजना है । भारत की अत्यन्त प्राचीन तान्त्रिक साधना का सूफियों पर सीधा प्रभाव भी कुछ विद्वानों ने स्वीकार किया है । दूसरी बात यह कि वह पिण्ड-ब्रह्माण्डवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करता है । प्रेमाख्यान-ग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, शरीर का जो वर्णन है, वह इसके अनुकूल है । "नौ पौड़ी पर दसम दुवारा । ता पर बाज राज घरियारा" ।। लतायफी सित्ता का जो सिद्धान्त सूफियों में है, वह हमारे यहां के षट्चक्र से बहुत मिलता जुलता है । इस तरह से संक्षेप में यदि बात कही जाय और यदि नारदीय भक्तिसूत्र एवं उनके प्रेम के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो बहुत कम ऐसे अवसर आते हैं, जहां कि उनमें अन्तर दिखाई पड़ता हो ।

सबसे बड़ी बात यह है कि सूफीमत कहीं भी इस्लाम के प्रति, मोहम्मद साहब के प्रति या उनके चार यारों के प्रति अविश्वास और अश्रद्धा व्यक्त करता हुआ नहीं दिखाई पड़ता । इसलिये उनकी इस्लाम के प्रति जो प्रतिबद्धता है, वह कभी कम होती है, कभी बढ़ती है अवश्य, लेकिन वे हमेशा इस्लाम के प्रति अपनी श्रद्धा को अवश्य प्रकट करते हैं । कुछ विद्वानों ने बौद्ध धर्म का प्रभाव भी उनके ऊपर माना है, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं है कि नाथों का प्रभाव, जो एक तान्त्रिक सम्प्रदाय है अपने यहां का, इसका प्रभाव बहुत स्पष्ट रूप में है । सहजयानी बौद्ध सिद्धों का कोई प्रभाव इन पर नहीं दिखायी पड़ता । नाथो के संबन्ध में कई स्थानों पर वे नाम भी लेते हैं गोरखनाथ इत्यादि का । ऐसी स्थिति में यह बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे यहां की जो तान्त्रिक साधना है, वह यहां नाथ सम्प्रदाय के माध्यम से व्यक्त हुई है, उसका प्रभाव उनके ऊपर अवश्य पड़ा था । विस्तार से विवेचन करने के लिये बहुत से ग्रन्थ देखे जा सकते हैं । यहा तो संक्षेप में, संकेत रूप में मैने अपनी बात कह दी । वस्तुतः सूफियों पर भारतीय प्रभाव वायजीद (८७३ ई०) के समय से ही शुरु हो गया था ।

प्रो० एन० एच० साम्तानी

सूफीमत के बारे में मेरा एक ही प्रश्न है कि मन्सूर अल-हल्लाज का जो नारा था, वह 'अनल हकक' क्या ब्रह्म से या शून्य से सम्बन्ध रखता है ?

प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

उनका कहना था कि "मै ब्रह्म हू" या "मै ईश्वर हू" या "मैं सत्य हू" । जायसी ने 'शून्य समाधि' का उल्लेख किया है, जो नागार्जुन के शून्य से पूरी तरह भिन्न है, नाथपन्थी है । 'शून्य' शब्द ब्रह्म के लिये भी प्रयुक्त हुआ है और आकाश के लिये भी, सहस्रार के लिये भी । सूफियों के ऊपर वेदान्त का प्रभाव है, उपनिषदो का प्रभाव है । कुछ लोग उन्हें अद्वैतवाद से भी सबद्ध मानते है ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

किस अद्वैतवाद से ?

प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय

शांकर अद्वैतवाद से ।

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी

सुधारवादी पुनरुत्थान आन्दोलन का हमारे ऊपर इतना गहरा प्रभाव पड़ा है कि अद्वैतवाद का नाम आते ही हमें शांकर अद्वैतवाद के अतिरिक्त दूसरा कुछ सूझता नहीं है । श्रद्धेय कविराज जी का विचार था कि सूफीमत पर कश्मीर के प्रत्यभिज्ञा दर्शन का प्रभाव था । इस दृष्टि से अभी सूफीमत की विवेचना नहीं हुई है । अस्तु, इस चर्चा को अब हम पूरा करते हैं । मैं अध्यक्ष महोदय से निवेदन करना चाहता हूं कि वे दक्षिण में "शिवज्ञानबोधम्" के माध्यम से जो शिवाद्वयवाद पनपा, इस पूरी गोष्ठी की प्रासंगिकता में उसका भी हमें थोड़ा परिचय दे दें ।

प्रो० एन० आर० भट्ट

Today there has been discussion on the Sanskrit *darśanas*, their culture and philosophy. How do you see the tantras culturally and philosophically ? This point has not been touched completely by anybody so far. Scholars have just given the information of the *darśana* of the tantra and have said about the influence of the *darśana* on the tantra. *Tantraśāstra* is a philosophy and it is for the people of India. Each language can develop its tantra in its own way. It is not told that it should be in Sanskrit itself, it should be in Hindi, it should be in Tamil etc. In every language it is developed in a different way. You know correctly that there are several crores of *mantras* in *tantraśāstra*. How do you count them ? How many *mantras* have you found so far ? Not even one crore, not even ten thousand. Where is the list of the *mantras* ? Seven crores of *mantras* have been counted, of these $3^1/_2$ crores are active and $3^1/_2$ crores are not. So $3^1/_2$ crores of *mantras*, you have to find in India. The same is also about ancient Indian philosophy. Somebody has talked about Lokāyatamata. True, it is also one tantra. It is one school of thought. But it is not accepted in *tantraśāstra*, because it is considered as a *nāstikamata*. There are two types of *mantras*, *nāstika* and *āstika*. So *tantraśāstra* belongs to the *āstika* sect. So Lokāyatamata has nothing to do with this *āstikamata* though they may have their own *mantras*, I mean, for obtaining something in this world.

भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः ।

It is the Lokāyatamata that has instisted to get something in this world, and not the *tantraśāstra*. The aim of our *tantraśāstra* is to get relieved from *duḥkha*, and to obtain the supereme bliss. Either it is *duḥkhānta* or it would be without any *duḥkha*, that is *śūnya*. *Śūnya* is also accepted in Vīra-śaivas. Dharma is necessary for moral conduct, to make a man go on the proper path and *prema* is counted here as the love for the Lord. Ạbundant *śraddhā* or *bhakti* in the God is *prema*. This you can see in Tamil, in the Alwars who have *nāyaka-nāyikā-bhāva* with the God. The man makes himself *nāyikā* and makes the God *nāyaka*

and then sings after him. This is called *utkrṣṭabhakti*. This is that *prema* but people always take the things in a bad way. Unfortunately it is not the view of the *tantraśāstra* at all. As I told before, we have to cut out these things from the *tantraśāstra*. The main aim of *tantraśāstra* is to attain the Bliss. And incidentally, there are things as were needed for *pāmara* people, what you call, I mean, uncultured people, who want to get something, want something, then these small things are used of course. It is not unnatural. When people beg, then give 10 paise, nothing wrong. But this is not your Dharma. This is not a Dharma. Because you make them beg more. And, about*śūnyatā* there has been a lot of discussion, I have not been able to understand the real conclusion of this *śūnyatā* so far. May be the Vīraśaiva *śūnyatā* and this *śūnyatā* were almost the same. I mean you are beyond meditating something. You have Jaina Dharma etc. At the end you are nothing. The Śaivite ācāryas were dualistic. But after Śaṅkara, the Śaiva philosophy was influenced by the Advaita philosophy. In Śivajñānabodha and other works in Tamil, the Śaiva philosophy is called Advaita. But realy it is not Advaita. Advaita means Ātman itself becomes Brahman: *ahaṁ brahmāsmi*. Nothing exists. All is *mithyā*. Here it is not that. Here it is the unity with Śiva. The whole becomes united with Śiva. But they are not one. It is like the eye and the sunlight. The eye is different, the sunlight is different. When they join together they are able to see something. This is Advaita. So this Jīvātman is able to visualise Śiva directly, which is called Śivādvaita, not limited one. Many people have an illusion that Advaita in Śiva-Advaita means Ātmā becomes one with Śiva. It is not possible, because in *tantraśāstra*, *upāsanā* is the main thing. *Upāsanā* can't be done, if *jñeya* and the person who makes the *jñāna* are not different. If you are one, there is no need of *dhyāna*. So through Īśvara meditation, you have to make a *pujā* and you have to be different from the one you are to worship. In the text it is not clear whether it is Advaita. But on one side, you see the Advaita, one person disappears in Śiva itself. In the text, they want to say Advaita, but they don't accept it as a full Advaita. This is Tamil philosophical position. And Vīra-śaivas accept this *śūnyatā*, complete *śūnyatā*—so all the *darśanas* are helping it. So, this is a *dārśanika pakṣa* and our culture also helps you in the Tantraśāstra culture, because, this is in our culture, in different languages in different peoples, in different ways. So, we have to make the study of the different things in their own way and not in our way. We can't force something of ourselves on some sect. We have to make a study of their sect and their principles, their rituals and their rites. Thank you.

•

समापन सत्र

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

अध्यक्ष महोदय और उपस्थित विद्वद्वृन्द ! अब हम लोग इस सप्तदिवसीय कार्यशाला का समापन करने जा रहे हैं । हमारे आज के इस सत्र के मनोनीत अध्यक्ष इस विद्या के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो0 एन0 आर0 भट्ट ने आसन ग्रहण कर लिया है । अब मैं इस सप्तदिवसीय कार्यशाला के प्रतिवेदन को प्रस्तुत करने के लिये डॉ0 बनारसीलाल को बुलाता हूँ । ये इस शोध-योजना के शोध अधिकारी हैं । डॉ0 बनारसीलाल यह प्रतिवेदन प्रस्तुत करें, इसके पहले मैं आज के अध्यक्ष जी का सम्मान करने के लिये उनको माल्यार्पण करता हूँ ।

प्रतिवेदन

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान की दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के द्वारा दिनांक ६-१२ फरवरी १९९२ तक "भारतीय तन्त्रशास्त्र" विषय पर एक अखिल भारतीय कार्यशाला का आयोजन किया गया । इसमें वाराणसी के तीनों विश्वविद्यालयों, उच्च शिक्षा संस्थानों एवं महाविद्यालयों के विशेषज्ञ विद्वानों के अलावा इलाहाबाद, दिल्ली, राजस्थान, कर्णाटक, पाण्डिचेरी, महाराष्ट्र, बंगाल, मध्यप्रदेश एवं नेपाल के विशिष्ट विद्वानों ने भाग लिया । कार्यशाला—उद्घाटन एवं समापन सत्र के अलावा—कुल १२ सत्रों में सम्पन्न हुई । जिसमें बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त और वैष्णव तन्त्रों से सम्बद्ध मुद्रा, मण्डल, अभिषेक, दीक्षा, पीठ, बीजाक्षर, मन्त्र, न्यास, चण्डालीयोग आदि विभिन्न विषयों पर निबन्ध पढ़े गये और विद्वानों द्वारा उन पर गहन विचारविमर्श हुआ ।

दिनांक ६ फरवरी को पूर्वाह्ण १० बजे प्रसिद्ध दार्शनिक डॉ0 नथमल टाटिया ने कार्यशाला का उद्घाटन किया तथा शैव तन्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् प्रो0 एन0 आर0 भट्ट ने उद्घाटन सत्र की अध्यक्षता की । तिब्बती एवं संस्कृत मंगलाचरण के बाद संस्थान के निदेशक प्रो0 एस0 रिन्पोछे ने अतिथियों का स्वागत किया । शोध योजना के उपनिदेशक प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी ने विषय का उपस्थापन किया ।

कार्यशाला का उद्घाटन करते हुए डॉ0 नथमल टाटिया ने कहा कि तन्त्रविद्या भारत की उत्कृष्ट आध्यात्मिक विद्या है । इसने भारत के अलावा चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया एवं मध्य-एशिया के अनेक देशों को प्रभावित किया, जिसकी परम्परा आज भी उन देशों में जीवित रूप में देखी जा सकती है । दुःख का विषय यह है कि भारत में इस समय इसका ह्रास देखा जा रहा है । उसकी गुह्यता भी इसमें एक कारण है । इस प्रकार के आयोजनों द्वारा उसे विद्वत्समाज में पुनः प्रतिष्ठित करना अत्यन्त प्रासंगिक है ।

उद्घाटन समारोह की अध्यक्षता करते हुए प्रो0 एन0 आर0 भट्ट ने कहा कि तन्त्र का व्यावहारिक पक्ष भारत में आज भी देखा जा सकता है । यहां की साधना, कर्मकाण्ड, पूजापद्धति आदि में तन्त्र का प्रभाव विद्यमान है । मन्दिरों

का निर्माण, उनकी पूजापद्धति एवं विशिष्ट उत्सव किसी न किसी तान्त्रिक शाखा के सिद्धान्तों के अनुसार परिचालित होते हैं ।

अपने स्वागत भाषण में संस्थान के निदेशक प्रो0 एस0 रिन्पोछे ने कहा कि भारतीय तन्त्रपरम्परा बौद्ध धर्म के साथ-साथ सातवीं शताब्दी में तिब्बत में प्रविष्ट हुई । गुरु पद्मसम्भव ने तिब्बत पहुँच कर पच्चीस वज्रशिष्यों को अभिषिक्त किया और वज्रयान की साधना वहां प्रचलित की । तिब्बत में यह परम्परा आज भी जीवन्त है । प्रो0 रिन्पोछे ने कहा कि तन्त्रशास्त्र अत्यन्त गूढ है और उसकी साधना गोपनीय ढंग से की जाती है । कार्यशालाओं और सेमीनारो में सर्वसामान्य के समक्ष उसकी चर्चा करना सम्भव नहीं है । फिर भी उसके शैक्षिक पक्ष पर तथा उसके दार्शनिक पक्ष पर विचार-विमर्श किया जा सकता है ।

विषय का उपस्थापन करते हुए शोध योजना के उपनिदेशक प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी ने कार्यशाला के प्रयोजन पर प्रकाश डाला । उन्होंने कहा कि भारत की राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक अखण्डता की प्रतिष्ठा में तन्त्र का विशेष योगदान रहा है । जाति, वर्ण, भाषा और क्षेत्र आदि के संकीर्ण भेदों का निराकरण करते हुए एकीकृत समाज-व्यवस्था की स्थापना तन्त्रपरम्परा का उद्देश्य रहा है । भारतीय संस्कृति की आगम-परम्परा इस देश में अति प्राचीनकाल से प्रचलित रही है, जिसे श्रमणों की बौद्ध और जैन परम्पराओं ने अपनाया । इनकी साधना के कर्मकाण्डों में, देवी-देवताओं में अद्भुत साम्य देखा जाता है । इनके चक्र, मण्डल, अभिषेक, बीज-मन्त्र एवं योगचर्याओं में भी अधिक भेद नहीं है । पूरे भारत में व्याप्त पीठ-उपपीठों में भी साम्य देखा जा सकता है । इन समानताओं का अध्ययन कर सांस्कृतिक एकता को उजागर करना, कृत्रिम विभेदों को दूर करना और तन्त्र के अध्ययन को विकसित करना इस कार्यशाला के आयोजन का प्रयोजन है ।

कार्यशाला के उद्घाटन सत्र का संचालन संस्थान के रिसर्च प्रोफेसर डॉ0 रामशंकर त्रिपाठी ने किया तथा संकायाध्यक्ष प्रो0 कामेश्वरनाथ मिश्र ने कृतज्ञता-ज्ञापन किया ।

ज्ञात है कि बौद्ध तन्त्र क्रिया, चर्या, योग एवं अनुत्तर नामक चार भेदों में विभक्त है । दिनांक ६ फरवरी को ही कार्यशाला के प्रथम सत्र में प्रो0 सेम्पा दोर्जे ने क्रिया और चर्यातन्त्र पर अपना शोधपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत किया । विषय को स्पष्ट करते हुए प्रो0 सेम्पा दोर्जे ने कहा कि बुद्धत्व प्राप्ति ही समस्त तन्त्रों का एकमात्र लक्ष्य है । तन्त्र का अभिप्राय अविच्छिन्न परम्परा से है तथा मन्त्र शब्द का अर्थ प्रज्ञा और उपाय की युगनद्धता है । फल की प्राप्ति में क्लेशों का मार्ग के रूप में उपयोग करना तन्त्रशास्त्र की विशेषता है । क्रियातन्त्र में ईक्षण के द्वारा और चर्यातन्त्र में हास के द्वारा राग का मार्गीकरण करके उससे क्लेशावरण और ज्ञेयावरणो का प्रहाण करने वाली प्रज्ञा का उत्पाद करना और उसे महासुख के साथ समन्वित करना, इन दोनों तन्त्रों का उद्देश्य है । प्रो0 सेम्पा दोर्जे ने क्रियातन्त्र के तथागत आदि तीन फलों, भूमि-शोधन से लेकर

अभिषेक पर्यन्त सभी विधिविधानों एवं सुबाहुपरिपृच्छातन्त्र, ध्यानोत्तरतन्त्र आदि क्रियातन्त्र-प्रतिपादक तन्त्र-ग्रन्थों का परिचय दिया । उन्होंने कहा कि आन्तरिक लोक और बाह्य क्रिया अनुष्ठानों में जिस तन्त्र में बाह्यानुष्ठानों पर अधिक बल दिया जाता है, वह क्रियातन्त्र, तथा बाह्य और आभ्यन्तर दोनों साधना-प्रकारों पर जिसमें बराबर-बराबर बल दिया जाता है, वह चर्यातन्त्र है । हास के द्वारा राग का मार्ग रूप मे उपयोग कर सुखसहगत प्रज्ञा द्वारा आवरणों के प्रहाण का विधिविधान जिसमें प्रतिपादित है, वह चर्यातन्त्र कहलाता है । इसमें भी तथागतकुल, पद्मकुल एवं वज्रकुल तीन फल पाये जाते हैं । वैरोचनाभिसम्बोधितन्त्र, हयग्रीवमहातन्त्र आदि इस तन्त्र के मुख्य प्रतिपादक ग्रन्थ है । उन्होंने चर्यातन्त्र की दृष्टि से संवर, समय, अभिषेक, मण्डल एवं सनिमित्त-अनिमित्त आदि योगों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला ।

दिनांक ६ फरवरी को ही द्वितीय सत्र में संस्थान के प्राध्यापक डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी ने पितृतन्त्र की परम्परा और साधना विषय पर अपने गम्भीर और विस्तृत निबन्ध का पाठ किया । अद्वयज्ञान की प्राप्ति और युगनद्ध अवस्था को प्राप्त करना तन्त्रशास्त्र का उद्देश्य बताते हुए उन्होंने वज्रयान, मन्त्रयान, फलयान, उपाययान आदि को पर्यायवाची प्रतिपादित किया । उन्होंने कहा कि अनुत्तरतन्त्र के तीन भेद किये जाते हैं । यथा— पितृ, मातृ एवं अद्वयतन्त्र ।

पितृतन्त्र को उपायतन्त्र और मातृतन्त्र को प्रज्ञातन्त्र भी कहते है । मुख और भुजाओं की समानता, असमानता, आसन और सिंहासनों की विशेषता, मुद्राओं की विशेषता के आधार पर मातृतन्त्र और पितृतन्त्र दोनों के लक्षणों को प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा कि नाडी-तिलक का जिसमें प्राधान्य हो वह मातृतन्त्र तथा जिसमे वायु का प्राधान्य हो वह पितृतन्त्र कहलाता है । पांच स्कन्धों को विशुद्ध कर पाँच तथागतों में परिणत करने की प्रक्रिया पितृतन्त्र की तथा पांच धातुओं को परिशुद्ध कर पाँच देवियों में परिणत करने की मातृतन्त्र की विशेषता है । निष्पन्नक्रम की साधना के भेद के आधार पर उन्होंने प्रतिपादित किया कि पितृतन्त्र में पंचक्रम की साधना का विशेष महत्त्व होता है तथा चार मुद्राओं द्वारा निष्पन्नक्रम की भावना करना मातृतन्त्र की विशेषता है । पितृतन्त्र के आधार पर अभिषेक, वज्रदेह, नाडीत्रय, वायु, तिलकमण्डल, मुद्रा आदि का विभिन्न शास्त्रों से उद्धरण देकर प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया । उन्होंने कहा कि गुह्यसमाज इसका मूलतन्त्र तथा वज्रमाला, सन्धिव्याकरण, वज्रज्ञानसमुच्चय, चतुर्देवीपरिपृच्छा आदि इसके व्याख्यातन्त्र हैं ।

दिनांक ७ फरवरी को पूर्वाह्ण के सत्र में शोध योजना के शोध अधिकारी डॉ0 ठाकुरसेन नेगी ने पुष्कल प्रमाणों के आधार पर बौद्ध तन्त्र की मातृतन्त्र शाखा पर विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की । उन्होंने वायु, नाडी, बिन्दु आदि गूढ विषयों का विवेचन करते हुए वज्रदेह की सिद्धि पर विशेष प्रकाश डाला । इसी सत्र में योजना के शोध अधिकारी डॉ0 बनारसी लाल ने बौद्ध तन्त्रों के प्रमुख विभाग अद्वयतन्त्र का परिचय देते हुए कालचक्रतन्त्र के आधार पर अभिषेक, मण्डल, कुल, षडंग योग एवं पीठों का सप्रमाण प्रतिपादन किया ।

अपराह्ण के चतुर्थ सत्र में जैन तन्त्र चर्चा का प्रमुख विषय रहा । उज्जैन के डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी ने विभिन्न ग्रन्थों का उद्धरण देते हुए दीक्षा, अभिषेक, मन्त्र, यन्त्र, सकलीकरण आदि विभिन्न साधना-पद्धतियों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया । उन्होंने मुद्रा, पीठ, न्यास, बाह्याभ्यन्तर पीठ, नाडी, चक्र, प्राणायाम, षडंग योग एवं कुण्डलनी योग की चर्चा की । इसी सत्र में दो और निबन्ध पढ़े गये, जिनमें एक युवाचार्य महाप्रज्ञ का "जैन तन्त्र में मन्त्र और सकलीकरण" शीर्षक तथा दूसरा साध्वी डॉ० सुरेखाश्री का "मन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नमस्कार मन्त्र" नामक निबन्ध था । इनमें जैन तन्त्र की परम्परा के अनुसार सकलीकरण और नमस्कार मन्त्र से सम्बद्ध गूढ विषयों का निरूपण किया गया था ।

दिनांक ८ फरवरी के पूर्वाह्ण के सत्र में दो निबन्ध पढ़े गये, जिनका सम्बन्ध शैव तन्त्र से था । श्रीनगर के प्रो० बलजिन्नाथ पण्डित का "काश्मीर शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा" शीर्षक से शोधपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत हुआ तथा कर्णाटक के प्रो० चन्द्रशेखर कपाले ने दक्षिण भारत की वीरशैव सम्प्रदाय की परम्परा के अनुसार विषय का पुंखानुपुंख विवेचन किया ।

अपराह्ण के सत्र में तन्त्रशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् पाण्डिचेरी के प्रो० एन० आर० भट्ट ने सिद्धान्तशैव शाखा के परिप्रेक्ष्य में शैव मन्दिर और उसकी पूजापद्धति के प्रकारों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला ।

दिनांक ९ फरवरी के पूर्वाह्ण के सत्र में दो निबन्ध प्रस्तुत हुए, जिनका विषय वैष्णव तन्त्र था । डॉ० अशोककुमार कालिया ने वैष्णव तन्त्र की पांचरात्र शाखा के अनुसार प्रमाणों के आधार पर दीक्षा, मण्डल, गुरु-शिष्य के लक्षण आदि विषयों का विस्तृत व्याख्यान किया । वैष्णव तन्त्र की वैखानस शाखा के आधार पर प्रो० राघवप्रसाद चौधरी ने दीक्षा, अभिषेक, मण्डल, मन्त्र आदि विभिन्न तान्त्रिक विषयों का सप्रमाण विवेचन प्रस्तुत किया । डॉ० चौधरी स्वयं उपस्थित नहीं हुए ।

अपराह्ण के सत्र में डॉ० प्रभाकर आपटे ने पौष्करसंहिता के आधार पर मण्डल की आकृतियों का सप्रमाण परिचय दिया । इसी सत्र में शान्तिनिकेतन के प्रो० डॉ० सुनीतिकुमार पाठक ने बौद्ध तन्त्र के प्रमुख विभाग योगतन्त्र के प्रतिपाद्य विषयों की अनेक ग्रन्थों के आधार पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की ।

दिनांक १० फरवरी के नवम सत्र में इलाहाबाद के डॉ० किशोरनाथ झा ने स्मार्त तन्त्र के परिप्रेक्ष्य में दस महाविद्याओं के स्वरूप, पूजाविधि एवं साधना के विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला । इसी सत्र में शोध योजना के उपनिदेशक प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी ने शैव तन्त्र की अल्प परिचित पाशुपत शाखा पर प्रकाश डालते हुए कहा कि श्रीकण्ठ द्वारा प्रवर्तित श्रौत पाशुपत मत का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, किन्तु लकुलीश द्वारा प्रवर्तित पाशुपत मत के कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं । उनके आधार पर प्रो० द्विवेदी ने गुरु, कुल, कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त नामक पञ्चार्थ तथा दीक्षा, मन्त्र, चर्या, योग, निष्ठा आदि विषयों का प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया ।

अपराह्ण के सत्र में वाराणसी के प्रो0 बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते ने अपने विद्वत्तापूर्ण निबन्ध में "निगम और आगम तथा उनकी रचनाएं" विषय का विवेचन प्रस्तुत किया । भारतीय दृष्टि के आधार पर उन्होंने निगम और आगम की एकरूपता पर विशेष बल दिया ।

इसी सत्र में प्रो0 जे0 सी0 सिकदर का जैन तन्त्र की साधना-पद्धति पर एक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत हुआ । प्रो0 सिकदर स्वयं उपस्थित नहीं हो सके । इसलिये संस्थान के सम्पादक श्री लोसंग नोरबु शास्त्री ने उसका वाचन किया । निबन्ध के अन्त में प्रो0 एम0 ए0 ढाकी एवं प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक आदि विद्वानों ने उनके जीवन का परिचय देते हुए जैन तन्त्र की साधनाविधि पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया ।

दिनांक ११ फरवरी को कोई निबन्ध प्रस्तुत नहीं किया गया, किन्तु पूर्वाह्ण के सत्र में भारतीय तन्त्रों के प्रायोगिक पक्ष पर विद्वानो ने पर्याप्त विचार-विमर्श किया । डॉ0 जी0 सी0 पाण्डेय ने ऐतिहासिक दृष्टि से तन्त्रों के कालनिर्णय पर विशिष्ट विवेचना प्रस्तुत की, जिस पर अन्य विद्वानों ने अनेक पृच्छाएं एवं अपने सुझाव प्रस्तुत किये । विचार-विमर्श करने वाले विद्वानों में प्रो0 लक्ष्मीनारायण तिवारी, प्रो0 सेम्पा दोर्जे, डॉ0 एस0 एस0 बहुलकर, डॉ0 रेवाप्रसाद द्विवेदी, डॉ0 कमलेशदत्त त्रिपाठी आदि प्रमुख थे । दोनो सत्रों की अध्यक्षता करते हुए प्रो0 एन0 आर0 भट्ट ने तन्त्रों के प्रायोगिक और दार्शनिक पक्षों का गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया ।

इस प्रकार इस कार्यशाला में कुल १६ निबन्धों का पाठ हुआ, जिनमें से चार निबन्धों को लेखकों की अनुपस्थिति में पढ़ा गया ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

कार्यशाला का प्रतिवेदन हमने डॉ0 बनारसीलाल से सुना । यह संभव है कि इसमें बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातें न आ सकी हों । दूसरे यहां जो चर्चा हुई और चर्चाओं में जो अति महत्त्वपूर्ण विषय थे, जिन पर काफी अच्छा विचार-विमर्श, गंभीर विचार-विमर्श हुआ, उसकी भी चर्चा इसमें नहीं आ सकी हो, लेकिन सारी कार्यवाही टेप की गयी है । थोड़े समय में इससे अधिक विवरण बना पाना मुश्किल भी था । इसका विस्तृत विवरण प्रो0 द्विवेदी स्वयं टेप के आधार पर तैयार करेंगे और इसका प्रकाशन भी होगा । फिर भी यदि कुछ प्रमुख बात इसमें छूट गयी हो, तो इसमें जोड़ने की और कोई गलत बात इसमे लिख गयी हो तो उसे हटाने की अभी गुंजाइश है । अब मैं उपस्थित विद्वानो से इस कार्यशाला की समीक्षा करने का निवेदन करता हूँ ।

केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के अन्तर्गत तन्त्रशास्त्र पर विगत अनेक वर्षो से कार्य हो रहा है । कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है और नियमित रूप से शोधपत्रिका 'धीः' षाण्मासिक का प्रकाशन हो रहा है, जिसके अब तक १२ अंक प्रकाशित हो चुके है । यहा पर जो भी कार्यशाला होती है, निश्चित रूप से पुस्तकाकार रूप में

उसका प्रकाशन होता है । पहले संपादन-कला, अनुवाद-कला आदि पर जो कार्यशाला हुई थी, उसका विवरण "संपादन के सिद्धान्त और उपादान" शीर्षक ग्रन्थ रूप में प्रकाशित हो चुका है । तन्त्रशास्त्र, जैसा कि हम सभी जानते है, भारतवर्ष में अल्प परिचित सा हो गया है । मध्ययुग में इसके खिलाफ बड़ा आन्दोलन चला । इसे समाज की व्यवस्था का विरोधी बताया गया । इस पर दुराचरण और पाखण्ड का आरोप किया गया और कई परम्पराओं ने इसका विरोध किया । अनेक कारणों ने मिलकर इस शास्त्र को दुर्लभ बना दिया, अपरिचित बना दिया और इसके विरोध में कई भ्रान्त धारणाएं पैदा कर दी गई । वस्तुतः तन्त्रशास्त्र वैसा है नहीं । जिसे लोग तन्त्र समझते है, वह तन्त्र है ही नहीं । आज झाड़-फूंक और मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन आदि की जो क्रियाएं है, उन्हीं को तन्त्र समझा जाता हैं । उसके गंभीर दार्शनिक पक्ष को, परम तत्त्व की, शिवत्व या बुद्धत्व की प्राप्ति के तीव्र उपायों को वे जानते नही है । मै यह नही कहता कि इसमें दूसरे लोगों का ही संपूर्ण हाथ है, खुद तन्त्र-विद्या में, तन्त्र की प्रणाली में अयोग्य, अनधिकारी लोगों का प्रवेश हो जाने से भी इन सब बातों को, इन भ्रमों को फैलने का अवसर मिला है, लेकिन इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती ।

तन्त्रविद्या बड़ी महनीय विद्या है, आध्यात्मिक विद्या है, शास्त्र है । इसमें गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्पशास्त्र आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का बहुत गम्भीरता से और विस्तार से प्रतिपादन है। भारतीय एकता और अखण्डता के लिये इस विद्या का फिर से उत्थान हो, यह आवश्यक समझा जाने लगा है। जब हम अपनी सारी विस्मृत प्रणालियों को, स्वतन्त्र नागरिक के रूप में अपनी संस्कृति को फिर से उजागर करने का प्रयास कर रहे हैं, तब तन्त्रविद्या जैसी महत्त्वपूर्ण विद्या के विकास के लिये प्रयास करें, यह अत्यन्त उचित एवं प्रासंगिक भी है । बौद्ध तन्त्रों के अध्ययन-प्रकाशन के लिये स्थापित इस योजना इकाई में प्रमुख रूप से बौद्ध तन्त्रों का ही संपादन-प्रकाशन होता है । किन्तु कोई भी अध्ययन, भारतवर्ष की किसी भी विद्या का अध्ययन, तब तक पूर्ण नहीं माना जाता, जब तक कि उसको समस्वभाव वाली अन्य विद्याओं के साथ अध्ययन करके विषय प्रस्तुत नहीं किया जाता । ऐसी स्थिति में दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना होने पर भी यह वस्तुतः भारतीय तन्त्रशास्त्र पर कार्य कर रही है, इसमें प्रायः सभी तन्त्रों का अध्ययन होता है । इसी अध्ययन को आगे बढ़ाने, गंभीर रूप से उसका प्रतिपादन करने और विद्वानों में उसका परिचय बढ़ाने के लिये हम हर एक साल के अन्तराल पर एक कार्यशाला या सेमीनार का आयोजन करते हैं ।

इसी प्रसंग में इस बार तन्त्रशास्त्र पर, चूंकि बहुत विस्तृत है, उसके सभी विषयों पर एक साथ एक कार्यशाला मे विचार नहीं हो सकता, इसलिये उसके कुछ विषयों पर, जैसे मन्त्र, मुद्रा, अभिषेक, मण्डल, चक्र आदि के ऊपर भारतीय तन्त्रशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में विचार करना इस कार्यशाला का प्रयोजन रहा है और अवशिष्ट बचे हुए विषयों पर भविष्य में भी कार्यशालाओं का आयोजन करने का संकल्प है । इस कार्यशाला में आपने कृपा कर भाग लिया, अपने विचारो से हमें लाभान्वित किया और इसका आपने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पूरा

निरीक्षण किया है । हमने कार्यशाला के आयोजन की जो पद्धति अपनायी है, उस पद्धति में क्या कुछ सुधार किया जा सकता है या यह पद्धति ठीक है ? इस पर और इसमें क्या कमी है, इस पर यदि आप अपने सुझाव देंगे, तो हमें आगे की कार्यशालाओं को आयोजित करने में और उसकी पद्धति निश्चित करनें में सहायता मिलेगी ।

एक पद्धति हम लोगों ने और भी अपनायी थी, जिसमें हम हर एक सत्र में एक ही वक्ता का निबन्ध प्रस्तुत करते है और उसकी समालोचना के लिये अन्य विद्वान् के पास पहले से ही वह निबन्ध भेज दिया जाता है । वह उसके ऊपर अपनी आलोचना प्रस्तुत करता है और अन्य जितने विद्वान् सम्मिलित होते है, वे केवल उस पर विचार-विमर्श करते है, शोधप्रबन्ध लिख कर नहीं लाते । उन सबका टेप होता है और बाद में उनका प्रकाशन होता है । इस तरह की विचारगोष्ठियों में अधिक निबन्ध होने पर और निबन्धों की भरमार हो जाने पर पूरे निबन्ध का वाचन असंभव हो जाता है । फिर कहा जाता है कि अपने प्रमुख विचार आप पांच मिनट में प्रस्तुत कीजिये, सात मिनट में प्रस्तुत कीजिये और अन्त में यह होता है कि दो-दो मिनट में आप अपनी बात कहिये । ऐसे में विचार-विमर्श का तो कोई अवसर ही नहीं रह जाता ।

ऐसी स्थिति में एक प्रमुख पत्र एक घण्टे का हो और उस पर दो घण्टे विचार विमर्श हो । एक आलोचक लिखित रूप में उसके आलोचना करे और बाकी लोग जो सुझाव दें और आलोचना करें उनका टेप हो जाय और बाद में उनका प्रकाशन हो जाय, तो यह ज्यादा लाभदायक होता है, किन्तु उसमें दिक्कत यह होती है कि हमारे विद्वान् समय से निबन्ध प्रेषित नहीं करते । इस पद्धति से कार्यशाला या सेमीनार आयोजन करने के लिये कम से कम एक डेढ़ महीना पहिले निबन्ध आ जाना चाहिये, जिससे कि उसकी प्रति सम्मिलित होने वाले सभी विद्वानों के पास पहले से पहुंच जाय, जिससे कि वे उसका अध्ययन कर अपने सुझाव अपने साथ लिखकर ले आवें । होता यह है कि बार बार आग्रह करने पर भी बहुत से विद्वान् तो अपने निबन्ध भी साथ ही लेकर आते हैं, पहले भेजने की बात तो दूर है। इस प्रकार की कार्यशाला का भी चलाना बड़ा मुश्किल हो रहा है ।

अब मैं विद्वानों से आग्रह करूंगा कि वे इस कार्यशाला की समीक्षा करें, इसकी कमी और अच्छाई की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करें और बतावे कि भविष्य की कार्यशालाओं की पद्धति क्या हो ? यह विधि ठीक है या कोई दूसरी विधि अपनानी चाहिये, इत्यादि बातों पर वे अपने विचार दें । इसके लिए मैं सबसे पहले इस शोध योजना के उपनिदेशक प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी को निमन्त्रित करता हूं कि वे अपने सुझाव प्रस्तुत करें ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

अध्यक्ष महोदय और उपस्थित विद्वद्वृन्द ! मैं सुझाव तो प्रस्तुत करने नहीं जा रहा हूँ, किन्तु हम लोगों को इससे क्या लाभ हुआ, इस पर हमारी क्या प्रतिक्रिया है ? यही संक्षेप में मैं प्रस्तुत करना चाहता हूँ।

पहली बात तो हम लोगों को ज्ञात हुई वह यह है कि क्रिया, चर्या और योग— इनकी सर्वत्र एक सी प्रकृति है । बौद्ध, शैव, शाक्त आदि तन्त्रों में इनमें कोई विशेष अन्तर प्रतीत नहीं होता । इतना ही अन्तर है कि बौद्ध क्रिया, चर्या और योग तन्त्रों के ऊपर वैभाषिक या सौत्रान्तिक दर्शन का प्रभाव हो सकता है और अन्य तन्त्रों पर अपने-अपने दर्शनों का । पर वह अभी बहुत चर्चित नही हुआ है । उसके ऊपर हम भविष्य में विचार कर सकते हैं ।

विद्या के रूप में जो एक पाद शैव या वैष्णव तन्त्रों मे है, उसका बौद्ध तन्त्रों में उल्लेख नहीं है । उसके स्थान पर अनुत्तरतन्त्र की चर्चा है । इस अनुत्तर तन्त्र के तीन विभाग है— पितृतन्त्र, मातृतन्त्र और अद्वयतन्त्र । मैं समझता हूँ, इनकी प्रकृति और कौल तन्त्रों की प्रकृति मे बहुत समानता है । इन त्रिविध तन्त्रों के विषय में जो कुछ मैंने समझा, उससे ऐसा लगता है कि तन्त्र की इन तीन विधाओं में एक चण्डाली योग पर, दूसरी षडंग योग पर और तीसरी प्राणायाम योग (कालचक्र) पर आधृत है । ये तीनों तन्त्र अद्वयवादी हैं । इसमें विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन का तो सहारा लिया ही गया है, साथ ही इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हो गया है । केवल इतना ही नहीं, विज्ञानवाद और शून्यवाद का अन्य तन्त्रों पर भी, शैव और शाक्त तन्त्रों पर भी प्रभाव पड़ा है । साथ ही इनमें परस्पर समानता होते हुए भी अपनी भी कुछ विशेषताएं हैं, कुछ विशेष शब्दावलियां हैं । यह भी कि इस कार्यशाला के लिये जिन विषयों को हम लोगों ने निर्धारित किया था, उनकी चर्चा प्रायः सभी तन्त्रों में अपनी-अपनी पद्धति से की गई है ।

संस्कृति की चर्चा यहां हुई । हमारे संमान्य पाण्डेय जी ने कहा कि स्त्री और शूद्र को वेद में भी अधिकार प्राप्त था । हम क्या थे, इसके ऊपर विचार न करके, क्या हैं ? इस पर जब विचार करते है, तो वैदिक और तान्त्रिक संस्कृति की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है । इसके आधार पर हमको यह निर्णय करना है कि हम वैदिक संस्कृति से क्या ले सकते है और तान्त्रिक संस्कृति से क्या ले सकते हैं ।

संस्कृति पर जो चर्चा चली, उसमें एक विद्वान् ने यह कहा कि आप एक हजार वर्ष पहले की संस्कृति की चर्चा कर रहे हैं । यह तो सही है कि एक हजार वर्ष पहले की चर्चा कर रहे है । इस पर मेरा मत यह है कि इधर के एक हजार वर्षों में सांस्कृतिक दृष्टि से यहां कोई विशेष विचार हुआ ही नहीं । जो कुछ हमारे पास था, उसका विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं में अनुवाद हुआ । अब कुछ उनका जो स्वानुभव है, जैसे कि मराठी सन्त ज्ञानेश्वर का इस विषय पर अपना ग्रन्थ है । इस तरह की सामग्री को हम अपने अनुसंधान का विषय बना सकते हैं । इन सभी सन्तों, सिद्धों, नाथों और आचार्यों का जो प्रेरणास्रोत तान्त्रिक साहित्य था, वह एक हजार वर्ष पहले का होने पर भी आज के लिये भी उतना ही उपयोगी है । मेरा यह निश्चित मत है कि आज भारत की जो समस्याएं हैं, खास करके जो सांस्कृतिक समस्याएं हैं, उनका समाधान हम

उसी वाङ्मय के सहारे कर सकते हैं; जातिग्रह से मुक्त समानता पर आधृत संस्कृति का हम विकास कर सकते है ।

तान्त्रिक दर्शन की भी यहां चर्चा हुई है । तान्त्रिक दर्शन की एक मुख्य विशेषता यह है कि विद्वानों के शास्त्रार्थ वाले दर्शन का जो स्वरूप है, उससे यह मुक्त है और सामान्य जनता के लिये जितना आवश्यक है, उतना ही यहां दिया गया है । विद्यापाद में जो ज्ञान उपदिष्ट है, या योगपाद में जो योग उपदिष्ट है, अन्य भी जो विभिन्न तन्त्रों की शाखाएं हैं, उनमें जितना दर्शन दिखलाया है, वह सामान्य जनता की भी समझ में आ सके, इसका मुख्य आधार यही माना गया है । सबसे बड़ी उसकी विशेषता यह है कि वहां दूसरे के मत के खण्डन में विशेष रुचि नहीं ली गई, केवल अपने मत की प्रतिष्ठा तक ही वे सीमित रहे हैं ।

संस्कृति के संबन्ध में ही मै एक बात और कह देना चाहता हूं कि एक ही जन्म में मुक्ति की कल चर्चा चली थी । एक ही जन्म में मुक्ति पाने वाले आजकल भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में फैले हुए हैं, पर उनके यहां जो विधान हैं, वह यह है कि एक निश्चित समय आवेगा, तब पुण्य और पाप का निर्णय होगा । तन्त्रशास्त्र में जो एक जन्म में मुक्ति का सिद्धान्त है, मनुष्य जब जीवन्मुक्त अवस्था में पहुंच जायगा, सिद्धावस्था में जब पहुंच जायगा, तो वह जीव पुण्य और पाप से भी अपने आप मुक्त हो जायगा, इसके लिये उसे किसी ईश्वर की अपेक्षा नही है । मैं समझता हूँ कि इसके ऊपर भी यदि आप ध्यान देंगे, तो आप देखेंगे कि तान्त्रिक साहित्य और दर्शन के एक हजार वर्ष प्राचीन होने पर भी आज भी अन्य विचारों की अपेक्षा इसकी प्रासंगिकता अधिक है ।

इस कार्यशाला की जो एक कमी खटकी, वह यह है कि पहली वाली कार्यशाला में हमारे निदेशक महोदय प्रो0 रिन्पोछे जी का पूरा योगदान रहा। उक्त कार्यशाला के विवरण को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जायगा कि बीच-बीच में उन्होंने उस कार्यशाला को कितना लाभान्वित किया था । इस कार्यशाला में हम उनके विचारों से प्रायः वंचित ही रह गये । दूसरा उस कार्यशाला में प्रो0 अनन्तलाल ठाकुर की भी उपस्थिति थी और वे भी बीच-बीच में हमारे सामने एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते थे । मैं मान सकता हूँ कि उनकी पूर्ति तो हमारे बीच उपस्थित भट्ट महोदय ने पूरी की है, किन्तु वह कमी जो निदेशक महोदय के न रहने से हुई, उसकी हम क्षतिपूर्ति नहीं कर पाये हैं ।

अन्त में मैं एक श्लोक आपको सुनाता हूँ, जो कि तान्त्रिक और पौराणिक संस्कृति की सर्वग्राहकता को स्पष्ट करता है । वह श्लोक है—

ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः ।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते मोहसप्लवे ॥

मैं समझता हूँ कि "ज्ञानस्वरूपमखिलम्" को यदि हम "विज्ञानरूपमखिलम्" कर दे, तो यह विज्ञानवाद का प्रतिपादक हो जायगा । यह श्लोक विष्णुपुराण

का है । अन्त में मै इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि भविष्य में आप लोग इन तथ्यों को अपने विचारों का विषय बनावें तो अच्छा होगा । अपने वक्तव्य को पूरा करने से पहले मैं इस कार्यशाला में सहयोग देने वाले सभी विद्वानो का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

प्रो० द्विवेदी ने आगम और निगम की विभाजक बातों को प्रदर्शित किया और यह कहा कि मुक्ति में सभी का समान अधिकार होने और न होने के आधार पर हम इनका विभाजन कर सकते है । मेरा ख्याल है कि और भी बहुत सी इनकी विभाजक बातें कही जा सकती हैं, उनमें प्रमुख रूप से गुरु को प्रमाण मानना, यह भी एक विभाजक सिद्धान्त हो सकता है, क्योंकि शास्त्र और गुरु मे विरोध होने पर तन्त्र-परम्परा में गुरु को ही प्रमाण माना जाता है, शास्त्र को नहीं । इसी क्रम मे एक दूसरा पक्ष है कि इसमें स्वानुभव को प्रमुखता दी जाती है और शास्त्र की बातों को उतनी प्रमुखता नहीं दी जाती । इसलिये यह भी विभाजन का एक प्रमुख कारक तत्त्व है । निगम की दृष्टि से मोक्ष और परलोक जैसे विषयों में व्यक्ति का प्रामाण्य माना ही नहीं जा सकता । वह कितना ही बड़ा विद्वान् और साधक हो—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ" भगवद्गीता का यह वचन इसी बात की पुष्टि करता है । वेद का प्रामाण्य इसीलिये है कि वह ऐसे परोक्ष विषयो के बारे में पथ-प्रदर्शन कर सकता है । पुरुष कभी भी राग-द्वेष से मुक्त नहीं हो सकता, जिससे कि उसे प्रमाण माना जाय । इसीलिये शास्त्र को या वेद को प्रमाण मानने वालों के द्वारा सर्वज्ञ की प्रमाणता का दर्शनों में खण्डन किया गया है ।

तन्त्रशास्त्र में यह बहस हमेशा से है कि भाषा का आग्रह, भाषा की शुद्धि का आग्रह, जाति की शुद्धि का आग्रह, वर्ण की शुद्धि का आग्रह, क्षेत्र की शुद्धि का आग्रह, ये सब आग्रह मनुष्य को विभाजित करते हैं और संस्कृति की गिरावट के कारण होते हैं । इन सिद्धान्तों को आगम साहित्य में कभी भी प्रमुखता नहीं दी गई । इसलिये द्विवेदी जी का यह कहना बिलकुल ठीक है कि भारत की अखण्डता, राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक एकता के पुनरुत्थान के लिये तन्त्र का अध्ययन और उसके प्रभाव क्षेत्र का विस्तार आवश्यक है । एक हजार साल पुराना होने से कुछ नहीं होता । क्या एक हजार साल में मनुष्य भीतर से बदल गया है ? क्या उसने वर्ण-आग्रह छोड़ दिया है, क्या उसने भाषा की पवित्रता का आग्रह छोड़ दिया है, उसने क्या क्षेत्र-विशुद्धि का आग्रह छोड़ दिया है, या उसके अन्दर से राग-द्वेष-मोह कम हो गये हैं, क्या उसने स्वार्थ के लिये एक दूसरे को नीचा दिखाना, अपमानित करना और दूसरे को नुकसान पहुंचाना छोड़ दिया है ? बाहर के लिवास बदल जाने से और भौतिक समृद्धि के हो जाने से यह सब नहीं होता । होगा तब, जब आदमी भीतर से बदले । भीतर के इन आग्रहों के कारण आदमी बदलता नहीं है और तन्त्र ने भीतर से आदमी को बदलकर एक नये मानव और उस मानव के माध्यम से नये समाज के निर्माण का जो प्रयास किया है, वह सामर्थ्य उसमें आज भी

है । इसलिये उसके लिये प्रयास करना नितान्त समीचीन और प्रासंगिक है । अब मैं दूसरे विद्वान् वक्ता डॉ० बहुलकर जी को आमन्त्रित करता हूं कि वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करें ।

प्रो० एस० एस० बहुलकर

अनादि ह्यनवच्छिन्नाऽनन्तचिन्मात्रमूर्तये ।
स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे

परमादरणीय प्रो० एन० आर० भट्ट महोदय, आदरणीय द्विवेदी जी, उपस्थित ज्येष्ठ विद्वज्जन और मित्रों !

भारतीय तन्त्रशास्त्र पर सप्तदिवसीय कार्यशाला का आज समापन हो रहा है । इन सात दिनों में जो कुछ विचार-विमर्श यहां हुआ, उस पर मेरा कहना यह है कि यह कार्यशाला अतीव लाभप्रद हुई है । यहां संमिलित हुए विद्वान् भारतवर्ष के विभिन्न राज्यों से आये हैं, अपने अपने प्रस्थानों, अपने अपने शास्त्रों के अधिकारी विद्वान् हैं । उनके निबन्ध को जब हम सुनते थे, तो अति आश्चर्य होता था कि इस कार्यशाला के संयोजक पं० द्विवेदी जी ने कहां कहां से खोज कर इन विद्वद्रत्नों को यहां इकट्ठा किया । मेरी ऐसी कल्पना थी कि भारत में तन्त्रशास्त्र के विषय के ज्यादा अधिकारी विद्वान् नहीं होंगे, क्योंकि ये जो विद्वान् हैं, वे कभी कभी लिखते हैं । ज्यादा लिखते हैं, ऐसा नहीं है । आजकल ऐसा है कि कुछ लोग थोड़ा सा पढ़ कर अधिकाधिक लिख लेते हैं और जो अधिकाधिक लिखते हैं, वे विद्वान् कहलाते हैं । जैसे कि पतंजलि ने कहा है—"वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति" । थोड़ा सा पढ़ कर वे वक्ता बन जाते हैं । परम्परा के विद्वान् कई हैं, जो कुछ ज्यादा लिखते नहीं, लेकिन बहुत जानते हैं । उनके विचारों का श्रवण करना अति लाभदायक है । इस कार्यशाला में विभिन्न सम्प्रदायों के विचार प्रस्तुत किये गये । ऐसी कार्यशाला मैंने देखी नहीं । तिब्बती संस्थान की यह विशेषता मुझे प्रतीत होती है । मैं यहां दो-तीन कार्यशालाओं में सम्मिलित हुआ हूँ । यहां सुबह से शाम तक शास्त्र चर्चा अति गम्भीरता से होती है । सम्भवतः इस कार्यशाला के संयोजक और निदेशक गंभीरता से चर्चा करने वालों को ही निमन्त्रित करते हैं ।

त्रिपाठी जी ने ऐसा कहा कि एक सत्र में एक ही निबन्ध पढ़ने का भी कोई विचार था, लेकिन विद्वान् समय पर निबन्ध देते नहीं । दोष विद्वानों का है, उसमें मैं भी सम्मिलित हूं । हम थोड़ा सुधर जांय, यह अच्छा है । लेकिन संयोजक को मैं ऐसा कहूंगा, आपको इसी तरह से आदर्श रूप से कार्यशाला का संयोजन करना अधिक उचित होगा, जिसमें एक सत्र में एक निबन्ध पर, एक प्रबन्ध पर विचार-विमर्श हो । आपको कार्यशाला का आयोजन करना है, तो किस वर्ष में किस महीने में करना है ? इस तिथि का निश्चय अभी मत करें । एक वर्ष पहले विद्वानों को आप आमन्त्रण पत्र भेजें, छः महीने की अवधि दी जाय और छः महीने तक उनका निबन्ध न आवे, तो उनका नाम काट डाले, क्योंकि दूसरे कोई रहेंगे, वे छः महीने में निबन्ध

लिख सकेंगे। ऐसा करने पर अच्छी तरह से निबन्ध आ जायेंगे। समय तो आपने बहुत दिया था, फिर भी छः महीने कम प्रतीत होता है। अतः छः महीने का अवकाश चाहिये। किसी की कुछ कठिनाइयां हों, तो दूसरे किसी को कहा जाय।

इस कार्यशाला में जो भी निबन्ध प्रस्तुत हुए, वे बहुत अच्छे थे, महत्त्वपूर्ण थे और इस विषय में इतना विचार-विमर्श हुआ, इतनी महत्त्वपूर्ण बातें यहां बताई गई कि हम सभी बातों को ग्रहण नहीं कर सके। मुझे संक्षेपशारीरककार की उक्ति का स्मरण आता है। वह गुरु के विषय में है—

गुरुचरणसरोजसन्निधानाद् वयमपि तस्य गुणैकलेशभाजः।
अपि महति जलार्णवे निमग्नाः सलिलमुपाददते जलं हि मीनाः॥

मछलियां होती हैं सागर में, इधर-उधर घूमती है, तो भी वे सारे जल को पी नहीं सकती, थोड़ा ही जल पी सकती हैं। वैसे हम अपनी अपनी स्वल्प बुद्धि के, स्वल्प-मति के अनुसार थोड़ा ही ग्रहण कर पाये हैं। अतः अधिक ग्रहण के लिये इस कार्यशाला के निबन्धों का सम्पादन होना, प्रकाशन होना अति आवश्यक है। जैसा महाभाष्यकार ने कहा और दूसरी परम्परा में भी है कि एक ही बार में सारे अध्याय के ज्ञान का ग्रहण नहीं हो सकता। "कालः पादेन पच्यते। पादः कालेन पच्यते" एक एक पाद जो उसका काल से ही, उसका पचन होता है, ग्रहण होता है। इसलिये उसको हम बाद में भी पढ़ सकते हैं। जो आखिरी सत्र था— सांस्कृतिक पक्ष, ऐतिहासिक पक्ष, दार्शनिक पक्ष पर, इस विषय में भी कोई मुख्य निबन्ध होता तो अच्छा होता। उस पर हम विचार-विमर्श कर सकते, अपनी-अपनी आशंकाओं को पूंछ सकते। उस विषय में ज्यादा कुछ चर्चा अच्छी तरह से नहीं हुई, ऐसा मुझे प्रतीत होता है। मेरा एक सुझाव ऐसा है कि संपादन के प्रसंग में इस पक्ष को लेकर कोई विद्वान् अपना निबन्ध प्रस्तुत करे। उसमें उस पक्ष का सर्वेक्षण होगा, तो वह अधिक लाभदायक होगा। इस चर्चासत्र में कई बार वैदिक और तान्त्रिक श्रुति के सम्बन्ध में चर्चा हुई और तिवारी जी ने कहा—"श्रुतिस्तु द्विविधा, वैदिकी तान्त्रिकी च" इस विषय पर भी कोई निबन्ध रहता तो अच्छा होता। मैं उसके विषय में इतना कहना चाहता हूं कि भारतीय तन्त्रशास्त्र के मूल स्रोत वैदिक वाङ्मय में हैं, उस विषय पर कोई निबन्ध उपोद्घात के रूप में हो तो अच्छा है। संपादन के काल में यदि उसको सम्मिलित किया जाये तो अच्छा रहेगा, जिससे परवर्ती काल में जिन कल्पनाओं-संकल्पनाओं का विकास हुआ, उसका मूल वेद में या वेदोत्तर वाङ्मय में ऐसा मिलता है, इस पर प्रकाश डाला जा सकता है। द्विवेदी जी ने आमन्त्रण के साथ विषय-उपस्थापन के रूप में एक निबन्ध भेजा था, उसमें तन्त्रशास्त्र का ऐतिहासिक विकास कैसा हुआ है, इस विषय में अच्छा लिखा है। किन्तु इस विषय पर अभी बहुत कुछ लिखने की आवश्यकता है। इससे वेदों और तन्त्रों का संबन्ध क्या है, उस पर अच्छा प्रकाश पड़ सकेगा।

यह तन्त्रशास्त्र की कार्यशाला हमारे लिये, हमारे स्वाध्याय के लिये बड़ी लाभप्रद रही है । यहां अच्छी सुविधाएं थी, कठिनाई कोई नहीं थी, इसीलिये हम पूर्ण काल इसमें व्यतीत कर सके । आप सब लोगों ने हमारी सुविधा की ओर अच्छी तरह से ध्यान दिया । इसलिये हम आप सब लोगों के, आपके सहायकों के, छात्रों के, विशेष कर निदेशक जी के, द्विवेदी जी के आभारी है ।

प्रो0 व्रजवल्लभ द्विवेदी

अभी डॉ0 रामरक्षा त्रिपाठी जी ने यह आशंका व्यक्त की कि क्या विष्णुपुराण पर विज्ञानवाद का प्रभाव है ? इस सम्बन्ध में मै यह निवेदन करूं कि पुराण ऐसा वाङ्मय है, जिसने भारतीय संस्कृति में जो भी जहां अच्छा मिला, उसको संगृहीत किया है । आचार्य नरेन्द्रदेव जी तो समाजवादी थे, किन्तु उन्होंने लिखा है कि भारतीय संस्कृति को यदि एक नाम हम दें, तो यह "सनातन धर्म" हो सकता है । पुराणों की अपनी यही विशेषता है और सनातन धर्म की भी विशिष्टता उसकी इस सर्व-संग्राहकता मे ही है ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

प्रो0 बहुलकर जी ने अपनी टिप्पणियां प्रस्तुत की, आपने सुनी, उससे हमें अपने प्रति बड़ा विश्वास पैदा हुआ । असल में यहां जो सेमीनार या कार्यशाला आयोजित की जाती है, उसको सफलता तक कैसे पहुचाया जाय, इसके लिये स्थानीय तीनों विश्वविद्यालयों के विद्वानों को बुलाकर दो-तीन बार पहले ही उसका प्रारूप तैयार किया जाता है, जिससे इसके संचालन मे और दिशा देने में बड़ी सहायता मिलती है । मै समझता हूं कि यह विधि अच्छी है । प्रो0 जगन्नाथ उपाध्याय जी हम सब लोगों के मार्गनिर्देशक थे, उन्होंने ही यह विधि परिचालित की थी । मै और विद्वानों को आहूत करता हूं कि वे इसकी अच्छाइयां और बुराइयां बतलावें और आगे की कार्यशाला के संयोजन के लिये सुझाव दें । "विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः" यह दोषज्ञ भी विद्वान् का एक विशेषण है । अस्तु, अब मै शान्तिनिकेतन के प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक जी को सादर आमत्रित करता हू कि वे अपनी प्रतिक्रिया और अपने सुझाव प्रस्तुत करें ।

प्रो0 सुनीतिकुमार पाठक

अभी दिये गये निर्देश के अनुसार मुझे कुछ कहना है । मैं बहुत देर से यहां हाजिर हुआ हू । इसके लिये मै क्षमाप्रार्थना कर रहा हू । हमारे आदरणीय द्विवेदी जी ने कहां कहां से विशेष विशेष विषय के प्रवीण ज्ञाताओं का चुनाव किया और उनके निबन्धों और वक्तव्यों से जो कुछ निष्कर्ष निकल सका, उन्होंने निकाला । इसके लिये मै सबसे पहले उनके प्रति आभारी हू । जब मेरे पास सूचना गयी थी, तब मैने सोचा कि इन विषयों में क्या लिखा जाय ? और इसके लिये उनके साथ मेरा पत्राचार भी हुआ कि इस विषय पर क्या लिखा जा सकता है ? लेकिन फिर भी उन्होंने कहा कि यह आवश्यक है । हमारे दिवंगत श्री जगन्नाथ उपाध्याय जी की एक बड़ी विशेषता थी कि वे सारे

विचार-विमर्श को टेपरिकार्ड में चढ़ा लेते थे। इसका मतलब यह है कि किसी को यहां छुटकारा नहीं मिलेगा और उसको पूरी सावधानी से बोलना पड़ेगा। श्रोता को लाभ पहुंचाने के लिये उसे उपाय कौशल का, बोधिसत्त्व के उपाय कौशल का नहीं, हमारी समन्वय बुद्धि के उपाय कौशल का और उपाय कौशल के साथ प्रज्ञा की युगनद्ध स्थिति का भी सहारा लेना होगा। यह हमारे सामने बडी लाभदायक स्थिति है।

अपने वक्तव्य को मैं उडरफ साहब से शुरू कर रहा हूं। उडरफ साहब का भी कहना था कि भारत की जितनी तन्त्रसाधना है, इसका मूल शैव सिद्धान्त या शैव तन्त्र में है। उसी का विकास धीरे धीरे विभिन्न रूपों में हुआ। इस दृष्टि को उन्होंने एक नई दिशा दी। उडरफ साहब नहीं रहते, तो आज तन्त्र हमारे सामने एक अछूत विद्या रह जाती। हालांकि हमारे मित्रवर तिवारी जी पश्चिमी पण्डितों के विचारों की कटु समालोचना करते है, कल भी बात आई कि होम्योपैथी गोली की तरह पश्चिमी विचार मीठे लगते हैं। लेकिन मैं सोचता हूं कि मैकडोनल साहब न रहते, रिज़डेविट्स साहब न रहते, हिवेक साहब न रहते, उडरफ न रहते, तो हमारी जितनी भारतीय विद्याएं है, वे शायद अवलुप्त हो जातीं।

परमश्रद्धेय दिव्यवज्र वज्राचार्य जी के साथ रहने का यहां मुझे लाभ मिला। नेपाल में इस विषय की क्या स्थिति चल रही है, इस विषय में थोड़ा सा उनके साथ वार्तालाप हुआ। उनकी भी यही आशंका है कि नयी पीढ़ी के सामने हम लोग ऐसी कोई सम्भावना नहीं रख पा रहे है, जिससे कि यह परम्परा आगे चलती रहे। इस दृष्टि से भारतीय तन्त्रशास्त्र की जो यह कार्यशाला है, मेरे ख्याल में एक नयी दिशा लायगी। आगे के लिये हमारे मित्र डॉ0 बहुलकर जी ने दो-तीन बहुत अच्छे सुझाव दिये है। मै तो सुझाव लेने आया हूं। विचारों को कैसे मूर्त रूप दिया जाय, इसके लिये ज्यादा सोचता हूं। नाट्यशाला में रंगमंच के पीछे साज घर रहता है, उस साज घर का आदमी मै हूं। यहां हमारे सामने जो सुझाव आये है, उनको कैसे हमलोग कार्यान्वित करें, यही हमारे सोचने की बात है।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

"विद्या ददाति विनयम्" के अनुसार डॉ0 पाठक ने अपने को बहुत छिपाने की कोशिश की है। लेकिन हम लोग उनको जानते हैं। "न रत्नमन्विष्यति मृग्यते हि तत्" द्विवेदी जी खोज ही लेते हैं। ये इस विषय के अच्छे विद्वान् हैं। श्री उपाध्याय जी के समय से ही ये हम लोगों से घुले-मिले हैं। मैं अब कर्नाटक से पधारे प्रो0 चन्द्रशेखर कपाले जी से निवेदन करता हूं कि वे कुछ ऐसी बातों की ओर, जिन पर अभी तक किसी वक्ता ने कुछ नहीं कहा, उन पर भी ध्यान दिलावें।

प्रो0 चन्द्रशेखर कपाले

अध्यक्ष महोदय जी और सभी विद्वान् मित्रगण! अब तक जिन लोगों ने अपने अपने अभिप्राय इस कार्यशाला के सम्बन्ध में व्यक्त किये, उनमें से

सभी ने कहा कि पं0 व्रजवल्लभ द्विवेदी जी कहां कहां से ये रत्न ढूंढ़कर लाये है । उन रत्नों में अपना शुमार कराने की मै धृष्टता नहीं करूंगा । जब पंडित जी ने मुझे वीरशैवों के दीक्षा आदि विधिविधानों पर निबन्ध लिखने के लिये कहा और इस तन्त्रशास्त्र की कार्यशाला का परिचय भी दिया, तो मैंने वह प्रस्ताव झट से स्वीकार कर लिया । इसलिये नहीं कि मैं इस विषय का बहुत बड़ा ज्ञानी हूं, तन्त्र-साहित्य का मैं बहुत बड़ा अधिकारी हूं । मैं तो यह चाहता था कि साहित्य का अभ्यास करते समय उसमें कुछ तन्त्र का भी जो अंश आता है, उसके विषय में, भारतीय तन्त्रशास्त्र के बारे में अधिक जानकारी इस कार्यशाला से मुझे प्राप्त होगी । इस आशा से मैं यहां उपस्थित हुआ, तो एक ज्ञाता के स्वरूप में नहीं, एक शिक्षार्थी के रूप में यहाँ मैं आया । बड़े आनन्द के साथ मैं यह कहना चाहता हूं कि मुझे बहुत ही लाभ हुआ । तन्त्र-साहित्य के बारे में अब तक की धारणा ऐसी रही कि यह साहित्य कुछ ही विद्वानों की सम्पत्ति होती है और सामान्य जन तक यह नहीं पहुंचती । उसी धारणा से मैं भी अब तक सोचता था, लेकिन अब इसका जो प्रवर्तन इस तरह से यहां होता हुआ देखता हूं, तो यह बहुत अच्छा लगता है ।

हमारे महाराष्ट्र में, मैं कर्नाटक से आया हूं, लेकिन मूलतः मैं महाराष्ट्रियन हूं, मराठी में महानुभावों का भी साहित्य है, जो आगे चलकर पजाब तक फैला । चक्रधर जी ने उसका प्रवर्तन किया था । उस महानुभाव-साहित्य की एक विशेषता यह मालूम पड़ी कि उन्होंने उस काल की परिस्थिति के अनुसार अपना साहित्य लोगों से छुपाकर रखा । इनका यह साहित्य सामान्य देवनागरी में होने पर भी पढ़ा नहीं जा सकता था, क्योंकि वह सांकेतिक लिपि में लिखा हुआ था । हेतु यह था कि दूसरों से यह अलग रहे, दूसरों को मालूम न हो । शायद ऐसा ही कुछ कारण जो पंडित जी ने भी कहा कि तन्त्र शब्द बहुत कुछ बदनाम भी हुआ है, तो उसके पीछे की यह भी धारणा हो सकती है । उस प्रकार का जो साहित्य अब तक उपलब्ध नहीं था और ऐसी कार्यशाला के रूप में अब लोगों के सामने ज्यादा से ज्यादा आता है, यह मैं इस कार्यशाला की उपलब्धि समझता हूं । हो सकता है कि इससे पहले भी बहुत कुछ कार्य हुआ हो । लेकिन मैं तो प्रथम बार यह अनुभव कर रहा हूं । यह मेरा निजी लाभ है, ऐसा मै समझता हूं ।

इस कार्यशाला में संमिलित होने के बाद मेरी इच्छा हुई कि तन्त्र-साहित्य के बारे में जो कुछ यहां मुझे मालूम हुआ, उसे मैं अपने माध्यम से अन्य लोगों तक पहुंचा सकूं । होता क्या है कि किसी एक क्षेत्र के विद्वान् अपना क्षेत्र मर्यादित रखने का प्रयास करते है । उससे बाहर तक उस विषय का फैलाव नहीं होता । मैंने यहां अनुभव किया कि तन्त्र-साहित्य के भिन्न भिन्न अभ्यासकों ने अपने अपने विचार प्रकट किये । मैंने वीरशैव दीक्षा आदि के विधिविधान के बारे में कहा । लेकिन इसके बारे में जो कुछ ज्ञान यहां सामान्य जनों को होना चाहिये था, नहीं हो सका । मैंने खास करके यह देखना चाहा है कि उनमें कुछ वीरशैव मत का उल्लेख आया है क्या ? लेकिन वह आया नहीं, मतलब यह है कि जब हम आसेतु हिमाचल सब लोगों की

एकता चाहते है, भिन्न भिन्न राज्यों में जो यह साहित्य बिखरा हुआ है, उसका परस्पर परिचय अधिकतर लोगों को हो, इसके लिये ऐसी कार्यशालाएं उपयुक्त हो सकती है । उसमें पत्रकारिता का भी सहयोग होना चाहिये, जिससे कि सामान्य लोगों को ये तमाम बातें मालूम हो सकें । वैसे तो इस कार्यशाला की सफलता के बारे में किसी को संदेह नहीं है, वह बहुत ही अच्छे ढंग से सम्पन्न हुई है ।

तिब्बती संस्थान के जितने भी कर्मचारी है, उन्होंने सबकी बहुत ही अच्छी देखभाल की है । अभी जैसा कहा कि विद्या और विनय इन दोनों का प्रत्यन्तर यहां हमें देखने को आया । सामान्य से सामान्य कर्मचारी से लेकर बड़े से बड़े अधिकारियों तक में बड़ी विनयशीलता देखी । हर तरह की व्यवस्था यहा पर उन्होंने की । इसमें कोई संदेह नहीं है । मैं अनेक विद्वानों के भाषणों से जो लाभान्वित हुआ, उसके बारे में तो मैं कह चुका हूं । कुछ बातें जो मेरे दिमाग में आयीं, वह भी मैं कहना चाहता हूं ।

ऐसी कार्यशालाओं में कई विद्वान् आते है, वे परस्पर एक दूसरे से अच्छी तरह से परिचित होते ही होंगे, लेकिन एक पद्धति के तौर पर निबन्ध के साथ उनका थोड़ा सा परिचय भी हो तो और अच्छा होगा, ऐसा मैं समझता हूं । उसकी शुरूआत मैंने स्वयं अपने निबन्ध से की । अभी यहां सात दिनों तक हम एक दूसरे से मिले, चन्द लोगों को नजदीक से बातचीत कर उन्हें पहचान भी सके, लेकिन सभी का परिचय नहीं हो सका । परिचय का माध्यम तो यही हो सकता है कि अपने अपने निबन्धों के साथ वह परिचय हम जोड़ दें या शुरू के दिन ही जो जो विद्वान् यहां आये हैं, उनका प्रत्यक्ष सामने आकर परिचय करा दिया जाय ।

दूसरी बात, हमने जो अब तक चर्चा की, उसमें केवल सैद्धान्तिक चर्चा हुई । वैसा ही नजर आया । प्रत्यक्ष कुछ भी नहीं निकला । आपने कहा कि हमने कुछ जानकार लोगों को यहां निमन्त्रित किया था, यदि वे आते तो उसका भी थोड़ा अनुभव हो जाता कि किस तन्त्र की उपासना किस पद्धति से की जाती है । वैसे तो प्रदर्शनी में बहुत कुछ है, लेकिन उतने से सामान्य आदमी को उसकी जानकारी पूरी तरह से नहीं हो सकती । मुझे मालूम है कि ऐसी कार्यशालाओं के आयोजन में बहुत कुछ कठिनाई आती है । इस मर्यादा को मैं जानता हूं, फिर भी सूचना के तौर पर मैं यह कहना चाहता था ।

तीसरी बात, प्रदर्शनी में मन्त्र, मण्डल, मुद्रा आदि के जो कुछ चित्र रखे है, उनके साथ साथ अगर हम हर तन्त्र के कुछ साहित्य ग्रन्थों को भी रखते, तो अच्छा होता । यह दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना इस संस्थान से संबद्ध है । यहां मुख्यतः बौद्ध तन्त्र ग्रन्थ ही संगृहीत किये जाते होंगे, लेकिन जैसा कि इस तन्त्रशाला का उद्देश्य है, उस दृष्टि से यदि हम सोचें, तो अन्य तन्त्रों का साहित्य भी एक तौलनिक अभ्यास के लिये यहां रखना उचित होगा । मुझे मालूम नहीं कि वह है या नहीं ? यह भी मर्यादा हो सकती है कि जिस कार्य के लिये यह संस्थान खड़ा है, उसी शाखा के ग्रन्थ यहां हो, जब हम

तौलनिक अभ्यास करना चाहते है, जैसा कि यहां सभी तन्त्रों के साहित्य के अभ्यासक जमा हुए है, तो उनके अभ्यास के लिये वैसा साहित्य यहां अवश्य होगा. ऐसा मैं समझता हूं ।

प्रत्यक्षतः और व्यावहारिक रूप से अभी एक सूचना हमारे मित्र डॉ० बहुलकर जी ने दी कि निबन्धों के भेजने की कुछ मर्यादा हो और उसके बाद दूसरे किसी को अवसर दिया जाय । मैं समझता हू कि ऐसी अगर मर्यादा डाल दें, तो अगली कार्यशाला के लिये अभी से निमत्रण देना शुरू करना पड़ेगा । तो भाई यह जरा मर्यादा से ज्यादा लगती है । कुछ महीना दो महीना तो ठीक है, लेकिन उसके साथ साथ सभी विद्वानों का भी यह कर्तव्य है कि वे भी मर्यादा का पालन करें और समय से अपने अपने निबन्ध भेजें, तो उसका लाभ सभी को अच्छी तरह से हो सकेगा ।

प्रो० रामशकर त्रिपाठी

हम बड़े आभारी हैं, प्रो० कपाले साहब के कि उन्होंने कई सुझाव दिये । मैं एक बात स्पष्ट करना चाहता हूं । यह सही है कि केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान बौद्ध अध्ययन को विकसित करने के लिये है, सुरक्षित करने के लिये है और विशेष रूप से चीन के दुर्दान्त आक्रमण के कारण जो परम्परागत तिब्बती विद्वानों को तिब्बत छोड़ देना पड़ा और वहां जो परम्परागत अध्ययन-विधि को क्षति पहुंची है, उसकी सुरक्षा के लिये है । यह सारा अध्ययन उनकी अपनी अस्मिता है, उनकी संस्कृति का अंग है । यदि वह सुरक्षित नहीं रहेगी, तो तिब्बतियों के सुरक्षित रहने का कोई मतलब नहीं होगा । परमपावन दलाई लामा जी के विशेष प्रयासों से और हमारे भारत के पूर्व प्रधानमंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू के परामर्श से इस प्रकार के संस्थानो की स्थापना हुई, जिससे कि तिब्बत में प्रचलित जो अध्ययन-परम्परा थी, जो शास्त्रार्थ-परम्परा थी, जो साधना-परम्परा थी, जो उनकी विविध प्रकार की विद्याएं थीं, कलाएं थीं, उनको सुरक्षित रखा जाय । भारतीय संस्कृति के पूरे अध्ययन की दृष्टि भी इसके पीछे बराबर रहती है । हमारी विद्याओं की परम्पराएं परस्पर इतनी मिली जुली हैं कि स्वतन्त्र रूप से एक का अध्ययन नहीं किया जा सकता, याने किसी एक विद्या के अध्ययन में तब तक आदमी पारंगत नहीं हो सकता, जब तक कि अन्य विद्याओ का भी अध्ययन न किया जाय । इसी लिये हमारे यहां लाइब्रेरी में सभी भारतीय विद्याओं, दर्शनों और साधनाओं के ग्रन्थो का चयन किया जाता है । अभी यह संस्थान बहुत वर्षों का नहीं है, लेकिन दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के लिये स्वतन्त्र पुस्तकालय की व्यवस्था कर दी गई है और वहां भारतीय तन्त्रशास्त्र एवं योगशास्त्र की सभी शाखाओं के साहित्य का संग्रह किया जाता है । इस संस्थान के इस विशाल सांस्कृतिक दृष्टिकोण का, इस कार्यशाला का आयोजन ही जीता-जागता प्रमाण है । सरकारी अनुदान जितना मिलता है, उसी के आधार पर पुस्तकों का क्रय होता है, इसलिये हो सकता है कि आपकी अपेक्षा के अनुरूप संग्रह न हुआ हो । फिर

भी आप देखें, तलाश करें कि यहां केवल बौद्ध विद्या के ही ग्रन्थ नहीं है, सभी विद्याओं के ग्रन्थ रखे जाते है ।

प्रदर्शनी में भी आप देखेंगे कि बौद्ध तन्त्रों से अतिरिक्त जो भारतीय तन्त्रशास्त्र की शाखाएं है, उनके ग्रन्थ भी रखे हुए है, हो सकता है कि उनकी संख्या कम हो ।

एक जिज्ञासु विदुषी हम लोगों के बीच में है डॉ० मधु खन्ना । वह कुछ वर्षो से इस विद्या के अध्ययन में लगी हुई है । जब उन्होंने सुना कि यहां तन्त्र के ऊपर कार्यशाला हो रही है, तो दिल्ली से आकर इस कार्यशाला में अपना सहयोग दे रही हैं । अब मै उनको अपने विचार प्रकट करने के लिये आमन्त्रित करता हूं ।

डॉ० मधु खन्ना

Respected Bhattaji, Dwivediji, learned scholars and friends! I have been involved in *tantra* for many years. And in this way of creative journey I have come across various ideas and I would like to share some of my observations with you today. In creative journey, many ideas have emerged, have given an insight into several aspects of tantric literature. However, I would like to point out some aspects of *tantra* that need to be explained fully. A comprehensive vision of *tantra* will emerge only when we look at each of these aspects more closely. As a humble scholar, I believe that what is of utmost importance is the right perception of *tantra* and this task can only be resolved by scholars. Because the scholars have the critical ability to explore a subject and also the right education and right preception to understand this very complex *śāstra*. Now in this context, I just want to pinpoint a few certain subjects that we need to look into. The first is: What are the defining boundaries of *tantraśāstra* ? And I think that this is a very critical question, because there is a lot of mis-representation of *tantra*; there has been a lot of criticism on *tantra* and only scholars can resolve this. On the other hand, on the popular level there is a lot of misunderstanding, which I feel, we have to understand that why *tantra* is misunderstood, and what are the ways through which it should be explained, not only to scholars, but also to the popular masses. Because, when one works through, one sees that everybody talks about *tantra*, everybody is wearing *yantras* or performing some sort of *indrajāla* in lives. And when we question these people and ask them what you think *tantra* is all about, they say oh, it is all to do with magic and *munbo-jumbo*. So, and think that scholars have a very great responsibility to out line the defining boundaries and that takes me to some aspects which I feel scholarly assembly like this should look into. Now the first is the usage of the word *tantra* and its evolution, and evolution of its meaning and locating the emergence of tantric school of Indian religion, historically both in terms of the usage of the word and in terms of *tantra* as an independent school of thought. Now the second aspect has been noted by many scholars here, and I too consider it to be of most importance which is the relationship of Veda and Tantra. Because, again, even when we explore this question, there are many confusions. A part of *tantra* is absorbed in Veda, at the same time, Vedic thought also observes certain aspects

of Tantra. And we will have to know very definitively, where they run parallel, which aspect of Tantra has been absorbed in Veda and which aspect of Tantra is unique to itself. Secondly, we also have to explore the various substrata and forms of *tantra* in Indian thought, which of course, has been done very successfully in this meeting. But I think that we need to explore it even further. We have to know defining boundaries of *Śaivatantra*. How does the Śaiva tantra relate to the Śākta Tantra ? How much of Śaiva and Śākta tantras has been absorbed in Jain and Buddhist tantras and also at the same time, I feel it also necessary to know what form of tantra exists in the oral tradition, particularly in the tribal and village based communities. Because I know that some forms of tantras do exist in such communities and are in practice even today in certain villages of Gujarat and Bengal. So we have to know that definitively and also understand its forms, and also understand its heritage. Now the main thing that we have to explore is the extent of the Tantric scriptures both in terms of schools and locations. We have to know the inter-relationship of these various localities and also how *tantra*s travelled from Kashmir to down South. And how it travelled from South to Bengal and which aspects were absorbed and which were distinctive to that particular geographical area. Then the next question which will clarify many aspects of confusions in our mind is the essential difference between *siddhi*-oriented *tantra* and *mokṣa*-oriented *tantra*. Where they are parallel, where they overlap, where they separate. Then the next question which I think necessary, is Tantra is practised in different centres of tantric worship. Again as in Bengal, Kerala, Kashmir, Tamilnadu and other places. Now apart from this, there are certain other questions which we need to look into. And I think one of the most important is the various perceptions of *tantra* both in terms of its all system, how *tantrikas* perceive themselves, and how other schools outside the tantric fold perceive the *tantrika*. You know what was the inter-relationship between the two. Then the list of all which is quite obvious, what is the uniqueness and the contribution of *tantra*, not only to Indian, but to the world culture in general. And last of all, the unique nature of Tantra art, and its relation to the main stream of art in Hindu thought. And I think this is very relevant because tantra is not only unique in itself as a philosophy but also in its art form. Tantra has given a very distinctive visual iconography and imagery to Indian culture and, I would say, to the world culture. Because it is in *tantra* that you find the first evidence of abstract art, which of course, goes back to Vedic period, but the way, the *tantra* has used Maṇḍalas and other forms of mathematical abstraction is not found in any culture in the world. Today thousands of arts, all over the world, are inspired by Tantric art. In fact there is a very great movement of *tantra* art, both in India, America and other countries. I think it is very relevant to explore the whole stream of tantric iconography, both in terms of its representational form and its abstraction and show how it is used in relation to ritual and *upāsanā*. Another question, which I think very relevant, is the relationship of mythology and *upāsanā*. Why is it that a certain type of mythology was adopted by Śāktism and is related to the *pujākarma* ? For instance, I found in my own research on *Śrīvidyā* that there is a very integral relationship between the two. For instance, as goddesss *Tripurasundarī* is visualised as a triad and the same triad is visualised in another form of the

Śrīcakra. So here we find that the visual form of the *pujā* and the mythology are intrinsically related and this, I think, is a unique contribution of tantra to world culture. It is in this respect that I find that we need to explore, and that I thank all of you for making this experience wonderful one. My special thanks to Dwivediji, for allowing me to be present here, on this occasion.

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

हमने डॉ0 मधु खन्ना के विचार सुने । अब मैं संस्थान के मूलशास्त्र के प्रो0 सेम्पा दोर्जे जी को निमन्त्रित करता हूं । मूलशास्त्र से मतलब भारतीय शास्त्र से है, जिसका भोट देश में भोटभाषा में अनुवाद हो चुका है और वहां की अध्ययन परम्परा में इसका नियमित अध्ययन-अध्यापन होता है । मैं उस मूलशास्त्र विभाग के प्रो0 सेम्पा दोर्जे जी से आग्रह करता हूं कि वे भी अपने विचार प्रस्तुत करें । प्रो0 सेम्पा दोर्जे भारत के हिमाचल प्रदेश के किन्नौर जिले के रहने वाले है और इन्होंने तिब्बत जाकर एक युग से अधिक, बारह वर्ष से अधिक तिब्बत में रहकर परम्परागत विद्याओं का अध्ययन किया है ।

प्रो0 सेम्पा दोर्जे

पूज्य अध्यक्ष जी, आदरणीय द्विवेदी जी और विद्वद्वृन्द ! इस कार्यशाला की योजना बनाने के लिये जब बैठकें हो रही थीं, उस समय तो हम लोगों को यह डर था कि यह कार्यशाला कितनी सफल हो पावेगी । सबसे ज्यादा डर यह था कि जिन तान्त्रिक विषयों को लेकर हम लोग विचार करना चाहते हैं, जो मुद्दे रखना चाहते हैं, जिस प्रकार की चर्चा करना चाहते हैं, उस तरह के विद्वान् कहां से मिलेंगे ? विद्वान् इस विषय की खुलकर चर्चा करने की स्थिति में है या नहीं, यह दूसरा डर था, चूंकि तन्त्र चीज ही ऐसी है । खुले आम कहने की उसकी परम्परा भी नहीं है । इसलिये डरते डरते हम लोगों ने बैठके कीं । द्विवेदी जी ने आश्वस्त किया था कि इन सभी विषयों के विद्वान् मिल जायंगे । इस तरह से कार्यशाला की योजना बनी और वह आगे बढ़ी । आखिर जब कार्यशाला में हम लोग उपस्थित हुए, तो हमें एक ओर तो बहुत बड़ा आश्चर्य हुआ, दूसरी ओर बहुत बड़ा आनन्द मिला, क्योंकि एक बात तो यह है कि इस कार्यशाला में जितने विद्वान् पधारे हैं, वे सब अपने-अपने शास्त्रों के विख्यात विद्वान् हैं । हम सबको मालूम है कि सेमीनारों में विषय बहुत कम रहते हैं और बातें बहुत लम्बी-लम्बी हो जाती हैं । उन बातों से विद्वानों को न कुछ लेना होता है और न देना । बस एक औपचारिकता निभा कर सब निकल जाते हैं । हमें डर था कि कहीं ऐसा ही न हो जाय । लेकिन ऐसा हुआ नहीं । यहां जितने निबन्ध आये हैं, उन सबमें शास्त्र-सम्मत, विषयस्पर्शी, गहन अध्ययन की झलक मिलती है । इसीलिये और इसी दृष्टि से यह कार्यशाला सफल मानी जायगी । इनसे हमारी जैसी अल्प बुद्धि वालों ने तो बहुत फायदा उठाया है और इनसे हमें अच्छा दिग्दर्शन मिला है ।

दूसरी बात, इस कार्यशाला की एक बहुत बड़ी उपलब्धि यह भी है कि इसमे जिन जिन विषयों को रखा गया, वे प्रायः सभी भारतीय तन्त्र-शाखाओं में

चर्चित है । यद्यपि इनके अन्दर बहुत बड़ा भेद भी है, जिनकी कोई थाह नहीं है । फिर भी जितनी तान्त्रिक मुख्य धाराएं है, कालिक दृष्टि से, सम्प्रदाय की दृष्टि से और परम्परा की दृष्टि से भी जो मुख्य धाराएं है, उन सब पर प्रायः यहां विचार हुआ है । बहुत बड़ी उपलब्धि इसकी यही रही है ।

तीसरी बात यह है कि यहां सभी निबन्ध-लेखकों ने अपने अपने शास्त्रसम्मत मत प्रस्तुत किये हैं, उन पर अपने विचार व्यक्त किये हैं । कुछ तुलनात्मक दृष्टि भी इसमें सामने आई है । तुलनात्मक विचार प्रस्तुत करने में एक बड़ी कठिनाई यह होती है कि तुलना करने वाला आदमी अपने शास्त्र को तो ठीक से समझ रहा है, लेकिन वह दूसरों को किस ढंग से समझ रहा है, उसी में दिक्कत होती है । जब तक हम उसी शास्त्र के हृदय में जा कर नहीं सोचेंगे कि उस शास्त्र की क्या मान्यता है ? तो उस शास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन करने की स्थिति में हम नहीं होंगे । तुलना कर दी जायगी, तो भी वह तुलना नहीं होगी । सही तुलना करने की जो स्थिति है, वह बहुत कम जगहों में देखने को मिलती है । इस कार्यशाला में सम्मिलित विद्वानों ने तुलना और समीक्षा का जो स्वरूप सामने रखा, इससे बड़ी प्रसन्नता और सन्तोष मिला है ।

इस कार्यशाला की जो एक-दो खामिया नजर आ रही है, उसकी पूर्ति करना अभी बाकी है । तन्त्रशास्त्र के अनेक मुद्दों पर हम लोगों ने इस कार्यशाला में शुरू से अन्त तक विचार किया है और उसके हर पहलू पर अच्छी चर्चा भी हुई है, किन्तु हिन्दुस्तान में दार्शनिक चिन्तन के बिना कोई शास्त्र चलता नहीं है । यहां तक कि नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र का भी अपना दर्शन है । दुनियां की किसी भी संस्कृति में, किसी की साहित्य में यह दिखाई नहीं पड़ता । यहां कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं है, जिसके पीछे कोई दर्शन न हो, जिसका कोई दर्शन न हो । इसी लिये यहां की जितनी परम्पराएं है या जितने मुद्दे है, जितनी पद्धतियां है, इन सबका अपना-अपना दर्शन है । इस पक्ष को हम लोग बहुत ज्यादा उजागर नहीं कर पाये है ।

यद्यपि कल हम लोगों ने चेष्टा की है । बहुत से विद्वानों ने इस पर प्रकाश डाला है, जिनमें आज एक उपस्थित नहीं है । प्रो० कमलेशदत्त ने व्याकरण शास्त्र का जो दर्शन उपस्थित किया था, वह कुछ लोगों को विषयान्तर लगा । लेकिन हमें तो वह विषयान्तर नहीं लगा । यहां बहुत से निबन्धों में वायु की चर्चा आई है । वायु एक तत्त्व है, उसका वाक् से सीधा सम्बन्ध रहता है । उस वाक्तत्त्व के विस्तार से ही वायु का प्रचलन होता है । अभी उसका विस्तार हमें नहीं करना है, लेकिन उस सारे विस्तार से जो निकलता है, व्याकरण दर्शन भी उसी से निकलता है । उसी दृष्टिकोण से यदि इसको समझने की चेष्टा करें, तो यह बहुत अच्छी बात होगी । दार्शनिक पक्ष की भी चर्चा विहंगम रूप से कल हो ही गई है, लेकिन इस तरह की प्रासंगिक बातों का भी यदि हम समावेश कर सके, तो बहुत अच्छा होगा । अभी प्रो० बहुलकर जी ने इसकी ओर संकेत किया है । यदि सम्भव हो तो सम्पादन के समय

जितने निबन्ध-लेखक हैं, उनसे थोड़ी-बहुत सामग्री टिप्पणी के रूप में मांग कर या आनुषंगिक रूप में कुछ लेख मांग कर प्रकाशन के समय उनका समावेश हो सके, तो बहुत अच्छा होगा । मुझे एक बात और कहनी है, क्योंकि यह आखिरी दिन है ।

जहां तक बौद्ध दर्शन या तन्त्र की बात है, द्विवेदी जी ने एक दिन बड़ी अच्छी बात कही । हमें बहुत अच्छी लगी कि हिन्दू तन्त्र नाम की कोई चीज नहीं है । बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि सभी तन्त्रों की साम्प्रदायिक दृष्टि या परम्परा के अनुसार पूजा-पद्धतियां हैं, उनके संस्करण हैं । उस संस्करण को थोड़ा हटाकर इसके अन्दर सामान्य तत्त्व क्या है ? उसका भी थोड़ा विश्लेषण करने की, अलग करके प्रस्तुत करने की चेष्टा कहीं होनी चाहिये । तब जा कर तुलनात्मक दृष्टिकोण को सामने लाया जा सकेगा । इस तरह से हर तन्त्र या हर सम्प्रदाय या हर मुद्दे को यदि देखना हो, तो पहले हमें चारों ओर घूमना पड़ेगा । तभी उसका पूरा स्वरूप दिखाई पड़ेगा । अन्यथा एक ही कोण से यदि हम देखना शुरू कर देंगे, तो हमारे सामने जो मुद्दे हैं, उनका सर्वांगीण रूप हमारे सामने नहीं आ पावेगा ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अब मैं डॉ० किशोरनाथ झा से निवेदन करता हूं कि वे अपनी राय जाहिर करें ।

डॉ० किशोरनाथ झा

आदरणीय अध्यक्ष जी, उपस्थित सारस्वत वर्ग ! मैं न्यायशास्त्र का विद्यार्थी रहा, महाकालसंहिता का संपादन करने के कारण कुछ तन्त्र का भी परिचय मिला और परिचय मिलने के बाद कुछ साधना भी चली । मैं एक ही बात कहना चाहता हूं कि इतना बढ़िया आयोजन मेरी दृष्टि में अब तक नहीं आया । इस शास्त्रीय चर्चा में जिन्होंने भाग नहीं लिया, वे चूक गये । हम लोगों का यह सौभाग्य रहा कि इसमें भाग ले कर हमने अपने क्षेत्र का, अपने ज्ञान का जो विस्तार किया, उसका लाभ हमें भविष्य में बहुत मिलेगा । अभी मुझे बस इतना ही कहना है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

संस्थान के अध्यापक श्री उर्ग्येन तेनजिन से मैं निवेदन करता हूं कि आपने पूरी कार्यशाला में बड़े ध्यान से सारे निबन्धों को सुना है और चर्चा में भाग लिया है । मै आपसे अपनी राय व्यक्त करने के लिये निवेदन करता हूं ।

श्री पी० उर्ग्येन तेनज़िन

मुझे यहां कोई समीक्षापूर्ण विवेचन नहीं करना है । मुझे तो कुछ बातों पर इंगित मात्र करना है । हमारे निदेशक महोदय का भाषण मैंने सुना है । निदेशक महोदय ने हम सबको बताया था कि तिब्बत में तन्त्र का कैसे प्रवेश हुआ । आचार्य पद्मसम्भव और उनके पच्चीस अभिषिक्त शिष्यों के द्वारा भारत से

खोज खोज कर तिब्बत में जो तन्त्र लाये गये, उनसे संबद्ध चर्चा यहां एक दम अछूती रह गई, क्योंकि उस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि के रूप में मुझे लिखने को नहीं कहा गया । संयोजक महोदय ने मुझे शारीरिक रूप में उपस्थित होने का जो निमंत्रण दिया, उनके लिये वे धन्यवाद के पात्र हैं । मुझे लिखने की इतनी क्षमता नहीं है शायद, इसी बात को ध्यान में रखकर मुझे लिखने को नहीं कहा गया । इस विषय में मुझे इतना ही कहना है कि यथासम्भव से संबद्ध तन्त्र-ग्रन्थों पर तिब्बत में तीन सौ साल तक जो अनुवाद ग्रन्थ लिखे गये, वे पूर्व अनुवाद के नाम से समझे जाते हैं । उन तन्त्रों पर यहां कोई बात नही उठी, किसी ने इन पर कोई चर्चा नहीं की । यह पक्षपात की बात नही है, इसको स्पष्ट करना मै अपना कर्तव्य समझता हूं । क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र और योगतन्त्र की यहां पर्याप्त चर्चा हुई है। तिब्बत में बाद के अनुवादों और पूर्व अनुवादों में इनकी पर्याप्त चर्चा है । किन्तु जहां तक अनुत्तर तन्त्र की बात आती है, बाद के अनुवादों में पितृतन्त्र, मातृतन्त्र या अद्वयतन्त्र के नाम से जिनका परिचय मिलता है, वे महायोगतन्त्र, अनुयोगतन्त्र और अतियोगतन्त्र के नाम से प्रसिद्ध हैं । उनका परिचय "ञिङ्मा तन्त्रसहस्र" नाम के एक ग्रन्थ से आप पा सकेंगे । विशेष कर जो सोलह-सत्रह तन्त्रों का समूह है, उसमें यह बात स्पष्ट रूप से समझाई गई है । इसकी सूचना मात्र मुझे देनी है ।

यहां बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त आदि हर तन्त्र की शाखा पर निबन्ध पाठ हुए । उनसे थोड़ा यह मालूम हुआ कि इन शाखाओं में अपना अपना विचार इस तरह का है । मगर जब उसकी तुलना करने के लिये कोई बैठता था, बात करता था तो वह ठीक नहीं लगता था । तुलना तो यहां एक दम नहीं के समान हुई । क्योंकि तुलना के लिये यदि कोई विशेष समय होता तो शायद यह हो पाता । कोई निबन्ध पाठ कर गया और उसके बाद कुछ लोग मनमाना बोल बैठे, इसी में सारा समय खत्म हो जाता था । तो तुलना तो नहीं हो पाई ।

इस गोष्ठी में एक बात बहुत जोर से आई कि अनेक शब्द तन्त्रों की इन सभी शाखाओं में समान रूप से प्रयुक्त हुए हैं । किसने किसको प्रभावित किया, पहले कौन मौजूद था और बाद में किसने किससे लिया, यह बात एक दम स्पष्ट रूप से नहीं आ पाई । यहां के वैदिक विद्वानों का तो यही मत रहा है कि हर चीज वेद से आई है । वेदसंमत शास्त्रों में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि वे तन्त्र को हेय दृष्टि से देखते हैं । मगर अब तन्त्र का जो स्वरूप निखर कर आ रहा है, इसको इज्जत मिल रही है, तो हम सोचते हैं कि हर धर्म का शायद यही स्वभाव रहा है कि अच्छी चीज को अपना लेने की एक परिपाटी उनमें जीवित है । बौद्ध विद्वानों ने बौद्ध तन्त्रों की विभिन्न शाखाओं पर जो निबन्ध प्रस्तुत किये, वे बहुत अच्छे थे, मगर यह बात उनमें सामने नहीं आ पाई । यहां बताया गया कि बौद्धों में तन्त्र है, जैनों में तन्त्र है और शैव-शाक्तों में तन्त्र है, किन्तु कुछ जैन विद्वानों का यही मत रहा है कि तन्त्र तो हमारे यहां उधार ली हुई चीज है । वह अपने सम्प्रदाय की, अपने शास्ता के द्वारा उपदिष्ट नहीं है । फिर भी ये सब बातें हमारे लिये

पढ़ने-लिखने की, समझने की है । सब मिलाकर मुझे यही कहना है कि स्पष्ट रूप से इस कार्यशाला की अन्तिम परिणति हमें देखने को नहीं मिली ।

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

मैं अब इस संस्थान के वरिष्ठ प्रोफेसर डॉ0 कामेश्वरनाथ मिश्र से अपनी प्रतिक्रिया और सुझाव प्रस्तुत करने के लिये निवेदन करता हूं ।

प्रो0 कामेश्वरनाथ मिश्र

आदरणीय अध्यक्ष जी, प्रो0 त्रिपाठी जी, द्विवेदी जी और मित्रों ! प्रसन्नता की बात है कि प्रो0 द्विवेदी के संयोजकत्व में मनचाहे ढंग से इस कार्यशाला की परिणति आज हो रही है । प्रो0 द्विवेदी जी की एक स्थापना रही है कि हमारे तन्त्रों में जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त का कोई अन्तर नहीं है, तन्त्र में हम भेद नहीं करते और मुक्त हो करके एक दूसरे के सिद्धान्तो का उद्धरण देते है, ग्रन्थों का उद्धरण देते है । उन्होंने 'आलोकमाला' के उद्धरण दिखाये, ऐसे ही शैव-तन्त्रों का दूसरी जगहों पर उद्धरण निर्देश किया कि केवल पूर्वपक्ष के रूप में ही नहीं, सिद्धान्तपक्ष के रूप में भी उन विषयों को लिया गया है । इस पर जो हम नाम दे बैठे है, शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध आदि, उन नामों को भी लेकर यहां चर्चा की गई, स्थानों को भी लेकर चर्चा की गई और अन्ततः इसी निष्कर्ष पर हम पहुंचे है कि दैशिक, कालिक और वैयक्तिक भेदों के होने पर भी सर्वत्र एक साम्य अनुस्यूत है, एकात्मकता, एकस्वरता है और यह बहुत महत्त्व की बात है । इसका आधार भी है, क्योंकि यह सारी चिन्तनधाराएं इसी भारतभूमि में उपजी हैं । इसलिये सबमें एक गन्ध का होना स्वाभाविक है ।

कल प्रो0 जी0 सी0 पाण्डेय से चर्चा हो रही थी, तो उन्होंने कहा कि उपनिषदों की अनुप्राणकता बौद्ध-शास्त्रों में भी जहां-तहां दिखलाई पड़ जाती है । उपनिषद् का आग्रह लिये रहने पर भी प्रो0 पाण्डेय बौद्ध धर्म-दर्शन के विद्वान् के रूप में अधिक प्रतिष्ठित है । ये बातें अन्ततः आ जाती है कि एक ही देश की उपज होने के नाते कहीं समान रूप से एक ही विचार की उद्भावना हो सकती है, विदेशों में भी हो सकती है । उनमें कुछ कुछ कालक्रम भी हो सकता है, पौर्वापर्य भी हो सकता है । इस लिये कौन पहले हुआ, कौन बाद में हुआ, इसमें दोष और गुण का विवेचन नहीं होना चाहिये । कोई बहुत प्राचीन हो गया, इसलिये बहुत अच्छा हो गया, यह भारत की मान्यता नहीं है । "पुराणमित्येव न साधु सर्वम्" यही यहां का उद्घोष है । इसलिये यदि वैदिक संहिताओं की स्थापना के बाद तन्त्रों की रचना का समय माना गया, तो तन्त्रों का महत्त्व कम नही हो गया । प्रो0 पाठक आज पैदा हुए इसमें इनका दोष नहीं है, लेकिन इसका महत्त्व अवश्य है कि जो एक तिब्बती-अध्ययन की धारा शान्तिनिकेतन में चली, उसको वह इस समय भी सम्हाले हुए है । यह एक महत्त्व की बात है, गौरव की बात है । इसलिये हमें यह बात अपने मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिये कि कौन पहले हुआ, कौन बाद में हुआ और

यह हमको बाद का बताता है, इसलिये हम हीन हो गये और ये पहले के हैं, इसलिये बहुत महत्त्वपूर्ण हो गये।

दूसरी यह भी धारणा मस्तिष्क से निकाल देनी चाहिये, उसमें भी कोई गौरव-लाघव नहीं होता, जब यह कहा जाता है कि इन्होंने हम से लिया है, उन्होंने उनसे लिया है, इन्होने उनको प्रभावित किया है । जब एक देश में रह रहे हैं, एक स्थान पर मिल रहे है तो एक दूसरे से प्रभावित होना स्वाभाविक है । इसलिये कोई भी आदमी यही चाहता है कि जो अच्छी चीज है, उसे हम भी ले लें । किसी ने हमको इससे प्रभावित कह दिया, तो हम हीन हो गये या किसी ने कह दिया कि उन्होंने हमारी चीज ले ली, तो उससे वे श्रेष्ठ हो गये, ऐसी बात भी नहीं है । हम साथ-साथ रहे हैं, एक दूसरे से प्रभावित होते रहे हैं और एक दूसरे की अच्छी चीजो को ग्रहण करने की कोशिश करते रहे हैं ।

जहां तक इस सप्तदिवसीय कार्यशाला का प्रश्न है और इसमे विद्वानों की उपस्थिति का प्रश्न है, जिसकी ओर डॉ० बहुलकर जी ने और प्रो० कपाले जी ने ध्यान आकृष्ट किया, उनसे मैं यह निवेदन करूं कि सब स्वानुभव के आधार पर ही चल रहा है और यह स्वानुभव मेरा व्यक्तिगत नहीं है, प्रो० द्विवेदी का व्यक्तिगत नहीं है और हमारे निदेशक महोदय का भी व्यक्तिगत नहीं है, बल्कि सामूहिक है । इस संस्था के सामूहिक अनुभव की बात है । यहां हम लोगों ने सप्तदिवसीय, पंचदिवसीय, चतुर्दिवसीय, अखिल भारतीय कार्यशालाएं आयोजित की है, गोष्ठियां आयोजित की हैं, परिसंवाद गोष्ठियां आयोजित की हैं, अन्ताराष्ट्रिय परिचर्चा गोष्ठी भी आयोजित हो चुकी है और उनमें जो-जो अनुभव हमें होते रहे हैं, विद्वत्परामर्श से जो भी निष्कर्ष निकलते हैं, उनका हमने लाभ उठाने का प्रयास किया है । मुझे स्मरण है कि कभी परिसंवाद के नाम पर स्वर्गीय जगन्नाथ उपाध्याय जी, प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी, लक्ष्मीनारायण तिवारी जी आदि लोग दूसरी सस्थाओं से जुड़े होने पर भी, पूरे जोर-शोर और उत्साह के साथ इसको अपनी ही संस्था मान कर, पूरी व्यवस्था में लगे रहते थे और उन लोगों के सत्प्रयासो से इतने विद्वान् आते थे कि कभी-कभी तो परिसंवाद गोष्ठी के नाम पर, परिचर्चा के नाम पर, विद्वानों का मेला ही लग जाता था, किन्तु विचार का स्तर इससे घट जाता था । लेकिन क्रमशः सोचा गया कि हमारे अध्ययन की एक दिशा है, हम उसी पर गहन रूप से अपने को केन्द्रित करें और जो उस विषय के विशिष्ट विद्वान् हैं, उनको हम आमंत्रित करें और उनका पूरा लाभ लें । इसलिये हम अब परिसंवाद गोष्ठी को छोड़कर कार्यशाला के रूप में अपने आयोजनों को ला रहे है, जिससे मात्र औपचारिकता न हो, बल्कि हम गंभीरतापूर्वक विवेचन कर सकें ।

हमारे संस्थान का स्वरूप और अध्ययन-अध्यापन का विषय पूरा अन्ताराष्ट्रिय है । यहां जो एक सुई गिरती है, उसकी खनक तत्काल सुदूर देशों में भी हो जाती है, क्योंकि बौद्ध-विद्या के अध्ययन के प्रति सारी दुनियां में एक विशेष रुचि जगी है, विशेषतः जब से परमपावन दलाई लामा के तिब्बत से

निर्वासन की दुर्भाग्यपूर्ण घड़ी आई, जो कि आज भी चली जा रही है। लेकिन उसका एक शुक्ल-पक्ष यह हुआ कि विश्व भर में तिब्बती बौद्ध-दर्शन का जो प्रचार-प्रसार हुआ और अध्ययन के प्रति अभिरुचि बढ़ी, वह सम्भवतः अभी कई युगों तक नहीं हो पाती। हमारे निदेशक जी के व्यक्तित्व से आकृष्ट हो कर विदेशों से विशिष्ट विद्वान् निरन्तर इस संस्था से सम्बन्ध बनाये रखते हैं और बौद्ध-विद्या के जो गिने-चुने केन्द्र हैं, उनमें भी जो गिने-चुने विद्वान् हैं, वे भी हमारी दृष्टि में होते हैं। हमारे लिये तो त्रिरत्न के बाद वे ही रत्न हैं और उनकी चमक हमें निःसंदेह आकृष्ट करती है। हम उनको अपने यहां सजोने की चेष्ट किया करते है। इसी दिशा में हमारा यह प्रयास है। यह बात अवश्य है कि सबेरे से लेकर शाम तक आप लोगों को निकलने का मौका नही मिल पाता। यह हमारी मजबूरी है कि हम मुख्य नगर से उठा कर बाहर फेंक दिये गये है और यहां हमारी जो असुविधाएं हैं, उन्हीं को हम आपके सामने उपस्थित कर पा रहे है, सुविधाओं से वंचित कर देते है। इसके लिये कृपया हमें आप क्षमा करेंगे।

जहां तक हमारे सहयोगी बन्धु आचार्य पी० उर्ग्येन तेनज़िन ने दुःख व्यक्त किया कि इस कार्यशाला का स्वरूप और निखरना चाहिये था, उनका दुःख सही है, लेकिन चूंकि वे इतना अध्यापन में व्यस्त रहते है कि बहुत सी चर्चाएं उन तक नहीं पहुंच पाती। हम सब लोगों का सारा प्रयास बौद्ध और उसमें भी भोट अध्ययन के ऊपर ही केन्द्रित है, यह उन्हें मालूम है और निदेशक जी ने भी कई बार इसकी चर्चा की है। लेकिन हमारे जो अन्य बौद्ध विद्वान् विभिन्न परम्पराओं वाले है, विभिन्न सम्प्रदायों के हैं, उन सबके बीच में संवाद की कमी है। वे हमारी भाषा हिन्दी उतनी अच्छी तरह से नहीं समझ पा रहे है। हम उनकी तिब्बती अच्छी तरह से समझ नहीं पाते और उस तिब्बती भाषा में छिपे हुए ज्ञान को उस भाषा को न जानने वाले हिन्दी और अंग्रेजी के अभ्यस्त विद्वान् कैसे जाने, यह एक समस्या है। कार्यशाला के विषयों को दुभाषियों के माध्यम से एक दूसरे के सामने रखें, तो समय की सीमा, व्यावहारिक कठिनाइयां, अनुवादक का पूर्णतया उनके भावों को संप्रेषण न कर पाना, ये सारी कठिनाइयां है। वस्तुतः जहां तक मै समझ पाया हूं, हम लोगों का यह सारा प्रयास तो उसी दिशा में है, उसी गम्भीरता की ओर है। हम विभिन्न सम्प्रदायों को, शैव, जैन, शाक्त— इन सबको समेट करके एक ओर चल रहे है, यह वैसा ही कार्य है जैसा कि हम गम्भीर महासिन्धु में कूदने के पहले यह टटोलें कि हमारे आधार कौन-कौन से हो सकते है, क्या हो सकते हैं ?

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अब ज्यादा वक्त नहीं है। समय की सीमा हमें कुछ संकोच करने के लिये बाध्य कर रही है, तो भी मैं सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का भी इस कार्यशाला में प्रतिनिधित्व हो सके, इस अभिप्राय से वहां के तन्त्रागम विभाग के

प्राध्यापक डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय से अल्प समय में अपनी बात कहने की प्रार्थना करता हूं ।

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय

आदरणीय गुरुजन ! आप लोगों ने इस विद्वत्सभा के समक्ष अपनी बात कहने का मुझे जो अवसर दिया, इसके लिये मै आप सभी लोगों का आभारी हूं । कुछ थोड़ी सी ही बातों को मै आप लोगों के सामने रखना चाहता हूं । तन्त्रशास्त्र को निन्दित बनाने वाला एक गलत स्वरूप हमारे सामने है । इसका कारण इस शास्त्र में अनधिकारियों का प्रवेश ही है । यह साधना-प्रधान शास्त्र रहा है और इसमें कुशल साधक ही गुरु की सहायता से इसके सिद्धान्तों को ठीक-ठीक समझ सकता है । अनधिकारियो ने तान्त्रिक के रूप में अपने को समाज में स्थापित किया और अपने निकृष्ट लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये जनसाधारण को खूब ठगा और लूटा । इनके शिष्यों की भी लम्बी-चौड़ी परम्परा बनी । इसके संकेत हमें अभिनवगुप्त, तुलसीदास एवं भास्करराय के ग्रन्थों में भी मिलते हैं । समाज में इस तरह के लोग हमेशा से रहे है और आज तो इनके प्रभाव का कहना ही क्या है ?

दूसरा कारण इस शास्त्र में षट्कर्मों, यथा— मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, स्तंभन, विद्वेषण को अनावश्यक और अत्यधिक मान्यता देना रहा है । ये षट्कर्म सिर्फ साधना के लिये ही है, आत्मरक्षा ही इनका प्रयोजन है, किन्तु ये कर्म किस प्रकार से लोगों के लौकिक सुख-साधन और मानव की हीन मनोभावो की पूर्ति के प्रमुख-साधन बन गये, यह बात समझ में नहीं आती । इन षट्कर्मों का सम्बन्ध षड्विकारों से है और ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य के शमन के लिये हैं । ये विकार शाश्वत होते हैं और इन षट्-साधनों से इनका शमन किया जाता है । तब ये ही शक्तियां अन्तर्मुखी बनकर ईश्वर के षडैश्वर्य को साधक के चित्त में उजागर कर देती हैं किन्तु दुर्भाग्य-वश इस शास्त्र के सम्बन्ध में जन-साधारण की प्रवृत्ति विपरीत होती गयी ।

इसका तीसरा कारण है— शाबर जैसे मन्त्रों का जनसाधारण में प्रवेश, जिनका सीधा सम्बन्ध केवल जादू-टोने से ही था । बारहवी शती के पश्चात् इस तरह के मन्त्रों का प्रचलन बढ़ा । शीघ्र सिद्ध हो जाने वाले इन मन्त्रों ने जनमानस को खूब रिझाया और आकर्षित किया । परिणाम-स्वरूप पुरुषार्थचतुष्टय की प्राप्ति कराने वाला भारतीय तन्त्रशास्त्र जन-साधारण में अपने मूल स्वरूप को खोता गया और आज इस शास्त्र का अत्यन्त संकुचित स्वरूप ही हमारे सामने रह गया है ।

यह सौभाग्य की बात है कि इस शास्त्र के मलाक्रान्त स्वरूप को, संकुचित स्वरूप को प्रस्तुत कार्यशाला ने नकार दिया है । यह इस कार्यशाला की प्रमुख उपलब्धि मानी जा सकती है । इस कार्यशाला में विद्वानों के संवादों को सुनकर मुझे ऐसा लग रहा है कि इस शास्त्र के अध्ययन की दिशा में

अभी कोई कमी रह गयी है। इसका कारण जहां तक मैं समझता हूं कि यह कमी इसके सिद्धान्त पक्ष और क्रिया पक्ष के समन्वित-अध्ययन का न होना है। किसी तन्त्र के सिद्धान्त पक्ष के ग्रन्थ मिलते है, तो उनकी प्रयोग-पद्धति नही मिलती और किसी का क्रियापक्ष मिलता है, तो उनके सिद्धान्त-पक्ष के ग्रन्थ नही मिलते, जिसके कारण विभिन्न सम्प्रदायों तथा उनके सिद्धान्तो का ठीक-ठीक ज्ञान नही हो पाता। मेरा अनुरोध है कि विद्वानों को इन पक्षो पर भी विचार करना चाहिये।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

अन्तिम वक्ता के रूप में मैं इस संस्थान से सम्बद्ध डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी से निवेदन करता हू कि वे अपने विचार व्यक्त करें।

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी

आदरणीय अध्यक्ष महोदय, श्रद्धेय द्विवेदी जी, उपस्थित विद्वद्वृन्द! कार्यशाला की उपलब्धियों के बारे मे काफी चर्चा हो चुकी है और यह भी हम सब मानते है कि कई दृष्टियों से हमारी यह कार्यशाला काफी उपयोगी रही है। मैं उस विषय में कोई वक्तव्य नहीं देना चाहता। एक दो सुझाव हमारे हैं। मुझे स्मरण है कि संस्थान के माध्यम से एक योजना चलाई गई थी, हिमालय के सर्वेक्षण की। उसी प्रकार से तान्त्रिक सर्वेक्षण की एक योजना चलाई जानी चाहिये। वेद के बारे में तो लोग कह देते है कि "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा" लेकिन इनके अतिरिक्त जितने बचते हैं, उनमें से प्रायः सबको श्रुतिगोचर होती है। यह तन्त्र तो उससे भी ज्यादा संकुचित है। पात्र को खोज कर ही इसका उपदेश दिया जाता है। हम इस प्रकार की गोष्ठियो में कुछ अतिविशिष्ट विद्वानों को आमन्त्रित करना चाहें, तो वे यहा आकर अपना विचार प्रस्तुत नहीं कर सकते, उनकी कुछ कठिनाइया हैं, उनकी कुछ परम्पराएं हैं। कुछ उनमे अतिवृद्ध साधक है, जो उपयोगी तो हमारे उनको लिये बहुत हो सकते है, वरदान हो सकते है, लेकिन वे यहां आ नही सकते। इसलिये इस दुर्लभ बौद्ध ग्रन्थ शोध योजना के निदेशक महोदय से और उनके माध्यम से संस्थान के निदेशक महोदय से हमारा विनम्र निवेदन है कि एक ऐसा कार्यक्रम बनावें— जो विभिन्न परम्पराओ के आचार्य है, जो परम्परा से साधना कर रहे है, साधना मे लगे हुए है, उनसे किसी प्रकार सम्पर्क करके, टेप के माध्यम से, लेख के माध्यम से उनके कुछ अनुभवपूर्ण विचारो को, तन्त्र की परम्पराओ के बारे में, उनकी साधनाओं के बारे में, जितना बिना दीक्षा के भी सम्भव हो, प्राप्त करें, तो ज्यादा उपयुक्त होगा। यद्यपि इस कार्यशाला में काफी अच्छे अच्छे विद्वान् आये है और उन्होंने बड़े महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं, किन्तु परम्परा के द्वारा, अनुभव से युक्त जो सुझाव होंगे, वे हमारे लिये ज्यादा उपयुक्त होंगे। कभी कभी ऐसा होता है कि हमने एक परम्परा से एक ही दीक्षा की बात सुनी, तो दूसरी परम्परा की उस बात को वैसा मान लेगें, तो यह गलत होगा, क्योंकि इस परम्परा में वह बात नहीं है। श्रीविद्या की दीक्षा की परम्परा को ही देख लिया जाय, तो उसमें कई परम्परायें हैं— किसी ने

हयग्रीव परम्परा से लिया है, किसी ने दत्तात्रेय परम्परा से लिया है, किसी ने गन्धर्व–परम्परा से लिया है । भेद हो जाने के कारण एक बात हमारी समझ में ठीक से नहीं आती है, तो अधिकारी विद्वान् के द्वारा उस परम्परा के बारे में समाधान मिल सकता है कि इस परम्परा से तो यह उपयुक्त नहीं है, लेकिन उस परम्परा से उपयुक्त हो सकता है । ऐसी बातें हमें अनुभवी विद्वानों से प्राप्त होंगी । हमारा यह निवेदन है, या एक सुझाव है ।

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी

इस बहुमूल्य सुझाव के लिये त्रिपाठी जी को धन्यवाद । इस पर ध्यान रखा जायगा । अब मैं आज के सत्र के मनोनीत अध्यक्ष डॉ० एन० आर० भट्ट जी से निवेदन करता हूं कि वे हमें अपने विचारों से लाभान्वित करें ।

प्रो० एन० आर० भट्ट

Dear friends, I would like to thank Prof. Dwivedi, for inviting me here, and take this seat though there are other great people who are more eligible for this seat to do *adhyakṣatā*. I don't know why he has selected me. I am thankful for this. I have to repeatedly say that religion existed in India at 5000 B.C. and it is certified by excavations of Marshall. There existed different religions at the same time. If a religion existed, it has to be inspected or examined by spirituals and practitioners. This practice or ritual is called *tantra*. So there were at the same time different kinds of worships even at that time of 5000 B.C. There are found meterials of different sects, Śaiva, Vaiṣṇava, serpent worship, tree worship etc. No texts were available at that time. Because all our religious practice in India is coming down from teacher to disciple, so nothing was written down. So they have no proof of getting any text of that period. Gradually the Vedic religion entered India. It was keeping about. But as time passed on, different teachers arose and natuarally there was some kind of relation between Vedic and Tantric religions. Then after Buddha, Bauddha religion arose. It was so powerful, Buddha's teachings were very powerful that it pervaded the whole of India, not only India, East Asia also, Japan, China etc. He prohibited the Vedic sacrifices etc. because it was all *hiṁsā*. And by its influence these sacrifices had to be minimised or it remained in one or two places only. Then came incarnation of Śaṅkara who was a Śaiva by birth, a pure Śaiva. His father was a Śaiva who was making worship in a temple. But, he studied Vedas, Upaniṣads and of course before him there were Gauḍapāda etc. But he made a great Advaita philosophy, and covered whole of India by his teachings, which gradually eliminated Buddhism from India. Power of Buddhists remain here and there, but whole power of Buddhism was eliminated by Śaṅkara. But even after the philosophy of Śaṅkara, which had the thought of Advaita, the ritual did not stop. Religious people practising different religions accepted Advaita as philosophy, but never left their practices of religion. The temple worship continued, the personal practices continued, but for philosophy, they accepted Advaita. So, it is natural, when it comes from a teacher to disciple. As we do search now, the *guru* is also making research. So when he is teaching, I do not think, he is teaching exactly what was taught to him. But with his more experimental measures, he

was teaching something more or different. This is how through different teachers, different lines came. Even in Buddhism, you have got so many lines—Hīnayāna, Vajrayāna, Mahāyāna etc. It is this because, no texts were written, the teacher's thought was powerful, their teaching also was research. Our research was different than the modern research. So, teachers by their experiment, by their *sādhanā*, form some methods. They realized and then taught all that to their disciples. This is how you got so many lines, branches of Tantra. They are not contradictory, they are not untrue, because it is taught by a teacher who has realized. So what is our main purpose ? To be released from sufferings and to attain bliss. Whatever it may be. You may call it *mukti*, or this or anything you like. Main purpose of people is not to have suffering. But there are different levels of people in this world. Some one wants some immediate result. He is not ready to wait up to the end, to have a permanent bliss. So what was the way ? The teacher has to give him something. If a person comes saying. " I have no food, I have no money, I want to do something, please give me a practice, by which I could get my food"— this is how this *ṣaṭkarma* entered into. There were, of course, *sādhanās*. The teachers had to give those low people the *ṣaṭkarma*. But the world, which was more philosophical before, is going more meterialiastic later. So every people, every body, most of the people went for this *sādhanā*, *ṣaṭkarma sādhanā* and at one stage, people are thinking that tantras are just for *ṣaṭkarma*, and nothing else. So it is not the mistake of the tantras, it is not the mistake of the teachers, it is the mistake of the people, low class people, who propagated that by tantra you will get so many things in this world itself and no suffering. Even the Kings had some *gurus* with them. When they were attacked by enemies, when they are not powerful enough to defeat the other King, then they were asking the *guru*, "please try to help me, I want to win." So the *guru* had to help. So it has *ābhicārika karma*. Even in Vedas, which are just for sacrificial purpose or something, I mean, *svarga* etc., there are some *ābhicārika karmas*. These karmas entered in the Atharveda. That means it was necessary at that time; people were craving for it and *gurus* had to satisfy the people, but the main purpose of the tantra is not *ṣaṭkarma*, it was for gaining bliss to the people. The Vedas have so many *śākhās*, so many different branches, because, the Veda is a *śruti*, it has come from teacher to disciple. And *gurus* are making experiments, because of the different experiements, different kinds of thoughts, they had *dhyāna*, in meditation they had experienced something, and were teaching it and this is the reason why you have so many different sects and so many *yānas* today. I don't think there is anything wrong in it. Whatever be the way, the main purpose is served. I think in the Tantric line, real teachers are still available in Tibet only. I don't think there is any one in Kashi, where a great teacher like Gopinath Kaviraj existed. He was a great teacher of *tantra*, in the whole of India ! Everybody was coming to him, because he was the only one. There was a conference on Tantra in Sampurṇānanda Viśvavidyālaya for which I also had come. Real teachers today exist in Tibet, and other parts, there are teachers; how far they have attained somethings, it is yet to be seen. As I say if you call a workshop of *sādhakas*, we can perhaps find out if real *sādhakas* exist in other parts of country. In Śrīvidyā, they exist, I agree. In Śrīvidyā lines there exist great teachers, but they are not known, so if the *guru* exists, he is always

antarmukha. So we are not able to find where *guru* exists. How can we have the *sādhanā* ? So what is the other way ? When *guru* was teaching, there were different kinds of *śiṣyas*, the lower *śiṣyas* started writing it down, so the tantras entered into books. And *śiṣya* was writing because he was *maṇḍa*. Only *maṇḍa* *śiṣya* was writing, not the brilliant one. So the branches of Veda arose. Today it is the most important that existing texts have to be published. Because, "अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः" you must study, then you must teach, then you must practice, then you most put it before the public. Today the instrument of publication is only by publishing books. How can you publish books in *tantras* ? Only with the help of Mss. Because you will not find a *guru* who will recite and then you can take notes. So, when you see the Mss. you will see that different scribal errors are there, because of the *maṇḍa śiṣyas* and you have to correct as many as Mss. The same mistake will not occur again. So, by correcting them make a critical edition and find out the pure text. Unfortunately the state today is that we have lost atleast 80% of our culture. Abhinavagupta was quoting so many texts. Where are they ? Not in Kashmir, not in Nepal, not in Rajasthan. Where were no invasions—Rajasthan, Nepal and Tibet, there books are existing; but even there, these books are not extant. So we have lost a great heritage. But about 20% is still available. Many of the Mss. are with the *gurus*, who do not want to show it. They have kept it as a secret. Tantra is a secret. I don't know why they are not willing to show it. They will not tell. So how to find out ? If the teachers, are really interested in the propagation of the Tantra, if they want to save the human kind, they must come foreward and tell, see, we have these Mss., please try to help, please publish them. I think even the Tibetan teachers will help in this venture because there really exist great *gurus* in corners. I have not travelled there, so I do not know, but I heard. These great teachers of Tibet and Nepal and even Kashmirian Pandits have lots of Mss. but they are not showing. Nobody has inspected them thorough. You have to make a list of these Mss., and examine them. This is a lot of work. This means great patience is needed; it requires a lot of hours and a lot of money. How can you do without money ? Previously there were states, and the Kings were helping. Today you have secular state. Govt: says, it is helping education and you have so many Saṃsthānas, Rastriya Sanskrit Sansthan, etc., but I am not sure they are really interested in helping. So, such institutes as this has to take interest in these things. If it is a Tibetan Institute, you collect all the Mss. belonging to Tibet, and try to publish them. So that atleast they are preserved for the future. I have seen, the *gurus* are becoming less and less, *śiṣyas* are becoming less, the world is becoming more materialistic and I don't know how many people are interested in *sādhanā*. If the works exist, atleast, time will come, people will read and the future of India will certainly be better. It can't go on like this. It is *kālacakra*, it has completely gone down today, but it will come up again, it can't stay like this. At that time these books will help the students. And if some one or two *gurus* exist, and if they help, this *sādhanā* will grow. Man is ready to kill a person just for five rupees today, because our Dharma has become *kṣīṇa*. धर्मो रक्षति रक्षितः If you protect your Dharma, you will be protected. If your Dharma is not protected, you are not protected. There is no safety. Mankind is the same, you are brothers, there is no difference. You may follow any path, ultimate reality is only the goal of human

beings. In Bhāratavarṣa. In other places, it is also the same, but it is not so much. But in India, it is the supreme goal. So, do not study only your own subject, it is necessory to make a comparative study, a research, because the same elements are there in each of the *tantra.* The paths may be different, this is also very interesting to find out. So a group of scholars from different branches should join together, make a comparative study and also make a study of each branch minutely by collating the Mss. and publish the critical editions, together with translations if possible. It may help the human kind and it will help build the future of Bhāratavarṣa which was flourishing at one time better than all the other countries. Thank you.

प्रो0 रामशंकर त्रिपाठी

अब मै इस पूरे सप्तदिवसीय आयोजन में सम्मिलित होकर जिन विद्वानों ने हमें अपने विचारों से लाभान्वित किया और जिन महानुभावों ने इस कार्यशाला को सफल बनाने में सहयोग दिया, उन सबके प्रति आभार प्रदर्शन करने के लिये संस्थान के संकायाध्यक्ष प्रो0 कामेश्वरनाथ मिश्र जी से निवेदन करता हूं ।

प्रो0 कामेश्वरनाथ मिश्र

आदरणीय अध्यक्ष जी और विद्वद्वृन्द ! हम धन्य हुए कि आप लोगों ने इतने धैर्य से, मनोयोग से, निष्ठा के साथ सात दिन तक साथ-साथ बिताने की कृपा की । धन्यवाद है इस सप्तदिवसीय आयोजन के संयोजक प्रो0 द्विवेदी, पण्डित पाण्डेय और उनके सहयोगियों को, जिन्होंने ढूंढ-ढूंढकर अधिकारी विद्वानों को आमन्त्रित किया और उनसे अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत करने के लिये निवेदन किया । हमारे ये दो सर्वविध वृद्ध जिस तरुणाई का प्रदर्शन अध्ययन-अध्यापन और सम्पादन कार्य में करते है, वह हमारे संस्थान के प्रत्येक सहयोगी के लिये अनुकरणीय है । हमारी संस्था को इन पर गर्व है । इसलिये हम सर्वप्रथम इनको और इनके अन्य सहयोगियों को धन्यवाद देते है, जिन्होंने इस आयोजन को सफल बनाने में कोई भी कोर-कसर बाकी नहीं रखी । प्रो0 द्विवेदी और पाण्डेय ने अपने दीर्घकालीन अध्ययन-अध्यापन के जीवन में जो स्वयं किया, वह तो किया ही, जितने अधिकारी विद्वान् लोग जहां है, उनसे भी व्यक्तिगत सम्पर्क रखा, उन्हें ढूंढ़ पाने में समर्थ हुए और उनको यहां तक लाने में भी सफल हुए, यह इनकी सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

जहां तक हमारे निदेशक जी के आज या इस पूरे आयोजन में अधिकांशतः अनुपस्थित होने की बात है, वे शरीर से उपस्थित भले न हों, मन से प्रतिक्षण हमारे साथ रहे है । वे जहां भी रहते है, उन्हें संस्थान के हर कार्य के विषय में चिन्ता बनी रहती है और सम्बद्ध लोगों को समय-समय पर दूर बैठे रहने पर भी पुँछवाया करते है कि क्या हुआ क्या नहीं हुआ, कोई आवश्यकता तो नही पड़ रही है । अपने सहयोगियों पर उनका जो अपार विश्वास है, वह विशेष धन्यवाद का विषय है । उन्होंने प्रो0 द्विवेदी को अधिकृत कर दिया कि जैसा आप उचित समझे करें । अन्य भी जितनी कार्यशालाएं, सिम्पोजियम आदि होते है, उनमें जिनको जो दायित्व दिया, उनको पूरी तरह से

अधिकृत कर दिया कि वे उस कार्य के निर्वाहन के लिये स्वतन्त्र हैं और यह उस आयोजन में लगे हुए व्यक्ति के लिये बड़े भारी सौभाग्य की बात है । यह सर्वत्र सुलभ नहीं होता । इसलिये हम अपने निदेशक जी के हृदय से आभारी हैं, जो मन से तो उपस्थित रहे ही हैं, तन से भी जितना अधिक हुआ उपस्थित रहे और हर प्रकार का प्रोत्साहन, मार्ग-दर्शन, आशीर्वाद देते रहे ।

इस व्यवस्था से जुड़े हुए विद्वानों और अधिकारियों के अतिरिक्त मैं धन्यवाद दूंगा प्रो० भट्ट को, जो इतनी दूर एकान्त-साधना में लीन थे । हम लोग बहुत दिनों से शैवागमों के सम्पादक और उद्धारक के रूप में उनका नाम सुनते रहते थे, दर्शन करने का सुयोग नहीं प्राप्त हुआ था । बड़ी लम्बी, बड़ी कष्टकर यात्रा है पांडिचेरी से यहां तक की । उसको भी इन्होंने हम लोगों पर कृपा कर के सहा, हम उनके आभारी हैं । साधकों की लम्बी परम्परा को जीवित रखने वाले श्री दिव्यवज्र वज्राचार्य जी हमारे बीच उपस्थित हुए और उन्होंने अपनी उपस्थिति से परम्परा की विद्वत्ता का हमें लाभ दिया । हमें विश्वास है कि भविष्य में वे स्वयं तो यहां उपस्थित होंगे ही, अन्य अधिकारी विद्वानों को भी हमारे यहां आने के लिये प्रेरित करेंगे । हमारी चाहे साहित्य की हो, चाहे साधना की हो, प्रचुर निधि नेपाल में अभी भी सुरक्षित है, वह चाहे तिब्बती में हो, चाहे संस्कृत में हो । इसलिये हमें उनसे निरन्तर सहयोग की अपेक्षा है । हम उनसे निवेदन करते है कि वे हमारे लिये आगे भी इसी तरह से मार्गदर्शन करते रहें, उपस्थित होते रहें, उनके प्रति हम आभार व्यक्त करते हैं ।

प्रो० सुनीतिकुमार पाठक जी सौभाग्य से हमें आज उपलब्ध हैं । सौभाग्य से तो सभी है, लेकिन इनके साथ एक विशेष बात जुड़ी हुई है कि यह शान्तिनिकेतन में बैठकर अत्यन्त सक्रिय रूप से हमारी बौद्ध अध्ययन की संस्कृत और तिब्बती धाराओं को, चीनी धाराओं को एक साथ जोड़ने में और उद्धार करने में लगे हुए हैं । पं० विधुशेखर भट्टाचार्य, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, वेणीमाधव बरुआ, राजेन्द्रलाल मित्र जैसे विद्वानों की परम्परा से यह जुड़े हुए हैं । इनका स्नेह-सद्भाव हमारी संस्था के प्रति निरन्तर रहा है । वहां पर भी ये एक इसी तरह की शिष्य-परम्परा तैयार करते रहे है, जो संस्कृत, तिब्बती, चीनी, मंगोलियन आदि सभी स्रोतों को लेकर धर्म, दर्शन, इतिहास, तन्त्र आदि को जीवित रख रही है, बढ़ा रही है । हम उनके प्रति आभारी हैं ।

इसी प्रकार प्रो० कपाले, प्रो० आपटे भी इतनी दूर की यात्रा के कष्ट का अनुभव करते हुए यहां आये, हमें कृतार्थ किया, इसके लिये हम उनके आभारी हैं । ये सब अपनी अपनी परम्परा के महारथी हैं । उन्होंने अपनी उपस्थिति से हमें दिशा-निर्देश किया है । हमें विश्वास है कि भविष्य में वे स्वयं भी उपस्थित होंगे और अपने शिष्यों और मित्रमण्डली को भी प्रेरित करेंगे कि हम उनका सहयोग प्राप्त कर सकें ।, हमारे लिये यह सौभाग्य की बात होगी । प्रो० बहुलकर तो जबसे इस संस्था से जुड़े है, वह चाहे संस्कृत-भाषा का कोई आयोजन हो, चाहे तन्त्र का हो, चाहे सम्पादन का हो, हम उन्हें छोड़

ही नहीं पा रहे है । यह उनकी कृपा है कि वे भी अपने को हमसे छुड़ाना नहीं चाह रहे है । हम बहुत आभारी हैं कि ये हमारे आग्रह को, हमारे निवेदन को, स्वीकार कर लिया करते है । वैयाकरणों ने "चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति" कहा है और हम लोग इन चारों प्रकारों का यथावसर उपयोग कर लिया करते हैं । इसी तरह से बहुलकर जी ने अपने यथेष्ट विनियोग की अनुमति देकर अपने नाम का सार्थक्य निःसंदेह सिद्ध कर दिया है । हम उनके आभारी हैं ।

इसी तरह पं० हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्ती जी, जो इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कलाकोश अनुभाग से सम्बद्ध है, जब भी कोई दार्शनिक या साधना की चर्चा यहां संस्थान में होती है, साग्रह उपस्थित होते है और यहां आकर हमें कृतार्थ करते है । जो विद्वान् आज यहां उपस्थित नहीं है— प्रो० नथमल टाटिया सपत्नीक, प्रो० जी० सी० पाण्डेय सपत्नीक, उन्होंने भी विभिन्न अवसरों पर निरन्तर उपस्थित होकर अपने विचारों से हमें लाभान्वित किया है । यहां काशी के विभिन्न विश्वविद्यालयों के इस विषय में रुचि रखने वाले विद्वान्, चाहे वे पार्श्वनाथ संस्थान से प्रो० सागरमल जैन हों, चाहे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत विद्या एवं धर्मागम संकाय के प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी, प्रो० कमलेशदत्त त्रिपाठी, डॉ० व्यास या डॉ० कमलेशकुमार जैन हों, अथवा इसी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रो० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय हों, इन सबका हमें समय-समय पर सहयोग मिलता रहता है । सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय जी का तो पहली ही बार यहां हम लोग सहयोग प्राप्त कर सके, किन्तु डॉ० राजनाथ त्रिपाठी, प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी, डॉ० ब्रह्मदेवनारायण शर्मा, प्रो० गोकुलचन्द्र जैन, डॉ० फूलचन्द प्रेमी—ये सब भी यथावसर उपस्थित होते रहे है । काशी विद्यापीठ से संस्कृत विभाग के प्राध्यापक डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी और हिन्दी विभाग के आचार्य प्रो० युगेश्वर पाण्डेय की भी सक्रिय सहभागिता के लिये, हम उनके आभारी है ।

सच तो यह है कि हमारा हर आयोजन इसीलिये सफल होता रहा है कि हमारी गोष्ठियों में रुचि रखने वाले स्थानीय विश्वविद्यालयों के सभी विद्वानों ने हार्दिक सहयोग किया है, उपस्थित हुए है और हम जब कभी उनका नाम भिन्न संस्था से जुड़ा हुआ कहते है, तो कहने में ही संकोच होने लगता है । वह एक औपचारिक भेद है, अन्यथा वे सब अपने ही है । इसी प्रकार हमारे यहां यह एक संयोग की ही बात है कि तीन चार प्रदेशों से विद्वान् आये है ।

हमारे संस्थान के एक स्तम्भ प्रो० रामशंकर त्रिपाठी जी जिस कार्य से जुड़ते है, उसे बिना सविधि सम्पन्न कराये छोड़ते नहीं । इसीलिये इन्होंने पहले दिन से संचालन शुरू किया और आज लाकर हमें धन्यवाद की माईक थमा दी । जब तक वह सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय में थे, तब भी हम लोगों को इन्हें वहां का कहने में संकोच होता था और आज संकोच यह हो रहा है कि अपने बीच में ही आ गये है, तो अब क्या धन्यवाद दें । अपने ही हैं, हृदय की बात जानते है ।

हमें प्रसन्नता है कि जिन उद्देश्यों को लेकर हम अपने यहां गोष्ठियां करते हैं, उसमें विषय का निरूपण तो होता ही है, एक और उद्देश्य यह होता है कि जो हमारे यहां का अभी उभरता हुआ तरुण वर्ग है, वह चाहे विद्यार्थी हो, चाहे विभिन्न अनुभागों से जुड़े हुए विभिन्न पदों पर आसीन हमारे सहयोगी हों, वे खुल कर सामने आवें, विद्वानों से सीखें और अपना योगदान अंकित करावें । हमें बहुत प्रसन्नता है कि इस तरह की गोष्ठियां, परिचर्चायें, कार्यशालायें करते करते हम इस काम में सफल हो रहे हैं । परिणामस्वरूप डॉ0 वङ्छुग् दोर्जे नेगी, आचार्य नवांग सम्तेन, आचार्य लोसंग नोरबु शास्त्री, आचार्य ज्ञलछेन नमडोल, आचार्य छुलठिम फुंचोक, आचार्य पी0 तेनजिन— इन सब लोगों ने बीच बीच में सहयोग देकर हमें आज आश्वस्त कर दिया है कि धीरे धीरे इनके कन्धों पर हम दायित्व सौंप कर निश्चिन्त हो सकते हैं ।

हमारे रिप्रोग्राफी सेक्शन और रिकार्डिंग सेक्शन ने जितना सहयोग किया, भोजन आदि की व्यवस्था करनें में श्री जम्पा समतेन जी और अन्य सहयोगियों ने जो भार लिया और जितनी भी सेवा वह कर सके, उसके लिये हम निःसंदेह उनके आभारी हैं, कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं और आशा करते हैं कि भविष्य में हमारे और भी विद्यार्थी–सहयोगी लोसंग दोर्जे, रमेशचन्द्र नेगी, जम्पा समतेन आदि जो निरन्तर यहां उपस्थित रहते रहे हैं, अब केवल सुनते ही नहीं रहेंगे, आगे अपना सक्रिय सहयोग देंगें, बोलेंगे । हमारे अन्य परम्परागत विद्वान् और सहयोगी प्रो0 येशे थपख्ये जी और प्रो0 सेम्पा दोर्जे जी ने समय समय पर गूढ़ विषयों पर प्रकाश डाला और जो बातें परम्परा से चली आ रही हैं, उन्हें हमारे सामने स्पष्ट रूप से रखा, हम उनके आभारी हैं । हमारे सारे क्रियाकलापों को जनसामान्य तक पहुंचाने के लिये डॉ0 बाबूराम त्रिपाठी के नेतृत्व में गठित दल के सहयोगी डॉ0 धर्मदत्त चतुर्वेदी, डॉ0 रामजी सिंह, श्री पेमा तेन्जिन आदि लोगों ने जिस सक्रियता से कार्य किया, उससे नगर के लोगों को भी यह ज्ञात हो सका कि यहां कुछ हो रहा है । हम इनके भी आभारी है । अन्त में मै पुनः सभी को धन्यवाद देते हुए अपने इस वक्तव्य को समाप्त करता हूं ।

॥ भवतु सर्वमङ्गलम् ॥

●

चक्राब्जमण्डलम्
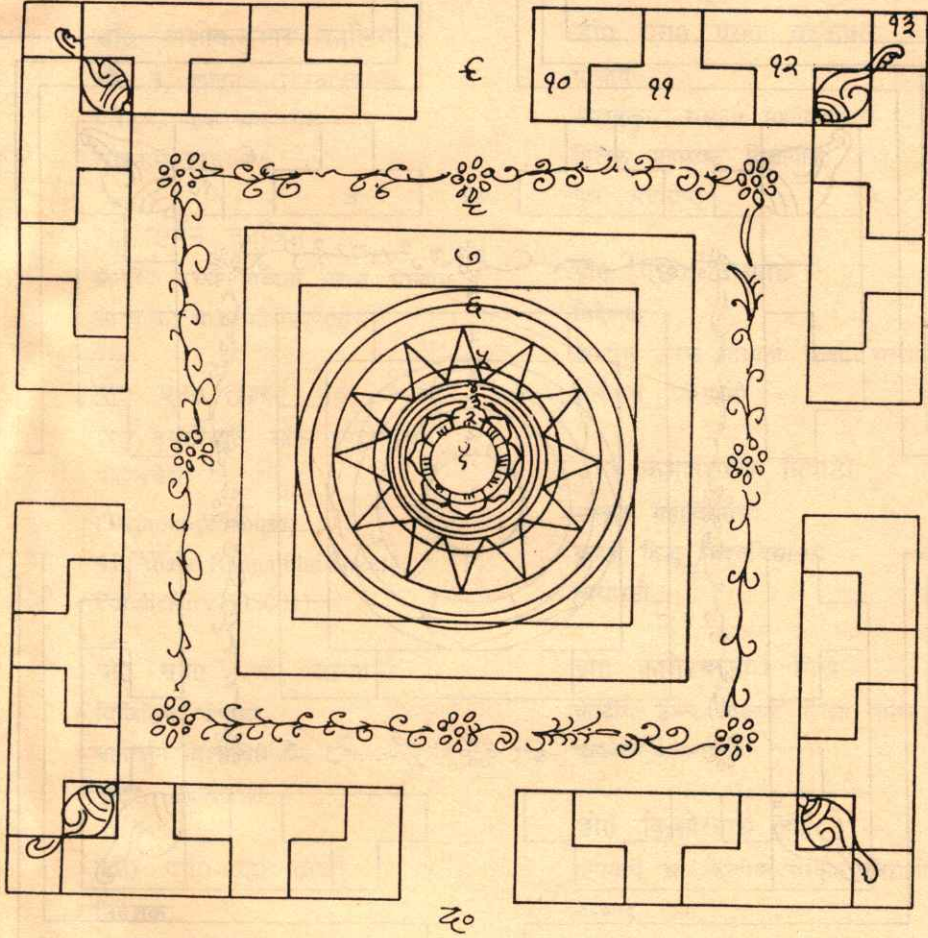
१. कर्णिकाक्षेत्रम्
२. केसरक्षेत्रम्
३. दलक्षेत्रम्
४. नाभिक्षेत्रम्
५. अरक्षेत्रम्
६. नेमिक्षेत्रम्
७. पीठम्
८. वीथि:
९. द्वारम्
१०. अर्धशोभा
११. शोभा
१२. उपशोभा
१३. शंख:

भद्रकमण्डलम्
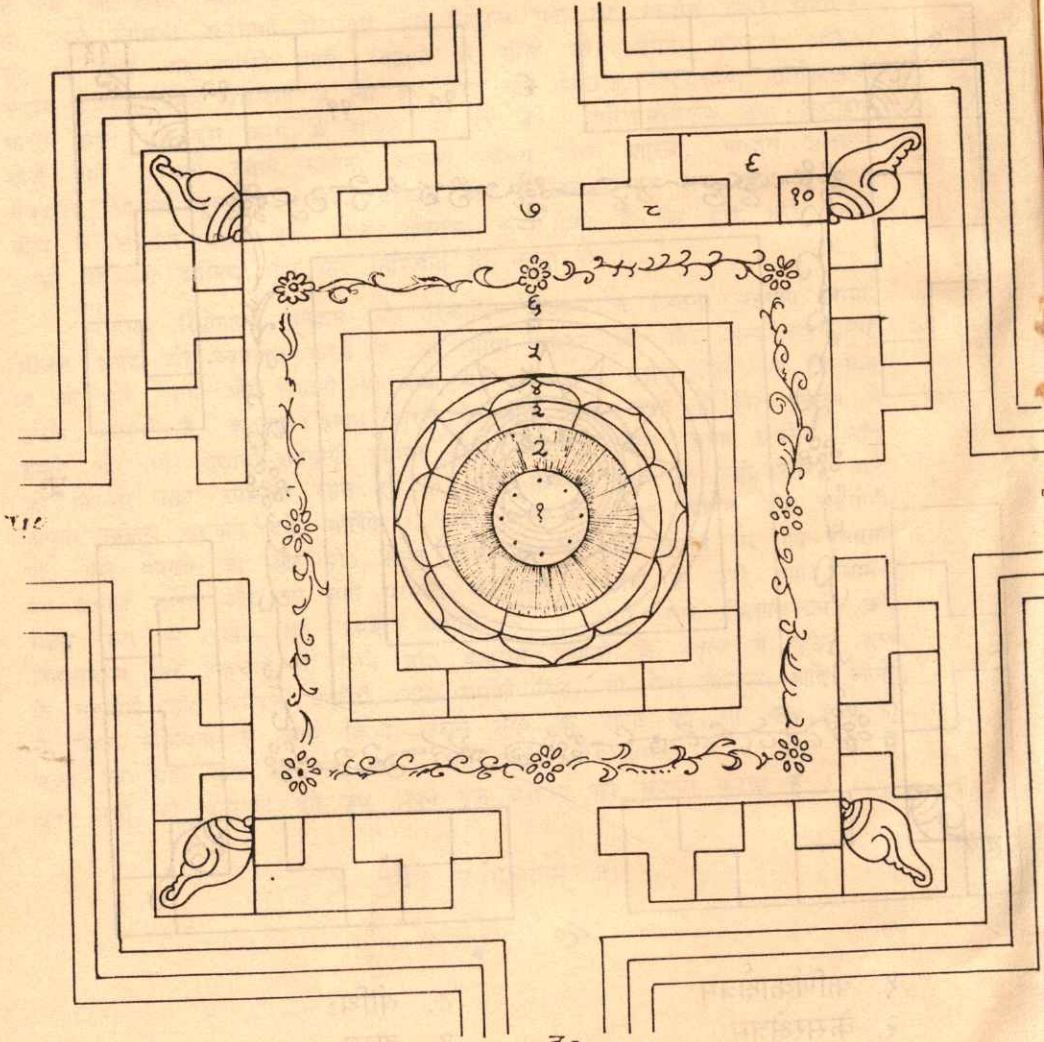
१. कर्णिकाक्षेत्रम्
२. केसरक्षेत्रम्
३. दलसन्धिक्षेत्रम्
४. दलाग्रक्षेत्रम्
५. पीठम्
६. वीथिः
७. द्वारम्
८. शोभा
९. उपशोभा
१०. कोणः
११. बहिरावरणरेखाः

कार्यशाला में सम्मिलित विद्वान् एवं निबन्ध लेखक

डॉ० अशोककुमार कालिया,
डी० ३, लखनऊ विश्वविद्यालय
फ्लैट्स, गोकरनाथ रोड,
लखनऊ–२२६००७

श्री उर्ग्येन तेनजिन
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान,
सारनाथ, वाराणसी–२२१००७

प्रो० एन० आर० भट्ट
फ्रेंच इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डोलॉजी
पाण्डिचेरी
[Tirumundi House,
41, Anand Rangajillai Street
Pondichery-605001]

प्रो० एन० एच० साम्तानी
विजिटिंग प्रोफेसर
नागार्जुन विश्वविद्यालय,
गुन्टूर, आन्ध्रप्रदेश

डॉ० एम० ए० ढाकी
निदेशक,
अमेरिकन इंस्टीच्यूट
रामनगर, वाराणसी

प्रो० एस० के० पाठक
आकाशदीप
अवनपल्ली, शान्तिनिकेतन,
पश्चिम बंगाल

डॉ० एस० एस० बहुलकर
प्राचार्य
बालमुकुन्द संस्कृत महाविद्यालय
तिलक महाराष्ट्र विद्यापीठ
पुणे, महाराष्ट्र

प्रो० एस० रिनपोछे
निदेशक
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० कमलेशदत्त त्रिपाठी
संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० कामेश्वरनाथ मिश्र
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० किशोरनाथ झा
गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
आज़ाद पार्क
प्रयाग, इलाहाबाद

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन
प्राकृत विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० गोविन्दचन्द्र पाण्डेय
११, बलरामपुर हाउस
मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद

डॉ० चन्द्रशेखर शि० कंपाले
जंगमवाडी मठ
गुदोलिया, वाराणसी

पं० जनार्दन पाण्डेय
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

श्रीमती जी० सी० पाण्डेय
११, बलरामपुर हाउस
मम्फोर्डगंज, इलाहाबाद

डॉ० जी० सी० सिकदर
मृणाल एपार्टमेंटस्
अहमदाबाद (गुजरात)

भिक्षु ङलछन नमडोल
सहायक सम्पादक (पुनरुद्धार अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० ठाकुरसेन नेगी
शोध अधिकारी (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पं० दिव्यवज्र वज्राचार्य
पीयूष औषधालय मासं गली,
काठमाण्डू, नेपाल

प्रो० नथमल टाटिया
निदेशक
जैन विश्वभारती
लाडनूं, राजस्थान

भिक्षु नवांग समतेन
संम्पादक (पुनरुद्धार अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
हिन्दी विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० पी० पी० आपटे
डेक्कन कालेज
पूना (महाराष्ट्र)

श्री पेमा तेनजिन
सहायक सम्पादक (अनुवाद अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० फूलचन्द जैन 'प्रेमी'
जैन दर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय.
वाराणसी

प्रो० बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
पूर्व विभागाध्यक्ष एवं
प्रो० साहित्य विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० बनारसीलाल
शोध अधिकारी (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित
५१, आदर्शनगर, बरनाई रोड
पो० वनतालाब
जम्मू-१८११२३

डॉ० मधु खन्ना
होमी भाभा फैलो
इन्दिरा गांधी नेशनल सेन्टर
फार आर्टस, जनपथ
नई दिल्ली

आचार्य महाप्रज्ञ
जैन विश्वभारती
लाडनूं, राजस्थान

डॉ० मार्क डिच्कोफस्की
(शाक्त-आगम विद्वान्)
नारद घाट, वाराणसी

डॉ० युगेश्वर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
काशी विद्यापीठ
वाराणसी

प्रो० येशे थपख्ये
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० राघवप्रसाद चौधरी
रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
शास्त्रीनगर, जम्मु-तवी-४

डॉ० राजनाथ त्रिपाठी
सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० रामरक्षा त्रिपाठी
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

प्रो० रामशंकर त्रिपाठी
रिसर्च प्रोफेसर
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० रमाघोष
अध्यक्ष, दर्शन विभाग
आर्य महिला महाविद्यालय
वाराणसी

डॉ० रुद्रदेव त्रिपाठी
व्रजमोहन विडला शोध केन्द्र
विक्रमकीर्ति मन्दिर
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी
संस्कृत महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो० लक्ष्मीनारायण तिवारी
निदेशक
भोगीलाल लहरचन्द इंस्टीच्यूट ऑफ
इण्डालॉजी, अलीपुर
दिल्ली

भिक्षु लोसंग नोरबू शास्त्री
सम्पादक (अनुवाद अनुभाग)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

भिक्षु वङ्छुग् दोर्जे नेगी
प्राध्यापक
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

प्रो० व्रजवल्लभ द्विवेदी
उपनिदेशक (दु.बौ.ग्रं.शो.यो.)
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डॉ० शीतलाप्रसाद उपाध्याय
सांख्ययोगतन्त्रागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डॉ० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ शोध संस्थान
करौंदी, वाराणसी

डॉ० सुरेखाश्री
दादा साहेब ना पगला,
(युनिवर्सिटी के पास), नवरंगपुर
अहमदाबाद (गुजरात)

प्रो० सेम्पा दोर्जे
केन्द्रीय उच्च तिब्बती शिक्षा संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पं० हेमेन्द्र नाथ चक्रवर्ती
इन्दिरा गांधी राष्ट्रीय कला केन्द्र
अस्सी, वाराणसी

•